ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १९

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

उत्तराध्ययनसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद , विवेचन, परिशिष्ट, टिप्पणयुक्त]

प्रेरणा —
उपप्रवर्तक शासनसेवी स्व. स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक —
(स्व.) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक-विवेचक-सम्पादक —
राजेन्द्रमुनि शास्त्री

प्रकाशक —
श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १९

- निर्देशन
  साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

- सम्पादकमण्डल
  अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
  श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
  श्री रतनमुनि

- सम्प्रेरक
  मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
  श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

- द्वितीय संस्करण

- प्रकाशनतिथि
  वीरनिर्वाण संवत् २५१७
  वि. सं. २०४७
  ई. सन् १९९१

- प्रकाशक
  श्री आगमप्रकाशन समिति
  श्री ब्रज मधुकर स्मृति भवन
  पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
  ब्यावर – ३०५ ९०१

- मुद्रक
  कोटावाला प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.
  जयपुर.
  फोन : 76204

- मूल्य : [redacted] 80/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev Guru Sri Joravarmalji Maharaj

UTTARADHYAYANA SUTRA

[Original Text, Variant Readings, Hindi Version, Notes etc]

Inspiring-Soul
Up-pravartaka Shasansevi Rev Late Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Rajendra Muni Shastri

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthamala Publication No. 19

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umraokunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinkar'

☐ **Second Edition**

☐ **Date of Publication**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2047, 1991

☐ **Publisher**
Sri Agam Prakashan Samiti
Sri Brij Madhukar Ismriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Beawar - 305 901

☐ **Printer**
Kotawala Printers & Publishers Pvt. Ltd.
Jaipur
Phone 76204

☐ **Price :** [redacted] 720

समर्पण

जिनका जीवन अध्यात्मसाधना से अनुप्राणित था,

जिनका व्यक्तित्व संयमाराधना से समन्वित था,

जिन्होंने धर्म के विराटरूप का बोध कराया,

जिन्होंने आजीवन निर्ग्रन्थ श्रमण-परम्परा का प्रचार-प्रसार किया,

आज भी संघ जिनके ज्ञान-वैराग्यमय विचारों से उपकृत है,

जिनकी शिष्यानुशिष्य परंपरा विशाल विराटरूप में प्रवर्तमान है,

उन महामहिम, आदरणीय, श्रद्धास्पद

श्रमणशिरोमणि आचार्यश्री

भूधरजी महाराज

के कर-कमलों में

- मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययन-सूत्र के लिये यह मान्यता है कि श्रमण भगवान महावीर को अतिमदेशना के समय अपृष्ठ व्याकरण के रूप में इसके छत्तीस अध्ययनों का सगुफन हुआ है। एतदर्थ यहां विशेष ऊहापोह करने का प्रसग नहीं है। परन्तु मुख्य उल्लेखनीय यह है कि भगवान की समग्र-वाणी का यह सूत्र प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण जनसाधारण में उत्तराध्ययन सूत्र के पठन-पाठन की परम्परा विशेष रूप में देखी जाती है।

श्री आगम प्रकाशन समिति की निर्धारित नीति के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम सस्करण प्रकाशित किया गया था तथा अब पाठकों की माग एव आगम बत्तीसी के समस्त ग्रन्थों को उपलब्ध करने की दृष्टि से यह द्वितीय सस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

ग्रन्थ क अनुवादक, विवेचक मुनि श्री राजेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अनुवाद के साथ विषय को स्पष्ट करने के लिये यथा प्रसग आवश्यक विवेचन करके सर्वबोधगम्य बनाने का जो प्रयास किया है, वह प्रशसनीय है एव उनके प्रयास के प्रति प्रमोद भाव प्रगट करते है।

अत में हम स्व युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म सा "मधुकर" के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करते है, जिनके परोक्ष आशीर्वाद का पाथेय लेकर समिति आगम प्रकाशन क लिय गतिशील है। साथ ही उन सभी महानुभावों का सधन्यवाद आभार मानते हैं, जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष बौद्धिक व आर्थिक सहयोग प्राप्त है।

विशेष निर्देश के रूप में यह ज्ञातव्य है कि आगम-बत्तीसी की माग बढते जाने से अनेक ग्रन्थों का पुनर्मुद्रण कराया जा रहा है। अभी तक आचारागसूत्र भाग - 1, 2, ज्ञाताधर्म-कथाग, उपासक दशाग, अनुत्तरौपपातिक और अत्तकृत्दशाग पातिक सूत्र के द्वितीय सस्करण प्रकाशित हो चुके है; सूत्रकृतागसूत्र का मुद्रण हो रहा है। इस कारण जीवाजीवाभिगम सूत्र द्वितीय भाग व निशीथसूत्र आदि चार छेद सूत्रों के प्रकाशन में विलम्ब हो रहा है।

इस विलम्ब को उपेक्षणीय मानकर आप सभी श्रुतनिधि के प्रचार-प्रसार के पवित्र अनुष्ठान में हमारे सहयोगी बनें, यह आकाक्षा है।

रतनचन्द मोदी	सायर मल चोरडिया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामत्री	मत्री

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र - प्रथम सस्करण के प्रकाशन में विशिष्ट अर्थ सहयोगी

श्रीमान् सेठ मांगीलालजी सुराणा

[जीवन-रेखा]

राजस्थान के जैन बन्धु भारतवर्ष के विभिन्न अचलो मे जाकर बसे है और जो जहाँ बसा है वहाँ उसने केवल व्यावसायिक एव औद्योगिक प्रगति ही नही की है, किन्तु वहाँ की सामाजिक प्रवृत्तियों मे, शैक्षणिक क्षेत्र मे और धर्मसेवा के विविध क्षेत्रो मे भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

यहाँ जिनकी जीवनरेखा अकित की जा रही है, वे श्रीमागीलाल जी सा सुराणा, दिवगत धर्मप्रेमी, समाजसेवी, वात्सल्यमूर्ति सेठ गुलाबचन्द जी सा के सुपुत्र और मातुश्री पतास बाई के आत्मज है, जिन्होने अपने पिताजी की परम्पराओ का केवल अक्षुण्ण ही नही रक्खा है, अपितु खूब समृद्ध भी किया है। आप सिकन्दराबाद (आन्ध्र) के सुराणा-उद्योग के स्वामी है।

आपका जन्म नागौर जिले के कुचेरा ग्राम मे दिनाङ्क ८ नवम्बर सन् १९३० को हुआ था। उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से आप वाणिज्य विषय मे स्नातक हुए और फिर विधिस्नातक (LL B) की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा प्राप्त करके आप अपने पैत्रिक व्यवसाय मे लगे किन्तु आपका व्यक्तित्व उसी परिधि मे नही सिमट रहा। व्यवसाय के साथ विभिन्न सस्थाओ के साथ आपका सम्पर्क हुआ, उनकी सेवा मे उल्लेखनीय योग दिया, उनका सचालन किया और आज तक वह क्रम लगातार चालू है। आपके सार्वजनिक कार्यों की सूची विशाल है। जिन सस्थाओ के माध्यम से आप समाज की, धर्म की और देश की सेवा कर रहे हैं, उनकी सूची से ही आपके बहुमुखी कार्यकलापो का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आप निम्नलिखित सस्थाओ से सम्बद्ध हैं, या रहे हैं—

१ अध्यक्ष—श्री जैन सेवासघ, बोलारम
२ प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्य—अ भारतीय स्था जैन कॉन्फरेंस
३ भूतपूर्व अध्यक्ष—फैडरेशन ऑफ ए पी चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इडस्ट्रीज
४. डाइरेक्टर—ए पी. स्टेट ट्रेडिग कॉरपोरेशन
५ डाइरेक्टर—इण्डियन ओवरसीज बैंक, मद्रास
६ अध्यक्ष—साधन-मन्दिर एज्युकेशन सोसाइटी (जो हिन्दी माध्यम से हाई स्कूल चलाती है)
७ अध्यक्ष—हिन्दीप्रचार सभा, बोलारम
८ अध्यक्ष—फ्रेण्ड एमेच्यूर आर्टिस्ट एसोसिएशन, हैदराबाद
९ ऑनरेरी जनरल सेक्रेटरी—अखिल भारतीय निर्मातासघ, ए पी बोर्ड, (लगातार छह वर्षों तक)
१० अध्यक्ष—नेच्यूर म्यूर कॉलेज, हैदराबाद
११ अध्यक्ष—आनन्द आध्यात्मिक शिक्षण सघ ट्रस्ट, सिकन्दराबाद
१२ अध्यक्ष—जैन श्रीसघ, बोलारम

उल्लिखित तालिका से स्पष्ट है कि आपने आन्ध्रप्रदेश मे अपनी उच्चतर योग्यता, सेवा और शिक्षा के कारण विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की है। किन्तु आपके व्यक्तित्व की पूरी विशिष्टता इतने मात्र से नही जानी जा सकती। आपके सार्वजनिक क्रियाकलाप बहुत विस्तृत हैं। यही कारण है कि शासन और प्रजाजन—दोनो ही आपकी योग्यता से लाभ उठाते रहते हैं। आप अनेक शासकीय सलाहकार समितियो मे मनोनीत किये जाते है, यथा—लेबर एडवाइजरी बोर्ड, ज़ोनल रेलवे, पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ मिनिमम वेजेज़ बोर्ड तथा इंडस्ट्रीज़ एडवाइजरी बॉडी आदि।

इस सब के अतिरिक्त आप अनेक अस्पतालो, स्काउट-प्रवृत्ति तथा रोटरी क्लब आदि से जुडे हुए है। भारत-पाकिस्तान-युद्ध के समय आन्ध्रप्रदेशीय डिफेन्स कमेटी की, जो गवर्नमेण्ट बॉडी थी, कार्यकारिणी समिति के मनोनीत सदस्य रह चुके हैं।

स्पष्ट है कि आप जैन-जैनेतर समाज मे ही नही, शासकीय वर्तुलो मे भी समान रूप से सम्मान्य है।

सुराणा जी भरे-पूरे परिवार के भी धनी है। भाई-बहिन और पुत्रो और पुत्रियो से समृद्ध है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन मे आपकी ओर से प्राप्त विशिष्ट आर्थिक सहयोग के लिए समिति आपकी आभारी है। □□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

१	महासती श्री उमरावकुंवरजी म 'अर्चना'	निर्देशन	
२	श्री किशनलालजी बेताला	अध्यक्ष	मद्रास
३	श्री रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
४	श्री धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
५	श्री पारसमलजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
७	श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
८	श्री जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
९	श्री जी मायरमलजी चोरडिया	महामत्री	मद्रास
१०	श्री अमरचन्दजी मोदी	मत्री	ब्यावर
११	श्री ज्ञानराजजी मूथा	मत्री	पाली
१२	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	सहमत्री	ब्यावर
१३	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१४	श्री अमरचन्द जी बोथरा	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१५	श्री जालमसिंहजी मेड़तवाल	परामर्शदाता	ब्यावर
१६	श्री प्रकाशचन्दजी जैन	परामर्शदाता	नागौर
१७	श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
१८	श्री मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१९	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२०	श्री प्रकाशचन्दजी चौपडा	सदस्य	ब्यावर
२१	श्री मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
२२	श्री सागरमलजी बैताला	सदस्य	इन्दौर
२३	श्री जतनराजजी मेहता	सदस्य	मेडता सिटी
२४	श्री भवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२५	श्री चन्दनमलजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२६	श्री सुमेरमलजी मेडतिया	सदस्य	जोधपुर
२७	श्री आसूलालजी बोहरा	सदस्य	जोधपुर

आदि-वचन
(प्रथम संस्करण से)

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओ/चिन्तको ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनो तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामो से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते है तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित, उद्भासित हो जाती है। शक्तियो का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती हैं, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, सघीय जीवन-पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचन-रूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते हैं और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवाँ अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद-मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध

किया गया। जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवद्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ मे लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है। जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो एव पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवाये नीव की ईट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ है, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत से खडी बोली मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का सकल्प

मैं जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया— यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमों के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासु जन लाभ उठा सके। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बन कर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि भाषाओ मे सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल' आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही विशाल व्याख्याएँ की जा रही है। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यममार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का ऐसा एक सस्करण होना चाहिए जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रख कर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. स. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे स्व गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये विना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम ए., पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्रमुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, तथा श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के इस अल्पकाल मे ही उन्नीस आगम-जिल्दो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

अनुवादक की कलम से

(प्रथम संस्करण से)

वैदिकपरम्परा में जो स्थान गीता का है, बौद्धपरम्परा मे जो स्थान धम्मपद का है, इस्लाम मे जो स्थान कुरान का है, पारसियो मे जो स्थान अवेस्ता का है, ईसाइयो मे जो स्थान बाईबिल का है, वही स्थान जैनपरम्परा में उत्तराध्ययन का है। उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की अनमोल वाणी का अनूठा संग्रह है। यह जीवनसूत्र है। आध्यात्मिक, दार्शनिक एव नैतिक जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणो का इसमे गहराई से चिन्तन है। एक प्रकार से इसमें जीवन का सर्वांगीण विश्लेषण है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और अनेक आचार्यों की वृत्तियाँ संस्कृतभाषा मे लिखी गई हैं। गुजराती और हिन्दी भाषा मे भी इस पर बृहत् टीकाएँ लिखी गई हैं। समय-समय पर मूर्धन्य मनीषीगणों की कलमें इस आगम के पावन संस्पर्श को पाकर धन्य हुई हैं। यह एक ऐसा आगम है, जो गम्भीर अध्येताओं के लिए भी उपयोगी है। सामान्य साधको के लिए भी साधना की इसमे पर्याप्त सामग्री है।

उत्तराध्ययन के महत्त्व, उसकी संरचना, विषय-वस्तु आदि सभी पहलुओ पर परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव साहित्यमनीषी श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना मे चिन्तन किया है। अत मैं उस सम्बन्ध मे पुनरावृत्ति न कर प्रबुद्ध पाठको को उसे ही पढ़ने की प्रेरणा दूंगा। मुझे तो यहाँ संक्षेप मे ही अपनी बात कहनी है।

साधना-जीवन मे प्रवेश करने के अनन्तर दशवैकालिकसूत्र के पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र को परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. से मैने पढा। पढ़ते-पढते मेरा हृदय नत हो गया इस बहुमूल्य आगम-रत्न पर। मुझे लगा, यह आगम रंग-बिरंगे सुगन्धित फूलो के गुलदस्ते की तरह है, जिसका मधुर सौरभ पाठक को मुग्ध किये बिना नही रह सकता।

उत्तराध्ययन का प्रारम्भ ही विनय से हुआ है। विनय प्रगति का मूलमन्त्र है। साधक को गुरुजनो का अनुशासन किस प्रकार मान्य करना चाहिए, यह बात इसमे विस्तार से निरूपित है। साधक को किस प्रकार बोलना, बैठना, खडे होना, अध्ययन करना आदि सामान्य समझी जाने वाली क्रियाओ पर भी गहराई से चिन्तन कर कहा है—ये क्रियाएँ जीवन-निर्माण की नीव की ईंट के रूप मे हैं। इन्ही पर साधना का भव्य भवन आधृत है। इन सामान्य बातो को बिना समझे, बिना अमल मे लाए यदि कोई प्रगति करना चाहे तो वह कदापि सम्भव नही है। आज हम देख रहे हैं—परिवार, समाज और राष्ट्र मे विग्रह, द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। अनुशासनहीनता दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति मे यदि प्रस्तुत शास्त्र के प्रथम अध्ययन का भाव ही मानव के मन मे घर कर जाये तो सुख-शांति की सुरीली स्वर-लहरियाँ झनझना सकती हैं।

व्यक्ति जरा-सा कष्ट आने पर कतराता है। पर उसे पता नही कि जीवन-स्वर्ण कष्टो की अग्नि मे तपकर ही निखरता है। बिना कष्ट के जीवन मे निखार नहीं आता, इसीलिए परीषह-जय के सम्बन्ध मे चिन्तन कर यह बताया गया है कि परीषह से भयभीत न बनो।

जीवन के लिए मानवता, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और पुरुषार्थ, यह चतुष्टय आवश्यक है। मानव-जीवन मिल भी गया, किन्तु कूकर और शूकर की तरह वासना के दलदल मे फँसा रहा, धर्मश्रवण नही किया, श्रवण करने पर भी उस पर दृढ निष्ठा नही रखी और न पुरुषार्थ ही किया तो सफलतादेवी चरण चूम नहीं सकती। इसलिए इन चारो तत्त्वो पर बल देकर साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह अपने जीवन को पावन बनाये।

जीवन मे धन, जन, परिजन ही सब कुछ नही है। जीवन की अन्तिम घडियो मे वे शरणरूप नही हो सकते। धर्म ही सच्चा शरण है। इसी की शरण मे जाने से जीवन मगलमय बनता है। जो फूल खिलता है, वह एक दिन अवश्य ही मुर्झाता है। जन्म लेने वाला मृत्यु का ग्रास बनता ही है, पर मृत्यु कैसी हो, यह प्रश्न अतीत काल से ही दार्शनिको के मन-मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। उसी दार्शनिक पहलू को पाचवे अध्ययन मे सुलझाया गया है। छट्ठे अध्ययन मे प्रतिपादित है कि आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह से मुक्त होने वाला साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है। आसक्ति पश्चात्ताप का कारण है और अनासक्ति सच्चे सुख का मार्ग है, इसलिए साधक को लोभ से मुक्त होकर अलोभ की ओर कदम बढाना चाहिए, यह भाव कपिल-कथानक के द्वारा व्यक्त किया गया है। जब साधक साधना की उच्चतर भूमिका पर पहुँच जाता है तो फिर उसे ससार के पदार्थ अपनी ओर आकर्षित नही कर सकते। नमि राजर्षि का कथानक इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मानव का जीवन क्षणभगुर है। हवा का तीक्ष्ण झोका वृक्ष के पीले पत्ते को नीचे गिरा देता है, वही स्थिति मानव के जीवन की है। जो स्वय को और दूसरो को बधनो से मुक्त करता है, वही सच्चा ज्ञान है। 'बहुश्रुत' अध्ययन मे उसी ज्ञान के सम्बन्ध मे गहराई से विश्लेषण किया गया है। जाति से कोई महान् नही होता। महान् होता है—सद्गुणो के कारण। सद्गुणो को धारण करने से 'हरिकेशबल' मुनि चाण्डालकुल मे उत्पन्न होने पर भी देवो के द्वारा अर्चनीय बन गये। जब स्व-स्वरूप के सदर्शन होते हैं, तब कर्म-बन्धन शिथिल होकर नष्ट हो जाते है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्त मुनि ने विविध प्रकार मे समझाने का प्रयास किया, पर वह समझ न सका। अतीत जीवन के सुदृढ सस्कार वर्तमान के सघन आवरण को एक क्षण मे नष्ट कर देते हैं और आवरण नष्ट होते ही भृगु पुरोहित की तरह साधक साधना के पावन पथ को स्वीकार कर लेते है। भिक्षु कौन बनता है ? और भिक्षु बनकर क्या करना चाहिए ? इसका वर्णन 'स भिक्खू' अध्ययन मे प्रतिपादित किया गया है। स्वरूप-बोध और स्वात्मरमणता ही ब्रह्मचर्य का विशद रूप है। ब्रह्मचर्य ही सही समाधि है। जो व्यक्ति भिक्षु बनकर के भी साधना से जी चुराता है, वह 'पाप-श्रमण' है। 'यदि तुम स्वय अभय चाहते हो तो दूसरो को भी अभय दो', यह बात 'सयतीय' अध्ययन मे व्यक्त की गई है। ज्यो-ज्यो सुख-सुविधाये उपलब्ध होती हैं, त्यो-त्यो मानव परतत्रता मे आबद्ध होता जाता है। मृगापुत्र के अध्ययन मे यह रहस्य उजागर हुआ है। ऐश्वर्य के अम्बार लगने से और विराट् परिवार होने से कोई 'नाथ' नही होता। नाथ वही है, जिसमे विशुद्ध विवेक तथा सच्ची अनासक्तता-निस्पृहता उत्पन्न हो गई है। जैसा बीज होगा, वैसा ही फल प्राप्त होगा। यदि अच्छा फल चाहते हो तो अच्छा कार्य करो। 'समुद्रपालीय' अध्ययन मे इसी तथ्य को व्यक्त किया है। महापुरुषो का हृदय स्वय के लिए वज्र से भी अधिक कठोर होता है तो दूसरो के लिए मक्खन से भी अधिक मुलायम। पशुओ की करुण चीत्कार ने अरिष्टनेमि को भोग मे त्याग की ओर बदल दिया तो राजमती की मधुर और विवेकपूर्ण वाणी ने रथनेमि के जीवन की दिशा बदल दी। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन भी तेईसवे अध्ययन मे प्रतिपादित है।

माता का जीवन मे अनूठा स्थान है। वह पुत्र को सन्मार्ग बताती है। जैनदर्शन मे समिति और गुप्ति को प्रवचनमाता कहा है। सम्यक् प्रवृत्ति 'समिति' है और अशुभ से निवृत्ति 'गुप्ति' है। भारतीय इतिहास मे यज्ञ और पूजा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वास्तविक यज्ञ की परिभाषा पच्चीसवे अध्ययन मे स्पष्ट की गई है

और ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप भी इसमे प्रकट किया गया है। सम्यक् आचार ही समाचारी है। यह 'समाचारी' अध्ययन में प्रतिपादित है। सघ-व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है। यह 'खलु ंकीय' नामक सत्ताईसवें अध्ययन मे बताया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये मोक्ष के साधन हैं और इनकी परिपूर्णता ही मोक्ष है। उनतीसवें अध्ययन में सम्यक्त्वपराक्रम के सम्बन्ध मे ७४ जिज्ञासाओ एव समाधानो के द्वारा बहुत ही विस्तार के साथ अनेक विषयो का प्रतिपादन किया गया है। तप एक दिव्य और भव्य रसायन है, जो साधक को परभाव से हटा कर स्वभाव मे स्थिर करता है। तप का विशद विश्लेषण जैनदर्शन की अपनी देन है। विवेकयुक्त प्रवृत्ति चरणविधि है। उससे सयम परिपुष्ट होता है। अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से सयम दूषित होता है। इसीलिए चरणविधि मे विवेक पर बल दिया है। साधना मे प्रमाद सबसे बडा बाधक है, इसलिए प्रमाद के स्थानो से सतत सावधान रहने हेतु 'अप्रमाद' अध्ययन मे विस्तार से विश्लेषण किया गया है। वि-भाव से कर्म-बन्धन होता है और स्व-भाव से कर्म से मुक्ति मिलती है। कर्म की मूल प्रकृतियो का 'कर्मप्रकृति' अध्ययन मे वर्णन है। कषाययुक्त प्रवृत्ति कर्मबन्धन का कारण है। शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूल आधार शुभ एव अशुभ लेश्याएँ हैं। लेश्याओ का इस अध्ययन मे विश्लेषण है। वीतरागता के लिए असगता आवश्यक है। केवल गृह का परित्याग करने मात्र से कोई अनगार नही बनता। जीव और अजीव का जब तक भेदज्ञान नही होता, तब तक सम्यग्दर्शन का दिव्य आलोक जगमगा नही सकता, 'जीवाजीवविभक्ति' अध्ययन मे इनके पृथक्करण का विस्तृत निरूपण है।

इस प्रकार यह आगम विविध विषयो पर गहराई से चिन्तन प्रस्तुत करता है। विषय-विश्लेषण की दृष्टि से गागर मे सागर भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य इस आगम मे हुआ है। सक्षेप मे यो कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जैनदर्शन, जैनचिन्तन और जैनधर्म का सार इस एक आगम मे आ गया है। इस आगम का यदि कोई गहराई से एव सम्यक् प्रकार से परिशीलन कर ले तो उसे जैनदर्शन का भलीभाँति परिज्ञान हो सकता है।

उत्तराध्ययन की यह मौलिक विशेषता है कि अनेकानेक विषयो का सकलन इसमे हुआ है। दशवैकालिक और आचाराग मे मुख्य रूप से श्रमणाचार का निरूपण है। सूत्रकृताग मे दार्शनिक तत्त्वो की गहराई है। स्थानाग और समवायाग आगम कोशशैली मे निर्मित होने से उनमे आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, नय, निक्षेप आदि का वर्णन है, पर विश्लेषण नही है। भगवती मे विविध विषयो की चर्चाएँ व्यापक रूप से की गई है। पर वह इतना विराट् है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसका अवगाहन करना सम्भव नही है। ज्ञातासूत्र मे कथाओ की ही प्रधानता है। उपासकदशाग मे श्रावक-जीवन का निरूपण है। अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिक मे साधको के उत्कृष्ट तप का निरूपण है। प्रश्नव्याकरण मे पाच आश्रवो और सवरो का विश्लेषण है तो विपाक मे पुण्य-पाप के फल का निरूपण है। नन्दी मे पाच ज्ञान के सम्बन्ध में चिन्तन है। अनुयोगद्वार मे नय और प्रमाण का विश्लेषण है। छेदसूत्रो मे प्रायश्चित्तविधि का वर्णन है। प्रज्ञापना मे तत्त्वो का विश्लेषण है। राजप्रश्नीय मे राजा प्रदेशी और केशीश्रमण का मधुर सवाद है। इस प्रकार आगम-साहित्य मे जीवनस्पर्शी विचारो का गम्भीर चिन्तन हुआ है। किन्तु उत्तराध्ययन मे जो सामग्री सक्षेप मे सकलित हुई है, वैसी सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए अन्य आगमो से इस आगम की अपनी इयत्ता है, महत्ता है। इसमे धर्मकथाएँ भी हैं, उपदेश भी और तत्त्वचर्चाएँ भी हैं। त्याग-वैराग्य की विमल धाराएँ प्रवाहित हो रही है। धर्म और दर्शन तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र का इसमे सुन्दर सगम हुआ है।

मेरी चिरकाल से इच्छा थी कि मै उत्तराध्ययन का अनुवाद, विवेचन व सम्पादन करूँ। उस इच्छा की पूर्ति महामहिम युवाचार्य श्रीमधुकरमुनि जी की पावन प्रेरणा से सम्पन्न हो रही है। युवाचार्यश्री ने यदि प्रबल प्रेरणा न दी होती तो सम्भव है अभी इस कार्य मे अधिक विलम्ब होता। आगम का सम्पादन, लेखन करना बहुत

ही परिश्रमसाध्य कार्य है। वीतराग की वाणी के गम्भीर रहस्य को समझ कर उसे भाषा मे उतारना और भी टेढ़ी खीर है, पर मेरा परम सौभाग्य है कि आगम-साहित्य के गम्भीर ज्ञाता, परमश्रद्धेय, सद्गुरुवर्य, उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म० सा० तथा साहित्यमनीषी पूज्य गुरुदेव श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री का सतत मार्गदर्शन मेरे पथ को आलोकित करता रहा है। उन्ही की असीम कृपा से इस महान् कार्य को करने मे मैं सक्षम हो सका हूँ। गुरुदेवश्री ने इस भगीरथ कार्य को सम्पन्न करने मे जो श्रम किया वह शब्दातीत है।

मेरे अनुवाद और सम्पादन को देखकर स्नेहमूर्ति श्रीचन्द सुराणा 'सरस' ने मुक्तकठ से सराहना की, जिससे मुझे कार्य करने मे अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ और मै गुरुजनो के आशीर्वाद से यह कार्य शीघ्र सम्पन्न कर सका।

सम्पादन करते समय मैने अनेक प्रतियो का उपयोग किया है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और वृत्तियो का भी यथास्थान उपयोग किया है। वृत्ति-साहित्य मे अनेक कथाएँ आई हैं, जो विषय को परिपुष्ट करती हैं। चाहते हुए भी ग्रन्थ की काया अधिक बडी न हो जाय, इसलिए मैंने इनमे वे कथाएँ नही दी है। ज्ञात व अज्ञात रूप मे जिस किसी का भी सहयोग मिला है—उसके प्रति आभार व्यक्त करना मै अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

यहाँ पर मैं परमादरणीया, पूज्य मातेश्वरी महासती श्री प्रकाशवतीजी को भी विस्मृत नही कर सकता, जिनके कारण ही मैं सयम-साधना के पथ पर अग्रसर हुआ हूँ तथा परम श्रद्धेया सद्गुरुणी जी, प्रज्ञामूर्ति पुष्पवती जी को भी भूल नही सकता, जिनके पथ-प्रदर्शन ने मेरे जीवन को विचारो के आलोक से आपूरित किया है तथा ज्येष्ठ भ्राता श्री रमेशमुनि जी का हार्दिक स्नेह भी मेरे लिए सम्बल रूप रहा है। दिनेशमुनिजी व नरेशमुनिजी को भी विस्मृत नही कर सकता, जिनकी सद्भावना सतत मेरे साथ रही है तथा नानीजी स्वर्गीय प्रभावतीजी म का भी मेरे पर महान् उपकार रहा है। महासती नानकुवरजी म०, महासती हेमवतीजी का स्नेहपूर्ण आशीर्वाद भी मेरे लिए मार्गदर्शक रहा है। ज्ञात व अज्ञात रूप मे जिन किन्ही का भी सहयोग मुझे मिला है, मैं उन सभी का हार्दिक आभारी हूँ।

आशा है कि मेरा यह प्रयास पाठको को पसन्द आयेगा। मूर्धन्य मनीषियो से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे अपने अनमोल सुझाव हितबुद्धि से मुझे प्रदान करें, ताकि अगले सस्करण को और अधिक परिष्कृत किया जा सके।

जैन स्थानक
चादावतो का नोखा
दि २ फरवरी, १९८३

—राजेन्द्रमुनि शास्त्री

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

(प्रथम संस्करण से)

❑ देवेन्द्रमुनि शास्त्री

वर्त्तमान मे उपलब्ध जैन आगम-साहित्य को अग, उपाग, मूल और छेद इन चार वर्गों मे विभक्त किया गया है। इस वर्गीकरण का उल्लेख समबायाग और नन्दीसूत्र मे नही है। तत्त्वार्थभाष्य मे सर्वप्रथम अग के साथ उपाग शब्द का प्रयोग आचार्य उमास्वाति ने किया है।[1] उसके पश्चात् सुखबोधा-समाचारी मे अगबाह्य के अर्थ मे 'उपाग' शब्द का प्रयोग आचार्य श्रीचन्द्र ने किया।[2] जिस अग का जो उपाग है, उसका निर्देश "विधिमार्गप्रपा" ग्रन्थ मे आचार्य जिनप्रभ ने किया है।[3] मूल और छेद सूत्रो का विभाग किस समय हुआ ? यह साधिकार तो नही कहा जा सकता, पर यह स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिकनिर्युक्ति मे इस सम्बन्ध मे कोई भी चर्चा नही की है और न जिनदासगणी महत्तर ने ही अपनी उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की चूर्णियो मे इस सम्बन्ध मे किंचिन्मात्र भी चिन्तन किया है। न आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकवृत्ति मे और न शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययनवृत्ति मे मूलसूत्र के सम्बन्ध मे चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्यारहवी शताब्दी तक 'मूलसूत्र' इस प्रकार का विभाग नही हुआ था। यदि विभाग हुआ होता तो निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति मे अवश्य ही निर्देश होता।

'श्रावकविधि' ग्रन्थ के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी है, ४५ आगमो का निर्देश किया है।[4] विचारसारप्रकरण के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी ४५ आगमो का निर्देश किया है जिनका समय तेरहवी शताब्दी है। उन्होने भी मूलसूत्र के रूप मे विभाग नही किया है। आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने 'प्रभावकचरित्र' मे सर्वप्रथम अग, उपाग, मूल, छेद, यह विभाग किया है।[5] उसके बाद उपाध्याय समयसुन्दरजी

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र—प सुखलालजी, विवेचन, पृ ९

(ख) अन्यथा हि अनिबद्धमगोपागश समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेय स्यात्। —तत्त्वार्थभाष्य १-२०

२ सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१ से ३४

३ प. दलसुख मालवणिया—जैन साहित्य का बहद इतिहास, भाग १ की प्रस्तावना मे पृष्ठ ३८

४. गाथासहस्री मे समयसुन्दरगणी ने धनपालकृत 'श्रावकविधि' का निम्न उद्धरण दिया है—'पणयालीस आगम', श्लोक—२९७, पृष्ठ—१८

५ (क) विचारलेस, गाथा ३४४-३५१ (विचारसार प्रकरण)

(ख) ततश्चतुर्विध. कार्योऽनुयोगोऽत पर मया।
ततोऽङ्गोपागमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागम ॥२४१॥ —प्रभावकचरितम्, दूसरा आर्यरक्षितप्रबन्ध
(प्र सिघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

ने 'समाचारी-शतक' मे इसका उल्लेख किया है।[६] साराश यह है कि 'मूलसूत्र' विभाग की स्थापना तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुई।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक प्रभृति आगमो को मूलसूत्र अभिधा क्यो दी गई? इस सम्बन्ध मे विभिन्न मनीषियो ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। प्रोफेसर विन्टरनीत्ज का अभिमत है—इन आगमो पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूलग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा है।[७] परन्तु उनका यह कथन उचित नही है, न उनका तर्क ही वजनदार है, क्योकि उन्होने मूलसूत्र की सूची मे पिण्डनिर्युक्ति को भी माना है, जबकि उस पर अनेक टीकाएँ नही है।

डॉ सारपेन्टियर[८], डॉ ग्यारीनो[९] और प्रोफेसर पटवर्धन[१०] प्रभृति विद्वानो का यह अभिमत है—इन आगमो मे भगवान् महावीर के मूल शब्दो का सग्रह है। इसलिए इन्हे मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका भी कथन युक्तियुक्त नही हैं। क्योकि भगवान् महावीर के मूल शब्दो के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाय तो सर्वप्रथम आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध को मूलसूत्र मानना चाहिए। क्योकि पाश्चात्य विचारक डा हर्मन जैकोबी आदि के अनुसार भगवान् महावीर के मूल शब्दो का सबसे प्राचीन सकलन आचाराग मे है।

---

६ समाचारीशतक, पत्र-७६

७ Why these texts are called "root sutras" is not quite clear, Generally the word Mula is used for fundamental text, in contradiction to the commentary Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts they are probably termed "Mula-Texts"

—A History of Indian Literature Part II, Page-446.

८ In the Buddhista Work Mahavyutpatti 245, 1265 Mulgrantha seems to mean original text that is the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jainas too may have used Mula in the sense of 'Original text' and prehaps not so much in opposition to the later abridgements and commentaries as merely to denote actual words of Mahavira himself

—The Uttradhyayana Sutra, Page-32

९ The word Mul-sutra is translated as trates originaux

—ल रिलिजियन द जैन पृष्ठ ७९ (La-Religion the Jain), Page-79.

१० We find however the word Mula often used in the sense of "Original text" and it is but reasonable to hold that the word Mula appearing in the expression Mula-sutra has got the same sense Thus the term Mula-Sutra would mean the "Original test" i e "The text containing the original words of Mahavira (as received directly from his mouth)" And as a matter of fact we find that the style of Mula Sutras No 183 (उत्तराध्ययन and दशवैकालिक) as sufficiently ancient to justify the claim made in their favour by original title that they present and preserve the original words of Mahavira

—The Dashvaikalika Sutra—A Study, Page-16.

हमारे अपने अभिमतानुसार जिन आगमो मे मुख्यरूप से श्रमण के आचार-सम्बन्धी मूलगुण, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमणजीवनचर्या मे मूलरूप से सहायक बनते हैं, जिन आगमो का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है। हमारे इस कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले आगमो का अध्ययन आचाराग से प्रारम्भ होता था। जब आचार्य शय्यम्भव ने दशवैकालिकसूत्र का निर्माण किया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके बाद उत्तराध्ययनसूत्र पढाया जाने लगा।[11] पहले आचाराग के 'शस्त्रपरिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी। पर जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके बाद उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[12]

मूलसूत्रो की सख्या के सम्बन्ध मे भी ऐकमत्य नही है। समयसुन्दरगणी ने १ दशवैकालिक, २ ओघ-निर्युक्ति, ३. पिण्डनिर्युक्ति, ४ उत्तराध्ययन, ये चार मूलसूत्र माने है।[13] भावप्रभसूरि ने १. उत्तराध्ययन, २ आवश्यक, ३ पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति तथा ४ दशवैकालिक, ये चार मूलसूत्र माने हैं।[14]

प्रोफेसर बेवर, प्रोफेसर बूलर ने १ उत्तराध्ययन, २ आवश्यक और ३ दशवैकालिक, इन तीनों को मूलसूत्र कहा है। डॉ० सारपेन्टियर, डॉ० विन्टरनीत्ज और डॉ० ग्यारीनो ने १. उत्तराध्ययन, २ आवश्यक, ३ दशवैकालिक एव ४ पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र की सज्ञा दी है। डॉ० सुब्रिग ने १ उत्तराध्ययन, २ दशवैकालिक, ३ आवश्यक तथा ४. पिण्डनिर्युक्ति एव ५ ओघनिर्युक्ति, इन पाचो को मूलसूत्र बताया है।[15]

स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वारसूत्र को मूलसूत्र मानती हैं।

मूलसूत्रविभाग की कल्पना का आधार श्रुत-पुरुष भी हो सकता है। सर्वप्रथम जिनदासगणी महत्तर ने श्रुत-पुरुष की कल्पना की है।[16] श्रुत-पुरुष के शरीर मे बारह अग हैं, जैसे—प्रत्येक पुरुष के शरीर मे दो पैर, दो जघाये, दो उरु, दो गात्रार्ध (पेट और पीठ), दो भुजाएँ, ग्रीवा और सिर होते हैं, वैसे ही आगम-साहित्य के बारह अग है। अगबाह्य श्रुत-पुरुष के उपाग-स्थानीय हैं। प्रस्तुत परिकल्पना अगप्रविष्ट और अगबाह्य, इन दो आगमिक वर्गों के आधार पर हुई है। इस वर्गीकरण मे मूल और छेद को स्थान प्राप्त नही है। आचार्य हरिभद्र, जिनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है और आचार्य मलयगिरि, जिनका समय विक्रम की तेरहवी शताब्दी है,

---

११ आयारस्स उ उवरि, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्व तु।
दसवेयालिय उवरि इयाणि कि तेन होवती उ॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गाथा १७६
(सशोधक मुनि माणक०, प्र० वकील केशवलाल प्रेमचद, भावनगर)

१२ पुव्व सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिच्छज्जीवणया, कि सा उ न होउ उवट्ठवणा॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गाथा १७४

१३ समाचारीशतक।

१४ अथ उत्तराध्ययन—आवश्यक—पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति—दशवैकालिक—इति चत्वारि मूलसूत्राणि।
—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लो. ३० की स्वोपज्ञवृत्ति
(ले० भावप्रभसूरि, झवेरी जीवनचन्द साकरचन्द्र)

१५. ए हिस्ट्री आफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृष्ठ ४४-४५, लेखक एच० आर० कापडिया

१६. इच्चेतस्स सुत्तपुरिसस्स ज सुत्त अगभागठित त अगपविट्ठ भण्णइ। —नन्दीसूत्र चूर्णि, पृष्ठ ४७

उन्होने भी नन्दीसूत्र की अपनी वृत्तियो मे अगप्रविष्ट और अगबाह्य को ही स्थान दिया है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर के आदर्श को लेकर ही वे चले है। अगप्रविष्ट श्रुत की स्थापना इस प्रकार है—

१	दायाँ पैर	=	आचाराग
२	बायाँ पैर	=	सूत्रकृताग
३	दाईं जघा	=	स्थानाग
४.	बाईं जघा	=	समवायाग
५	दायाँ उरु	=	भगवती
६	बायाँ उरु	=	ज्ञाताधर्मकथा
७	उदर	=	उपासकदशा
८	पीठ	=	अन्तकृद्दशा
९.	दाईं भुजा	=	अनुत्तरौपपातिकदशा
१०	बाईं भुजा	=	प्रश्नव्याकरण
११.	ग्रीवा	=	विपाक
१२	शिर	=	दृष्टिवाद

प्रस्तुत स्थापना मे आचाराग और सूत्रकृताग को, मूलस्थानीय अर्थात् चरणस्थानीय माना है।[१७] दूसरे रूप मे भी श्रुत-पुरुष की स्थापना की गई है। उस रेखाकन मे आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन, इन चारो को मूलस्थानीय माना है। प्राचीन ज्ञानभण्डारो मे श्रुत-पुरुष के अनेक चित्र प्राप्त है। द्वादश उपागो की रचना होने के बाद श्रुतपुरुष के प्रत्येक अग के साथ एक-एक उपाग की कल्पना की गई है। क्योंकि अगो के अर्थ को स्पष्ट करने वाला उपाग है। किस अग का कौन-सा उपाग है, वह इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

अग	उपांग
आचाराग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानाग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरौपपातिकदशा	कल्पावतसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

---

१७ श्री आगमपुरुषनु रहस्य, पृष्ठ ५० के सामने (श्री उदयपुर, मेवाड के हस्तलिखित भण्डार से प्राप्त प्राचीन) श्री आगमपुरुष का चित्र।

जिस समय पैंतालीस आगमो की सख्या स्थिर हो गई, उस समय श्रुत-पुरुष की जो आकृति बनाई गई है, उसमे दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को मूल स्थान पर रखा गया है। पर यह श्रुत-पुरुष की आकृति का रेखाकन बहुत ही बाद मे हुआ है। यह भी अधिक सम्भव है कि उत्तराध्ययन, दशवैकालिक को मूलसूत्र मानने का एक कारण यह भी रहा हो।[१८]

जैन आगम-साहित्य मे उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का गौरवपूर्ण स्थान है। चाहे श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य रहे हो, चाहे दिगम्बर-परम्परा के, उन्होने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का पुन -पुन उल्लेख किया है। कषायपाहुड[१९] की जयधवला टीका मे तथा गोम्मटसार[२०] मे क्रमश गुणधर आचार्य ने और सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने अगबाह्य के चौदह प्रकार बताये हैं। उनमे सातवाँ दशवैकालिक है और आठवाँ उत्तराध्ययन है। नन्दीसूत्र मे आचार्य देववाचक ने अगबाह्य श्रुत के दो विभाग किये है।[२१] उनमे एक कालिक और दूसरा उत्कालिक है। कालिक सूत्रो की परिगणना मे उत्तराध्ययन का प्रथम स्थान है और उत्कालिक सूत्रो की परिगणना मे दशवैकालिक का प्रथम स्थान है।

सामान्यरूप से मूलसूत्रो की सख्या चार है। मूलसूत्रो की सख्या के सम्बन्ध मे विज्ञो के विभिन्न मत हम पूर्व बता चुके हैं। चाहे सख्या के सम्बन्ध मे कितने ही मतभेद हो, पर सभी मनीषियो ने उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है।

'उत्तराध्ययन' मे दो शब्द हैं—उत्तर और अध्ययन। समवायाग मे 'छत्तीस उत्तरज्झयणाइ' यह वाक्य मिलता है।[२२] प्रस्तुत वाक्य मे उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो का प्रतिपादन नही किन्तु छत्तीस उत्तर अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं। नन्दीसूत्र मे भी 'उत्तरज्झयणाणि' यह बहुवचनात्मक नाम प्राप्त है।[२३] उत्तराध्ययन के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा मे 'छत्तीस उत्तरज्झाए' इस प्रकार बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[२४] उत्तराध्ययननिर्युक्ति मे भी उत्तराध्ययन का नाम बहुवचन मे प्रयोग किया गया है।[२५] उत्तराध्ययनचूर्णि मे छत्तीस उत्तराध्ययनो का एक श्रुतस्कध माना है।[२६] तथापि उसका नाम चूर्णिकार ने बहुवचनात्मक माना है। बहुवचनात्मक नाम से यह विदित है कि उत्तराध्ययन अध्ययनो का एक योग मात्र है। यह एककर्तृक एक ग्रन्थ नही है।

उत्तर शब्द पूर्व की अपेक्षा से है। जिनदासगणी महत्तर ने इन अध्ययनो की तीन प्रकार ने योजना की है—

---

१८ श्री आगमपुरुषनु रहस्य, पृष्ठ १४ तथा ४९ के सामने वाला चित्र।

१९ दसवेयालिय उत्तरज्झयण। —कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृष्ठ १३/२५

२० दसवेयाल च उत्तरज्झयण। —गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७

२१ से कि त कालिय ? कालिय अणेगविह पण्णत्त, त जहा—उत्तरज्झयणाइ···· ··· ··।
से कि त उक्कालिय ? उक्कालिय अणेगविह पण्णत्त त जहा—दसवेयालिय ··· · ·। —नदी सूत्र ४३

२२ समवायाग, समवाय ३६

२३ नन्दीसूत्र ४३

२४ उत्तराध्ययन ३६/२६८

२५ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ४, पृ २१, पा. टि. ४

२६. एतेसि चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाण समुदयसमितिसमागमेण उत्तरज्झयणभावसुतक्खधे त्ति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीस उत्तरज्झयणाणि इमेहि नामेहि अणुगतव्वाणि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ८

(१) स-उत्तर —पहला अध्ययन

(२) निरुत्तर —छत्तीसवां अध्ययन

(३) स-उत्तर-निरुत्तर —बीच के सारे अध्ययन

परन्तु उत्तर शब्द की प्रस्तुत अर्थयोजना जिनदासगणी महत्तर की दृष्टि से अधिकृत नही है।[२७] वे नियुं क्तिकार भद्रबाहु के द्वारा जो अर्थ दिया गया है, उसे प्रामाणिक मानते हैं। नियुं क्ति की दृष्टि से यह ध्ययन ाचारांग के उत्तरकाल मे पढ़े जाते थे, इसीलिए इस आगम को 'उत्तर अध्ययन' कहा है।[२८] उत्तराध्ययनचूणि व त्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति मे भी प्रस्तुत कथन का समर्थन है। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के पश्चात् यह अध्ययन शवैकालिक के उत्तरकाल मे पढे जाने लगे।[२९] अत ये उत्तर अध्ययन ही बने रहे है। प्रस्तुत उत्तर शब्द की ाख्या तर्कसमत है।

दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थो मे उत्तर शब्द की विविध दृष्टियो से परिभाषाएँ प्राप्त होती है। आचार्य ीरसेन ने षट्खण्डागम की धवलावृत्ति मे लिखा—उत्तराध्ययन उत्तर पदो का वर्णन करता है। यह उत्तर शब्द माधान का प्रतीक है।[३०] अगपण्णत्ति मे आचार्य शुभचन्द्र ने उत्तर शब्द के दो अर्थ किये है।[३१]

[१] उत्तरकाल—किसी ग्रंथ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन।

[२] उत्तर—प्रश्नो का उत्तर देने वाले अध्ययन।

इन अर्थों मे उत्तर और अध्ययनो के सम्बन्ध मे सत्य तथ्य का उद्घाटन किया गया है। उत्तराध्ययन ४, १६, २३, २५ और २९ वाँ—ये अध्ययन प्रश्नोत्तरशैली मे लिखे गये हैं। कुछ अन्य अध्ययनो मे भी ांशिक रूप से कुछ प्रश्नोत्तर आये हैं। प्रस्तुत दृष्टि से उत्तर का 'समाधान' सूचक अर्थ सगत होने पर भी सभी ध्ययनो मे वह पूर्ण रूप से घटित नही होता है। उत्तरवाची अर्थ सगत होने के साथ ही पूर्णरूप से व्याप्त भी । इसलिए उत्तर का मुख्य अर्थ यही उचित प्रतीत होता है।

अध्ययन का अर्थ पढ़ना है। किन्तु यहाँ पर अध्ययन शब्द अध्याय के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। निर्युक्ति ौर चूर्णि मे अध्ययन का विशेष अर्थ भी दिया है[३२] पर अध्ययन से उनका तात्पर्य परिच्छेद से है।

---

७ विणयसुय सउत्तर जीवाजीवाभिगमो णिरुत्तरो, सर्वोत्तर इत्यर्थ, सेसज्झयणाणि सउत्तराणि णिरुत्तराणि य, कह ? परीसहा विणयसुयस्स उत्तरा चउरगिज्जस्स तु पुव्वा इति काउ णिरुत्तर।—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ६

८. कमउत्तरेण पगय आयारस्सेव उवरिमाइ तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुति णायव्वा॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा ३

९ विशेषश्चाय यथा—शय्यम्भव यावदेष क्रम तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकाल पठयन्त इति।
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

० उत्तरज्झयण उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला, पृष्ठ ९७

१ उत्तराणि अहिज्जति, उत्तरज्झयण पद जिणिदेहिं। —अगपण्णत्ति, ३/२५, २६

२. (क) अज्झप्पस्साणयण कम्माण अवचओ उवचियाण।
अणुवचओ व णवाण तम्हा अज्झयणमिच्छति॥
अहिगम्मति व अत्था अणेण अहिय व णयणमिच्छति।
अहिय व साहु गच्छइ तम्हा अज्झयणमिच्छति॥ —उत्तरा नि, गाथा ६-७

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पृष्ठ ६-७

(ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७

उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में नियुक्ति, चूर्णि तथा अन्य मनीषी एक मत नहीं हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु की दृष्टि से उत्तराध्ययन एक व्यक्ति की रचना नही है। उनकी दृष्टि से उत्तराध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—१ अगप्रभव, २ जिनभाषित, ३ प्रत्येकबुद्ध-भाषित, ४. सवादसमुत्थित।[33] उत्तराध्ययन का द्वितीय अध्ययन अगप्रभव है। वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्तरहवे प्राभृत से उद्धृत है।[34] दशवॉ अध्ययन जिनभाषित है।[35] आठवॉं अध्ययन प्रत्येकबुद्धभाषित है।[36] नौवॉं और तेईसवॉं अध्ययन सवाद-समुत्थित है।[37]

उत्तराध्ययन के मूलपाठ पर ध्यान देने से उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध मे अभिनव चिन्तन किया जा सकता है।

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ मे यह वाक्य आया है—"सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—इह खलु बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया।"

सोलहवे अध्ययन के प्रारम्भ मे यह वाक्य उपलब्ध है—"सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय इह खलु थेरेहि भगवतेहि दस बभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता।"

उनतीसवे अध्ययन के प्रारम्भ मे यह वाक्य प्राप्त है—"सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—इह खलु सम्मत्तपरिक्कमे नामऽज्झयणे समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइए।"

उपर्युक्त वाक्यो से यह स्पष्ट परिज्ञान होता है कि दूसरा, उनतीसवॉं अध्ययन श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित है और सोलहवॉं अध्ययन स्थविरो के द्वारा रचित है। निर्युक्तिकार ने द्वितीय अध्ययन को कर्मप्रवादपूर्व से निरूढ माना है।

जब हम गहराई से इस विषय मे चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागो मे विभक्त कर उस पर प्रकाश डालना चाहा, पर उससे उसके कर्तृत्व पर प्रकाश नही पडता, किन्तु विषयवस्तु पर प्रकाश पडता है। दसवें अध्ययन में जो विषयवस्तु है, वह भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित है, किन्तु उनके द्वारा रचित नही। क्योकि प्रस्तुत अध्ययन की अन्तिम गाथा "बुद्धस्स निसम्म भासिय" से यह बात स्पष्ट होती है। इसी प्रकार दूसरे व उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भिक वाक्यो से भी यह तथ्य उजागर होता है।

---

३३ अगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसवाया।
बधे मुक्खे य कया छत्तीस उत्तरज्झयणा॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा ४

३४ कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडमि ज सुत्त।
सणय सोदाहरण त चेव इहपि णायव्व॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा ६९

३५ (क) जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
(ख) जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनम्। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३६ (क) पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
(ख) प्रत्येकबुद्धा कपिलादय तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलियाध्ययनम्। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३७ सवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्ज च। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

छठे अध्ययन की अन्तिम गाथा है—अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारक, अरिहन्त, ज्ञातपुत्र, भगवान्, वैशालिक महावीर ने ऐसा कहा है।[३८] वैशालिक का अर्थ भगवान् महावीर है।

प्रत्येकबुद्धभाषित अध्ययन भी प्रत्येकबुद्ध द्वारा ही रचे गये हो, यह बात नही है। क्योंकि आठवें अध्ययन की अन्तिम गाथा मे यह बताया है कि विशुद्ध प्रज्ञावाले कपिल मुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे ससार-समुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनो लोक आराधित होगे।[३९] यदि प्रस्तुत अध्ययन कपिल के द्वारा विरचित होता तो वे इस प्रकार कैसे कहते ?

सवाद-समुत्थित-अध्ययन नौवें और तेईसवें अध्ययनो का अवलोकन करने पर यह परिज्ञात होता है कि वे अध्ययन नमि राजर्षि और केशी-गौतम द्वारा विरचित नही है। नौवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है—सबुद्ध, पण्डित, प्रविचक्षण पुरुष कामभोगो से उसी प्रकार निवृत्त होते है जैसे--नमि राजर्षि।[४०] तेईसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है—समग्र सभा धर्मचर्चा से परम सतुष्ट हुई, अत सन्मार्ग मे समुपस्थित उसने भगवान् केशी और गणधर गौतम की स्तुति की कि वे दोनो प्रसन्न रहे।[४१]

उपर्युक्त चर्चा का साराश यह है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों मे विभक्त किया है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् महावीर, कपिल, नमि और केशी-गौतम के उपदेश तथा सवादो को आधार बनाकर इन अध्ययनो की रचना हुई है। इन अध्ययनो के रचयिता कौन है ? और उन्होने इन अध्ययनो की रचना कब की ? इन प्रश्नो का उत्तर न निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दिया, न चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने दिया है और न बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने ही दिया है।

आधुनिक अनुसधानकर्त्ता विज्ञो का यह मानना है कि वर्तमान मे जो उत्तराध्ययन उपलब्ध है, वह किसी एक व्यक्तिविशेष की रचना नही है, किन्तु अनेक स्थविर मुनियो की रचनाओ का सकलन है। उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययन भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित है तो कितने ही अध्ययन स्थविरो के द्वारा सकलित हैं।[४२] इसका यह तात्पर्य नही है कि उत्तराध्ययन मे भगवान् महावीर का धर्मोपदेश नही है। उसमे वीतरागवाणी का अपूर्व तेज कभी छिप नही सकता। क्रूर काल की काली आधी भी उसे धुधला नही कर सकती। वह आज भी प्रदीप्त है और साधको के अन्तर्जीवन को उजागर करता है। आज भी हजारो भव्यात्मा उस पावन उपदेश को धारण कर अपने जीवन को पावन बना रहे है। यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक उत्तराध्ययन छत्तीस अध्ययनो के रूप मे सकलित हो चुका था। समवायागसूत्र मे छत्तीस उत्तर अध्ययनो के नाम उल्लिखित है।

---

३८ 'एव से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदसी अणुत्तरनाणदसणधरे
अरहा नायपुत्ते, भगव वेसालिए वियाहिए ॥' — उत्तराध्ययन ६।१८

३९ 'इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेण च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति तेहिं आराहिया दुवे लोगा ॥' —उत्तराध्ययन ८।२०

४० 'एव करेन्ति सबुद्धा पडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥' — उत्तराध्ययन ९।६२

४१ 'तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्ग समुवट्ठिया।
सथुया ते पसीयन्तु भयव केसिगोयमे ॥' — उत्तराध्ययन २३।८९

४२ (क) देखिए—दसवेआलिय तह उत्तरज्झयण की भूमिका, आचार्य तुलसी
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका, कवि अमरमुनि जी

विषयवस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन धर्मकथात्मक, उपदेशात्मक, आचारात्मक और सैद्धान्तिक, इन चार भागो मे विभक्त किये जा सकते हैं। जैसे—

(१) **धर्मकथात्मक**—७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७

(२) **उपदेशात्मक**—१, ३, ४, ५, ६ और १०

(३) **आचारात्मक**—२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५

(४) **सैद्धान्तिक**—२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४ और ३६

विक्रम की प्रथम शती मे आर्यरक्षित ने आगमो को चार अनुयोगो मे विभक्त किया। उसमें उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत गिना है।[४३] उत्तराध्ययन मे धर्मकथानुयोग की प्रधानता होने से जिनदासगणी महत्तर ने उसे धर्मकथानुयोग माना है,[४४] पर आचारात्मक अध्ययनो को चरणकरणानुयोग मे और सैद्धान्तिक अध्ययनो को द्रव्यानुयोग मे सहज रूप से ले सकते हैं। उत्तराध्ययन का जो वर्तमान रूप है, उसमे अनेक अनुयोग मिले हुए हैं।

कितने ही विज्ञो का यह भी मानना है कि कल्पसूत्र के अनुसार उत्तराध्ययन की प्ररूपणा भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व पावापुरी मे की थी।[४५] इससे यह सिद्ध है कि भगवान् के द्वारा यह प्ररूपित है, इसलिए इसकी परिगणना अङ्ग-साहित्य मे होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र की अन्तिम गाथा को कितने ही टीकाकार इसी आशय को व्यक्त करने वाली मानते हैं—'उत्तराध्ययन का कथन करते हुए भगवान् महावीर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।' यह प्रश्न काफी गम्भीर है। इसका सहज रूप से समाधान होना कठिन है। तथापि इतना कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययनो की भगवान् महावीर ने प्ररूपणा की थी और कितने ही अध्ययन बाद मे स्थविरो के द्वारा सकलित हुए। उदाहरण के रूप मे—केशी-गौतमीय अध्ययन मे श्रमण भगवान् महावीर का अत्यन्त श्रद्धा के साथ उल्लेख हुआ है। स्वय भगवान् महावीर अपने ही मुखारविन्द से अपनी प्रशसा कैसे करते? उनतीसवे अध्ययन मे प्रश्नोत्तरशैली है, जो परिनिर्वाण के समय सम्भव नही है। क्योकि कल्पसूत्र मे उत्तराध्ययन को अपृष्ठव्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे कथन किया हुआ शास्त्र कहा है।

कितने ही आधुनिक चिन्तको का यह भी अभिमत है कि उत्तराध्ययन के पहले के अठारह अध्ययन प्राचीन है और उसके बाद के अठारह अध्ययन अर्वाचीन हैं। किन्तु अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए उन्होने प्रमाण नही दिये हैं।

कितने ही विद्वान् यह भी मानते हैं कि अठारह अध्ययन तो अर्वाचीन नही हैं। हाँ, उनमे से कुछ अर्वाचीन हो सकते है। जैसे—इकतीसवें अध्ययन मे आचाराग, सूत्रकृताग, आदि प्राचीन नामो के साथ दशाश्रुतस्कध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ जैसे अर्वाचीन आगमो के नाम भी मिलते हैं।[४६] जा श्रुत-

---

४३ अत्र धम्माणुयोगेनाधिकार। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४४ उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४५ कल्पसूत्र

४६ तेवीसइ सूयगडे रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइण।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥
अणगारगुणेहिं च पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥ —उत्तरा ३१।१६-१८

केवली भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ या कृत है।[४७] भद्रबाहु का समय वीरनिर्वाण की दूसरी शती है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन की रचना भद्रबाहु के पश्चात् होनी चाहिए।

अन्तकृद्दशा आदि प्राचीन आगमसाहित्य मे श्रमण-श्रमणियो के चौदह पूर्व, ग्यारह अग या बारह अगो के अध्ययन का वर्णन मिलता है।[४८] अगबाह्य या प्रकीर्णक सूत्र के अध्ययन का वर्णन उपलब्ध नही होता। किन्तु उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवे अध्ययन मे अग और अगबाह्य, इन दो प्राचीन विभागो के अतिरिक्त ग्यारह अग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है।[४९] अत प्रस्तुत अध्ययन भी उत्तरकालीन आगम-व्यवस्था की सरचना होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अट्ठाईसवे अध्ययन मे द्रव्य[५०], गुण[५१], पर्याय[५२] की जो सक्षिप्त परिभाषाये दी गई है, वैसी परिभाषाये प्राचीन आगम साहित्य मे उपलब्ध नही है। वहाँ पर विवरणात्मक अर्थ की प्रधानता है, अत यह अध्ययन अर्वाचीन प्रतीत होता है।

दिगम्बर साहित्य मे उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का सकेत किया गया है। वह इस प्रकार है—

धवला मे लिखा है—उत्तराध्ययन मे उद्गम, उत्पादन और एषणा से सम्बन्धित दोषो के प्रायश्चित्तो का विधान है[५३] और उत्तराध्ययन उत्तर पदो का वर्णन करता है।[५४]

---

४७. (क) वदामि भद्दबाहु पाईण चरिमसयलसुयणाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे॥ —दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गा १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प-दसाकप्प-ववहारा व नवमपुव्वनीसदभूता निज्जूढा।
—पचकल्पभाष्य, गा २३ चूर्णि

४८ (क) सामाइयमाइयाइ एक्कारसअगाइ अहिज्जइ। —अन्तकृत, प्रथम वर्ग

(ख) बारसगी —अन्तकृतदशा, ४ वर्ग, अ य १

(ग) सामाइयमाइयाइ चोद्दसपुव्वाइ अहिज्जइ। —अन्तकृतदशा, ३ वग, अ य १

४९. सो होइ अभिगमरुई, सुयनाण जेण अत्थओ दिट्ठ।
एक्कारस अगाइ, पइण्णग दिट्ठिवाओ य॥ —उत्तरा २८।२३

५०. द्रव्य—गुणाणमासओ दव्व (द्रव्य गुणो का आश्रय है)। तुलना करें—क्रियागुणवत समवायिकारणमिति द्रव्य-लक्षणम्। —वैशेषिकदर्शन, प्र अ प्रथम आह्निक, सूत्र १५

५१ गुण—एगदव्वस्सिया गुणा। तुलना करें—
द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
—वैशे दर्शन, प्र अ प्रथम आह्निक सू १६

५२ पर्याय—लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे। —उत्तराध्ययन

५३ उत्तरज्झयण उग्गम्मुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाण कालादिविसेसिद वण्णेदि।
—धवला, पत्र ५४५ हस्तलिखित प्रति

५४ उत्तरज्झयण उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला, पृ ९७ (सहारनपुर प्रति)

अंगपण्णत्ती मे वर्णन है कि बाईस परीषहो और चार प्रकार के उपसर्गों के सहन का विधान, उसका फल तथा प्रश्नो का उत्तर, यह उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[५५]

हरिवंशपुराण मे आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि उत्तराध्ययन मे वीर-निर्वाण गमन का वर्णन है।[५६]

दिगम्बर साहित्य मे जो उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का निर्देश है, वह वर्णन वर्तमान मे उपलब्ध उत्तराध्ययन मे नही है। आंशिक रूप से अगपण्णत्ती का विषय मिलता है, जैसे (१) बाईस परीषहो के सहन करने का वर्णन—दूसरे अध्ययन मे। (२) प्रश्नो के उत्तर—उनतीसवाँ अध्ययन।

प्रायश्चित्त का विधान और भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन उत्तराध्ययन मे प्राप्त नही है। यह हो सकता है कि उन्हे उत्तराध्ययन का अन्य कोई सस्करण प्राप्त रहा हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक मे उत्तराध्ययन को आरातीय आचार्यों [गणधरो के पश्चात् के आचार्यों] की रचना माना है।[५७]

समवायाग[५८] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[५९] आदि मे उत्तराध्ययन की जो विषय-सूची दी गई है, वह उत्तराध्ययन मे ज्यो की त्यो प्राप्त होती है। अत यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु प्राचीन है। वीर-निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे दशवैकालिकसूत्र की रचना हो चुकी थी। उत्तराध्ययन दशवैकालिक के पहले की रचना है, वह आचाराग के पश्चात् पढा जाता था, अत इसकी सकलना वीरनिर्वाण की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे ही हो चुकी थी।

क्या उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है ?

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या उत्तराध्ययन श्रमण भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है? उत्तर म निवेदन है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र मे लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर कल्याणफल-विपाक वाले पचपन अध्ययनो और पाप-फल वाले पचपन अध्ययनो एव छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणो का व्याकरण कर प्रधान नामक अध्ययन का प्ररूपण करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।[६०]

इसी आधार से यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण उत्तराध्ययन के ही छत्तीस अध्ययन है। उत्तराध्ययन के छत्तीसवे अध्ययन की अन्तिम गाथा से भी प्रस्तुत कथन की पुष्टि होती है—

"इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीस उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसमए॥"

---

५५ उत्तराणि अहिज्जति उत्तरज्झयण पद जिणिदेहि।
बावीसपरीसहाणं उवसग्गाण च सहणविहि॥
वण्णेदि तप्फलमवि, एव पण्हे च उत्तर एव।
कहदि गुरुसीसयाण पइण्णिय अट्ठम तु ख॥ —अगपण्णत्ति, ३।२५-२६

५६ उत्तराध्ययन वीर-निर्वाणगमन तथा। —हरिवंशपुराण, १०।१३४

५७ यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यैराराती यैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलाना प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्ध सक्षिप्तांगार्थवचनविन्यास तदगबाह्यम् ·· · तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधा। — तत्त्वार्थवार्तिक, १।२० पृष्ठ ७८

५८ समवायाग, ३६ वाँ समवाय

५९ उत्तराध्ययननिर्युक्ति १८-२६

६० कल्पसूत्र १४६, पृष्ठ २१०, देवेन्द्रमुनि सम्पादित

जिनदासगणी महत्तर ने इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है—ज्ञातकुल मे उत्पन्न वर्द्धमानस्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनो का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[६१]

शान्त्याचार्य ने अपनी बृहद्वृत्ति मे उत्तराध्ययनचूर्णि का अनुसरण करके भी अपनी ओर से दो बातें और मिलाई है। पहली बात यह कि भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अर्थ-रूप मे और कुछ अध्ययन सूत्र-रूप मे प्ररूपित किये।[६२] दूसरी बात उन्होने परिनिर्वृत्त का वैकल्पिक अर्थ स्वस्थीभूत किया है।[६३]

निर्युक्ति मे इन अध्ययनो को जिन-प्रज्ञप्त लिखा है।[६४] बृहद्वृत्ति मे जिन शब्द का अर्थ श्रुतजिन-श्रुत-केवली किया है।[६५]

निर्युक्तिकार का अभिमत है कि छत्तीस अध्ययन श्रुतकेवली प्रभृति स्थविरो द्वारा प्ररूपित है। उन्होंने निर्युक्ति मे इस सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही को है कि यह भगवान् ने अन्तिम देशना के रूप मे कहा है। बृहद्-वृत्तिकार भी इस सम्बन्ध मे सदिग्ध हैं। केवल चूर्णिकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त किया है।

समवायाग मे छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणो का कोई भी उल्लेख नही है। वहाँ इतना ही सूचन है कि भगवान् महावीर अन्तिम रात्रि के समय पचपन कल्याणफल-विपाक वाले अध्ययनो तथा पचपन पाप-फल-विपाक वाले अध्ययनो का व्याकरण कर परिनिर्वृत्त हुए।[६६] छत्तीसवे समवाय मे भी जहाँ पर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो का नाम निर्देश किया है, वहाँ पर भी इस सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही है।

उत्तराध्ययन के अठारहवे अध्ययन की चोबीसवी गाथा के प्रथम दो चरण वे ही है जो छत्तीसवे अध्ययन के अन्तिम गाथा के है। देखिए—

'इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरणसम्पन्न, सच्चे सच्चपरक्कमे॥" —उत्तरा १८।२४
"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीस उत्तरज्झाए, भवसिद्धीय सम्मए॥ —उत्तरा ३६।२६९

बृहद्वृत्तिकार ने अठारहवे अध्ययन की चोबीसवी गाथा के पूर्वार्द्ध का जो अर्थ किया है, वही अर्थ छत्तीसवे अध्ययन की अन्तिम गाथा का किया जाय तो उससे यह फलित नही होता कि ज्ञातपुत्र महावीर छत्तीस

६१ उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २८१
६२ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२
६३ अथवा पाउकरे त्ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेष पूर्ववत्, नवर परिनिर्वृत्त क्रोधादिदहनोपशमत समन्तात्स्वस्थीभूत। —बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२
६४ तम्हा जिणपन्नत्ते, अणतगमपज्जवेहि सजुत्ते।
अज्झाए जहाजोग, गुरुप्पसाया अहिज्जिज्जा॥ —उत्तरा निर्युक्ति, गा ५५९
६५ तस्माज्जिनै श्रुतजिनादिभि प्ररूपिता। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१३
६६ समवायाग ५५

अध्ययनों का प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। यहाँ पर अर्थ है—बुद्ध—अवगततत्त्व, परिनिर्वृ त - शीतीभूत ज्ञातपुत्र महावीर ने इस तत्त्व का प्रज्ञापन किया है।[६७]

उत्तराध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि इसमें भगवान महावीर की वाणी का सगुंफन सम्यक् प्रकार से हुआ है। यह श्रमण भगवान् महावीर का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें जीव, अजीव, कर्मवाद, षट् द्रव्य, नव तत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है। केवल धर्मकथानुयोग का ही नहीं, अपितु चारों अनुयोगों का मधुर सगम हुआ है। अत यह भगवान् महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें वीतरागवाणी का विमल प्रवाह प्रवाहित है। इसके अर्थ के प्ररूपक भगवान् महावीर है किन्तु सूत्र के रचयिता स्थविर होने से इसे अगबाह्य आगमों मे रखा है। उत्तराध्ययन शब्दत भगवान् महावीर की अन्तिम देशना ही है, यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ट-व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे स्वत कथन किया हुआ शास्त्र बताया है, किन्तु वर्तमान के उत्तराध्ययन में आये हुए केशी-गौतमीय, सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन जो प्रश्नोत्तर शैली मे हैं, वे चिन्तकों को चिन्तन के लिए अवश्य ही प्रेरित करते है। केशी-गौतमीय अध्ययन मे भगवान् महावीर का जिस भक्ति और श्रद्धा के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है, वह भगवान् स्वय अपने लिए किस प्रकार कह सकते है? अत ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन मे कुछ अश स्थविरों ने अपनी ओर से सकलित किया हो और उन प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों को वीरनिर्वाण की एक सहस्राब्दी के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने सकलन कर उसे एक रूप दिया हो।[६८]

विनय एक विश्लेषण

प्रस्तुत आगम विषय-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूत्र का प्रारम्भ होता है- विनय से। विनय अहकार-शून्यता है। अहकार की उपस्थिति मे विनय केवल औपचारिक होता है। 'बायजीद एक सूफी सन्त थे। उनके पास एक व्यक्ति आया। उसने नमस्कार कर निवेदन किया कि कुछ जिज्ञासाएँ है। बायजीद ने कहा--पहले झुको! उस व्यक्ति ने कहा—मैंने नमस्कार किया है, क्या आपने नहीं देखा? बायजीद ने मुस्कराते हुए कहा -मै शरीर को झुकाने की बात नही कहता। तुम्हारा अहकार झुका है या नही? उसे झुकाओ! विनय और अहकार में कही भी तालमेल नही है। अह के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित होगा। व्यक्ति का रूपान्तरण होगा। कई बार व्यक्ति बाह्य रूप से नम्र दिखता है, किन्तु अन्दर अह मे अकडा रहता है। बिना अहकार को जीते व्यक्ति विनम्र नहीं हो सकता। विनय का सही अर्थ है अपने आपको अह से मुक्त कर देना। जब अह नष्ट होता है, तब व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है और जो गुरु कहते है उसे स्वीकार करता है। उनके वचनों की आराधना करता है। अपने मन को आग्रह से मुक्त करता है। विनीत शिष्य को यह परिबोध होता है कि किस प्रकार बोलना, किस प्रकार बैठना, किस प्रकार खड़े होना चाहिए? वह प्रत्येक बात पर गहराई से चिन्तन करता है। आज जन-जीवन मे अशान्ति और अनु-

---

६७ इत्यवरूप 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् 'बुद्ध' अवगततत्त्व सन ज्ञात एव ज्ञातक जगत्प्रतीत क्षत्रियो वा, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव परिनिर्वृ त्त कषायानलविध्यापनात्समन्तच्छीतीभूत।

उत्तराध्ययन बृहदवृत्ति पत्र ७४

६८ (क) दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका (आचार्य श्री तुलसी)

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र—उपाध्याय अमरमुनि की भूमिका

शासन-हीनता के काले-कजराले बादल उमड़-घुमड़ कर मडरा रहे है। उसका मूल कारण जीवन के ऊषा काल से ही व्यक्ति मे विनय का अभाव होता जाना है और यही अभाव पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन मे शैतान की आत की तरह बढ़ रहा है, जिससे न परिवार सुखी है, न समाज सुखी है और न राष्ट्र के अधिनायक ही शान्ति में हैं। प्रथम अध्ययन मे शान्ति का मूलमत्र विनय को प्रतिपादित करते हुए उसकी महिमा और गरिमा के सम्बन्ध मे विस्तार से निरूपण है।

प्रथम अध्ययन मे विनय का विश्लेषण करते हुए जो गाथाएँ दी गई है, उनकी तुलना महाभारत, धम्मपद और थेरीगाथा मे आये हुए पद्यो के साथ की जा सकती है। देखिए—

"नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा, पियमप्पियं॥"
—उत्तरा १।१४

तुलना कीजिए—

"नापृष्ट कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छत।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवन् समुपाविशेत्॥"
शान्तिपर्व २८७।३५

"अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥"
—उत्तरा १।१५

तुलना कीजिए—

"अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्चमनुसासति (?)।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥"
—धम्मपद १२।३

"पडिणीयं च बुद्धाण, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥"
—उत्तरा १।१७

तुलना कीजिए—

"मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा॥"
—थेरीगाथा २४७

परीषह : एक चिन्तन

द्वितीय अध्ययन मे परिषह-जय के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है। सयमसाधना के पथ पर कदम बढ़ाते समय विविध प्रकार के कष्ट आते हैं, पर साधक उन कष्टो से घबराता नहीं है। वह तो उस झरने की तरह है, जो वज्र चट्टानो को चीर कर आगे बढ़ता है। न उसके मार्ग को पत्थर रोक पाते हैं और न गहरे गर्त ही। वह तो अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढता रहता है। पीछे लौटना उसके जीवन का लक्ष्य नहीं होता।

स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है, वह 'परीषह' है।[69] परीषह के अर्थ मे उपसर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है। परीषह का अर्थ केवल शरीर, इन्द्रिय, मन को ही कष्ट देना नही है, अपितु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना व साधना के लिए सुस्थिर बनाना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दु.ख से भावित करना चाहिए। जमीन मे वपन किया हुआ बीज तभी अकुरित होता है, जब उसे जल की शीतलता के साथ सूर्य की ऊष्मा प्राप्त हो, वैसे ही साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ प्रतिकूलता की ऊष्मा भी आवश्यक है। परीषह साधक के लिए बाधक नही, अपितु उसकी प्रगति का ही कारण है। उत्तराध्ययन[70], समवायांग[71] और तत्त्वार्थसूत्र[72] मे परीषह की सख्या २२ बताई है। किन्तु सख्या की दृष्टि समान होने पर भी क्रम की दृष्टि से कुछ अन्तर है। समवायाग मे परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं —

१. क्षुधा	१२ आक्रोश
२ पिपासा	१३ वध
३. शीत	१४ याचना
४ उष्ण	१५. अलाभ
५. दश-मशक	१६. रोग
६. अचेल	१७. तृण-स्पर्श
७. अरति	१८ जल्ल
८ स्त्री	१९ सत्कार-पुरस्कार
९ चर्या	२० ज्ञान
१० निषद्या	२१ दर्शन
११ शय्या	२२ प्रज्ञा

उत्तराध्ययन मे १९ परीषहो के नाम व क्रम वही है, किन्तु २०, २१ व २२ के नाम मे अन्तर है। उत्तराध्ययन मे (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) दर्शन है।

नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने[73] "अज्ञान" परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप मे वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति ने[74] 'अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'अदर्शन' परीषह लिखा है। आचार्य नेमिचन्द्र ने[75] 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनो मे केवल शब्द का अन्तर है, भाव का नही।

---

६९ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा। —तत्त्वार्थसूत्र ९।८
७० उत्तराध्ययनसूत्र, दूसरा अध्ययन
७१ समवायाग, समवाय २२
७२ तत्त्वार्थसूत्र—९।८
७३ समवायाग २२
७४ तत्त्वार्थसूत्र ९।९
७५ प्रवचनसारोद्धार, गाथा-६८६

परीषहों की उत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीय, अन्तराय, मोहनीय और वेदनीय कर्म हैं। ज्ञानावरणाय-कर्म प्रज्ञा और अज्ञान परीषहों का, अन्तरायकर्म अलाभ परीषह का, दर्शनमोहनीय अदर्शन परीषह का और चारित्रमोहनीय अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार, इन सात परीषहों का कारण है। वेदनीयकर्म क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और जल्ल, इन ग्यारह परीषहों का कारण है।[७६]

अधिकारी-भेद की दृष्टि से जिसमे सम्पराय अर्थात् लोभ-कषाय की मात्रा कम हो, उस दसवे सूक्ष्मसम्पराय मे[७७] तथा ग्यारहवें उपशान्तमोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान मे (१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दशमशक (६) चर्या (७) प्रज्ञा (८) अज्ञान (९) अलाभ (१०) शय्या (११) वध (१२) रोग (१३) तृणस्पर्श और (१४) जल्ल, ये चौदह परीषह ही सभव हैं। शेष मोहजन्य आठ परीषह वहाँ मोहोदय का अभाव होने से नही है। दसवें गुणस्थान मे अत्यल्प मोह रहता है। इसलिए प्रस्तुत गुणस्थान मे भी मोहजन्य आठ परीषह सभव न होने से केवल चौदह ही होते हैं।

तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे[७८] (१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दश-मशक (६) चर्या (७) वध (८) रोग (९) शय्या (१०) तृणस्पर्श और (११) जल्ल, ये वेदनीयजनित ग्यारह परीषह सम्भव हैं। इन गुणस्थानो मे घातीकर्मों का अभाव होने से शेष ११ परीषह नही है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि १३वे और १४वे गुणस्थानो मे परीषहों के विषय मे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो के दृष्टिकोण मे किंचित् अन्तर है और उसका मूल कारण है—दिगम्बर परम्परा केवली मे कवलाहार नही मानती है। उसके अभिमतानुसार सर्वज्ञ मे क्षुधा आदि ११ परीषह तो हैं, पर मोह का अभाव होने से क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से परीषह है।[७९] उन्होने दूसरी व्याख्या भी की है। 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ लगाया है—जिनमे वेदनीयकर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ११ परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से हैं ही नही।

सुत्तनिपात[८०] मे तथागत बुद्ध ने कहा—मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दश और सरीसृप का सामना कर खड्गविषाण की तरह अकेला विचरण करे। यद्यपि बौद्धसाहित्य मे कायक्लेश को किंचित् मात्र भी महत्त्व नही दिया गया, किन्तु श्रमण के लिए परीषहसहन करने पर उन्होने भी बल दिया है।

कितनी ही गाथाओ की तुलना बौद्धग्रन्थ—थेरगाथा, सुत्तनिपात तथा धम्मपद और वैदिकग्रन्थ—महाभारत, भागवत और मनुस्मृति मे आये हुए पद्यो के साथ की जा सकती है। उदाहरण के रूप मे हम नीचे वह तुलना दे रहे हैं। देखिए—

---

७६ भगवतीसूत्र ८-८

७७ सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। —तत्त्वार्थसूत्र ९।१०

७८ एकादश जिने। —तत्त्वार्थसूत्र ९।११

७९. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल जी सघवी), पृष्ठ २१६

८० सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं वातातपे डंस सिरीसिपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसम्भवित्वा एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥
—सुत्तनिपात, उरगवग्ग ३-१८

"कालीपव्वगसकासे, किसे धमणिसतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमनसो चरे॥"

—उत्तराध्ययन २।३

तुलना कीजिए—

"काल (ला) पव्वगसकासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपाणम्हि, अदीनमनसो नरो॥"

—थेरगाथा २४६, ६८६

"अष्टचक्र हि तद् यान, भूतयुक्त मनोरथम्।
तत्राद्यो लोकनाथो तौ, कृशो धमनिसततौ॥"

—शान्तिपर्व ३३४।११

"एव चीर्णेन तपसा, मुनिर्धर्मनिसर्गतः"

—भागवत ११।१८।९

"पसुकूलधर जन्तु, किस धमनिसन्थत।
एक वनस्मि झायन्त, तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥"

—धम्मपद २६।१३

"पुट्ठो य दसमसएहि, समरेव महामुणी।
नागो सगामसीसे वा, सूरो अभिहणे पर॥"

—उत्तराध्ययन २।१०

तुलना कीजिए—

"फुट्ठो डसेहि मसकेहि, अरञ्ञस्मि ब्रहावने।
नागो सगामसीसे व, सतो तत्राऽधिवासये॥"

—थेरगाथा ३४, २४७, ६८७

"एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए॥"

—उत्तराध्ययन २।१८

तुलना कीजिए—

"एक एव चरेन्नित्य, सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य सपश्यन्, न जहाति न हीयते॥"

—मनुस्मृति ६।४२

"असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गह।
असससत्तो गिहत्थेहि, अणिएओ परिव्वए॥"

—उत्तरा० २।१९

तुलना कीजिए—

"अनिकेत परितपन्, वृक्षमूलाश्रयो मुनि।
अयाचक सदा योगी, स त्यागी पार्थ! भिक्षुक॥"

—शान्तिपर्व १२।१०

"सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं॥"
—उत्तरा. २।२०

तुलना कीजिए—
"पांसुभि समभिच्छिन्न, शून्यागारप्रतिश्रय।
वृक्षमूलनिकेतो वा, त्यक्तसर्वप्रियाप्रिय॥"
—शान्तिपर्व ९।१३

"सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥"
—उत्तरा. २।२५

तुलना कीजिए—
"सुत्वा रुसितो बहु वाच, समणाण पुथुवचनान।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति॥"
—सुत्तनिपात, व. ८, १४।१८

"अणुक्कसाई, अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नव॥"
—उत्तराध्ययन २।३९

तुलना कीजिए—
'चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किंचि लोकस्मि॥"
—सुत्त. व ८, १४।८

प्रस्तुत अध्ययन मे 'खेत्त वत्थु हिरण्ण' वाली जो गाथा है, वैसी गाथा सुत्तनिपात मे भी उपलब्ध है। देखिए—

"खेत्त वत्थु हिरण्ण च, पसवो दासपोरुष।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई॥"
—उत्तराध्ययन ३।१७.

तुलना कीजिए—
"खेत्त वत्थु हिरञ्ञ वा, गवास्स दासपोरिस।
थियो बन्धू पुथू कामे, यो नरो अनुगिज्झति॥"
—सुत्त. व ८, १।४.

तृतीय अध्ययन मे मानवता, सद्धर्मश्रवण, श्रद्धा और सयम-साधना मे पुरुषार्थ—इन चार विषयो पर चिन्तन किया गया है। मानवजीवन अत्यन्त पुण्योदय से प्राप्त होता है। भगवान् महावीर ने "दुल्लहे खलु माणुसे भवे" कह कर मानवजीवन की दुर्लभता बताई है तो आचार्य शकर ने भी "नरत्व दुर्लभ लोके" कहा है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस मे कहा—

"बडे भाग मानुस तन पावा।
सुर-नर मुनि सब दुर्लभ गावा॥"

मानवजीवन की महत्ता का कारण यह है कि वह अपने जीवन को सद्‌गुणों से चमका सकता है। मानव-तन मिलना कठिन है किन्तु 'मानवता' प्राप्त करना और भी कठिन है। नर-तन तो चोर, डाकू एवं बदमाशों को भी मिलता है पर मानवता के अभाव में वह तन मानव-तन नहीं, दानव-तन है। मानवता के साथ ही निष्ठा की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि बिना निष्ठा के ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गीताकार ने भी "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं" कहकर श्रद्धा की महत्ता प्रतिपादित की है। जब तक साधक की श्रद्धा समीचीन एवं सुस्थिर नहीं होती, तब तक साधना के पथ पर उसके कदम दृढ़ता से आगे नहीं बढ़ सकते, इसलिए श्रद्धा पर बल दिया गया है। साथ ही धर्मश्रवण के लिए भी प्रेरणा दी गई है। धर्मश्रवण से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् परिज्ञान होता है और सम्यक् परिज्ञान होने से साधक पुरुषार्थ के द्वारा सिद्धि को वरण करता है।

जागरूकता का सन्देश

चतुर्थ अध्ययन का नाम समवायांग में[८१] 'असंखयं' है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'प्रमादाप्रमाद' नाम दिया है।[८२] निर्युक्तिकार ने अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर नाम दिया है तो समवायांग में जो नाम है वह प्रथम गाथा के प्रथम पद पर आधृत है। अनुयोगद्वार से भी इस बात का समर्थन होता है।[८३] व्यक्ति सोचता है—अभी तो मेरी युवावस्था है, धर्म वृद्धावस्था में करूँगा, पर उसे पता नहीं कि वृद्धावस्था आयेगी अथवा नहीं? इसलिए भगवान् ने कहा—धर्म करने में प्रमाद न करो। जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि अर्थ पुरुषार्थ है, अतः अर्थ मेरा कल्याण करेगा, पर उन्हें यह पता नहीं कि अर्थ अनर्थ का कारण है। तुम जिस प्रकार के कर्मों का उपार्जन करोगे उसी प्रकार का फल प्राप्त होगा। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"—कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इस प्रकार अनेक जीवनोत्थान के तथ्यों का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है और साधक को यह प्रेरणा दी गई है कि वह प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहकर साधना के पथ पर आगे बढ़े।

चतुर्थ अध्ययन की प्रथम और तृतीय गाथा में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, वैसे ही भाव बौद्धग्रन्थ—अंगुत्तरनिकाय तथा थेरगाथा में भी आये हैं। हम जिज्ञासुओं के लिए यहाँ पर उन गाथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने हेतु दे रहे हैं। देखिए—

"असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ४।१

तुलना कीजिए—

"उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमाणो, पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥"

—अंगुत्तरनि., पृष्ठ १५९

"तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥"

—उत्तराध्ययन ४।३

---

८१ छत्तीसं उत्तरज्झयणा प० तं०—विणयसुयं ... असंखयं ......। —समवायांग, समवाय ३६

८२ पंचविहो अ पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य।
वण्णिज्ज उ जम्हा तेण पमायप्पमायंति॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १८१

८३. अनुयोगद्वार, सूत्र १३० पाठ के लिए देखिये पृ ३९ पा टि १

तुलना कीजिए—

> "चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
> एव पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो॥"
>
> —थेरगाथा ७८९

मृत्यु : एक चिन्तन

पाचवे अध्ययन मे अकाम-मरण के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है। भारत के तत्त्वदर्शी ऋषि महर्षि और सन्तगण जीवन और मरण के सम्बन्ध मे समय-समय पर चिन्तन करते रहे है। जीवन सभी को प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है। जीवित रहने के लिए सभी प्रयास करते हैं और चाहते है कि हम दीर्घकाल तक जीवित रहे। उत्कट जिजीविषा प्रत्येक प्राणी मे विद्यमान है। पर सत्य यह है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली-दामन का सम्बन्ध है। न चाहने पर भी मृत्यु निश्चित है, यहाँ तक कि मृत्यु की आशका से मानव और पशु ही नही अपितु स्वर्ग के अनुपम सुखो को भोगने वाले देव और इन्द्र भी काँपते है। ससार मे जितने भी भय है, उन सब मे मृत्यु का भय सबसे बढकर है। पर चिन्तको ने कहा—तुम मृत्यु से भयभीत मत बनो! जीवन और मरण तो खेल है। तुम खिलाडी बनकर कलात्मक ढग से खेलो, चालक को मोटर चलाने की कला आनी चाहिए तो मोटर को रोकने की कला भी आनी चाहिए। जो चालक केवल चलाना ही जानता हो, रोकने की कला से अनभिज्ञ हो, वह कुशल चालक नही होता। जीवन और मरण दोनो ही कलाओ का पारखी ही सच्चा पारखी है। जैसे हँसते हुए जीना आवश्यक है, वैसे ही हँसते हुए मृत्यु को वरण करना भी आवश्यक हैं। जो हँसते हुए मरण नही करता है, वह अकाममरण को प्राप्त होता है। अकाममरण विवेकरहित और सकाममरण विवेकयुक्त मरण है। अकाममरण मे विषय-वासना की प्रबलता होती है, कषाय की प्रधानता होती है और सकाममरण मे विषय-वासना और कषाय का अभाव होता है। सकाममरण मे साधक शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानता है। शुद्ध दृष्टि से आत्मा विशुद्ध है, अनन्त आनन्द-मय है। शरीर का कारण कर्म है और कर्म से ही मृत्यु और पुनर्जन्म है। इसलिए उस साधक के मन मे न वासना होती है और न दुर्भावना ही होती है। वह बिना किसी कामना के स्वेच्छा से प्रसन्नता-पूर्वक मृत्यु को इसलिए वरण करता है कि उसका शरीर अब साधना करने मे सक्षम नही है। अत समाधिपूर्वक सकाममरण की महिमा आगम व आगमेतर साहित्य मे गाई गई है।

सकाममरण को पण्डितमरण भी कहते है। पण्डितमरण के अनेक भेद-प्रभेदो की चर्चाएँ आगम-साहित्य मे विस्तार से निरूपित हैं। बालमरण के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। विस्तारभय से उन सभी की चर्चा हम यहाँ नही कर रहे हैं। आत्म-बलिदान और समाधिमरण मे बहुत अन्तर है। आत्म-बलिदान मे भावना की प्रबलता होती है। बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान सम्भव नही है। समाधिमरण मे भावातिरेक नही होता। उसमे विवेक और वैराग्य की प्रधानता होती है।

आत्मघात और सलेखना—सथारे मे भी आकाश-पाताल जितना अन्तर है। आत्मघात करने वाले के चेहरे पर तनाव होता है, उसमे एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। आकुलना-व्याकुलता होती है। जबकि समाधिमरण करने वाले की मृत्यु आकस्मिक नही होती। आत्मघाती मे कायरता होती है, कर्त्तव्य से पलायन की भावना होती है, पर पण्डितमरण मे वह वृत्ति नही होती। वहाँ प्रबल समभाव होता है। पण्डितमरण के सम्बन्ध मे जितना जैन मनीषियो ने चिन्तन किया है, उतना अन्य मनीषियो ने नही।

बौद्धपरम्परा मे इच्छापूर्वक मृत्यु को वरण करने वाले साधको का संयुक्तनिकाय मे समर्थन भी किया है। सीठ, सप्पदास, गोधिक, भिक्षुवक्कली[८४], कुलपुत्र और भिक्षुछन्न[८५], ये असाध्य रोग से ग्रस्त थे। उन्होने आत्महत्याएँ की। तथागत बुद्ध को ज्ञात होने पर उन्होने अपने सघ को कहा—ये भिक्षु निर्दोष हैं। इन्होने आत्महत्या कर परिनिर्वाण को प्राप्त किया है। आज भी जापानी बौद्धो मे हाराकीरी (स्वेच्छा से शस्त्र के द्वारा आत्महत्या) की प्रथा प्रचलित है। बौद्धपरम्परा मे शस्त्र के द्वारा उसी क्षण मृत्यु को वरण करना श्रेष्ठ माना है। जैनपरम्परा ने इस प्रकार मरना अनुचित माना है, उसमे मरने की आतुरता रही हुई है।

वैदिकपरम्परा के ग्रन्थो मे आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशरस्मृति मे उल्लेख है—क्लेश, भय, घमण्ड, क्रोध आदि के वशीभूत होकर जो आत्महत्या करता है, वह व्यक्ति ६० हजार वर्ष तक नरक मे निवास करता है।[८६] महाभारत की दृष्टि से भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक मे नही जा सकता।[८७] वाल्मीकि रामायण[८८], शाकरभाष्य[८९], बृहदारण्यकोपनिषद्[९०], महाभारत[९१], आदि ग्रन्थो मे आत्मघात को अत्यन्त हीन माना है। जो आत्मघात करते हैं, उनके सम्बन्ध मे मनुस्मृति[९२], याज्ञवल्क्य[९३], उषनस्मृति[९४], कूर्म-पुराण[९५], अग्निपुराण[९६], पाराशरस्मृति[९७] आदि ग्रन्थो मे बताया है कि उन्हे जलाञ्जलि भी नही देनी चाहिए।

जहाँ एक ओर आत्मघात को निंद्य माना है तो दूसरी ओर विशेष पापो के प्रायश्चित्त के रूप मे आत्मघात का समर्थन भी किया है, जैसे मनुस्मृति मे आत्मघाती, मदिरापायी ब्राह्मण, गुरुपत्नीगामी को उग्र शस्त्र,

---

८४ सयुक्तनिकाय-२१-२-४-५.

८५ (क) सयुक्तनिकाय-३४-२-४-४

(ख) History of Suicide in India —Dr. Upendra Thakur p 107

८६ अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरक प्रतिपद्यते॥ —पाराशरस्मृति ४-१-२

८७ महाभारत, आदिपर्व १७९, २०.

८८ वाल्मीकि रामायण ८३,८३

८९. आत्मन घ्नन्तीत्यात्महन। के ते जना येऽविद्वास·············अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्···· ··· प्राकृतविद्वासो आत्महन उच्यन्ते

९० बृहदारण्यकोपनिषद ४, ४-११

९१ महाभारत, आदिपर्व १७८-२०

९२ मनुस्मृति ५, ८९

९३ याज्ञवल्क्य ३, ६

९४ उषनस्मृति ७ २

९५ कूर्मपुराण, उत्त २३-७३

९६ अग्निपुराण १५७-३२

९७ पाराशरस्मृति ४, ४-७

अग्नि आदि से आत्मघात करने का विधान है[९८] क्योकि वह उससे शुद्ध होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति[९९], गौतमस्मृति[१००], वशिष्ठस्मृति[१०१], आपस्तम्भीय धर्मसूत्र[१०२], महाभारत[१०३] आदि मे इसी तरह से शुद्धि के उपाय बताये हैं। जिसके फलस्वरूप काशीकरवट, प्रयाग मे अक्षयवट से कूदकर आत्महत्या करने की प्रथाएँ प्रचलित हुई। इस प्रकार मृत्युवरण को एक पवित्र और श्रेष्ठ धार्मिक आचरण माना गया। महाभारत के अनुशासनपर्व[१०४] वनपर्व[१०५], मत्स्यपुराण[१०६] मे स्पष्ट वर्णन है—अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन द्वारा देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि तीर्थस्थलो मे आत्मघात करने का विधान है। महाभारत मे कहा है—वेदवचन या लोकवचन से प्रयाग मे मरने का विचार नही त्यागना चाहिए।[१०७] इसी प्रकार कूर्मपुराण[१०८], पद्मपुराण[१०९], स्कन्दपुराण[११०], मत्स्यपुराण[१११], ब्रह्मपुराण[११२] लिङ्गपुराण[११३] मे स्पष्ट उल्लेख है कि जो इन स्थलो पर मृत्यु को वरण करता है, भले ही वह स्वस्थ हो या अस्वस्थ, मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करता है।

वैदिकपरम्परा के ग्रन्थो मे परस्पर विरोधी वचन प्राप्त होते है। कही पर आत्मघात को निकृष्ट माना है तो कही पर उसे प्रोत्साहन भी दिया गया है। कही पर जैनपरम्परा की तरह समाधिमरण का मिलता-जुलता वर्णन है। किन्तु जल-प्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात के द्वारा मरने का वर्णन अधिक है। इस प्रकार मृत्यु के वरण मे कषाय की तीव्रता रहती है। श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार के मरण को बालमरण कहा है। क्योकि ऐसे मरण मे समाधि का अभाव होता है।

---

९८ सुरा पीत्वा द्विजो महोदग्निवर्णां सुरा पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्तत ॥ —मनुस्मृति ११, ९०, ९१, १०३, १०४

९९ याज्ञवल्क्यस्मृति ३, २४८, ३-२५३

१०० गौतमस्मृति २३, १

१०१ (क) वशिष्ठस्मृति २०, १३-१४
(ख) आचार्य-पुत्र-शिष्य-भार्यासु चैवम्। —वशिष्ठस्मृति १८-१५

१०२ आपस्तबीय धर्मसूत्र १९, २५, १-२-३-४-५-६-७

१०३ महाभारत—अनुशासनपर्व, अ १२

१०४ महाभारत—अनुशासनपर्व २५, ६१-६४

१०५ महाभारत—वनपर्व ८५-८३

१०६ मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

१०७ न वेदवचनात् तात ! न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरण प्रति ॥ —महाभारत, वनपर्व ८५,८३

१०८ कूर्मपुराण १, ३६, १४७, १, ३७३, ४

१०९ पद्मपुराण आदिकाण्ड ४४-३, १-१६-१४ १५

११० स्कन्दपुराण २२, ७६

१११ मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

११२ ब्रह्मपुराण ६८, ७५, १७७, १६-१७, १७७, २५

११३ लिङ्गपुराण ९२, १६८-१६९

इस्लामधर्म मे स्वैच्छिक मृत्यु का विधान नहीं है। उसका मानना है कि खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय के पूर्व किसी को मरने का अधिकार नही है। इसी प्रकार ईसाईधर्म मे भी आत्महत्या का विरोध किया गया है। ईसाइयो का मानना है कि न तुम्हे दूसरो को मारना है और न स्वय मरना है।[११४]

सक्षेप मे कहा जाय तो उत्तराध्ययन मे मृत्यु के सन्निकट आने पर चारो प्रकार के आहार का त्याग कर आत्मध्यान करते हुए जीवन और मरण की कामना से मुक्त होकर समभाव पूर्वक प्राणो का विसर्जन करना "पण्डित-मरण" या "सकाम-मरण" है। जो व्यक्ति जन, परिजन, धन आदि मे मूर्च्छित होकर मृत्यु को वरण करता है, उसका मरण "बाल-मरण" या "अकाम-मरण" है। अकाम और बाल मरण को भगवान् महावीर ने त्याज्य बताया है।

निर्ग्रन्थ एक अध्ययन

छट्ठे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय' है। 'निर्ग्रन्थ शब्द जैन-परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। आगम-साहित्य मे शताधिक स्थानो पर निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्धसाहित्य मे "निग्गठो नायपुत्तो" शब्द अनेको बार व्यवहृत हुआ है।[११५] तपागच्छ पट्टावली मे यह स्पष्ट निर्देश है कि गणधर सुधर्मास्वामी से लेकर आठ पट्ट-परम्परा तक निर्ग्रन्थ-परम्परा के रूप मे विश्रुत थी। सम्राट अशोक के शिलालेखो मे 'नियठ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[११६] जो निर्ग्रन्थ का ही रूप है। ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती है—एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह करना 'स्थूल-ग्रन्थ' कहलाता है तथा आसक्ति का होना 'सूक्ष्म-ग्रन्थ' है। ग्रन्थ का अर्थ गाठ है। निर्ग्रन्थ होने के लिए स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही ग्रन्थियो से मुक्त होना आवश्यक है। राग-द्वेष आदि कषायभाव आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ हैं। उन्ही ग्रन्थियो के कारण बाह्यग्रन्थ एकत्रित किया जाता है। श्रमण इन दोनो ही ग्रन्थियो का परित्याग कर साधना के पथ पर अग्रसर होता है। प्रस्तुत अध्ययन मे इस सम्बन्ध मे गहराई से अनुचिन्तन किया गया है।

दुःख का मूल : आसक्ति

सातवे अध्ययन मे अनासक्ति पर बल दिया है। जहा आसक्ति है, वहाँ दुःख है, जहाँ अनासक्ति है, वहाँ सुख है। इन्द्रियाँ क्षणिक सुख की ओर प्रेरित होती है, पर वह सच्चा सुख नही होता। वह सुखाभास है। प्रस्तुत अध्ययन मे पाच उदाहरणो के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है। पाचो दृष्टान्त अत्यन्त हृदयग्राही हैं। प्रस्तुत अध्ययन का नाम समवायाग[११७] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[११८] मे "उरब्भिज्ज" है। अनुयोगद्वार

---

११४ Thou shalt not kill, neither thyself nor another

११५ विसुद्धिमग्गो, विनयपिटक

११६ (क) श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्था।

—तपागच्छ पट्टावली (प कल्याणविजय संपादित) भाग १, पृष्ठ २५३

(ख) निघठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहति। —दिल्ली-टोपरा का सप्तम स्तम्भलेख

११७ समवायाग, समवाय ३६

११८ उरभाउणामगोय, वेयतो भावओ उ ओरब्भो।
तत्तो समुट्ठियमिण, उरब्भिज्जन्ति अज्झयण॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २४६

मे "एलइज्ज" नाम प्राप्त होता है।[119] प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा मे भी 'एलय' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उरभ्र और एलक, ये दोनो शब्द पर्यायवाची हैं, अत ये दोनो शब्द आगम-साहित्य मे आये हैं। इनके अर्थ मे कोई भिन्नता नही है।

लोभ

आठवे अध्ययन मे लोभ को अभिवृद्धि का सजीव चित्रण किया गया है। लोभ उस सरिता की तेज धारा के सदृश है जो आगे बढना जानती है, पीछे हटना नही। ज्यो-ज्यो लाभ होता है, त्यो-त्यो द्रौपदी के चीर की तरह लोभ बढता चला जाता है। लोभ को नीतिकारो ने पाप का बाप कहा है। अन्य कषाय एक-एक सद्गुण का नाश करता है, पर लोभ सभी सद्गुणो का नाश करता है। क्रोध, मान, माया के नष्ट होने पर भी लोभ की विद्यमानता मे वीतरागता नही आती। बिना वीतराग बने सर्वज्ञ नही बनता। कपिल केवली के कथानक द्वारा यह तथ्य उजागर हुआ है। कपिल के अन्तर्मानस मे लोभ की बाढ इतनी अधिक आ गई थी कि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसका मन विरक्ति से भर गया। वह सब कुछ छोडकर निर्ग्रन्थ बन गया। एक बार तस्करो ने उसे चारो ओर से घेर लिया। कपिल मुनि ने सगीत की सुरीली स्वर-लहरियो मे मधुर उपदेश दिया। सगीत के स्वर तस्करो को इतने प्रिय लगे कि वे भी उन्ही के साथ गाने लगे। कपिल मुनि के द्वारा प्रस्तुत अध्ययन गाया गया था, इसलिए इस अध्ययन का नाम "कापिलीय" अध्ययन है। वादीवेताल शान्तिसूरि ने अपनी बृहद्वृत्ति मे इस सत्य को व्यक्त किया है।[120] जिनदासगणी महत्तर ने प्रस्तुत अध्ययन को 'ज्ञेय' माना है।[121] "अधुवे असासयमि, ससारम्मि दुक्खपउराए" यह ध्रुव पद था, जो प्रत्येक गाथा के साथ गाया गया। कितने ही तस्कर तो प्रथम गाथा को सुनकर ही सबुद्ध हो गये। कितनेक दूसरी, तीसरी गाथा को सुनकर सबुद्ध हुए। इस प्रकार ५०० तस्कर प्रतिबुद्ध होकर मुनि बने। प्रस्तुत अध्ययन मे ग्रन्थित्याग, ससार की असारता, कुतीर्थियो की अज्ञता, अहिसा, विवेक, स्त्री-सगम प्रभृति अनेक विषय चर्चित है। कपिल स्वयबुद्ध थे। उन्हे स्वय ही बोध प्राप्त हुआ था।

आठवे अध्ययन मे कहा गया है—जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र और अगविद्या का प्रयोग करता है, वह साधु नही है। यही बात तथागत बुद्ध ने भी सुत्तनिपात मे कही है। उदाहरण के लिए देखिए—

जे लक्खण च सुविण च, अगविज्ज च जे पउजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति, एव आयरिएहि अक्खाय॥"

—उत्तराध्ययन ८।१३

---

११९ अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

१२० "......ताहे ताणवि पचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति धुवग, "अधुवे असासयमि, ससारमि दुक्खपउराए। किं णाम त होज्ज कम्मय, जेणाह दुग्गइ ण गच्छेज्जा॥१॥" एव सव्वत्थ सिलोगन्तरे धुवग गायति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे सबुद्धा, केइ बीए, एव जाव पचवि सया सबुद्धा पव्वतियत्ति। ......स हि भगवान् कपिलनामा...... धुवक सङ्गीतवान्। —बृहद्वृत्ति, पत्र २८९

१२१ गेय णाम सरसचारेण, जधा काविलिज्जे—"अधुवे असासयमि, ससारम्मि दुक्खपउराए। ...... न गच्छेज्जा।" —सूत्रकृतागचूर्णि, पृष्ठ ७

तुलना कीजिए—

"आथब्बण सुपिन लक्खण, नो विदहे अथो पि नक्खत्त ।
विरुत च गब्भकरण, तिकिच्छ मामको न सेवेय्य ।।"

—सुत्त , व ८, १४।१३

नवमे अध्ययन मे नमि राजर्षि सयम-साधना के पथ को स्वीकार करते है । उनकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण के रूप को धारण कर आता है । उनके वैराग्य की परीक्षा करना चाहता है । पर नमि राजर्षि अध्यात्म के अन्तस्तल को स्पर्श किये हुए महान् साधक थे । उन्होने कहा—कामभोग त्याज्य हैं, वे तीक्ष्ण शल्य है । भयकर विष के सदृश है, आशीविष सर्प के समान हैं । जो इन काम-भोगो की इच्छा करता है, उनका सेवन करता ह, वह दुर्गति को प्राप्त होता है । इन्द्र ने उन्हे प्रेरणा दी—अनेक राजा-गण आपके अधीन नही हैं, प्रथम उन्हे अधीन करके बाद मे प्रव्रज्या ग्रहण करना । राजर्षि ने कहा—एक मानव रणक्षेत्र मे लाखो वीर योद्धाओ पर विजय-वैजयन्ती फहराता है, दूसरा आत्मा को जीतता है । जो अपनी आत्मा को जीतता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा महान् है ।

प्रस्तुत सवाद मे इन्द्र ब्राह्मण-परम्परा का प्रतिनिधि है तो नमि राजर्षि श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि है । इन्द्र ने गृहस्थाश्रम का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसे घोर आश्रम कहा । क्योकि वैदिक-परम्परा का आघोष था—चार आश्रमो मे गृहस्थाश्रम मुख्य है । गृहस्थ ही यजन करता है, तप तपता है । जैसे—नदी और नद समुद्र मे आकर स्थित होते हैं, वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थ पर आश्रित है ।[१२२]

नवमे अध्ययन के नमि राजर्षि की जो कथावस्तु है, उस कथावस्तु की आशिक तुलना महाजनजातक, सोनकजातक, माण्डव्य मुनि और जनक, जनक और भीष्म के कथानको से की जा सकती है । हमने विस्तारभय स उन कथानको को यहाँ पर नही दिया है । यहाँ हम नवमे अध्ययन की कुछ गाथाओ की तुलना जातक, धम्मपद, अगुत्तरनिकाय, दिव्यावदान और महाभारत के पद्यो के साथ कर रहे हैं । उदाहरण स्वरूप देखिए—

"सुह वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किचण ।।"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।१४

तुलना कीजिए—

"सुसुख बत जीवाम ये स नो नत्थि किचन ।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ ।।"

—जातक ५३९ श्लोक १२५, जातक ५२९, श्लोक-१६ धम्मपद-१५

१२२ गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तप ।
चतुर्णामाश्रमाणा तु, गृहस्थश्च विशिष्यते ।।
यथा नदी नदा सर्वे, समुद्रे यान्ति सस्थितिम् ।
एवमाश्रमिण सर्वे, गृहस्थे यान्ति सस्थितिम् ।।

—वाशिष्ठधर्मशास्त्र, ८।१४-१५

"सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन ॥"

—मोक्षधर्मपर्व, २७६।२

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।३४

तुलना कीजिए—

"यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ॥"

—धम्मपद ८।४

"जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४०

तुलना कीजिए—

"मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं ।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ॥
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ।
यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने ॥
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥"

—धम्मपद ८।७,८

"यो ददाति सहस्राणि, गवामश्वशतानि च ।
अभयं सर्वभूतेभ्य, सदा तमभिवर्तते ॥"

—शान्तिपर्व २९८।५

"मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४४

तुलना कीजिए—

"मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं ॥'

—धम्मपद ५।११

"अट्ठ गुप्रेतस्स उपोसथस्स, कलं पि ते नानुभवति सोलसिं ।"

—अंगु नि, पृष्ठ २२१

"सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥"

—उत्तराध्ययन ९।४८

तुलना कीजिए—

"पर्वतोपि सुवर्णस्य, समो हिमवता भवेत् ।
नाल एकस्य तद् वित्त, इति विद्वान् समाचरेत् ॥"

—दिव्यावदान, पृष्ठ २२४

"पुढवी साली जवा चेव, हिरण्ण पसुभिस्सह ।
पडिपुण्ण नालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४९

तुलना कीजिए—

"यत्पृथिव्या व्रीहियव हिरण्य पशव स्त्रिय ।
सर्व तन्नालमेकस्य, तस्माद् विद्वाञ्छम चरेत् ॥"

—अनुशासनपर्व ९३।४०

"यत् पृथिव्या व्रीहियव, हिरण्य पशव स्त्रिय ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति, पश्यन्न मुह्यति ॥"

—उद्योगपर्व ३९।८४

"यद् पृथिव्या व्रीहियव, हिरण्य पशव स्त्रिय ।
एकस्यापि न पर्याप्त, तदित्यवितृष्णा त्यजेत् ॥"

—विष्णुपुराण ४।१०।१०

वैदिकदृष्टि मे गृहस्थाश्रम को प्रमुख माना गया है। इन्द्र ने कहा—राजर्षि! इस महान् आश्रम को छोड कर तुम अन्य आश्रम मे जाना चाहते हो, यह उचित नही है। यही पर रहकर धर्म का पोषण करो एव पौषध मे रत रहो! नमि राजर्षि ने कहा—हे ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करके पारणा मे कुशाग्र मात्र आहार ग्रहण करने वाला गृहस्थ मुनिधर्म की सोलहवी कला भी प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार गृहस्थजीवन की अपेक्षा श्रमणजीवन को श्रेष्ठ बताया गया है। अन्त मे इन्द्र नमि राजर्षि के दृढ सकल्प को देखकर अपना असली रूप प्रकट करता है और नमि राजर्षि की स्तुति करता है। प्रस्तुत अध्ययन मे ब्राह्मण-सस्कृति और श्रमण-सस्कृति का पार्थक्य प्रकट किया गया है।

जागरण का सन्देश

दसवें अध्ययन मे भगवान् महावीर द्वारा गौतम को किया गया उद्बोधन सकलित है। गौतम के माध्यम से सभी श्रमणो को उद्बोधन दिया गया है। जीवन की अस्थिरता, मानवभव की दुर्लभता, शरीर और इन्द्रियो की धीरे-धीरे क्षीणता तथा त्यक्त कामभोगो को पुन न ग्रहण करने की शिक्षा दी गई है। जीवन की नश्वरता द्रुमपत्र की उपमा से समझाई गई है। यह उपमा अनुयोगद्वार आदि मे भी प्रयुक्त हुई है। वहाँ पर कहा है—पके हुए पत्तों को गिरते देख कोपलें खिलखिला कर हँस पडी। तब पके हुए पत्तो ने कहा—जरा ठहरो! एक

दिन तुम पर भी वही बीतेगी जो आज हम पर बीत रही है।[123] इस उपमा का उपयोग परवर्ती साहित्य मे कवियो ने जमकर किया है।

दसवे अध्ययन मे बताया है—जैसे शरद्‌ऋतु का रक्त कमल जल मे लिप्त नही होता, इसी प्रकार भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन ! यही बात धम्मपद मे भी कही गई है। भाव एक है, पर भाषा मे कुछ परिवर्तन है। उदाहरण के रूप मे देखिए—

'वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुय सारइय व पाणिय ।
से सव्वसिणेहवज्जिए समय गोयम ! मा पमायए ॥"
—उत्तराध्ययनसूत्र १०।२८

तुलना कीजिए—

"उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुद सारदिक व पाणिना ।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बान सुगतेन देसित ॥"
—धम्मपद २०।१३

बहुश्रुतता : एक चिन्तन

ग्यारहवे अध्ययन मे बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन का नाम "बहुश्रुत-पूजा" है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने बहुश्रुत का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है। प्रस्तुत अध्ययन मे बहुश्रुत के गुणो का वर्णन है। यो बहुश्रुत के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन भेद किये हैं। जघन्य—निशीथशास्त्र का ज्ञाता, मध्यम—निशीथ से लेकर चौदह पूर्व के पहले तक का ज्ञाता और उत्कृष्ट—चौदहपूर्वो का वेत्ता। प्रस्तुत अध्ययन मे विविध उपमाओ से तेजस्वी व्यक्तित्व को उभारा गया है। वस्तुत ये उपमाएँ इतनी वास्तविक है कि पढते-पढते पाठक का सिर सहज ही श्रद्धा से बहुश्रुत के चरणो मे नत हो जाता है। बहुश्रुतता प्राप्त होती है—विनय से। विनीत व्यक्ति को प्राप्त करके ही श्रुत फलता और फूलता है। जिसमे क्रोध प्रमाद रोग, आलस्य और स्तब्धता ये पाच विघ्न है, वह बहुश्रुतता प्राप्त नही कर सकता। विनीत व्यक्ति ही बहुश्रुतता का पूर्ण अधिकारी है।

बारहवे अध्ययन मे मुनि हरिकेशबल के सम्बन्ध मे वर्णन है। हरिकेश चाण्डाल कुल मे उत्पन्न हुए थे। किन्तु तप के दिव्य प्रभाव से वे देवताओ के द्वारा भी वन्दनीय बन गये थे। प्रस्तुत अध्ययन मे दान के लिए सुपात्र कौन है ? इस सम्बन्ध मे कहा है—जिसमे क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह की प्रधानता है, वह दान का पात्र नही है। स्नान के सम्बन्ध मे भी चिन्तन किया गया है। हरिकेश मुनि ने ब्राह्मणो से कहा—बाह्य स्नान से आत्मशुद्धि नही होती, क्योकि वैदिकपरम्परा मे जलस्नान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। हरिकेशबल मुनि से पूछा गया—आपका जलाशय कौन-सा है, शान्तितीर्थ कौन-सा है, आप कहाँ पर स्नान कर कर्मरज को धोते है। मुनि ने कहा—अकलुषित एव आत्मा के प्रसन्न लेश्या वाला धर्म मेरा जलाशय

---

१२३ परिजूरियपेरत चलतबिट पडतनिच्छीर ।
पत्त वसणप्पत्त, कालप्पत्त भणइ गाह ॥१२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि होहिहा जहा अम्हे ।
अप्पाहेई पडत पडुयपत्त किसलयाण ॥१२१॥
—अनुयोगद्वार, सूत्र १४६

है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है। जहाँ पर स्नान कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ। यह स्नान कुशल पुरुषो द्वारा इष्ट है। यह महा स्नान है, अत ऋषियो के लिए प्रशस्त है। इस धर्म-नद मे स्नान किये हुए महर्षि विमल, विशुद्ध होकर उत्तम गति (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं। निर्ग्रन्थपरम्परा मे आत्मशुद्धि के लिए बाह्य स्नान को स्थान नही दिया गया है। एकदण्डी, त्रिदण्डी परिव्राजक स्नानशील और शुचिवादी थे।[124] आचार्य सघदासगणी ने त्रिदण्डी परिव्राजक को श्रमण कहा है।[125] आचार्य शीलाक ने भी उसे श्रमण माना है।[126] आचार्य वट्टकेर ने तापस, परिव्राजक, एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि को श्रमण कहा है।[127] ये श्रमण जल-स्नान को महत्त्व देते थे, किन्तु निर्ग्रन्थपरम्परा ने स्नान को अनाचीर्ण कहा है। बौद्ध-परम्परा मे पहले स्नान का निषेध नही था। बौद्ध भिक्षु नदियो मे स्नान करते थे। एक बार बौद्ध भिक्षु 'तपोदा' नदी मे स्नान कर रहे थे। राजा श्रेणिय बिम्बिसार वहाँ स्नान के लिए पहुँचे। भिक्षुओ को स्नान करते देखकर व एक ओर रहकर प्रतीक्षा करते रहे। रात्रि होने पर भी भिक्षु स्नान करते रहे। भिक्षुओ के जाने के बाद श्रेणिय बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर के द्वार बन्द हो चुके थे। अत राजा को वह रात बाहर ही बितानी पडी। प्रात गन्ध-विलेपन कर राजा बुद्ध के पास पहुँचा। तथागत ने पूछा—आज इतने शीघ्र गन्धविलेपन कैसे हुआ? राजा ने सारी बात कही। बुद्ध ने राजा को प्रसन्न कर रवाना किया। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओ को बुलाकर कहा—तुम राजा के देखने के पश्चात् भी स्नान करते रहे, यह ठीक नही किया। उन्होने नियम बनाया—जो भिक्षु पन्द्रह दिन से पूर्व स्नान करेगा, उसे 'पाचित्तिय' दोष लगेगा। गर्मी के दिनो मे पहनने तथा शयन करने के वस्त्र पसीने से गन्दे होने लगे तब बुद्ध ने कहा—गर्मी के दिनो मे पन्द्रह दिन के अन्दर भी स्नान किया जा सकता है। रुग्णता तथा वर्षा-आधी के समय मे भी स्नान करने की छूट दी गई।[128] भगवान् महावीर ने साधुओ के लिए प्रत्येक परिस्थिति मे स्नान करने का स्पष्ट निषेध किया। स्नान के सम्बन्ध मे कोई अपवाद नही रखा। उत्तराध्ययन[129], आचारचूला[130], सूत्रकृताग[131] दशवैकालिक[132] आदि मे श्रमणो के लिए स्नान करने का वर्जन है। श्रमण भगवान् महावीर के समय कितने ही चिन्तक प्रात स्नान करने मे ही मोक्ष मानते थे। भगवान् ने स्पष्ट शब्दो मे उसका विरोध करते हुए कहा—स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति नही

---

१२४ परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्ड्यादय स्नानशीला शुचिवादिन ।

—मूलाचार, पचाचाराधिकार ६२, वृत्ति

१२५ निशीथसूत्र, भाग २, पृष्ठ २, ३, ३३२

१२६ सूत्रकृताग-१।१।३।८ वृत्ति

१२७ मूलाचार, पचाचाराधिकार ६२

१२८ Sacred Book of the Buddhists Vol XI Part II LVII P P 400-405

१२९ (क) उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाण नो वि पत्थए।
गाय नो परिसिचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पय ॥

—उत्तराध्ययन २।९

(ख) उत्तराध्ययन १५।८

१३० आचारचूला २ २ २ १, २ १३

१३१ सूत्रकृताग १ ७ २१.२२, १ ९ १३

१३२ दशवैकालिक, अध्ययन ६, गाथा ६०-६१

है।[१३३] जो जल-स्पर्श से ही मुक्ति मानते है, वे मिथ्यात्वी है। यदि जल-स्नान से कर्म-मल नष्ट होता है तो पुण्य-फल भी नष्ट होगा, ग्रत यह धारणा भ्रान्त है।

प्रस्तुत ग्रध्ययन मे हिंसात्मक यज्ञ की निरर्थकता भी सिद्ध की है। यज्ञ वैदिकसस्कृति की प्रमुख मान्यता रही है। वैदिकदृष्टि से यज्ञ की उत्पत्ति का मूल विश्व का ग्राधार है। पापो के नाश के लिए, शत्रुग्रो के सहार के लिए, विपत्तियो के निवारण के लिए, राक्षसो के विध्वस के लिए, व्याधियों के परिहार के लिए यज्ञ ग्रावश्यक है। यज्ञ से सुख, समृद्धि ग्रौर ग्रमरत्व प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे कहा है—यज्ञ इस भुवन की उत्पत्ति करने वाले संसार की नाभि है। देव तथा ऋषिगण यज्ञ से ही उत्पन्न हुए है। यज्ञ से ही ग्राम, ग्ररण्य ग्रौर पशुग्रो की सृष्टि हुई है। यज्ञ ही देवो का प्रमुख एव प्रथम धर्म है।[१३४] जैन ग्रौर बौद्ध परम्परा ने यज्ञ का विरोध किया। उत्तराध्ययन के नवमे, बारहवे, चौदहवें ग्रौर पच्चीसवे ग्रध्ययनो मे यज्ञ का विरोध इसलिए किया है कि उसमे जीवो की हिंसा होती है। वह धर्म नही ग्रपितु पाप है। साथ ही वास्तविक ग्राध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप भी इन ग्रध्ययनो मे स्पष्ट किया गया है। उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण यज्ञ के वाडो मे भिक्षा के लिए जाते थे ग्रौर यज्ञ की व्यर्थता बताकर ग्रात्मिक-यज्ञ की सफलता का प्रतिपादन करते थे।[१३५] तथागत बुद्ध भिक्षुसघ के साथ यज्ञमण्डप मे गये थे। उन्होंने ग्रल्प सामग्री के द्वारा महान् यज्ञ का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'कूटदन्त' ब्राह्मण को पाँच महाफलदायी यज्ञ बताये थे। वे ये है—[१] दानयज्ञ, [२] त्रिशरणयज्ञ- [३] शिक्षापदयज्ञ, [४] शीलयज्ञ, [५] समाधियज्ञ।[१३६]

इस तरह बारहवें ग्रध्ययन मे श्रमण-सस्कृति की दृष्टि से विपुल सामग्री है। प्रस्तुत कथा प्रकारान्तर से बौद्धसाहित्य मे भी ग्राई है। उस कथा का साराश इस प्रकार है—वाराणसी का मडव्यकुमार प्रतिदिन सोलह सहस्र ब्राह्मणो को भोजन प्रदान करता था। एक बार मातग पण्डित हिमालय के ग्राश्रम से भिक्षा के लिए वहाँ ग्राया। उसके मलिन ग्रौर जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो को देख कर उसे वहाँ से लौट जाने को कहा गया। मातग पण्डित ने मडव्य को उपदेश देकर दान-क्षेत्र की यथार्थता प्रतिपादित की। मडव्य के साथियो ने मातग को खूब पीटा। नगर के देवताग्रो ने क्रुद्ध होकर ब्राह्मणो की दुर्दशा की। श्रेष्ठी कन्या 'दिट्ठमगला' वहाँ पर ग्राई। उसने वहाँ की स्थिति देखी। उसने स्वर्ण कलश ग्रौर प्याले लेकर मातग पडित से जाकर क्षमायाचना की। मातग पण्डित ने ब्राह्मणो को ठीक होने का उपाय बताया। दिट्ठमगला ने ब्राह्मणो को दान-क्षेत्र की यथार्थता बतलाई।[१३७]

उत्तराध्ययन के बारहवे ग्रध्ययन की ग्रनेक गाथाग्रो का ही रूप मातग जातक की ग्रनेक गाथाग्रो मे ज्यो का त्यो मिलता है।[१३८] डा घाटगे का मानना है कि बौद्धपरम्परा की कथा-वस्तु विस्तार के साथ लिखी गई है। उसमे ग्रनेक विचारो का सम्मिश्रण हुग्रा है। जबकि जैनपरम्परा की कथा-वस्तु मे ग्रत्यन्त सरलता है तथा हृदय को छूने की विशेषता रही हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध कथावस्तु से जैन कथावस्तु प्राचीन है। मातग

---

१३३ "पाग्रोसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।"

—सूत्रकृताग १ ७ १३

१३४. वैदिक सस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

१३५ उत्तराध्ययन १२।३८-४४, २५।५-१६

१३६ दीघनिकाय, १।५ पृ ५३-५५

१३७ जातक, चतुर्थ खण्ड—४९७, मातगजातक पृष्ठ ५८३-५९७

१३८ धर्मकथानुयोग एक सास्कृतिक ग्रध्ययन, लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जातक में ब्राह्मणो के प्रति तीव्र रोष व्यक्त किया गया है। ब्राह्मणो को अपराध हो जाने से जूठन खाने के लिए उत्प्रेरित करना और उन्हें धोखा देना, ये ऐसे तथ्य हैं जो साम्प्रदायिक भावना के प्रतीक हैं।[139] पर जैन कथा मे मानवता और सहानुभूति रही हुई है।[140]

चित्त और संभूत

तेरहवें अध्ययन मे चित्त और सभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का नाम नियुँक्तिकार भद्रबाहु ने 'चित्रसभूतीय' लिखा है। ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से अध्ययन का प्रारम्भ होता है। व्याख्या-साहित्य मे सम्पूर्ण कथा विस्तार के साथ दी गई है। चित्र और सभूत पूर्व भव मे भाई थे। चित्र का जीव पुरिमताल नगर मे सेठ का पुत्र हुआ और मुनि बना। सभूत का जीव ब्रह्म राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त बना। चित्र का जीव जो मुनि हो गया था, ब्रह्मदत्त को ससार की असारता बताकर श्रामण्यधर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरणा देता है पर ब्रह्मदत्त भोगो मे अत्यन्त आसक्त था। अत उसे उपदेश प्रिय नही लगा। पाचवी, छठी और सातवी गाथा मे उनके पूर्व जन्मो का उल्लेख हुआ है। आचार्य नेमिचन्द्र ने सुखबोधावृत्ति मे उनके पूर्व के पाच भवो का विस्तार से वर्णन किया है।[141]

बौद्ध जातकसाहित्य मे भी यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है। तथागत बुद्ध ने जन्म-जन्मान्तरो तक परस्पर मैत्रीभाव रहता है, यह बताने के लिए यह कथा कही थी। उज्जयिनी के बाहर चाण्डाल ग्राम था। बोधिसत्व ने भी वहाँ जन्म ग्रहण किया था और दूसरे एक प्राणी ने भी वहाँ जन्म लिया था। उनमे से एक का नाम चित्त था और दूसरे का नाम सभूत था। वहाँ पर उनके जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन है। उनके तीन पूर्व भवो का भी उल्लेख है। जो इस प्रकार है—

[१] नरेञ्जरा सरिता के तट पर हरिणी की कोख से उत्पन्न होना।

[२] नर्मदा नदी के किनारे बाज के रूप मे उत्पन्न होना।

---

१३९ Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, Vol 17 (1935, 1936) 'A few Parallels in Jains and Buddhist works', Page 345, by A M Ghatage, M A
This must have also led the writer to include the other story in the same Jataka And such an attitude, must have arisen in later times as the effect of sectarian bias

१४० Annals of the Bhandarkar Oriental Researcn Institute, Vol 17 (1935-1936) 'A few Parallels in Jain and Buddhist works', Page 345, by A M Ghatage, M. A

१४१ आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो॥
दासा दसण्णे आसी मिया कालिजरे नगे।
हसा मयगतीरे, सोवागा कासिभूमिए॥
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, १३/५-७

[३] चित्त का जीव कौशाम्बी मे पुरोहित का पुत्र और सभूत का जीव पांचाल राजा के पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ।[१४२]

दोनो भाई परस्पर मिलते है। चित्त ने सभूत को उपदेश दिया किन्तु सभूत का मन भोगो से मुड़ा नही। अत चित्त ने उसके सिर पर धूल फेंकी और वहाँ से हिमालय की ओर प्रस्थित हो गया। राजा सभूत को वैराग्य हुआ। वह भी उसके पीछे-पीछे हिमालय की ओर चला। चित्त ने उसे योग-साधना की विधि बताई। दोनो ही योग की साधना कर ब्रह्म देवलोक मे उत्पन्न हुए।

उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अध्ययन की गाथाएं चित्त-सभूत जातक के अन्दर प्राय मिलती-जुलती हैं। उत्तराध्ययन की कथा विस्तृत है। उसमे अनेक अवान्तर कथाएँ भी हैं। वे सारी कथाएँ ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित हैं। जैन दृष्टि से चित्त मुनिधर्म की आराधना कर एव सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर मुक्त होते हैं। ब्रह्मदत्त कामभोगो मे आसक्त बनकर नरकगति को प्राप्त होता है। बौद्धपरम्परा की दृष्टि से सभूत को ब्रह्मलोकगामी बताया गया है। डा घाटगे का अभिमत है कि जातक का पद्यविभाग गद्यविभाग से अधिक प्राचीन है। गद्यभाग बाद में लिखा गया है। इस तथ्य की पुष्टि भाषा और तर्क के आधार से होती है। तथ्यो के आधार से यह भी सिद्ध है कि उत्तराध्ययन की कथावस्तु प्राचीन है। जातक का गद्यभाग उत्तराध्ययन की रचनाकाल से बहुत बाद मे लिखा गया है। उसमे पूर्व भवो का सुन्दर सकलन है, किन्तु जैन कथावस्तु मे वह छूट गया है।[१४३]

उत्तराध्ययन के तेरहवे अध्ययन मे जो गाथाएँ आई हैं, उसी प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति महाभारत के शान्तिपर्व और उद्योगपर्व मे भी हुई है। हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओं के साथ उन पद्यो को भी दे रहे हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठको को सहज रूप से तुलना करने मे सहूलियत हो। देखिए—

> "जहेह सीहो व मिय गहाय, मच्चू नर नेइ हु अन्तकाले।
> न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवति ॥"
>
> —उत्तराध्ययन १३/२२

तुलना कीजिये—

> "त पुत्रपशुसम्पन्न, व्यासक्तमनस नरम्।
> सुप्त व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति ॥
> सचिन्वानकमेवैन, कामानामवितृप्तकम्।
> व्याघ्र पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति ॥"
>
> —शान्ति १७५/१८, १९

> "न तस्स दुक्ख विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बधवा।
> एक्को सय पच्चणुहोइ दुक्ख, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥"
>
> —उत्तराध्ययनसूत्र १३/२३

---

१४२. जातक, सख्या ४९८, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ६००

१४३ Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, Vol 17., (1935-1936) A few Parallels in Jain and Buddhist works, P 342-343, by A M. Ghatage, M A

तुलना कीजिए—

"मृतं पुत्रं दु खपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् ! स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
त मुक्तकेशा करुण रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥"

—उद्योग ४०/१५

"अग्नौ प्रास्त तु पुरुष, कर्मान्वेति स्वय कृतम् ।"

—उद्योग ४०/१८

'चेच्चा दुपय च चउप्पय च, खेत्त गिह धणधन्न च सव्व ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, पर भव सुदर पावग वा ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/२४

तुलना कीजिए—

"अन्यो धन प्रेतगतस्य भुङ्क्ते, वयासि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामय सह गच्छत्यमुत्र, पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमान ॥"

—उद्योगपर्व ४०/१७

"त इक्कग तुच्छसरीरग से, चिईगय डहिय उ पावगेण ।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य, दायारमन्न अणुसकमन्ति ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/२५

तुलना कीजिए—

"उत्सृज्य विनिवर्त्तन्ते, ज्ञातय सुहृद सुता ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात ! पतत्रिण ॥"

—उद्योग ४०/१७

"अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवा ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुप, ज्ञातय सुहृदस्तथा ॥"

—शान्ति ३२१/७४

"अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति, दुम जहा खीणफल व पक्खी ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/३१

तुलना कीजिए—

"अच्चयन्ति अहोरत्ता ... ... ।
. . ... ॥

—थेरगाथा १४८

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की तीन गाथाओ को अर्वाचीन माना है, किन्तु उसके लिए उन्होने कोई प्रमाण नही दिया है । उत्तराध्ययन के चूर्णि व अन्य व्याख्या-साहित्य मे कही पर भी इस सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यों ने ऊहापोह नही किया है । ये तीनो गाथाएँ प्रकरण की दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योकि इन गाथाओ का सम्बन्ध आगे की गाथाओ से है । यह सत्य है कि प्रारम्भ की तीन गाथाएँ आर्या छन्द मे निबद्ध हैं तो आगे की अन्य गाथाएँ अनुष्टुप्, उपजाति प्रभृति विभिन्न छन्दो मे निर्मित है । किन्तु छन्दो की पृथक्ता के कारण उन गाथाओ को प्रक्षिप्त और अर्वाचीन मानना अनुपयुक्त है ।

इषुकारीय कथा : एक चिन्तन

चौदहवें अध्ययन मे राजा इषुकार, महारानी कमलावती, भृगु पुरोहित, यशा पुरोहित-पत्नी तथा भृगु पुरोहित के दोनो पुत्र, इन छह पात्रो का वर्णन है। पर राजा की प्रधानता होने के कारण इस अध्ययन का नाम "इषुकारीय" रखा गया है, ऐसा निर्युक्तिकार का मतव्य है।[१४४]

श्रमण भगवान् महावीर के युग मे अनेक विचारको की यह धारणा थी कि बिना पुत्र के सद्‌गति नही होती।[१४५] स्वर्ग सम्प्राप्त नही होता। अत प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए। जिससे सन्तानोत्पत्ति होगी और लोक तथा परलोक, दोनो सुधरेंगे। परलोक को सुखी बनाने के लिए पुत्रप्राप्ति हेतु विविध प्रयत्न किये जाते थे। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे इस मान्यता का खण्डन किया। उन्होने कहा—स्वर्ग और नरक की उपलब्धि सन्तान से नही होती। यहाँ तक कि माता-पिता, भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि कोई भी कर्मों के फल-विपाक से बचाने मे समर्थ नही है। सभी को अपने ही कर्मों का फल भोगना पडता है। इस कथन का चित्रण प्रस्तुत अध्ययन मे किया गया है।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन मे आये हुए सभी पात्रो के पूर्वभव, वर्तमानभव और निर्वाण का सक्षेप मे वर्णन किया है। इस अध्ययन मे यह भी बताया गया है कि माता-पिता मोह के वशीभूत होकर पुत्रो को मिथ्या बात कहते हैं—जैन श्रमण बालको को उठाकर ले जाते हैं। वे उनका मास खा जाते है। किन्तु जब बालको को सही स्थिति का परिज्ञान होता है तो वे श्रमणो के प्रति आकर्षित ही नही होते किन्तु श्रमणधर्म को स्वीकार करने को उद्यत हो जाते है। इस अध्ययन मे पिता और पुत्र का मधुर सवाद है। इस सवाद मे पिता ब्राह्मणसस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो पुत्र श्रमणसस्कृति का। ब्राह्मणसस्कृति पर श्रमणसस्कृति की विजय बताई गई है। उनकी मौलिक मान्यताओ की चर्चा है। पुरोहित भी त्यागमार्ग को ग्रहण करता है और उसकी पत्नी आदि भी।

प्रस्तुत अध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग मे यदि किसी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था तो उसकी सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। भृगु पुरोहित का परिवार दीक्षित हो गया तो राजा ने उसकी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा, किन्तु महारानी कमलावती ने राजा से निवेदन किया—जैसे वमन किये हुए पदार्थ को खाने वाले व्यक्ति की प्रशसा नही होती, वैसे ही ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करने वाले की प्रशसा नही हो सकती। वह भी वमन खाने के सदृश है। आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन के राजा का नाम 'सीमन्धर' दिया है[१४६] तो वादीवैताल शान्तिसूरि ने लिखा है—'इषुकार' यह राज्यकाल का नाम है तो 'सीमन्धर' राजा का मौलिक नाम होना सभव है।[१४७]

---

१४४ उसुआरनामगोए वेयतो भावओ अ उसुआरो।
तत्तो समुट्ठियमिण उसुआरिज्जति अज्झयण॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३६२

१४५ "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति॥"

१४६ सीमधरो य राया ...।

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३७३

१४७ अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयाम।

—बृहद्‌वृत्ति, पत्र ३९४

हस्तीपालजातक बौद्धसाहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमे कुछ परिवर्तन के साथ यह कथा उपलब्ध है। हस्तीपालजातक मे कथावस्तु के आठ पात्र हैं। राजा ऐसुकारी, पटरानी, पुरोहित, पुरोहित की पत्नी, प्रथम पुत्र हस्तीपाल, द्वितीय पुत्र अश्वपाल, तृतीय पुत्र गोपाल, चौथा पुत्र अजपाल, ये सब मिलाकर आठ पात्र हैं। ये चारो पुत्र न्यग्रोधवृक्ष के देवता के वरदान से पुरोहित के पुत्र होते है। चारो प्रव्रजित होना चाहते हैं। पिता उन चारो पुत्रो की परीक्षा करता है। चारो पुत्रो के साथ पिता का सवाद होता है। चारो पुत्र क्रमश. पिता को जीवन की नश्वरता, ससार की असारता, मृत्यु की अविकलता और कामभोगो की मोहकता का विश्लेषण करते है। पुरोहित भी प्रव्रज्या ग्रहण करता है। उसके बाद ब्राह्मणी प्रव्रज्या लेती है। अन्त मे राजा और रानी भी प्रव्रजित हो जाते हैं।

सरपेन्टियर की दृष्टि से उत्तराध्ययन की कथा जातक के गद्यभाग से अत्यधिक समानता लिए हुए है। वस्तुत जातक से जैन कथा प्राचीन होनी चाहिए।[१४८] डॉ घाटगे का मन्तव्य है कि जैन कथावस्तु जातककथा से अधिक व्यवस्थित, स्वाभाविकता और यथार्थता को लिए हुए है। जैन कथावस्तु से जातक मे सगृहीत कथा-वस्तु अधिक पूर्ण है। उसमे पुरोहित के चारो पुत्रो के जन्म का विस्तृत वर्णन है। जातक मे पुरोहित के चार पुत्रो का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन मे केवल दो का। उत्तराध्ययन मे राजा और पुरोहित के बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है, जबकि जातक मे पुरोहित और राजा का सम्बन्ध है। पुरोहित राजा के परामर्श से ही पुत्रो की परीक्षा लेता है। स्वय राजा भी उनकी परीक्षा लेने मे सहयोग करता है। जैनकथा के अनुसार पुरोहित का कुटुम्ब दीक्षित होने पर राजा सम्पत्ति पर अधिकार करता है। उसका प्रभाव महारानी कमलावती पर पडता है और वह श्रमणधर्म को ग्रहण करना चाहती है तथा राजा को भी दीक्षित होने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। जैन कथावस्तु मे जो ये तथ्य हैं, वे बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ हैं। जातक कथावस्तु मे ऐसा नही हो पाया है। जातक कथा मे न्यग्रोधवृक्ष के देवता के द्वारा पुरोहित को चार पुत्रो का वरदान मिलता है परन्तु राजा को एक पुत्र का वरदान भी नही मिलता है, जबकि राज्य के सरक्षण के लिए उसे एक पुत्र की अत्यधिक आवश्यकता है। इन्ही तथ्यो के आधार से डॉ घाटगे उत्तराध्ययन की कथावस्तु को प्राचीन और व्यवस्थित मानते है।[१४९]

प्रस्तुत अध्ययन की कथावस्तु महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय १७५ तथा २७७ से मिलती-जुलती है। महाभारत के दोनो अध्यायो का प्रतिपाद्य विषय एक है। केवल नामो मे अन्तर है। दोनो अध्यायो मे महाराजा युधिष्ठिर भीष्म पितामह से कल्याणमार्ग के सम्बन्ध मे जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं। उत्तर मे भीष्म पितामह प्राचीन इतिहास का एक उदाहरण देते है, जिसमे एक ब्राह्मण और मेधावी पुत्र का मधुर सवाद है। पिता ब्राह्मणपुत्र मेधावी से कहता है — वेदो का अध्ययन करो, गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होकर पुत्र पैदा करो, क्योकि उससे पितरो की सद्गति होगी। यज्ञो को करने के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम मे प्रविष्ट होना। उत्तर मे मेधावी ने कहा—सन्यास सग्रहण करने के लिए काल की मर्यादा अपेक्षित नही है। अत्यन्त वृद्धावस्था मे धर्म नही हो सकता। धर्म के लिए

---

१४८ This legend certainly Presents a rather striking resemblance to the Prose introduction of the Jataka 509, and must consequently be old

—The Uttaradhyayana Sutra, page 332, Foot note No 2

१४९ Annals of the Bhandarkar Oriental Research institue, Vol 17 (1935-1936), 'A few parallels in Jain and Buddhist works', page-343, 344

मध्यम वय ही उपयुक्त है। किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है। यज्ञ करना कोई आवश्यक नही है। जिस यज्ञ मे पशुओ की हिंसा होती है, वह तामस यज्ञ है। तप, त्याग और सत्य ही शान्ति का राजमार्ग है। सन्तान के द्वारा कोई पार नही उतरता। धन, जन परित्रायक नही है, इसलिए आत्मा की अन्वेषणा की जाये।

उत्तराध्ययन के और महाभारत के पद्यो मे अर्थसाम्य ही नही शब्दसाम्य भी है। शब्दसाम्य को देखकर जिज्ञासुओ को आश्चर्य हुए बिना नही रह सकता। विस्तारभय से हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओ और महाभारत के श्लोको की तुलना प्रस्तुत नही कर रहे हैं। सक्षेप मे सकेत मात्र दे रहे हैं।[150] साथ ही उत्तराध्ययन और जातककथा मे आये हुए कुछ पद्यो का भी यहाँ सकेत सूचित कर रहे हैं, जिससे पाठको को तुलनात्मक अध्ययन करने मे सहूलियत हो।[151]

प्रस्तुत अध्ययन की ४४ और ४५ वी गाथा मे जो वर्णन है, वह वर्णन जातक के अठारहवें श्लोक मे दी गई कथा से जान सकते हैं। वह प्रसग इस प्रकार है — जब पुरोहित का सम्पूर्ण परिवार प्रव्रजित हो जाता है, राजा उसका सारा धन मगवाता है। रानी को परिज्ञात होने पर उसने राजा को समझाने के लिए एक उपाय किया। राजप्रागण मे कसाई के घर से मास मगवा कर चारो ओर बिखेर दिया। सीधे मार्ग को छोडकर सभी तरफ जाल लगवा दिया। मास को देखकर दूर-दूर से गृद्ध आये। उन्होने भरपेट मास खाया। जो गिद्ध समझदार थे, उन्होने सोचा—हम मास खाकर बहुत ही भारी हो चुके है, जिससे हम सीधे नही उड सकेंगे। उन्होने खाया हुआ मास वमन के द्वारा बाहर निकाल दिया। हल्के होकर सीधे मार्ग से उड गये, वे जाल मे नही फँसे। पर जो गिद्ध बुद्धू थे, वे प्रसन्न होकर गिद्धो के द्वारा वमित मास को खाकर अत्यधिक भारी हो गये। वे गिद्ध सीधे उड नही सकते थे। टेढे-मेढे उडने से वे जाल मे फँस गये। उन फँसे हुए गिद्धो मे से एक गिद्ध महारानी के पास लाया गया। महारानी ने राजा से निवेदन किया—आप भी गवाक्ष से राजप्रागण मे गिद्धो का दृश्य देखें। जो गिद्ध खाकर वमन कर रहे हैं, वे अनन्त आकाश मे उडे जा रहे हैं और जो खाकर वमन नही कर रहे है, वे मेरे चगुल मे फँस गये है।[152]

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की उनपचास से तिरेपनवी गाथाओ को मूल नही माना है। उनका अभिमत

---

१५०. उत्तराध्ययन, अध्य १४, गाथा-४, महाभारत-शान्तिपर्व, अ १७५, श्लोक-२३, उत्तरा अ १४, गा ९, महा शान्ति अ १७५, श्लोक. ६, उत्तरा १४, गा १२ महा शान्ति अ १७५, श्लोक ७१, १८, २५ २६, ३६, उत्तरा १४, गा १५, महाभारत शा १७५, पू २०, २१, २२, उ १४, गा १७,महा. अ. १७५, पू. ३७, ३८, उ. १४ गा २१, महा अ १७५ पू ७, उत्तरा १४, गा २२, महा अ १७५, श्लोक ८, उ १४ गा २३, महा अ १७५, श्लोक ९, उत्तरा १४ गा २५, महा अ १७५ श्लोक १०, ११, १२, उत्तरा १४ गा २८, महा अ १७५ श्लोक १५, उ. १४ गा ३७, म अ १७ श्लोक ३९

१५१. उत्तरा. अ. १४ गा ९, हस्तीपाल जातक सख्या-५०९ गा ४, उत्तरा अ १४ गा १२, हस्ती. जा स ५०९ गा. ५, उत्तरा अ १४ गा १३, हस्ती स ५०९ गा ११, उत्तरा अ १४ गा १५, हस्ती सं ५०९ गा १२, उत्तरा अ १४ गा २०, हस्ती स. ५०९ गा १०, उत्तरा अ, १४ गा २७, हस्ती स ५०९ गा ७, उत्तरा अ १४ गा. ३८, हस्ती स ५०९ गा १८, उत्तरा अ १४ गा. ४८, हस्ती. स ५०९ गा २०।

१५२ जातक सख्या ५०९, ५वा खण्ड, पृष्ठ ७५

है। ये पाँचो गाथाएँ मूलकथा से सम्बन्धित नही है सम्भव है जैन कथाकारो ने बाद में निर्माण कर यहाँ रखा हो [153]. । पर उसका उन्होने कोई ठोस आधार नही दिया है।

प्रस्तुत कथानक मे आये हुए सवाद से मिलता-जुलता वर्णन मार्कण्डेय पुराण मे भी प्राप्त होता है। वहाँ पर जैमिनि ने पक्षियो से प्राणियो के जन्म आदि के सम्बन्ध मे विविध जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की है। उन जिज्ञासाओं के समाधान मे उन्होने एक सवाद प्रस्तुत किया — भार्गव ब्राह्मण ने अपने पुत्र धर्मात्मा सुमति को कहा — वत्स! पहले वेदो का अध्ययन करके गुरु की सेवा-शुश्रूषा कर, गार्हस्थ्य जीवन सम्पन्न कर, यज्ञ आदि कर। फिर पुत्रो को जन्म देकर सन्यास ग्रहण करना, उससे पहले नहीं। [154] सुमति ने पिता से निवेदन किया - पिताजी! जिन क्रियाओ को करने का आप मुझे आदेश दे रहे हैं, वे क्रियाएँ मै अनेक बार कर चुका हूँ। मैंने विविध शास्त्रों का व शिल्पो का अध्ययन भी अनेक बार किया है। मुझे यह अच्छी तरह से परिज्ञात हो गया है कि मेरे लिए वेदो का क्या प्रयोजन है? [155] मैंने इस विराट् विश्व मे बहुत ही परिभ्रमण किया है। अनेक माता-पिता के साथ मेरा सम्बन्ध हुआ। सयोग और वियोग की घड़ियाँ भी देखने को मिली। विविध प्रकार के सुखो और दु खो का अनुभव किया। इस प्रकार जन्म-मरण को प्राप्त करते-करते मुझे ज्ञान की अनुभूति हुई है। पूर्व जन्मो को मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। मोक्ष मे सहायक जो ज्ञान है वह मुझे प्राप्त हो चुका है। उस ज्ञान की प्राप्ति के बाद यज्ञ-याग, वेदो की क्रिया मुझे सगत नही लगती। अब मुझे आत्मज्ञान हो चुका है और उसी उत्कृष्ट ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होगी। [156]।

भार्गव ने कहा – वत्स! तू ऐसी बहकी-बहकी बाते कर रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ऋषि या देव ने तुझे शाप दिया है, जिससे यह तेरी स्थिति हुई है। [157]

सुमति ने कहा—तात! मैं पूर्व जन्म मे ब्राह्मण था। मैं प्रतिपल-प्रतिक्षण परमात्मा के ध्यान मे तल्लीन रहता था, जिसमे आत्मविद्या का चिन्तन मुझ मे पूर्ण विकसित हो चुका था। मैं सदा साधना मे रत रहता था। मुझे अतीत के लाखो जन्मो की स्मृति हो आई। धर्मत्रयी मे रहे हुए मानव को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति नही होती। मुझे यह आत्मज्ञान पहले से ही प्राप्त है। इसलिए अब मैं आत्म-मुक्ति के लिए प्रयास करूँगा। [158] उसके बाद सुमति अपने पिता भार्गव को मृत्यु का रहस्य बताता है। इस प्रकार इस सवाद मे वेदज्ञान को निरर्थकता बताकर आत्मज्ञान की सार्थकता सिद्ध की है।

प्रस्तुत सवाद के सम्बन्ध मे विन्टरनीत्ज का अभिमत है—यह बहुत कुछ सम्भव है—यह सवाद जैन और बौद्ध परम्परा का रहा होगा। उसके बाद उसे महाकाव्य या पौराणिक साहित्य मे सम्मिलित कर लिया गया हो। [159]

153, The Verses From 49 to the end of the Chapter Certainly do not belong to original legend, But must have been composed by the Jain author

—The Uttaradhyana Sutra, Page-335

१५४ मार्कण्डेय पुराण-१०/११, १२

१५५ मार्कण्डेय पुराण-१०/१६, १७

१५६ मार्कण्डेय पुराण-१०/२७, २८, २९

१५७ मार्कण्डेय पुराण-१०/३४, ३५

१५८ मार्कण्डेय पुराण—१०।३७, ४४

१५९ The Jainas in the History of Indian Literature, P 7

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन के चौदहवे अध्ययन मे जो वर्णन है, उसकी प्रतिच्छाया वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो मे भी प्राप्त है। उदाहरण के रूप मे देखिए—

"अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहि, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥'
[उ १४।९]

तुलना कीजिए—

"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र ! पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वन प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥"
(शान्तिपर्व—१७५।६, २७७।६, जातक—५०९।४)

"वेया अहीया न भवन्ति ताण, भुत्ता दिया निन्ति तम तमेण ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताण, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एय ॥"
(उत्तरा १४।१२)

तुलना कीजिए—

"वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जर विहन्ति ।
गन्धे रमे मुञ्चन आहु सन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥"
(जातक— ५०९।६)

"इम च मे अत्थि इम च नत्थि, इम च मे किच्च इम अकिच्च ।
त एवमेव लालप्पमाण, हरा हरति त्ति कह पमाए ? ॥"
[उत्तरा १४।१५]

तुलना कीजिए—

"इद कृतमिद कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्त, मृत्युरादाय गच्छति ॥"
[शान्ति १७५।२०]

विस्तारभय से हम उन सभी गाथाओ का अन्य ग्रन्थो के आलोक मे तुलनात्मक अध्ययन नही दे रहे हैं। विशेष जिज्ञासु लेखक का "जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा" ग्रन्थ मे तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक निबन्ध देखें ।

भिक्षु : एक विश्लेषण

पन्द्रहवें अध्ययन मे भिक्षुओ के लक्षणो का निरूपण है। जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो, वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा सन्त भी भिक्षा से आहार प्राप्त करता है तो पाखण्डी साधु भी भिक्षा से ही आहार प्राप्त करता है। इसीलिए दोनो ही प्रकार के भिक्षुओ की सज्ञा 'भिक्षु' है। जैसे स्वर्ण अपने सद्गुणो के कारण कृत्रिम स्वर्ण से पृथक् होता है वैसे ही सद्भिक्षु अपने सद्गुणो के कारण असद्भिक्षु से पृथक् होता है। स्वर्ण को जब कसौटी पर कसते हैं तो वह खरा उतरता है। कृत्रिम स्वर्ण, स्वर्ण के सदृश दिखाई तो देता है किन्तु कसौटी पर कसने से अन्य गुणो के अभाव मे वह खरा नही उतरता है। इसीलिए वह शुद्ध सोना नही है। केवल नाम और रूप से सोना, सोना नही होता, वैसे ही केवल नाम और वेश से कोई सच्चा भिक्षु नही होता। सद्गुणो से ही जैसे सोना, सोना होता है वैसे ही सद्गुणो से भिक्षु भी ! सवेग, निर्वेद, विवेक, सुशील ससर्ग, आराधना,

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शान्ति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक, शुद्धि, ये सभी सच्चे भिक्षु के लिंग हैं। भिक्षु का निरुक्त है—जो भेदन करे वह भिक्षु है। कुल्हाडी से वृक्ष का भेदन करना द्रव्य-भिक्षु का लक्षण हो सकता है, भाव-भिक्षु तो तप रूपी कुल्हाडी से कर्मों का भेदन करता है। जो केवल भीख मांगकर खाता है किन्तु दारायुक्त है, त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है, मन, वचन और काया से सावद्य प्रवृत्ति करता है, वह द्रव्य-भिक्षु है। केवल भिक्षाशील व्यक्ति ही भिक्षु नहीं है। किन्तु जो अहिंसक जीवन जीता है, सयममय जीवन यापन करता है वह भिक्षु है। इससे यह स्पष्ट है कि भिखारी अलग है और भिक्षु अलग है।

भिक्षु को प्रत्येक वस्तु याचना करने पर मिलती है। मनोवाछित वस्तु मिलने पर वह प्रसन्न नही होता और न मिलने पर अप्रसन्न नही होता। वह तो दोनो ही स्थितियो मे समभाव से रहता है। श्रमण आवश्यकता की सम्पूर्ति के लिए किसी के सामने हीन भावना से हाथ नही पसारता। वह वस्तु की याचना तो करता है किन्तु आत्मगौरव की क्षति करके नही। वह महान् व्यक्तियो की न तो चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियो का तिरस्कार। न धनवानो की प्रशसा करता है और न निर्धनो की निन्दा। वह सभी के प्रति समभाव रखता है। इस प्रकार समत्व की साधना ही भिक्षु के आचार-दर्शन का सार है। फ्रायड का मन्तव्य है—चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है—आन्तरिक उद्दीपको के तनाव को नष्ट कर एव साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयासशील रहना।[१६०]

प्रस्तुत अध्ययन मे भिक्षु के जीवन का शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है। इससे उस युग की अनेक दार्शनिक व सामाजिक जानकारियाँ भी प्राप्त होती है। उस समय कितने ही श्रमण व ब्राह्मण मत्रविद्या का प्रयोग करते थे, चिकित्साशास्त्र का उपयोग करते थे। भगवान् महावीर ने भिक्षुओ के लिए उसका निषेध किया। वमन, विरेचन और धूम्रनेत्र ये प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली के अग थे। धूम्रनेत्र का प्रयोग मस्तिष्क सम्बन्धी रोगो के लिए होता था। आचार्य जिनदास के अभिमतानुसार रोग की आशका और शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था।[१६१] आचार्य नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति मे धूम को 'मेनसिल' आदि से सम्बन्धित माना है।[१६२] चरक मे 'मेनसिल' आदि के धूम को 'शिरोविरेचन' करने वाला माना है।[१६३] सुश्रुत के चिकित्सास्थान के चालीसवे अध्याय मे धूम का विस्तार मे वर्णन है। सूत्रकृताग मे धूपन और धूमपान दोनो का निषेध है। 'विनयपिटक' के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध भिक्षु धूमपान करने लगे थे तब तथागत बुद्ध ने उन्हे धूमनेत्र की अनुमति दी।[१६४] उसके पश्चात् भिक्षु स्वर्ण, रौप्य आदि के धूमनेत्र रखने लगे।[१६५] इससे यह स्पष्ट है कि भिक्षु और सन्यासियो मे धूमपान न करने के लिए धूमनेत्र रखने की प्रथा थी। पर भगवान् महावीर ने श्रमणो के लिए इनका निषेध किया।

---

१६०. Beyond the pleasure principle—S. Freud उद्धृत अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृष्ठ-२४६।

१६१ धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्म करेइ धूमपि, इमाए सोगाइणो न भविस्सति।

—दशवैकालिक-जिनदासचूर्णि, पृष्ठ-११५

१६२. धूम-मन शिलादिसम्बन्धि। —उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्रवृत्ति, पत्रा-२१७

१६३ चरकसहिता सूत्र-५।२३.

१६४ अनुजानामि भिक्खवे धूमनेत्त ति।

—विनयपिटक, महावग्ग ६।२।७

१६५. विनयपिटक, महावग्ग-६।२।७

वमन का अर्थ उल्टी करना—'मदन' फल आदि के प्रयोग से आहार को उल्टी के द्वारा बाहर निकालना है। इसे ऊर्ध्वविरेक कहा है।[166] अपानमार्ग के द्वारा स्नेह आदि का प्रक्षेप 'बस्तिकर्म' कहलाता है। चरक आदि मे विभिन्न प्रकार के बस्तिकर्मों का वर्णन है।[167] जुलाब के द्वारा मल को दूर करना विरेचन है। इसे अधोविरेक भी कहा है।[168] उस युग मे आजीवक आदि श्रमण छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तुविद्या, अगविकार एव स्वरविज्ञान विद्याओ से आजीविका करते थे, जिससे जन-जन का अन्तर्मानस आकर्षित होता था। साधना मे विघ्नजनक होने से भगवान् ने इनका निषेध किया।

ब्रह्मचर्य : एक अनुचिन्तन

सोलहवें अध्ययन मे ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण है। अनन्त, अप्रतिम, अद्वितीय, सहज आनन्द आत्मा का स्वरूप है। वासना विकृति है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—विकृति से बचकर स्वरूपबोध प्राप्त करना। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे विविध उपमाओ के द्वारा ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा गाई है। जो ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करता है वही समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, सयम आदि की आराधना कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रतो का सरताज है, यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य स्वय भगवान् है। ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रिय सयम है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि व्रतो का सम्बन्ध मानसिक भूमिका से है, पर ब्रह्मचर्य के लिए दैहिक और मानसिक ये दोनो भूमिकाएँ आवश्यक हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य को समझने के लिए शरीरशास्त्र का ज्ञान भी जरूरी है।

मोह और शारीरिक स्थिति, ये दो अब्रह्म के मुख्य कारण है। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य जो आहार करता है उससे रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनता है।[169] वीर्य सातवी भूमिका मे बनता है। उसके पश्चात् वह ओज रूप मे शरीर मे व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नही है, वह सभी धातुओ का सार है। हमारे शरीर मे अनेकों नाडियाँ हैं। उन नाडियो मे एक नाडी कामवाहिनी है। वह पैर के अगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। विविध आसनो के द्वारा इस नाडी पर नियत्रण किया जाता है। आहार से जो वीर्य बनता है, वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय के अन्दर भी जाता है। जब वीर्याशय मे वीर्य की मात्रा अधिक पहुचती है तो वासनाएँ उभरती है। अत ब्रह्मचारी के लिए यह कठिन समस्या है। क्योकि जब तक जीवन है तब तक आहार तो करना ही पडता है। आहार से वीर्य का निर्माण होगा। वह वीर्याशय मे जायेगा और पहले का वीर्य बाहर निकलेगा। वह क्रम सदा जारी रहेगा। इसीलिए भारतीय ऋषियो ने वीर्य को मार्गान्तरित करने की प्रक्रिया बताई है। मार्गान्तरित करने से वीर्य वीर्याशय मे कम जाकर ऊपर सहस्रार चक्र मे अधिक मात्रा मे जाने से साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है। आगमसाहित्य मे साधको के लिए घोर ब्रह्मचारी शब्द व्यवहृत हुआ है। तत्त्वार्थराजवार्तिक मे घोर ब्रह्मचारी उसे माना है जिसका वीर्य स्वप्न मे भी स्खलित नही होता। स्वप्न मे भी उसके मन मे अशुभ सकल्प पैदा नही होते।

---

१६६ सूत्रकृताग १।९।१२ प १८० टीका

१६७ चरक, सिद्धिस्थान १

१६८ (क) दशवैकालिक-अगस्त्यसिहचूर्णि पृष्ठ ६२

(ख) सूत्रकृताग टीका १।९।१२. पत्रा १८०

१६९ रसाद् रक्त ततो मास, मासान् मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थिभ्यो मज्जा तत शुक्र ......।

—अष्टांगहृदय अ ३, श्लोक ६.

ब्रह्मचारी के लिए आहार का विवेक रखना आवश्यक है। अतिमात्रा मे और प्रणीत आहार ये दोनो ही त्याज्य है। गरिष्ठ आहार का सरलता से पाचन नही होता, इसीलिए कब्ज होती है, कब्ज से कुवासनाये उत्पन्न होती हैं और उससे वीर्य नष्ट होता है। इसलिए उतना आहार करो जिससे पेट भारी न हो। मलावरोध से वायु का निर्माण होता है। जितना अधिक वायु का निर्माण होगा, वीर्य पर उतना ही अधिक दबाव पडेगा, जिससे ब्रह्मचर्य के पालन मे कठिनता होगी। जननेन्द्रिय और मस्तिष्क ये दोनो वीर्य-व्यय के मार्ग हैं। भोगी तथा रोगी व्यक्ति कामवासना से ग्रस्त होकर तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय के माध्यम से करते हैं। योगी लोग वीर्य के प्रवाह को नीचे से ऊपर की ओर मोड देते है जिससे कामवासना घटती है। ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाले वीर्य का व्यय मस्तिष्क मे होता है। जननेन्द्रिय के द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य है। यदि वह सीमित मात्रा मे व्यय होता है तो शरीर पर उतना प्रभाव नही होता पर मन मे मोह उत्पन्न होने से आध्यात्मिक दृष्टि से हानि होती है।

जिस व्यक्ति की अब्रह्म के प्रति आसक्ति होती है, उसकी वृषणग्रन्थियाँ रस, रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करती हैं जिससे अन्त स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उससे वंचित रह जाते है। उनमे जो क्षमता आनी चाहिए, वह नही आ पाती। फलत शरीर मे विविध प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। इसी बात को आयुर्वेद के आचार्यों ने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है। सात क्यारियो मे से सातवी क्यारी मे बडा खड्डा हो और जल को बाहर निकलने के लिए छेद हो तो सारा जल उस गड्ढे मे एकत्रित होगा। यही स्थिति अब्रह्म के कारण शुक्रक्षय को होती है। छहो रस शुक्र धातु की पुष्टि मे लगते है। किन्तु अत्यन्त अब्रह्म के सेवन करने वाले का शुक्र पुष्ट नही होता। जिसके फलस्वरूप अन्य धातुओ की पुष्टि नही हो पाती और शरीर मे नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते है। इन्द्रियविजेता ही ब्रह्मचर्य का पालन कर पाता है। ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर मे अपूर्व स्थिरता, मन मे स्थिरता, अपूर्व उत्साह और सहिष्णुता आदि सद्गुणो का विकास होता है।

कितने ही चिन्तको का यह मानना है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से शरीर और मन पर जैसा अनुकूल प्रभाव होना चाहिए, वह नही होता। उनके चिन्तन मे आंशिक सच्चाई है। और वह यह है—जब ब्रह्मचर्य का पालन स्वेच्छा से न कर विवशता से किया जाता है, तन से तो ब्रह्मचर्य का पालन होता है किन्तु मन मे विकार भावनाएँ होने से वह ब्रह्मचर्य हानिप्रद होता है किन्तु जिस ब्रह्मचर्य मे विवशता नही होती, आन्तरिक भावना से जिसका पालन किया जाता है, विकारी भावनाओ को उदात्त भावनाओ की ओर मोड दिया जाता है, उस ब्रह्मचर्य का तन और मन पर श्रेष्ठ प्रभाव पडता है।

जो लोग ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहते है वे गरिष्ठ आहार व दर्पकर आहार ग्रहण न करे और मन पर भी नियत्रण करे। जब काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग मे उभरे तब उसके उभरते ही उस स्थान पर मन को एकाग्र कर शुभ सकल्प किया जाए तो वह उभार शान्त हो जायेगा। कामजनक अवयवो के स्पर्श से भी वासना उभरती है, इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन मे ब्रह्मचर्यसमाधि के दश स्थानो का उल्लेख किया गया है।

स्थानाग और समवायाग मे भी नौ गुप्तियो का वर्णन है। जो पाँचवाँ स्थान उत्तराध्ययन मे बताया गया है वह स्थानाग और समवायाग मे नही है। उत्तराध्ययन मे जो दसवाँ स्थान निरूपित है, वह स्थानाग और समवायाग मे आठवाँ स्थान है। शेष वर्णन समान है। उत्तराध्ययन का 'दश-समाधिस्थान' वर्णन बडा ही मनोवैज्ञानिक है। शयन, आसन, कामकथा आदि ब्रह्मचर्य की साधना मे विघ्नरूप हैं। इन विघ्नो के निवारण करने से ही ब्रह्मचर्य सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार मे [170] और प आशाधर जी ने [171] अनगारधर्मामृत मे शील आराधना मे विघ्न समुत्पन्न करने वाले दश कारण बताये है। उन सभी कारणो मे प्राय उत्तराध्ययन मे निर्दिष्ट कारण ही हैं। कुछ कारण पृथक् भी है। इन सभी कारणो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि जैन आगमसाहित्य तथा उसके पश्चात्वर्ती साहित्य मे जिस क्रम से निरूपण हुआ है, वैसा शृ खलाबद्ध निरूपण वेद और उपनिषदो मे नही हुआ है। दक्षस्मृति मे [172] कहा गया है—मैथुन के स्मरण कीर्तन, क्रीडा, देखना, गुह्य भाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रिया ये आठ प्रकार बताये गये हैं—इनसे अलग रहकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।

त्रिपिटक साहित्य मे ब्रह्मचर्य-गुप्तियो का जैन साहित्य की तरह व्यवस्थित क्रम प्राप्त नही है किन्तु कुछ छुटपुट नियम प्राप्त होते है। उन नियमो मे मुख्य भावना है—अशुचि भावना। अशुचि भावना मे शरीर की आसक्ति दूर की जाती है। इसे ही कायगता स्मृति कहा है। [173]

श्रेष्ठश्रमण और पापश्रमण मे अन्तर

सत्तरहवे अध्ययन मे पाप-श्रमण के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारो का सम्यक् प्रकार से पालन करता है, वह श्रेष्ठ श्रमण है। श्रामण्य का आधार आचार है। आचार मे मुख्य अहिंसा है। अहिसा का अर्थ है—सभी जीवो के प्रति सयम करना। जो श्रमणाचार का सम्यक् प्रकार से पालन नही करता और जो अकर्त्तव्य कार्यों का आचरण करता है, वह पाप-श्रमण है। जो विवेकभ्रष्ट श्रमण है, वह सारा समय खाने-पीने और सोने मे व्यतीत कर देता है। न समय पर प्रतिलेखन करता है और न समय पर स्वाध्याय-ध्यान आदि ही। समय पर सेवा-शुश्रूषा भी नही करता है। वह पाप-श्रमण है। श्रमण का अर्थ केवल वेष-परिवर्तन करना नही, जीवन परिवर्तन करना है। जिसका जीवन परिवर्तित—आत्म-निष्ठ-अध्यात्मनिरत हो जाता है, भगवान् महावीर ने उसे श्रेष्ठ श्रमण की अभिधा से अभिहित किया है।

प्रस्तुत अध्ययन मे पापश्रमण के जीवन का शब्दचित्र सक्षेप मे प्रतिपादित है।

गागर में सागर

अठारहवे अध्ययन मे राजा सजय का वर्णन है। एक बार राजा सजय शिकार के लिए केशर उद्यान मे गया। वहाँ उसने सत्रस्त मृगो को मारा। इधर उधर निहारते हुए उसकी दृष्टि मुनि गर्दभाल पर गिरी। वे

१७० मूलाचार ११।१३, १४

१७१ अनगारधर्मामृत ४।६१

१७२ ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुन पृथक्।
स्मरण कीर्त्तन केलि प्रेक्षण गुह्यभाषणम्॥
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्ति मनीषिण॥
न ध्यातव्य न वक्तव्य न कर्त्तव्य कदाचन।
एतै सर्वै सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतर॥
—दक्षस्मृति ७।३१-३३

१७३ (क) सुत्तनिपात १।११
(ख) विशुद्धिमग्ग (प्रथम भाग) परिच्छेद ८, पृष्ठ २१८-२६०
(ग) दीघनिकाय (महापरिनिब्बाणसुत्त) २।३

ध्यानमुद्रा मे थे । उन्हे देखकर राजा सजय भयभीत हुआ । वह सोचने लगा—मैंने मुनि की आशातना की है । मुनि से क्षमायाचना की । मुनि ने जीवन की अस्थिरता, पारिवारिक जनो की असारता और कर्म-परिणामो की निश्चितता का प्रतिपादन किया । जिससे राजा के मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह मुनि बन गया । एक बार एक क्षत्रिय मुनि ने सजय मुनि से पूछा—आप कौन है, आपका नाम और गोत्र क्या है, किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? कृपा करके बताइये । मुनि सजय ने सक्षेप मे उत्तर दिया । उत्तर सुनकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए । उन्होने मुनि सजय को जैन प्रवचन मे सुदृढ करने के लिए अनेक महापुरुषो के उदाहरण दिये । इस अध्ययन मे अनेक चक्रवर्तियो का उल्लेख हुआ है । भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे । इन्ही के नाम पर प्रस्तुत देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ । इन्होने षट्खण्ड के साम्राज्य का परित्याग कर श्रमणधर्म स्वीकार किया था । दूसरे चक्रवर्ती सगर थे । अयोध्या मे इक्ष्वाकुवशीय राजा जितशत्रु का राज्य था । उसके भाई का नाम सुमित्रविजय था । विजया और यशोमती ये दो पत्नियाँ थी । विजया के पुत्र का नाम अजित था, जो द्वितीय तीर्थंकर के नाम से विश्रुत हुए और यशोमती के पुत्र का नाम सगर था, जो द्वितीय चक्रवर्ती हुआ ।

तृतीय चक्रवर्ती का नाम मघव था । ये श्रावस्ती नगरी के राजा समुद्रविजय की महारानी भद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । सनत्कुमार चतुर्थ चक्रवर्ती थे । ये कुरु जागल जनपद मे हस्तिनापुर नगर के निवासी थे । उनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम सह देवी था । शान्तिनाथ हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन के पुत्र थे । इनकी माता का नाम अचिरा देवी था । ये पाँचवे चक्रवर्ती हुए । राज्य का परित्याग कर श्रमण बने और सोलहवे तीर्थंकर हुए । कुन्थु हस्तिनापुर के राजा सूर के पुत्र थे । इनकी माता का नाम श्री देवी था । ये छठे चक्रवर्ती हुए । अन्त मे राज्य का परित्याग कर श्रमण बने । तीर्थ की स्थापना कर सत्तरहवे तीर्थकर हुए । 'अर' गजपुर के राजा सुदर्शन के पुत्र थे । इनकी माता का नाम देवी था । ये सातवे चक्रवर्ती हुए । राज्य-भार को छोडकर श्रमणधर्म मे दीक्षित हुए । तीर्थ की स्थापना करके अठारहवे तीर्थंकर हुए । नवे चक्रवर्ती महापद्म थे । ये हस्तिनापुर के पद्मोत्तर राजा के पुत्र थे । उनकी माता का नाम ज्वाला था । उनके दो पुत्र हुए—विष्णुकुमार और महापद्म । महापद्म नौवे चक्रवर्ती हुए । हरिसेण दसवे चक्रवर्ती हुए । ये काम्पिल्यपुर नगर के निवासी थे । इनके पिता का नाम महाहरिश था और माता का नाम 'मेरा' था । जय राजगृह नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे । इनकी माँ का नाम वप्रका था । ये ग्यारहवे चक्रवर्ती के रूप मे विश्रुत हुए ।

भरत से लेकर जय तक तीर्थकरो और चक्रवर्तियो का अस्तित्व काल प्राग्-ऐतिहासिक काल है । इन सभी ने सयम-मार्ग को ग्रहण किया । दशार्णभद्र दशार्ण जनपद के राजा थे । ये भगवान् महावीर के समकालीन थे । नमि विदेह के राजा थे । चूडी की नीरवता के निमित्त से प्रतिबुद्ध हुए थे । कुम्भजातक मे मिथिला के निमि राजा का उल्लेख है । वह गवाक्ष मे बैठा हुआ राजपथ की शोभा निहार रहा था । एक चील मास का टुकडा लिए हुए आकाश मे जा रही थी । इधर-उधर से गिद्धो ने उसे घेर लिया । एक गिद्ध ने उस मास के टुकडे को पकड लिया । दूसरा छोड कर चल दिया । राजा ने देखा—जिस पक्षी ने मास का टुकडा लिया, उसे दु ख सहन करना पडा है और जिसने मास का टुकडा छोडा उसे सुख मिला । जो कामभोगो को ग्रहण करता है, उसे दु ख मिलता है । मेरी सोलह हजार पत्नियाँ हैं । मुझे उनका परित्याग कर सुखपूर्वक रहना चाहिए । निमि ने भावना की वृद्धि से प्रत्येक-बोधि को प्राप्त किया ।[१७४] करकण्डु कलिंग के राजा थे । वे बूढे बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए । वे सोचने लगे—एक दिन यह बैल बछडा था, युवा हुआ । इसमे अपार शक्ति थी । आज इसकी आँखे गड़ी जा रही है, पैर

१७४ कुम्भकारजातक (सख्या ४०८) जातक खण्ड ४, पृष्ठ ३९

लडखडा रहा है। उसका मन वैराग्य से भर गया। ससार की परिवर्तनशीलता का भान होने से वह प्रत्येक-बुद्ध हुआ।

बौद्ध साहित्य[१७५] मे भी कलिंग राष्ट्र के दन्तपुर नगर का राजा करकण्डु था। एक दिन उसने फलों से लदे हुए आम्र वृक्ष को देखा। उसने एक आम तोडा। राजा के साथ जो अन्य व्यक्ति थे उन सभी ने आमों को एक-एक कर तोड लिया। वृक्ष फलहीन हो गया। लौटते समय राजा ने उसे देखा। उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी। राजा सोचने लगा—वृक्ष फलसहित था, तब तक उसे भय था। धनवान् को सर्वत्र भय होता है। अकिंचन को कहीं भी भय नही। मुझे भी फलरहित वृक्ष की तरह होना चाहिए। वह विचारो की तीव्रता से प्रत्येकबुद्ध हो गया।

द्विमुख पाचाल के राजा थे। ये इन्द्रध्वज को देखकर प्रतिबोधित हुए। बौद्ध साहित्य मे भी दुमुख राजा का वर्णन है।[१७६] वे उत्तरपाचाल राष्ट्र मे कम्पिल नगर के अधिपति थे। वे भोजन से निवृत्त होकर राजाङ्गण की श्री को निहार रहे थे। उसी समय ग्वालो ने व्रज का द्वार खोल दिया। दो साडों ने कामुकता के अधीन होकर एक गाय का पीछा किया। दोनो परस्पर लडने लगे। एक के सीग से दूसरे सांड की आतें बाहर निकल आईं और वह मर गया। राजा चिन्तन करने लगा—सभी प्राणी विकारो के वशीभूत होकर कष्ट प्राप्त करते हैं। ऐसा चिन्तन करते हुए वह प्रत्येकबोधि को प्राप्त हो गया।

नग्गति गाधार का राजा था। वह मजरी-विहीन आम्रवृक्ष को निहारकर प्रत्येकबुद्ध हुआ। बौद्ध साहित्य मे भी 'नग्गजी' नाम के राजा का वर्णन है।[१७७] वह गाधार राष्ट्र के तक्षशिला का अधिपति था। उसकी एक स्त्री थी। वह एक हाथ मे एक कगन पहन कर सुगन्धित द्रव्य को पीस रही थी। राजा ने देखा—एक कगन के कारण न परस्पर रगड होती है और न ध्वनि ही होती है। उस स्त्री ने कुछ समय के बाद दूसरे हाथ से पीसना प्रारम्भ किया। उस हाथ मे दो कगन थे। परस्पर घर्षण मे शब्द होने लगा। राजा सोचने लगा—दो होने से रगड होती है और साथ ही ध्वनि भी। मैं भी अकेला हो जाऊँ जिससे सघर्ष नही होगा और वह प्रत्येकबुद्ध हो गया।

उत्तराध्ययन मे जिन चार प्रत्येकबुद्धो का उल्लेख है, वैसा ही उल्लेख बौद्ध साहित्य मे भी हुआ है किन्तु वैराग्य के निमित्तो मे व्यत्यय है। जैन कथा मे वैराग्य का जो निमित्त नग्गती और नमि का है, वह बौद्ध कथाओ मे करकण्डु और नग्गजी का है। उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति मे तथा अन्य ग्रन्थो मे इन चार प्रत्येकबुद्धो की कथाएँ बहुत विस्तार के साथ आई हैं। उनमे अनेक ऐतिहासिक और सास्कृतिक तथ्यो का सकलन है, जबकि बौद्ध कथाओ में केवल प्रतिबुद्ध होने के निमित्त का ही वर्णन है।

विण्टरनीत्ज का अभिमत है—जैन और बौद्ध साहित्य मे जो प्रत्येकबुद्धो की कथाएँ आई हैं, वे प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य की निधि हैं।[१७८] प्रत्येकबुद्धो का उल्लेख वैदिक परम्परा के साहित्य मे नही हुआ है। महाभारत[१७९] मे जनक के रूप मे जिस व्यक्ति का उल्लेख हुआ है, उसका उत्तराध्ययन मे नमि के रूप मे

१७५ कुम्भकारजातक (सख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३७

१७६ कुम्भकारजातक (सख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३९-४०

१५७ कुम्भकारजातक (सख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३९

१७८ The Jainas in the History of Indian Literature, P. 8.

१७९ महाभारत, शान्तिपूर्ण, अध्याय—१७८, २१८, २७६.

उल्लेख है। यद्यपि मूलपाठ मे उनके प्रत्येकबुद्ध होने का उल्लेख नही है। यह उल्लेख सर्वप्रथम उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे हुआ है। उसके पश्चात् टीका-साहित्य मे।

उदायन : एक परिचय

'उदायन' सिन्धु सौवीर जनपद के राजा थे। इनके अधीन सोलह जनपद, वीतभय आदि तीन सौ तिरेसठ नगर और महासेन आदि दस मुकुटधारी राजा थे। वैशाली के गणतत्र के राजा चेटक की पुत्री उदायन की पटरानी थी। भगवती[१८०] सूत्र मे उदायन का प्रसग प्राप्त है। उदायन का पुत्र अभीचकुमार निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। राजा उदायन ने अपना राज्य अभीचकुमार को न देकर अपने भानजे केशी को दिया। 'केशी' को राज्य देने का कारण यही था कि वह राज्य मे आसक्त होकर कही नरक न जाए। किन्तु राज्य न देने के कारण अभीचकुमार के मन में द्रोह उत्पन्न हुआ। उदायन को, उसकी दिवगत धर्मपत्नी जो देवी बनी थी वह स्वर्ग से आकर धर्म की प्रेरणा प्रदान करती है। राजा उदायन को दीक्षा प्रदान करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर मगध से विहार कर सिन्धु सौवीर पधारते है। उदायन मुनि उत्कृष्ट तप का अनुष्ठान प्रारम्भ करते हैं। स्वाध्याय और ध्यान मे अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित कर देते हैं। दीर्घ तपस्या तथा अरस-नीरस आहार से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो चुका था, शारीरिक बल क्षीण होने से रुग्ण रहने लगे। जब रोग ने उग्र रूप धारण किया तो स्वाध्याय, ध्यान आदि मे विघ्न उपस्थित हुआ। वैद्यो ने दही के प्रयोग का परामर्श दिया। राजर्षि ने देखा—वीतभय मे गोकुल की सुलभता है। उन्होने वहाँ से विहार किया और वीतभय पधारे। राजा केशी को मत्रियो ने राजर्षि के विरुद्ध यह कह कर भडकाया कि राजर्षि राज्य छीनने के लिए आये हैं। केशी ने राजर्षि के शहर मे आने का निषेध कर दिया। एक कुम्भकार के घर मे उन्होने विश्राम लिया। राजा केशी ने उन्हे मरवाने के लिए आहार मे विष मिलवा दिया। पर रानी प्रभावती, जो देवी बनी थी, वह विष का प्रभाव क्षीण करती रही। एक बार देवी की अनुपस्थिति मे विषमिश्रित आहार राजर्षि के पात्र मे आ गया। वे उसे शान्त भाव से खा गये। शरीर मे विष व्याप्त हो गया। उन्होने अनशन किया और केवलज्ञान की उन्हे प्राप्ति हुई। देवी के प्रकोप से वीतभय नगर धूलिसात् हो गया।[१८१]

बौद्ध साहित्य मे भी राजा उदायन का वर्णन मिलता है। अवदान कल्पलता के अनुसार उनका नाम उद्रायण था।[१८२] दिव्यावदान के अनुसार रुद्रायण था।[१८३] आवश्यकचूर्णि मे उदायन का नाम उद्रायण भी मिलता है।[१८४] वह सिन्धु-सौवीर देश का स्वामी था। उसकी राजधानी रोरुक थी। दिवगत पत्नी ही उसे धर्ममार्ग के लिए उत्प्रेरित करती है। उद्रायण सिन्धु-सौवीर से चलकर मगध पहुँचता है। बुद्ध उसे दीक्षा प्रदान करते है। दीक्षित होने के बाद वे अपनी राजधानी मे जाते है और दुष्ट अमात्यो की प्रेरणा से उनका वध होता है। बौद्ध दृष्टि से रुद्रायण ने अपना राज्य अपने पुत्र शिखण्डी को सौंपा था। अत मे देवी के प्रकोप के कारण रोरुक धूलिसात् हो जाता है। विज्ञो का यह मन्तव्य है कि प्रस्तुत रुद्रायण प्रकरण बौद्ध साहित्य मे बाद मे आया है क्योकि हीनयान परम्परा के ग्रन्थो मे यह वर्णन प्राप्त नही है। महायानी परम्परा के त्रिपिटक, जो सस्कृत मे है,

---

१८० भगवतीसूत्र शतक-१३, उद्देशक ६

१८१ उत्तराध्ययनसूत्र-भावगणि विरचित वृत्ति, अध्य० १८, पत्र ३८०-३८८

१८२. अवदान कल्पलता—अवदान ४०, क्षेमेन्द्र स. शरत्चन्द्रदास और प. हरिमोहन विद्याभूषण

१८३. दिव्यावदान—रुद्रायणावदान ३७, स. डॉ. पी एल वैद्य, प्रका मिथिला विद्यापीठ-दरभगा

१८४. उद्दायण राया, तावसभत्तो —आवश्यकचूर्णि पूर्वार्द्ध पत्र ३९९

उनमे यह वर्णन सम्प्राप्त है। डॉ. पी एल. वैद्य का अभिमत है कि दिव्यावदान की रचना ई. सन् २०० से ३५० तक के मध्य मे हुई है। इसीलिए जैन परम्परा के उदायन को ही बौद्ध परम्परा मे रुद्रायणावदान के रूप मे परिवर्तित किया है। दोनो ही परम्पराओ मे एक ही व्यक्ति दीक्षित कैसे हो सकता है? बौद्ध परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा का 'उदायण प्रकरण' अधिक विश्वस्त है।

प्रस्तुत अध्ययन मे उदायन का केवल नाम निर्देश ही हुआ है। हमने दोनो ही परम्पराओं के आधार से सक्षेप मे उल्लेख किया है।

काशीराज का नाम नन्दन था और वे सातवे बलदेव थे। वे वाराणसी के राजा अग्निशिख के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और लघुभ्राता का नाम दत्त था।

'विजय' द्वारकावती नगरी के राजा ब्रह्मराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुभद्रा था तथा लघु-भ्राता का नाम द्विपृष्ठ था। नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययनवृत्ति मे लिखा है—आवश्यकचूर्णि मे 'नन्दन' और 'विजय' इनका उल्लेख है। हम उसी के अनुसार उनका यहाँ पर वर्णन दे रहे हैं। यदि यहाँ पर वे दोनो व्यक्ति दूसरे हो तो आगम-साहित्य के मर्मज्ञ उनकी अन्य व्याख्या कर सकते हैं।[१८५] इससे यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्र को इस सम्बन्ध मे अनिश्चितता थी। शान्त्याचार्य ने अपनी टीका मे इस सम्बन्ध मे कोई चिन्तन प्रस्तुत नही किया है। काशीराज और विजय के पूर्व उदायन राजा का उल्लेख हुआ है, जो श्रमण भगवान् महावीर के समय मे हुए थे। उनके बाद बलदेवो का उल्लेख सगत प्रतीत नही होता। क्योकि प्रस्तुत अध्ययन मे पहले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, और राजाओ के नाम क्रमश आये हैं, इसीलिए प्रकरण की दृष्टि से महावीर युग के ही ये दोनो व्यक्ति होने चाहिए। स्थानाग सूत्र मे[१८६] भगवान् महावीर के पास आठ राजाओ ने दीक्षा ग्रहण की, उसमे काशीराज शख का भी नाम है। सम्भव है, काशीराज से शख राजा का यहाँ अभिप्राय हो। भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले राजाओ मे विजय नाम के राजा का उल्लेख नही है। पोलासपुर मे विजय नाम के राजा थे। उनके पुत्र अतिमुक्त कुमार ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली परन्तु उनके पिता ने भी दीक्षा ली, ऐसा उल्लेख प्राप्त नही है।[१८७] विजय नाम का एक अन्य राजा भी भगवान् महावीर के समय हुआ था, जो मृगगाँव नगर का था। उसकी रानी का नाम मृगा था।[१८८] वह दीक्षित हुआ हो, ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। विज्ञो के लिए अन्वेषणीय है।

महाबल राजा का भी नाम इस अध्ययन मे आया है। टीकाकार नेमिचन्द्र ने महाबल की कथा विस्तार से उट्टकित की है।[१८९] और उसका मूल स्रोत उन्होने भगवती बताया है।[१९०] महाबल हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। वे तीर्थंकर विमलनाथ की परम्परा के आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए थे। बारह वर्ष श्रमण-पर्याय मे रह कर वे ब्रह्मदेवलोक म उत्पन्न हुए। वहाँ से वाणिज्य ग्राम मे श्रेष्ठी के पुत्र सुदर्शन बने। इन्होने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। यह कथा देने के पश्चात्

---

१८५. उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति, पत्र-२५६

१८६ स्थानाग सूत्र, ठाणा ८, सूत्र ४१

१८७. अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ६

१८८. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १

१८९ व्याख्याप्रज्ञप्ति

१९० उत्तराध्ययन, सुखबोधावृत्ति, पत्र २५९

नेमिचन्द्र ने लिखा है—महाबल यही है अथवा अन्य ?, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। हमारी दृष्टि से वे महाबल अन्य होने चाहिए। यह अधिक सम्भव है कि विपाकसूत्र मे आये हुए महापुर नगर का अधिपति बल का पुत्र महाबल हो।[191]

इस प्रकार अठारहवें अध्ययन में तीर्थंकर और चक्रवर्ती राजाओ का निरूपण हुआ है, जो ऐतिहासिक और प्राग्-ऐतिहासिक काल मे हुए हैं और जिन्होंने साधना-पथ को स्वीकार किया था। इनके साथ ही दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गांधार, सौवीर, काशी आदि जनपदों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही भगवान् महावीर के युग मे प्रचलित क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, आदि वादो का भी उल्लेख हुआ है। अठारहवें अध्ययन मे इस तरह प्रचुर सामग्री रही हुई है।

उन्नीसवे अध्ययन मे मृगा रानी के पुत्र का वर्णन होने से अध्ययन का नाम 'मृगापुत्र' रखा गया है। एक बार महारानियो के साथ आनन्द-क्रीडा करते हुए मृगापुत्र नगर की सौन्दर्य-सुषमा निहार रहे थे। उनकी दृष्टि राजमार्ग पर चलते हुए एक तेजस्वी मुनि पर गिरी। वे टकटकी लगाकर मन्त्रमुग्ध से उन्हें देखते रहे। मृगापुत्र को सहज स्मृति हो आई—मैं भी पूर्वजन्म मे ऐसा ही साधु था। उन्हे भोग बन्धन-रूप प्रतीत हुए। ससार मे रहना उन्हें अब असह्य हो गया। माता-पिता ने श्रामण्य-जीवन की कठोरता समझाई—वत्स! श्रामण्य-जीवन का मार्ग फूलो का नही काँटो का है। नगे पैरो, जलती हुए आग पर चलने के सदृश है। साधु होना लोहे के जव चबाना है, दहकती ज्वालाओ को पीना है। कपडे के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तोलना है, महासमुद्र को भुजाओ द्वारा तैरना है। इतना ही नही तलवार की धार पर नगे पैरो से चलना है। इस उग्र श्रमण जीवन को धीर, वीर, गभीर साधक ही पार कर सकता है। तुम तो बहुत ही सुकुमाल हो। इस कठोर श्रमणचर्या का कैसे पालन कर सकोगे? उत्तर मे मृगापुत्र ने नरको की दारुण वेदना का चित्रण प्रस्तुत किया। नरको मे इस जीव ने कितनी ही असह्य वेदनाओ को सहन किया है। अन्त में माता-पिता कहते हैं—रुग्ण होने पर वहाँ कौन चिकित्सा करेगा?

मृगापुत्र ने कहा—जब जगल मे पशु रुग्ण होते हैं, उनकी कौन चिकित्सा करता है? वे पहले की तरह ही स्वस्थ हो जाते हैं। वैसे ही मैं भी पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा। अन्त मे माता-पिता की अनुमति से मृगापुत्र ने सयम ग्रहण किया और पवित्र श्रामण्य-जीवन का पालन कर सिद्धि को वरण किया।

प्रस्तुत अध्ययन मे आई एक गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ 'महावग्ग' मे आई हुई गाथा से कर सकते हैं—

देखिये—

"जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥" (उत्तरा. १९।१५)

तुलना कीजिए—

"जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा।
व्याधिपि दुक्खा मरणपि दुक्ख॥" (महावग्ग—१।६।१९)

निर्ग्रन्थ : एक चिन्तन

बीसवें अध्ययन का नाम "महानिर्ग्रन्थीय" है। जैन श्रमणो का आगमिक प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य अगस्त्यसिंह ने लिखा है—ग्रन्थ का अर्थ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह है। जो उस ग्रन्थ से पूर्णतया मुक्त

---

१९१ विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध-२, अध्ययन-७

होता है, वह निर्ग्रन्थ है।[192] निर्ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जो राग-द्वेष से रहित होने के कारण एकाकी है, बुद्ध है, आस्रव-रहित है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद का ज्ञाता है, विज्ञ है, बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के स्रोत जिसके छिन्न हो चुके हैं, जो पूजा-सत्कार, लाभ का अर्थी (इच्छुक) नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्यभाव का आचरण करता है, दान्त है, बन्धन-मुक्त होने के योग्य है, वह निर्ग्रन्थ है।[193] आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—जो कर्मग्रन्थि के विजय के लिए प्रयास करता है, वह निर्ग्रन्थ है।[194]

प्रस्तुत अध्ययन मे महानिर्ग्रन्थ अनाथ मुनि का वर्णन होने से इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है। सम्राट् श्रेणिक ने मुनि के दिव्य और भव्य रूप को निहार कर प्रश्न किया—यह महामुनि कौन हैं? और क्यों श्रमण बने है? मुनि ने उत्तर मे अपने आपको 'अनाथ' बताया। अनाथ शब्द सुनकर राजा श्रेणिक अत्यन्त विस्मित हुआ। इस रूप-लावण्य के धनी का अनाथ होना उसे समझ मे नही आया। मुनि ने अनाथ शब्द की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की। राजा ने पहली बार सनाथ और अनाथ का रहस्य समझा। उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये। उसने निवेदन किया—मैं आप से धर्म का अनुशासन चाहता हूँ। राजा श्रेणिक को मुनि ने सम्यक्त्व-दीक्षा प्रदान की।

प्रस्तुत आगम मे मुनि के नाम का उल्लेख नही है पर प्रसग से यही नाम फलित होता है। दीघनिकाय मे 'मण्डीकुक्षि' के नाम पर 'मद्दकुच्छि' यह नाम दिया है।[195] डा राधाकुमुद बनर्जी ने मण्डीकुक्षि उद्यान मे राजा श्रेणिक के धर्मानुरक्त होने की बात लिखी है।[196] साथ ही प्रस्तुत अध्ययन की ५८ वी गाथा मे 'अणगारसिंह' शब्द व्यवहृत हुआ है। उस शब्द के आधार से वे अणगारसिंह से भगवान् महावीर को ग्रहण करते हैं पर उनका यह मानना सत्य-तथ्य से परे है। क्योकि प्रस्तुत अध्ययन मे मुनि ने अपना परिचय देते हुए अपने को कौशाम्बी का निवासी बताया है। सम्राट् श्रेणिक का परिचय हमने अन्य आगमो की प्रस्तावना मे विस्तार से दिया है, इसलिए यहाँ विस्तृत रूप से उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

प्रस्तुत अध्ययन में आई हुई कुछ गाथाओ की तुलना धम्मपद, गीता और मुण्डकोपनिषद् आदि से की जा सकती है—

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दण वण॥ (उत्तरा २०।३६)
"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥ (उत्तरा २०।३७)

तुलना कीजिए—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथ लभति दुल्लभ॥"

---

१९२. निग्गथाण ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति। —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि पृष्ठ ५९

१९३. सूत्रकृतांग १।१६।६

१९४. ग्रन्थ कर्माष्टविध, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तज्जयहेतोरशठ, संयतते य स निर्ग्रन्थ.॥ —प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक १४२

१९५. दीघनिकाय भाग २, पृ. ९१

१९६. हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. १८७

"अत्तना व कतं पाप अत्तज अत्तसम्भव ।
अभिमन्थति दुम्मेध, वजिर वस्ममय मणि ॥"
"अत्तना व कत पाप, अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकत पाप, अत्तना व विसुज्झति ॥ (धम्मपद १२।४,५,९)

"न त अरी कण्ठछेत्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुह तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणे ॥" (उत्तर २०।४८)

तुलना कीजिए—

दिसो दिस य त कयिरा, वेरी वा पन वैरिन ।
मिच्छापणिहितं चित्त, पापियो न ततो करे ॥ (धम्मपद ३।१०)

दुविह खवेऊण य पुण्णपावं, निरगणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्द ंव महाभवोघ, समुद्दपाले अपुणागम गए ॥ (उत्तरा २०।४)

तुलना कीजिए—

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥ (मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे चिन्तन की विपुल सामग्री है। इस मे यह भी प्रदर्शित किया गया है कि द्रव्यलिङ्ग को धारण करने मात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। यह भाव गाथा इकतालीस से पचास तक में प्रदर्शित किये गये हैं। उन की तुलना सुत्तनिपात-महावग्ग पवज्जा सुत्त से सहज रूप से की जा सकती है।

समुद्रयात्रा

इक्कीसवें अध्ययन मे समुद्रपाल का वर्णन है। इसलिये वह "समुद्रपालीय" नाम से विश्रुत है। इस अध्ययन मे समुद्रयात्रा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। उस युग मे भारत के साहसी व्यापारी व्यापार हेतु दूर-दूर तक जाते थे। अतीत काल से ही नौकाओ के द्वारा व्यापार करने की परम्परा भारत मे थी।[१९७] ऋग्वेद मे इस प्रकार की नौकाओ का वर्णन है, जो समुद्र मे चलती थीं। नाविकों के द्वारा समुद्र मे बहुत दूर जाने पर मार्ग विस्मृत हो जाने पर वे पूषा की सस्तुति करते थे जिस से सुरक्षित लौट सकें।

बौद्ध जातकसाहित्य मे ऐसे जहाजो का वर्णन है जिन मे पाच सौ व्यापारी एक साथ यात्रा करते थे।[१९८] विनय-पिटक मे 'पूर्ण' नाम के एक व्यापारी का उल्लेख है जिस ने छ बार समुद्रयात्रा की थी। सयुक्त-निकाय[१९९] अगुत्तरनिकाय[२००] मे वर्णन है कि छ-छ मास तक नौकाओ द्वारा समुद्रयात्रा की जाती थी। दीघनिकाय[२०१] मे यह भी वर्णन है मि समुद्रयात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ कुछ पक्षी रखते थे। जब जहाज समुद्र मे बहुत दूर पहुँच जाता और आस-पास मे कही पर भी भूमि दिखाई नही देती तब उन पक्षियो को

१९७. ऋग्वेद १।२५।७, १।४८।३, १।५६।२, १।११६।३, २।४८।३, ७।८८।३-४
१९८ पण्डार जातक २।१२८, ५।७५
१९९. सयुक्तनिकाय ३।११५, ५।५१
२०० अगुत्तरनिकाय ४।२७
२०१ दीघनिकाय १।२२२

आकाश में छोड़ दिया जाता। यदि टापू कहीं सन्निकट होता तो वे पक्षी लौट कर नहीं आते। और दूर होने पर वे पुन इधर-उधर आकाश मे चक्कर लगा कर आ जाते थे।

भगवान् ऋषभदेव ने जलपोतो का निर्माण किया था।[202] जैन साहित्य मे जलपत्तन के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[203] सूत्रकृताग[204] उत्तराध्ययन[205] आदि आगम साहित्य मे कठिन कार्य की तुलना समुद्रयात्रा से की है। वस्तुत उस युग में समुद्रयात्रा अत्यधिक कठिन थी।

सूत्रकृताग[206] मे लेप नामक गाथा-पति का उल्लेख है, जिस के पास अनेक यान थे। सिंहलद्वीप, जावा सुमात्रा प्रभृति स्थलो पर अनेक व्यापारीगण जाया करते थे। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे[207] जिनपालित और जिनरक्षित गाथापति का वर्णन है, जिन्होंने बारह बार समुद्रयात्रा की थी। अरणक श्रावक आदि के यात्रावर्णन भी ज्ञाताधर्मकथा मे है।[208] व्यापारीगण स्वय के यानपात्र भी रखते थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल लेकर जाते थे। उसमे स्वर्ण, सुपारी आदि अनेक वस्तुएँ होती थी। उस समय भारत मे स्वर्ण अत्यधिक मात्रा मे था, जिस का निर्यात दूसरे देशो मे होता था। इस प्रकार सामुद्रिक व्यापार बहुत उन्नत अवस्था मे था।

इस अध्ययन मे यह भी बताया गया है कि उस युग मे जो व्यक्ति तस्करकृत्य करता था, उसको उग्र दण्ड दिया जाता था। वधभूमि मे ले जाकर वध किया जाता था। वह लालवस्त्रो से आवेष्टित होता, उसके गले मे लाल कनेर की माला होती, जिससे दर्शको को पता लग जाता कि इसने अपराध किया है। वह कठोर दण्ड इसलिये दिया जाता कि अन्य व्यक्ति इस प्रकार के अपराध करने का दुस्साहस न करें। तस्करा की तरह दुराचारियो को भी शिरोमुण्डन, तर्जन, ताडन, लिङ्गच्छेदन, निर्वासन और मृत्यु प्रभृति विविध दण्ड दिये जाते थे। सूत्रकृतांग,[209] निशीथचूर्णि,[210] मनुस्मृति,[211] याज्ञवल्क्यस्मृति[212] आदि मे विस्तार स इस विषय का निरूपण है। प्रस्तुत अध्ययन मे उस युग की राज्य-व्यवस्था का भी उल्लेख है। भारत मे उस समय अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। उनमे परस्पर सघर्ष भी होता था। अत मुनि को उस समय सावधानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का सूचन किया गया है।

अरिष्टनेमि और राजीमती

बाईसवें अध्ययन मे अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है। रथनेमि अरिष्टनेमि

---

२०२. आवश्यकनिर्युक्ति २१४

२०३ (क) बृहत्कल्प, भाग २, पृ. ३४२

(ख) आचारांगचूर्णि पृ २८१

२०४. सूत्रकृताग १।११।५

२०५. उत्तराध्ययन ८।६

२०६ सूत्रकृताग—२।७।६९

२०७. ज्ञाताधर्मकथा—१।९.

२०८ ज्ञाताधर्मकथा—१।१७, पृष्ठ-२०१

२०९ सूत्रकृतांग—४।१।२२

२१०. निशीथचूर्णि—१५।५०६० की चूर्णि.

२११. मनुस्मृति—८।३७४

२१२ याज्ञवल्क्यस्मृति—३।५।२३२.

अर्हत् के लघुभ्राता थे। राजीमती, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध अरिष्टनेमि से तय हुआ था किन्तु विवाह के कुछ समय पूर्व ही अरिष्टनेमि को वैराग्य हो गया और वे मुनि बन गये। अरिष्टनेमि के प्रव्रजित होने के पश्चात् रथनेमि राजीमती पर आसक्त हो गये। किन्तु राजीमती का उपदेश श्रवण कर रथनेमि प्रव्रजित हुए। एक बार पुन रैवतक पर्वत पर वर्षा से प्रताडित साध्वी राजीमती को एक गुफा मे वस्त्र सुखाते समय नग्न अवस्था में देखकर रथनेमि विचलित हो गये। राजीमती के उपदेश से वे पुन सभले और अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करते हैं।

जैन साहित्य के अनुसार राजीमती उग्रसेन की पुत्री थी। विष्णु पुराण के अनुसार उग्रसेन की चार पुत्रियाँ थी—कसा, कसवती, सुतनु और राष्ट्रपाली।[२१३] इस नामावली मे राजीमती का नाम नही आया है। यह बहुत कुछ सम्भव है—सुतनु ही राजीमती का अपरनाम रहा हो। क्योकि प्रस्तुत अध्ययन की ३७वी गाथा मे रथनेमि राजीमती को 'सुतनु' नाम से सम्बोधित करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मे अन्धकवृष्णि शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन हरिवश पुराण के अनुसार यदुवश का उद्‌भव हरिवश से हुआ है। यदुवश मे नरपति नाम का एक राजा था। उसके शूर और सुवीर ये दो पुत्र थे। सुवीर को मथुरा का राज्य दिया गया और शूर को शौर्यपुर का। अन्धकवृष्णि आदि शूर के पुत्र थे और भोजकवृष्णि आदि सुवीर के पुत्र थे। अन्धक-वृष्णि की प्रमुख रानी का नाम सुभद्रा था। उनके दस पुत्र हुए, जो निम्नलिखित हैं—(१) समुद्रविजय, (२) अक्षोभ्य, (३) स्तमित सागर, (४) हिमवान्, (५) विजय, (६) अचल, (७) धारण, (८) पूरण, (९) अभिचन्द्र, (१०) वसुदेव। ये दसो पुत्र दशार्ह के नाम से विश्रुत है। अन्धकवृष्णि की (१) कुन्ती, (२) मद्री ये दो पुत्रियाँ थी। भोजकवृष्णि की मुख्य पत्नी पद्मावती थी। उसके उग्रसेन, महासेन और देवसेन ये तीन पुत्र हुए।[२१४] उत्तरपुराण मे देवसेन के स्थान पर महाद्युतिसेन नाम आया है।[२१५] उनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम गाधारी था।

अन्धककुल के नेता समुद्रविजय के अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि ये चार पुत्र थे। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि अधकवृष्णिकुल के नेता वसुदेव के पुत्र थे। वैदिक-साहित्य मे इनकी वशावली पृथक् रूप से मिलती है।[२१६] इस अध्ययन मे भोज, अन्धक और वृष्णि इन तीन कुलो का उल्लेख हुआ है। भोजराज शब्द राजीमती के पिता समुद्रविजय जी के लिए प्रयुक्त हुआ है। वासुदेव श्रीकृष्ण का अरिष्टनेमि के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। वे अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। उन्होने राजीमती को दीक्षा ग्रहण करते समय जो आशीर्वाद दिया था यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और साथ ही श्रीकृष्ण के हृदय की धार्मिक भावना का भी प्रतीक है। वह आशीर्वाद इस प्रकार से है—**ससारसागरं घोरं, तर कन्ने ! लहुं लहुं।**" हे कन्ये ! तू घोर ससार-सागर को शीघ्रता से पार कर।[२१७]

इस अध्ययन की सबसे बडी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि पथभ्रष्ट पुरुष को नारी सही मार्ग पर

---

२१३. विष्णुपुराण ४।१४।२१

२१४ हरिवशपुराण १८।६-१६ आचार्य जिनसेन

२१५ उत्तरपुराण ७०।१०

२१६ (क) देखिए—लेखक का भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुशीलन
(ख) एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ १०४-१०७ पारजीटर

२१७. उत्तराध्ययन २२-३१

जाती है। उसका नारायणी रूप इसमें उजागर हुआ है। नारी वासना की दास नही, किन्तु उपासना की ओर बढ़ने वाली पवित्र प्रेरणा की स्रोत भी है। जब वह साधना के पथ पर बढती है तो उसके कदम आगे से आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। वह अपने लक्ष्य पर बढना भी जानती है।

समस्याएँ और समाधान

तेवीसवें अध्ययन मे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के तेजस्वी नक्षत्र केशीकुमार श्रमण और भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम का ऐतिहासिक सवाद है। भगवान् पार्श्व तेवीसवें तीर्थंकर थे। भगवान् महावीर ने 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग पार्श्वनाथ के लिए किया है। यह उनके प्रति आदर का सूचक है। भगवान् पार्श्व के हजारो शिष्य भगवान् महावीर के समय विद्यमान थे। भगवती मे 'कालास्यवैशिक'[२१८] अनगार, गांगेय' अनगार[२१९] तथा अन्य अनेक स्थविर[२२०] और सूत्रकृतांग[२२१] मे 'उदकपेढाल' आदि पार्श्वापत्य श्रमणो ने भगवान् महावीर के शासन को स्वीकार किया था। प्रस्तुत अध्ययन मे पार्श्वापत्य श्रमणो में और भगवान् महावीर के श्रमणो मे जिन बातो को लेकर अन्तर था, उसका निरूपण है। यह निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अन्तर का मूल कारण भी गणधर गौतम ने केशीकुमार श्रमण को बताया है। प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु और जड़ थे। अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र और जड होते हैं और मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरो के श्रमण ऋजु और प्राज्ञ थे। प्रथम तीर्थंकर के श्रमणो के लिए आचार को पूर्ण रूप मे समझ पाना कठिन था। चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है। किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरो के श्रमण उसे यथावत् समझने और सरलता से उसका पालन करते थे। इन्ही कारणो से आचार के दो रूप हुए है—चातुर्याम धर्म और पचयाम धर्म। केशीश्रमण की इस जिज्ञासा पर कि एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले श्रमणो के वेश मे यह विचित्रता क्यो है ? एक रग-बिरंगे बहुमूल्य वस्त्रो को धारण करते हैं और एक अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्रधारी हैं। गणधर गौतम ने समाधान करते हुए कहा—मोक्ष की साधना का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। वेश तो बाह्य उपकरण है, जिससे लोगो को यह ज्ञात हो सके कि ये साधु हैं। 'मैं साधु हूँ।' इस प्रकार ध्यान रखने के लिए ही वेष है। सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा का यही उद्देश्य है। यहाँ पर अचेल का अर्थ अल्पवस्त्र है।

भगवान् पार्श्व के चातुर्याम धर्म मे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह शब्दो का प्रयोग नही हुआ है। वहाँ पर बाह्य वस्तुओ की अनासक्ति को व्यक्त करने वाला 'बहिद्धादाणविरमण-बहिस्तात् आदान-विरमण' शब्द है। भगवान् महावीर ने उसके स्थान पर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दो का प्रयोग किया है। ब्रह्मचर्य शब्द वैदिक साहित्य मे व्यवहृत था पर महाव्रत के रूप मे 'ब्रह्मचर्य शब्द' का प्रयोग भगवान् महावीर ने किया। वैदिक साहित्य मे इसके पूर्व ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग महाव्रत के रूप मे नही हुआ। इसी तरह अपरिग्रह शब्द का प्रयोग भी महाव्रत के रूप मे सर्वप्रथम ऐतिहासिककाल मे भगवान् महावीर ने ही किया है। जाबालोपनिषद्[२२२],

---

२१८ भगवतीसूत्र १।९

२१९. भगवतीसूत्र ९।३२

२२०. भगवतीसूत्र ५।९.

२२१. सूत्रकृतांग २।७

२२२. जाबालोपनिषद्—५

नारदपरिव्राजकोपनिषद्[223], तेजोबिन्दूपनिषद्[224], याज्ञवल्क्योपनिषद्[225], आरुणिकोपनिषद्[226], गीता[227], योगसूत्र[228] आदि ग्रन्थो मे अपरिग्रह शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वे सारे ग्रन्थ भगवान् महावीर के बाद के हैं, ऐसा ऐतिहासिक मनीषियो का मत है। भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती ग्रन्थों मे 'अपरिग्रह' शब्द का प्रयोग महान् व्रत के रूप में नही हुआ है।

डॉ हर्मन जेकोबी ने लिखा है—जैनो ने अपने व्रत ब्राह्मणो से उधार लिए हैं।[229] उनका यह मन्तव्य है—ब्राह्मण सन्यासी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सन्तोष और मुक्तता इन व्रतो का पालन करते थे। उन्ही का अनुसरण जैनियो ने किया है। डॉ जेकोबी की प्रस्तुत कल्पना केवल निराधार कल्पना ही है। उसका वास्तविक और ठोस आधार नहीं है। ब्राह्मण परम्परा मे पहले व्रत नही थे। बोधायन आदि मे जो निरूपण है वह बहुत ही बाद का है। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् पार्श्व के समय व्रत-व्यवस्था थी। वही व्रत-व्यवस्था भगवान् महावीर ने विकसित की थी। तथागत बुद्ध ने उसे अष्टाङ्गिक मार्ग के रूप मे स्वीकार किया और योगदर्शन मे यम-नियमो के रूप में उसे ग्रहण किया गया। गाधीजी के आश्रमधर्म का आधार भी वही है। ऐसा धर्मानन्द कौशाम्बी का भी अभिमत है।[230] डॉ रामधारीसिंह दिनकर[231] का मन्तव्य है—हिन्दूत्व और जैनधर्म परस्पर मे घुल-मिलकर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का सामान्य हिन्दू यह जानता भी नही है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैनधर्म के उपदेश थे न कि हिन्दुत्व के। आधुनिक अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्रतो की परम्परा का मूलस्रोत श्रमण-सस्कृति है।[232]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे युग-युग के सघन सशय और उलझे हुए विकल्पो का सही समाधान है। इस सवाद मे समत्व की प्रधानता है। इस प्रकार के परिसवादो से ही सत्य-तथ्य उजागर होता है, श्रुत और शील का समुत्कर्ष होता है। इस अध्ययन मे आत्मविजय और मन का अनुशासन करने के लिए जो उपाय प्रदर्शित किये गये हैं, वे आधुनिक तनाव के युग मे परम उपयोगी है। चचल मन को एकाग्र करने के लिए धर्मशिक्षा आवश्यक बताई है।[233] वही बात गीताकार ने भी कही है—मन को वश मे करने के लिए अभ्यास

---

२२३. नारद परिव्राजकोपनिषद् ३।८।६

२२४. तेजोबिन्दूपनिषद् १।३

२२५ याज्ञवल्क्योपानषद् २।१

२२६ आरुणिकोपनिषद् ३

२२७ गीता ६।१०

२२८ योगसूत्र २।३०

२२९ "It is therefore probable that the Jain as have borrowed their own Vows from the Brahmans, not From the Buddhists"

—The Sacred Books of the East, Vol XXII, Introduction P. 24

२३०. भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, भूमिका पृष्ठ ६

२३१. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १२५

२३२. देखिए—लेखक का भगवान् पार्श्वनाथ · एक समीक्षात्मक अध्ययन।

२३३. उत्तराध्ययन सूत्र—२३।५८

और वैराग्य आवश्यक है।[234] आचार्य पतंजलि का भी यही अभिमत रहा है।[235]

प्रवचन माताएं—

चौबीसवें अध्ययन का नाम 'समिईओ' है। समवायाग सूत्र मे यह नाम प्राप्त है।[236] उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रवचनमात' या 'प्रवचनमाता' मिलता है।[237] सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान को 'प्रवचन' कहा जाता है। उसकी रक्षा हेतु पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ माता के सदृश हैं। ये प्रवचन-माताएँ चारित्ररूपा हैं द्वादशागी मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तार से निरूपण है। इसलिये द्वादशागी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है। लौकिक जीवन मे माँ की महिमा विश्रुत है। वह शिशु के जीवन के संवर्धन के साथ ही संस्कारो का सिंचन करती है। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन मे ये प्रवचन-माताएँ जगदम्बा के रूप मे हैं। इसलिये भी इन्हें प्रवचनमाता कहा है।[238] प्रसव और समाना इन दोनो अर्थों में माता शब्द का व्यवहार हुआ है। भगवान् जगत्-पितामह के रूप मे है।[239] आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक-सद्गुणो को विकसित करने वाली ये प्रवचनमाताएँ हैं।

प्रतिक्रमण सूत्र के वृत्तिकार आचार्य नमि[240] ने समिति की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिये प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति है। साधक का अशुभ योगो से सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति है। आचार्य उमास्वातिजी ने भी लिखा[241] है—मन, वचन और काय के योगो का जो प्रशस्त निग्रह है, वह गुप्ति है।

आचार्य शिवार्य ने लिखा है कि जिस योद्धा ने सुदृढ कवच धारण कर रखा हो, उस पर तीक्ष्ण बाणो की वर्षा हो तो भी वे तीक्ष्ण बाण उसे बींध नही सकते। वैसे ही समितियो का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला श्रमण जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ पापो से निर्लिप्त रहता है।[242] जो श्रमण आगम के रहस्य को नहीं जानता किन्तु प्रवचनमाता को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह स्वय का भी कल्याण करता है और दूसरो का भी! श्रमणो के आचार का प्रथम और अनिवार्य अग प्रवचनमाता है, जिस के माध्यम से श्रामण्य धर्म का विशुद्ध रूप से पालन किया जा सकता है।

---

२३४ "चंचलं हि मन कृष्ण! प्रमाथि बलवत् दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥"
—गीता ६।३४
'अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।
—गीता ६।३५

२३५. "अभ्यास-वैराग्याभ्या तन्निरोध।"
—पातजल योगदर्शन

२३६. समवायांगसूत्र समवाय ३६

२३७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति-गाथा ४५८, ४५९

२३८ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २४ गाथा-१

२३९. नन्दीसूत्र-स्थविरावली गाथा-१

२४०. सम्-एकीभावेन, इति.-प्रवृत्ति समिति:

२४१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. ४

२४२. मूलाराधना ६, १२०२।

प्रस्तुत अध्ययन में समितियों और गुप्तियों का सम्यक् निरूपण हुआ है !

ब्राह्मण—

पच्चीसवें अध्ययन में यज्ञ का निरूपण है। यज्ञ वैदिक सस्कृति का केन्द्र है। पापो का नाश, शत्रुओं का सहार, विपत्तियो का निवारण, राक्षसो का विध्वस, व्याधियों का परिहार, इन सब की सफलता के लिये यज्ञ आवश्यक माना गया है। क्या दीर्घायु, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व का साधन सभी यज्ञ से उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद मे ऋषि ने कहा—यज्ञ इस उत्पन्न होने वाले ससार की नाभि है। उत्पत्तिप्रधान है। देव तथा ऋषि यज्ञ से समुत्पन्न हुए। यज्ञ से ही ग्राम और अरण्य के पशुओ की सृष्टि हुई। अश्व, गाए, भेड़े, अज, वेद आदि का निर्माण भी यज्ञ के कारण ही हुआ। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[२४३] इस प्रकार ब्राह्मण-परम्परा यज्ञ के चारो ओर चक्कर लगा रही है। भगवान् महावीर के समय सभी विज्ञ ब्राह्मणगण यज्ञकार्य मे जुटे हुए थे। श्रमण भगवान् महावीर ने और उनके सघ के अन्य श्रमणों ने 'वास्तविक यज्ञ क्या है ? तथा सच्चा ब्राह्मण-कौन है ?' इस सम्बन्ध में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। जिस यज्ञ मे जीवो की विराधना होती है उस यज्ञ का भगवान् ने निषेध किया है। जिस मे तप और सयम का अनुष्ठान होता है। वह भाव यज्ञ है।

ब्राह्मण शब्द की, जो जातिवाचक बन-चुका था, यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत अध्ययन मे की गई है। जातिवाद पर करारी चोट है। मानव जन्म से श्रेष्ठ नहीं, कर्म से श्रेष्ठ बनता है। जन्म से ब्राह्मण नही, कर्म से ब्राह्मण होता है। मुण्डित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। ओकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता। अरण्य मे रहने मात्र से मुनि नही होता। दर्भ-वल्कल आदि धारण करने-मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता। समभाव से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि एव तपस्या से तापस होता है।

जिस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे ब्राह्मण की परिभाषा की गई है, उसी प्रकार की परिभाषा धम्मपद मे भी प्राप्त होती है। उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत अध्ययन की कुछ गाथाओ के साथ धम्मपद की गाथाओ की तुलना करें—

तसपाणे वियाणेत्ता, सगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, त वय बूम माहण॥
—(उत्तरा अ २५ गा २२)

तुलना कीजिए—

निधाय दड भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो हन्ति न घातेति, तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥
—(धम्मपद २६।२३,)

कोहा व जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, त वय बूम माहणं॥
—(उत्तरा. अ. २५।२३)

---

२४३ ऋग्वेद—वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

तुलना कीजिये—

अकक्कस विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे कंचि तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥
(धम्मपद २६।२६)

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पई वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥
(उत्तरा २५।२६)

तुलना कीजिये—

वारिपोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥
(धम्मपद २६।१९)

"न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥"
(उत्तराध्ययन २५।२९)

तुलना कीजिये—

"न मुण्डकेण समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥
न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ॥"
(धम्मपद १९।९,११)

"न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
मौनाद्धि स मुनिर्भवति, नारण्यवसनान्मुनिः ॥"
(उद्योगपर्व-४३।३५)

"समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"
(उत्तराध्ययन २५।३०,३१)

तुलना कीजिए—

" . . . . ।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति ॥
(धम्मपद १९।१०)

"पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥
(धम्मपद १९।१४)

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो ।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो ॥
कस्सको कम्मुना होति, सिप्पिको होति कम्मुना ।
वाणिजो कम्मुना होति, पेस्सिको होति कम्मुना ॥
(सुत्तनिपात, महा ९।५७,५८)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ॥"
(सुत्तनिपात उर ७।२१,२७)

समाचारी : एक विश्लेषण

छब्बीसवें अध्ययन मे समाचारी का निरूपण है। समाचारी जैन सस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। शिष्ट जनो के द्वारा किया गया क्रिया-कलाप समाचारी है।[२४४] उत्तराध्ययन में ही नही, भगवती,[२४५] स्थानांग[२४६] आदि अन्य आगमों मे भी समाचारी का वर्णन मिलता है। आवश्यकनिर्युक्ति मे भी समाचारी पर चिन्तन किया गया है दृष्टिवाद के नौवे पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें ओघप्राभृत मे समाचारी के सम्बन्ध मे बहुत ही विस्तार के साथ निरूपण था। पर वह वर्णन सभी श्रमणो के लिए सम्भव नहीं था। जो महान् मेधावी सन्त होते थे, उनका अध्ययन करते थे। अत. आगम-मर्मज्ञ आचार्यों ने सभी सन्तो के लाभार्थ ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो का निर्माण किया। प्रवचनसारोद्धार, धर्मसग्रह आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थो में भी समाचारी का निरूपण है। उपाध्याय यशोविजयजी ने समाचारीप्रकरण नामक स्वतत्र ग्रन्थ की रचना की है।

श्रमणाचार के वृत्तात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार ये दो भेद हैं। महाव्रत वृत्तात्मक आचार है और व्यवहारात्मक आचार समाचारी है। समाचारी के ओघ समाचारी और पदविभाग समाचारी ये दो भेद हैं। प्रथम समाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग मे और दूसरी समाचारी का अन्तर्भाव चरणकरणानुयोग में किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति मे समाचारी के ओघसमाचारी, दशविध समाचारी और पदविभाग समाचारी ये तीन प्रकार बतलाए हैं। ओघसमाचारी का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति मे किया गया है और पदविभाग समाचारी छेदसूत्र मे वर्णित है।

दिगम्बरग्रन्थो मे समाचारी के स्थान पर 'समाचार' और 'सामाचार' ये दो शब्द आये हैं। आचार्य वट्टकेर ने उसके चार अर्थ किये हैं—(१) समता का आचार (२) सम्यक् आचार (३) सम आधार (४) समान आचार।[२४७]

श्रमण-जीवन मे दिन-रात मे जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सभी समाचारी मे अन्तर्गत हैं। समाचारी सघीय जीवन जीने की श्रेष्ठतम कला है। समाचारी से परस्पर एकता की भावना विकसित होती है, जिससे सघ को बल प्राप्त होता है।

---

२४४ उत्तराध्ययन, अध्ययन २६

२४५ भगवतीसूत्र, २५।७

२४६. स्थानाग १०, सूत्र ७४९

२४७. समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो ।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो ॥ —मूलाचार, गा. १२३

प्रस्तुत अध्ययन मे दशविध ओघ-समाचारी का निरूपण हुआ है। इस सम्बन्ध मे हमने विस्तार के साथ "जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप" ग्रन्थ मे निरूपण किया है।[२४८] विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

अनुशासन हीनता का प्रतीक : अविनय

सत्ताईसवे अध्ययन मे दुष्ट बैल की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत शिष्य का चित्रण किया गया है। संघ-व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है। विनय, अनुशासन का अग है तो अविनय अनुशासनहीनता का प्रतीक है। जो साधक अनुशासन की उपेक्षा करता है वह अपने जीवन को महान् नही बना सकता। गर्गगोत्रीय गार्ग्य मुनि एक विशिष्ट आचार्य थे, योग्य गुरु थे किन्तु उनके शिष्य उद्दण्ड, अविनीत और स्वच्छन्द थे। उन शिष्यो के अभद्र व्यवहार से समत्व साधना मे विघ्न उपस्थित होता हुआ देखकर आचार्य गार्ग्य उन्हे छोड़कर एकाकी चल दिये। अनुशासनहीन अविनीत शिष्य दुष्ट बैल की भाँति होता है जो गाडी को तोड देता है और स्वामी को कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह अविनीत शिष्य आचार्य और गुरुजनो को कष्टदायक होता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे अविनीत शिष्य के लिए दशमशक, जलोका, वृश्चिक प्रभृति विविध उपमाओ से अलकृत किया है। इस अध्ययन मे जो वर्णन है वह प्रथम अध्ययन 'विनयश्रुत' का ही पूरक है।

प्रस्तुत अध्ययन की निम्न गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ की थेरगाथा से की जा सकती है—

"खलु का जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति धिइदुब्बला॥" —(उत्तराध्ययन २७।८)

तुलना कीजिए—

"ते तथा सिक्खित्ता बाला, अञ्जमञ्जमगारवा।
नादयिस्सन्ति उपज्झाये, खलुंको विय सारथिं॥" —(थेरगाथा ९७९)

मोक्षमार्ग : एक परिशीलन

अट्ठाईसवें अध्ययन मे मोक्षमार्गगति का निरूपण हुआ है। मोक्ष प्राप्य है और उसकी प्राप्ति का उपाय मार्ग है। प्राप्ति का उपाय जब तक नही मिलता तब तक प्राप्य प्राप्त नही होता। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्षप्राप्ति के साधन हैं। इन साधनो की परिपूर्णता ही मोक्ष है। जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र मे करके परवर्ती साहित्य मे त्रिविध साधना का मार्ग प्रतिपादित किया है। आचार्य उमास्वति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[२४९] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में, आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिध्युपाय मे, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे त्रिविध-साधना मार्ग का विधान किया है। बौद्धदर्शन मे भी शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान किया गया है। गीता मे भी ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इस त्रिविध साधना का उल्लेख हुआ है। जैसे—जैनधर्म मे तप का स्वतन्त्र विवेचन होने पर भी उसे सम्यक् चारित्र के अन्तर्भूत माना गया है वैसे ही गीता के ध्यानयोग को कर्मयोग मे सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार पश्चिम मे भी त्रिविध साधना और साधना-पथ का भी निरूपण किया गया है। स्वय को जानो (Know Thyself) स्वय को स्वीकार करो (Accept Thyself) और स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself) ये पाश्चात्य परम्परा मे तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं।[२५०]

---

२४८ "जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप ग्रन्थ" —ले देवेन्द्रमुनि पृष्ठ ८९९-९१०

२४९ 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १

२५० (क) साइकोलाजी एण्ड मारल्स, पृष्ठ १८९
(ख) देखिए जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग डा सागरमल जैन

प्रस्तुत अध्ययन मे कहा है—दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और जिसमे ज्ञान नही होता, उसका आचरण सम्यक् नही होता। सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं बना जाता और बिना आसक्तिमुक्त बने मुक्ति नही होती। इस दृष्टि से निर्वाण-प्राप्ति का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र की परिपूर्णता है। कितने ही आचार्य दर्शन को प्राथमिकता देते हैं तो कितने ही आचार्य ज्ञान को। गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नही होता। आचार्य उमास्वाति ने भी पहले दर्शन और उसके बाद ज्ञान को स्थान दिया है। जब तक दृष्टिकोण यथार्थ न हो तब तक साधना की सही दिशा का भान नही होता और उसके बिना लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सुत्तनिपात मे भी बुद्ध कहते हैं—मानव का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है[251]। श्रद्धा से मानव इस संसार रूप बाढ को पार करता है।[252] श्रद्धावान् व्यक्ति ही प्रज्ञा को प्राप्त करता है।[253] गीता मे भी श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया है। गीताकार ने ज्ञान की महिमा और गरिमा का सकीर्तन किया है। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"—कहने के बाद कहा—वह पवित्र ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो श्रद्धवान् है।—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" [254]। सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् होती है, अर्थात् दृष्टि सम्यक् होते ही मिथ्या-ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव दोनो का पौर्वापर्य कोई विवाद का विषय नही है।

ज्ञान और दर्शन के बाद चारित्र का स्थान है। चारित्र साधनामार्ग में गति प्रदान करता है। इसलिए चारित्र का अपने आप मे महत्त्व है। जैन दृष्टि से रत्नत्रय के साकल्य मे ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक परम्परा मे ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनो पृथक्-पृथक् मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं। इन्ही मान्यताओं के आधार पर स्वतत्र सम्प्रदायो का भी उदय हुआ। आचार्य शकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति को स्वीकार करते हैं। पर जैन दर्शन ने ऐसे किसी एकान्तवाद को स्वीकार नही किया है।

प्रस्तुत अध्ययन मे चौथी गाथा से लेकर चौदहवी गाथा तक ज्ञानयोग का प्रतिपादन है। पन्द्रहवी गाथा से लेकर इकतीसवी गाथा तक श्रद्धायोग का निरूपण है। बत्तीसवी गाथा से लेकर चौतीसवीं गाथा तक कर्मयोग का विश्लेषण है। ज्ञान से तत्त्व को जानो, दर्शन से उस पर श्रद्धा करो, चारित्र से आश्रव का निरुधन करो एव तप से कर्मों का विशोधन करो। इस तरह इस अध्ययन मे चार मार्गों का निरूपण कर उसे आत्मशोधन का प्रशस्त-पथ कहा है। इसी पथ पर चलकर जीव शिवत्व को प्राप्त कर सकता है। कर्ममुक्त हो सकता है।

सम्यक्त्व : विश्लेषण

उनतीसवाँ अध्ययन सम्यक्त्व-पराक्रम है। जो साधक सम्यक्त्व मे पराक्रम करते हैं, वे ही सही दिशा की ओर अग्रसर होते है। सम्यक्त्व के कारण ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सम्यक्त्व और सम्यक्दर्शन इन दोनो शब्दो का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है।[255] पर सामान्य रूप से सम्यक्दर्शन और सम्यक्त्व ये दोनो एक ही अर्थ मे व्यवहृत होते रहे हैं। सम्यक्त्व यथार्थता का परिचायक है। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि भी है।[256] इस अर्थ मे सम्यक्त्व, सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। सम्यक्त्व

२५१ सुत्तनिपात १०/२
२५२. सुत्तनिपात १०।४
२५३ "सद्दहानो लभते पञ्ञं" —सुत्तनिपात १०।६
२५४ गीता १०।३०
२५५. विशेषावश्यकभाष्य १८७-९०
२५६ अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५.

मुक्ति का अधिकार-पत्र है। आचारांग मे सम्यग्दृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा—सम्यक्दृष्टि पाप का आचरण नहीं करता[257]। सूत्रकृतांग सूत्र मे कहा गया है—जो व्यक्ति विज्ञ हैं, भाग्यवान् है, पराक्रमी है पर यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फल की आकांक्षा वाला होने से अशुद्ध होता है।[258] अशुद्ध होने से वह मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ले जाता है। इसके विपरीत सम्यक्दृष्टि वीतरागदृष्टि से सम्पन्न होने के कारण उसका कार्य फल की आकाक्षा से रहित और शुद्ध होता है।[259] आचार्य शकर ने भी गीताभाष्य में स्पष्ट शब्दो में सम्यग्दर्शन के महत्त्व को व्यक्त करते हुए लिखा है—सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष ससार के बीज रूप, अविद्या आदि दोषो का उन्मूलन नही कर सकें, ऐसा कभी सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चित रूप से निर्वाण प्राप्त करता है।[260] अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से राग यानि विषयासक्ति का उच्छेद होता है और राग का उच्छेद होने से मुक्ति होती है।

सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। प्राण-रहित शरीर मुर्दा है, वैसे ही सम्यग्दर्शन-रहित साधना भी मुर्दा है। वह मुर्दे की तरह त्याज्य है। सम्यग्दर्शन जीवन को एक सही दृष्टि देता है, जिससे जीवन उत्थान की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति की जैसी दृष्टि होगी, वैसे ही उसके जीवन की सृष्टि होगी। इसलिए यथार्थ दृष्टिकोण जीवन-निर्माण की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्ययन मे उसी यथार्थ दृष्टिकोण को सलक्ष्य मे रखकर एकहत्तर प्रश्नोत्तरो के माध्यम से साधना-पद्धति का मौलिक निरूपण किया गया है। ये प्रश्नोत्तर इतने व्यापक हैं कि इनमें प्राय समग्र जैनाचार समा जाता है

तप : एक विहंगावलोकन—

तीसवे अध्ययन में तप का निरूपण है। सामान्य मानवो की यह धारणा है कि जैन परम्परा मे ध्यान-मार्ग या समाधि-मार्ग का निरूपण नही है। पर उनकी यह धारणा सत्य-तथ्य से परे है। जैसे योगपरम्परा मे अष्टांगयोग का निरूपण है, वैसे ही जैन-परम्परा में द्वादशाग तप का निरूपण है। तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर सम्यक् तप का गीता के ध्यानयोग और बौद्धपरम्परा के समाधिमार्ग मे अत्यधिक समानता है।

तप जीवन का ओज है, शक्ति है। तपोहीन साधना खोखली है। भारतीय आचारदर्शनो का गहराई से अध्ययन करने पर सूर्य के प्रकाश की भांति यह स्पष्ट होगा कि प्राय सभी आचार-दर्शनो का जन्म तपस्या की गोद में हुआ है। वे वही पले-पुसे और विकसित हुए हैं। अजित-केश कम्बलिन् घोर भौतिकवादी था। गोशालक एकान्त नियतिवादी था। तथापि वे तप-साधना मे सलग्न रहे। तो फिर अन्य विचार-दर्शनो मे तप का महत्त्व हो, इसमे शका का प्रश्न ही नहीं है। यह सत्य है कि तप के लक्ष्य और स्वरूप के सन्बन्ध मे मतैक्य का अभाव रहा है पर सभी परम्पराओ ने अपनी-अपनी दृष्टि से तप की महत्ता स्वीकार की है।

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" नामक ग्रन्थ मे लिखा है—भारतीय संस्कृति मे जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एव महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है . तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नही, किन्तु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है... ....प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे

२५७. "समत्तदंसी न करेइ पाव" —आचारांग।३।३।२.

२५८. सूत्रकृतांग १।८।२२-२३

२५९ सूत्रकृतांग १।८।२२-२३

२६०. गीता—शांकरभाष्य १८।१२

आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित हैं........उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि विद्या के क्षेत्र जीवन की साधना रूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं।''[२६१]

जैन तीर्थंकरों के जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट है—वे तप साधना के महान् पुरस्कर्ता थे। श्रमण भगवान् महावीर साधन-काल के साढे बारह वर्ष मे लगभग ग्यारह वर्ष निराहार रहे। उनका सम्पूर्ण साधनाकाल आत्मचिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग मे व्यतीत हुआ। उनका जीवन तप की जीती-जागती प्रेरणा है। जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। आत्मा का शुद्धीकरण है। तप का प्रयोजन है—प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग-थलग कर विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करना। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है[२६२], आबद्ध कर्मों का क्षय करने की पद्धति है।[२६३] तप से पाप-कर्मों को नष्ट किया जाता है। तप कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। किन्तु तप केवल कायक्लेश या उपवास ही नहीं, स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सभी तप के विभाग हैं। जैनदृष्टि से तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार हैं। बाह्य तप के अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता, ये छह प्रकार हैं। इनके धारण आचरण से देहाध्यास नष्ट होता है। देह की आसक्ति साधना का महान् विघ्न है। देहासक्ति से विलासिता और प्रमाद समुत्पन्न होता है, इसलिए जैन श्रमण का विशेषण 'वोसट्ठ-चत्तदेहे'' दिया गया है। बाह्य तप स्थूल है, वह बाहर से दिखलाई देता है जबकि आभ्यन्तर तप को सामान्य जनता तप के रूप मे नही जानती। तथापि उसमे तप का महत्त्वपूर्ण एव उच्च पक्ष निहित है। उसके भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह प्रकार हैं जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गये हैं।

वैदिक परम्परा मे भी तप की महत्ता रही है। वैदिक ऋषियो का आघोष है—तपस्या से ही ऋत और और सत्य उत्पन्न हुए[२६४]। तप मे ही वेद उत्पन्न हुए[२६५], तप से ही ब्रह्म की अन्वेषणा की जाती है,[२६६] तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाती है और तप से ही ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है,[२६७] तप से ही लोक मे विजय प्राप्त की जाती है।[२६८] मनु ने तो कहा है—तप से ही ऋषिगण त्रैलोक्य मे चराचर प्राणियो को देखते हैं।[२६९] इस विश्व मे जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर है, वह सब तपस्या से साध्य है, तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है।[२७०] महापातकी तथा निम्न आचरण करने वाले भी तप से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते हैं।[२७१]

---

२६१ ''बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन'' पृष्ठ ७१ ७२
२६२ उत्तराध्ययन २८-३५
२६३ उत्तराध्ययन २९।२७
२६४ ऋग्वेद १०।१९०।१
२६५ मनुस्मृति ११।२४३
२६६ मुण्डकोपनिषद् १।१।८
२६७. अथर्ववेद ११।३।५।१९
२६८ सत्पथब्राह्मण ३।४।४।२७
२६९ मनुस्मृति ११।२३७
२७०. मनुस्मृति ११।२३८
२७१. मनुस्मृति ११।२३९

बौद्ध साधना-पद्धति मे भी तप का उल्लेख हुआ है, पर बौद्ध धर्मावलम्बी मध्यममार्गी होने से जैन और वैदिक परम्परा की तरह कठोर आचार के अर्थ में वहा तप शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ तप का अर्थ है—चित्तशुद्धि का निरन्तर अभ्यास करना। बुद्ध ने कहा—तप, ब्रह्मचर्य आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मगल है।[२७२] दिट्ठठिविज्जसुत्त मे कहा—किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं तो उसे अवश्य करना चाहिए।[२७३] मज्झिमनिकाय—महासिहनादसुत्त में बुद्ध सारीपुत्त से अपनी उग्र तपस्या का विस्तृत वर्णन करते हैं।[२७४] सुत्तनिपात मे बुद्ध बिम्बिसार से कहते हैं—अब मैं तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ, उस मार्ग मे मेरा मन रमता है।[२७५] तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध भिक्षुओ मे धुत्त ग अर्थात् जंगलो मे रहकर विविध प्रकार की तपस्याए करने आदि का महत्त्व था। विसुद्धिमग्ग और मिलिन्दप्रश्न मे ऐसे धुत्त गो के ये सारे तथ्य बौद्ध धर्म के तप के महत्त्व को उजागर करते हैं।

जिस प्रकार जैन साधना मे तपश्चर्या का आभ्यन्तर और बाह्य तप के रूप मे वर्गीकरण हुआ है, वैसा वर्गीकरण बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो मे नही है। मज्झिमनिकाय कन्दरसुत्त मे एक वर्गीकरण है[२७६]—बुद्ध ने चार प्रकार के मनुष्य कहे—(1) आत्मन्तप और परन्तप (2) परन्तप और आत्मन्तप (3) जो आत्मन्तप भी और परन्तप भी (4) जो आत्मन्तप भी नही और परन्तप भी नही। यो विकीर्ण रूप से बौद्ध साहित्य मे तप के वर्गीकरण प्राप्त होते हैं किन्तु वे वर्गीकरण इतने सुव्यवस्थित नही है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे तप के तीन रूप मिलते हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक[२७७] और सात्विक राजस और तामस।[२७८] जो तप श्रद्धापूर्वक फल की आकांक्षा से रहित निष्काम भाव से किया जाता है, वह 'सात्विक' तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक स्वय को एव दूसरों को कष्ट देने के लिए किया जाता है वह 'तामस तप' है। और जो तप सत्कार, सन्मान तथा प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है, वह 'राजस' तप है।

प्रस्तुत अध्ययन मे जैन दृष्टि से तप का निरूपण किया गया है। तप ऐसा दिव्य रसायन है, जो शरीर और आत्मा के यौगिक भाव को नष्ट कर आत्मा को अपने मूल स्वभाव मे स्थापित करता है। अनादि-अनन्त काल के सस्कारो के कारण आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य-सा हो गया है। उसे तोड़े बिना मुक्ति नहीं होती। उसे तोडने का तप एक अमोघ उपाय है। उसका सजीव चित्रण इस अध्ययन मे हुआ है।

एकतीसवें अध्ययन मे श्रमणो की चरणविधि का निरूपण होने से इस अध्ययन का नाम भी चरणविधि है। चरण-चारित्र मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो रही हुई हैं। मन, वचन, काया के सम्यक् योग का प्रवर्तन समिति है। समिति मे यतनाचार मुख्य है। गुप्ति मे अशुभ योगो का निवर्तन है। यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नही है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रवृत्ति मे निवृत्ति और निवृत्ति मे प्रवृत्ति है। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति सयम है और अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति असंयम है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति से सयम सुरक्षित नही रह सकता, इसलिए साधक को अच्छी तरह से जानना चाहिए कि अविवेकयुक्त प्रवृत्तिया कौन सी हैं?

---

२७२ सुत्तनिपात १६।१०
२७३. अगुत्तरनिकाय दिट्ठठिविज्जसुत्त
२७४ मज्झिमनिकाय, महासिहनादसुत्त
२७५ सुत्तनिपात २७।२०
२६६. मज्झिमनिकाय, कन्दरसुत्त, पृष्ठ २०७-२१०
२७७ गीता १७।१४-१६
२७८. गीता १७।१७-१९

साधक को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की रागात्मक चित्त-वृत्ति से दूर रहना चाहिए। न वह हिंसक व्यापार करे, और न भय से भयभीत ही रहे। जिन क्रिया-कलापो से आश्रव होता है, वे क्रिया-स्थान हैं। श्रमण उन क्रिया-स्थानो से सदा अलग रहें। अविवेक से असंयम होता है और अविवेक से अनेक अनर्थ होते हैं। इसलिए श्रमण असंयम से सतत दूर रहें। साधना की सफलता व पूर्णता के लिए समाधि आवश्यक है, इसलिए असमाधि-स्थानो से श्रमण दूर रहे। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मार्ग मे स्थित रहता है, वह समाधि है। शबल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट होती है, चारित्र मलीन होने से करबूर हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं।[२७९] शबल दोषो का सेवन करने वाले श्रमण भी शबल कहलाते हैं। उत्तर गुणों मे अतिक्रमादि चारो दोषो का एव मूलगुणो मे अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषो का सेवन करने से चारित्र शबल होता है। जिन कारणो से मोह प्रबल होता है, उन मोह-स्थानो से भी दूर रह कर प्रतिपल-प्रतिक्षण साधक को धर्म-साधना मे लीन रहना चाहिए, जिससे वह ससार-चक्र से मुक्त होता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे इस प्रकार विविध विषयो का सकलन हुआ है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि छेदसूत्र के रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, जो भगवान् महावीर के अष्टम पट्टधर थे। उनका निर्वाण वीरनिर्वाण एक सौ सत्तर के लगभग हुआ है। उनके द्वारा निर्मित छेदसूत्रो का नाम प्रस्तुत अध्ययन की सत्तरहवीं और अठारहवी गाथा मे हुआ है। वे गाथाए इसमे कैसे आई ? यह चिन्तनीय है।

साधना का विघ्न प्रमाद

बत्तीसवें अध्ययन मे प्रमाद का विश्लेषण है। प्रमाद साधना मे विघ्न है। प्रमाद को निवारण किये बिना साधक जितेन्द्रिय नही बनता। प्रमाद का अर्थ है—ऐसी प्रवृत्तियाँ, जो साधना मे बाधा उपस्थित करती हैं, साधक की प्रगति को अवरुद्ध करती है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे प्रमाद के पाँच प्रकार बताये हैं[२८०]—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। स्थानाग मे प्रमाद-स्थान छह बताये है।[२८१] उसमे विकथा के स्थान पर द्यूत और छठा प्रतिलेखनप्रमाद दिया है। प्रवचनसारोद्धार मे[२८२] आचार्य नेमीचन्द्र ने प्रमाद के अज्ञान, सशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म मे अनादर, मन, वचन और काया का दुष्परिणाम, ये आठ प्रकार बताये है।

साधना की दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन मे विपुल सामग्री है। साधक को प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहने का सदेश दिया है। जैसे भगवान् ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक अप्रमत्त रहे, एक हजार वर्ष मे केवल एक रात्रि को उन्हें निद्रा आई थी। श्रमण भगवान् महावीर बारह वर्ष, तेरह पक्ष साधना-काल मे रहे। इतने दीर्घकाल मे केवल एक अन्तर्मुहूर्त्त निद्रा आई। भगवान् ऋषभ और महावीर ने केवल निद्रा-प्रमाद का सेवन किया था।[२८३] शेष समय वे पूर्ण अप्रमत्त रहे। वैसे ही श्रमणो को अधिक से अधिक अप्रमत्त रहना चाहिए।

---

२७९ समवायाग, अभयदेववृत्ति २१

२८० उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२०

२८१ स्थानांग ६, सूत्र ५०२

२८२ प्रवचनसारोद्धार, द्वार २०७ गाथा ११२२-११२३

२८३. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२३-५२४

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र-६२०

अप्रमत्त रहने के लिए साधक विषयो से उपरत रहे, आहार पर सयम रखे। दृष्टिसयम, मन, वचन और काया का सयम एव चिन्तन की पवित्रता अपेक्षित है। बहुत व्यापक रूप से अप्रमत्त रहने के सबध मे चिन्तन हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन मे आई हुई कुछ गाथाओ की तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता आदि के साथ की जा सकती है —

"न वा लभेज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुणओ सम वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो"

(उत्तराध्ययन-32।5)

तुलना कीजिए—

"सचे लभेथ निपक सहाय, सद्धि चर साधुविहारिधीर।
अभिभूय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥
नो चे लभेथ निपक सहाय, सद्धि चर साधुविहारिधीर।
राजाव रट्ठ विजित पहाय, एको चरे मातगरञ्ञे व नागो।
एकस्य चरित सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा।
अप्पोस्सुक्को मातगरञ्ञे व नागो॥ (धम्मपद, २३।९,१०,११)
"अद्धा पससाम सहायसपद सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो॥"

(सुत्तनिपात्त, उर ३।१३)

"जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुण विवागे॥" (उत्तराध्ययन-३२।२०)

तुलना कीजिए—

"त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसनिभम्।
नास्ति तात! सुख किञ्चिदत्र दुःखशताकुले॥" (शाकरभाष्य, श्वेता उप, पृष्ठ-२३)
"एविन्दियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख, न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥"

(उत्तराध्ययन-३२।१००)

तुलना कीजिए—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति॥" (गीता-२।६४)

कर्म:

तेतीसवे अध्ययन मे कर्म-प्रकृतियो का निरूपण होने के कारण "कर्मप्रकृति" के नाम से यह अध्ययन विश्रुत है। कर्म भारतीय दर्शन का चिर परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक सभी परम्पराओ ने कर्म को स्वीकार किया है। कर्म को ही वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', साख्य 'क्लेश', और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट'

कहते हैं। कितने ही दर्शन कर्म का सामान्य रूप से केवल निर्देश करते हैं तो कितने ही दर्शन कर्म के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन करते हैं। न्यायदर्शन की दृष्टि से अदृष्ट आत्मा का गुण है। श्रेष्ठ और निष्कृष्ट कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है। वह अदृष्ट है। जहाँ तक अदृष्ट का फल सम्प्राप्त नहीं होता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। इसका फल ईश्वर के द्वारा मिलता है।[२८४] यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म पूर्ण रूप से निष्फल हो जाएँ। सांख्यदर्शन ने कर्म को प्रकृति का विकार माना है।[२८५] उनका अभिमत है—हम जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ करते है, उनका संस्कार प्रकृति पर पडता है और उन प्रकृति के संस्कारों से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म कहा है। यही कार्यकारण भाव के रूप मे सुख-दुख का हेतु है। जैनदर्शन ने कर्म को स्वतंत्र पुद्गल तत्त्व माना है। कर्म अनन्त पौद्गलिक परमाणुओं के स्कन्ध हैं। सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। जीवात्मा की जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके कारण वे आत्मा के साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बंध अवस्था कहलाती है। बंधने के पश्चात् उनका परिपाक होता है। परिपाक के रूप मे उनसे सुख, दुःख के रूप मे या आवरण के रूप मे फल प्राप्त होता है। अन्य दार्शनिको ने कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएं बताई हैं। वे जैनदर्शन के बंध, सत्ता और उदय के अर्थ को ही अभिव्यक्त करती हैं। कर्म के कारण ही जगत् की विभक्ति[२८६] विचित्रता[२८७] और समान साधन होने पर भी फल-प्राप्ति मे अन्तर रहता है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, ये चार भेद है। कर्म का नियत समय से पूर्व फल प्राप्त होना 'उदीरणा' है, कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना 'उद्वर्तन' है, कर्म की स्थिति और विपाक मे कमी होना 'अपवर्तन' है और कर्म की सजातीय प्रकृतियो का एक दूसरे के रूप मे परिवर्तन होना 'संक्रमण' है। कर्म का फलदान 'उदय' है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हे अक्षम बना देना 'उपशम' है। दूसरे शब्दो मे कहे तो कर्म की वह अवस्था जिसमे उदय और उदीरणा सम्भव नही है वह 'उपशम' है। जिसमे कर्मों का उदय और संक्रमण नही हो सके किन्तु उद्वर्तन और अपवर्तन की सम्भावना हो, वह 'निधत्ति' है। जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारो अवस्थाओं का अभाव हो, वह 'निकाचित' अवस्था है। कर्म बन्धने के पश्चात् अमुक समय तक फल न देने की अवस्था का नाम 'अबाधाकाल' है। जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है, उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है। कर्मों की इन प्रक्रियाओं का जैसा विश्लेषण जैन साहित्य मे हुआ है, वैसा विश्लेषण अन्य साहित्य मे नही हुआ। योगदर्शन मे नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवापगमन के रूप मे कर्म की त्रिविध अवस्था का निरूपण है। जो नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, वह 'नियतविपाकी' है। जो कर्म बिना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाता है, वह 'अनियतविपाकी' है। एक कर्म का दूसरे मे मिल जाना 'आवापगमन' है।

जैनदर्शन की कर्म-व्याख्या विलक्षण है। उसकी दृष्टि से कर्म पौद्गलिक हैं। जब जीव शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति मे प्रवृत्त होता है तब वह अपनी प्रवृत्ति से उन पुद्गलो को आकर्षित करता है। वे आकृष्ट पुद्गल आत्मा के सन्निकट अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। वे 'कर्म' कहलाते है। यद्यपि कर्मवर्गणा के पुद्गलो मे कोई स्वभाव भिन्नता नही होती पर जीव के भिन्न भिन्न अध्यवसायो के कारण कर्मों की प्रकृति और स्थिति

२८४ "ईश्वर कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्" —न्यायसूत्र-४।१

२८५ 'अन्तर करणधर्मत्व धर्मादीनाम्' —साख्यसूत्र, ५।२५

२८६ भगवती—१२।१२०.

२८७ 'कर्मज लोकवैचित्र्य चेतना मानसं च तत्।' —अभिधर्मकोश—४।१

मे भिन्नता आती है। कर्मों की मूल आठ प्रकृतियाँ है। उन प्रकृतियो की अनेक उत्तर प्रकृतियाँ है। प्रत्येक कर्म की पृथक्-पृथक् स्थिति है। स्थितिकाल पूर्ण होने पर वे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मे कर्मों की प्रकृतियो का और उनके अवान्तर भेदो का निरूपण हुआ है। कर्म के सम्बन्ध मे हमने विपाक सूत्र की प्रस्तावना मे विस्तार से लिखा है, अत जिज्ञासु इस सम्बन्ध मे उसे देखने का कष्ट करे।

लेश्या : एक विश्लेषण—

चौतीसवे अध्ययन मे लेश्याओ का निरूपण है। इसीलिए इसका नाम "लेश्या-अध्ययन" है। उत्तराध्ययन नियुँक्ति मे इस अध्ययन का विषय कर्म-लेश्या कहा है।[२८८] कर्मबन्ध के हेतु रागादि भावकर्म लेश्या है। जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त को समझने मे लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते है। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलो के अनेक समूह हैं। उनमे से एक समूह का नाम 'लेश्या' है। वादिवेताल शान्तिसूरि ने लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[२८९] आचार्य शिवार्य ने लिखा है—लेश्या छाया-पुद्गलो से प्रभावित होने वाले जोव के परिणाम हैं।[२९०] प्राचीन जैन-साहित्य मे शरीर के वर्ण, आणविक आभा, और उनसे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों मे लेश्या पर चिन्तन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने शरीर का वर्ण और आणविक आभा को द्रव्य-लेश्या माना है।[२९१] आचार्य भद्रबाहु का भी यही अभिमत है।[२९२] उन्होंने विचार को भाव-लेश्या कहा है। द्रव्य-लेश्या पुद्गल है। इसलिए उसे वैज्ञानिक साधनो के द्वारा भी जाना जा सकता है। द्रव्य-लेश्या के पुद्गलो पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है।

जिसके सहयोग से आत्मा कर्म मे लिप्त होता है वह 'लेश्या' है।[२९३] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दो मे कहा जाए तो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।[२९४] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है। आचार्य पूज्यपाद ने कषायो के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[२९५] आचार्य अकलक ने भी उसी परिभाषा का अनुसरण किया है।[२९६] सक्षेप मे कहा जाए तो कषाय और योग लेश्या नही है, पर वे उसके कारण है। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न योग मे किया जा सकता है और न कषाय मे। कषाय और योग के सयोग से एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे—दही और शक्कर के सयोग से श्रीखण्ड तैयार होता है। कितने ही आचार्यों का

२८८ "अहिगारो कम्मलेसाए" —उत्तराध्ययन नियुँक्ति, गाथा—५४१

२८९ लेशयति श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया"।
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

२९०. मूलाराधना ७।१९०७

२९१ (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
(ख) उत्तराध्ययन नियुँक्ति गाथा-५३९

२९२ उत्तराध्ययन नियुँक्ति, गाथा ५४०

२९३ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८९

२९४. षट्खण्डागम, धवलावृत्ति ७।२।१, सूत्र ३, पृष्ठ ७

२९५ तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि २।६

२९६ तत्त्वार्थराजवार्तिक २।६।८, पृष्ठ १०९

अभिमत है कि लेश्या मे कषाय की प्रधानता नही होती किन्तु योग की प्रधानता होती है। केवलज्ञानी मे कषाय का पूर्ण अभाव है पर योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमे शुक्ल लेश्या है। उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्तिसूरि का मन्तव्य है कि द्रव्यलेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है।[297] यह द्रव्यलेश्या कर्मरूप है। तथापि यह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे—कार्मण शरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा-निष्पन्न माना जाए तो वह कर्मस्थिति-विधायक नही बन सकती। कर्मलेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलो से है। उसकी एक प्रकृति शरीरनामकर्म है। शरीरनामकर्म के एक प्रकार के पुद्गलो का समूह कर्मलेश्या है।[298] द्वितीय मान्यता की दृष्टि से लेश्या द्रव्य कर्म निस्यन्द है। निस्यन्द का अर्थ बहते हुए कर्म प्रवाह से है। चौदहवे गुणस्थान मे कर्म की सत्ता है, प्रवाह है पर वहा लेश्या नही है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नही होता। कषाय और योग से कर्मबन्धन होता है। कषाय होने पर चारो प्रकार के बध होते हैं। प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध योग से है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से। केवल योग मे स्थिति और अनुभाग बन्ध नही होता, जैसे तेरहवे गुणस्थानवर्ती अरिहन्तो के ऐर्यापथिक बन्ध होता है, किन्तु स्थिति, और अनुभाग बन्ध नही होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुत कर्म पुद्गल ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नही है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्याद्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य हैं। बिना योग के लेश्या नही होती। लेश्या और योग मे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रश्न उठता है—क्या लेश्या को योगान्तर्गत मानना चाहिए ? या योगनिमित्त द्रव्यकर्म रूप ? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातीकर्मद्रव्य रूप है अथवा अघातिकर्मद्रव्य रूप है ? लेश्या घातीकर्मद्रव्य रूप नही है, क्योकि घातिकर्म नष्ट हो जाने पर भी लेश्या रहती है। यदि लेश्या को अघातिकर्मद्रव्य स्वरूप माने तो चौदहवे गुणस्थान मे अघाति कर्म विद्यमान रहते हैं पर वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग-द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्यस्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायो मे अभिवृद्धि होती है क्योकि योगद्रव्य मे कषाय-अभिवृद्धि करने की शक्ति है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते है। जिस व्यक्ति को पित्त-विकार हो उसका क्रोध सहज रूप से बढ जाता है। ब्राह्मी वनस्पति का सेवन ज्ञानावरण कर्म को कम करने मे सहायक है। मदिरापान करने से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही का उपयोग करने से निद्रा मे अभिवृद्धि होती है। निद्रा दर्शनावरण कर्म का औदयिक फल है। अत स्पष्ट है कषायोदय से अनुरजित योगप्रवत्ति ही [लेश्या] स्थितिपाक मे सहायक होती है।[299]

गोम्मटसार मे आचार्य नेमिचन्द्र ने योगपरिणाम लेश्या का वर्णन किया है।[300] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे[301] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड मे[302] कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा

२९७ "कर्मद्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या। कार्मणशरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति तत्त्व पुन।"
—उत्तरा अ ३४ टी, पृष्ठ ६५०

२९८. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-३४ टीका, पृष्ठ ६५० शान्तिसूरि

२९९ प्रज्ञापना १७, टीका, पृष्ठ ३३०

३००. गोम्मटसार, जीवकाण्ड ५३१

३०१. "भावलेश्या कषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते"। —सर्वार्थसिद्धि अ २, सू २

३०२. "जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होदि।
तत्तो दोण्णं कज्ज बन्धचउक्क समुद्दिट्ठ॥ —जीवकाण्ड, ४८९

है। इस परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषाओ से विरुद्ध नही है।

भगवती, प्रज्ञापना और पश्चाद्वर्ती साहित्य मे लेश्या पर व्यापक रूप से चिन्तन किया गया है। विस्तार-भय से हम उन सभी पहलुओ पर यहाँ चिन्तन नही कर रहे है। पर यह निश्चित है कि जैन मनीषियो ने लेश्या का वर्णन किसी सम्प्रदाय विशेष से नही लिया है। उसका यह अपना मौलिक चिन्तन है।[303] प्रस्तुत अध्ययन मे सक्षेप मे कर्मलेश्या के नाम, वर्ण, रस, गध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया है। इन सभी पहलुओ पर श्यामाचार्य ने विस्तार से प्रज्ञापना मे लिखा है। व्यक्ति के जीवन का निर्माण उसके अपने विचारो से होता है। वह अपने को जैसा चाहे, बना सकता है। बाह्य जगत् का प्रभाव आन्तरिक जगत् पर होता है और आन्तरिक जगत् का प्रभाव बाह्य जगत् पर होता है। वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पुद्गल से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल प्रभावित होता है। दोनो का परस्पर प्रभाव ही प्रभा है, आभा है, कान्ति है, और वही आगम की भाषा मे लेश्या है।

अनगार धर्म : एक चिन्तन

पैतीसवें अध्ययन मे अनगारमार्गगति का वर्णन है। केवल गृह का परित्याग करने से अनगार नही होता, अनगारधर्म एक महान् धर्म है। अत्यन्त सतर्क और सजग रहकर इस धर्म की आराधना और साधना की जाती है। केवल बाह्य सग का त्याग ही पर्याप्त नही है। भीतर से असग होना आवश्यक है। जब तक देह आदि के प्रति रागादि सम्बन्ध रहता है तब तक साधक भीतर से असग नही बन सकता। इसीलिए एक जैनाचार्य ने लिखा है— "कामाना हृदये वास ससार इति कीर्त्यते" "जिस हृदय मे कामनाओ का वास है, वहाँ ससार है" अनगार कामनाओ से ऊपर उठा हुआ होता है, इसीलिए वह असग होता है। सग का अर्थ लेप या आसक्ति है। प्रस्तुत अध्ययन मे उसके हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म-सेवन, इच्छा-काम, लोभ, ससक्त स्थान, गृहनिर्माण, अन्नपाक, धनार्जन की वृत्ति, प्रतिबद्ध-भिक्षा, स्वादवृत्ति और पूजा की अभिलाषा, ये तेरह प्रकार बताए है इन वृत्तियो से जो असग होता है वही श्रमण है। श्रमणो के लिए इस अध्ययन मे कहा गया है कि मुनि धर्म और शुक्लध्यान का अभ्यास करे साथ ही "सुक्कज्झाण झियाएज्जा" अर्थात् शुक्लध्यान मे रमण करे। जब तक अनगार जीए तब तक असग जीवन जीए और जब उसे यह ज्ञात हो कि मेरी मृत्यु सन्निकट आ चुकी है तो आहार का परित्याग कर अनशनपूर्वक समाधि-मरण को वरण करे। जीवन-काल मे देह के प्रति जो आसक्ति रही हो उसे शनै शनै कम करने का अभ्यास करे। देह को साधना का साधन मानकर देह के प्रतिबन्ध से मुक्त हो। यही अनगार का मार्ग है। अनगार दु ख के मूल को नष्ट करता है। वह साधना के पथ पर बढते समय श्मशान, शून्यागार तथा वृक्ष के नीचे भी निवास करता है। जहाँ पर शीत आदि का भयकर कष्ट उसे सहन करना पडता है, वहाँ पर उसे वह कष्ट नही मानकर इन्द्रिय-विजय का मार्ग मानता है। अहिसा धर्म की अनुपालना के लिए वह भिक्षा आदि के कष्ट को भी सहर्ष स्वीकार करता है। इस तरह इस अध्ययन मे अनगार से सम्बन्धित विपुल सामग्री दी गई है।

जीव-अजीव : एक पर्यवेक्षण

छत्तीसवें अध्ययन मे जीव और अजीव के विभागो का वर्णन है। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। अन्य जितने भी पदार्थ है, वे इनके अवान्तर विभाग है। जैन दृष्टि से द्रव्य आत्म-केन्द्रित है। उसके अस्तित्व का स्रोत किसी अन्य केन्द्र से प्रवहमान नही है। जितना वास्तविक और स्वतन्त्र चेतन द्रव्य है, उतना ही वास्तविक और स्वतन्त्र अचेतन तत्त्व है। चेतन और अचेतन का विस्तृत रूप ही यह जगत् है।

---

३०३ देखिए लेखक का प्रस्तुत ग्रन्थ—"चिन्तन के विविध आयाम"। —'लेश्या एक विश्लेषण लेख'

न चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है और न अचेतन से चेतन। इस दृष्टि से जगत् अनादि अनन्त है। यह परिभाषा द्रव्यस्पर्शी नय के आधार पर है। रूपान्तरस्पर्शी नय की दृष्टि से जगत् सादि सान्त भी है। यदि द्रव्यदृष्टि से जीव अनादि-अनन्त हैं तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्यायो की दृष्टि से वह सादि सान्त भी हैं। उसी प्रकार अजीव द्रव्य भी अनादि अनन्त है। पर उसने भी प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इस तरह अवस्था विशेष की दृष्टि से वह सादि सान्त है। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि असत् से सत् कभी उत्पन्न नही होता। इस जगत् में नवीन कुछ भी उत्पन्न नही होता। जो द्रव्य जितना वर्तमान मे है, वह भविष्य मे भी उतना ही रहेगा और अतीत में भी उतना हो था। रूपान्तरण की दृष्टि से ही उत्पाद और विनाश होता है। यह रूपान्तरण ही सृष्टि का मूल है।

अजीव द्रव्य के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय, क्रमश गति, स्थिति, अवकाश, परिवर्तन, सयोग और वियोगशील तत्त्व पर आधृत हैं। मूर्त और अमूर्त का विभाग शतपथ-ब्राह्मण[३०४], बृहदारण्यक[३०५] और विष्णुपुराण[३०६] मे हुआ है। पर जैन आगम-साहित्य मे मूर्त और अमूर्त के स्थान पर रूपी और अरूपी शब्द अधिक मात्रा मे व्यवहृत हुए है। जिस द्रव्य मे वर्ण, रस, गध और स्पर्श हो वह रूपी है और जिस मे इनका अभाव हो, वह अरूपी है। पुद्गल द्रव्य को छोडकर शेष चार द्रव्य अरूपी हैं।[३०७] अरूपी द्रव्य जन सामान्य के लिए अगम्य हैं। उनके लिए केवल पुद्गल द्रव्य गम्य है। पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार प्रकार हैं। परमाणु पुद्गल का सबसे छोटा विभाग है। इससे छोटा अन्य विभाग नही हो सकता। स्कन्ध उनके समुदाय का नाम है। देश और प्रदेश ये दोनो पुद्गल के काल्पनिक विभाग हैं। पुद्गल की वास्तविक इकाई परमाणु है। परमाणु रूपी होने पर भी सूक्ष्म होते हैं। इसलिए वे दृश्य नही हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म स्कन्ध भी दृग्गोचर नही होते।

आगम-साहित्य मे परमाणुओ की चर्चा बहुत विस्तार के साथ की गई है। जैनदर्शन का मन्तव्य है—इस विराट् विश्व मे जितना भी सायोगिक परिवर्तन होता है, वह परमाणुओ के आपसी सयोग-वियोग और जीव-परमाणुओ के सयोग-वियोग से होता है। 'भारतीय सस्कृति' ग्रन्थ मे शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—''परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की ही विशेषता है। उसका आरम्भ-प्रारम्भ उपनिषदो से होता है। जैन आजीवक आदि के द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया।''[३०८] पर शिवदत्त ज्ञानी का यह लिखना पूर्ण प्रामाणिक नही है, क्योकि उपनिषदो का मूल परमाणु नही, ब्रह्मविवेचन है। डॉ हर्मन जैकोबी ने परमाणु सिद्धान्त के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए लिखा है—'हम जैनो को प्रथम स्थान देते हैं, क्योकि उन्होने पुद्गल के सम्बन्ध मे अतीव प्राचीन मतो के आधार पर अपनी पद्धति को संस्थापित किया है।[३०९] हम यहाँ अधिक विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही यह बताना चाहते हैं कि अजीव द्रव्य का जैसा निरूपण जैन दर्शन मे व्यवस्थित रूप से हुआ है, वैसा अन्य दर्शनो मे नही हुआ।

---

३०४ शतपथब्राह्मण १४।५।३।१

३०५ बृहदारण्यक २।३।१

३०६. विष्णुपुराण

३०७ उत्तराध्ययन सूत्र ३६।४

३०८ भारतीय सस्कृति, पृष्ठ २२९

३०९ एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृष्ठ १९९-२००

अजीव की तरह जीवों के भी भेद-प्रभेद किये गये है। वे विभिन्न आधारो से हुए हैं। एक विभाजन काय को आधार मानकर किया गया है, वह है—स्थावरकाय और त्रसकाय। जिनमे गमन करने की क्षमता का अभाव है, वह स्थावर हैं। जिनमें गमन करने की क्षमता है, वह त्रस हैं। स्थावर जीवो के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये पाच विभाग हैं। तेज और वायु एकेन्द्रिय होने तथा स्थावर नाम कर्म का उदय होने से स्थावर होने पर भी गति-त्रस भी कहलाते हैं। प्रत्येक विभाग के सूक्ष्म और स्थूल ये दो विभाग किये गये है। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और स्थूल जीव लोक के कुछ भागो मे होते हैं। स्थूल पृथ्वी के मृदु और कठिन ये दो प्रकार है। मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं तो कठिन पृथ्वी के छत्तीस प्रकार है। स्थूल जल के पाच प्रकार है, स्थूल वनस्पति के प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर ये दो प्रकार हैं। जिनके एक शरीर मे एक जीव स्वामी रूप मे होता है, वह प्रत्येकशरीर है। जिसके एक शरीर मे अनन्त जीव स्वामी रूप मे होते हैं, वे साधारणशरीर है। प्रत्येकशरीर वनस्पति के बारह प्रकार हैं तो साधारणशरीर वनस्पति के अनेक प्रकार है।

त्रस जीवो के इन्द्रियो की अपेक्षा द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये चार प्रकार हैं।[३१०] द्वि-इन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करते हैं। वे आगे भी बढते हैं तथा पीछे भी हटते है। सकुचित होते हैं, फैलते हैं, भयभीत होते है, दौडते है। उनमे गति और आगति दोनो होती है। वे सभी त्रस है। द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिमज होते हैं। पचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिमज और गर्भज ये दोनो प्रकार के होते हैं। गति की दृष्टि से पचेन्द्रिय के नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार प्रकार है। पचेन्द्रिय तिर्यंच के जलचर, स्थलचर, खेचर ये तीन प्रकार हैं।[३११] जलचर के मत्स्य, कच्छप आदि अनेक प्रकार हैं। स्थलचर की चतुष्पद और परिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ हैं।[३१२] चतुष्पद के एक खुर वाले, दो खुर वाले, गोल पैर वाले, नख सहित पैर वाले, ये चार प्रकार है। परिसर्प की भुजपरिसर्प, उरपरिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ है। खेचर की चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी ये चार मुख्य जातियाँ है।

जीव के ससारी और सिद्ध ये दो प्रकार भी है। कर्मयुक्त जीव ससारी और कर्ममुक्त सिद्ध है। सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तप से जीव कर्म बन्धनों से मुक्त बनता है। सिद्ध जीव पूर्ण मुक्त होते हैं, जब कि ससारी जीव कर्ममुक्त होने के कारण नाना रूप धारण करते रहते है।

षट् द्रव्यो मे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही सक्रिय है, शेष चारो द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल ये दोनो द्रव्य कथचित् विभाव रूप मे परिणमते है। शेष चारो द्रव्य सदा-सर्वदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीनों द्रव्य सख्या की दृष्टि से एक-एक है। काल द्रव्य असख्यात है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यो मे सकोच और विस्तार होता है किन्तु शेष चार द्रव्यो मे सकोच और विस्तार नही होता। आकाशद्रव्य अखण्ड होने पर भी उसके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो विभाग किए गए हैं। जिसमे धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल ये पाँच द्रव्य रहते हैं, वह आकाशखण्ड लोकाकाश है। जहाँ इनका अभाव है, सिर्फ आकाश ही है वह अलोकाकाश है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सदा लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं, जबकि अन्य द्रव्यों की वैसी स्थिति नही है।

पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध ये दो प्रकार है। अणु का अवगाह्य क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है और स्कन्धो की कोई नियत सीमा नही है। दोनो प्रकार के पुद्गल अनन्त-अनन्त है।[३१३]

---

३१० उत्तराध्ययन सूत्र ३६।१०७-१२६
३११ उत्तराध्ययन ३६।१७१
३१२ उत्तराध्ययन ३६।१७९
३१३ आचाराग १।९।१।१४

कालद्रव्य द्रव्यों के परिवर्तन मे सहकारी होता है। समय, पल, घड़ी, घंटा, मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेदों को लेकर वह भी आदि अन्त सहित है। द्रव्य की अपेक्षा अनादिनिधन है।

प्रज्ञापना[३१४] तथा जीवाजीवाभिगम[३१५] सूत्रो में विविध दृष्टियो से जीव और अजीव के भेद-प्रभेद किये गये हैं। हमने यहाँ पर प्रस्तुत आगम मे आये हुए विभागो को लेकर ही संक्षेप मे चिन्तन किया है। प्रस्तुत अध्ययन के अन्त मे समाधिमरण का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। इस तरह यह आगम ज्ञान-विज्ञान व अध्यात्म-चिन्तन का अक्षय कोश है।

व्याख्यासाहित्य :—

उत्तराध्ययननिर्युक्ति—

मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने समय-समय पर व्याख्या-साहित्य का निर्माण किया है। जैसे वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघटु भाष्य रूप निर्युक्ति लिखी वैसे ही आचार्य भद्रबाहु ने जैन आगमो के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के लिए प्राकृत भाषा में निर्युक्तियो की रचना की। आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियो की रचना की। उनमे उत्तराध्ययन पर भी एक निर्युक्ति है। इस निर्युक्ति मे छह सौ सात गाथाएँ हैं। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दो का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है और अनेक शब्दो के विविध पर्याय भी दिये हैं। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन शब्द की परिभाषा करते हुए उत्तर पद का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, दिशा, ताप-क्षेत्र, प्रज्ञापक, प्रति, काल, सचय, प्रधान, ज्ञान, क्रम, गणना और भाव इन पन्द्रह निक्षेपो से चिन्तन किया है।[३१६] उत्तर का अर्थ क्रमोत्तर किया है।[३१७]

निर्युक्तिकार ने अध्ययन पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार द्वारो से 'अध्ययन' पर प्रकाश डाला है। प्राग् बद्ध और बध्यमान कर्मों के अभाव से आत्मा को जो अपने स्वभाव मे ले जाना है, वह अध्ययन है। दूसरे शब्दो मे कहे तो—जिससे जीवादि पदार्थो का अधिगम है या जिससे अधिक प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वह अध्ययन है।[३१८] अनेक भवो से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्म-रज का जिससे क्षय होता है, वह भावाध्ययन है। निर्युक्ति मे पहले पिण्डार्थ और उसके पश्चात् प्रत्येक अध्ययन की विशेष व्याख्या की गई है। प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत है। श्रुत का भी नाम आदि चार निक्षेपो से विचार किया है। निह्नव आदि द्रव्यश्रुत हैं और जो श्रुत मे उपयुक्त है वह भावश्रुत है। संयोग शब्द की भी विस्तार से व्याख्या की है। सयोग सम्बन्ध ससार का कारण है। उससे जीव कर्म मे आबद्ध होता है। उस सयोग से मुक्त होने पर ही वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है।[३१९]

---

३१४ प्रज्ञापना, प्रथम पद
३१५ जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-९
३१६ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १
३१७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३
३१८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५ व ७
३१९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२

द्वितीय अध्ययन मे परीषह पर भी निक्षेप दृष्टि से विचार है। द्रव्य निक्षेप आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है। नो-आगम परीषह, ज्ञायक-शरीर, भव्य और तद् व्यतिरिक्त इस प्रकार तीन प्रकार का है। कर्म और नोकर्म रूप से द्रव्य परीषह के दो प्रकार हैं। नोकर्म रूप द्रव्य परीषह सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से तीन प्रकार के है। भाव परीषह मे कर्म का उदय होता है। उसके कुत, कस्य, द्रव्य, समवतार, अध्यास, नय, वर्तना, काल, क्षेत्र, उद्देश, पृच्छा, निर्देश और सूत्रस्पर्श ये तेरह द्वार हैं।[320] क्षुत् पिपासा की विविध उदाहरणो के द्वारा व्याख्या की है। तृतीय अध्ययन मे चतुरगीय शब्द की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की है और अग का भी नामाङ्ग, स्थापनाङ्ग, द्रव्याङ्ग और भावाङ्ग के रूप मे चिन्तन करते हुए द्रव्याङ्ग के गधाङ्ग, औषधाङ्ग, मद्याङ्ग, आतोद्याङ्ग, शरीराङ्ग और युद्धाङ्ग ये छह प्रकार बताये है। गधाङ्ग के जमदग्नि जटा, हरेणुका, शबर निवसनक (तमालपत्र), सपिन्निक, मल्लिकावासित, औसीर, ह्रूबेर, भद्रदारु, शतपुष्पा, आदि भेद है। इनसे स्नान और विलेपन किया जाता था।

औषधाङ्ग गुटिका मे पिण्डदारु, हरिद्रा, माहेन्द्रफल, सुण्ठी, पिप्पली, मरिच, आर्द्रक, बिल्वमूल और पानी ये अष्ट वस्तुएँ मिली हुई होती है। इससे कण्डू, तिमिर, अर्द्ध शिरोरोग, पूर्ण शिरोरोग, तात्तीरीक, चातुर्थिक, ज्वर, मूषकदश, सर्पदश शीघ्र ही नष्ट हो जाते है[321]। द्राक्षा के सोलह भाव, धातकीपुष्प के चार भाग, एक आढक इक्षुरस इनसे मद्याङ्ग बनता है। एक मुकुन्दातुर्य, एक अभिमारदारुक, एक शाल्मली पुष्प, इनके बध से पुष्पोन्मिश्र बाल बध विशेष होता है। सिर, उदर, पीठ, बाहु, उरु, ये शरीराङ्ग है। युद्धाङ्ग के भी यान, आवरण, प्रहरण, कुशलत्व, नीति, दक्षत्व, व्यवसाय, शरीर, आरोग्य ये नौ प्रकार बताये गये हैं। भावाङ्ग के श्रुताङ्ग और नोश्रुताङ्ग ये दो प्रकार है। श्रुताङ्ग के आचार आदि बारह प्रकार हैं। नोश्रुताग के चार प्रकार है। ये चार प्रकार ही चतुरगीय के रूप मे विश्रुत है। मानव भव की दुर्लभता विविध उदाहरणो के द्वारा बताई गई है। मानव भव प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है। और उस पर श्रद्धा करना और भी कठिन है। श्रद्धा पर चिन्तन करते हुए जमालि आदि सात निह्नवो का परिचय दिया गया है।[322]

चतुर्थ अध्ययन का नाम असस्कृत है। प्रमाद और अप्रमाद दोनो पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया गया है। जो उत्तरकरण से कृत अर्थात् निर्वर्तित है, वह सस्कृत है। शेष असस्कृत हैं। करण का भी नाम आदि छह निक्षेपो से विचार है। द्रव्यकरण के सज्ञाकरण, नोसज्ञाकरण ये दो प्रकार हैं। सज्ञाकरण के कटकरण, अर्थकरण और वेलुकरण ये तीन प्रकार है। नोसज्ञाकरण के प्रयोगकरण और विस्रसाकरण ये दो प्रकार है। विस्रसाकरण के सादिक और अनादिक ये दो भेद हैं। अनादि के धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन प्रकार है। सादिक के चतुस्पर्श, अचतुस्पर्श ये दो प्रकार हैं। इस प्रकार प्रत्येक के भेद-प्रभेद करके उन सभी की विस्तार से चर्चा करते हैं। इस निर्युक्ति मे यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये है। जैसे—गधार, श्रावक, तोसलीपुत्र, स्थूलभद्र, स्कन्दकपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र, आदि। निह्नवो के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। भद्रबाहु के चार शिष्यो का राजगृह के वैभार पर्वत की गुफा मे शीत परीषह से और मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरो के घोर उपसर्ग से कालगत होने का उल्लेख भी है। इसमे अनेक उक्तियाँ सूक्तियो के रूप में हैं। उदाहरण के रूप मे देखिए—

---

३२०. उत्तराध्ययनं निर्युक्ति, गाथा ६५ से ६८ तक।

३२१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४९-१५०

३२२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५९-१७८

"राई सरिसवमित्ताणिं परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासतोऽवि न पाससि॥"

"तू राई के बराबर दूसरो के दोषो को तो देखता है पर बिल्व जितने बडे स्वय के दोषो को देखकर भी नही देखता है।"

"सुहिओ हु जणो न बुज्झई"—सुखी मनुष्य प्राय जल्दी नही जाग पाता।

"भावमि उ पव्वज्जा आरम्भपरिग्गहच्चाओ"—हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुत भावप्रव्रज्या है।

उत्तराध्ययन-भाष्य—

निर्युक्तियो की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ और सक्षिप्त थी। निर्युक्तियो का लक्ष्य केवल पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना था। निर्युक्तियो के गुरु गम्भीर रहस्यो को प्रकट करने के लिए भाष्यो का निर्माण हुआ। भाष्य भी प्राकृत भाषा मे ही पद्य रूप मे लिखे गये। भाष्यो मे अनेक स्थलो पर मागधी और सौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनमे मुख्य छन्द आर्या है। उत्तराध्ययनभाष्य स्वतत्र ग्रन्थ के रूप मे उपलब्ध नही है। शान्तिसूरिजी की प्राकृत टीका मे भाष्य की गाथाएँ मिलती हैं। कुल गाथाएँ ४५ है। ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य भाष्यो की गाथाओ के सदृश इस भाष्य की गाथाएँ भी निर्युक्ति के पास मिल गई हैं। प्रस्तुत भाष्य मे बोटिक की उत्पत्ति, पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक आदि निर्ग्रन्थो के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

उत्तराध्ययनचूर्णि—

भाष्य के पश्चात् चूर्णि साहित्य का निर्माण हुआ। निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं तो चूर्णि गद्यात्मक है। चूर्णि मे प्राकृत और सस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन चूर्णि उत्तराध्ययन निर्युक्ति के आधार पर लिखी गई है। इसमे सयोग, पुद्गल बध, सस्थान, विनय, क्रोधावारण, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थ-पचक, भयसप्तक, ज्ञान-क्रिया एकान्त, प्रभृति विषयो पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला है। चूर्णिकार ने विषयो को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थो के उदाहरण भी दिए हैं। उन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वय को वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखी, गोपालगणी महत्तर का अपने आपको शिष्य कहा है।[३२३]

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन चूर्णि ये दोनों एक ही आचार्य की कृतियाँ है, क्योंकि स्वय आचार्य ने चूर्णि मे लिखा है—'मैं प्रकीर्ण तप का वर्णन दशवैकालिक चूर्णि मे कर चुका हूँ।' इससे स्पष्ट है कि दशवैकालिक चूर्णि के पश्चात् ही उत्तराध्ययन चूर्णि की रचना हुई है।

---

३२३ "वाणिजकुलसभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगमि॥ १॥
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिम सुगंभीरो।
सीसगणसपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी॥ २॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरज्झयणाण चुण्णिखडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थ, सीसाण मदबुद्धीण॥ ३॥
ज एत्थ उस्सुत्त, अयाणमाणेण विरतित होज्जा।
त अणुओगधरा मे, अणुचिंतेउं समारेंतु॥ ४॥ —उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २८३

उत्तराध्ययन की टीकाएं :—

शिष्यहितावृत्ति (पाइअटीका) :—

निर्युक्ति एवं भाष्य प्राकृत भाषा मे थे। चूर्णि मे प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का और गौण रूप से सस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ। उसके बाद सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी गई। टीकाएँ सक्षिप्त और विस्तृत दोनो प्रकार की मिलती है। उत्तराध्ययन के टीकाकारो मे सर्वप्रथम नाम वादीवैताल शान्तिसूरि का है। महाकवि धनपाल के आग्रह से शान्तिसूरि ने चौरासी वादियो को सभा मे पराजित किया जिससे राजा भोज ने उन्हे 'वादि-वैताल' की उपाधि प्रदान की। उन्होने महाकवि धनपाल की तिलकमजरी का स शोधन किया था।

उत्तराध्ययन की टीका का नाम शिष्यहितावृत्ति है। इस टीका मे प्राकृत की कथाओ व उद्धरणो की बहुलता होने के कारण इसका दूसरा नाम पाइअटीका भी है। यह टीका मूलसूत्र और निर्युक्ति इन दोनो पर है। टीका की भाषा सरस और मधुर है। विषय की पुष्टि के लिए भाष्य-गाथाएं भी दी गई है और साथ ही पाठान्तर भी। प्रथम अध्ययन की व्याख्या मे नय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। नय की सख्या पर चिन्तन करते हुए लिखा है—पूर्वविदो ने सकलनदसग्राही सात सौ नयो का विधान किया है। उस समय "सप्तशत शतार नयचक्र" विद्यमान था। तत्सग्राही विधि आदि का निरूपण करने वाला बारह प्रकार के नयो का "द्वादशारनयचक्र" भी विद्यमान था और वह वर्तमान मे भी उपलब्ध है।

द्वितीय अध्ययन मे वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने ईश्वर की जो कल्पना की और वेदो को अपौरुषेय कहा, उस कल्पना को मिथ्या बताकर तार्किक दृष्टि से उसका समाधान किया। अचेल परीषह पर विवेचन करते हुए लिखा—वस्त्र धर्मसाधना मे एकान्त रूप से बाधक नही है। धर्म का मूल रूप से बाधक तत्त्व कषाय है। कषाययुक्त धारण किया गया वस्त्र पात्रादि की तरह बाधक है। जो धार्मिक साधना के लिए वस्त्रो को धारण करता है, वह साधक है।

चौथे अध्ययन मे जीवप्रकरण पर विचार करते हुए जीव-भावकरण के श्रुतकरण और नोश्रुतकरण ये दो भेद किये गये हैं। पुन श्रुतकरण के बद्ध और अबद्ध ये दो भेद हैं। बद्ध के निशीथ और अनिशीथ ये दो भेद हैं। उनके भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये गये है। निशीथ सूत्र आदि लोकोत्तर निशीथ है और बृहदारण्यक आदि लौकिक निशीथ है। आचाराग आदि लोकोत्तर अनिशीथ श्रुत है। पुराण आदि लौकिक अनिशीथ श्रुत है। लौकिक और लोकोत्तर भेद से अबद्ध श्रुत के भी दो प्रकार है। अबद्ध श्रुत के लिए अनेक कथाएँ दी गई हैं।

प्रस्तुत टीका मे विशेषावश्यक भाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्यनभाष्य, स्त्रीनिर्वाणसूत्र आदि ग्रन्थो के निर्देश हैं। साथ ही जिनभद्र, भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, वाचक अश्वसेन, वात्स्यायन, शिव शर्मन, हारिल्लवाचक, गधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि, प्रभृति व्यक्तियो के नाम भी आये हैं। वादीवैताल शान्तिसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवी शती है।

सुखबोधा वृत्ति

उत्तराध्ययन पर दूसरी टीका आचार्य नेमिचन्द्र की सुखबोधावृत्ति है। नेमिचन्द्र का अपर नाम देवेन्द्रगणि भी था। प्रस्तुत टीका मे उन्होंने अनेक प्राकृतिक आख्यान भी उट्टंकित किये हैं। उनकी शैली पर आचार्य हरिभद्र और वादीवैताल शान्तिसूरि का अधिक प्रभाव है। शैली की सरलता व सरसता के कारण उसका नाम सुखबोधा रखा गया है। वृत्ति मे सर्वप्रथम तीर्थंकर, सिद्ध, साधु, श्रुत, देवता को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने वृत्तिनिर्माण का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शान्त्याचार्य की वृत्ति गम्भीर और बहुत अर्थ वाली है। ग्रन्थ के अन्त मे स्वय को गच्छ, गुरुभ्राता, वृत्तिरचना के स्थान, समय आदि का निर्देश किया है। आचार्य नेमिचन्द्र बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के प्रशिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य थे। उनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्र सूरि था, जिनकी प्रबल प्रेरणा से ही उन्होने बारह हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की। विक्रम-सवत् ग्यारह सौ उनतीस मे वृत्ति अणहिलपाटन मे पूर्ण हुई।[३२४]

उसके पश्चात् उत्तराध्ययन पर अन्य अनेक विज्ञ मुनि, तथा अन्य अनेक विभिन्न सन्तो व आचार्यों ने वृत्तियाँ लिखी हैं। हम यहाँ सक्षेप मे सूचन कर रहे हैं। विनयहस ने उत्तराध्ययन पर एक वृत्ति का निर्माण किया। विनयहस कहाँ के थे ? यह अन्वेषणीय है। सवत् १५५२ मे कीर्तिवल्लभ ने, सवत् १५५४ मे उपाध्याय कमलसयत ने, सवत् १५५० मे तपोरत्न वाचक ने, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ ने, सवत् १६८९ मे भावविजय ने, हर्षनन्द गणी ने, सवत् १७५० मे उपाध्याय धर्ममन्दिर, सवत् १५४६ मे उदयसागर, मुनिचन्द्र सूरि, ज्ञानशील गणी, अजितचन्द्र सूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराज वाचक, नगरसी गणी, अजितदेव सूरि, माणक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि अनेक मनीषियो ने उत्तराध्ययन पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी। उनमे से कितनेक टीकाएँ विस्तृत हैं तो कितनी ही सक्षिप्त है। कितनी ही टीकाओ मे विषय को सरल व सुबोध बनाने के लिए प्रसगानुसार कथाओ का भी उपयोग किया गया है।

लोकभाषाओं में अनुवाद और व्याख्याएँ

सस्कृत प्राकृत भाषाओ की टीकाओ के पश्चात् विविध लोकभाषाओ मे सक्षिप्त टीकाओ का युग प्रारम्भ हुआ। सस्कृत भाषा की टीकाओ मे विषय को सरल व सुबोध बनाने का प्रयास हुआ था, साथ ही उन टीकाओ में जीव, जगत्, आत्मा, परमात्मा, द्रव्य आदि की दार्शनिक गम्भीर चर्चाए होने के कारण जन-सामान्य के लिए उन्हें समझना बहुत ही कठिन था। अत. लोकभाषाओ मे, सरल और सुबोध शैली मे बालावबोध की रचनाएँ प्रारम्भ हुई। बालावबोध के रचयिताओ मे पार्श्वचन्द्र गणी और आचार्य मुनि धर्मसिहजी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

बालावबोध के बाद आगमो के अनुवाद अग्रेजी, गुजराती और हिन्दी इन तीन भाषाओ मे मुख्य रूप से हुए हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० हरमन जैकोबी ने चार आगमो का अग्रेजी मे अनुवाद किया। उनमें उत्तराध्ययन भी एक है। वह अनुवाद सन् १८९५ मे ऑक्सफॉर्ड से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् वही अनुवाद सन् १९६४ मे मोतीलाल बनारसीदास (देहली) ने प्रकाशित किया। अग्रेजी प्रस्तावना के साथ उत्तराध्ययन जार्ल चारपेन्टियर, उप्पसाला ने सन् १९२२ मे प्रकाशित किया। सन् १९५४ मे आर डी. वाडेकर और वैद्य पूना द्वारा मूल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सन् १९३८ मे गोपालदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद, सन् १९३४ मे हीरालाल हसराज जामनगर वालो ने अपूर्ण गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। सन् १९५२ मे गुजरात विद्यासभा—

---

३२४. विश्रुतस्य महीपीठे, बृहद्गच्छस्य मण्डनम्।
श्रीमान् विहारुकप्रष्ठ, सूरिरुद्योतनाभिध. ॥ ९ ॥
शिष्यस्तस्याऽऽम्रदेवोऽभूदुपाध्याय सता मत'।
यत्रैकान्तगुणापूर्णे, दोषैर्लेभे पद न तु ॥ १० ॥
श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्धृतवान्, वृत्तिका तद्विनेय ।
गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥ ११ ॥

अहमदाबाद से गुजराती अनुवाद टिप्पणो के साथ एक से अठारह अध्ययन प्रकाशित हुए। सन् १९५४ मे जैन प्राच्य विद्या भवन- अहमदाबाद से गुजराती अर्थ एव धर्मकथाओ के साथ एक से पन्द्रह अध्ययन प्रकाशित हुए। संवत् १९९२ में मुनि सन्तबाल जी ने भी गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। वीर सवत् २४४६ मे आचार्य अमोलक-ऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित उत्तराध्ययन का सस्करण निकाला। वी स २४८९ मे श्री रतनलाल जी डोशी-सैलाना ने तथा वि स २०१० मे प घेवरचन्द जी बाठिया—बीकानेर ने एव वि स १९९२ मे श्वे स्था जैन कॉन्फ्रेंस—बम्बई द्वारा मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल जी ने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

सन् १९३९ से १९४२ तक उपाध्याय श्री आत्माराम जी म ने जैनशास्त्रमाला कार्यालय—लाहौर से उत्तराध्ययन पर हिन्दी मे विस्तृत विवेचन प्रकाशित किया। उपाध्याय आत्माराम जी म का यह विवेचन भावपूर्ण, सरल और आगम के रहस्य को स्पष्ट करने मे सक्षम है। सन् १९६७ मे मुनि नथमल जी ने मूल, छाया, अनुवाद, टिप्पण युक्त अभिनव सस्करण श्वे तेरापथी महासभा—कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इस सस्करण के टिप्पण भावपूर्ण हैं।

सन १९५९ से १९६१ तक पूज्य घासीलाल जी म ने उत्तराध्ययन पर सस्कृत टीका का निर्माण किया था। वह टीका हिन्दी, गुजराती अनुवाद के साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति— राजकोट से प्रकाशित हुई। सन्मतिज्ञानपीठ आगरा से साध्वी चन्दना जी ने मूल व भावानुवाद तथा सक्षिप्त टिप्पणो के साथ उत्तराध्ययन का सस्करण प्रकाशित किया है। उसका दुर्लभजी केशवजी खेताणी द्वारा गुजराती मे अनुवाद भी बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

आगमप्रभावक पुण्यविजय जी म ने प्राचीनतम प्रतियो के आधार पर विविध पाठान्तरो के साथ जो शुद्ध आगम सस्करण महावीर विद्यालय-बम्बई से प्रकाशित करवाये हैं उनमे उत्तराध्ययन भी है। धर्मोपदेष्टा फूलचन्दजी म ने मूलसुत्तागमे मे, मुनि कन्हैयालाल जी कमल ने 'मूलसुत्ताणि' मे, महासती शीलकुँवर जी ने 'स्वाध्याय सुधा' मे और इनके अतिरिक्त पन्द्रह-बीस स्थानो से मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आधुनिक युग मे शताधिक श्रमण-श्रमणियाँ उत्तराध्ययन को कठस्थ करते हैं तथा प्रतिदिन उसका स्वाध्याय भी। इससे उत्तराध्ययन की महत्ता स्वय सिद्ध है। उत्तराध्ययन के हिन्दी मे पद्यानुवाद भी अनेक स्थलों से प्रकाशित हुए हैं। उनमे श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी म तथा आचार्य हस्तीमल जी म के पद्यानुवाद पठनीय हैं। इस तरह आज तक उत्तराध्ययन पर अत्यधिक कार्य हुआ है।

प्रस्तुत सम्पादन

उत्तराध्ययन के विभिन्न सस्करण समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं और उन सस्करणो का अपने आप मे विशिष्ट महत्त्व भी रहा है। प्रस्तुत सस्करण आगम प्रकाशन समिति ब्यावर (राज) के अन्तर्गत प्रकाशित होने जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के सयोजक और प्रधान सम्पादक हैं—श्रमणसघ के भावी आचार्य श्री मधुकर मुनि जी म। मधुकर मुनि जी शान्त प्रकृति के मूर्धन्य मनीषी सन्तरत्न हैं। उनका सकल्प है—आगम-साहित्य को अधुनातन भाषा में प्रकाशित किया जाए। उसी सकल्प को मूर्त्तरूप देने के लिए ही स्वल्पावधि में अनेक आगमो के अभिनव सस्करण प्रबुद्ध पाठको के करकमलो मे पहुँच चुके हैं जिससे जिज्ञासुओं को आगम के रहस्य समझने में सहूलियत हो गई है। उसी पवित्र लड़ी की कडी मे उत्तराध्ययन का यह अभिनव सस्करण है।

इस सस्करण की यह मौलिक विशेषता है कि इसमे शुद्ध मूल पाठ है। भावानुवाद है और साथ ही विशेष स्थलो पर आगम के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन व्याख्या-साहित्य के आधार पर सरल और सरस विवेचन भी है। विषय गम्भीर होने पर भी प्रस्तुतीकरण सरल और सुबोध है। इसके सम्पादक, विवेचक और अनुवादक हैं—राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न, शास्त्री, काव्यतीर्थ, 'जैन सिद्धान्ताचार्य', जो परम श्रद्धेय, राजस्थान-

केसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय पूज्य सद्गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म. के प्रशिष्य हैं, जिन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है। उनका आगमसम्पादन का यह प्रथम प्रयास प्रशंसनीय है। यदि युवाचार्यश्री का अत्यधिक आग्रह नहीं होता तो सम्भव है, इस सम्पादनकार्य मे और भी अधिक विलम्ब होता। पर युवाचार्य श्री की प्रबल प्रेरणा ने मुनिजी को शीघ्र कार्य सम्पन्न करने के लिए उत्प्रेरित किया।[1] तथापि मुनिजी ने बहुत ही निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पन्न किया है, इसलिए वे साधुवाद के पात्र हैं। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे साहित्यिक क्षेत्र में अपने मुस्तैदी कदम आगे बढावे। आगमो का गहन अध्ययन कर अधिक से अधिक श्रुतसेवा कर जिनशासन की शोभा मे श्रीवृद्धि करें।

उत्तराध्ययन एक ऐसा विशिष्ट आगम है, जिसमे चारो अनुयोगो का सुन्दर समन्वय हुआ है। यद्यपि उत्तराध्ययन की परिगणना धर्मकथानुयोग मे की गई है, क्योकि इसके छत्तीस अध्ययनो मे से चौदह अध्ययन धर्म-कथात्मक हैं। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पचम, षष्ठ और दशम ये छह अध्ययन उपदेशात्मक हैं। इन अध्ययनो मे साधको को विविध प्रकार से उपदेशात्मक प्रेरणाएँ दी गई है। द्वितीय, ग्यारहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ, सत्तरहवाँ, चौबीसवाँ, छब्बीसवाँ, बत्तीसवाँ और पैंतीसवाँ अध्ययन आचारात्मक हैं। इन अध्ययनो मे श्रमणाचार का गहराई से विश्लेषण हुआ है। अट्ठाईसवाँ, उनतीसवाँ, तीसवाँ, इकतीसवाँ, तेतीसवाँ, चौतीसवाँ, छत्तीसवाँ ये सात अध्ययन सैद्धान्तिक हैं। इन अध्ययनो मे सैद्धान्तिक विश्लेषण गम्भीरता के साथ हुआ है। छत्तीस अध्ययनों मे चौदह अध्ययन-धर्म कथात्मक होने से इसे धर्मकथानुयोग मे लिया गया है। विषयबाहुल्य होने के कारण प्रत्येक विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ सहज रूप से लिखा जा सकता है। मैंने प्रस्तावना मे न अति सक्षिप्त और न अति विस्तृत शैली को ही अपनाया है। अपितु मध्यम शैली को आधार बनाकर उत्तराध्ययन मे आये हुए विविध विषयो पर चिन्तन किया है। यदि विस्तार के साथ उन सभी पहलुओ पर लिखा जाता तो एक विराट्काय ग्रन्थ सहज रूप से बन सकता था।

उत्तराध्ययन की तुलना श्रीमद् भागवत गीता के साथ की जा सकती है। इस दृष्टि से प्रतिभामूर्ति प. मुनि श्रीसन्तबालजी ने "जैन दृष्टिए गीता" नामक ग्रन्थ मे प्रयास किया है। इसी तरह कुछ विद्वानो ने उत्तराध्ययन की तुलना 'धम्मपद' के साथ करने का भी प्रयत्न किया है। समन्वयात्मक दृष्टि से यह प्रयास प्रशसनीय हैं। पार्श्वनाथ शोध सस्थान वाराणसी से उत्तराध्ययन पर उत्तराध्ययन एक परिशीलन के रूप मे शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार उत्तराध्ययन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, सस्कृत भाषाओ मे अनेक टीकाएँ और उसके पश्चात् विपुल मात्रा मे हिन्दी अनुवाद और विवेचन लिखे गये हैं, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण हैं। अन्य आगमो की भाँति प्रस्तुत आगम का सस्करण भी अत्यधिक लोकप्रिय होगा। प्रबुद्ध वर्ग इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित करेगे, यही मगल मनीषा!

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक
चांदावतो का नोखा
दि २७ जनवरी
मां महासती प्रभावती जी की प्रथम पुण्यतिथि

---

१ जिनकी प्रेरणा के फलस्वरूप प्रस्तुत सस्करण तैयार हुआ, अत्यन्त परिताप है कि जिनागम-ग्रन्थमाला के संयोजक, प्रधानसम्पादक एव प्राण श्रद्धेय युवाचार्यजी इसके प्रकाशन से पूर्व ही देवलोकवासी हो गए।—सम्पादक

विषयानुक्रम

प्रथम अध्ययन-विनयसूत्र

द्वितीय अध्ययन-परीषह-प्रविभक्ति

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

छठा अध्ययन : निर्ग्रन्थीय

सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

अष्टम अध्ययन : कापिलीय

नवम अध्ययन : नमिप्रव्रज्या

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

ग्यारहवाँ अध्ययन : बहुश्रुतपूजा

बारहवाँ अध्ययन : हरिकेशीय

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुकम्

सोलहवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्य समाधिस्थल

सत्रहवां अध्ययन : पापश्रमणीय

अठारहवां अध्ययन : संजयीय

उन्नीसवाँ अध्ययन : मृगापुत्रीय

बीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

इक्कीसवाँ अध्ययन : समुद्रपालीय

बाईसवाँ अध्ययन : रथनेमीय

तेईसवाँ अध्ययन : केशी-गौतमीय

चौबीसवाँ अध्ययन : प्रवचनमाता

पच्चीसवाँ अध्ययन : यज्ञीय

छब्बीसवाँ अध्ययन : सामाचारी

सत्ताईसवाँ अध्ययनः खलुंकीय

अट्ठाईसवाँ अध्ययनः मोक्षमार्गगति

उनतीसवाँ अध्ययन : सम्यक्त्वपराक्रम

तीसवाँ अध्ययन : तपोमार्गगति

इकतीसवाँ अध्ययन: चरणविधि

बत्तीसवाँ अध्ययन: प्रमादस्थान

तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति

चौतीसवाँ अध्ययन : लेश्या

पैंतीसवाँ अध्ययन : अनगार मार्गगति

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीवविभक्ति

□□

उत्तरज्झयणाणि

[उत्तराध्ययनसूत्र]

प्रथम अध्ययन : विनयसूत्र

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत प्रथम अध्ययन का नाम चूर्णि के अनुसार '**विनयसूत्र**' है।[1] निर्युक्ति, बृहद्वृत्ति एव समवायागसूत्र के अनुसार 'विनयश्रुत'[2] है। 'श्रुत' और सूत्र दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।

* इस अध्ययन मे विविध पहलुओ से भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ नि.सग अनगार के विनय की श्रुति अथवा विनय के सूत्रो का निरूपण किया गया है।[3]

* विनय मुक्ति का प्रथम चरण है, धर्म का मूल है तथा दूसरा आभ्यन्तर तप है। विनयरूपी मूल के विना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी पुष्प नही प्राप्त होते तो मोक्षरूप फल की प्राप्ति भी कहाँ से होगी ?

* मूलाचार के अनुसार विनय की पृष्ठभूमि मे निम्नोक्त गुण निहित हैं—(१) शुद्ध धर्माचरण, (२) जीतकल्प-मर्यादा, (३) आत्मगुणो का उद्दीपन, (४) आत्मिक शुद्धि, (५) निर्द्वन्द्वता, (६) ऋजुता, (७) मृदुता (नम्रता, निश्छलता, निरहकारिता), (८) लाघव (अनासक्ति), (९) गुण-गुरुओ के प्रति भक्ति, (१०) आह्लादकता, (११) कृति—वन्दनीय पुरुषो के प्रति वन्दना, (१२) मैत्री, (१३) अभिमान का निराकरण, (१४) तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन एव (१५) गुणो का अनुमोदन।[4]

* यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन मे विनय की परिभाषा नही दी है, किन्तु विनयी और अविनयी के स्वभाव और व्यवहार तथा उसके परिणामो की चर्चा विस्तार से की है, उस पर से विनय और अविनय की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति का बाह्य व्यवहार एव आचरण ही उसके अन्तरग भावो का प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित विनीत शिष्य

---

१ प्रथममध्ययन विनयसुत्तमिति, विनयो यस्मिन् सूत्रे वर्ण्यते तदिद विनयसूत्रम्। —उ चू, प ८

२ (क) उत्तरा निर्युक्ति गा २८—तत्थज्झयण पढमं विणयसुय। (ख) विनयश्रुतमिति द्विपद नाम। बृ वृ, प १५
(ग) 'छत्तीस उत्तरज्झयणा प. त—विणयसुय ·····।' —समवायाग, समवाय ३६

३ एव धम्मस्स विणओ मूल, परमो से मोक्खो।
जेण किर्त्ति सुय सिग्घ निस्सेस चाभिगच्छई॥ —दशवै. अ ९, उ २, गा २

४. आयारजीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधी णिज्जजा।
अज्जव-मद्दव-लाहव-भत्ती-पल्हादकरण च॥
कित्ती मित्ती माणस्स भजण, गुरुजणे य बहुमाण।
तित्थयराण आणा, गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥ —मूलाचार ५।२१३-२१४

के विविध व्यवहार एव आचरण पर से विनय के निम्नोक्त अर्थ फलित होते है—(१) गुरु-आज्ञा-पालन, (२) गुरु की सेवा-शुश्रूषा, (३) इंगिताकारसंप्रज्ञता, (४) सुशील (सदाचार)-सम्पन्नता, (५) अनुशासन-शीलता, (६) मानसिक-वाचिक-कायिक नम्रता, (७) आत्मदमन, (८) अनाशातना (९) गुरु के प्रति अप्रतिकूलता, (१०) गुरुजनो की कठोर शिक्षा का सहर्ष स्वीकार, (११)-यथाकालचर्या, आहारग्रहण-सेवनविवेक, भाषाविवेक आदि साधुसमाचारी का पालन।[1]

* विनय का अर्थ यहाँ दासता, दीनता या गुरु की गुलामी नही है, न स्वार्थसिद्धि के लिए किया गया कोई दुष्ट उपाय है और न कोई औपचारिकता है। सामाजिक व्यवस्थामात्र भी नही है। अपितु गुणी जनो और गुरुजनो के महान् मोक्षसाधक पवित्र गुणो के प्रति सहज प्रमोदभाव है, जो गुरु और शिष्य के साथ तादात्म्य एव आत्मीयता का काम करता है। उसी के माध्यम से गुरु प्रसन्नतापूर्वक अपनी श्रुतसम्पदा एव आचारसम्पदा से शिष्य को लाभान्वित करते है।[2]

* बृहद्वृत्ति के अनुसार विनय के मुख्य दो रूप फलित होते है—लौकिकविनय एव लोकोत्तर-विनय। लौकिकविनय मे अर्थविनय, कामविनय, भयविनय और लोकोपचारविनय आते हैं और लोकोत्तरविनय, जो यहाँ विवक्षित है, और जिसे यहाँ मोक्षविनय कहा गया है, उसके ५ भेद किये गए हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय। औपपातिकसूत्र मे इसी के ७ प्रकार बताए हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और (७) लोकोपचारविनय।

* विनय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है—अष्टविध कर्मों का जिससे विनयन—उन्मूलन किया जाए। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन मे मोक्षविनय ही अभीष्ट है।[3]

* प्रस्तुत अध्ययन की दूसरी, अठारहवी से २२ वी तक और तीसवी गाथा मे लोकोपचारविनय की दृष्टि से विनीत के व्यवहार का वर्णन किया है। उसके ७ विभाग हैं—(१) अभ्यास-वृत्तिता, (२) परछन्दानुवृत्तिता, (३) कार्यहेतु-अनुलोमता, (४) कृतप्रतिक्रिया, (५) आर्त्त-गवेषणा, (६) देशकालज्ञता और (६) सर्वार्थ-अप्रतिलोमता।[७] इसी प्रकार ९, १५, १६, ३८, ३९, ४० वी गाथा मनोविनय के सन्दर्भ मे, १०, ११, १२, १४, २४, २५, ३६, ४१ वी गाथा वचनविनय के सन्दर्भ मे, १७ से २२ एवं ३०, ४०, ४३, ४४ वी गाथा कायविनय के सन्दर्भ मे, ८ वी एव २३ वी गाथा ज्ञानविनय के सन्दर्भ में, १७ से २२ तक दर्शनविनय

---

१. उत्तराध्ययन अ १, गाथा २, ७, ८ से १४ तक, १५-१६, १७ से २२ तक, २४-२५, २७ से ३० तक, ३१ से ४४ तक।

२ उत्तरा गा ४६,

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १६ (ख) औपपातिकसूत्र २०,

(ग) विनयति—नाशयति सकलक्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म स विनयः। —आवश्यक म. अ. १

(अनाशातना और शुश्रूषविनय) के सन्दर्भ में तथा शेष गाथाएँ चारित्रविनय (समाचारी-पालन, भिक्षाग्रहण-आहार-सेवनविवेक, अनुशासनविनय आदि) के सन्दर्भ में प्रतिपादित हैं ।[1]

* प्रस्तुत अध्ययन मे विनयी और अविनयी के स्वभाव, व्यवहार और आचरण का सागोपांग वर्णन है ।

* अध्ययन के उपसहार मे ४५ से ४८ वी गाथा तक विनीत शिष्य की उपलब्धियो का विनय की फलश्रुति के रूप में वर्णन किया गया है । कुल मिला कर मोक्षविनय का सागोपाग वर्णन किया गया है ।[2]

१. 'से किं तं लोगोवयारविणए ? सत्तविहे प तं. ....।' —औपपातिक ३०

२ उत्तराध्ययन मूल अ १

पढमं अज्झयणं : विणयसुत्तं

प्रथम अध्ययन : विनयसूत्रम्

विनय-निरूपण-प्रतिज्ञा—

१. संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ।।

[१] जो सांसारिक संयोगों (–आसक्तिमूलक बन्धनों) से विप्रमुक्त (–विशेषरूप से—सर्वथा दूर) है, अनगार (–अगाररहित—गृहत्यागी) है तथा भिक्षु (–निर्दोष भिक्षा पर जीवननिर्वाह करने वाला) है; उसके विनय (–अनुशासन अथवा आचार) का मैं क्रमशः प्रतिपादन करूंगा। (तुम) मुझ से (ध्यानपूर्वक) सुनो।

विवेचन—संयोग दो प्रकार के हैं। बाह्यसंयोग—परिवार, गृह, धन, धान्य आदि। आभ्यन्तर संयोग—विषयवासना, कषाय, काम, मोह, ममत्व तथा बौद्धिक पूर्वग्रह आदि।[१]

अणगारस्स भिक्खुणो—में अणगार+स्स-भिक्खुणो (अनगार-अस्व-भिक्षो), यों पदच्छेद करने पर अर्थ होता है—जो गृहत्यागी है, जिसके पास अपना कुछ भी नहीं है, सब कुछ याचित है, अर्थात्—जो अकिंचन है और जो भिक्षाप्राप्ति के लिए जाति आदि अपनेपन का परिचय देकर दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, ऐसा निर्दोष अनात्मीय-भिक्षाजीवी।[२]

विनय के तीन अर्थ—नम्रता,[३] आचार[४] और अनुशासन।[५] प्रस्तुत में विनय का अर्थ

---

१ 'संयोगात् सम्बन्धात् बाह्याभ्यन्तर-भेदभिन्नात्। तत्र मात्रादिविषयाद् बाह्यात्,कषायादिविषयाच्चान्तरात्।'
—सुखबोधावृत्ति, पत्र १

२ (क) अनगारस्य परकृतगृहनिवासित्वात् तत्रापि ममत्वमुक्तत्वात् सगरहितस्य। —सुखबोधावृत्ति, पत्र १
(ख) अथवा अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षु—जात्याद्यनाजीवनादनात्मीकृतत्वेन अनात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादि भिक्षते इति कृत्वा' ··· अनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनगारास्वभिक्षु।
—बृहद्वृत्ति (शान्त्याचार्यकृत) पत्र १९

३ औपपातिकसूत्र २० तथा स्थानांग, स्थान ७ में वर्णित ७ प्रकार के विनय नम्रता के अर्थ में हैं।

४ ज्ञातासूत्र, १।५ के अनुसार आगारविनय (श्रावकाचार) और अनगारविनय (श्रमणाचार), ये दो भेद आचार अर्थ के प्रतिपादक हैं।

५ विनय अर्थात् नियम (Discipline), अथवा भिक्षु-भिक्षुणियों के आचारसम्बन्धी नियम।
—देखें विनयपिटक, भूमिका—राहुलसांकृत्यायन

श्रमणाचार तथा अनुशासन ही मुख्यतया समझना चाहिए; जो कि जैनशास्त्रों और बौद्धग्रन्थों मे भी पाया जाता है ।[1]

विनीत और अविनीत के लक्षण—

२. आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चई ॥

[२] जो गुरुजनो की आज्ञा (विध्यात्मक आदेश) और निर्देश (सकेत या सूचना) के अनुसार (कार्य) करता है, गुरुजनों के निकट (सान्निध्य मे) रह कर (मन और तन से) शुश्रूषा करता है तथा उनके इगित और आकार को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह 'विनीत' कहा जाता है ।

३. आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चई ॥

[३] जो गुरुजनो की आज्ञा एव निर्देश के अनुसार (कार्य) नही करता, गुरुजनो के निकट रह कर शुश्रूषा नही करता, उनसे प्रतिकूल व्यवहार करता है तथा जो असम्बुद्ध (—उनके इगित और आकार के बोध अथवा तत्त्वबोध से रहित) है, वह 'अविनीत' कहा जाता है ।

विवेचन—आज्ञा और निर्देश—प्राचीन आचार्यों ने इन दोनो शब्दो को एकार्थक माना है ।[2] अथवा आज्ञा का अर्थ—आगमसम्मत उपदेश या मर्यादाविधि एव निर्देश का अर्थ—उत्सर्ग और अपवाद रूप से उसका प्रतिपादन किया गया है ।[3] अथवा आज्ञा का अर्थ गुरुवचन और निर्देश का अर्थ शिष्य द्वारा स्वीकृतिकथन है । विनीत का प्रथम लक्षण आज्ञा और निर्देश का पालन करना है ।[4]

उपपातकारक—बृहद्वृत्ति के अनुसार—सदा गुरुजनो का सान्निध्य (सामीप्य) रखने वाला अर्थात्—जो शरीर से उनके निकट रहे, मन से उनका सदा ध्यान रखे ।[5] चूर्णि के अनुसार— उनकी शुश्रूषा करने वाला—जो वचन सुनते रहने की इच्छा से तथा सेवाभावना से युक्त हो । इस प्रकार उपपातकारक विनीत का दूसरा लक्षण है ।[6]

इंगियागारसंपन्ने—इगित का अर्थ है—शरीर की सूक्ष्मचेष्टा जैसे—किसी कार्य के विधि या निषेध के लिए सिर हिलाना, आँख से इशारा करना आदि, तथा आकार—शरीर की स्थूल चेष्टा,

---

१ प्रस्तुत अध्ययन मे अनुशासन, आज्ञापालन, सघीय नियम-मर्यादा आदि अर्थों मे भी विनय शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

२ देखें उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २६

३ (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

४. यद्वाज्ञा—सौम्य ! इद च कुरु, इद मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश —इदमित्थमेव करोमि, इति निश्चयाभिधान, तत्कर । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

५. 'उप-समीपे पतन—स्थानमुपपात., दृग्वचनविषयदेशावस्थान, तत्कारक ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

६ उपपतनमुपपात शुश्रूषाकरणमित्यर्थ. । —उत्तरा चूर्णि, पृ २६

जैसे—उठने के लिए आसन की पकड ढीली करना, घडी की ओर देखना या जम्भाई लेना आदि।[1] इन दोनो को सम्यक् प्रकार से जानने वाला—सम्प्रज्ञ। इसका 'सम्पन्न' रूपान्तर करके युक्त अर्थ भी किया गया है, जो यहाँ अधिक सगत नही है।[2] यह विनीत का तीसरा लक्षण है।

अविनीत दुःशील का निष्कासन एवं स्वभाव—

४. जहा सुणी पूइ-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई॥

[४] जिस प्रकार सडे कान की कुतिया [घृणापूर्वक] सभी स्थानो से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला दु शील वाचाल शिष्य भी सर्व जगह से [अपमानित कर के] निकाल दिया जाता है।

५. कण-कुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥

[५] जिस प्रकार सूअर चावलो की भूसी को छोड कर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी (मृग=पशुबुद्धि) शिष्य शील (सदाचार) को छोडकर दु शील (दुराचार) मे रमण करता है।

विवेचन—दुस्सील—जिसका शील-स्वभाव, समाधि या आचार रागद्वेषादि दोषो से विकृत है, वह दु शील कहलाता है।[3]

मुहरी—शब्द के तीन रूप—मुखरी, मुखारि और मुधारि। मुखरी—वाचाल, मुखारि—जिसका मुख [जीभ] दूसरे को अरि बना लेता है, मुधारि—व्यर्थ ही बहुत-सा असम्बद्ध बोलने वाला।[4]

सव्वसो निक्कसिज्जइ—दो अर्थ—सर्वत एव सर्वथा। सर्वत अर्थात्-कुल, गण, सघ, समुदाय, आदि सब स्थानो से, अथवा सर्वथा—बिलकुल निकाल दिया जाता है।[5]

कणकुंडगं—दो अर्थ—चावलो की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी, पुष्टिकारक एव सूअर का प्रिय भोजन।

मिए—का शब्दश. अर्थ है—मृग। बृहद्वृत्तिकार का आशय है—अविनीत शिष्य मृग की तरह अज्ञ (पशुबुद्धि) होता है। जैसे—सगीत के वशीभूत होकर मृग छुरा हाथ मे लिये वधिक को—अपने मृत्युरूप अपाय को नही देख पाता, वैसे ही दु शील अविनीत भी दुराचार के कारण अपने भव-भ्रमणरूप अपाय को नही देख पाता।[6]

---

१ इंगितं—निपुणमतिगम्य प्रवृत्ति-निवृत्तिसूचक ईषद्भ्रू शिर कम्पादि,
आकार—स्थूलधीसवेद्य प्रस्थानादि-भावाभिव्यजको दिगवलोकनादि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

२. (क) सम्प्रज्ञ—सम्यक् प्रकर्षेण जानाति—इगिताकारसम्प्रज्ञ। —बृहद्वृत्ति पत्र ४४
(ख) सम्पन्न युक्त, सम्पन्नवान् सम्पन्न। —सुखबोधा पत्र १, उत्त चूर्णि पृ. २७

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ४५

४. वही, पत्र ४५

५ (क) वही, पत्र ४५ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २७

६ वही, पत्र ४५

विनय का उपदेश और परिणाम—

**६. सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥**

[६] अपना आत्महित चाहने वाला साधु, (सडे कान वाली) कुतिया और (विष्ठाभोजी) सूअर के समान, दुःशील से होने वाले अभाव (—अशोभन=हीनस्थिति) को सुन (समझ) कर अपने आपको विनय (धर्म) मे स्थापित करे ।

**७. तम्हा विणयमेसेज्जा, सीलं पडिलभे जओ ।
बुद्ध-पुत्त नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥**

[७] इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए, जिससे कि शील की प्राप्ति हो । जो बुद्धपुत्र (प्रबुद्ध गुरु का पुत्रसम प्रिय), मोक्षार्थी शिष्य है, वह कही से (गच्छ, गण आदि से) नही निकाला जाता ।

विवेचन—**बुद्धपुत्त** दो रूपान्तर—**बुद्धपुत्र**—आचार्यादि का पुत्रवत् प्रीतिपात्र शिष्य, बुद्धवुत्त—(बुद्धव्युक्त)—अवगततत्त्व तीर्थंकरादि द्वारा उक्त ज्ञानादि या द्वादशागरूप आगम ।[1] **नियागट्ठी** दो रूप--**नियागार्थी**—मोक्षार्थी और **निजकार्थी**—आत्मार्थी (निज आत्मा के सिवाय शेष सब पर है, इस दृष्टि से आत्मरमणार्थी), अथवा ज्ञानादित्रय का अर्थी—अभिलाषी, अथवा आगमज्ञान का अभिलाषी ।[2]

अनुशासनरूप विनय की दशसूत्री—

**८. निसन्ते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया ।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥**

[८] (शिष्य) बुद्ध (-गुरु) जनो के निकट सदा प्रशान्त रहे, वाचाल न बने, (उनसे) अर्थयुक्त (पदो को) सीखे और निरर्थक बातो को छोड दे ।

**९. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेवेज्ज पण्डिए ।
खुड्डेहि सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए ॥**

[९] (गुरु के द्वारा) अनुशासित होने पर पण्डित (—बुद्धिमान् शिष्य) क्रोध न करे, क्षमा का सेवन करे [—शान्त रहे], क्षुद्र [—बाल या शीलहीन] व्यक्तियो के साथ ससर्ग, हास्य और क्रीड़ा से दूर रहे ।

१ (क) सुखबोधा, पत्र ३; बृहद्वृत्ति, पत्र ४६
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २८, बृहद्वृत्ति, पत्र ४६

२ (क) सुखबोधा, पत्र ३, बृहद्वृत्ति, पत्र ४६
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३५, २८, बृहद्वृत्ति, पत्र ४६

१०. मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो॥

[१०] शिष्य (क्रोधावेश मे आ कर कोई) चाण्डालिक कर्म (अपकर्म) न करे और न ही बहुत बोले (—बकवास करे)। अध्ययन (स्वाध्याय-) काल मे अध्ययन करके तत्पश्चात् एकाकी ध्यान करे।

११. आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं 'कडे' त्ति भासेज्जा, अकडं 'नो कडे' त्ति य॥

[११] (आवेशवश) कोई चाण्डालिक कर्म (कुकृत्य) कर भी ले तो उसे कभी भी न छिपाए। (यदि कोई कुकृत्य) किया हो तो 'किया' और न किया हो तो 'नही किया' कहे।

विवेचन—अनुशासन के दश सूत्र—(१) गुरुजनो के समीप सदा प्रशान्त रहे, (२) वाचाल न बने, (३) निरर्थक बाते छोड कर सार्थक पद सीखे, (४) अनुशासित होने पर क्रोध न करे, (५) क्षमा धारण करे, (६) क्षुद्रजनो के साथ सम्पर्क, हास्य एव क्रीडा न करे, (७) चाण्डालिक कर्म न करे, (८) अध्ययनकाल मे अध्ययन करके फिर ध्यान करे, (९) अधिक न बोले, (१०) कुकृत्य किया हो तो छिपाए नहीं, जैसा हो, वैसा गुरु से कहे।[1]

निसते—निशान्त के तीन अर्थ—(१-२) अत्यन्त शान्त रहे अर्थात्- अन्तस् मे क्रोध न हो, बाह्य आकृति प्रशान्त हो, (३) जिसकी चेष्टाएँ अत्यन्त शान्त हो।[2]

अट्ठजुत्ताणि—अर्थयुक्त के तीन अर्थ—(१) हेयोपादेयाभिधायक अर्थयुक्त—आगम (उपदेशात्मक सूत्र) वचन, (२) मुमुक्षुओ के लिए अर्थ—मोक्ष से सगत उपाय और (३) साधुजनोचित अर्थयुक्त।[3]

निरट्ठाणि—निरर्थक के तीन अर्थ—(१) डित्थ, डवित्थ आदि अर्थशून्य, निरुक्तशून्य पद, (२) कामशास्त्र, काममनोविज्ञान या स्त्रीविकथादि अनर्थकर वचन, (३) लोकोत्तर अर्थ—प्रयोजन या उद्देश्य से रहित शास्त्र।[4]

कीडं--क्रीडा के तीन अर्थ—(१) खेलकूद, (२) मनोविनोद या किलोल आदि, (३) अत्याक्षरी, प्रहेलिका हस्तलाघव आदि से जनित कौतुक।[5]

चंडालियं—के तीन अर्थ—(१) चण्ड(क्रोध भयादि) के वशीभूत होकर अलीक—असत्यभाषण, (२) चाण्डाल जाति मे होने वाले क्रूरकर्म, (३) 'मा अचडालिय' पद मान कर—हे अचण्ड—सौम्य! अलीक—(गुरुवचन या आगमवचन का विपरीत अर्थ-कथन करके) असत्याचरण मत करो।[6]

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, मूल अ १, गा ८ से ११ तक

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६-४७ (ख) सुखबोधा, पत्र ३ (ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २८

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६-४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २८

४ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २९ (ग) सुखबोधा, पत्र ३

५-६ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २९

अत्यधिक भाषण-निषेध के तीन मुख्य कारण—(१) बोलने का विवेक न रहने से असत्य बोला जाएगा या विकथा करने लगेगा, (२) अधिक बोलने से ध्यान, स्वाध्याय, अध्ययन आदि मे विक्षेप होगा, (३) वातक्षोभ या वात कुपित होने की शका है ।[1]

समय पर अध्ययन और एकाकी ध्यान—साधु के लिए स्वाध्याय, अध्ययन, भोजन, प्रतिक्रमण आदि सभी प्रवृत्तियाँ यथाकाल और मण्डली मे करने का विधान प्रवचनसारोद्धार मे सूचित किया है, किन्तु ध्यान एकाकी (द्रव्य से विविक्त शय्यासनादियुक्त तथा भाव से रागद्वेषादिरहित होकर) किया जाता है, जैसा कि उत्तराध्ययनचूर्णि मे लौकिक प्रतिपत्ति का सकेत है—एक का ध्यान, दो का अध्ययन और तीन आदि का ग्रामान्तरगमन ।[2]

अविनीत और विनीत शिष्य का स्वभाव—

१२. मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कस व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ।।

[१२] जैसे गलिताश्व (अडियल-अविनीत घोडा) बार-बार चाबुक की अपेक्षा रखता है, वैसे (विनीत शिष्य) (गुरु के आदेश) वचन की अपेक्षा न करे किन्तु जैसे आकीर्ण (उत्तम जाति का शिक्षित) अश्व चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही गुरु के आकारादि को देख कर ही पापकर्म (अशुभ आचरण) को छोड दे ।

१३. अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्ड पकरेंति सीसा ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासय पि ।।

[१३] गुरु के वचनो को नही सुनने वाले, ऊटपटाग बोलने वाले (स्थूलभाषी) और कुशील (दुष्ट) शिष्य मृदु स्वभाव वाले गुरु को भी चण्ड (क्रोधी) बना देते है, जब कि गुरु के मनोऽनुकूल चलने वाले एव दक्षता से युक्त (निपुणता से कार्य सम्पन्न करने वाले) शिष्य , दुराशय (शीघ्र ही कुपित होने वाले दुराश्रय) गुरु को भी झटपट प्रसन्न कर लेते है ।

विवेचन—गलियस्स—गलिताश्व का अर्थ है—अविनीत घोडा । उत्तराध्ययननिर्युक्ति मे गडी (उछलकूद मचाने वाला), गली (पेट मे कुछ निगलने पर ही चलने वाला) और मराली (गाडी आदि मे जोतने पर मृतक-सा होकर बैठ जाने वाला—मरियल अथवा लात मारने वाला), ये तीनो शब्द दुष्ट घोडे और बैल के अर्थ मे पर्यायवाची है ।[3]

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७

२ उक्त हि—**'एकस्य ध्यान, द्वयोरध्ययन, त्रिप्रभृति ग्रामः' एव लौकिकाः सप्रतिपन्नाः ।'**

—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ २९

३ (क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४८

(ख) **'गंडी गली मराली, अस्से गोणे य हुंति एगट्ठा ।'**

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा ६४

आइण्णे—आकीर्ण का अर्थ है– विनीत या प्रशिक्षित अश्व। आकीर्ण, विनीत और भद्रक ये तीन शब्द विनीत घोड़े और बैल के अर्थ मे समानार्थक है।[1]

दुरासयं—दो अर्थ—(१) दुराशय (दुष्ट आशय वाले) और (२) दुराश्रय अत्यन्त क्रोधी होने के कारण दुःख से बडी मुश्किल से) आश्रय पाने वाले (ठिकाने आने वाले—शान्त होने वाले) गुरु को।[2]

अतिक्रोधी चण्डरुद्राचार्य का उदाहरण– उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान मे एक बार चण्डरुद्राचार्य सशिष्य पधारे। एक नवविवाहित युवक अपने मित्रो के साथ उनके पास आया और कहने लगा—'भगवन्! मुझे ससार मे तारिये!' उसके साथी भी कहने लगे—'यह ससार से विरक्त नही हुआ है, यह आपको चिढा रहा है।'

इस पर चण्डरुद्राचार्य क्रोधावेश मे आ कर कहने लगे—'ले आ, तुझे दीक्षा देता हूँ।' यो कह कर उसका मस्तक पकड कर झटपट लोच कर दिया।

आचार्य द्वारा उक्त युवक को मुण्डित करते देख, उसके साथी खिसक गए। नवदीक्षित शिष्य ने कहा—'गुरुदेव! अब यहाँ रहना ठीक नही है, अन्यत्र विहार कर दीजिए, अन्यथा यहाँ के परिचित लोग आ कर हमे तग करेगे।' अत आचार्य ने मार्ग का प्रतिलेखन किया और शिष्य के अनुरोध पर उसके कधे पर बैठ कर चल पडे।

रास्ते मे अधकार के कारण रास्ता साफ न दिखने से शिष्य के पैर ऊपर नीचे पडने लगे। इस पर चण्डरुद्र आचार्य कुपित हुए और शिष्य को भला-बुरा कहने लगे। पर शिष्य ने समभावपूर्वक गुरु के कठोर वचन सहे। सहसा एक खड्डे मे पैर पडने के कारण गुरु ने मुण्डित सिर पर डडा फटकारा, सिर फूट गया, रक्त की धारा बह चली, फिर भी शिष्य ने शान्ति से सहन किया, कोमल वचनो से गुरु को शान्त करने का प्रयत्न किया। इस उत्कृष्ट क्षमा के फलस्वरूप उच्चतमभावधारा के साथ शिष्य को केवलज्ञान हो गया। केवलज्ञान के प्रकाश मे अब उसके पैर सीधे पडने लगे। फिर भी गुरु ने व्यग मे कहा—'दुष्ट! डडा पडते ही सीधा हो गया। अब तुझे रास्ता कैसे दीखने लगा?'

उसने कहा—'गुरुदेव! आपकी कृपा से प्रकाश हो गया।' इससे चण्डरुद्राचार्य के परिणामो की धारा बदली। वे केवलज्ञानी शिष्य की आशातना एव इतने कठोर प्रताडन के लिए पश्चात्ताप-पूर्वक क्षमायाचना करने लगे। शिष्य पर प्रसन्न हो कर उसकी नम्रता, क्षमा, समता और सहिष्णुता की प्रशसा करने लगे।

इसी प्रकार जो शिष्य विनीत हो कर गुरु के वचनो को सहन करता है, वह अतिक्रोधी गुरु को भी चण्डरुद्र की तरह प्रसन्न कर लेता है।[3]

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८
(ख) **'आइन्ने य विणीए भद्दए वावि एगट्ठा।'** —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा ६४
२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४८
३ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९

विनीत का वाणीविवेक (वचनविनय)—

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥

[१४] (विनीत शिष्य) (गुरु के) विना पूछे कुछ भी न बोले, पूछने पर असत्य न बोले। (कदाचित्) क्रोध (आ भी जाए तो उस) को निष्फल (असत्य—अभावयुक्त) कर दे। (गुरु के) प्रिय और अप्रिय (वचन या शिक्षण) दोनो को धारण करे, (उस पर राग और द्वेष न करे)।

विवेचन—कोहं असच्चं कुव्वेज्जा—गुरु के द्वारा किसी अपराध या दोष पर अत्यन्त फटकारे जाने पर भी क्रोध न करे। कदाचित् क्रोध उत्पन्न भी हो जाए तो उसे कुविकल्पो से बचा कर विफल कर दे। यह इस पक्ति का आशय है।

कुलपुत्र का दृष्टान्त—एक कुलपुत्र के भाई को शत्रु ने मार डाला। उसकी माता ने जोश मे आकर कहा—पुत्र! भ्रातृघातक को मार कर बदला लो। वह उसे खोजने गया। बहुत समय भटकने के बाद अपने भाई के हत्यारे को जीवित पकड लाया और माता के समक्ष उपस्थित किया। शत्रु उसकी माता की शरण मे आ गया। कुलपुत्र ने पूछा—'हे भ्रातृघातक! तुझे कैसे मारू?' शत्रु ने गिडगिडाकर कहा—'जैसे शरणागत को मारते है।' इस पर उसकी मा ने कहा—'पुत्र! शरणागत को नही मारा जाता।' कुलपुत्र बोला—'फिर मै अपने क्रोध को कैसे सफल करू?' माता ने कहा—'बेटा! क्रोध सर्वत्र सफल नही किया जाता। इस क्रोध को विफल करने मे ही तुम्हारी विशेषता है।' उसने शत्रु को छोड दिया।[1]

आत्मदमन और परदमन का अन्तर एवं फल—

१५. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

[१५.] अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योकि आत्मा का दमन ही कठिन है। दमित आत्मा ही इस लोक और परलोक मे सुखी होता है।

१६. वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥

[१६] (शिष्य आत्मविनय के सन्दर्भ मे विचार करे—) अच्छा तो यही है कि मै सयम और तप (बाह्य-आभ्यन्तर) द्वारा अपना आत्मदमन करू, बन्धनो और वध (ताडन-तर्जन-प्रहार आदि) के द्वारा मैं दूसरो से दमित किया जाऊँ, यह अच्छा नही है।

विवेचन—अप्पा चेव दमेयव्वो—आत्मा शब्द यहाँ इन्द्रियो और मन के अर्थ मे है। अर्थात्—मनोज्ञ-अमनोज्ञ (इष्ट-अनिष्ट) विषयो मे राग और द्वेष के वश दुष्ट गज की तरह उन्मार्गगामी इन्द्रियो और मन का स्वय विवेकरूपी अकुश द्वारा उपशमन (दमन) करे।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९
(ख) वही, पत्र ४९

दुद्दमो का अर्थ—दुर्जय है, क्योकि आत्मा (इन्द्रिय-मन) को जीत लेने पर दूसरे सब (बाह्य दमनीयो) पर विजय पाई जा सकती है।

दान्त आत्मा उभयत्र सुखी—दान्त आत्मा महर्षिगण इस लोक मे भी सर्वत्र पूजे जाते हैं, सुखी रहते हैं और परलोक मे भी सुगति या मोक्षगति पा कर सुखी होते है।

आत्मदमन ही श्रेष्ठ—आत्मदमन, सयम और तप के द्वारा स्वेच्छा से इन्द्रिय और मन को रागद्वेष से बचाना है, जो अपने अधीन है, किन्तु परदमन मे परतत्रता है, प्रतिक्रिया है, रागद्वषादि के कारण मानसिक सक्लेश भी है।[1]

सेचनक हाथी का दृष्टान्त--यूथपति द्वारा अपने बच्चे को मारे जाने के भय से एक हथिनी ने तापसो के आश्रम मे गजशिशु का प्रसव किया। वह ऋषिकुमारो के साथ-साथ आश्रम के बगीचे को सीचता था, इसलिए उसका सेचनक नाम रख दिया। जवान होने पर यूथपति को मार कर वह स्वय यूथपति बना। उसने आवेश मे आ कर आश्रम को भी नष्टभ्रष्ट कर डाला। श्रेणिक राजा के पास तापसो की फरियाद पहुँची तो वह सेचनक हाथी को पकडने के लिए निकला। एक देवता ने देखा कि श्रेणिक इसे अवश्य पकडेगा और बन्धन मे डालेगा। अत देवता ने उस हाथी के कान मे कहा—'पुत्र! श्रेणिक तुझे बन्धन मे जकडे और मारपीट कर ठीक करे, इसकी अपेक्षा तू स्वय अपने आपका दमन कर ले।' यह सुन कर वह हाथी रात को ही श्रेणिक राजा की हस्तिशाला मे पहुँच गया और खभे से बन्ध गया। इसी प्रकार मोक्षार्थी विनीत साधक को तपसयम द्वारा स्वय विषय-कषायो का शमन (दमन) करना श्रेयस्कर है, विशिष्ट सकामनिर्जरा का कारण है। दूसरो के द्वारा दमन से अकामनिर्जरा ही होगी।[2]

अनाशातना-विनय के मूलमंत्र

१७. पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥

[१७] प्रकट मे (लोगो के समक्ष) अथवा एकान्त मे वाणी से अथवा कर्म से कदापि प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) आचार्यो के प्रतिकूल आचरण नही करना चाहिए।

१८. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे॥

[१८] कृत्यो (वन्दनीय आचार्यादि) के बराबर (सट कर) न बैठे, आगे और पीछे भी (सट कर या विमुख हो कर) न बैठे, उनके (अतिनिकट) जाघ से जाघ सटा कर (शरीर से स्पर्श हो, ऐसे) भी न बैठे। बिछौने (शयन) पर (बैठा-बैठा) ही (उनके कथित आदेश को) श्रवण, स्वीकार न करे (किन्तु आसन छोड कर पास आकर स्वीकार करे)।

१९. नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्ड व संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३३ २. वही, पत्र ५०

[१६.] सयमी मुनि गुरुजनो के समीप पालथी लगा कर न बैठे, पक्षपिण्ड करके अथवा दोनों पैरो (टागो) को पसार कर न बैठे।

२०. आयरिएहिं वाहिन्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ।।

[२०] गुरु के प्रसाद (-कृपाभाव) को चाहने वाला मोक्षार्थी शिष्य, आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर कदापि (किसी भी स्थिति मे) मौन न रहे, किन्तु निरन्तर गुरु के समीप (सेवा मे) उपस्थित रहे।

२१. आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ।।

[२१] गुरु के द्वारा एक बार अथवा अनेक बार बुलाए जाने पर धीर (बुद्धिमान्) शिष्य कदापि बैठा न रहे, किन्तु आसन छोडकर (उनके आदेश को) यत्नपूर्वक (सावधानी से) स्वीकार करे।

२२. आसण-गओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जा-गओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो ।।

[२२] आसन अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कोई बात गुरु से न पूछे, किन्तु उनके समीप आ कर, उकडू आसन से बैठ कर और हाथ जोड कर (जो भी पूछना हो,) पूछे।

विवेचन—आशातना के कारण—(१) आचार्यों के प्रतिकूल आचरण मन-वचन-काय से करने से, (२) उनके समीप सट कर बैठने से, (३) उनके आगे या पीछे सट कर या पीठ देकर बैठने मे (४) जाघ से जाघ सटा कर बैठने से, (५) शय्या पर बैठे-बैठे ही उनके आदेश को स्वीकार करने से, (५) पालथी लगा कर बैठने से, (६) दोनो हाथो से शरीर को बाध कर बैठने से, (७) दोनो टागे पसार कर बैठने से, (८) उनके द्वारा बुलाने पर चुप रहने पर, (९) एक या अनेक बार बुलाये जाने पर भी बैठे रहने से, (१०) अपना आसन छोडकर उनके आदेश को यत्नपूर्वक स्वीकार न करने से, (११) आसन पर बैठे-बैठे ही कोई बात गुरु से पूछने से और प्रश्न पूछते समय गुरु के निकट न आकर उकडू आसन से न बैठ कर तथा हाथ न जोडने से। ये और ऐसी ही कई बाते गुरुजनो की आशातना की कारण है। अनाशातनाविनय के लिए इन्हे छोडना अनिवार्य है।[1]

वाया अदुव कम्मुणा—वाणी से प्रतिकूल व्यवहार—तुम क्या जानते हो? तुझे कुछ आता-जाता तो है नही! **कर्म से प्रतिकूल आचरण**—गुरु के पैर लगाना, ठोकर मारना, उनके उपकरणो को फेंक देना या पैर लगाना आदि।[2]

आवि वा जइ वा रहस्से—आवि—जनसमक्ष प्रकट मे, **रहस्से**—विविक्त उपाश्रयादि मे, एकान्त मे या अकेले मे।[3]

१ उत्तराध्ययनसूत्र, मूल अ १, गा १७ से २२ तक
२ बृहद्वृत्ति, पत्र ५४
३ वही, पत्र ५४

किच्चाण—कृत्याना—कृति—वन्दना के योग्य, आचार्यादि के ।[१]

पल्हत्थियं—पालथी-घुटनों और जाघों पर वस्त्र लपेटने की क्रिया ।[२]

पक्खपिंडं—दोनो भुजाओ से जाघो को वेष्टित करके बैठना पक्षपिण्ड कहलाता है ।[३]

जओ जत्तं पडिस्सुणे—दो अर्थ—(१) जहाँ गुरु विराजमान हो, वहाँ जा कर उनकी उपदिष्ट वाणी को—प्रेरणा को स्वीकार करे । (२) अथवा यत्नवान् होकर गुरु के आदेश को स्वीकार करे ।[४]

उवचिट्ठे—दो अर्थ—(१) पास मे जाकर बैठे या खडा रहे, (२ मैं सिर झुकाकर वन्दन करता हूँ, इत्यादि कहता हुआ सविनय गुरु के पास जाए ।[५]

पंजलिउडो-पंजलीगडे—दो रूप—(१) प्रकर्ष भावो से दोनों हाथ जोडकर, (२) प्रकर्षरूप से अन्त करण की प्रीतिपूर्वक अजलि करके ।[६]

विनीत शिष्य को सूत्र-अर्थ-तदुभय बताने का विधान

२३. एवं विणय-जुत्तस्स सुत्तं अत्थं च तदुभय ।
पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरेज्ज जहासुय ॥

(२३) विनययुक्त शिष्य के द्वारा इस प्रकार (विनीतभाव से) पूछने पर (गुरु) सूत्र, अर्थ और तदुभय (दोनो) का यथाश्रुत (जैसे सुना या जाना हो, वैसे) प्रतिपादन करे ।

विवेचन—सुत्तं अत्थं च तदुभयं—**सूत्र**—कालिक-उत्कालिक शास्त्र, **अर्थ**—उनका अर्थ और **तदुभय**—दोनो उनका आशय, तात्पर्य आदि भी ।[७]

जहासुयं—गुरु आदि से जैसा सुना-जाना है, न कि अपनी कल्पना से जाना हुआ ।[८]

श्रुतविनयप्रतिपत्ति—आचार्यादि के लिए शास्त्रो मे चतुर्विध प्रतिपत्ति बताई गई है—(१) उद्यत होकर शिष्य को सूत्रपाठ ग्रहण कराए, (२) अर्थ को प्रयत्नपूर्वक सुनाए, (३) जिम सूत्र के

१ 'कृति —वन्दनक, तदर्हन्ति कृत्या आचार्यादयः ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४

२ 'पर्यस्तिका—जानुजघोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकाम् ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४

३ (क) पक्खपिंडो-दोहिं वि बाहाहिं उरूग-जाणूणि घेत्तूण अच्छण ।'—उत्त चूणि, प. ३५
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ५५

५ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३५, (ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ (ग) सुखबोधा, पत्र ८

६ बृहद्वृत्ति, पत्र ५५
पंजलिउडेत्ति—'प्रकृष्ट भावाऽन्विततयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुट ।'
पंजलीगडे—प्रकर्षेण अन्त प्रीत्यात्मकेन कृतो—विहितोऽञ्जलि उभयकरमीलनात्मकोऽनेनेति प्रकृताऽञ्जलि । कृतशब्दस्य परनिपात प्राकृतत्वात् ।

७ बृहद्वृत्ति, पत्र ५५

८ वही, पत्र ५५

लिए जो योगोद्वहन (उपधान तप आदि) हो, उसकी विधि परिणामपूर्वक बताए, (४) शास्त्र को अधूरा न छोड कर सम्पूर्ण शास्त्र की वाचना दे ।[1]

विनीत शिष्य द्वारा करणीय भाषा-विवेक—

२४. मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणिं वए ।
भासा-दोसं परिहरे मायं च वज्जए सया ।।

[२४] भिक्षु असत्य (मृषाभाषा) का परिहार (त्याग) करे, निश्चयात्मक भाषा न बोले, भाषा के (अन्य परिहास, सशय आदि) दोषो को भी छोडे तथा माया (कपट) का सदा परित्याग करे ।

२५. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्सन्तरेण वा ।।

[२५] (किसी के द्वारा) पूछने पर भी अपने लिए, दूसरो के लिए अथवा दोनो के लिए या निष्प्रयोजन ही सावद्य (पापकारी भाषा) न बोले, न निरर्थक बोले और न मर्मभेदी वचन कहे ।

विवेचन—उभयस्संतरेण वा—उभय—अपने और दूसरे दोनो के लिए, अथवा बिना ही प्रयोजन के (अकारण) न बोले ।[2]

अकेली नारी के साथ अवस्थान-सलाप-निषेध—

२६. समरेसु अगारेसु सन्धीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न सलवे ।।

[२६] लोहार आदि की शालाओ (समरो) मे, घरो मे, दो घरो के बीच की सन्धियो मे या राजमार्गों (महापथो-सडको) पर अकेला (साधु) अकेली स्त्री के साथ न तो खडा रहे और न सलाप (बातचीत) करे ।

विवेचन— समर शब्द के ५ अर्थ फलित होते है—(१) लोहार की शाला, (२) नाई की दूकान, लोहकारशाला, खरकुटी या अन्य नीचस्थान (३) युद्धस्थान, जहाँ एक साथ दोनो पक्ष के शत्रु एकत्र होते है, (४) समूह का एकत्र होना, मिलना या मेला और (५) 'स्मर' ऐसा रूपान्तर करने पर कामदेवसम्बन्धी स्थान, व्यभिचार का अड्डा या कामदेवमन्दिर अर्थ भी हो सकता है ।[3]

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५५

२ **'उभयस्से 'त्ति**—आत्मन परस्य च प्रयोजनमिति गम्यते, **अतरेण वेत्ति**—बिना वा प्रयोजनमित्युपस्कार ।
—बृहद् वृत्ति, पत्र ५७, सुखबोधा पत्र ८

३ (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ.-३७ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७, सममरिभिर्वर्तन्ते इति समरा ।
(ग) Samara Coming together, Meeting concourse, confluence.
—Sanskrit-English Dictionary p 1170
(घ) 'समर—स्मरगृह या कामदेवगृह ।' —अगविज्जा भूमिका, पृ ६३,

अगारेसु के दो अर्थ—(१) शून्यागारो मे, (२) घरो मे ।[1]

सधीसु के दो अर्थ—(१) घरो के बीच की सन्धियो मे, (२) दो दीवारो के बीच के प्रच्छन्न स्थानो में ।[2]

विनीत के लिए अनुशासन-स्वीकार का विधान—

२७. जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा ।
'मम लाभो' त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे ॥

[२७] 'सौम्य (शीतल—कोमल) अथवा कठोर शब्द से प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ आचार्य) मुझ पर जो अनुशासन करते है, वह मेरे लाभ के लिए है,' ऐसा विचार कर प्रयत्नपूर्वक उस अनुशासन (शिक्षावचन) को स्वीकार करे ।

२८. अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मन्नए पण्णो वेसं होइ असाहुणो ॥

[२८] आचार्य के द्वारा किया जाने वाला प्रसगोचित मृदु या कठोर अनुशासन (औपाय), दुष्कृत का निवारक होता है । प्राज्ञ (बुद्धिमान्) शिष्य उसे हितकारक मानता है, वही (अनुशासन) असाधु-अविनीत मूढ के लिए द्वेष का कारण बन जाता है ।

२९. हियं विगय-भया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं खन्ति-सोहिकरं पयं ॥

[२९] भय से मुक्त मेधावी (प्रबुद्ध) शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते है, किन्तु वही क्षमा और चित्त शुद्धि करने वाला (गुण-वृद्धि का आधारभूत) अनुशासन-पद मूढ शिष्यो के लिए द्वेष का कारण हो जाता है ।

विवेचन—अणुसासंति—अनुशासन शब्द यहाँ शिक्षा, उपदेश, नियत्रण आदि अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है ।[3]

'सीएण फरुसेण वा'—शीत शब्द के दो अर्थ—(१) सौम्य शब्द और (२) समाधानकारी शब्द । परुष का अर्थ है—कर्कश—कठोर शब्द ।[4]

'ओवायं' के दो रूपान्तर—औपायम् और औपपातम् । औपायम् का अर्थ है—कोमल और कठोर वचनादि रूप उपाय से होने वाला । उपपात का अर्थ है—समीप रहना, गुरु की सेवाशुश्रूषा मे रहना, उपपात से होने वाला कार्य औपपात है ।[5]

---

१ (क) 'अगार नाम सुण्णागार'—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३७
(ख) 'अगारेषु-गृहेषु ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ७०

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३७

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ५७

४ वही, पत्र ५७

५ वही, पत्र ५७-५८

खंति-सोहिकरं—दो अर्थ—(१) क्षमा और शुद्धि—आशयविशुद्धता करने वाला, (२) क्षान्ति की शुद्धि निर्मलता करने वाला। गुरु का अनुशासन क्षान्ति का हेतु है और मार्दवादि शुद्धि कारक हैं।[1]

पयं—पद का अर्थ है—स्थान, अर्थात्-ज्ञानादिगुण प्राप्ति का स्थान।[2]

विनीत की गुरुसमक्ष बैठने की विधि—

३०. आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जऽप्पकुक्कुए॥

[३०.] (शिष्य) ऐसे आसन पर बैठे, जो गुरु के आसन से ऊँचा नही (नीचा) हो, जिससे कोई आवाज न निकलती हो और स्थिर हो (जिसके पाये जमीन पर टिके हुए हो)। ऐसे आसन से प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे तथा (किसी गाढ) कारण के विना न उठे। बैठे तब स्थिर एव शान्त होकर बैठे—हाथ पैर आदि से चपलता न करे।

विवेचन—'अणुच्चे' शब्द की व्याख्या—जो आसन गुरु के आसन से द्रव्यत· नीचा हो और भावत. अल्पमूल्य वाला आदि हो।[3]

'अकुए' शब्द के दो रूप, दो अर्थ—(१) **अकुजः**—जो आसन (पाट, चौकी आदि) आवाज न करता हो, (२) **अकुचः**—जो अकम्पमान हो, लचीला न हो।[4]

'अल्पोत्थायी' के दो अर्थ—(१) अल्पोत्थायी—प्रयोजन होने पर कम ही उठे, अथवा (२) प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे।[5]

निरुत्थायी—निमित्त या प्रयोजन (कारण) के विना न उठे।[6]

'अल्पोकुक्कुए'—के दो अर्थ—चूर्णि मे 'अल्प' का 'निषेध' अर्थ है, जबकि बृहद्वृत्ति मे 'थोडा' और 'निषेध' दोनो अर्थ किये है। इन अर्थों की दृष्टि से 'अप्पकुक्कुए' (१) हाथ-पैर आदि से असत् चेष्टा (कौत्कुच्य) न करे, अथवा (२) हाथ-पेर आदि से थोडा स्पन्दन (हलन-चलन) करे, ये दो अर्थ हैं।[7]

यथाकालचर्या का निर्देश—

३१. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता काले काल समायरे॥

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५८
२ वही, पत्र ५८
३ वही, पत्र ५८-५९
४ वही, पत्र ५८-५९
५. वही, पत्र ५८-५९
६. वही, पत्र ५८-५९
७ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३८ (ख) सुखबोधा, पत्र ११, (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८-५९

[३१] भिक्षु यथासमय (भिक्षा के लिए) निकले और समय पर लौट आए। (उस-उस क्रिया के) असमय (अकाल) मे (उस क्रिया को) न करके जो क्रिया जिस समय करने की हो, उसे उसी समय पर करे।

विवेचन – कालचर्या से लाभ, अकालचर्या से हानि—जिस प्रकार किसान वर्षाकाल मे बीज बोता है तो उसे समय पर अनाज की फसल मिलती है, उसी प्रकार उस-उस काल मे उचित भिक्षा, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमणादि क्रिया के करने से साधक को स्वाध्याय ध्यान आदि के लिए समय मिल जाता है, साधना से सिद्धि का लाभ मिलता है, उस क्रिया मे मन भी लगता है। किन्तु जैसे कोई किसान वर्षाकाल बीत जाने पर बीज बोता है तो उसे अन्न की फसल नही मिलती, इसी प्रकार असमय मे भिक्षाचर्या आदि करने से यथेष्ट लाभ नही मिलता, मन को भी सक्लेश होता है, साधना मे तेजस्विता नही आती, स्वाध्याय-ध्यानादि कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है।[1]

भिक्षाग्रहण एवं आहारसेवन की विधि—

३२. परिवाडीए न चिट्ठेज्जा भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता मियं कालेण भक्खए॥

[३२] (भिक्षा के लिए गया हुआ) भिक्षु परिपाटी (भोजन के लिए जनता की पंक्ति) मे खडा न रहे, वह गृहस्थ के दिये गए आहार की एषणा करे तथा मुनिमर्यादा के अनुरूप (प्रतिरूप) एषणा करके शास्त्रोक्त काल मे (आवश्यकतापूर्तिमात्र) परिमित भोजन करे।

३३. नाइदूरमणासन्ने नन्नेसिं चक्खु-फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा लंघिया तं नइक्कमे॥

[३३] यदि पहले से ही अन्य भिक्षु (गृहस्थ के द्वार पर) खडे हो तो उनसे न अतिदूर और न अतिसमीप खडा रहे, न अन्य (गृहस्थ) लोगो की दृष्टि के समक्ष खडा रहे, किन्तु अकेला (भिक्षुओ और दाताओ की दृष्टि से बच कर एकान्त मे) खडा रहे। अन्य भिक्षुओ को लाघ कर भोजन लेने के लिए घर मे न जाए।

३४. नाइउच्चे व नीए वा नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं पडिगाहेज्ज संजए॥

[३४] सयमी साधु प्रासुक (अचित्त) और परकृत (अपने लिए नही बनाया गया) आहार ग्रहण करे, किन्तु अत्यन्त ऊँचे या बहुत नीचे स्थान से लाया हुआ तथा न अत्यन्त निकट से दिया जाता हुआ आहार ले और न अत्यन्त दूर से।

३५. अप्पपाणेऽप्पबीयंमि पडिच्छन्नंमि संवुडे।
समयं संजए भुंजे जयं अपरिसाडियं॥

---

१ बृहत्वृत्ति का आशय, पत्र ५९

[३५] सयमी साधु प्राणी और बीजो से रहित, ऊपर से ढँके हुए और दीवार आदि से सवृत मकान (उपाश्रय) मे अपने सहधर्मी साधुओ के साथ भूमि पर न गिराता हुआ यत्नपूर्वक आहार करे।

३६. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी ॥

[३६] (आहार करते समय) मुनि, भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध मे—'बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छा पकाया है, (घेवर आदि) खूब अच्छा छेदा (काटा) है, अच्छा हुआ है, जो इस करेले आदि का कडवापन मिट अपहृत हो) गया है, अच्छी तरह निर्जीव (प्रासुक) हो गया है अथवा चूरमे आदि मे घी अच्छा भरा (रम गया या खपा) है, 'यह बहुत ही सुन्दर है—इस प्रकार के सावद्य (पापयुक्त) वचनो का प्रयोग न करे।

विवेचन—पडिरूवेण के पाच अर्थ—चूर्णिसम्मत अर्थ (१) प्रतिरूप—शोभन रूपवाला, (२) उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात्—रजोहरण गोच्छग और पात्रधारक, और जिनप्रतिरूपक यानी तीर्थंकर के समान पाणिपात्र हो कर भोजन करने वाला। प्रकरणसगत अर्थ—स्थविरकल्पी या जिनकल्पी, जिस वेश मे हो, उसी रूप मे। प्रतिरूप का अर्थ प्रतिबिम्ब भी है, अत अर्थ हुआ—तीर्थंकर या चिरन्तन मुनियो के समान वेश वाला।[1]

भिक्षागत-दोषो के त्याग का सकेत—'नाइउच्चे व नीए वा' ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत दोषो की ओर, **'नासन्ने नाइदूरओ'** ये दो पद गोचरी के लिए गये हुए मुनि के द्वारा गृहस्थ-गृहप्रवेश की मर्यादा की ओर सकेत करते है तथा फासुय, परकड, पिड आदि भिक्षादोषो के त्याग का सकेत दशवैकालिक मे मिलता है।[2]

अप्पपाणे अप्पबीयमि—इन दोनो मे अल्प शब्द अभाववाचक है। इन दोनो पदो का क्रमश अर्थ होता है—प्राणी रहित या द्वीन्द्रियादिजीव-रहित स्थान मे, बीज (एकेन्द्रिय) से रहित स्थान मे। उपलक्षण से इन दोनो पदो का अर्थ होता है -समस्त त्रस-स्थावर जन्तुओ से रहित स्थान मे।[3]

पडिच्छन्नंमि संवुडे—इन दोनो का अर्थ क्रमश ऊपर से ढँके हुए स्थान—उपाश्रय मे तथा पार्श्व मे दीवार आदि से सवृत स्थान—उपाश्रय मे होता है। इन दोनो पदो के विधान का आशय यह है कि साधु खुले मे भोजन न करे, क्योकि वहाँ सपातिम (ऊपर से गिरने वाले) सूक्ष्म जीवो का उपद्रव सभव है। अत. ऐसे स्थान मे आहार करे जो ऊपर से छाया हुआ हो तथा बगल मे भी भीत, टाटी या पर्दा आदि से ढँका हुआ हो। 'सवुडे' शब्द स्थान के विशेषण के अतिरिक्त

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ३९,
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९
(ग) सुखबोधा, पत्र ११
२ (क) दशवैकालिक ५।१।६७-६८-६९
(ख) वही, अ ५।१।२४
(ग) वही, ८।२३, ८।५१
३ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ४०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य द्वारा संवृत (सर्वेन्द्रियगुप्त—संयत) या साधु का विशेषण भी माना गया है ।[1]

समयं—दो अर्थ हैं—(१) साथ मे और (२) समतापूर्वक । यह शब्द गच्छ-वासी साधुओ की समाचारी का द्योतक है । 'भुजे' क्रिया के साथ इसका आशय यह है कि मडण्लीभोजी साधु अपने सहधर्मी साधुओ को निमन्त्रित करके उनके साथ आहार करे, अकेले न करे। चूर्णि मे इस अर्थ के अतिरिक्त यह भी बताया है कि यदि अकेला भोजन करे तो समभावपूर्वक करे ।[2]

विनीत और अविनीत शिष्य के स्वभाव एवं आचरण से गुरु प्रसन्न और अप्रसन्न—

३७. रमए पण्डिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।
बाल सम्मइ सासन्तो गलियस्सं व वाहए ।।

[३७] मेधावी (पण्डित—विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु वैसा ही प्रसन्न होता है, जैसे कि वाहक (अश्वशिक्षक) उत्तम अश्व को हाकता हुआ प्रसन्न रहता है । जैसे दुष्ट घोड़े को हाकता हुआ उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही अबोध (अविनीत, बाल) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।

३८. 'खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे ।'
कल्लाणमणुसासन्तो पावदिट्ठि त्ति मन्नई ।

[३८.] गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को पापदृष्टि वाला शिष्य ठोकर और चाटा मारने, गाली देने और प्रहार करने के समान कष्टकारक समझता है ।

३९. 'पुत्तो मे भाय नाइ' त्ति साहू कल्लाण मन्नई ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं 'दास व' मन्नई ।।

[३९] गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्व (ज्ञाति) जन की तरह आत्मीय समझ कर शिक्षा देते हैं, ऐसा विचार कर विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है, किन्तु पापदृष्टि वाला कुशिष्य (हितानुशासन से) शासित होने पर भी अपने को दास के समान मानता है ।

४०. न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए ।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ।।

[४०] शिष्य को चाहिए कि वह न तो आचार्य को कुपित करे और न (उनके कठोर अनुशासनादि से) स्वय कुपित हो । आचार्य (प्रबुद्ध गुरु) का उपघात करने वाला न हो और न (गुरु को खरी-खोटी सुनाने की ताक मे उनका) छिद्रान्वेषी हो ।

---

१ (क) सुखबोधा, पत्र १२
(ख) 'सवुडो नाम सव्वेंदियगुत्तो' सवृतो वा सकलाश्रवविरमणात् ।
(ग) सवृते—पार्श्वत कटकुड्यादिना सकटद्वारे, अटव्या कडगादिषु'—बृहद्वृत्ति, पत्र ६-६१

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१
(ख) सुखबोधा, पत्र १२
(ग) उत्तरा चूर्णि, पृ ४०

४१. आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज 'न पुणो' त्ति य ॥

[४१.] (अपने किसी अयोग्य व्यवहार से) आचार्य को कुपित हुआ जान कर विनीत शिष्य प्रतीति (-प्रीति-) कारक वचनो से उन्हे प्रसन्न करे, हाथ जोड कर उन्हे शान्त करे और कहे कि 'फिर कभी ऐसा नही करूगा।'

४२. धम्मज्जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छई ॥

[४२] जो व्यवहार धर्म से अर्जित है और प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) आचार्यों द्वारा आचरित है, सदैव उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कही भी गर्हा को प्राप्त (निन्दित) नही होता।

४३. मणोगयं वक्कगयं जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ॥

[४३] आचार्य के मनोगत और वाक्य (वचन)—गत भाव को जान कर शिष्य उसे (सर्वप्रथम) वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करके, (फिर उसे) कार्यरूप मे परिणत करे।

४४. वित्ते अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं किच्चाइं कुव्वई सया ॥

[४४] (विनयीरूप से) प्रसिद्ध शिष्य (गुरु द्वारा) प्रेरित न किये जाने पर भी कार्य करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है, अच्छी तरह प्रेरित किये जाने पर तो वह तत्काल उन कार्यों को सदा यथोपदिष्ट रूप से भलीभाति सम्पन्न कर लेता है।

विवेचन—रमए—अभिरतिमान्, प्रीतिमान् या प्रसन्न होता है।

सास—दो अर्थ—(१) आज्ञा देता हुआ, (२) प्रमादवश स्खलना होने पर शिक्षा देता हुआ।

खड्डुया—तीन अर्थ—(१) ठोकर (२) लात (३) टक्कर मारना।[1]

बुद्धोपघाई—बुद्धो—आचार्यों के उपघात के तीन प्रकार है—(१) **ज्ञानोपघात**—यह आचार्य अल्पश्रुत है या ज्ञान को छिपाता है, (२) **दर्शनोपघात**—यह आचार्य उन्मार्ग की प्ररूपणा या उसमे श्रद्धा करता है, (३) **चारित्रोपघात**—यह आचार्य कुशील है या पार्श्वस्थ (पाशस्थ) है, इत्यादि प्रकार से व्यवहार करने वाला आचार्य का उपघाती होता है। अथवा जो शिष्य आचार्य की वृत्ति (जीवनयात्रा) का उपघात करता है, वह भी बुद्धोपघाती है।

उदाहरण—कोई वृद्ध गणिगुणसम्पन्न आचार्य विहार करना चाहते हुए भी जघाबल क्षीण होने के कारण एक नगर मे स्थिरवासी हो गए। वहाँ के श्रावकगण भी अपना अहोभाग्य समझ कर उनकी सेवा करते थे: किन्तु आचार्य को दीर्घजीवी देख गुरुकर्मा शिष्य सोचने लगे—हम लोग कब तक इन अजगम (अगतिशील) की परिचर्या करते रहेगे? अत. ऐसा कोई उपाय करे, जिससे आचार्य स्वयं अनशन कर ले। वहाँ के श्रावकगण तो प्रतिदिन सरस आहार लेने के लिए भिक्षा करने वाले साधुओ

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२

को आग्रह करते, परन्तु वे भिक्षा मे पूर्ण नीरस आहार लाते और कहते—"भते ! हम क्या करे ? यहाँ के श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नही, वे विवेकहीन है।" उधर श्रावक लोगो के द्वारा सरस आहार लेने का आग्रह करने पर साधु उन्हे कहते—"आचार्य शरीर-निर्वाह के प्रति अत्यन्त निरपेक्ष हो गए है, अब वे सरस, स्निग्ध आहार नही लेना चाहते। वे यथाशीघ्र सलेखना करना चाहते हैं।" यह सुन कर श्रद्धालु भक्त श्रावको ने आकर सविनय प्रार्थना की—"भगवन् ! आप भुवनभास्कर तेजस्वी परोपकारी आचार्य है। आप हमारे लिए भारभूत नही है। हम यथाशक्ति आपकी सेवा के लिए तत्पर हैं। आपकी सेवा करके हम स्वय को धन्य समझते है। आपके शिष्य साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं, वे भी आपसे क्षुब्ध नही है। फिर आप असमय मे ही सलेखना क्यो कर रहे है ?" इगितज्ञ आचार्य ने जान लिया कि शिष्यो की बुद्धि विकृत होने के कारण ऐसा हुआ है। अत अब इस अप्रीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या प्रयोजन है ? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नही। अत वे तत्काल श्रावकों से कहते है—"मै स्थिरवासी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओ और आप श्रावकगण को सेवा मे रोके रखूगा ? अत श्रेष्ठ यही है कि मै उत्तम अर्थ को स्वीकार करूँ।" इस प्रकार श्रावको को समझाकर आचार्य ने अनशन कर लिया।

यह है आचार्य को अपनी दुश्चेष्टाओ से अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाले बुद्धोपघाती शिष्यो का दृष्टान्त ![1]

तोत्तगवेसए—तोत्त—तोत्र का अर्थ है -जिससे व्यथित किया जाए। द्रव्यतोत्र चाबुक प्रहार आदि है और भावतोत्र है—दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, व्यथा पहुचाने वाले वचन् अथवा छिद्रान्वेषण आदि।[2]

पत्तिएणं दो रूप—प्रातीतिकेन, प्रीतिकेन। इनके अर्थ क्रमश शपथादि पूर्वक प्रतीतिकारक वचनो से एव प्रीति—शान्तिपूर्वक हार्दिक भक्ति से।[3]

विनीत को लौकिक और लोकोत्तर लाभ—

४५ नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाण सरण भूयाण जगई जहा ॥

[४५] पूर्वोक्त विनयसूत्रो (या विनयपद्धतियो) को जान कर जो मेधावी मुनि उन्हे कार्यान्वित करने मे विनत हो (झुक-लग) जाता है, उसकी लोक मे कीर्ति होती है। प्राणियो के लिए जिस प्रकार पृथ्वी आश्रयभूत (शरण) होती है, उसी प्रकार विनयी शिष्य धर्माचरण (उचित अनुष्ठान) करने वालो के लिए आश्रय (आधार) होता है।

४६. पुज्जा जस्स पसीयन्ति सबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्सन्ति विउल अट्ठिय सुय ॥

[४६] शिक्षण-काल से पूर्व ही उसके विनयाचरण से सम्यक् प्रकार मे परिचित (सस्तुत),

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ४२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२-६३
२ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ४२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२
३ बृहद्वृत्ति, पत्र ६३

सम्बुद्ध, (सम्यक् वस्तुतत्त्ववेत्ता) पूज्य आचार्य आदि उस पर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न होकर वे उसे मोक्ष के प्रयोजनभूत (या अर्थगम्भीर) विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७. स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए मणोरुई चिट्ठइ कम्म-संपया।
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे महज्जुई पंच वयाइं पालिया ॥

[४७] (गुरुजनो की प्रसन्नता से विपुल शास्त्रज्ञान प्राप्त) वह शिष्य पूज्यशास्त्र- होता है, उसके समस्त सशय दूर हो जाते हैं। वह गुरु के मन को प्रीतिकर होता है तथा कर्मसम्पदा से युक्त हो कर रहता है। वह तप-समाचारी और समाधि से सवृत (सम्पन्न) हो जाता है तथा पाच महाव्रतो का पालन करके वह महान् द्युतिमान् (तपोदीप्ति-युक्त) हो जाता है।

४८. स देव-गन्धव्व-मणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥
—त्ति बेमि।

[४८.] देवो, गन्धर्वो और मनुष्यो से पूजित वह विनीत शिष्य मल-पक-पूर्वक निर्मित इस देह को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध (मुक्त) होता है, अथवा अल्प कर्मरज वाला महान् ऋद्धिसम्पन्न देव होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विनयी शिष्य को प्राप्त होने वाली बारह उपलब्धियाँ—(१) लोकव्यापी कीर्ति, (२) धर्माचरणकर्त्ताओ के लिए आधारभूत होना, (३) पूज्यवरो की प्रसन्नता, (४) विनयाचरण से परिचित पूज्यो की प्रसन्नता से प्रचुर श्रुतज्ञान-प्राप्ति, (५) शास्त्रीयज्ञान की सम्माननीयता, (६) सर्व-सशय-निवृत्ति, (७) गुरुजनो के मन को रुचिकर, (८) कर्मसम्पदा की सम्पन्नता, (९) तप समाचारी एव समाधि की सम्पन्नता, (१०) पचमहाव्रत पालन से महाद्युतिमत्ता, (११) देव-गन्धर्व-मानव-पूजनीयता, (१२) देहत्याग के पश्चात् सर्वथा मुक्त अथवा अल्पकर्मा महर्द्धिक देव होना।[1]

किच्चाणं—यहाँ कृत्य शब्द का अर्थ है—उचित अनुष्ठान (स्वधर्मोचित आचरण) करने वाला अथवा कलुषित अन्त करणवृत्ति वाले विनयाचरण से दूर लोगो से पृथक् रहने वाला।[2]

अट्ठियंसुयं—दो अर्थ—(१) अर्थ अर्थात् मोक्ष जिसका प्रयोजन हो वह, तथा (२) अर्थ—अर्थ से युक्त ही जो प्रयोजनरूप हो वह अर्थिक, श्रुत—श्रुतज्ञान। **पुज्जसत्थे**—तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **पूज्यशास्त्र**—जिसका शास्त्रीय ज्ञान जनता मे पूज्य—सम्माननीय होता है, (२) **पूज्यशास्ता**—जो अपने शास्ता—गुरु को पूज्य—पूजायोग्य बना देता है, अथवा वह स्वय पूज्य शास्ता (आचार्य या गुरु अथवा अनुशास्ता) बन जाता है, (३) **पूज्यशस्त**—स्वय पूज्य एव शस्त—प्रशसनीय (प्रशसास्पद) बन जाता है।[3]

'मणोरुई चिट्ठइ'—की व्याख्या-गुरुजनो के विनय से शास्त्रीय ज्ञान मे विशारद शिष्य उनके मन मे प्रीतिपात्र (रुचिकर) होकर रहता है।

१ उत्तराध्ययनसूत्र मूल, अ. १, गा. ४५ से ४८ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६

३. वही, पत्र ६६

कम्मसंपया—बृहद्वृत्ति के अनुसार दो अर्थ—(१) कर्मसम्पदा—दशविध समाचारी रूप कर्म-क्रिया से सम्पन्न और (२) योगजविभूति से सम्पन्न ।

समाचारीसम्पन्नता का प्रशिक्षण—प्राचीनकाल मे क्रिया की उपसम्पदा के लिए साधुओ को विशेष नियुक्ति पूर्वक उत्तराध्ययनसूत्र के २६ वें अध्ययन मे वर्णित दशविध समाचारी का प्रशिक्षण दिया जाता था और उसकी पालना कराई जाती थी ।

योगजविभूतिसम्पन्नता की व्याख्या—चूर्णि के अनुसार अक्षीणमहानस आदि लब्धियों से युक्तता है, बृहद्वृत्ति के अनुसार—श्रमणक्रियाऽनुष्ठान के माहात्म्य से समुत्पन्न पुलाक आदि लब्धिरूप सम्पत्तियो से सम्पन्नता है।

'मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया'—इसे एक वाक्य मान कर बृहद्वृत्ति मे व्याख्या इस प्रकार की गई है—कर्मों की—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उदय-उदीरणारूप विभूति—कर्मसम्पदा है, इस प्रकार की कर्मसम्पदा अर्थात् कर्मों का उच्छेद करने की शक्तिमत्ता मे जिसकी मनोरुचि रहती है । अथवा **'मणोरुह चिट्ठइ कम्मसंपयं'** पाठान्तर मान कर इसकी व्याख्या की गई है— विनय मनोरुचित फल-सम्पादक होने से वह मनोरुचित (मनोवाछित) कर्मसम्पदा (शुभप्रकृतिरूप—पुण्यफलरूप) का अनुभव करता रहता है ।[1]

मलपकपुव्वयं—दो अर्थ—(१) आत्मशुद्धि का विघातक होने से पाप-कर्म एक प्रकार का मल है और वही पक है । इस शरीर की प्राप्ति का कारण कर्ममल होने से वह भावत मलपक-पूर्वक है, (२) इस शरीर की उत्पत्ति माता के रज और पिता के वीर्य से होती है, माता का रज–मल है और पिता का वीर्य पक है, अत यह देह द्रव्यत. भी मल-पक (रज-वीर्य) पूर्वक है ।

अप्परए—दो रूप दो अर्थ (१) **अल्परजाः**— जिसके बध्यमान कर्म अल्प है, (२) **अल्परत**—जिसमे मोहनीयकर्मोदयजनित रत-क्रीडा का अभाव हो ।[2]

।। प्रथम : विनयसूत्र अध्ययन समाप्त ।।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६६ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ४४

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ६७

(क) 'माम्रोउय पिउसुक्क ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपको तत्पूर्वक—मलपकपूर्वकम् ।

(ख) **अप्परएत्ति**—अल्पमिति अविद्यमान रतमिति क्रीडित मोहनीयकर्मोदयजनितमस्य अल्परतो लवसप्तमादि, अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा ।

द्वितीय अध्ययन : परीषह्-प्रविभक्ति

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत द्वितीय अध्ययन का नाम परीषह्-प्रविभक्ति है ।

* सयम के कठोर मार्ग पर चलने वाले साधक के जीवन मे परीषहो का आना स्वाभाविक है, क्योकि साधु का जीवन पच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की मर्यादाओ से बधा हुआ है । उन मर्यादाओ के पालन से साधुजीवन की सुरक्षा होती है । मर्यादाओ का पालन करते समय सयममार्ग से च्युत करने वाले कष्ट एव सकट ही साधु की कसौटी है कि उन कष्टो एव सकटो का हसते-हसते धैर्य एव समभाव से सामना करना और अपनी मौलिक मर्यादाओ की लक्ष्मणरेखा से बाहर न होना, अपने अहिंसादि धर्मों को सुरक्षित रखना उन पर विजय पाना है । प्रस्तुत अध्ययन मे साधु, साध्वियो के लिए क्षुधा, पिपासा आदि २२ परीषहो पर विजय पाने का विधान है ।

* सच्चे साधक के लिए परीषह् बाधक नही, अपितु कर्मक्षय करने मे साधक एव उपकारक होते हैं । साधक मोक्ष के कठोर मार्ग पर चलते हुए किसी भी परीषह के आने पर घबराता नही, उद्विग्न नही होता, न ही अपने मार्ग या व्रत-नियम-सयम की मर्यादा-रेखा से विचलित होता है । वह शान्ति से, धैर्य से समभावपूर्वक या सम्यग्ज्ञानपूर्वक उन्हे सहन करके अपने स्वीकृत पथ पर अटल रहता है । उन परीषहो के दबाव मे आकर वह अगीकृत प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण नही करता । वह वस्तुस्थिति का द्रष्टा होकर उन्हे मात्र जानता है, उनसे परिचित रहता है, किन्तु आत्मजागृतिपूर्वक सयम की सुरक्षा का सतत ध्यान रखता है ।

* परीषह् का शब्दश अर्थ होता है—जिन्हे (समभावपूर्वक आर्त्तध्यान के परिणामो के विना) सहा जाता है, उन्हे परीषह कहते है ।[1] यहाँ कष्ट सहने का अर्थ अज्ञानपूर्वक, अनिच्छा से, दबाव से, भय से या किसी प्रलोभन से मन, इन्द्रिय और शरीर को पीडित करना नही है । समभावपूर्वक कष्ट सहने के पीछे दो प्रयोजन होते है—(१) मार्गाच्यवन और (२) निर्जरा अर्थात् जिनोपदिष्ट स्वीकृत मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा—समभावपूर्वक सह कर कर्मों को क्षीण करने के लिए । यही परीषह् का लक्षण है ।[2]

* परीषह्-सहन या परीषह्-विजय का अर्थ जानबूझ कर कष्टों को बुला कर शरीर, इन्द्रियो या मन को पीडा देना नही है और न आए हुए कष्टो को लाचारी से सहन करना है । परीषह-विजय का अर्थ है—दु.ख या कष्ट आने पर भी सक्लेश मय परिणामो का न होना, या अत्यन्त भयानक क्षुधादि वेदनाओ को सम्यग्ज्ञानपूर्वक समभाव से शान्तिपूर्वक सहन करना, अथवा क्षुधादि वेदना

---

१ परिषह्यत इति परिषह. । —राजवार्तिक ९।२।६।५९२।२

२ मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या. परीषहा. । —तत्त्वार्थ. ९।८

उपस्थित होने पर निजात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार नित्यानन्दरूप सुखामृत अनुभव से विचलित न होना परीषहजय है ।[1]

* अनगारधर्मामृत में बताया गया है कि जो सयमी साधु दु खों का अनुभव किये विना ही मोक्ष-मार्ग को ग्रहण करता है, वह दु खो के उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है ।[2] इसलिए परीषहजय का फलितार्थ हुआ कि प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को साधना के सहायक होने के क्षणो तक प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना, न तो मर्यादा तोड कर उसका प्रतीकार करना है और न इधर-उधर भागना है, न उससे बचने का कोई गलत मार्ग खोजना है । परीषह आने पर जो साधक उससे न घबरा कर मन की आदतो का या सुविधाओ का शिकार नही बनता, वातावरण मे बह नही जाता, वरन् उक्त परीषह को दु ख या कष्ट न मान कर ज्ञाता-द्रष्टा बन कर स्वेच्छा से सीना तान कर निर्भय एव निर्द्वन्द्व हो कर सयम की परीक्षा देने के लिए खडा हो जाता है, वही परीषहविजयी है । वस्तुत साधक का सम्यग्ज्ञान ही आन्तरिक अनाकुलता एव सुख का कारण बनकर उसे परीषहविजयी बनाता है ।

* परीषह और कायक्लेश मे अन्तर है । कायक्लेश एक बाह्यतप है, जो उदीरणा करके, कष्ट सह कर कर्मक्षय करने के उद्देशय से स्वेच्छा से झेला जाता है । वह ग्रीष्मऋतु मे आतापना लेने, शीतऋतु मे अपावृत स्थान मे सोने, वर्षाऋतु मे तरुमूल मे निवास करने, अनेकविध प्रतिमाओ को स्वीकार करने, शरीरविभूषा न करने एव नाना आसन करने आदि अर्थों मे स्वीकृत है ।[3] जबकि परीषह मोक्षमार्ग पर चलते समय इच्छा के विना प्राप्त होने वाले कष्टो को मार्गच्युत न होने और निर्जरा करने के उद्देश्य से सहा जाता है ।

* प्रस्तुत अध्ययन मे कर्मप्रवादपूर्व के १७ वे प्राभृत से उद्धृत करके सयमी के लिए सहन करने योग्य २२ परीषहो का स्वरूप तथा उन्हे सह कर उन पर विजय पाने का निर्देश है ।[4] इन मे से वीस परीषह प्रतिकूल हैं, दो परीषह (स्त्री और सत्कार) अनुकूल है, जिन्हे आचाराग मे उष्ण और शीत कहा है ।

* इन परीषहो मे प्रज्ञा और अज्ञान की उत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीयकर्म है, अलाभ का अन्तरायकर्म है, अरति, अचेल, स्त्री, निषद्या, याचना, आक्रोश, सत्कार-पुरस्कार की उत्पत्ति का कारण चारित्रमोहनीय, 'दर्शन' का दर्शनमोहनीय और शेष ११ परीषहो की उत्पत्ति का कारण वेदनीयकर्म है ।[5]

* प्रस्तुत अध्ययन मे परीषहो के विवेचन रूप मे सयमी की चर्या का सागोपाग निरूपण है । □□

---

१ (क) भगवती-आराधना विजयोदया ११५९।२८ (ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९८, (ग) द्रव्यसग्रहटीका ३५ । १४६ । १०

२ अनगारधर्मामृत ६।८३

३ (क) ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा । उग्गा जहा धरिज्जति कायकिलेस तमाहिय ॥—उत्तरा ३०।२७
(ख) औपपातिकसूत्र १९ सू

४ कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडमि ज सुत्त । सणय सोदाहरण त चेव इहपि णायव्व ।।—उत्तरा निर्युक्ति, गा ६९

५ देखिये तत्त्वार्थसूत्र अ ९।९ मे २२ परीषहो के नाम

६ तत्त्वार्थसूत्र अ ९, १३ से १६ सू तक

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

परीसह-पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्ति

परीषह और उनके प्रकार : संक्षेप में—

१. *सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—*

इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।

[१] आयुष्मन् ! मैंने सुना है, भगवान् ने इस प्रकार कहा है—श्रमण-जीवन में बाईस परीषह होते (आते) है, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित हैं ; जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराभूत (पराजित) कर, भिक्षाचर्या के लिये पर्यटन करता हुआ भिक्षु परीषहो से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विहत (विचलित या स्खलित) नही होता ।

२. **कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ?**

[२-प्र.] वे बाईस परीषह कौन-से हैं, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित (अभ्यस्त) कर, पराजित कर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ भिक्षु उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नही होता ?

विवेचन—आउसं—यहाँ 'आयुष्मन्' सम्बोधन गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा जम्बूस्वामी के प्रति किया गया है । इसका आशय यह है कि इस अध्ययन का निरूपण सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को लक्ष्य करके किया है ।[1]

पवेइया—के दो अर्थ.—दो रूप—(१) **प्रविदिता:**—भगवान् ने केवलज्ञान के प्रकाश मे प्रकर्षरूप से स्वय साक्षात्कार करके ज्ञात किए—जाने । सर्वज्ञ के विना यह साक्षात्कार हो नही सकता । अत स्वयसम्बुद्ध सर्वज्ञ भगवान् ने इन परीषहो का स्वरूप जाना, (२) **प्रवेदिता**—भगवान् ने इनका प्ररूपण किया ।[2]

परीषहों से पराजित न होने के उपाय—प्रथम सूत्र में सुधर्मास्वामी ने परीषहो से पराजित न होने के निम्नोक्त उपाय बताए हैं—(१) परीषहों का स्वरूप एवं निर्वचन गुरुमुख से श्रवण करके, (२) इनका स्वरूप यथावत् जान कर (३) इन्हें जीतने का पुनः पुन· अभ्यास करके, इनसे परिचित

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ८२

२. (क) वही, पत्र ८२ प्रविदिता प्रकर्षेण स्वय साक्षात्कारित्वलक्षणेन ज्ञाता. ।

(ख) उत्तरज्झयणाणि भा. १ सानुवाद, सं.-मुनि नथमलजी, : 'प्रवेदित हैं'

होकर, (४) परीषहो के सामर्थ्य का सामना करके, उन्हे पराभूत करके या दबा कर। इसका फलितार्थ यह हुआ कि साधक को इन उपायों से परीषहो पर विजय पाना चाहिए।[1]

पुट्ठो नो विहन्नेज्जा का भावार्थ यह है कि परीषहो के द्वारा आक्रान्त होने पर साधक पूर्वोक्त उपायो को अजमाए तो विविध प्रकार से सयम तथा शरीरोपघातपूर्वक विनाश को प्राप्त नही होता।[2]

भिक्खायरियाए परिव्वयंतो—यहाँ शका होती है कि परीषहो के नामो को देखते हुए २२ ही परीषह विभिन्न परिस्थितियो मे उत्पन्न होते हैं, फिर केवल भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन के समय ही इनकी उत्पत्ति का उल्लेख क्यो किया गया ? इसका समाधान बृहद्वृत्ति मे यो किया गया है कि भिक्षाटन के समय ही अधिकाश परीषह उत्पन्न होते है, जैसा कि कहा है—'**भिक्खायरियाए बावीस परीसहा उदीरिज्जंति।**' प्रत्येक परीषह का स्वरूप प्रसगवश शास्त्रकार स्वय ही बताएँगे।[3]

३—इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, तं जहा—

१ दिगिंछा-परीसहे २ पिवासा-परीसहे ३ सीय-परीसहे ४ उसिण-परीसहे ५ दस-मसय-परीसहे ६ अचेल-परीसहे ७ अरइ-परीसहे ८ इत्थी-परीसहे ९ चरिया-परीसहे १० निसीहिया-परीसहे ११ सेज्जा-परीसहे १२ अक्कोस-परीसहे १३ वह-परीसहे १४ जायणा-परीसहे १५ अलाभ-परीसहे १६ रोग-परीसहे १७ तण-फास-परीसहे १८ जल्ल-परीसहे १९ सक्कार-पुरक्कार-परीसहे २० पन्ना-परीसहे २१ अन्नाण-परीसहे २२ दंसण-परीसहे।

[३-उ.] वे बाईस परीषह ये हैं, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ भिक्षु उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नही होता। यथा—१-क्षुधापरीषह, २-पिपासापरीषह, ३-शीतपरीषह, ४-उष्णपरीषह, ५-दश-मशक-परीषह, ६-अचेल-परीषह, ७-अरति-परीषह, ८-स्त्री-परीषह, ९-चर्या-परीषह, १०-निषद्या-परीषह, ११-शय्या-परीषह, १२-आक्रोश-परीषह, १३-वध-परीषह, १४-याचना-परीषह, १५-अलाभ-परीषह, १६-रोग-परीषह, १७-तृणस्पर्श-परीषह, १८-जल्ल-परीषह, १९-सत्कार-पुरस्कार-परीषह, २०-प्रज्ञा-परीषह, २१-अज्ञान-परीषह और २२-दर्शन-परीषह।

भगवत्-प्ररूपित परीषह-विभाग-कथन की प्रतिज्ञा—

१. परीसहाणं पविभत्ती कासवेणं पवेइया।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥

[१] 'काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने परीषहो के जो जो विभाग (पृथक्-पृथक् स्वरूप और भाव की अपेक्षा से) बताए हैं, उन्हे मैं तुम्हे कहूँगा; मुझ से तुम अनुक्रम से सुनो।'

१. उत्तराध्ययनसूत्र मूल, बृहद्वृत्ति, पत्र ८२ '**जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय''' पुट्ठो नो विहन्नेज्जा।**'

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ८२ ३ वही, पत्र ८३

विवेचन—पविभत्ति—प्रकर्षरूप से स्वरूप, विभाग एव भावो की अपेक्षा से पृथक्ता का नाम प्रविभक्ति है। इसे वर्तमान भाषा में विभाग या भेद कहते हैं।[1]

(१) क्षुधा परीषह—

२. दिगिंछा-परिगए देहे तवस्सी भिक्खु थामवं।
न छिन्दे, न छिन्दावए न पए, न पयावए॥

[२] शरीर मे क्षुधा व्याप्त होने पर भी सयमबल से युक्त भिक्षु फल आदि का स्वय छेदन न करे और न दूसरो से छेदन कराए, उन्हे न स्वयं पकाए और न दूसरो से पकवाए।

३. काली-पव्वंग-संकासे किसे धमणि-संतए।
मायन्ने असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे॥

[३] (दीर्घकालिक क्षुधा के कारण) शरीर के अंग काकजघा (कालीपर्व) नामक तृण जैसे सूख कर पतले हो जाएँ, शरीर कृश हो जाए, धमनियो का जालमात्र रह जाए, तो भी अशन-पानरूप आहार की मात्रा (मर्यादा) को जानने वाला भिक्षु अदीनमना (—अनाकुल-चित्त) हो कर (सयममार्ग मे) विचरण करे।

विवेचन—क्षुधापरीषह : स्वरूप और प्रथम स्थान का कारण—'**क्षुधासमा नास्ति शरीर-वेदना**' (भूख के समान कोई भी शारीरिक वेदना नही है) कह कर चूर्णिकार ने क्षुधा-परीषह को परीषहो मे सर्वप्रथम स्थान देने का कारण बताया है। क्षुधा की चाहे जैसी वेदना उठने पर सयम-भीरु साधु के द्वारा आहार पकाने-पकवाने, फलादि का छेदन करने-कराने, खरीदने-खरीदाने की वाञ्छा से निवृत्त होकर तथा अपनी स्वीकृत मर्यादा के विपरीत अनेषणीय—अकल्पनीय आहार न लेकर क्षुधा को समभावपूर्वक सहना **क्षुधापरीषह** है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार क्षुधावेदना की उदीरणा होने पर निरवद्य आहारगवेषी जो भिक्षु निर्दोष भिक्षा न मिलने पर या अल्प मात्रा मे मिलने पर क्षुधावेदना को सहता है, किन्तु अकाल या अदेश मे भिक्षा नही लेता, लाभ की अपेक्षा अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है, वह क्षुधापरीषह-विजयी है। क्षुधापरीषह-विजयी नवकोटि-विशुद्ध भिक्षामर्यादा का अतिक्रमण नही करता, यह शान्त्याचार्य का अभिमत है।[2]

काली-पव्वंग-संकासे—कालीपर्व का अर्थ चूर्णिकार, बृहद्वृत्तिकार 'काकजघा' नामक तृण-विशेष करते हैं। मुनि नथमलजी के मतानुसार हिन्दी मे इसे 'घुघची या गुजा का वृक्ष' कहा जाता है। परन्तु यह अर्थ समीचीन नही प्रतीत होता, क्योकि गुजा का वृक्ष नही होता, वेल होती है। डॉ हरमन जेकोबी, डॉ साडेसरा आदि ने 'काकजघा' का अर्थ 'कौए की जाघ' किया है।

बृहद्वृत्ति के अनुसार काकजघा नामक तृणवृक्ष के पर्व स्थूल और उसके मध्यदेश कृश होते हैं, उसी प्रकार जिस भिक्षु के घुटने, कोहनी आदि स्थूल और जघा, ऊरु (साथल), बाहु आदि कृश हो गए हो, उसे कालीपर्वसकाशाग (कालीपव्वगसकासे) कहा जाता है।[3]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ८३

२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ५२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ८ (घ) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि अ ९।९।४२०।६

३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ५३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
(ग) The Sacred Books of the East—Vol XLV, P. 10, (घ) उत्तराध्ययन, पृ १७

धमणि-संतए—जिसका शरीर केवल धमनियो—शिराओ (नसों) से व्याप्त (जालमात्र) रह जाए उसे 'धमनिसन्तत' कहते हैं। 'धम्मपद' मे भी 'धमनिसन्थत' शब्द का प्रयोग आया है, जिसका अर्थ है—'नसो से मढे शरीर वाली।' भागवत मे भी **'एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः'** प्रयोग आया है। वहाँ भी यही अर्थ है। वस्तुत उत्कट तप के कारण शरीर के रक्त-मांस सूख जाने से वह अस्थिचर्मावशेष रह जाता है, तब उस कृश शरीर के लिए ऐसा कहा जाता है।[1]

तृतीय गाथा का निष्कर्ष—क्षुधा से अत्यन्त पीडित होने पर नवकोटि शुद्ध आहार प्राप्त होने पर भी भिक्षु लोलुपतावश अतिमात्रा में आहार-सेवन न करे तथा नवकोटि शुद्ध आहार मात्रा मे भी न मिलने पर दैन्यभाव न लाए, अपितु क्षुत्परीषह सहन करे।[2]

दृष्टान्त—हस्तिमित्र मुनि अपने गृहस्थपक्षीय पुत्र हस्तिभूत के साथ दीक्षित होकर विचरण करते हुए भोजकटक नगर के मार्ग मे एक अटवी मे पैर मे काटा चुभ जाने से आगे चलने मे असमर्थ हो गए। साधुओ ने कहा—'हम आपको अटवी पार करा देंगे।' परन्तु हस्तिमित्र मुनि ने कहा—मेरी आयु थोडी है। अत मुझे यही अनशन करा कर आप सब लोग इस क्षुल्लक साधु को लेकर चले जाइए। उन्होने वैसा ही किया। परन्तु क्षुल्लक साधु पिता के मोहवश आधे रास्ते से वापस लौट आया। पिता (मुनि) कालधर्म पा चुके थे। किन्तु क्षुल्लक साधु उसे जीवित समझ कर वही भूखा-प्यासा घूमता रहा, किन्तु फलादि तोड कर नही खाए। देव बने हुए हस्तिमित्र मुनि अपने शरीर मे प्रविष्ट होकर क्षुल्लक से कहने लगे—पुत्र, भिक्षा के लिए जाओ। देवमाया से निकटवर्ती कुटीर मे बसे हुए नर-नारी भिक्षा देने लगे। उधर दुर्भिक्ष समाप्त होने पर वे साधु भोजकटक नगर से वहाँ लौटे, क्षुल्लक साधु को लेकर आगे विहार किया। सबने क्षुधार्त्त क्षुल्लक साधु के द्वारा क्षुधापरीषह सहन करने की प्रशसा की।[3]

(२) पिपासा-परीषह—

४. तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्ज-संजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे॥

[४] असयम (—अनाचार) से घृणा करने वाला, लज्जाशील सयमी भिक्षु पिपासा से आक्रान्त होने पर भी शीतोदक (—सचित्त जल) का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की गवेषणा करे।

५. छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्क-मुहेऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं॥

[५] यातायातशून्य एकान्त निर्जन मार्गों मे भी तीव्र पिपासा से आतुर (व्याकुल) होने

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
   (ख) पसूकूलधर जन्तु किस धमनिसन्थत।
   एक वनस्मि झायत, तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥ —धम्मपद
   (ग) भागवत, ११।१८।९
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
३. वही, पत्र ८५

पर, (यहाँ तक कि) मुख सूख जाने पर भी मुनि अदीनभाव से उस (पिपासा-) परीषह को सहन करे ।

विवेचन—प्यास की चाहे जितनी और चाहे जहाँ (बस्ती मे या अटवी मे) वेदना होने पर भी तत्त्वज्ञ साधु द्वारा अगीकृत मर्यादा के विरुद्ध सचित्त जल न लेकर समभावपूर्वक उक्त वेदना को सहना पिपासा-परीषह है । 'सर्वार्थसिद्धि' मे बताया गया है कि जो अतिरूक्ष आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियो का मथन करने वाली पिपासा का (सचित्त जल पी कर) प्रतीकार करने मे आदरभाव नही रखता और पिपासारूपी अग्नि को सतोषरूपी नए मिट्टी के घडे मे भरे हुए शीतल सुगन्धित समाधिरूपी जल से शान्त करता है, उसका पिपासापरीषहजय प्रशसनीय है ।[1]

सीओदगं—का अर्थ 'ठडा पानी' इतना ही करना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि ठंडा जल सचित्त भी होता है, अचित्त भी । अत यहाँ शीतोदक अप्रासुक-सचित्त जल का सूचक है ।

वियडस्स—विकृत जल—अग्नि या क्षारीय पदार्थों आदि से विकृति को प्राप्त—शस्त्रपरिणत अचित्त पानी को कहते है ।[2]

दृष्टान्त—उज्जयिनीवासी धनमित्र, अपने पुत्र धनशर्मा के साथ प्रव्रजित हुआ । एक दिन वे दोनो अन्य साधुओ के साथ एलकाक्ष नगर की ओर रवाना हुए । क्षुल्लक साधु अत्यन्त प्यासा था । उसका पिता धनमित्र मुनि उसके पीछे-पीछे चल रहा था । रास्ते मे नदी आई । पिता ने कहा—लो पुत्र, यह पानी पी लो । धनमित्र नदी पार करके एक ओर खडा रहा । धनशर्मा मुनि ने नदी को देख कर सोचा—"मैं इन जीवो को कैसे पी सकता हूँ ?" उसने पानी नही पिया । अत वही समभाव से उसने शरीर छोड दिया । मर कर देव बना । उस देव ने साधुओ के लिए स्थान-स्थान पर गोकुलो की रचना की और मुनियो को छाछ आदि देकर पिपासा शान्त की । सभी मुनिगण नगर मे पहुँचे । पिछले गोकुल मे एक मुनि अपना आसन भूल गए, अत वापस लेने आए, पर वहाँ न तो गोकुल था, न आसन । सभी साधुओ ने इसे देवमाया समझी । बाद मे वह देव आकर अपने भूतपूर्व पिता (धनमित्र मुनि) को छोड कर अन्य सभी साधुओ को वन्दन करने लगा । धनमित्र मुनि को वन्दन न करने का कारण पूछने पर बताया कि 'इन्होने मुझे कहा था कि तू नदी का पानी पी ले । यदि मै उस समय सचित्त जल पी लेता तो ससार-परिभ्रमण करता ।' यो कह कर देव लौट गया । इसी तरह पिपासापरीषह सहन करना चाहिए ।[3]

(३) शीतपरीषह—

६. चरन्तं विरयं लूहं सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे सोच्चाणं जिणसासणं ।।

[६] (अग्निसमारम्भादि से अथवा असयम से) विरत और (स्निग्ध भोजनादि के अभाव मे)

---

१ (क) आवश्य. मलयगिरि टीका १ अ० (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२०।१२

२ (क) शीत शीतल, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत् तत स्वकायादिशस्त्रानुपहृतमप्रासुकमित्यर्थ ।

(ख) 'वियडस्स त्ति'—विकृतस्य वह्न्यादिना विकार प्रापितस्य, प्रासुकस्येति य'वत्, प्रक्रमादुदकस्य ।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ८६

३ वही, पत्र ८७

रूक्ष (अथवा अनासक्त) हो कर (ग्रामानुग्राम अथवा मुक्तिमार्ग में) विचरण करते हुए मुनि को एकदा (—शीतकाल आदि में) सर्दी सताती है, फिर भी मननशील मुनि जिनशासन (वीतराग की शिक्षाओ) को सुन (समझ) कर अपनी वेला (साध्वाचार-मर्यादा का अथवा स्वाध्याय आदि की वेला) का अतिक्रमण न करे।

७. 'न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गि सेवामि'—इइ भिक्खू न चिन्तए॥

[७] (शीतपरीषह से आक्रान्त होने पर) भिक्षु ऐसा न सोचे कि 'मेरे पास शीत के निवारण का साधन नही है तथा ठड से शरीर की रक्षा करने के लिए कम्बल आदि वस्त्र भी नही है, तो क्यो न मैं अग्नि का सेवन कर लू।'

विवेचन—शीतपरीषह : स्वरूप—बद मकान न मिलने से शीत से अत्यन्त पीडित होने पर भी साधु द्वारा अकल्पनीय अथवा मर्यादा-उपरान्त वस्त्र न लेकर तथा अग्नि आदि न जला कर, न जलवा कर तथा अन्य लोगो द्वारा प्रज्वलित अग्नि का सेवन न कर के शीत के कष्ट को समभावपूर्वक सहना शीतपरीषह है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—पक्षी के समान जिसके आवास निश्चित नही है, वृक्षमूल, चौपथ या शिलातल पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर, ठडी बर्फीली हवा के लगने पर उसका प्रतीकार करने की इच्छा से जो निवृत्त है, पहले अनुभव किये गए प्रतीकार के हेतुभूत पदार्थों का जो स्मरण नही करता, और जो ज्ञान-भावनारूपी गर्भागार मे निवास करता है, उसका शीतपरीषहविजय प्रशसनीय है।[1]

दृष्टान्त—राजगृह नगर के चार मित्रो ने भद्रबाहुस्वामी के पास दीक्षा ग्रहण की। शास्त्राध्ययन करके चारो ने एकलविहारप्रतिमा अगीकार की। एक बार वे तृतीय प्रहर मे भिक्षा लेकर लौट रहे थे। सर्दी का मौसम था। पहले मुनि को आते-आते चौथा प्रहर वैभारगिरि की गुफा के द्वार तक बीत गया। वह वही रह गया। दूसरा नगरोद्यान तक, तीसरा उद्यान के निकट पहुँचा और चौथा मुनि नगर के पास पहुँचा तब तक चौथा पहर समाप्त हो गया। अत ये तीनो भी जहाँ पहुँचे थे वही ठहर गए। इनमे से सबसे पहले मुनि का, जो वैभारगिरि की गुफा के द्वार पर ठहरा था, भयकर सर्दी से पीडित होकर रात्रि के प्रथम पहर मे स्वर्गवास हो गया। दूसरा मुनि दूसरे पहर मे, तीसरा तीसरे पहर मे और चौथा मुनि चौथे पहर मे स्वर्गवासी हुआ। ये चारो शीतपरीषह सहने के कारण मर कर देव बने। इसी प्रकार प्रत्येक साधु-साध्वी को समतापूर्वक शीतपरीषह सहना चाहिए।[2]

(४) उष्णपरीषह—

८. उसिण-परियावेणं परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए॥

[८] गर्म भूमि, शिला, लू आदि के परिताप से, पसीना, मैल या प्यास के दाह से अथवा

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ८७ (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।६२१।३
२ बृहद्वृत्ति, पत्र ८७

ग्रीष्मकालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीडित होने पर भी मुनि ठडक, शीतकाल आदि के सुख के लिए विलाप न करे (– व्याकुल न बने)।

९. उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं॥

[९] गर्मी से सतप्त होने पर भी मेधावी मुनि नहाने की इच्छा न करे और न ही जल से शरीर को सीचे-(गीला करे) तथा पखे आदि से थोडी-सी भी (अपने शरीर पर) हवा न करे।

विवेचन—उष्णपरिषह : स्वरूप एवं विजय—दाह, ग्रीष्मकालीन सूर्यकिरणो का प्रखर ताप, लू, तपी हुई भूमि, शिला आदि की उष्णता से तप्त मुनि द्वारा उष्णता की निन्दा न करना, छाया आदि ठडक की इच्छा न करना, न उसकी याद करना, पखे आदि से हवा न करना, अपने शिर को ठडे पानी से गीला न करना, इत्यादि प्रकार से उष्णता की वेदना को समभाव से सहन करना, उष्णपरीषहजय है। राजवार्तिक के अनुसार—निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणो से सूख कर पत्तो के गिर जाने से छायारहित वृक्षो से युक्त वन मे स्वेच्छा से जिसका निवास है, अथवा अनशन आदि आभ्यन्तर कारणवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है तथा दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु (लू), और आतप के कारण जिसका गला और तालु सूख रहे है, उनके प्रतीकार के बहुत से उपायो को जानता हुआ भी उनकी चिन्ता नही करता, जिसका चित्त प्राणियो की पीड़ा के परिहार मे सलग्न है, वही मुनि उष्णपरीषहजयी है।[1]

परिदाहेण—दो प्रकार के दाह है—बाह्य और आन्तरिक। पसीना, मैल आदि से शरीर मे होने वाला दाह बाह्य परिदाह है और पिपासाजनित दाह आन्तरिक परिदाह है। यहाँ दोनो प्रकार के 'परिदाह' गृहीत है।[2]

अप्पयं– दो रूप, दो अर्थ—आत्मान—अपने शरीर को, अथवा **अल्पकं**—थोडी-सी भी।[3]

दृष्टान्त—तगरा नगरी मे अर्हन्मित्र आचार्य के पास दत्त नामक वणिक् अपनी पत्नी भद्रा और पुत्र अर्हन्नक के साथ प्रव्रजित हुआ। दीक्षा लेने के बाद पिता ही अर्हन्नक की सब प्रकार से सेवा करता था। वह भिक्षा के लिए भी नही जाता और न ही कही विहार करता, अत अत्यन्त सुकुमार एव सुखशील हो गया। दत्त मुनि के स्वर्गवास के बाद अन्य साधुओ द्वारा प्रेरित करने पर वह बालकमुनि अर्हन्नक गर्मी के दिनो मे सख्त धूप मे भिक्षा के लिए निकला। धूप से बचने के लिए वह बडे-बडे मकानो की छाया मे बैठता-उठता भिक्षा के लिए जा रहा था। तभी उसके सुन्दर रूप को देख कर एक सुन्दरी ने उसे बुलाया और विविध भोगसाधनो के प्रलोभन मे फसा कर वश मे कर लिया। अर्हन्नक भी उस सुन्दरी के मोह मे फस कर विषयासक्त हो गया। उसकी माता भद्रा साध्वी पुत्रमोह मे पागल हो कर 'अर्हन्नक-अर्हन्नक' चिल्लाती हुई गली-गली मे घूमने लगी। एक दिन गवाक्ष मे बैठे हुए अर्हन्नक ने अपनी माता की आवाज सुनी तो वह महल से नीचे उतर

१ (क) आवश्यक मलयगिरि टीका अ २ (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक. ९।९।७।६०९।१२

२ **परिदाहेण**—बहि स्वेदमलाभ्यां वह्निना वा, अन्तश्च तृषया जनितदाहस्वरूपेण।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ८९

३ **अप्पयं त्ति**—'आत्मानमथवा अल्पमेवाल्पकम् किं पुनर्बहु।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ८९

कर आया, अत्यन्त श्रद्धावश माता के चरणो मे गिर कर बोला—'माँ! मैं हूँ, आपका अर्हन्नक।' स्वस्थचित्त माता ने उसे कहा—'वत्स! तू भव्यकुलोत्पन्न है, तेरी ऐसी दशा कैसे हुई?' अर्हन्नक बोला—'माँ! मैं 'चारित्रपालन नही कर सकता!' माता ने कहा—'तो फिर अनशन करके ऐसे असयमी जीवन का त्याग करना अच्छा है।' अर्हन्नक ने साध्वी माता के वचनो से प्रेरित होकर तपतपाती गर्म शिला पर लेट कर पादपोपगमन अनशन कर लिया। इस प्रकार उष्णपरीषह को सम्यक् प्रकार से सहने के कारण वह समाधिमरणपूर्वक मर कर आराधक बना।[1]

(५) दंशमशक-परीषह—

१०. पुट्ठो य दंस-मसएहिं-समरेव महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा सूरो अभिहणे परं॥

[१०] महामुनि डास एव मच्छरो के उपद्रव से पीडित होने पर भी समभाव मे ही स्थिर रहे। जैसे—युद्ध के मोर्चे पर (अगली पंक्ति मे) रहा हुआ शूर हाथी (बाणो की परवाह न करता हुआ) शत्रुओ का हनन करता है, वैसे ही शूरवीर मुनि भी परीषह-बाणो की कुछ भी परवा न करता हुआ क्रोधादि (या रागद्वेषादि) अन्तरग शत्रुओ का दमन करे।

११. न सतसे न वारेज्जा मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे भुंजन्ते मस-सोणियं॥

[११] (दश-मशकपरीषहविजेता) भिक्षु उन (दश-मशको के उपद्रव) से सन्त्रस्त (—उद्विग्न) न हो और न उन्हे हटाए। (यहाँ तक कि) मन मे भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मास और रक्त खाने-पीने पर भी उपेक्षाभाव (उदासीनता) रखे, उन प्राणियो को मारे नही।

विवेचन—दशमशकपरीषह स्वरूप और व्याख्या—यहाँ दश-मशकपद से उपलक्षण मे जू, लीख, खटमल, पिस्सू, मक्खी, छोटी मक्खी, कीट, चीटी, बिच्छू आदि का ग्रहण करना चाहिए। शान्त्याचार्य ने मास काटने और रक्त पीने वाले अत्यन्त पीडक-(दशक) शृगाल, भेडिये, गीध, कोए आदि तथा भयकर हिंस्र वन्य प्राणियो को भी 'दशमशक' के अन्तर्गत गिनाया है। अत देह को पीडा पहुँचाने वाले उपर्युक्त दश-मशकादि प्राणियो के द्वारा मास काटने, रक्त चूसने या अन्य प्रकार से पीडा पहुँचाने पर भी मुनि द्वारा उन्हे हटाने-भगाने के लिए धूआ आदि न करना या पखे आदि से न हटाना, उन पर द्वेषभाव न लाना, न मारना, ये बेचारे अज्ञानी आहारार्थी है, मेरा शरीर इनके लिए भोज्य है, भले ही खाएँ, इस प्रकार उपेक्षा रखना दशमशकपरीषहजय है। उपर्युक्त शरीर-पीडक प्राणियो द्वारा की गई बाधाओ को विना प्रतीकार किये सहन करता है, मन-वचन-काय से उन्हे बाधा नही पहुँचाता, उस वेदना को समभाव से सह लेता है, वही मुनि दशमशकपरीषह-विजयी है।[2]

'न संतसे': दो अर्थ—(१) दशमशक आदि से संत्रस्त—उद्विग्न—क्षुब्ध न हो, (२) दशमशकादि से व्यथित किये जाने पर भी हाथ, पैर आदि अगो को हिलाए नही।[3]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ९०

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ९१ (ख) पचसग्रह, द्वार ४, (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२१।१०

३ (क) न सत्रसेत् नोद्विजेत् दशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूना न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि अगानीति शेष।—बृहद्वृत्ति, पत्र ९१ (ख) न सत्रसति अगानि कम्पयति विक्षिपति वा।—उत्तरा चूर्णि पृ ५९

उदाहरण—चम्पानगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र युवराज सुमनुभद्र ने सासारिक कामभोगो से विरक्त होकर धर्मघोष आचार्य से दीक्षा ली। एकलविहारप्रतिमा अगीकार करके वह एक बार सीलन वाले निचले प्रदेश मे विहार करता हुआ शरत् काल मे एक अटवी मे रात को रह गया। रात भर मे उसे भयकर मच्छरो ने काटा, फिर भी समभाव से उसने सहन किया। फलतः उसी रात्रि में कालधर्म पा कर वह देवलोक मे गया।[1]

(६) अचेलपरीषह—

१२. 'परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।'
अदुवा सचेलए होक्खं' इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

[१२] 'वस्त्रो के अत्यन्त जीर्ण हो जाने से अब मैं अचेलक (निर्वस्त्र-नग्न) हो जाऊँगा, अथवा अहा! नये वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेलक हो जाऊँगा', मुनि ऐसा चिन्तन न करे। (अर्थात्—दैन्य और हर्ष दोनो प्रकार का भाव न लाए।)

१३. 'एगयाऽचेलए होइ सचेले यावि एगया।'
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए ॥

[१३] विभिन्न एव विशिष्ट परिस्थितियो के कारण साधु कभी अचेलक भी होता है और कभी सचेलक भी होता है। दोनो ही स्थितियाँ यथाप्रसग मुनिधर्म के लिए हितकर समझ कर ज्ञानवान् मुनि (वस्त्र न मिलने पर) खिन्न न हो।

विवेचन—एगया ० शब्द की व्याख्या—गाथा मे प्रयुक्त एगया (एकदा) शब्द से मुनि की जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक अवस्थाएँ तथा वस्त्राभाव एव सवस्त्र आदि अवस्थाएँ परिलक्षित होती है। चूर्णिकार के अनुसार मुनि जब जिनकल्प-अवस्था को स्वीकार करता है तब अचेलक होता है। अथवा स्थविरकल्प-अवस्था मे वह दिन मे, ग्रीष्मऋतु मे या वर्षाऋतु मे वर्षा नही पडती हो तब अचेलक रहता है। शिशिररात्र (पौष और माघ), वर्षारात्र (भाद्रपद और आश्विन), वर्षा गिरते समय तथा प्रभातकाल मे भिक्षा के लिए जाते समय वह सचेलक रहता है।

बृहद्वृत्ति के अनुसार जिनकल्प-अवस्था मे मुनि अचेलक होता है तथा स्थविरकल्प-अवस्था मे भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते हैं या सर्वथा वस्त्र मिलते नही या वस्त्र उपलब्ध होने पर भी वर्षाऋतु के विना उन्हे धारण न करने की परम्परा होने से या वस्त्रो के जीर्णशीर्ण हो जाने पर वह अचेलक हो जाता है।[2]

इस पर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थविरकल्पी मुनि अपने साधनाकाल मे ही अचेलक और सचेलक दोनो अवस्थाओ मे रहता है। इसी का समर्थन आचारागसूत्र मे मिलता है—'हेमन्त के चले जाने और ग्रीष्म के आ जाने पर मुनि एकशाटक (एक चादर धारण करने वाला) या अचेल हो जाए।'[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ९१
२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ६०   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ९२-९३   (ग) सुखबोधा, पत्र २२
३. आचारांग १।८।४।५०-५२

रात को हिमपात, ओस आदि के जीवो की हिंसा से बचने तथा वर्षाकाल मे जल-जीवो से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढने का भी विधान मिलता है ।[1]

स्थानांगसूत्र में पाच कारणो से अचेलक को प्रशस्त माना गया है—(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है, (२) उपकरण तथा कषाय का लाघव होता है, (३) उसका रूप वैश्वासिक (विश्वस्त) होता है, (४) उसका तप (उपकरणसलीनता रूप) जिनानुमत होता है और (५) विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है ।[2]

इसी अध्ययन की ३४ और ३५ वी गाथा मे जो अचेलकत्व फलित होता है वह भी जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से है ।[3]

(७) अरतिपरीषह—

१४. गामाणुगामं रीयन्तं अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पविसे तं तितिक्खे परीसहं ॥

[१४] एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण करते हुए अकिंचन (निर्ग्रन्थ) अनगार के मन मे यदि कभी सयम के प्रति अरति (—अरुचि=अधृति) उत्पन्न हो जाए तो उस परीषह को सहन करे ।

१५. अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आय-रक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे उवसन्ते मुणी चरे ॥

[१५] (हिंसा आदि से) विरत, (दुर्गतिहेतु दुर्ध्यानादि से) आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म मे रतिमान् (आरम्भप्रवृत्ति से दूर) निरारम्भ मुनि (सयम मे) अरति को पीठ देकर (अरुचि से विमुख होकर) उपशान्त हो कर विचरण करे ।

विवेचन—अरतिपरीषह : स्वरूप और विजय—गमनागमन, विहार, भिक्षाचर्या, साधु-समाचारीपालन, अहिंसादिपालन, समिति-गुप्ति-पालन आदि सयमसाधना के मार्ग मे अनेक कठिनाइयो—असुविधाओ के कारण अरुचि न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमे रस लेना, धर्मरूपी आराम (बाग) मे स्वस्थचित्त होकर सदैव विचरण करना, अरतिपरीषहजय है । अरतिमोहनीयकर्मजन्य मनोविकार है । सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जो सयमी साधु इन्द्रियो के इष्टविषय-सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है, जो गीत-नृत्य-वादित्र आदि से रहित शून्य घर, देवकुल, तरुकोटर या शिला, गुफा आदि मे स्वाध्याय, ध्यान और भावना में रत है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषय-भोगो के स्मरण, विषय-भोग सम्बन्धी कथा के श्रवण तथा काम-शर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है एव जो प्राणियो पर सदैव दयावान् है, वही अरतिपरीषहजयी है ।[4]

---

१ तह निसि चाउक्काल सज्झाय-झाणसाहणमिसीण ।
हिम-महिया वासोसारयाइरक्खाणिमित्त तु ॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ९६

२ स्थानांग, स्थान ५, उ. ३, सू ४५५

३. उत्तरा अ २, गा. ३४-३५

४. [क] आवश्यक, अ. ४
[ख] तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि, ९।९।४१२।७

धम्मारामे—दो अर्थ—(१) **धर्माराम**—जो साधक सब ओर से धर्म मे रमण करता है, (२) **धर्मारामः**—पालनीय धर्म ही जिस साधक के लिए आनन्द का कारण होने से आराम (बगीचा) है, वह ।[1]

उदाहरण—कौशाम्बी में तापसश्रेष्ठी मर कर अपने घर मे ही 'सूअर' बना । एक दिन उसके पुत्रो ने उस सूअर को मार डाला, वह मर कर वही सर्प हुआ । उसे जातिस्मरणज्ञान हुआ । पूर्वभव के पुत्रो ने उसे भी मार दिया । मर कर वह अपने पुत्र का पुत्र हुआ । जातिस्मरणज्ञान होने से वह सकोचवश मूक रहा । एक बार चार ज्ञान के धारक आचार्य ने उसकी स्थिति जान कर उसे प्रतिबोध दिया, वह श्रावक बना । एक अमात्यपुत्र पूर्वजन्म मे साधु था, मरकर देव बना था, वही उक्त मूक के पास आया और बोला—मैं तुम्हारा भाई बनूंगा, तुम मुझे धर्मबोध देना । मूक ने स्वीकार किया । वह देव मूक की माता की कुक्षि से जन्मा । मूक उसे साधुदर्शन आदि को ले जाता परन्तु वह दुर्लभबोधि किसी तरह भी प्रतिबुद्ध न हुआ । अत मूक ने दीक्षा ले ली । चारित्रपालन कर वह देव बना । मूक के जीव देव ने अपनी माया से अपने भाई को प्रतिबोध देने के लिए जलोदर-रोगी बना दिया । स्वय वैद्य के रूप मे आया । जलोदर-रोगी ने उसे रोगनिवारण के लिए कहा तो वैद्य रूप देव ने कहा—'तुम्हारा असाध्य रोग मैं एक ही शर्त पर मिटा सकता हूँ, वह यह कि तुम पीछे-पीछे यह औषध का बोरा उठा कर चलो ।' रोगी ने स्वीकार किया । वैद्यरूप देव ने उसका जलोदररोग शान्त कर दिया । अब वह वैद्यरूप देव के पीछे-पीछे औषधो के भारी भरकम बोरे को उठाए-उठाए चलता । उसे छोडकर वह घर नही जा सकता था । जाऊँगा तो पुन जलोदररोगी बन जाऊँगा, यह डर था । एक गाँव मे कुछ साधु स्वाध्याय कर रहे थे । वैद्यरूप देव ने उससे कहा—'यदि तू इससे दीक्षा ले लेगा तो मैं तुझे शर्त से मुक्त कर दूगा ।' बोझ ढोने से घबराए हुए मूक भ्राता ने दीक्षा ले ली । वैद्यदेव के जाते ही उसने दीक्षा छोड दी । देव ने उसको पुन जलोदररोगी बना दिया और दीक्षा अगीकार करने पर ही उस वैद्यरूपधारी देव ने उसे छोडा । यो तीन बार उसने दीक्षा ग्रहण करने और छोडने का नाटक किया । चौथी बार वैद्यरूपधारी देव साथ रहा । आग से जलते हुए एक गाँव मे वह घास हाथ मे लेकर प्रवेश करने लगा तो उक्त साधु ने कहा—'जलते हुए गाँव मे क्यो प्रवेश कर रहे हो ?' उसने कहा—'आप मना करने पर भी कषायो से जलते हुए गृहवास मे क्यो बार-बार प्रवेश करते हैं ?' वह इस पर भी नही समझा । दोनो एक अटवी मे पहुँचे, तब देव उन्मार्ग से चलने लगा । इस पर साधु ने कहा—'उन्मार्ग से क्यो जाते हो ?', देव बोला—'आप विशुद्ध सयम मार्ग को छोड कर आधि-व्याधिरूप कण्टकाकीर्ण ससारमार्ग मे क्यो जाते है ?' इस पर भी वह नही समझा । फिर दोनो एक यक्षायतन मे पहुँचे । यक्ष की बार-बार अर्चा करने पर भी वह अधोमुख गिर जाता था । इस पर साधु ने कहा—'यह अधम यक्ष पूजित होने पर भी अधोमुख क्यो गिर जाता है ?' देव ने कहा—'आप इतने वन्दित-पूजित होने पर भी बार-बार सयममार्ग से क्यो गिर जाते हैं ?' इस पर साधु चौंका । परिचय पूछा । देव ने अपना विस्तृत परिचय दिया । उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अब उसकी सयम मे रुचि एवं दृढता हो गई । जिस प्रकार मूक भ्राता की देवप्रतिबोध से सयम मे रति हुई, इसी प्रकार साधु को सयम मे अरति आ जाए तो उस पर ज्ञानबल से विजय पाना चाहिए ।[2]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ९४

२. वही, पत्र ९५

(८) स्त्रीपरीषह—

१६. 'संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगंमि इत्थिओ।'
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं ॥

[१६] 'लोक मे जो स्त्रियाँ हैं, वे पुरुषो के लिए सग(—आसक्ति की कारण) हैं' जिस साधक को ये यथार्थरूप मे परिज्ञात हो जाता है, उसका श्रामण्य-साधुत्व सफल (सुकृत) होता है।

१७. एवमादाय मेहावी 'पंकभूया उ इत्थिओ'।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा चरेज्जऽत्तगवेसए ॥

[१७] ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियाँ पक (—दलदल) के समान (फसा देने वाली) हैं, इस बात को बुद्धि से भली भाति ग्रहण करके मेधावी मुनि उनसे अपने सयमी जीवन का विनिघात (विनाश) न होने दे, किन्तु आत्मस्वरूप की गवेषणा करता हुआ (श्रमणधर्म मे) विचरण करे।

विवेचन—स्त्रीपरीषह : स्वरूप और विजय—एकान्त बगीचे या भवन आदि स्थानो मे नवयौवना, मदविभ्रान्ता और कामोन्मत्ता एव मन के शुभ सकल्पो का अपहरण करती हुई ललनाओ द्वारा बाधा पहुँचाने पर इन्द्रियो और मन के विकारो पर नियत्रण कर लेना तथा उनकी मद मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरो से देखना, हँसना, मदभरी चाल से चलना और कामबाण मारना आदि को 'ये रक्त-मास आदि अशुचि का पिण्ड हैं, मोक्षमार्ग की अर्गला है' इस प्रकार के चिन्तन से तथा मन से, उनके प्रति कामबुद्धि न करके विफल कर देना स्त्रीपरीषहजय है और इस प्रकार चिन्तन करने वाले साधक स्त्रीपरीषहविजयी हैं।[1]

'परिन्नाया' शब्द की व्याख्या—'इहलोक—परलोक मे ये महान् अनर्थहेतु हैं' इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा से सब प्रकार से स्त्रियो का स्वरूप विदित कर लेना और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन से उनकी आसक्ति त्याग देना, परिज्ञात कहलाता है।[2]

उदाहरण—कोशागणिकासक्त स्थूलभद्र ने विरक्त होकर आचार्य सम्भूतिविजय से दीक्षा ले ली। जब चातुर्मास का समय निकट आया तो गुरु की आज्ञा से स्थूलभद्रमुनि ने गणिकागृह मे, शेष तीनो गुरुभाइयो मे से एक ने सर्प की बाबी पर, एक ने सिंह की गुफा मे और एक ने कुएँ के किनारे पर चातुर्मास किया। जब चारो मुनि चातुर्मास पूर्ण करके गुरु के पास पहुँचे तो गुरु ने स्थूलभद्र के कार्य को 'दुष्कर—दुष्करकारी' बताया, शेष तीनो शिष्यो को केवल दुष्करकारी कहा। पूछने पर समाधान किया कि सर्प, सिंह या कूप-तटस्थान तो सिर्फ शरीर को हानि पहुँचा सकते थे, किन्तु गणिकासग तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र का सर्वथा उन्मूलन कर सकता था। स्थूलभद्र का यह कार्य तो तीक्ष्ण खड्ग की धार पर चलने के समान या अग्नि मे कूद कर भी न जलने जैसा है। यह स्त्री-परीषहविजय है। परन्तु एक साधु इस वचन पर अश्रद्धा ला कर अगली बार वेश्यागृह मे चातुर्मास बिताने आया, मगर असफल हुआ। वह स्त्रीपरीषह मे पराजित हो गया।[3]

---

१. [क] पचसग्रह, द्वार ४, [ख] सर्वार्थसिद्धि, ९।९।९।४२२।११

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ९६

३ वही, पत्र ९६-९७

(६) चर्या परीषह—

१८. एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए ॥

[१८] साधुजीवन की विभिन्न चर्याओं से लाढ (—प्रशसित या आढ्य) मुनि परीषहों को पराजित करता हुआ एकाकी (राग-द्वेष से रहित) ही ग्राम मे, नगर मे, निगम मे अथवा राजधानी मे विचरण करे ।

१९. असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए ॥

[१९] भिक्षु (गृहस्थादि से) असमान (असाधारण—विलक्षण) होकर विहार करे । ग्राम, नगर आदि मे या आहारादि किसी पदार्थ मे ममत्वबुद्धिरूप परिग्रह न करे । वह गृहस्थो से असंसक्त (असम्बद्ध—निर्लिप्त) होकर रहे तथा सर्वत्र अनिकेत (गृहबन्धन से मुक्त) रहता हुआ परिभ्रमण करे ।

विवेचन—चर्यापरीषह स्वरूप और विजय—बन्धमोक्षतत्त्वज्ञ तथा वायु की तरह निःसंगता और अप्रतिबद्धता धारण करके मासकल्पादि नियमानुसार तपश्चर्यादि के कारण अत्यन्त अशक्त होने पर भी पैदल विहार करना, पैर मे कांटे, कंकड आदि चुभने से खेद उत्पन्न होने पर भी पूर्वभुक्त यान—वाहनादि का स्मरण न करना तथा यथाकाल सभी साधुचर्याओं का सम्यक् परिपालन करना चर्यापरीषह है । इस परीषह का विजयी चर्यापरीषहविजयी है ।[1]

लाढे—चार अर्थ—(१) प्रासुक एषणीय आहार से अपना निर्वाह करने वाला, (२) साधुगुणो के द्वारा जीवनयापन करने वाला, (३) प्रशंसावाचक देशीय पद अर्थात्—शुद्ध चर्याओ के कारण प्रशसित, (४) लाढ—राढदेश, जहाँ भगवान् महावीर ने विचरण करके घोर उपसर्ग सहन किये थे ।[2]

एग एव : चार अर्थ—(१) एकाकी—राग-द्वेषविरहित, (२) निपुण, गुणी सहायक के अभाव मे अकेला विचरण करने वाला गीतार्थ साधु, (३) प्रतिमा धारण करके तदनुसार आचरण करने के लिए जाने वाला अकेला साधु, (४) कर्मसमूह नष्ट होने से मोक्षगामी या कर्मक्षय करने हेतु मोक्ष प्राप्तियोग्य अनुष्ठान के लिये जाने वाला एकाकी साधु ।[3]

---

१ (क) पचसग्रह, द्वार ४ (ख) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।४

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७

लाढेत्ति—लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण, साधुगुणैर्वाऽऽत्मान यापयतीति लाढ प्रशसाभिधायि वा देशीपदमेतत् ।

(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ६६ (ग) सुखबोधा, पत्र ३१

(ग) **लाढेसु अ उवसग्गा घोरा** । —आवश्यकनिर्युक्ति, गा ४८२

३ **एग एवेति** रागद्वेषविरहित, चरेत् अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत् ।

सहायवैकल्यतो वा एकस्तथाविध गीतार्थो, यथोक्तम्—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

—बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ —उत्त. ३२, गा. ५

एक उक्तरूप स एवैकक, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकग : ।

एक वा कर्मसाहित्यविगमतो मोक्ष गच्छति-तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः । —बृहद्वृत्ति, पत्र १०९

असमाणो : 'असमान' के ४ अर्थ—(१) गृहस्थ से असदृश (विलक्ष), (२) अतुल्य-विहारी—जिसका विहार अन्यतीर्थिको के तुल्य नही है, (३) अ+समान—मान = अहकार (आडम्बर) से रहित होकर, (४) असन् (असन्निहित)–जिसके पास कुछ भी सग्रह नही है—सग्रहरहित होकर।[1]

(१०) निषद्यापरीषह—

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं ॥

[२०] श्मशान मे, शून्यागार (सूने घर) मे अथवा वृक्ष के मूल मे एकाकी (रागद्वेषरहित) मुनि अचपलभाव से बैठे, आसपास के अन्य किसी भी प्राणी को त्रास न दे।

२१. तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए।
संका-भीओ न गच्छेज्जा उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

[२१] वहाँ (उन स्थानो मे) बैठे हुए यदि कोई उपसर्ग आ जाए तो उसे समभाव से धारण करे, (कि 'ये मेरे अजर अमर अविनाशी आत्मा की क्या क्षति करेगे ?') अनिष्ट की शका से भयभीत हो कर वहाँ से उठ कर अन्य स्थान (आसन) पर न जाए।

विवेचन—निषद्यापरिषह : स्वरूप और विजय—निषद्या के अर्थ—उपाश्रय एव बैठना ये दो हैं। प्रस्तुत मे बैठना अर्थ ही अभिप्रेत है। अनभ्यस्त एव अपरिचित श्मशान, उद्यान, गुफा, सूना घर, वृक्षमूल या टूटा-फूटा खण्डहर या ऊबड-खाबड स्थान आदि स्त्री-पशु-नपुसकरहित स्थानो मे रहना, नियत काल तक निषद्या (आसन) लगा कर बैठना, वीरासन, आम्रकुब्जासन आदि आसन लगा कर शरीर से अविचल रहना, सूर्य के प्रकाश और अपने इन्द्रियज्ञान से परीक्षित प्रदेश मे नियमानुष्ठान (प्रतिमा या कायोत्सर्गादि साधना) करना, वहाँ सिंह, व्याघ्र आदि की नाना प्रकार की भयकर ध्वनि सुन कर भी भय न होना, नाना प्रकार का उपसर्ग (दिव्य, तैर्यञ्च और मानुष्य) सहन करते हुए मोक्ष मार्ग से च्युत न होना, इस प्रकार निषद्याकृत बाधा का सहन करना निषद्यापरीषहजय है। जो इस निषद्याजनित बाधाओ को समभावपूर्वक सहन करता है, वह निषद्यापरीषह-विजयी कहलाता है।[2]

सुसाणे सुन्नगारे रुक्खमूले—इन तीनो का अर्थ स्पष्ट है। ये तीनो एकान्त स्थान के द्योतक है। इनमे विशिष्ट साधना करने वाले मुनि ही रहते हैं।[3]

(११) शय्यापरीषह—

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा पावदिट्ठी विहन्नई ॥

[२२] ऊँची-नीची (—अच्छी-बुरी) शय्या (उपाश्रय) के कारण तपस्वी और (शीतातपादि-

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६७
२ (क) पचसग्रह, द्वार ४ (ख) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।७
३ (क) दशवैकालिक १०।१२ (ख) उत्तरा. मूल, अ १५।४, १६।३।१, ३२।१२, १३।१६, ३५।४-९

सहन-) सामर्थ्यवान् भिक्षु (सयम-) मर्यादा को भग न करे (हर्ष-विषाद न करे), पापदृष्टि वाला साधु ही (हर्ष-विषाद से अभिभूत हो कर) मर्यादा-भग करता है ।

२३. पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणं अदु पावगं ।
'किमेगराय करिस्सइ' एवं तत्थऽहियासए ॥

[२३] प्रतिरिक्त (स्त्री आदि की बाधा से रहित एकान्त) उपाश्रय पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा, उसमे मुनि समभावपूर्वक यह सोच कर रहे कि यह एक रात क्या करेगी ? (—एक रात्रि मे मेरा क्या बनता-बिगडता है ?) तथा जो भी सुख-दु ख हो उसे सहन करे ।

विवेचन—शय्यापरीषह : स्वरूप और विजय—स्वाध्याय, ध्यान और विहार के श्रम के कारण थक कर खर (खुरदरा), विषम (ऊबड-खाबड) प्रचुर मात्रा मे ककड़ो, पत्थर के टुकडो या खप्परो से व्याप्त, अतिशीत या अतिउष्ण भूमि वाले गदे या सीलन भरे, कोमल या कठोर प्रदेश वाले स्थान या उपाश्रय को पाकर आर्त्त-रौद्रध्यानरहित होकर समभाव से साधक का निद्रा ले लेना, यथाकृत एक पार्श्वभाग से या दण्डायित आदि रूप से शयन करना, करवट लेने से प्राणियो को होने वाली बाधा के निवारणार्थ जो गिरे हुए लकडी के टुकड़े के समान या मुर्दे के समान करवट न बदलना, अपना चित्त ज्ञानभावना मे लगाना, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्गों से विचलित न होना, अनियतकालिक शय्याकृत (आवासस्थान सम्बन्धी) बाधा को सह लेना शय्यापरीषहजय है । जो साधक शय्या सम्बन्धी इन बाधाओ को सह लेता है, वह शय्यापरीषहविजयी है ।[1]

उच्चावयाहि : तीन अर्थ—(१) ऊँची-नीची, (२) शीत, आतप, वर्षा आदि के निवारक गुणो के कारण या सहृदय सेवाभावी शय्यातर के कारण उच्च और इन से विपरीत जो सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के निवारण के अयोग्य, बिलकुल खुली, जिसका शय्यातर कठोर एव छिद्रान्वेषी हो, वह नीची (अवचा), (३) नाना प्रकार की ।[2]

नाइवेल विहन्नेज्जा : तीन अर्थ—(१) स्वाध्याय आदि की वेला (समय) का अतिक्रमण करके समाचारी भग न करे, (२) यहाँ मै शीतादि से पीडित हूँ, यह सोच कर वेला—समतावृत्ति का अतिक्रमण करके अन्यत्र—दूसरे स्थान मे न जाए, (३) उच्च—उत्तम शय्या (उपाश्रय) को पाकर—'अहो ! मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मुझे सभी ऋतुओ मे सुखकारी ऐसी अच्छी शय्या (वसति या उपाश्रय) मिला है,' अथवा अवच (खराब) शय्या पाकर—'आह ! मैं कितना अभागा हूँ कि मुझे शीतादि निवारक शय्या भी नही मिली, इस प्रकार हर्षविषादादि करके समतारूप अति उत्कृष्ट मर्यादा का विघात—उल्लघन न करे ।[3]

कल्लाणं अदु पावगं : तीन अर्थ—(१) कल्याण—शोभन, अथवा पापक—अशोभन—धूल, कचरा, गन्दगी आदि से भरा होने से खराब, (२) साताकारी—असाताकारी, अथवा पारिपार्श्विक वातावरण अच्छा होने से शान्ति एव समाधिदायक होने से मगलकारी और पारिपार्श्विक वातावरण गन्दा, कामोत्तेजक, अश्लील, हिंसादि-प्रोत्साहक होने से तथा कोलाहल होने से अशान्तिप्रद एव

---

१ (क) पचसग्रह, द्वार ४ (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।११

२ बृहद्वृत्ति, पत्र १०९

३, वही, पत्र १०९

असमाधिदायक अथवा वहाँ किसी व्यन्तरादि का उपद्रव होने से तथा स्वाध्याय-ध्यानादि मे विघ्न पड़ने से अमगलकारी, अथवा (३) किसी पुण्यशाली के द्वारा निर्मित विविध मणिकिरणो से प्रकाशित, सुदृढ़, मणिनिर्मित स्तम्भो से तथा चाँदी आदि धातु की दीवारो से समृद्ध, प्रकाश और हवा से युक्त बसति-उपाश्रय कल्याणरूप है और जीर्ण-शीर्ण, टूटा-फूटा, खण्डहर-सा बना हुआ, टूटे हुए दरवाजों से युक्त, ठूठ य लकडियो की छत से ढका, जहाँ इधर-उधर घास, कूडा-कचरा, धूल, राख, भूसा बिखरा पडा है, यत्र-तत्र चूहो के बिल हैं, नेवले, बिल्ली, कुत्तो आदि का अबाध प्रवेश है. मल-मूत्र आदि की दुर्गन्ध से भरा है, मक्खियाँ भिनभिना रही है, ऐसा उपाश्रय पापरूप है।[१]

अहियासए : दो अर्थ—(१) सुख हो या दु ख, समभावपूर्वक सहन करे, (२) वहाँ रहे।

(१२) आक्रोशपरीषह—

२४. अक्कोसेज्ज परो भिक्खु न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥

[२४] यदि कोई भिक्षु को गाली दे तो उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालको (अज्ञानियों) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु (आक्रोशकाल मे) सज्वलित न हो (-क्रोध से भभके नही)।

२५. सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे॥

[२५] दारुण (असह्य) ग्रामकण्टक (काटे की तरह चुभने वाली) कठोर भाषा को सुन कर भिक्षु मौन रहे, उसकी उपेक्षा करे, उसे मन मे भी न लाए।

विवेचन—आक्रोशपरीषह : स्वरूप और सहन—मिथ्यादर्शन के उद्रेक से क्रोधाग्नि को उद्दीप्त करने वाले क्रोधरूप, आक्रोशरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप, तिरस्कारसूचक असभ्य वचनो को सुनते हुए भी जिसका चित्त उस ओर नही जाता, यद्यपि तत्काल उसका प्रतीकार करने मे समर्थ है, फिर भी यह सब पापकर्म का विपाक (फल) है इस तरह जो चिन्तन करता है, उन शब्दो को सुन कर जो तपश्चरण की भावना मे तत्पर होता है और जो कषायविष को अपने हृदय मे लेशमात्र भी अवकाश नही देता, उसके आक्रोशपरीषह-सहन अवश्य होता है।[३]

अक्कोसेज्ज० की व्याख्या—आक्रोश शब्द तिरस्कार, अनिष्टवचन, क्रोधावेश मे आकर गाली देना इत्यादि अर्थों मे प्रयुक्त होता है। 'धर्मसग्रह' मे बताया है—साधक आक्रुष्ट होने पर भी अपनी क्षमाश्रमणता जानता हुआ प्रत्याक्रोश न करे, वह अपने प्रति आक्रोश करने वाले की उपकारिता का विचार करे। 'प्रवचनसारोद्धार' मे बताया गया है—आक्रुष्ट बुद्धिमान् को तत्त्वार्थ के चिन्तन मे अपनी बुद्धि लगानी चाहिए, यदि आक्रोशकर्ता का आक्रोश सच्चा है तो उसके प्रति क्रोध करने की क्या आवश्यता है ? बल्कि यह सोचना चाहिए कि यह परम उपकारी मुझे हितशिक्षा देता

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र १०९
२ (क) वही, पत्र १०९-११० (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना), पृ २२
३ (क) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२४ (ख) पचाशक, १३ विवरण

है, भविष्य मे ऐसा नही करूँगा। यदि आक्रोश असत्य है तो रोष करना ही नहीं चाहिए। "किसी साधक को जाते देख कोई व्यक्ति उस पर व्यग्य कसता है कि यह चाण्डाल है या ब्राह्मण, अथवा शूद्र है या तापस ? अथवा कोई तत्त्वविशारद योगीश्वर है ?" इस प्रकार का वार्तालाप अनेक प्रकार के विकल्प करने वाले वाचालो के मुख से सुन कर महायोगी हृदय मे रुष्ट और तुष्ट न होकर अपने मार्ग से चला जाता है। गाली सुन कर वह सोचे—जितनी इच्छा हो गाली दो, क्योकि आप गालीमान् है, जगत् मे विदित है कि जिसके पास जो चीज होती है, वही देता है। हमारे पास गालियाँ नही है, इसलिए देने मे असमर्थ हैं। इस प्रकार आक्रोश वचनो का उत्तर न देकर धीर एव क्षमाशील अर्जुन-मुनि की तरह जो उन्हे समभाव से सहता है, वही अत्यन्त लाभ मे रहता है।[1]

पडिसंजले—प्रतिसंज्वलन : तीन अर्थ—चूर्णिकार ने सज्वलन के दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) रोषोद्गम और (२) मानोदय। प्रतिसज्वलन का लक्षण उन्ही के शब्दो मे—

'कंपति रोषादग्निः संधुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन।
तं प्रत्याक्रोशत्याहन्ति च हन्येत येन स मतः॥'

जो रोष से काप उठता है, अग्नि की भाति धधकने लगता है, रोषाग्नि प्रदीप्त कर देता है, जो आक्रोश के प्रति आक्रोश और घात के प्रति प्रत्याघात करता है, वही प्रतिसज्वलन है।

[२] (बदला लेने के लिए) गाली के बदले मे गाली देना, अर्थ बृहद्वृत्तिकार ने किया है।[2]

१ (क) आक्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मक, उत्त अ २ वृत्ति, 'आक्रोशोऽनिष्टवचन'—आवश्यक ४ अ 'आक्रोशेत्तिरस्कुर्यात्'—बृ वृ, पत्र १४०

(ख) **'आक्रुष्टो हि नाक्रोशेत्, क्षमाश्रमणतां विदन्।**
प्रत्युताक्रुष्टरि यतिश्चिन्तयेदुपकारिताम्॥ —धर्मसंग्रह, अधि. ३

(ग) **आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या।**
यदि सत्य कः कोप ? यद्यनृत 'किमिह कोपेन ?' —प्रवचन, द्वार ८६

(घ) **चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः।**
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा॥
इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्।
नो रुष्टो, नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति॥

(ङ) **ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः,**
वयमिह तदभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः।
जगति विदितमेतत् दीयते विद्यमानं,
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ७२ (ख) उत्तरज्झयणाणि (मुनि नथमल), अ. २, पृ. २०

गामकंटगा—ग्रामकण्टक : दो व्याख्या—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार— इन्द्रियग्राम (इन्द्रिय-समूह) अर्थ मे तथा कानो मे काटो की भाति चुभने वाली प्रतिकूलशब्दात्मक भाषा । (२) मूलाराधना के अनुसार ग्राम्य (गवार) लोगो के वचन रूपी काटे ।[1]

(१३) वधपरीषह—

२६. हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खु-धम्मं विचिंतए ॥

[२६] मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु (बदले मे) क्रोध न करे, मन को भी (दुर्भावना से) प्रदूषित न करे, तितिक्षा (क्षमा—सहिष्णुता) को (साधना का) परम अग जान कर श्रमणधर्म का चिन्तन करे ।

२७. समणं संजयं दन्तं हणेज्जा कोई कत्थई ।
'नत्थि जीवस्स नासु' त्ति एवं पेहेज्ज संजए ॥

[२७] सयत और दान्त श्रमण को कोई कही मारे—(वध करे) तो उसे ऐसा अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करना चाहिए कि 'आत्मा का नाश नही होता ।'

विवेचन—वध के दो अर्थ—(१) डडा, चाबुक और बेत आदि से प्राणियो को मारना-पीटना, (२) आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास आदि प्राणो का वियोग कर देना ।[2]

वधपरीषहजय का लक्षण—तीक्ष्ण, तलवार, मूसल, मुद्गर, चाबुक, डडा आदि अस्त्रो द्वारा ताडन और पीडन आदि से जिस साधक का शरीर तोडा-मरोडा जा रहा है, तथापि मारने वालो पर लेशमात्र भी द्वेषादि मनोविकार नही आता, यह मेरे पूर्वकृत दुष्कर्मो का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते है ? इस शरीर का जल के बुलबुले के समान नष्ट होने का स्वभाव है, ये तो दु ख के कारण शरीर को ही बाधा पहुँचाते है, मेरे सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को कोई नष्ट नही कर सकता, इस प्रकार जो साधक विचार करता है, वह वसूले से छीलने और चन्दन से लेप करने, दोनो परिस्थितियो मे समदर्शी रहता है, ऐसा साधक ही वधपरीषह पर विजय पाता है ।[3]

भिक्खुधम्मं—भिक्षुधर्म से यहाँ क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशविध श्रमणधर्म से अभिप्राय है ।[4]

समणं—'समण' के तीन रूप : तीन अर्थ—(१) श्रमण (२) समन-सममन और (३) शमन । श्रमण का अर्थ है—साधना के लिए स्वय आध्यात्मिक श्रम एव तप करने वाला, समन का अर्थ है—

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ११०
(ख) ग्रसते इति ग्राम इन्द्रियग्राम , तस्येन्द्रियग्रामस्य कटगा जहा पथे गच्छताण कटगा विघ्नाय, तहा सद्दादयोऽवि इन्द्रियग्रामकटया मोक्षिणा विघ्नाय । —उत्तरा चूर्णि, पृ ७०
(ग) मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३०१
२ (क) सर्वार्थसिद्धि ७।२५।३६६।२ (ख) वही, ६।११।३२९।२
३ वही, ९।९।४२४।९, चारित्रसार १२९।३
४ स्थानाग मे देखें-दशविध श्रमणधर्म १०।७१२

जिसका मन रागद्वेषादि प्रसगो मे सम है, जो समत्व मे स्थिर है, शमन का अर्थ है—जिसने कषायो एव अकुशल वृत्तियो का शमन कर दिया है, जो उपशम, क्षमाभाव एव शान्ति का आराधक है।[1]

वध-प्रसंग पर चिन्तन—यदि कोई दुष्ट व्यक्ति साधु को गाली दे तो सोचे कि गाली ही देता है, पीटता तो नही, पीटने पर सोचे—पीटता ही तो है, मारता तो नही, मारने पर सोचे—यह शरीर को ही मारता है, मेरी आत्मा या आत्मधर्म का हनन तो यह कर नही सकता, क्योकि आत्मा और आत्मधर्म दोनो शाश्वत, अमर, अमूर्त्त है। धीर पुरुष तो लाभ ही मानता है।[2]

१४. याचनापरीषह—

२८. दुक्करं खलु भो निच्चं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं॥

[२८] अहो! अनगार भिक्षु की यह चर्या वास्तव मे दुष्कर है कि उसे (वस्त्र, पात्र, आहार आदि) सब कुछ याचना से प्राप्त होता है। उसके पास अयाचित (—बिना मागा हुआ) कुछ भी नही होता।

२९. गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए।
'सेओ अगार-वासु' त्ति इइ भिक्खू न चिन्तए॥

[२९] गोचरी के लिए (गृहस्थ के घर मे) प्रविष्ट भिक्षु के लिए गृहस्थ वर्ग के सामने हाथ पसारना आसान नही है। अत भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे कि (इससे तो) गृहवास ही श्रेयस्कर (अच्छा) है।

विवेचन याचनापरीषह-विजय— भिक्षु को वस्त्र, पात्र, आहार-पानी, उपाश्रय आदि प्राप्त करने के लिए दूसरो (गृहस्थो) से याचना करनी पडती है, किन्तु उस याचना मे किसी प्रकार की दीनता, हीनता, चाटुकारिता, मुख की विवर्णता या जाति-कुलादि बता कर प्रगल्भता नही होनी चाहिए। शालीनतापूर्वक स्वधर्मपालनार्थ या सयमयात्रा निर्वाहार्थ याचना करना साधु का धर्म है। इस प्रकार विधिपूर्वक जो याचना करते हुए घबराता नही, वह याचनापरिषह पर विजयी होता है।[3]

पाणी नो सुप्पसारए : व्याख्या—याचना करने वाले को दूसरो के सामने हाथ पसारना 'मुझे दो', इस प्रकार कहना सरल नही है। चूर्णि मे इसका कारण बताया है—कुबेर के समान धनवान व्यक्ति भी जब तक 'मुझे दो' यह वाक्य नही कहता, तब तक तो उसका कोई तिरस्कार नही करता, किन्तु 'मुझे दो' ऐसा कहते ही वह तिरस्कारभाजन बन जाता है। नीतिकार भी कहते हैं—

'गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके॥'

---

१ श्रमणसूत्र श्रमण शब्द पर निर्वचन (उत्त अमरमुनि) पृ ५४-५५ —उत्त चूर्णि पृ ७२

२ अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भसाण बालसुलभाण।
लाभ मन्नति धीरो, जहुत्तराण अभावमि॥

३ (क) पचसग्रह, द्वार ४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १११ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।८२५

चाल मे लडखडाना, मुख पर दीनता, शरीर मे पसीना आना, चेहरे का रग फीका पड जाना आदि जो चिह्न मरणावस्था मे पाए जाते है, वे सब चिह्न याचक के होते हैं ।

इसीलिए याचना करना मृत्युतुल्य होने से परीषह बताया गया है ।[1]

(१५) अलाभपरीषह—

३०. परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए ।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज संजए ॥

[३०] (गृहस्थो के घरो मे) भोजन परिनिष्ठित हो (पक) जाने पर साधु गृहस्थो से ग्रास (भोजन) की एषणा करे ।

पिण्ड (-आहार) थोडा मिलने पर या कभी न मिलने पर सयमी मुनि इसके लिए अनुताप (खेद) न करे ।

३१. 'अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया ।'
जो एवं पडिसंचिक्खे अलाभो तं न तज्जए ॥

[३१] 'आज मुझे कुछ भी प्राप्त नही हुआ, सम्भव है कल प्राप्त हो जाय', जो साधक इस प्रकार परिसमीक्षा करता (सोचता) है, उसे अलाभपरीषह (कष्ट) पीडित नही करता ।

विवेचन—अलाभपरीषह-विजय—नानादेशविहारी भिक्षु को उच्च-नीच-मध्यम कुलो मे भिक्षा न मिलने पर चित्त मे सक्लेश न होना, दाताविशेष की परीक्षा का औत्सुक्य न होना, न देने या न मिलने पर ग्राम, नगर, दाता आदि की निन्दा-भर्त्सना नही करना, अलाभ मे मुझे परम तप है, इस प्रकार सतोषवृत्ति, लाभ-अलाभ दोनो मे समता रखना, अलाभ की पीडा को सहना, अलाभ-परीषहविजय है ।

परेसु—गृहस्थो से ।

(१६) रोगपरीषह—

३२. नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥

[३२] रोगादिजनित दु ख (कर्मोदय से) उत्पन्न हुआ जानकर तथा (रोग की) वेदना से पीडित होने पर दीन न बने । रोग से विचलित होती हुई प्रज्ञा को समभाव मे स्थापित (स्थिर) करे । सयमी जीवन मे रोगजनित कष्ट आ पडने पर समभाव से सहन करे ।

३३. तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं ज न कुज्जा, न कारवे ॥

[३३] आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन (समर्थन या प्रशसा) न करे । (रोग हो जाने पर) समाधिपूर्वक रहे । उसका श्रामण्य यही है कि रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र १११

विवेचन—रोगपरीषह : स्वरूप—देह से आत्मा को पृथक् समझने वाला भेदविज्ञानी साधक विरुद्ध खानपान के कारण शरीर मे रोगादि उत्पन्न होने पर उद्विग्न नही होता, अशुचि पदार्थों के आश्रय, अनित्य व परित्राणरहित इस शरीर के प्रति नि:स्पृह होने के कारण रोग की चिकित्सा कराना पसद नही करता है। वह अदीन मन से रोग की पीडा को सहन करता है, सैकडो व्याधियाँ होने पर भी सयम को छोड कर उनके आधीन नही होता। उसी को रोगपरीषह-विजयी समझना चाहिए।[1]

जं न कुज्जा न कारवे : शंका-समाधान—मुनि भयकर रोग उत्पन्न होने पर चिकित्सा न करे, न कराए; यह विधान क्या सभी साधुवर्ग के लिए है? इस शका का समाधान शान्त्याचार्य इस प्रकार करते है, यह सूत्र (गाथा) जिनकल्पी, प्रतिमाधारी की अपेक्षा से है, स्थविरकल्पी की अपेक्षा से इसका आशय यह है कि साधु सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए। चूर्णि मे किसी विशिष्ट साधक का उल्लेख न करके बताया है कि श्रामण्य का पालन नीरोगावस्था मे किया जा सकता है। किन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सभी साधुओ की शारीरिक-मानसिक स्थिति, योग्यता एव सहनशक्ति एक-सी नही होती। इसलिए रोग का निरवद्य प्रतीकार करना सयमयात्रा के लिए आवश्यक हो जाता है। चिकित्सा कराने पर भी रोगजनित वेदना तो होती ही है, उस परीषह को समभाव से सहना चाहिए।[2]

(१७) तृणस्पर्शपरीषह

३४. अचेलगस्स लूहस्स सजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गाय-विराहणा॥

[३४] अचेलक एव रूक्ष शरीर वाले सयत तपस्वी साधु को घास पर सोने से शरीर मे विराधना (चुभन—पीडा) होती है।

३५. आयवस्स निवाएण अउला हवइ वेयणा।
एव नच्चा न सेवन्ति तन्तुजं तण-तज्जिया॥

[३५] तेज धूप पडने से (घास पर सोते समय) अतुल (तीव्र) वेदना होती है, यह जान कर तृणस्पर्श से पीडित मुनि वस्त्र (तन्तुजन्य पट) का सेवन नही करते।

विवेचन—तृणस्पर्शपरीषह—तृण शब्द से सूखा घास, दर्भ, तृण, ककड, काटे आदि जितने भी चुभने वाले पदार्थ है, उन सब का ग्रहण करना चाहिए। ऐसे तृणादि पर सोने-बैठने, लेटने आदि से चुभने, शरीर छिल जाने से या कठोर स्पर्श होने से जो पीडा, व्यथा होती है, उसे समभावपूर्वक सहन करना—तृणस्पर्शपरीषहजय है।[3]

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२५।९ (ख) धर्मसग्रह, अधिकार ३
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२० (ख) उत्तरा चूर्णि, पृ. ७७
३ (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।१
(ख) आवश्यक मलय वृत्ति, अ १, खण्ड २

अचेलगस्स—अचेलक (निर्वस्त्र) जिनकल्पिक साधुओं की दृष्टि से यह कथन है। किन्तु स्थविरकल्पी सचेलक के लिए भी यह परीषह तब होता है, जब दर्भ, घास आदि के सस्तारक पर जो वस्त्र बिछाया गया हो, वह चोरो द्वारा चुरा लिया गया हो, अथवा वह वस्त्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो, ऐसी स्थिति में दर्भ, घास आदि के तीक्ष्ण स्पर्श को समभाव से सहन किया जाता है। घास आदि से शरीर छिल जाने पर सूर्य की प्रखर किरणो या नमक आदि क्षार पदार्थ पडने पर हुई असह्य वेदना को सहना भी इसी परीषह के अन्तर्गत है।[1]

उदाहरण—श्रावस्ती के जितशत्रु राजा का पुत्र भद्र कामभोगो से विरक्त होकर स्थविरो के पास प्रव्रजित हुआ। कालान्तर मे एकलविहारप्रतिमा अगीकार करके वैराज्य देश मे गया। वहाँ गुप्तचर समझ कर उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उसे मारपीट कर घायल कर दिया और खून रिसते हुए घाव पर क्षार छिडक कर ऊपर से दर्भ लपेट दिया। अब तो पीडा का पार न रहा। किन्तु भद्र मुनि ने समभावपूर्वक उस परीषह को सहन किया।[2]

(१८) जल्लपरीषह (मलपरीषह)

३६. किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा।
घिसु वा परितावेण सायं नो परिदेवए॥

ग्रीष्मऋतु मे (पसीने के साथ धूल मिल जाने से शरीर पर जमे हुए) मैल से, कीचड से, रज से अथवा प्रखर ताप से शरीर के क्लिन्न (लिप्त या गीले) हो जाने पर मेधावी श्रमण साता (सुख) के लिए परिदेवन (—विलाप) न करे।

३७. वेएज्ज निज्जरा-पेही आरियं धम्मऽणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए॥

(३७) निर्जरापेक्षी मुनि अनुत्तर (श्रेष्ठ) आर्यधर्म (वीतरागोक्त श्रुत-चारित्रधर्म) को पा कर शरीर-विनाश-पर्यन्त जल्ल (प्रस्वेदजन्य मैल) शरीर पर धारण किये रहे। उसे (तज्जनित परीषह को) समभाव से वेदन करे।

विवेचन—जल्लपरीषह स्वरूप और सहन—इसे मलपरीषह भी कहते है। जल्ल का अर्थ है—पसीने से होने वाला मैल। ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य की तीक्ष्ण किरणो के ताप से उत्पन्न हुए पसीने के साथ धूल चिपक जाने पर मैल जमा होने से शरीर से दुर्गन्ध निकलती है, उसे मिटाने के लिए ठडे जल से स्नान करने की अभिलाषा न करना, क्योकि सचित्त ठडे पानी से अप्कायिक जीवो की विराधना होती है तथा शरीर पर मैल जमा होने के कारण दाद, खाज आदि चर्मरोग होने पर भी तैलादि मर्दन करने, चन्दनादि लेपन करने आदि की भी अपेक्षा न रखना तथा उक्त कष्ट से उद्विग्न न होकर समभाव पूर्वक सहना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी विमल जल से प्रक्षालन करके कर्ममलपक को दूर

१ (क) अचेलकत्वादीनि तु तपस्विविशेषणानि। मा भूत सचेलकस्य तृणस्पर्शासम्भवेन अरूक्षस्य।

—बृहद्वृत्ति, पत्र १२१

(ख) पचसग्रह, द्वार २

२ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, अ २

करने के लिए निरन्तर उद्यत रहना जल्लपरीषहजय कहलाता है।[1]

(१६) सत्कार-पुरस्कारपरीषह

३८. अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमन्तण।
जे ताइं पडिसेवन्ति न तेसिं पीहए मुणी॥

[३८] राजा आदि शासकवर्गीय जन अभिवादन, अभ्युत्थान अथवा निमंत्रण के रूप मे सत्कार करते है और जो अन्यतीर्थिक साधु अथवा स्वतीर्थिक साधु भी उन्हे (सत्कार-पुरस्कारादि को) स्वीकार करते हैं, मुनि उनकी स्पृहा न करे।

३९. अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥

[३६] अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छाओ वाला, अज्ञात कुलो से भिक्षा (आहार की एषणा) करने वाला, अलोलुप भिक्षु (सत्कार-पुरस्कार पाने पर) रसो मे गृद्ध-आसक्त न हो। प्रज्ञावान् भिक्षु (दूसरो को सत्कार पाते देख कर) अनुताप (मन मे खेद) न करे।

विवेचन—सत्कार-पुरस्कारपरीषह—सत्कार का अर्थ—पूजा-प्रशसा है, पुरस्कार का अर्थ है—अभ्युत्थान, आसनप्रदान, अभिवादन-नमन आदि। सत्कार-पुरस्कार के अभाव मे दीनता न लाना, सत्कार-पुरस्कार की आकाक्षा न करना, दूसरो की प्रसिद्धि, प्रशसा, यश-कीर्ति, सत्कार-सम्मान आदि देख कर मन मे ईर्ष्या न करना, दूसरो को नीचा दिखा कर स्वय प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि प्राप्त करने की लिप्सा न करना सत्कार-पुरस्कारपरीषहविजय है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—'यह मेरा अनादर करता है, चिरकाल से मैने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, मै महातपस्वी हूँ, स्वसमय-परसमय का निर्णयज्ञ हूँ, मैने अनेक बार परवादियो को जीता है, तो भी मुझे कोई प्रणाम, या मेरी भक्ति नही करता, उत्साह से आसन नही देता, मिथ्यादृष्टि का ही आदर-सत्कार करते है, उग्रतपस्वियो को व्यन्तरादिक देव पूजा करते थे, अब वे भी हमारी पूजा नही करते, जिसका चित्त इस प्रकार के खोट अभिप्राय से रहित है, वही वास्तव मे सत्कार-पुरस्कारपरीषहविजयी है।[2]

अणुक्कसाई - तीनरूप : चार अर्थ—शान्त्याचार्य के अनुसार—(**१**) **अनुत्कशायी**—सत्कार आदि के लिए अनुत्सुक, अनुत्कण्ठित (जो उत्कण्ठित न हो), (२) **अनुत्कषायी**—जिस के कषाय प्रबल न हो—अनुत्कटकषायी, (३) **अणुकषायी**—सत्कार आदि न करने वालो पर क्रोध न करने वाला तथा सत्कारादि प्राप्त होने पर अहकार न करने वाला, आचार्य नेमिचन्द्र भी इसी अर्थ का समर्थन करते है। चूर्णिकार के अनुसार 'अणुकषायी' का अर्थ अल्प कषाय (क्रोधादि) वाला है।[3]

---

१ (क) धर्मसग्रह, अधि ३
(ख) पचसग्रह, द्वार ४ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।४
(घ) चारित्रसार १२५।६

२ (क) आवश्यक वृत्ति, म १ अ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२४ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।९

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२४ और ४२० (ख) सुखबोधा, पत्र ४९,
(ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ८१

अप्पिच्छे—'अल्पेच्छ' के तीन अर्थ—शान्त्याचार्य के अनुसार—(१) थोडी इच्छा वाला, (२) इच्छारहित—निरीह—निःस्पृह, आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार—(३) जो भिक्षु धर्मोपकरणप्राप्ति मात्र का अभिलाषी हो, सत्कार-पूजा आदि की आकाक्षा नही करता ।[1]

अन्नाएसी—अज्ञातैषी—दो अर्थ.—(१) जो भिक्षु ज्ञाति, कुल, तप, शास्त्रज्ञान आदि का परिचय दिये बिना, अज्ञात रह कर आहारादि की एषणा करता है, (२) अज्ञात—अपरिचित कुलो से आहारादि की एषणा करने वाला ।[2]

(२०) प्रज्ञापरीषह

४०. 'से नूण मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ।।'

[२०] अवश्य ही मैने पूर्वकाल मे अज्ञानरूप फल देने वाले दुष्कर्म किये है, जिससे मै किसी के द्वारा किसी विषय मे पूछे जाने पर कुछ भी उत्त देना नही जानता ।

४१. 'अह पच्छा उइज्जन्ति कम्माणाणफला कडा ।'
एवमस्सासि अप्पाण नच्चा कम्मविवागय ।।

[४१] 'अज्ञानरूप फल देने वाले पूर्वकृत कर्म परिपक्व होने पर उदय मे आते है'—इस प्रकार कर्म के विपाक को जान कर मुनि अपने को आश्वस्त करे ।

विवेचन—प्रज्ञापरीह—प्रज्ञा विशिष्ट बुद्धि को कहते है । प्रज्ञापरीषह का प्रवचनसारोद्धार के अनुसार अर्थ—प्रज्ञावानो की प्रज्ञा को देख कर अपने मे प्रज्ञा के अभाव मे उद्वेग या विषाद का अनुभव न होना तथा प्रज्ञा का उत्कर्ष होने पर गर्व—मद न करना, किन्तु इसे कर्मविपाक मानकर अपनी आत्मा को आश्वस्त—स्वस्थ रखना प्रज्ञापरीषहजय है । सर्वार्थसिद्धि के अनुसार 'मै अग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रो मे विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र मे निपुण हूँ । मेरे समक्ष दूसरे लोग सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान जरा भी शोभा नही देते, इस प्रकार के विज्ञानमद का अभाव हो जाना प्रज्ञापरीषहजय है ।[3]

उदाहरण—उज्जयिनी से कालकाचार्य अपने अतिप्रमादी शिष्यों को छोड कर अपने शिष्य सागरचन्द्र के पास स्वर्णभूमि नगरी पहुँचे । सागरचन्द्र ने उन्ह एकाकी जान कर उनकी ओर कोई

१, (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२५ अल्पा—स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादि-कामितया महती, अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेन अविद्यमाना वा इच्छा-वाञ्छा वा यस्येति अल्पेच्छ ।

(ख) अल्पेच्छ —धर्मोपकरणमात्राभिलाषी, न सत्काराद्याकाक्षी । —सुखबोधा पत्र ४९

२ (क) 'न ज्ञापयति—'अहमेवभूतपूर्वमासम्, न वा क्षपको बहुश्रुतो वेति' अज्ञातैषी'—उ चू , पृ. ८१

(ग) अज्ञातमज्ञातेन एषते—भिक्षतेऽसौ अज्ञातैषी, निश्रादिरहित इत्यर्थ ।—उ चू , पृ २३५

(ग) अज्ञातो—जातिश्रुतादिभि एषति—उञ्छति अर्थात्—पिण्डादीन्यज्ञातैषी ।

—बृहद्वृत्ति, पत्र १२५

३ (क) प्रवचनसारोद्धार द्वार ८६ (ख) धर्मसग्रह अधि ३

(ग) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२७।४

लक्ष्य न दिया। कालकाचार्य ने भी अपना परिचय नही दिया। एक दिन सागरचन्द्र मुनि ने परिषद् मे व्याख्यान दिया, सब ने उनके व्याख्यान की प्रशसा की। कालकाचार्य से सागरचन्द्रमुनि ने पूछा—'मेरा व्याख्यान कैसा था ?' वह बोले—'अच्छा था।' फिर मुनि आचार्य के साथ तर्कवितर्क करने लगे, किन्तु वृद्ध आचार्य की युक्तियों के आगे वे टिक न सके। इधर कुछ समय के बाद कालकाचार्य के वे अतिप्रमादी शिष्य उन्हे ढूढते-ढूढते स्वर्णभूमि पहुँचे। उन्होने उपाश्रय मे आ कर सागरचन्द्रमुनि से पूछा--'क्या यहाँ कालकाचार्य आए हैं ?' सागरचन्द्र मुनि ने कहा—'एक वृद्ध के सिवाय और कोई यहाँ नही आया है।' अतिप्रमादी शिष्यो ने कालकाचार्य को पहचान लिया, वे चरणो मे गिर कर उनसे क्षमायाचना करने लगे। यह देख सागरचन्द्र मुनि भी उनके चरणो मे गिरे और क्षमायाचना करते हुए बोले—'गुरुदेव, क्षमा करे, मैं आपको नही पहचान सका। अल्प ज्ञान से गर्वित होकर मैंने आपकी आशातना की।'' आचार्य ने कहा—'वत्स ! श्रुतगर्व नही करना चाहिए।'[1]

इस प्रकार जैसे सागरचन्द्र मुनि प्रज्ञापरीषह से पराजित हो गए थे, वैसे साधक को पराजित नही होना चाहिए।

(२१) अज्ञानपरीषह

४२. 'निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्ख नाभिजाणामि धम्म कल्लाण पावग ॥'

[४२] मै व्यर्थ ही मैथुन आदि सासारिक सुखो से विरत हुआ, मैने इन्द्रिय और मन का सवरण (विषयो से निरोध) वृथा किया, क्योकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी, यह मैं प्रत्यक्ष तो कुछ भी नही देख (—जान) पाता हूँ, (मनि ऐसा न सोचे।)

४३. 'तवोवहाणमादाय पडिम पडिवज्जओ।
एव पि विहरओ मे छउम न नियट्टई ॥'

[४२] तप और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमाओ को भी धारण (एवं पालन) करता हूँ, इस प्रकार विशिष्ट साधनापथ पर विहरण करने पर भी मेरा छद्म अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्म का आवरण दूर नही हो रहा है, —('ऐसा चिन्तन न करे।')

विवेचन—अज्ञानपरीषह—अज्ञान का अर्थ—ज्ञान का अभाव नही, किन्तु अल्पज्ञान या मिथ्याज्ञान है। यह परीषह अज्ञान के सद्भाव और अभाव--दोनो प्रकार से होता है। अज्ञान के रहते साधक मे दैन्य, अश्रद्धा, भ्रान्ति आदि पैदा होती है। जैसे—मैं अब्रह्मचर्य से विरत हुआ, दुष्कर तपश्चरण किया, धर्मादि का आचरण किया, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, यह मूर्ख है, पशुतुल्य है, कुछ नही जानता, इत्यादि तिरस्कारवचनो को भी मैं सहन करता हूँ, फिर भी मेरी छद्मस्थता नही मिटी, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय होकर अभी तक मुझे अतिशयज्ञान प्राप्त नही हुआ—इस प्रकार का विचार करना, इस परीषह से हारना है और इस प्रकार का विचार न करना, इस परीषह पर विजय पाना है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश दूसरी ओर अज्ञान

१ (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा १२० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२७

दूर हो जाने और अतिशय श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाने पर बहुश्रुत होने के कारण अनेक साधु-साध्वियो को वाचना देते रहने के कारण मन मे गर्व, ग्लानि, झुंझलाहट आना, इससे तो मूर्ख रहता तो अच्छा रहता, अतिशय श्रुतज्ञानी होने के कारण अब मुझे सभी साधुसाध्वी वाचना के लिए तग करते है। न मैं सुख से सो सकता हूँ, न खा-पी सकता हूँ, न आराम कर सकता हूँ, इस प्रकार का विचार करने वाला साधक ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कर लेता है और अज्ञानपरीषह से भी वह पराजित हो जाता है। अत ऐसा विचार न करके मन मे विषाद और गर्व को निकाल कर निर्जरार्थ अज्ञानपरीषह को समभावपूर्वक सहना अज्ञान-परीषह-विजय है।[1]

उवहाण—उपधान—आगमो का विधिवत् अध्ययन करते समय परम्परागत-विधि के अनुसार प्रत्येक आगम के लिए निश्चित आयबिल आदि तप करने का विधान। आचार-दिनकर मे इसका स्पष्ट वर्णन है।[2]

(२२) दर्शनपरीषह (—अदर्शनपरीषह)

४४. 'नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि' त्ति इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

[४४] "निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि भी नही है, हो न हो, मै (तो धर्म के नाम पर) ठगा गया हूँ,"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४५. 'अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवावि भविस्सई।
मुसं ते एवमाहंसु' इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

[४५] भूतकाल मे जिन हुए थे, वर्तमान मे जिन है, और भविष्य मे भी जिन होगे, ऐसा जो कहते है, वे असत्य कहते है,—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

विवेचन—दर्शनपरीषह—दिगम्बर परम्परा मे इसके बदले अदर्शनपरीषह प्रसिद्ध है। दोनो का लक्षण प्राय मिलता-जुलता है। दर्शन का एक अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शन है। एकान्त क्रियावादी आदि ३६३ वादियो के विचित्र मत सुन कर भी सम्यक् रूप से सहन करना—निश्चलचित्त से सम्यग्दर्शन को धारण करना, दर्शनपरीषहसहन है। अथवा दर्शनव्यामोह न होना दर्शनपरीषह-सहन है। अथवा जिन, अथवा उनके द्वारा कथित जीव, अजीव, धर्म-अधर्म, परभव आदि परोक्ष होने के कारण मिथ्या हैं, ऐसा चिन्तन न करना दर्शनपरीषह-सहन है।[3]

इड्ढी वावि तवस्सिणो—तपस्या आदि से तपस्वियो को प्राप्त होने वाली ऋद्धि—शक्ति विशेष, जिसे 'योगजविभूति' कहा जाता है। पातजलयोगदर्शन के विभूतिपाद मे ऐसी योगजविभूतियो

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२७
(ख) आवश्यक. अ ४ (ग) उत्तराध्ययन, अ २ वृत्ति

२, (क) बृहद्वृत्ति पत्र १२८, ३४७
(ख) आचारदिनकर, विभाग १, योगोद्वहनविधि, पत्र ८६-११०

३ (क) उत्तराध्ययन, अ २ (ख) भगवती, श ८ उ ८ (ग) धर्मसग्रह अ पत्र, ३

का वर्णन है, औपपातिक आदि जैन आगमो मे ऐसी तपोजनित ऋद्धियो का उल्लेख मिलता है। ऋद्धि शब्द का यही अर्थ गृहीत किया गया है। बृहद्वृत्तिकार ने चरणरज से सर्वरोग-शान्ति, तृणाग्र से सर्वकाम-प्रदान, प्रस्वेद से रत्नमिश्रित स्वर्णवृष्टि, हजारो महाशिलाओ को गिराने की शक्ति आदि ऋद्धियो का उल्लेख किया है।[1]

दर्शनपरीषह के विषय मे आर्य आषाढ के अदर्शन-निवारणार्थ स्वर्ग से समागत शिष्यो का उदाहरण द्रष्टव्य है।

उपसंहार

४६. एए परीसहा सव्वे कासवेण पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा पुट्ठो केणइ कण्हुई॥
—त्ति बेमि।

[४६] काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने इन सभी परीषहो का प्ररूपण किया है। इन्हे जान कर कही भी इनमे से किसी भी परीषह से स्पृष्ट-आक्रान्त होने पर भिक्षु इनसे पराजित न हो, ऐसा मै कहता हूँ।

॥ द्वितीय अध्ययन : परीषह प्रविभक्ति सम्पूर्ण ॥

---

१ (क) ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा · सा च आमर्षौषध्यादि। —बृहद्वृत्ति, पत्र १३१
(ख) औपपातिक सूत्र १५

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत तृतीय अध्ययन का नाम चतुरगीय है, यह नाम अनुयोगद्वारसूत्रोक्त नामकरण के दस हेतुओ मे से आदान (प्रथम) पद के कारण रखा गया है।[1]

* अनादिकाल से प्राणी की ससारयात्रा चली आ रही है। उसकी जीवननौका विभिन्न गतियो, योनियो और गोत्रो मे दु ख, परतत्रता एव अज्ञान-मोह के थपेडे खाती हुई स्वतत्रसुख—आत्मिक सुख का अवसर नही पाती। फलत दु ख और यातना से मुक्त होने का कोई उपाय नही मिलता। किन्तु प्रबल पुण्यराशि के सचित होने पर उसे इस दु खद ससारयात्रा की परेशानी से मुक्त होने के दुर्लभ अवसर प्राप्त होते है। वे चार दुर्लभ अवसर ही चार दुर्लभ परम अग है, जिनकी चर्चा इस अध्ययन मे हुई है। जीवन के ये चार प्रशस्त अग है। ये अंग प्रत्येक प्राणी द्वारा अनायास ही प्राप्त नही किये जा सकते। चारो दुर्लभ अंगो का एक ही व्यक्ति मे एकत्र समाहार हो, तभी वह धर्म की पूर्ण आराधना करके इस दुर्लभ ससारयात्रा से मुक्ति पा सकता है, अन्यथा नही। एक भी अग की कमी व्यक्ति के जीवन को अपूर्ण रखती है। इसलिए ये चारो अग उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे—(१) मनुष्यत्व, (२) सद्धर्म-श्रवण, (३) सद्धर्म मे श्रद्धा और (४) सयम में पराक्रम—इन चारो अगो की दुर्लभता का क्रमश प्रतिपादन है।

* सर्वप्रथम इस अध्ययन मे मनुष्यजन्म की दुर्लभता का प्रतिपादन ६ गाथाओ मे किया गया है। यह तो सभी धर्मों और दर्शनो ने माना है कि मनुष्यशरीर प्राप्त हुए बिना मोक्ष—जन्ममरण से, कर्मों से, रागद्वेषादि से मुक्ति नही हो सकती। इसी देह से इतनी उच्च साधना हो सकती है और आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। परन्तु मनुष्यदेह को पाने के लिए पहले एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक की तथा मनुष्यगति और मनुष्ययोनियो के सिवाय अन्य गतियो और योनियो तक की अनेक घाटियाँ पार करनी पडती है, बहुत लम्बी यात्रा करनी पडती है। कभी देवलोक, कभी नरक और कभी आसुरी योनि मे मनुष्य कई जन्ममरण करता है। मनुष्य गति मे भी कभी अत्यन्त भोगासक्त क्षत्रिय बनता है, कभी चाण्डाल और सस्कारहीन जातियो मे उत्पन्न हो कर बोध ही नही पाता। अत वह शरीर की भूमिका से ऊपर नही उठ पाता। तिर्यञ्चगति मे तो एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक आध्यात्मिक विकास की प्रथम किरण भी प्राप्त होनी कठिन है। निष्कर्ष यह है कि देव, धर्म की पूर्णतया आराधना नही कर सकते, नारक जीव सतत भीषण दु खो से प्रताडित रहते है, अत उनमे

१ से कि त आयाणपएण ? चाउरगिज्ज, असखय, अहातत्थिय अद्दइज्ज जण्णइज्ज एलइज्ज से त आयाणपएण।
—अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

सद्धर्म-विवेक ही जागृत नही होता। तिर्यञ्चगति में पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो मे कदाचित् क्वचित् पूर्व-जन्मसस्कारप्रेरित धर्माराधना होती है, किन्तु वह अपूर्ण होती है। वह उन्हे मोक्ष की मजिल तक नही पहुँचा सकती। मनुष्य मे धर्मविवेक जागृत हो सकता है, परन्तु अधिकाश मनुष्य विषयसुखो की मोहनिद्रा मे ऐसे सोये रहते है कि वे सासारिक कामभोगो के दलदल मे फस जाते है, अथवा साधनविहीन व्यक्ति कामभोगो की प्राप्ति की पिपासा मे सारी जिंदगी बिता कर इन परम दुर्लभ अगो को पाने के अवसर खो देते हैं। उनकी पुन पुन दीर्घ ससारयात्रा चलती रहती है। कदाचित् पूर्वजन्मो के प्रबल पुनीत सस्कारो एव कषायो की मन्दता के कारण, प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की विनीतता से, दयालुता—सदय-हृदयता से एव अमत्सरता—परगुणसहिष्णुता से मनुष्यायु का बन्ध हो कर[1] मनुष्यजन्म प्राप्त होता है। इसी कारण मनुष्यभव दुर्लभता के दस दृष्टान्त[2] निर्युक्ति मे प्रतिपादित किये है। निर्युक्तिकार ने मनुष्यजन्म प्राप्त होने के साथ-साथ जीवन की पूर्ण सफलता के लिए और भी १० बाते दुर्लभ बताई है। जैसे कि—(१) उत्तम क्षेत्र, (२) उत्तम जाति-कुल, (३) सर्वांगपरिपूर्णता, (४) नीरोगता, (५) पूर्णायुष्य, (६) परलोक-प्रवणबुद्धि, (७) धर्मश्रवण, (८) धर्म-स्वीकरण, (९) श्रद्धा और (१०) सयम।[3] इसीलिए मनुष्यशरीर प्राप्त होने पर भी शास्त्रकार ने मनुष्यता की प्राप्ति को सबसे महत्त्वपूर्ण एव दुर्लभ माना है। वह प्राप्त होती है—शुभ कर्मो के उदय मे तथा क्रमश तदनुरूप आत्मशुद्धि होने से।[4] यही कारण है कि यहाँ सर्वप्रथम मनुष्यता-प्राप्ति ही दुर्लभ बताई है।

* तत्पश्चात् द्वितीय दुर्लभ अंग है—धर्मश्रवण। धर्मश्रवण की रुचि प्रत्येक मनुष्य मे नही होती। जो महारम्भी एव महापरिग्रही है, उन्हे तो सद्धर्मश्रवण की रुचि ही नही होती। अधिकाश लोग दुर्लभतम मनुष्यत्व को पा कर भी धर्मश्रवण का लाभ नही ले पाते, इसके धर्मश्रवण मे विघ्नरूप १३ कारण (काठिये) निर्युक्तिकार ने बताए हैं - (१) आलस्य, (२) मोह (पारिवारिक या शारीरिक मोह के कारण विलामिता मे डूब जाना, व्यस्तता मे रहना), (३) अवज्ञा या अवर्ण—(धर्मशास्त्र या धर्मोपदेशक के प्रति अवज्ञा या गर्हा का भाव), (४) स्तम्भ (जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य आदि का मद-अहकार), (५) क्रोध (अप्रीति), (६) प्रमाद (निद्रा, विकथा आदि), (७) कृपणता (द्रव्य-व्यय की आशका), (८) भय, (९) शोक (इष्टवियोग-अनिष्टसयोगजनित चिन्ता), (१०) अज्ञान (मिथ्या धारणा), (११) व्याक्षेप (व्याकुलता), (१२) कुतूहल (नाटक आदि देखने की आकुलता), (१३) रमण

---

१. 'चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्म पगरेंति, त.—पगतिभद्दयाए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरिताए।' —स्थानाग, स्थान ४, सू ६३०

२. चुल्लग पासगधन्ने, जूए रयणे य सुमिण चक्के य।
कम्म जुगे परमाणू, दस दिट्ठ ता मणुअलभे॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा १६०

३. माणुस्सखित्त जाई कुलरूवारोग्ग आउय बुद्धी।
सवणुग्गह सद्धा, संजमो अ लोगंमि दुल्लहाइ॥' —उ निर्युक्ति, गा. १५९

४. कम्माण तु पहाणाए ……जीवासोहिमणुप्पत्ता आययति मणुस्सयं।' —उत्तरा, अ. ३, गा ७

(क्रीडापरायणता)।[1] सद्धर्मश्रवण न होने पर मनुष्य हेयोपादेय, श्रेय-अश्रेय, हिताहित, कार्याकार्य का विवेक नहीं कर सकता। इसीलिए मनुष्यता के बाद सद्धर्मश्रवण को परम दुर्लभ बताया है।

* श्रवण के बाद तीसरा दुर्लभ अग है—श्रद्धा—यथार्थ दृष्टि, धर्मनिष्ठा, तत्त्वो के प्रति रुचि और प्रतीति। जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, वह सद्धर्म, सच्छास्त्र एव सत्तत्त्व की बात जान-सुन कर भी उस पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि नही करता। कदाचित् सम्यक् दृष्टिकोण के कारण श्रद्धा भी कर ले, तो भी उसकी ऋजुप्रकृति के कारण सद्गुरु एव सत्सग के अभाव मे या कुदृष्टियो एव अज्ञानियो के सग से असत्तत्त्व एव कुधर्म के प्रति भी श्रद्धा का झुकाव हो सकता है, जिसका संकेत बृहद्वृत्तिकार ने[2] किया है। सुदृढ एव निश्चल-निर्मल श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए ही निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन मे सात निह्नवो की कथा दी है।[3] इस कारण यह कहा जा सकता है कि सच्ची श्रद्धा-धर्मनिष्ठा परम दुर्लभ है।

* अन्तिम दुर्लभ परम अग है—सयम मे पराक्रम—पुरुषार्थ। बहुत-से लोग धर्मश्रवण करके, तत्त्व समझ कर श्रद्धा करने के बाद भी उसी दिशा मे तदनुरूप पुरुषार्थ करने मे हिचकिचाते है। अत जानना-सुनना और श्रद्धा करना एक बात है और उसे क्रियान्वित करना दूसरी। सद्धर्म को क्रियान्वित करने मे चारित्रमोह का क्षयोपशम, प्रबल सवेग, प्रशम, निर्वेद (वैराग्य), प्रबल आस्था, आत्मबल, धृति, सकल्पशक्ति, सतोष, अनुद्विग्नता, आरोग्य, वातावरण, उत्साह आदि अनिवार्य है। ये सब मे नही होते। इसीलिए सबसे अन्त मे सयम मे पुरुषार्थ को दुर्लभ बताया है, जिसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नही रह जाता।

* अध्ययन के अन्त मे ११ वी से २० वी तक दस गाथाओ मे दुर्लभ चतुरगीय प्राप्ति के अनन्तर धर्म की सागोपाग आराधना करने की साक्षात् और परम्पर फलश्रुति दी गई है। सक्षेप मे, सर्वांगीण धर्माराधना का अन्तिम फल मोक्ष है।

□□

---

१ आलस मोहऽवन्ना, थभा कोहा पमाय किविणता।
भयसोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा॥ —उत्तरा निर्युक्ति, गा १६१

२ ननु एवविधा अपि केचिदत्यन्तमृजव सम्भवेयु? ... स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थ प्रतिपन्ना। —उत्त बृहद्वृत्ति, पत्र १५२

३ बहुरयपएस अव्वत्तसमुच्छ दुग-तिग-अबद्धिका चेव।
एएसि निग्गमणं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥
बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ॥
गगाए दो किरिया, छलगा तेरासियाण उप्पत्ती।
थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविति॥ —उत्त निर्युक्ति, गा १६४ से १६६ तक

तइअं अज्झयणं : चाउरंगिज्जं

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीयम्

महादुर्लभ : चार परम अंग

१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

[१] इस संसार में जीवों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—(१) मनुष्यत्व, (२) सद्धर्म का श्रवण, (३) श्रद्धा और (४) संयम में वीर्य (पराक्रम)।

विवेचन— परमंगाणि—अत्यन्त निकट उपकारी तथा मुक्ति के कारण होने से ये परम अंग हैं।[1]

सुई सद्धा—श्रुति और श्रद्धा ये दोनों प्रसंगवश धर्मविषयक ही अभीष्ट हैं।[2]

विविध घाटियाँ पार करने के बाद : दुर्लभ मनुष्यत्वप्राप्ति

२. समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया॥

[२] नाना प्रकार के कर्मों का उपार्जन करके, विविध नाम-गोत्र वाली जातियों में उत्पन्न होकर पृथक्-पृथक् रूप में प्रत्येक संसारी जीव (प्रजा) समस्त विश्व में व्याप्त हो जाता है—अर्थात् संसारी प्राणी समग्र विश्व में सर्वत्र जन्म लेते हैं।

३. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई॥

[३] जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोकों में, कभी नरकों में और कभी असुरनिकाय में जाता है—जन्म लेता है।

४. एगया खत्तिओ होई तओ चण्डाल-वोक्कसो।
तओ कीड-पयंगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया॥

[४] यह जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी वोक्कस (—वर्णसंकर), होता है, उसके पश्चात् कभी कीट-पतंगा और कभी कुन्थु और कभी चींटी होता है।

---

१ परमाणि च तानि अत्यासन्नोपकारित्वेन अंगानि, मुक्तिकारणत्वेन परमंगानि। —बृहद्वृत्ति, पत्र १५६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १५६

५. एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा ।
न निविज्जन्ति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥

[५] जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थों (कामभोगो, सुखसाधनो एव वैभव-ऐश्वर्य) का उपभोग करने पर भी निर्वेद (—विरक्ति) को प्राप्त नही होते, उसी प्रकार कर्मों से कलुषित जीव अनादिकाल से आवर्त्तस्वरूप योनिचक्र मे भ्रमण करते हुए भी ससारदशा से निर्वेद नही पाते (—'जन्ममरण के भंवर-जाल से मुक्त होने की इच्छा नही करते) ।'

६. कम्म-संगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहु-वेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥

[६] कर्मों के सग से सम्मूढ, दु खित और अत्यन्त वेदना से युक्त जीव मनुष्येतर योनियो मे पुन. पुन विनिघात (त्रास) पाते है ।

७. कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं ॥

[७] कालक्रम से कदाचित् (मनुष्यगति-निरोधक क्लिष्ट) कर्मों का क्षय हो जाने से जीव तदनुरूप (आत्म—) शुद्धि को प्राप्त करते है, तदनन्तर वे मनुष्यता प्राप्त करते है ।

विवेचन—मनुष्यत्वप्राप्ति मे बाधक कारण—(१) एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक नाना गोत्र वाली जातियो मे जन्म, (२) देवलोक, नरकभूमि एव आसुरकाय मे जन्म, (३) तिर्यञ्चगति-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय मे जन्म, (४) क्षत्रिय (राजा आदि) की तरह भोग-साधनो की प्रचुरता के कारण ससारदशा से अविरक्ति, (५) मनुष्येतर योनियो मे सम्मूढता एव वेदना के कारण मनुष्यत्वप्राप्ति का अभाव, (६) मनुष्यगतिनिरोधक कर्मों का क्षय होने पर भी तदनुरूप आत्मशुद्धि का अभाव ।[1]

मनुष्यत्व—दुर्लभता के विषय मे दस दृष्टान्त—(१) **चोल्लक** अर्थात्—भोजन । ब्रह्मदत्त राजा ने चक्रवर्ती पद मिलने पर एक ब्राह्मण पर प्रसन्न हो कर उसकी याचना एव इच्छानुसार चक्री के षट्खण्डपरिमित राज्य मे प्रतिदिन एक घर से खीर का भोजन मिल जाने की माग स्वीकार की । अत. सबसे प्रथम दिन उसने चक्रवर्ती के यहाँ बनी हुई परम स्वादिष्ट खीर खाई । परन्तु जैसे उस ब्राह्मण को चक्रवर्ती के घर की खीर खाने का अवसर जिंदगी मे दूसरी बार मिलना दुर्लभ है, वैसे ही इस जीव को मनुष्यजन्म पुन. मिलना दुर्लभ है । (२) **पाशक**—जुआ खेलने का पासा । चाणक्य की आराधना से प्रसन्न देव द्वारा प्रदत्त पासो के प्रभाव से उस का पराजित होना दुर्लभ बना, उसी प्रकार यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है । (३) **धान्य**—समस्त भारत क्षेत्र के सभी प्रकार के धान्यो (अनाजो) का गगनचुम्बी ढेर लगा कर उसमे एक प्रस्थ सरसो मिला देने पर उसके ढेर मे से पुन प्रस्थप्रमाण सरसो के दाने अलग-अलग करना बडा दुर्लभ है, वैसे ही जीव का मनुष्यभव से छूट कर चौरासी लक्ष योनि मे मिल जाने पर पुन मनुष्यजन्म मिलना अतिदुर्लभ है । (४) **द्यूत**—रत्नपुरनृप रिपुमर्दन ने अपने पुत्र वसुमित्र को राजा के जीवित रहते राज्य प्राप्त करने की रीति बता दी कि १००८

---

१. उत्तराध्ययन, मूल अ ३, गा. २ से ७ तक ।

खम्भे तथा प्रत्येक खम्भे के १००८ कोनो वाले सभाभवन के प्रत्येक कोने को जुए मे (एक बार दाव से) जीत ले, तभी उस द्यूतक्रीडाविजयी राजकुमार को राज्य मिल सकता है। राजकुमार ने ऐसा ही किया, किन्तु द्यूत मे प्रत्येक कोने को जीतना उसके लिए दुर्लभ हुआ, वैसे ही मनुष्यभव प्राप्त होना दुर्लभ है। (५) **रत्न**—धनद नामक कृपण वणिक् किसी सम्बन्धी के आमन्त्रण पर अपने पुत्र वसुप्रिय को जमीन मे गाडे हुए रत्नो की रक्षा के लिए नियुक्त करके परदेश चला गया। वापिस आ कर देखा तो रत्न वहाँ नही मिले, क्योकि उसके चारो पुत्रो ने रत्न निकाल कर बेच दिये थे और उनसे प्राप्त धनराशि से व्यापार करके कोटिध्वज बन गये थे। वृद्ध पिता के द्वारा वापिस रत्न नही मिलने पर घर से निकाल दिये जाने की धमकी देने पर चारो पुत्रो ने विक्रीत रत्नो का वापस मिलना दुर्लभ बताया, वैसे ही एक बार हाथ से निकला हुआ मनुष्यभव पुन मिलना दुर्लभ है। (६) **स्वप्न**—मूलदेव नामक क्षत्रिय को परदेश जाते हुए एक कार्पटिक मिला। मार्ग मे काचनपुर के बाहर तालाब पर दोनो सोए। पिछली रात को दोनो ने मुख मे चन्द्रप्रवेश का स्वप्न देखा। मूलदेव ने कार्पटिक से स्वप्न को गोपनीय रखने को कहा, पर वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वप्न का वृत्तान्त कहता फिरा। किसी ने उससे कहा—"आज शनिवार है, इसलिए तुम्हे घृत-गुड सहित रोटी एव तेल मिलेंगे।" यही हुआ। उधर मूलदेव ने एक स्वप्नपाठक ब्राह्मण से स्वप्नफल जानना चाहा, तो अपनी पुत्री के साथ विवाह करने की शर्त पर स्वप्नफल बताने को कहा। मूलदेव ने ब्राह्मणपुत्री के साथ विवाह करना स्वीकार किया। दामाद बन गया तो विप्र ने कहा—"आज से सातवे दिन आप इस नगर के राजा बनेगे।" यही हुआ। मूलदेव को राजा बने देख उक्त कार्पटिक को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। वह राज्यलक्ष्मी के हेतु चन्द्रपान के स्वप्न के लिए पुन पुन उसी स्थान पर सोने लगा, किन्तु अब उस कार्पटिक को चन्द्रपान का स्वप्न आना अति दुर्लभ था, वैसे ही एक बार मनुष्यजन्म चूकने पर पुन मनुष्यजन्म की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। (७) **चक्र**—मथुरा नरेश जितशत्रु ने अपनी पुत्री इन्दिरा के विवाह के लिए स्वयवरमण्डप बनवाया, उसके निकट बडा खम्भा गडवाया, जिसके ऊर्ध्वभाग मे, घूमने वाले ४ चक्र उलटे और चार सीधे लगवाए। उन चक्रो पर राधा नामक घूमती हुई पुतली रखवा दी। खभे के ठीक नीचे तेल से भरा हुआ एक कडाह रखवाया। शर्त यह रखी कि जो व्यक्ति राधा के वामनेत्र को बाण से बीध देगा, उसे ही मेरी पुत्री वरण करेगी। स्वयवर मे समागत राजकुमारो ने बारी-बारी से निशाना साधा, मगर किसी का एक चक्र से और किसी का दूसरे से टकरा कर बाण गिर गया। अन्त मे जयन्त राजकुमार ने बाण से पुतली के वामनेत्र की कनीनिका को बीध दिया। राजपुत्री इन्दिरा ने उसके गले मे वरमाला डाल दी। जैसे राधावेध का साधना दुष्कर कार्य है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म को हारे हुए प्रमादी को पुन मनुष्यजन्मप्राप्ति दुर्लभ है। (८) **कूर्म**—कछुआ। शैवालाच्छादित सरोवर मे एक कछुआ सपरिवार रहता था। एक बार किसी कारण वश शैवाल हट जाने से एक छिद्र हो गया। कछुए ने अपनी गर्दन बाहर निकाली तो स्वच्छ आकाश मे शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रबिम्ब देखा। आश्चर्यपूर्वक आनन्दमग्न हो, वह इस अपूर्व वस्तु को दिखाने के लिए अपने परिवार को लेकर जब उस स्थल पर आया, तो वह छिद्र हवा के झोके से पुन शैवाल से आच्छादित हो चुका था। अत. उस अभागे कछुए को जैसे पुन चन्द्रदर्शन दुर्लभ हुआ, वैसे ही प्रमादी जीव को पुन मनुष्यजन्म मिलना महादुर्लभ है। (९) **युग**—असख्यात द्वीपों और समुद्रो के बाद असंख्यात योजन विस्तृत एव सहस्र योजन गहरे अन्तिम समुद्र—स्वयभूरमण में कोई देव पूर्वदिशा की ओर गाडी का एक जुआ डाल दे तथा पश्चिम दिशा की ओर उसकी

कीलिका डाले। अब वह कीलिका वहाँ से बहती-बहती चली आए और बहते हुए इस जुए से मिल जाए तथा वह कीलिका उस जुए के छेद मे प्रविष्ट हो जाए, यह अत्यन्त दुर्लभ है, इसी तरह मनुष्य-भव से च्युत हुए प्रमादी को पुन मनुष्यभव की प्राप्ति अति दुर्लभ है। (१०) **परमाणु**—कौतुकवश किसी देव ने माणिक्यनिर्मित स्तम्भ को वज्रप्रहार से तोडा, फिर उसे इतना पीसा कि उसका चूरा-चूरा हो गया। उस चूर्ण को एक नली मे भरा और सुमेरु शिखर पर खडे होकर फूक मारी, जिससे वह चारो तरफ उड गया। वायु के प्रबल झौके उस चूर्ण को प्रत्येक दिशा मे दूर-दूर ले गए। उन सब परमाणुओ को एकत्रित करके पुन. उस माणिक्य स्तम्भ का निर्माण करना दुष्कर है, वैसे ही मनुष्य-भव से च्युत जीव को पुन मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है।[1]

खत्तिओ, चंडाल, वोक्कसो—तीन शब्द सग्राहक है—(१) क्षत्रियशब्द से वैश्य, ब्राह्मण आदि उत्तम जातियो का, (२) चाण्डाल शब्द से निषाद, श्वपच आदि नीच जातियो का और (३) वोक्कस शब्द से सूत, वैदेह, आयोगव आदि सकीर्ण (वर्णसकर) जातियो का ग्रहण किया गया है। चूर्णि के अनुसार ब्राह्मण से शूद्रस्त्री मे उत्पन्न निषाद अथवा ब्राह्मण से वैश्यस्त्री मे उत्पन्न अम्बष्ठ और निषाद से अम्बष्ठस्त्री मे उत्पन्न वोक्कस कहलाता है।[2]

आवट्टजोणीसु—आवर्त्त का अर्थ परिवर्त्त है, आवर्त्तप्रधान योनियाँ आवर्त्तयोनियाँ है—चौरासी लाख प्रमाण जीवोत्पत्तिस्थान है, उनमे अर्थात्—योनिचक्रो मे।[3]

कम्मकिब्बिसा—दो अर्थ—कर्मो से किल्विष=अधम, अथवा जिनके कर्म किल्विष—अशुभ—मलिन हो।[4]

सव्वट्ठेसु व खत्तिया—व्याख्या—जिस प्रकार क्षत्रिय—राजा आदि सर्वार्थो—सभी मानवीय काम-भोगो मे आसक्त हो जाते है, उसी प्रकार भवाभिनन्दी पुन पुन जन्म-मरण करते हुए उसी (ससार) मे आसक्त हो जाते है।[5]

विस्सभिया पया=विश्वभृतः प्रजाः—पृथक्-पृथक् एक-एक योनि मे क्वचित् कदाचित् अपनी उत्पत्ति से प्राणी सारे जगत् को भर देते है, सारे जगत् मे व्याप्त हो जाते है। कहा भी है—

---

१ (क) उत्तराध्ययन (प्रियदर्शिनी व्याख्या) पू घासीलालजी म, अ ३ टीका का सार, पृ ५७४ से ६२५ तक
(ख) जैन कथाएँ, भाग ६८

२ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ ९६
(ख) इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातय चाण्डालग्रहणान्नीचजातयो, बुक्कसग्रहणाच्च सकीर्णजातय उपलक्षिता।
— उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र १८२-१८३

३ आवर्त्त परिवर्त्त, तत्प्रधाना योनय —चतुरशीतिलक्षप्रमाणानि जीवोत्पत्तिस्थानानि आवर्त्तयोनयस्तासु।
—सुखबोधा, पत्र ६८

४ कर्मणा—उत्कृष्टेण किल्विषा —अधमा कर्म्मकिल्विषा, किल्विषानि क्लिष्टतया निकृष्टानि अशुभानुबधीनि कर्म्माणि येषां ते किल्विषकर्म्माण। —बृहद्वृत्ति, पत्र १८३

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८४

'णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमेत्तो वि ।
जम्मणमरणाबाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता ।।'

'लोक मे बाल की अग्रकोटि-मात्र भी कोई ऐसा प्रदेश नही है, जहाँ जीवो ने जन्म-मरण न पाया हो ।'[1]

धर्म-श्रवण की दुर्लभता

८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति तवं खन्तिमहिंसयं ।।

[८] मनुष्य-देह पा लेने पर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे श्रवण कर जीव तप, क्षान्ति (क्षमा-सहिष्णुता) और अहिंसा को अगीकार करते है ।

विवेचन—धर्मश्रवण का महत्त्व—धर्मश्रवण मिथ्यात्वतिमिर का विनाशक, श्रद्धा रूप ज्योति का प्रकाशक, तत्त्व-अतत्त्व का विवेचक, कल्याण और पाप का भेदप्रदर्शक, अमृत-पान के समान एकान्त हितविधायक और हृदय को आनन्दित करने वाला है । ऐसे श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण मनुष्य को प्रबल पुण्य से मिलता है । धर्मश्रवण से ही व्यक्ति तप, क्षमा और अहिंसा आदि को स्वीकार करता है ।[2]

तवं, खंतिमहिंसयं · तीनो सग्राहकशब्द— **तप**—अनशन आदि १२ प्रकार के तप, सयम और इन्द्रियनिग्रह का, **क्षान्ति**—क्रोधविजय रूप क्षमा, कष्टसहिष्णुता तथा उपलक्षण से मान आदि कषायो के विजय का तथा **अहिंसाभाव**—उपलक्षण से मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एव परिग्रह से विरमणरूप व्रत का सग्राहक है ।[3]

धर्मश्रद्धा की दुर्लभता

९. आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई ।।

[९] कदाचित् धर्म का श्रवण भी प्राप्त हो जाए, तो उस पर श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, (क्योकि) बहुत से लोग नैयायिक मार्ग (न्यायोपपन्न सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयात्मक मोक्षपथ) को सुन कर भी उससे परिभ्रष्ट—(विचलित) हो जाते है ।

विवेचन—धर्मश्रद्धा का महत्त्व—धर्मविषयक रुचि ससारसागर पार करने के लिए नौका है, मिथ्यात्व-तिमिर को दूर करने के लिए दिनमणि जैसी है, स्वर्ग-मोक्षसुखप्रदायिनी चिन्तामणि-

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र १८२

२. (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, अ ३, पृ ६३९

(ख) देखिये दशवैकालिकसूत्र, अ ४ गा १० मे धर्मश्रवण माहात्म्य—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८४ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, अ ३, पृ ६३९

समा है, क्षपकश्रेणी पर आरूढ होने के लिए निसरणी है,' कर्मरिपु को पराजित करने वाली और केवलज्ञान—केवलदर्शन की जननी है।[1]

नेआउयं —दोरूप · दो अर्थ— (१)**नैयायिक**—न्यायोपपन्न—न्यायसगत, (२) **नैर्यातृकमोक्ष**—दु ख के आत्यन्तिक क्षय की ओर या ससारसागर से पार ले जाने वाला।[2]

बहवे परिभस्सई—बहुत-से परिभ्रष्ट हो जाते है। इसका भावार्थ यह है कि जमालि आदि की तरह बहुत-से सम्यक् श्रद्धा से विचलित हो जाते है।

दृष्टान्त—सुखबोधा टीका, एव आवश्यकनिर्युक्ति आदि मे इस सम्बन्ध मे मार्गभ्रष्ट सात निह्नवों का दृष्टान्त सविवरण प्रस्तुत किया गया है। वे सात निह्नव इस प्रकार है—

(१) जमालि—क्रियमाण (जो किया जा रहा है, वह अपेक्षा से) कृत (किया गया) कहा जा सकता है, भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त को इसने अपलाप किया, इसे मिथ्या बताया और स्थविरो द्वारा युक्तिपूर्वक समझाने पर अपने मिथ्याग्रह पर अडा रहा। उसने पृथक् मत चलाया।

(२) तिष्यगुप्त—सप्तम आत्मप्रवाद पूर्व पढते समय किसी नय की अपेक्षा से एक भी प्रदेश से हीन जीव को जीव नही कहा जा सकता है, इस कथन का आशय न समझ कर एकान्त आग्रह पकड लिया कि अन्तिम प्रदेश ही जीव है, प्रथम-द्वितीयादि प्रदेश नही। आचार्य वसु ने उसे इस मिथ्या-धारणा को छोडने के लिए बहुत कहा। युक्तिपूर्वक समझाने पर भी उसने कदाग्रह न छोडा। किन्तु वे जब आमलकप्पा नगरी मे आए तो उनकी मिथ्या प्ररूपणा सुनकर भगवान् महावीर के श्रावक मित्रश्री सेठ ने अपने घर भिक्षा के लिए प्रार्थना की। भिक्षा मे उन्हे मोदकादि मे से एक तिलप्रमाण तथा घी आदि मे से एक बिन्दुप्रमाण दिया। कारण पूछने पर कहा—आपका सिद्धान्त है कि अन्तिम एक प्रदेश ही पूर्ण जीव है, तथैव मोदकादि का एक अवयव भी पूर्ण मोदकादि है। आपकी दृष्टि मे जिन-वचन सत्य हो, तभी मै तदनुसार आपको पर्याप्त भिक्षा दे सकता हूँ। तिष्यगुप्त ने अपनी भूल स्वीकार की, आलोचना करके शुद्धि करके पुन सम्यक्बोधि प्राप्त की।

(३) आषाढाचार्य—शिष्य—हृदयशूल से मृत आषाढ आचार्य ने अपने शिष्यो को प्रथम देवलोक से आकर साधुवेष मे अगाढयोग की शिक्षा दी। बाद मे पुन देवलोकगमन के समय शिष्यो को वस्तुस्थिति समझाई और वह देव अपने स्थान को चले गए। उनके शिष्यो ने सशयमिथ्यात्वग्रस्त होकर अव्यक्तभाव को स्वीकार किया। वे कहने लगे—हमने अज्ञानवश असयत देव को सयत समझ कर वन्दना की, वैसे ही दूसरे लोग तथा हम भी एक दूसरे को नही जान सकते कि हम असयत है या सयत? अत हमे समस्त वस्तुओ को अव्यक्त मानना चाहिए, जिससे मृषावाद भी न हो, असयत को वन्दना भी न हो। राजगृहनृप बलभद्र श्रमणोपासक ने अव्यक्त निह्नवो का नगर मे आगमन सुन

१ उत्तराध्ययन, प्रियदर्शनीव्याख्या, भ ३, पृ ६४१

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ 'नैयायिक न्यायोपपन्न इत्यर्थ ।'

(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि। नयनशीलो नैयायिक ।

(ग) नयनशीलो नेयाइओ (नैर्यातृक) मोक्ष नयतीत्यर्थ । —सूत्रकृतागचूर्णि, पृ ४५७

(घ) बुद्धचर्या, पृ ४६७, ४८९

कर उन्हे अपने सुभटो से बधवाया और पिटवाकर अपने पास मगवाया। उनके पूछने पर कि श्रमणोपासक होकर आपने हम श्रमणो पर ऐसा अत्याचार क्यो करवाया ? राजा ने कहा—आपके अव्यक्त मतानुसार हमें कैसे निश्चय हो कि आप श्रमण है या चोर ? मै श्रमणोपासक हूँ या अन्य ? इस कथन को सुनकर वे सब प्रतिबुद्ध हो गए। अपनी मिथ्या धारणा के लिए मिथ्यादुष्कृत देकर पुन स्थविरो की सेवा में चले गए।

(४) **अश्वमित्र**—महागिरि आचार्य के शिष्य कौण्डिन्य अपने शिष्य अश्वमित्र मुनि को दशम विद्यानुप्रवाद पूर्व की नैपुणिक नामक वस्तु का अध्ययन करा रहे थे। उस समय इस आशय का एक सूत्रपाठ आया कि "वर्तमानक्षणवर्ती नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डको के जीव द्वितीयादि समयो मे विनष्ट (व्युच्छिन्न) हो जाएँगे। इस पर से एकान्त क्षणक्षयवाद का आग्रह पकड लिया कि समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिक्षण मे विनष्ट हो रहे है, स्थिर नही है।" कौण्डिन्याचार्य ने उन्हे अनेकान्तदृष्टि से समझाया कि व्युच्छेद का अर्थ—वस्तु का सर्वथा नाश नही है, पर्यायपरिवर्तन है। अत यही सिद्धान्त सत्य है कि—"समस्त पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है, पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत।" परन्तु अश्वमित्र ने अपना दुराग्रह नही छोडा। राजगृहनगर के शुल्काध्यक्ष श्रावकों ने उन समुच्छेदवादियो को चाबुक आदि से खूब पीटा। जब उन्होने कहा कि आप लोग श्रावक होकर हम साधुओ को क्यो पीट रहे है ? तब उन्होने कहा—"आपके क्षणविनश्वर सिद्धान्तानुसार न तो हम वे आपके श्रावक है जिन्होने आपको पीटा है, क्योकि वे तो नष्ट हो गए, हम नये उत्पन्न हुए हैं तथा पिटने वाले आप भी श्रमण नही रहे, क्योकि आप तो अपने सिद्धान्तानुसार विनष्ट हो चुके हैं।" इस प्रकार शिक्षित करने पर उन्हे प्रतिबोध हुआ। वे सब पुन सत्य सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने सघ मे आ गए।

(५) **गंगाचार्य**—उल्लुकातीर नगर के द्वितीय तट पर धूल के परकोटे से परिवृत एक खेडा था। वहाँ महागिरि के शिष्य धनगुप्त आचार्य का चातुर्मास था। उनका शिष्य था—आचार्य गग, जिसका चौमासा उल्लुकानदी के पूर्व तट पर बसे उल्लूकातीर नगर मे था। एक बार शरत्काल मे आचार्य गग अपने गुरु को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग मे नदी पडती थी। केशविहीन मस्तक होने से सूर्य की प्रखर किरणो के आतप से उनका मस्तक तप रहा था, साथ ही चरणो मे शीतल जल का स्पर्श होने से शीतलता आ गई। मिथ्यात्वकर्मोदयवश उनकी बुद्धि मे यह आग्रह घुसा कि एक समय मे जीव एक ही क्रिया का अनुभव करता है, यह आगमकथन वर्तमान मे क्रियाद्वय के अनुभव से सत्य प्रतीत नही होता, क्योकि इस समय मै एक साथ शीत और उष्ण दोनो स्पर्शों का अनुभव कर रहा हूँ। आचार्य धनगुप्त ने उन्हे विविध युक्तियो से सत्य सिद्धान्त समझाया, मगर उन्होने दुराग्रह नही छोडा। सघबहिष्कृत होकर वे राजगृह मे आए। वहाँ मणिप्रभ यक्ष ने द्विक्रियावाद की असत्प्ररूपणा से कुपित होकर मुद्गरप्रहार किया। कहा—"भगवान् ने स्पष्टतया यह प्ररूपणा की है कि एक जीव को क्रियाद्वय का एक साथ अनुभव नही होता (एक साथ दो उपयोग नही होते)। वास्तव मे आपकी भ्रान्ति का कारण समय की अतिसूक्ष्मता है। अत असत्प्ररूपणा को छोड़ दो, अन्यथा मुद्गर से मैं तुम्हारा विनाश कर दू गा।" यक्ष के युक्तियुक्त तथा भयप्रद वचनो से प्रतिबुद्ध होकर गंगाचार्य ने दुराग्रह का त्याग करके आत्मशुद्धि की।

(६) **षडुलूक रोहगुप्त**—श्रीगुप्ताचार्य का शिष्य रोहगुप्त अतरजिका नगरी में उनके दर्शनार्थ आया। वहाँ पोट्टशाल परिव्राजक ने यह घोषणा की "मैंने लोहपट्ट पेट पर इसलिए बाध

रखा है, मेरा पेट अनेक विद्याओं से पूर्ण होने के कारण फट रहा है। तथा जामुन वृक्ष की शाखा इसलिए लें रखी है कि इस जम्बूद्वीप मे मेरा कोई प्रतिवादी नही रहा।" रोहगुप्त मुनि ने गुरुदेव श्रीगुप्तचार्य से बिना पूछे ही उसकी इस घोषणा एव पटहवादन को रुकवा दिया। श्रीगुप्ताचार्य से जब बाद में रोहगुप्त मुनि ने यह बात कही तो उन्होने कहा—तुमने अच्छा नही किया। वाद मे पराजित कर देने पर भी वह परिव्राजक वृश्चिकादि ७ विद्याओं से तुम पर उपद्रव करेगा। परन्तु रोहगुप्त ने वादविजय और उपद्रवनिवारण के लिए आशीर्वाद देने का कहा तो गुरुदेव ने मायूरी आदि सात ७ विद्याएँ प्रतीकारार्थ दी तथा क्षुद्र विद्याकृत उपसर्ग-निवारणार्थ रजोहरण मत्रित करके दे दिया। रोहगुप्त राजसभा मे पहुँचा। परिव्राजक ने जीव और अजीव—राशिद्वय का पक्ष प्रस्तुत किया जो वास्तव मे रोहगुप्त का ही पक्ष था, रोहगुप्त ने उसे पराजित करने हेतु स्वसिद्धान्तविरुद्ध 'जीव, अजीव और नो जीव,' यो राशित्रय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। नोजीव मे उदाहरण बताया—छिपकली आदि की कटी हुई पूछ आदि। इससे परिव्राजक ने वाद मे निरुत्तर होकर रोषवश रोहगुप्त को नष्ट करने हेतु उस पर वृश्चिकादि विद्याओं का प्रयोग किया, परन्तु रोहगुप्त ने उनकी प्रतिपक्षी सात विद्याओं के प्रयोग से वृश्चिकादि सबको भगा दिया। सब ने परिव्राजक को पराजित करके नगरबहिष्कृत कर दिया।

गुरुदेव के पास आकर रोहगुप्त ने त्रिराशि के पक्ष के स्थापन से विजयप्राप्ति का वृत्तान्त बतलाया तो उन्होने कहा—यह तो तुमने सिद्धान्त-विरुद्ध प्ररूपणा की है। अत राजसभा मे जा कर ऐसा कहो कि 'मैंने तो सिर्फ परिव्राजक का मान मर्दन करने के उद्देश्य से त्रिराशि पक्ष उपस्थित किया था, हमारा सिद्धान्त द्विराशिवाद का ही है।' परन्तु रोहगुप्त बहुत समझाने पर भी अपने दुराग्रह पर अडा रहा। गुरु के साथ प्रतिवाद करने को उद्यत हो गया। फलत बलश्री राजा की राजसभा मे गुरु-शिष्य का छह महीने तक विवाद चला। अन्त मे राजा आदि के साथ श्रीगुप्ताचार्य कुत्रिकापण पहुँचे, वहाँ जाकर जीव और अजीव क्रमश मागा तो दुकानदार ने दोनो ही पदार्थ दिखला दिये। परन्तु 'नोजीव' मागने पर दुकानदार ने कहा—'नोजीव' तो तीन लोक मे भी नही है। तीन लोक मे जो जो चीजे है, वे सब यहाँ मिलती है। नोजीव तीन लोक मे है ही नही। दूकानदार की बात सुन कर आचार्य महाराज ने उसे फिर समझाया, वह नही माना, तब रोहगुप्त को पराजित घोषित करके राजसभा से बहिष्कृत कर दिया। गच्छबहिष्कृत होकर रोहगुप्त ने वैशेषिकदर्शन चलाया।

[७] **गोष्ठामाहिल**—आचार्य आर्यरक्षित ने दुर्बलिकापुष्यमित्र को योग्य समझकर जब अपना उत्तराधिकारी आचार्य घोषित कर दिया तो गोष्ठामाहिल ईर्ष्या से जल उठा। एक बार आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र जब अपने शिष्य विन्ध्यमुनि को नौवे पूर्व—प्रत्याख्यानप्रवाद की वाचना दे रहे थे तब पाठ आया—**पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए,'** इस पर प्रतिवाद करते हुए गोष्ठामाहिल बोले—'जावज्जीवाए' यह नही कहना चाहिए, क्योकि ऐसा कहने से प्रत्याख्यान सीमित एव सावधिक हो जाता है एव उसमे 'भविष्य मे मारूँगा' ऐसी आकाक्षा भी सभव है। आचार्यश्री ने समझाया—इस प्ररूपणा मे उत्सूत्रप्ररूपणादोष, मर्यादाविहीन, कालावधिरहित होने से अकार्यसेवन तथा भविष्य मे देवादि भवो मे प्रत्याख्यान न होने से व्रतभग का दोष लगने की आशका है। 'यावज्जीव' से मनुष्यभव तक ही गृहीत व्रत का निरतिचाररूप से पालन हो सकता है। इस प्रकार समझाने पर भी गोष्ठामाहिल ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तो सघ ने शासनदेवी से विदेहक्षेत्र में विहरमान तीर्थंकर से सत्य का निर्णय करके आने की प्रार्थना की। वह वहाँ जाकर सदेश लाई कि

जो आचार्य कहते है, वह सत्य है, गोष्ठामाहिल मिथ्यावादी निह्नव है। फिर भी गोष्ठामाहिल न माना तब संघ ने उसे बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार गोष्ठामाहिल सम्यक्-श्रद्धाभ्रष्ट हो गया।[1]

इसी कारण शास्त्र मे कहा गया है कि श्रद्धा परम दुर्लभ है।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि नो एण पडिवज्जए॥

[१०] धर्मश्रवण (श्रुति) और श्रद्धा प्राप्त करके भी (सयम मे) वीर्य (पराक्रम) होना अति दुर्लभ है। बहुत-से व्यक्ति सयम मे अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्तया अगीकार नही कर पाते।

विवेचन—संयम मे पुरुषार्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव दुर्लभ—मनुष्यत्व, धर्मश्रवण एवं श्रद्धा युक्त होने पर भी अधिकाश व्यक्ति चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से सयम—चारित्र मे पुरुषार्थ नही कर सकते। वीर्य का अभिप्राय यहाँ चारित्र-पालन मे अपनी शक्ति लगाना है, वही सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण एव दुर्लभ है। वही कर्मरूपी मेघपटल को उडाने के लिए पवनसम, मोक्षप्राप्ति के लिए विशिष्ट कल्पवृक्षसम, कर्ममल को धोने के लिए जल-तुल्य, भोगभुजग के विष के निवारणार्थ मत्रसम है।[2]

दुर्लभ चतुरंगप्राप्ति का अनन्तरफल

११. माणुसत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं संवुडे निद्धुणे रयं॥

[११] मनुष्यदेह मे आया हुआ (अथवा मनुष्यत्व को प्राप्त हुआ) जो व्यक्ति धर्म-श्रवण करके उस पर श्रद्धा करता है, वह तपस्वी (मायादि शल्यत्रय से रहित प्रशस्त तप का आराधक), सयम मे वीर्य (पुरुषार्थ या शक्ति) को उपलब्ध करके सवृत (आश्रवरहित) होता है तथा कर्मरज को नष्ट कर डालता है।

१२. सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घय-सित्त व्व पावए॥

[१२] जो ऋजुभूत (सरल) होता है, उसे शुद्धि प्राप्त होती है और जो शुद्ध होता है, उसमे धर्म ठहरता है। (जिसमे धर्म स्थिर है, वह) घृत से सिक्त (-सीची हुई) अग्नि की तरह परम निर्वाण (विशुद्ध आत्मदीप्ति) को प्राप्त होता है।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ९८
(ग) सुखबोधा पत्र ६९-७५ (घ) आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४०१

२ (क) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनी व्याख्या, भ ३, पृ ७८८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६

१३. विगिंच कम्मुणो हेउं जसं संचिणु खन्तिए ।
पाढवं सरीरं हिच्चा उड्ढं पक्कमई दिसं ॥

[१३] (हे साधक !) कर्म के हेतुओं को दूर कर, क्षमा से यश (यशस्कर विनय अथवा संयम) का संचय कर। ऐसा साधक ही पार्थिव शरीर का त्याग करके ऊर्ध्वदिशा (स्वर्ग या मोक्ष) की ओर गमन करता है।

विवेचन—चतुरंगप्राप्ति : अनन्तरफलदायिनी—(१) चारों अंगों को प्राप्त प्रशस्त तपस्वी नये कर्मों को आते हुए रोक कर अनाश्रव (संवृत) होता है, पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, (२) चतुरंग-प्राप्ति के बाद मोक्ष के प्रति सीधी—निर्विघ्न प्रगति होने से शुद्धि—कषायजन्य कलुषता का नाश—होती है। शुद्धिविहीन आत्मा कषायकलुषित होने से धर्मभ्रष्ट भी हो सकता है, परन्तु जब शुद्धि हो जाती है तब उस आत्मा में धर्म स्थिर हो जाता है, धर्म में स्थिरता होने पर घृतसिक्त अग्नि की तरह तप-त्याग एवं चारित्र में परम तेजस्विता को प्राप्त कर लेता है। (३) अतः कर्म के मिथ्यात्वादि हेतुओं को दूर करके जो साधक क्षमादि धर्मसम्पत्ति से यशस्कर संयम की वृद्धि करता है, वह इस शरीर को छोड़ने के बाद सीधा ऊर्ध्वगमन करता है—या तो पंच अनुत्तर विमानों में से किसी एक में या फिर सीधा मोक्ष में जाता है। यह चतुरंगप्राप्ति का अनन्तर—आसन्न फल है।[1]

निव्वाणं परमं जाइ : व्याख्या—(१) चूर्णिकार के अनुसार निर्वाण का अर्थ मोक्ष है, (२-३) शान्त्याचार्य के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—स्वास्थ्य अथवा जीव-मुक्ति। स्वास्थ्य का अर्थ है—स्व (आत्मा) में अवस्थिति—आत्मरमणता। कषायों से रहित शुद्ध व्यक्ति में जब धर्म स्थिर हो जाता है, तब आत्मस्वरूप में उसकी अवस्थिति सहज हो जाती है। स्व में स्थिरता से ही साधक में उत्तरोत्तर सच्चे सुख की वृद्धि होती है। आगम के अनुसार एक मास की दीक्षापर्याय वाला श्रमण व्यन्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। आत्मस्थ साधक चक्रवर्ती के सुखों को भी अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रकार के परम उत्कृष्ट स्वाधीन सुख का अनुभव आत्मस्वरूप या आत्मगुणों में स्थित को होता है, यही स्वस्थता निर्वृत्ति (परम सुख की स्थिति) अथवा इसी जीवन में मुक्ति (जीवन्मुक्ति) है, जिसका स्वरूप 'प्रशमरति' में बताया गया है—

'निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥

अर्थात्—जिन सुविहित साधकों ने आठ मद एवं मदन (काम) को जीत लिया है, जो मन-वचन-काया के विकारों से रहित है, जो 'पर' की आशा (अपेक्षा—स्पृहा) से निवृत्त हैं, उनके लिए यही मुक्ति है।[2]

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६ (ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीव्याख्या, भा. ३, पृ. ७९०

२ (क) 'निर्वृत्तिः निर्वाणम्'—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ९९

(ख) 'निर्वाण—निर्वृत्तिर्निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः, परमं—प्रकृष्टम् ।'
यद्वा निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिम् ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र १८६

(ग) प्रशमरति, श्लोक २३८ (घ) सुखबोधा, पत्र ७६

(घ) तणसंथारणिसण्णो वि मुणिवरो भट्ठरायमयमोहो
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥ —सुखबोधा, पत्र ७६

घयसित्त व्व पावए—प्रस्तुतगाथा मे निर्वाण की तुलना घृतसिक्त अग्नि से की है, जो प्रज्वलित होती है, बुझती नही । इसलिए निर्वाण का अर्थ आत्मा की प्रज्वलित तेजोमयी स्थिति है, जिसे चाहे मुक्ति—जीवन्मुक्ति कह लें या स्वस्थता कह ले, बात एक ही है ।[1]

दुर्लभ चतुरंगप्राप्ति का परम्परागत फल

१४. विसालिसेहिं सीलेहिं जक्खा उत्तर-उत्तरा ।
महासुक्का व दिप्पन्ता मन्नन्ता अपुणच्चवं ॥

[१४] विविध शीलो (व्रताचरणों) के पालन से यक्ष (महनीय ऋद्धिसम्पन्न देव) होते हैं । वे उत्तरोत्तर (स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति एव लेश्या की अधिकाधिक) समृद्धि के द्वारा महाशुक्ल (चन्द्र, सूर्य) की भाँति दीप्तिमान होते हैं और वे 'स्वर्ग से पुन च्यवन नही होता,' ऐसा मानने लगते हैं ।

१५. अप्पिया देवकामाण कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति पुव्वा वाससया बहू ॥

[१५] (एक प्रकार से) दिव्य काम-भोगो के लिए अपने आपको अर्पित किये हुए वे देव इच्छानुसार रूप बनाने (विकुर्वणा करने) मे समर्थ होते हैं तथा ऊर्ध्व कल्पो मे पूर्ववर्ष-शत अर्थात्—सुदीर्घ काल तक रहते है ।

१६. तत्थ ठिच्चा जहाठाण जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुस जोणिं से दसंगेऽभिजायई ॥

[१६] वे देव उन कल्पो मे (अपनी शीलाराधना के अनुरूप) यथास्थान अपनी-अपनी काल-मर्यादा(स्थिति) तक ठहर कर,आयुक्षय होने पर वहाँ से च्युत होते हैं और मनुष्ययोनि पाते हैं, जहाँ वे दशाग भोगसामग्री से युक्त स्थान मे जन्म लेते है ।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खन्धाणि तत्थ से उववज्जई ॥

[१७] क्षेत्र (खेत, खुली जमीन), वास्तु (गृह, प्रासाद आदि), स्वर्ण, पशु और दास-पोष्य (या पौरुषेय), ये चार कामस्कन्ध जहाँ होते हैं, वहाँ वे उत्पन्न होते है ।

१८. मित्तवं नायवं होइ उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायके महापन्ने अभिजाए जसोबले ॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६—
'स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेति अस्य घृतसिक्तस्य निर्वृत्तिरनुगीयते ।'

(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ ९९—
तृण-तुष-पलाल-करीषादिभिरिंधनविशेषैरिध्यमानो न तथा दीप्यते यथाघृतेनेत्यतोऽनुमानात् ज्ञायते यथा घृतेनाभिषिक्तोऽधिक भाति ।

[१८] वे सन्मित्रों से युक्त, ज्ञातिमान् उच्चगोत्रीय, सुन्दर वर्ण वाले (सुरूप), नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात—कुलीन, यशस्वी, और बलवान् होते है।

१९. भोच्चा माणुस्सए भोए अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्ध-सद्धम्मे केवलं बोहि बुज्झिया॥

[१९] आयु-पर्यन्त (यथायुष्य) मनुष्यसम्बन्धी अनुपम (अप्रतिरूप) भोगों को भोग कर भी पूर्वकाल मे विशुद्ध सद्धर्म के आराधक होने से वे निष्कलक (केवलीप्रज्ञप्त धर्मप्राप्तिरूप) बोधि का अनुभव करते है।

२०. चउरंगं दुल्लहं नच्चा संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे सिद्धे हवइ सासए॥
—त्ति बेमि।

[२०] पूर्वोक्त चार अगो को दुर्लभ जान कर वे साधक सयम-धर्म को अगीकार करते है तदनन्तर तपश्चर्या से कर्म के सब अशो को क्षय कर वे शाश्वत सिद्ध (मुक्त) हो जाते है।
—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—जक्खा—यक्ष शब्द का प्राचीन अर्थ यहाँ ऊर्ध्वकल्पवासी देव है। यज् धातु से निष्पन्न यक्ष शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—जिनकी इज्या—पूजा की जाए, वह यक्ष है। अथवा तथाविध ऋद्धि-समुदाय होने पर भी अन्त मे क्षय को प्राप्त होता है, वह 'यक्ष' है।[1]

महासुक्का—महाशुक्ल—अतिशय उज्ज्वल प्रभा वाले सूर्य, चन्द्र आदि को कहा गया है। जक्खा शब्द के साथ 'उत्तर-उत्तरा' और 'महासुक्का' शब्द होने से ऊपर-ऊपर के देवों का सूचक यक्ष शब्द है तथा वे महाशुक्लरूप चन्द्र, सूर्य आदि के समान देदीप्यमान है। इसमे उन देवों की शरीर-सम्पदा प्रतिपादित की गई है।[2]

कामरूपविउव्विणो—चार अर्थ—(१) कामरूपविकुर्विणः—इच्छानुसार रूप-विकुर्वणा करने के स्वभाव वाले, (२) **कामरूपविकरणाः**—यथेष्ट रूपादि बनाने की शक्ति से युक्त, (३) आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, (४) एक साथ अनेक आकार वाले रूप बनाने की शक्ति से सम्पन्न।[3]

पुव्वा वाससया बहू—८४ लाख वर्ष को ८४ लाख वर्ष से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उसे पूर्व कहते है। ७०५६०००००००००० अर्थात् सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्षों का

१ (क) इज्यन्ते पूज्यन्ते इति यक्षा, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षा। —बृहद्वृत्ति पत्र १८८
(ख) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण (मुनि नथमलजी), अ. ३, पृ. २९
२ महाशुक्ला —अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादय। —बृहद्वृत्ति, पत्र १८८
३ (क) कामतो रूपाणि विकुर्वितु शील येषा ते इमे कामरूपविकुर्विण।
(ख) अष्टप्रकारैश्वर्ययुक्ता इत्यर्थः। —उत्तरा चूर्णि, पृ. १०१
(ग) कामरूपविकरणा —यथेष्टरूपादिनिर्वर्तनशक्तिसमन्विता। —सुखबोधा पत्र ७७
(घ) 'युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्ति कामरूपित्वमिति।' तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ. २०३

एक पूर्व होता है। इस प्रकार के बहुत (असख्य) पूर्वों तक। यहाँ 'बहु' शब्द असख्य वाचक है तथा असख्यात (बहु) सैकड़ो वर्षों तक।[1]

दशांग—(१) **चार कामस्कन्ध**—क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य, पशुसमूह और दास-पौरूषेय, (क्रीत एव मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला दास, तथा पुरुषो-पोष्यवर्ग का समूह—पौरुष), (२) मित्रवान्, (३) ज्ञातिमान्, (४) उच्चगोत्रीय, (५) वर्णवान्, (६) नीरोग, (७) महाप्राज्ञ, (८) विनीत, (९) यशस्वी, (१०) शक्तिमान्।[2]

संजमं—यहाँ संयम का अर्थ है—सर्वसावद्ययोगविरतिरूप चारित्र।

सिद्धे हवइ सासए—सिद्ध के साथ शाश्वत शब्द लगाने का उद्देश्य यह है कि कई मतवादी मोहवश परोपकारार्थ मुक्त जीव का पुनरागमन मानते है। जैनदर्शन मानता है कि सिद्ध होने के बाद ससार के कारणभूत कर्मबीज समूल भस्म होने पर ससार मे पुनरागमन का कोई कारण नही रहता।[3]

।। तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय सम्पूर्ण ।। □□

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १८७

२. उत्तरा. मूल, अ. ३, गा १७-१८

३ बृहद्वृत्ति, पत्र १८७

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन का नाम **'असंस्कृत'** है। यह नाम भी अनुयोगद्वार-सूत्रोक्त आदान (प्रथम) पद को लेकर रखा गया है। यह नामकरण समवायाग सूत्र के अनुसार है। निर्युक्ति के अनुसार इस अध्ययन का नाम **'प्रमादाप्रमाद'** है, जो इस अध्ययन मे वर्णित विषय के आधार पर है।[1]

* इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—प्रमाद से बचना और जीवन के अन्त तक अप्रमाद-पूर्वक मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति करना।

* प्रस्तुत अध्ययन मे भगवान् महावीर ने प्रमाद के कुछ कारण ऐसे बताए है, जिनका मुख्य स्रोत जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव है। दूसरे शब्दो मे, वे भ्रान्त धारणाएँ या मिथ्या मान्यताएँ है, जिनसे बहक कर मनुष्य गुमराह हो जाता है और प्रमाद मे पडकर वास्तविक (मोक्ष) पुरुषार्थ से भटक जाता है। उस युग मे जीवन के प्रति कुछ भ्रान्त धारणाएँ या मिथ्या लोकमान्यताएँ ये थी, जिन्हे प्रस्तुत अध्ययन मे प्रमादस्रोत मान कर उनका खण्डन किया गया है—

* १ 'जीवन सस्कृत है, अथवा किया जा सकता है,' ऐसा तथाकथित सस्कृतवादी मानते थे। वे सस्कृत भाषा मे बोलने, खानपान और रहनसहन मे भोगवादी दृष्टि के अनुसार सुधार करने, अपने भोगवादी अर्थकामपरक सिद्धान्तो को सुसस्कृत भाषा मे प्रस्तुत करने मे, प्रेयपरायणता मे, परपदार्थो की अधिकाधिक वृद्धि एव आसक्ति मे एव मत्र-तत्रो, देवो या अवतारो की सहायता या कृपा से टूटे या टूटते हुए जीवन को पुन साधने (सस्कृत) को ही सस्कृत जीवन मानते थे। परन्तु भगवान् महावीर ने उनका निराकरण करते हुए कहा—जीवन असस्कृत है, अर्थात् टूटने वाला—विनश्वर है, उसे किसी भी मत्र-तत्रादि या देव, अवतार आदि की सहायता से भी साधा नही जा सकता। बाह्यरूप से किया जाने वाला भाषा-वेशभूषादि का सस्कार विकार है, अर्थकाम-परायणता है, जिसके लिए मनुष्य जीवन नही मिला है। साथ ही, तथाकथित सस्कृत-वादियो को तुच्छ, परपरिवादी, परपदार्थाधीन, प्रेयद्वेषपरायण एव धर्मरहित बता कर उनसे दूर रहने का निर्देश किया है।[2]

* २ 'धर्म बुढापे मे करना चाहिए, पहले नही,' इसका निराकरण भगवान् ने किया—'धर्म करने के लिए सभी काल उपयुक्त है, बुढापा आएगा या नही, यह भी निश्चित नही है, फिर बुढापा आने पर भी कोई शरणदाता या असस्कृत जीवन को साधने—रक्षा करने वाला नही रहेगा।'[3]

---

१ (क) समवायाग, समवाय ३६, · 'असखय।'

(ख) उ निर्युक्ति, गा १८१—

पंचविहो य पमाओ इहमज्झयणम्मि अप्पमाओ अ।

वण्णिएज्ज उ जम्हा तेण पमायाप्पमाय त्ति॥

२. उत्तराध्ययन मूल, अ ४, गा १, १३,

३. **'जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण।'**—वही, अ ४, गा. १

३ कुछ मतवादी अर्थपुरुषार्थ पर जोर देते थे, इस कारण धन को असस्कृत जीवन का त्राण (रक्षक) मानते थे; परन्तु भगवान् ने धन न यहाँ किसी का त्राण बन सकता है और न ही परलोक मे। बल्कि जो व्यक्ति पापकर्मों द्वारा धनोपार्जन करते है, वे उस धन को यही छोड जाते है और चोरी, अनीति, बेईमानी, ठगी, हिसा आदि पापकर्मों के फलस्वरूप वे अनेक जीवो के साथ वैर बाध कर नरक के मेहमान बनते है। अत धन का व्यामोह मनुष्य के विवेक-दीप को बुझा देता है, जिससे वह यथार्थ पथ को नही देख पाता। अज्ञान बहुत बडा प्रमाद है।[1]

४ कई लोग यह मानते थे कि कृत कर्मो का फल अगले जन्म मे मिलता है तथा कई मानते थे—कर्मों का फल है ही नहो, होगा तो भी अवतार या भगवान् को प्रसन्न करके या क्षमायाचना कर उस फल से छूट जाएँगे। परन्तु भगवान् ने कहा—'कृत कर्मों को भोगे विना छुटकारा नही मिलता। कर्मों का फल इस जन्म मे भी मिलता है, आगामी जन्म मे भी। कर्मों के फल से दूसरा कोई भी बचा नही सकता, उसे भोगना अवश्यम्भावी है।'[2]

५ यह भी भ्रान्त धारणा थी कि यदि एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियो के लिए कोई शुभाशुभ कर्म करता है, तो उसका फल वे सब भुगतते है। किन्तु इसका खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा—'ससारी जीव अपने बान्धवो के लिए जो साधारण (सम्मिलित फल वाला) कर्म करता है, उसका फल भोगने के समय वे बान्धव बन्धुता (भागीदारी) स्वीकार नही कर सकते, हिस्सा नही बंटाते।' अत धन, परिजन आदि सुरक्षा के समस्त साधनो के आवरणो मे छिपी हुई असुरक्षा और पापकर्म फलभोग को व्यक्ति न भूले।[3]

६ ऐसी भी मान्यता थी कि साधना के लिए सघ या गुरु आदि का आश्रय विघ्नकारक है, व्यक्ति को स्वय एकाकी साधना करनी चाहिए, परन्तु भगवान् ने कहा—'जो स्वच्छन्द-वृत्ति का निरोध करके गुरु के सान्निध्य मे रह कर ग्रहण-आसेवना, शिक्षा प्राप्त करके साधना करता है, वह प्रमादविजयी होकर मोक्ष पा लेता है।'[4]

७ कुछ लोग यह मानते थे कि अभी तो हम जैसे-तैसे चल ले, पिछले जीवन मे अप्रमत्त हो जाएँगे, ऐसी शाश्वतवादियो की धारणा का निराकरण भी भगवान् ने किया है—'जो पूर्व जीवन मे अप्रमादी नही होता, वह पिछले जीवन मे अप्रमत्तता को नही पा सकता, जब आयुष्य शिथिल हो जाएगा, मृत्यु सिरहाने आ खडी होगी, शरीर छूटने लगेगा, तब प्रमादी व्यक्ति के विषाद के सिवाय और कुछ पल्ले नही पडेगा।'[5]

८ कुछ लोगो की मान्यता थी कि 'हम जीवन के अन्तिम भाग मे आत्मविवेक (भेदविज्ञान) कर लेंगे, शरीर पर मोह न रख कर आत्मा की रक्षा कर लेगे।' इस मान्यता का निराकरण भी भगवान् ने किया है—'कोई भी मनुष्य तत्काल आत्मविवेक (शरीर और आत्मा की पृथक्ता

---

१. 'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते,' उत्तराध्ययन मूल, अ ४, गा ५, २,
२. वही, अ ४, गा ३
३. वही, गा ४
४. वही, गा ८
५. वही, गा. ९

का भान) नही कर सकता । अत दृढता से सयमपथ पर खड़े होकर आलस्य एव कामभोगो को छोड़ो, लोकानुप्रेक्षा करके समभाव मे रमो । अप्रमत्त होकर स्वय आत्मरक्षक बनो ।[1]

इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे बीच-बीच मे प्रमाद के भयस्थलो से बचने का भी निर्देश किया गया है—(१) मोहनिद्रा मे सुप्त व्यक्तियो मे भी भारण्डपक्षीवत् जागृत होकर रहो, (२) समय शीघ्रता से आयु को नष्ट कर रहा है, शरीर दुर्बल व विनाशी है, इसलिए प्रमाद मे जरा भी विश्वास न करो, (३) पद-पद पर दोषो से आशकित होकर चलो, (४) जरा-से भी प्रमाद (मन-वचन-काया की अजागृति) को बन्धनकारक समझो । (५) शरीर का पोषण-रक्षण-सवर्धन भी तब तक करो, जब तक उसमे ज्ञानादि गुणो की प्राप्ति हो, जब गुणप्राप्ति न हो, ममत्व-व्युत्सर्ग कर दो, (६) विविध अनुकूल-प्रतिकूल विषयो पर राग-द्वेष न करो, (७) कषायो का परित्याग भी अप्रमादी के लिए आवश्यक है, (८) प्रतिक्षण अप्रमत्त रह कर अन्तिम सास तक रत्नत्रयादिगुणो की आराधना मे तत्पर रहो ।[2]

ये ही अप्रमाद के मूलमत्र प्रस्तुत अध्ययन मे भलीभाति प्रतिपादित किये गए है ।

---

१ उत्तराध्ययन मूल, अ ४, गा १०

२ वही, गा ६, ७, ११, १२, १३,

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

असंखयं : असंस्कृत

असंस्कृत जीवन और प्रमादत्याग की प्रेरणा

१. असंखयं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते किण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति ॥

[१] जीवन असंस्कृत (साधा नहीं जा सकता) है। इसलिए प्रमाद मत करो। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर कोई भी शरण (त्राण) नहीं होता। विशेष रूप से यह जान लो कि प्रमत्त, विशिष्ट हिंसक और अविरत (असंयमी) जन (समय पर) किसकी शरण ग्रहण करेंगे ?

विवेचन—जीवन असंस्कृत क्यों और कैसे ?—टूटते हुए जीवन को बचाना या टूट जाने पर उसे साधना सैकड़ों इन्द्र आ जाएँ तो भी अशक्य है। जीवन के मुख्यतया पांच पड़ाव है—(१) जन्म, (२) बाल्यावस्था, (३) युवावस्था, (४) वृद्धावस्था और (५) मृत्यु। कई प्राणी तो जन्म लेते ही मर जाते है, कई बाल्यावस्था मे भी काल के गाल मे चले जाते है, युवावस्था का भी कोई भरोसा नहीं है। रोग, शोक, चिन्ता आदि यौवन मे ही मनुष्य को मृत्युमुख मे ले जाते है, बुढापा तो मृत्यु का द्वार या द्वारपाल है। प्राण या आयुष्य क्षय होने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसीलिए कहा गया है—जीवन क्षणभगुर है, टूटने वाला है।

प्रमाद से दूर और अप्रमाद के निकट रहने का उपदेश— असंस्कृत जीवन के कारण मनुष्य को किसी भी अवस्था मे प्रमाद नहीं करना चाहिए। जो धर्माचरण मे प्रमाद करता है, उसे किसी भी अवस्था मे कोई भी शरण देने वाला नहीं, विशेषत बुढापे मे जब कि मौत झाक रही हो, प्रमादी मनुष्य हाथ मलता रह जाएगा, कोई भी शरणदाता नहीं मिलेगा।

कहा भी है—"मंगलै कौतुकैर्योगैर्विद्यामंत्रैस्तथौषधैः ।
न शक्ता मरणात् त्रातु, सेन्द्रा देवगणा अपि ।"

अर्थात्—मंगल, कौतुक, योग, विद्या एवं मंत्र, औषध, यहाँ तक कि इन्द्रो सहित समस्त देवगण भी मृत्यु से बचाने मे असमर्थ है।[1]

उदाहरण—वृद्धावस्था मे कोई भी शरण नहीं होता, इस विषय मे उज्जयिनी के अट्टनमल्ल का उदाहरण द्रष्टव्य है।[2]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १९९
(ख) प्रशमरति (वाचक उमास्वति)

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २०५

प्रमत्तकृत विविध पापकर्मों के परिणाम

२. जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा समाययन्ती अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥

[२] जो मनुष्य कुबुद्धि का सहारा ले कर पापकर्मों से धन का उपार्जन करते हैं (पापोपार्जित धन को यहीं) छोड कर राग-द्वेष के पाश (जाल) मे पडे हुए तथा वैर (कर्म) से बधे हुए वे मनुष्य (मर कर) नरक मे जाते है ।

३. तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥

[३] जैसे सेंध लगाते हुए सधि-मुख मे पकडा गया पापकारी चोर स्वय किये हुए कर्म से ही छेदा जाता (दण्डित होता) है, वैसे ही इहलोक और परलोक मे प्राणी स्वकृत कर्मो के कारण छेदा जाता है, (क्योकि) कृत- कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही होता ।

४. ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्म ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥

[४] ससारी प्राणी (अपने और) दूसरो (बन्धु-बान्धवो) के लिए, जो साधारण (सबको समान फल मिलने की इच्छा से किया जाने वाला) कर्म करता है, उस कर्म के वेदन (फलभोग) के समय वे बान्धव बन्धुता नही दिखाते (—कर्मफल मे हिस्सेदार नही होते) ।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

[५] प्रमादी मानव इस लोक मे अथवा परलोक मे धन से त्राण—सरक्षण नही पाता । अन्धकार मे जिसका दीपक बुझ गया हो, उसका पहले प्रकाश मे देखा हुआ मार्ग भी, जैसे न देखे हुए की तरह हो जाता है, वैसे ही अनन्त मोहान्धकार के कारण जिसका ज्ञानदीप बुझ गया है, वह प्रमत्त न्याययुक्त मोक्षमार्ग को देखता हुआ भी नही देखता ।

विवेचन—पावकम्मेहि—पापकर्म (१) मनुष्य को पतन के गर्त्त मे गिराने वाले हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि, (२) पाप के उपादानहेतुक अनुष्ठान (कुकृत्य) और (३) (अपरिमित) कृषि-वाणिज्यादि अनुष्ठान ।[1]

पासपयट्टिए—दो अर्थ (१) पश्य प्रवृत्तान्—उन्हे (पापप्रवृत्त मनुष्यों को) देख, (२) **पाश-प्रतिष्ठित**—रागद्वेष, वासना या काम के पाश (जाल) मे फसे (—पडे) हुए । 'पाश' से सम्बन्धित दो प्राचीन श्लोक सुखबोधा वृत्ति मे उद्धृत है—

१ (क) पातयते तमितिपाप, क्रियते इति कर्म, पापकर्माणि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादीनि ।
—उत्तरा चूर्णि पृ. ११०

(ख) पापकर्मभि —पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानै ।—बृहद्वृत्ति पत्र २०६

(ग) 'पापकर्मभि (अपरिमित) कृषि-वाणिज्यादिभिरनुष्ठानै ।'—सुखबोधा पत्र ८०

**वारिगयाणं जालं तिमीण, हरिणाण वागुरा चेव ।
पासा य सउणयाणं णराण बन्धत्थमित्थीओ ।। १ ।।
उन्नयमाणा अक्खलिय-परक्कम्मा पंडिया कई जे य ।
महिलाहिं अंगुलीए नच्चाविज्जंति ते वि नरा ।। २ ।।**[1]

वेराणुबद्धा—वैर शब्द के तीन अर्थ—(१) शत्रुता, (२) वज्र (पाप) और (३) कर्म । अतः वैरानुबद्ध के तीन अर्थ भी इस प्रकार होते है—(१) वैर की परम्परा बाधे हुए, (२) वज्र-पाप से अनुबद्ध, एव (३) कर्मों से बद्ध । प्रस्तुत मे 'कर्मबद्ध' अर्थ ही अभीष्ट है ।[2]

संधिमुहे—सन्धिमुख का शाब्दिक अर्थ सेंध के मुख—द्वार पर है । टीकाकारो ने सेंध कई प्रकार की बताई है—कलशाकृति, नन्द्यावर्ताकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति आदि ।[3]

दो कथाएँ—(१) प्रथम कथा—प्रियवद चोर स्वय काष्ठकलाकार बढई था । उसने सोचा—सेंध देखने के बाद लोग आश्चर्यचकित होकर मेरी कला की प्रशंसा न करे तो मेरी विशेषता ही क्या ! उसने करवत से पद्माकृति सेंध बनाई, स्वय उसमे पैर डाल कर धनिक के घर मे प्रवेश करने का सोचा, लेकिन घर के लोग जाग गए । उन्होने चोर के पैर कस कर पकड लिए और अन्दर खीचने लगे । उधर बाहर चोर के साथी उसे बाहर की ओर खीचने लगे । इसी रस्माकस्सी मे वह चोर लहूलुहान होकर मर गया । (२) एक चोर अपने द्वारा लगाई हुई सेंध की प्रशसा सुन कर हर्षातिरेक से सयम न रखने के कारण पकडा गया । दोनो कथाओ का परिणाम समान है । जसे चोर अपने ही द्वारा की हुई सध के कारण मारा या पकडा जाता है, वैसे ही पापकर्मा जीव अपने ही कृतकर्मों के फलस्वरूप कर्मों से दण्डित होता है ।[4]

दीव-प्पणट्ठे व—दीव के दो रूपः दो अर्थ—द्वीप और दीप । (१) आश्वासद्वीप (समुद्र मे डूबते हुए मनुष्यो को आश्रय के लिए आश्वासन देने वाला) तथा (२) प्रकाशदीप (अन्धकार मे प्रकाश करने वाला) । यहाँ प्रकाशदीप अर्थ अभीष्ट है । **उदाहरण**—कई धातुवादी धातुप्राप्ति के लिए भूगर्भ मे उतरे । उनके पास दीपक, अग्नि और ईन्धन थे । प्रमादवश दीपक बुझ गया, अग्नि भी बुझ गई । अब वे उस गहन अन्धकार मे पहले देखे हुए मार्ग को भी नही पा सके ।[5]

जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक प्रतिक्षण अप्रमाद का उपदेश

**६. सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं भारण्ड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ।।**

[६] आशुप्रज्ञ (प्रत्युत्पन्नमति) पण्डित साधक (मोहनिद्रा मे) सोये हुए लोगो मे प्रतिक्षण

---

१ (क) 'पश्य—अवलोकय ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र २०६ (ख) 'पाशा इव पाशा ।'—सुखबोधा, पत्र ८०

२ (क) वैर='कर्म, तेनानुबद्धा सततमनुगता ।'—बृ वृ, पत्र २०६ (ख) वैरानुबद्धा पापेन सततमनुगता । —सु बो. पत्र ८०

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २०७ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १११

४ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २०७-२०८ (ख) उत्तरा चूर्णि, पृ ११०-१११ (ग) सुखबोधा पृ ८१-८२

५. (क) उत्तरा. निर्युक्ति, गा २०६-२०७ (ख) बृहद्वृत्ति, पृ. २१२-२१३

प्रतिबुद्ध (जागृत) होकर जीए। (प्रमाद पर एक क्षण भी) विश्वास न करे। मुहूर्त्त (समय) बडे घोर (भयकर) है और शरीर दुर्बल है। अत भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।

७. चरे पयाइं परिसंकमाणो जं किंचि पास इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥

[७] साधक पद-पद पर दोषो के आगमन की सभावना से आशकित होता हुआ चले, जरा-से (किञ्चित्) प्रमाद या दोष को भी पाश (बंधन) मानता हुआ इस ससार मे सावधान रहे। जब तक नये-नये गुणो की उपलब्धि हो, तब तक जीवन का सवर्धन (पोषण) करे। इसके पश्चात् लाभ न हो तब, परिज्ञान (ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से शरीर का त्याग) करके कर्ममल (या शरीर) का त्याग करने के लिए तत्पर रहे।

८. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइ वासाइ चरेऽप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥

[८] जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी अश्व युद्ध मे अपनी स्वच्छन्दता पर नियत्रण पाने के बाद ही विजय (स्वातत्र्य—मोक्ष) पाता है, वैसे ही अप्रमाद से अभ्यस्त साधक भी स्वच्छन्दता पर नियत्रण करने से जीवनसग्राम मे विजयी हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवन के पूर्व-वर्षों मे जो साधक अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त विचरण से शीघ्र मोक्ष पा लेता है।

९ स पुव्वमेव न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय-वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

[९] जो पूर्वजीवन मे अप्रमत्त—जागृत नही रहता, वह पिछले जीवन मे भी अप्रमत्त नही हो पाता, यह ज्ञानीजनो की धारणा है, किन्तु 'अन्तिम समय मे अप्रमत्त हो जाएँगे, अभी क्या जल्दी है?' यह शाश्वतवादियो (स्वय को अजर-अमर समझने वाले अज्ञानी जनो) की मिथ्या धारणा (उपमा) है। पूर्वजीवन मे प्रमत्त रहा हुआ व्यक्ति, आयु के शिथिल होने पर मृत्युकाल निकट आने तथा शरीर छूटने की स्थिति आने पर विषाद पाता है।

१०. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो ॥

[१०] कोई भी व्यक्ति तत्काल आत्मविवेक (या त्याग) को प्राप्त नही कर सकता। अत अभी से कामभोगो का त्याग करके, सयमपथ पर दृढता से समुत्थित (खडे) हो कर तथा लोक (स्व-पर जन या समस्त प्राणिजगत्) को समत्वदृष्टि से भलीभाति जान कर आत्मरक्षक महर्षि अप्रमत्त हो कर विचरण करे।

विवेचन—सुत्तेसु—सुप्त के दो अर्थ—द्रव्यत. सोया हुआ, भावतः धर्म के प्रति अजाग्रत।

पडिबुद्धि०—दो अर्थ—प्रतिबोध—द्रव्यत. जाग्रत, भावत· यथावस्थित वस्तुतत्त्व का ज्ञान।

अथवा दो अर्थ —द्रव्य से जो नींद में न हों, भाव में धर्माचरण के लिए जागृत हों।[1]

'घोरा मुहुत्ता' का भावार्थ—यहाँ मुहूर्त शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। प्राणी की आयु प्रतिपल क्षीण होती है,—इस दृष्टि से निर्दय काल प्रतिक्षण जीवन का अपहरण करता है तथा प्राणी की आयु अल्प होती है और मृत्यु का काल अनिश्चित होता है। न जाने वह कब आ जाए और प्राणी को उठा ले जाए, इसीलिए उसे घोर—रौद्र कहा है।[2]

भारंडपक्खी—भारण्डपक्षी —अप्रमाद अवस्था को बताने के लिए इस उपमा का प्रयोग अनेक स्थलों में किया गया है। चूर्णि और टीकाओं के अनुसार भारण्डपक्षी दो जीव संयुक्त होते हैं, इन दोनों के तीन पैर होते हैं। बीच का पैर दोनों के लिए सामान्य होता है और एक-एक पैर व्यक्तिगत। वे एक दूसरे के प्रति बड़ी सावधानी बरतते हैं, सतत जाग्रत रहते हैं। इसीलिए भारण्डपक्षी के साथ **'चरे ऽप्पमत्तो'** पद दिया है। पंचतंत्र और वसुदेवहिण्डी में भारण्डपक्षी का उल्लेख मिलता है।[3]

'जं किंचिपासं०' का आशय—'यत्किंचित्' का तात्पर्यार्थ है—थोड़ा-सा प्रमाद या दोष। यत्किंचित् प्रमाद भी पाश—बन्धन है। क्योंकि दुश्चिन्तित, दुर्भाषित और दुष्कार्य ये सब प्रमाद हैं। जो बुरा चिन्तन करता है, वह भी राग-द्वेष एवं कषाय से बंध जाता है। कटु आदि भाषण भी बन्धनकारक है और दुष्कार्य तो प्रत्यक्ष बन्धनकारक है ही। शान्त्याचार्य ने 'जं किंचि' का मुख्य आशय 'गृहस्थ से परिचय करना आदि' और गौण आशय 'प्रमाद' किया है।[4]

विषयों के प्रति रागद्वेष एवं कषायों से आत्मरक्षा की प्रेरणा

११. मुहुं मुहुं मोह-गुणे जयन्तं अणेग-रूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ती असमंजसं च न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से॥

[११] बार-बार मोहगुणों—रागद्वेषयुक्त परिणामों—पर विजय पाने के लिए यत्नशील तथा संयम में विचरण करते हुए श्रमण को अनेक प्रकार के (अनुकूल-प्रतिकूल शब्दादिविषयरूप)

---

१ (क) 'द्रव्यतः शयानेषु, भावतस्तु धर्मं प्रत्यजाग्रत्सु।'
(ख) प्रतिबुद्ध-प्रतिबोध द्रव्यतः जाग्रता, भावतस्तु यथावस्थित-वस्तुतत्त्वावगमः। —बृहद्वृत्ति, पत्र २१३

२ 'घोरा-रौद्राः सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् मुहूर्ताः—कालविशेषाः दिवसाद्युपलक्षणमेतत्।' —सुखबोधा, पत्र ९४

३ (क) एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः।
प्रमत्ता हि विनश्यन्ति, भारण्डा इव पक्षिणः॥ —उत्तरा. अ. ४, गा. ६ वृत्ति
(ख) भारण्डपक्षिणो किल एकं कलेवरं पृथग्ग्रीवं त्रिपादं च स्यात्। यदुक्तम्—
भारण्डपक्षिणः ख्याता त्रिपदा मर्त्यभाषिणः।
द्विजिह्वा द्विमुखाश्चैकोदरा भिन्नफलैषिणः॥ —कल्पसूत्र किरणावली टीका
(ग) पंचतंत्र के अपरीक्षितकारक में उत्तरा. टीका से मिलता-जुलता श्लोक है, केवल 'प्रमत्ता' के स्थान पर 'असंहता' शब्द है।

४ (क) यत्किंचिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनकतया बन्धहेतुत्वेन।
यत्किंचित् गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि…।' —उत्तरा. बृ. वृ. पत्र २१७, (ख) उ. चूर्णि, पृ. ११७

स्पर्श असमजस (विघ्न या अव्यवस्था) पैदा करके पीडित करते है, किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं मायं न सेवे, पयहेज्ज लोहं॥

[१२] कामभोग के मन्द स्पर्श भी बहुत लुभावने होते है, किन्तु सयमी तथाप्रकार के (अनुकूल) स्पर्शों मे मन को सलग्न न करे। (आत्मरक्षक साधक) क्रोध से अपने को बचाए, अहकार (मान) को हटाए, माया का सेवन न करे और लोभ का त्याग करे।

विवेचन—फासा—यहाँ स्पर्श शब्द समस्त विषयो या कामभोगो का सूचक है। भगवद्‌गीता मे स्पर्श शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1]

मदा—यहाँ 'मन्द' शब्द 'अनुकूल' अर्थ का वाचक है।[2]

अधर्मीजनो से सदा दूर रह कर अन्तिम समय तक आत्मगुणाराधना करे

१३. जेसखया तुच्छ परप्पवाई ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो कखे गुणे जाव सरीर-भेओ॥
—त्ति बेमि।

[१३] जो व्यक्ति (ऊपर-ऊपर से) सस्कृत है, वे वस्तुत तुच्छ है, दूसरो की निन्दा करने वाले है, प्रेय (राग) और द्वेष मे फसे हुए है, पराधीन (परवस्तुओ मे आसक्त) है, ये सब अधर्म (धर्मरहित) है। ऐसा सोच कर उनसे उदासीन रहे और शरीरनाश-पर्यन्त आत्मगुणो (या सम्यग्दर्शनादि गुणो) की आराधना (महत्त्वाकाक्षा) करे। —ऐसा मै कहता हूँ।[3]

विवेचन—सखया—सात अर्थ—(१) सस्कृतवचन वाले अर्थात्-सर्वज्ञवचनो मे दोष दिखाने वाले, (२) सस्कृत बोलने मे रुचि वाले, (३) तथाकथित सस्कृत सिद्धान्त का प्ररूपण करने वाले, (४) ऊपर-ऊपर से सस्कृत-सस्कारी दिखाई देने वाले, (५) सस्कारवादी, और (६) असखया-असस्कृत—असहिष्णु या असमाधानकारी—गवार, (७) जीवन सस्कृत हो सकता है—साधा जा सकता है, यो मानने वाले।

॥ असंस्कृत : चतुर्थ अध्ययन समाप्त॥

---

१. (क) 'ये हि सस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।' भगवद्‌गीता, अ ५, श्लो. २२
(ख) 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा।'—गीता ५।२१ (ग) 'मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय!'—गीता २।१४
(घ) 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्।'—गीता ५।२७

२. उत्तरज्झयणाणि (मु नथमल) अ ४, गा ११ का अनुवाद, पृ ५६

३. (क) उत्त चू, पृ १२६ (ख) बृहद्‌वृत्ति, पत्र २२७ (ग) महावीरवाणी (प बेचरदास), पृ ९८
(घ) मनुस्मृतिकार आदि (ङ) उत्तरा. (डॉ. हरमन जेकोबी, साडेमरा), पृ. ३७, फुटनोट २.
(च) उत्त. (मुनि नथमल), अ. ४, गा १३, पृ. ५३

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणीय' है। निर्युक्ति के अनुसार इसका दूसरा नाम 'मरण-विभक्ति' है।[1]

* संसारी जीव की जीवनयात्रा के दो पडाव है—जन्म और मरण। जन्म भी अनन्त-अनन्त बार होता है और मरण भी। परन्तु जिसे जीवन और मृत्यु का यथार्थ दृष्टिकोण, यथार्थ स्वरूप समझ मे नही आता, वह जीवित भी मृतवत् है और उसकी मृत्यु सुगतियो और सुयोनियो मे पुन पुन जन्म-मरण के बदले अथवा जन्म-मरण की संख्या घटाने की अपेक्षा कुगतियो और कुयोनियो मे पुन-पुन जन्म-मरण के बीज बोती है तथा जन्म-मरण की संख्या अधिकाधिक बढाती रहती है। परन्तु जो जीवन और मृत्यु के रहस्य और यथार्थ दृष्टिकोण को भलीभांति समझ लेता है और उसी प्रकार जीवन जीता है, जिसे न जीने का मोह होता है और न ही मृत्यु का गम होता है, जो जीवन और मृत्यु मे सम रह कर जीवन को तप, त्याग, व्रत, नियम, धर्माचरण आदि से सार्थक कर लेता है तथा मृत्यु निकट आने पर पहले से ही योद्धा की तरह कषाय और शरीर की संल्लेखना तथा आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना, भावना एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि के, अहिंसक शास्त्रास्त्रो से सनद्ध रहता है, वह हँसते-हंसते मृत्यु का वरण करता है। मृत्यु को एक महोत्सव की तरह मानता है और इस नाशवान् शरीर को त्याग देता है।, वह भविष्य मे अपने जन्म-मरण की संख्या को घटा देता है, अथवा जन्म-मरण की गति को सदा के लिए अवरुद्ध कर देता है।

* इन दोनो कोटि के व्यक्तियो मे से एक के मरण को बालमरण और दूसरे के मरण को पण्डित-मरण कहा गया है। पहली कोटि का व्यक्ति मृत्यु को अत्यन्त भयकर मान कर उससे घबराता है, रोता-चिल्लाता है, विलाप करता है, आर्तध्यान करता है। मृत्यु के समय उसके स्मृतिपट पर, अपने जीवन मे किये हुए पापकर्मो का सारा चलचित्र उभर आता है, जिसे देख-जान कर वह परलोक मे दुर्गति और दु खपरम्परा की प्राप्ति के भय से काप उठता है, पश्चात्ताप करता है और शोक, चिन्ता, उद्विग्नता, दुर्ध्यान आदि के वश मे होकर अनिच्छा से मृत्यु प्राप्त करता है। वह चाहता नही कि मेरी मृत्यु हो, किन्तु बरबस मृत्यु होती है। इसीलिए मृत्यु के स्वरूप एव रहस्य से अनभिज्ञ उस व्यक्ति की मृत्यु को 'अकाममरण' कहा है। जबकि दूसरा व्यक्ति मृत्यु के स्वरूप एव रहस्य को भलीभाति समझ लेता है, मृत्यु को परमसखा मान कर वह पूर्वोक्त रीति से उसका वरण करता है, इसलिए उसकी मृत्यु को 'सकाममरण' कहा गया है।[2]

---

१ उत्त निर्युक्ति गा २३३ **'सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।'**

२ उत्तरा अ ५ गा १, २, ३,

* मरण क्या है ? इस प्रश्न का विरले ही समाधान पाते है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य होने के कारण उसका मरण नही होता, शरीर भी पुद्गलद्रव्य की दृष्टि से शाश्वत है—ध्रुव है, उसका भी मरण नही होता। मृत्यु का सम्बन्ध आत्मद्रव्य की प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-शील पर्याय—परिवर्त्तन से भी नही है और न ही सिर्फ शरीर का परिवर्तन मृत्यु है। आत्मा का शरीर को छोडना मृत्यु है। आत्मा शरीर को तभी छोडता है जब आत्मा और शरीर को जोडे रखने वाला आयुष्यकर्म प्रतिक्षण क्षीण होता-होता सर्वथा क्षीण हो जाता है।[1]

* मरण की इस पहेली को न जानने पर ही मरण दु ख और भय का कारण बनता है। मृत्यु को भलीभांति जान लेने पर मृत्यु का भय और दु ख मिट जाता है। मृत्यु का बोध स्वय (आत्मा) की सत्ता के बोध से, स्वरूपरमणता से, सयम से एव आत्मलक्षी जीवन जीने से हो जाता है। जिसे यह बोध हो जाता है, वह अपने जीवन मे सदैव अप्रमत्त रह कर पापकर्मों से बचता है, तन, मन, वचन से होने वाली प्रवृत्तियो पर चौकी रखता है, शरीर से धर्मपालन करने के लिए ही उसका पोषण करता है। जब शरीर धर्मपालन के लिए अयोग्य—अक्षम हो जाता है, इसका सल्लेखना-विधिपूर्वक उत्सर्ग करने मे भी वह नही हिचकिचाता। उसकी मृत्यु मे भय, खेद और कष्ट नही होता। इसी मृत्यु को पण्डितो का सकाममरण कहा है। इसके विपरीत जिस मृत्यु मे भय, खेद और कष्ट है, जिसमे सयम और आत्मज्ञान नही है, हिसादि से विरति नही है, उसे बालजीवो—अज्ञानियो का अकाममरण कहा है।

* प्रस्तुत अध्ययन का मूल स्वर है—साधक को अकाममरण से बच कर सकाममरण की अपेक्षा करनी चाहिए। इसीलिए इसमे ४ थी से १६ वी गाथा तक अकाममरण के स्वरूप, अधिकारी, उसके स्वभाव तथा दुष्परिणाम का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् सकाममरण के स्वरूप, और अधिकारी—अनधिकारी की चर्चा करके, अन्त मे सकाममरण के अनन्तर प्राप्त होन वाली स्थिति का उल्लेख १७ वी से २६ वी गाथा तक मे किया गया है। अन्त मे ३०वी से ३२वी गाथा तक सकाममरण को प्राप्त करने का उपदेश और उपाय प्रतिपादित है।[2]

* भगवतीसूत्र मे मरण के ये ही दो भेद किये हैं—बालमरण और पण्डितमरण, किन्तु स्थानागसूत्र मे इन्ही को तीन भागो मे विभक्त किया है—बालमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण। व्रतधारी श्रावक विरताविरत कहलाता है। वह विरति की अपेक्षा से पण्डित और अविरति की अपेक्षा से बाल कहलाता है। इसलिए उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा गया है।

* **बालमरण** के १२ भेद बताए गए है—(१) वलय (संयमी जीवन से पथभ्रष्ट, पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससक्त और अवसन्न साधक की या भूख से तडपते व्यक्ति की मृत्यु), (२) वशार्त्त (इन्द्रियभोगो के वश–इन्द्रियवशार्त, वेदनावशार्त, कषायवशार्त नोकषायवशार्त मृत्यु), (३) अन्त –शल्य (या सशल्य) मरण (माया, निदान और मिथ्यात्व दशा मे होने वाला मरण, अथवा शस्त्रादि की नोक से होने वाला द्रव्य अन्त शल्य एव लज्जा, अभिमानादि के कारण दोषो की शुद्धि न करने की स्थिति मे होने वाला भावान्त शल्यमरण), (४) तद्भवमरण–

१ प्रतिनियतायु पृथग्भवने, द्वा. १४ द्वा 'आयुष्यक्षये—आचाराग १ श्रु. अ. ३ उ २

२. उत्तरा अ ५ मूल,

वर्तमान भव में जिस आयु को भोग रहा है, उसी भव की आयु बांध कर मरना, (५) गिरिपतन, (६) तरुपतन, (७) जलप्रवेश, (८) अग्निप्रवेश, (९) विषभक्षण, (१०) शस्त्रावपाटन, (११) वैहायस (वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने, झपापात आदि करने से होने (वाला मरण) और (१२) हाथी आदि के मृत कलेवर मे प्रविष्ट होने पर गृद्ध आदि द्वारा उस जीवित शरीर को नोच कर खाने से होने वाला मरण)।[1]

जो अविरत (व्रत—प्रत्याख्यान, त्याग, नियम से रहित) हो, उस मिथ्यात्वी अथवा व्रतरहित व्यक्ति के मरण को **बालमरण** कहते है।[2] भगवती-आराधना (विजयोदयावृत्ति) मे बाल के ५ भेद करके, उनके मरण को बालमरण कहा गया है—(१) **अव्यक्तबाल** छोटा बच्चा, जो धर्मार्थकाम-मोक्ष को नही जानता और न इन पुरुषार्थों का आचरण करने मे समर्थ है, (२) **व्यवहारबाल**—जो लोकव्यवहार, शास्त्रज्ञान आदि को नही जानता, (३) **ज्ञानबाल**—जो जीवादि पदार्थो को सम्यक्रूप से नही जानता, (४) **दर्शनबाल**—जिसकी तत्त्वो के प्रति श्रद्धा नही होती। दर्शनबाल की मृत्यु के भेद है—इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी आदि या पर्वत से गिर कर, श्वासोच्छ्वास रोक कर, अत्यन्त शीत और अत्यन्त ताप मे रह कर, भूखे-प्यासे रह कर, जीभ उखाड कर, या प्रकृतिविरुद्ध आहार करके—इन या इस प्रकार के अन्य साधनो से जो इच्छा से आत्महत्या करता है, वह इच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है, तथा योग्य काल मे या अकाल मे (रोग, दुर्घटना, हृदयगतिअवरोध आदि से) मरने की इच्छा के बिना जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है। (५) **चारित्रबाल**—चारित्र से हीन, विषयासक्त, अतिभोगपरायण, ऋद्धि और रसो मे आसक्त, सुखाभिमानी, अज्ञानान्धकार से आच्छादित, पापकर्मरत जीव चारित्रबाल है।

सयत और सर्वविरति का मरण पण्डितमरण कहलाता है। विजयोदया मे इसके चार भेद किये गए है—(१) व्यवहारपण्डित (लोक, वेद, समय के व्यवहार मे निपुण, शास्त्रज्ञाता, शुश्रूषादि-गुणयुक्त), (२) दर्शनपण्डित (सम्यक्त्वयुक्त), (३) ज्ञानपण्डित (सम्यग्ज्ञानयुक्त), (४) चारित्र-पण्डित (सम्यक्चारित्रयुक्त)। इनके मरण को पण्डितमरण कहा गया है।[3]

पण्डितमरण—के मुख्यतया तीन भेद है—(१) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (२) इगिनीमरण और (३) पादोपगमनमरण। (१) भक्तप्रत्याख्यान—जीवनपर्यन्त त्रिविध या चतुर्विध आहारत्याग-पूर्वक होने वाला मरण, (२) इगिनीमरण—प्रतिनियत स्थान पर चतुर्विध आहार त्यागरूप अनशनपूर्वक मरण। इसमे दूसरो से सेवा नही ली जाती, साधक अपनी शुश्रूषा स्वय करता है। (३) **प्रायोपगमन—पादपोपगमन—पादोपगमनमरण—** अपनी परिचर्या न स्वय करे, न दूसरो से कराए, ऐसा मरण प्रायोपगमन या प्रायोग्य है। वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था मे चतुर्विध-आहार-त्यागपूर्वक जो मरण हो, उसे पादपोपगमन कहते हैं। सघ से मुक्त होकर अपने पैरो से योग्य प्रदेश मे जाकर जो मरण किया जाए, वह पादोपगमन कहलाता है।

---

१. भगवतीसूत्र २।९।९०, स्थानाग स्था ३, सू २२२

२. अविरयमरण बालमरण। —उ. निर्युक्ति २२२

३ विजयोदयावृत्ति, पत्र ८७-८८

* समवायांगसूत्र में मरण के १७ भेद बताए है, जिनमे से भगवतीसूत्र मे अंकित १२ भेद तो कहे जा चुके हैं। शेष पाच भेद ये हैं—आवीचि, अवधि, आत्यन्तिक, छद्मस्थ और केवलिमरण। ये यहाँ अप्रासंगिक हैं।[1]

* प्रस्तुत अध्ययन मे निरूपित बालमरण और पण्डितमरण मे इन सबको गतार्थ करके, पण्डितमरण का ही प्रयत्न साधक को करना चाहिए, यही प्रेरणा यहाँ निहित है।

□□

---

१. भगवती २।१।९०, पत्र २१२, २१३

(ख) समवायाग सम १७ वृत्ति, पत्र ३५

(ग) उत्त नियुंक्ति, गा. २२५

(घ) विजयोदया वृ, पत्र ११३, गोमट्टसार कर्मकाण्ड गा ६१

(ङ) मूलाराधना गा २९

पंचमं अज्झयणं : अकाम-मरणिज्जं

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

मरण के दो प्रकारों का निरूपण

१. अण्णवंसि महोहंसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे।
तत्थ एगे महापन्ने इमं पट्ठमुदाहरे ॥

[१] इस विशाल प्रवाह वाले दुस्तर ससार-सागर से कुछ लोग (गौतमादि) तिर गए। उनमे से एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट कहा था—

२. सन्तिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणन्तिया।
अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा ॥

[२] मारणान्तिक (आयुष्य के अन्तरूप मरण-सम्बन्धी) ये दो स्थान (भेद या रूप) कहे गए है—(१) अकाम-मरण तथा (२) सकाम-मरण।

३. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥

[३] बाल (सद्-असद्-विवेक-विकल) जीवो के अकाम-मरण तो बार-बार होते है। किन्तु पण्डितो (उत्कृष्ट चारित्रवानो) का सकाम मरण उत्कर्ष से (अर्थात् केवलज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की दृष्टि से) एक बार होता है।

विवेचन--**मारणन्तिया**—मरण रूप निज-निज आयुष्य का अन्त-मरणान्त, मरणान्त मे होने वाले मारणान्तिक कहलाते हैं। अर्थात्—मरण-सम्बन्धी।[1]

अकाममरणं—जो व्यक्ति पचेन्द्रिय विषयो का कामी (मूर्च्छित) होने के कारण मरने की (कामना) नही करता, किन्तु आयुष्य पूर्ण होने पर विवश होकर मरता है, उसका मरण अनिच्छा से विवशता की स्थिति मे होता है, इसलिए अकाममरण कहलाता है। इसे बालमरण (अविरति का मरण) भी कहा जाता है।[2]

सकाममरणं—जो व्यक्ति विषयो के प्रति निरीह-निस्पृह एव अनासक्त होते हैं, इसलिए मृत्यु के प्रति असत्रस्त, है, मृत्यु के समय घबराते नही, उनके लिए मृत्यु उत्सवरूप होती है,। ऐसे लोगो का मरण सकाममरण कहलाता है। इसे पण्डितमरण (विरत का मरण) भी कहा जाता है। जैसे वाचकवर्य उमास्वाति ने कहा है—"सचित तपस्या के धनी, नित्य व्रत-नियम-सयम मे रत एव निरपराध वृत्ति वाले चारित्रवान् पुरुषो के मरण को मैं उत्सवरूप मानता हूँ।" सकाम मरण का

१ बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ : मरणमेव अन्तो-निज-निजाऽऽयुष पर्यन्तो मरणान्त, तस्मिन् भवे मारणान्तिके।
२ 'ते हि विषयाभिष्वगतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।'

अर्थ यहाँ वस्तुतः मृत्यु की अभिलाषा (कामना) पूर्वक मरण नही है, क्योकि साधक के लिए जीवन और मृत्यु दोनो की अभिलाषा निषिद्ध है। कहा भी है—यदि अपार ससार-सागर को पार करना चाहते हो तो न तो चिर काल तक जीने का विचार करो और न ही शीघ्र मृत्यु का।[1]

'उक्कोसेण सइं भवे'—इस गाथा मे कहा गया है, कि 'पण्डितो (चारित्रवानो) का सकाममरण एक बार ही होता है। यह कथन केवलज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की अपेक्षा से कहा गया है, क्योकि अन्य चारित्रवान् साधको का सकाममरण तो ७-८ बार हो सकता है।[2]

'बाल' तथा 'पण्डित'—ये दोनो पारिभाषिक विशिष्टार्थसूचक शब्द है। यहाँ बाल का विशेष अर्थ है—व्रतनियमादिरहित और पण्डित का विशेषार्थ है—व्रत-नियम-सयम मे रत व्यक्ति।[3]

अकाममरण : स्वरूप, अधिकारी, स्वभाव और दुष्परिणाम

४. तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं।
काम-गिद्धे जहा बाले भिसं कूराइं कुव्वई॥

[४[भगवान् महावीर ने पूर्वोक्त दो स्थानो मे से प्रथम स्थान के विषय मे यह कहा है कि काम-भोगो मे आसक्त बालजीव अत्यन्त क्रूर कर्म करता है।

५. जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई।
'न मे दिट्ठे परे लोए चक्खू-दिट्ठा इमा रई॥'

[५] जो काम-भोगो मे आसक्त होता है, वह कूट (मृगादि-बन्धन, नरक या मिथ्या भाषण) की ओर जाता है। (किसी के द्वारा इनके त्याग की प्रेरणा दिये जाने पर वह कहता है—) 'मैने परलोक तो देखा नही, और यह रति (स्पर्शनादि कामभोग सेवन जनित-प्रीति-आनन्द) तो चक्षुदृष्ट (—प्रत्यक्ष आँखो के सामने) है।'

६. 'हत्थागया इमे कामा कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

[६] ये (प्रत्यक्ष दृश्यमान) कामभोग (—सम्बन्धी सुख) तो (अभी) हस्तगत है, जो भविष्य (आगामी भव) मे प्राप्त होने वाले (सुख) है वे तो कालिक (अनिश्चित काल के बाद मिलने वाले—सदिग्ध) है। कौन जानता है—परलोक है भी या नही?

---

१ सह कामेन-अभिलाषेण वर्तते इति सकाम, मरण प्रत्यसत्रस्ततया तथात्व चोत्सवभूतत्वात्तादृशा मरणस्य। तथा च वाचक —

सचिततपोधनानां नित्य व्रतनियम-सयमरतानाम्।
उत्सवभूत मन्ये, मरणमनपराधवृत्तीनाम्॥

न तु परमार्थत तेषा, सकाम (मरण) सकामत्व, मरणाभिलाषस्यापि निषिद्धत्वात्। —बृहद्वृत्ति पत्र २४२

२ वही, पत्र २४२

३ बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ " "तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता सकृद् एकवारमेव भवेत्
जघन्येन तु शेषचारित्रिण सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतम्।'

७. 'जणेण सद्धिं होक्खामि' इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं केसं संपडिवज्जई॥

[७] मैं तो बहुजनसमूह के साथ रहूँगा (अर्थात्—दूसरे भोगपरायण लोगो की जो गति होगी, वही मेरी होगी), इस प्रकार वह अज्ञानी मनुष्य धृष्टता को अपना लेता है, (किन्तु अन्त मे) वह कामभोगो के अनुराग से (इहलोक एव परलोक मे) क्लेश ही पाता है।

८. तओ से दण्डं समारभई तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए भूयग्गामं विहिंसई॥

[८] उस (कामभोगानुराग) से वह (धृष्ट होकर) त्रस और स्थावर जीवो के प्रति दण्ड—(मन-वचन-कायदण्ड)-प्रयोग करता है, और कभी सार्थक और कभी निरर्थक प्राणिसमूह की हिंसा करता है।

९. हिंसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नई॥

[९] (फिर वह) हिंसक, मृषावादी, मायावी चुगलखोर, शठ (वेष-परिवर्तन करके दूसरो को ठगने वाला – धूर्त्त) अज्ञानी मनुष्य, मद्य और मास का सेवन करता हुआ, यह मानता है कि यही (मेरे लिए) श्रेयस्कर (कल्याणकारी) है।

१०. कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ सिसुणागु व्व मट्टियं॥

[१०] वह तन और वचन से (उपलक्षण से मन से भी) मत्त (गर्विष्ठ) हो जाता है। धन और स्त्रियो मे आसक्त रहता है। (ऐसा मनुष्य) राग और द्वेष, दोनो से उसी प्रकार (अष्टविधकर्म-) मल का सचय करता है, जिस प्रकार शिशुनाग (अलसिया) अपने मुख से (मिट्टी खाकर) और शरीर से (मिट्टी मे लिपट कर)—दोनो ओर से मिट्टी का सचय करता है।

११. तओ पुट्ठो आयंकेण गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स कम्माणुप्पेहि अप्पणो॥

[११] उस (अष्टविध कर्ममल का सचय करने) के पश्चात् वह (भोगासक्त बाल जीव) आतंक (प्राणघातक रोग) से आक्रान्त होने पर ग्लान (खिन्न) हो कर सब प्रकार से सतप्त होता है, (तथा) अपने किये हुए अशुभ कर्मों का अनुप्रेक्षण (—विचार या स्मरण) करके परलोक से अत्यन्त डरने लगता है।

१२. सुया मे नरए ठाणा असीलाण च जा गई।
बालाणं कूर-कम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा॥

[१२] वह विचार करता है—'मैंने उन नारकीय स्थानो (कुम्भी, वैतरणी, असिपत्र वन आदि) के विषय मे सुना है, जहाँ प्रगाढ (तीव्र) वेदना है। तथा जो शील (सदाचार) से रहित क्रूर कर्म वाले अज्ञजीवो की गति है।'

१३. तत्थोववाइयं ठाणं जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो सो पच्छा परितप्पई ॥

[१३] जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है—उन नरकों में औपपातिक (उत्पन्न होने का) स्थान है, (जहाँ उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त्त के बाद ही महावेदना का उदय हो जाता है और वह निरन्तर रहता है।) (यहाँ से आयुष्य क्षीण होने के पश्चात्) वह अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ पश्चात्ताप करता है।

१४. जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गंमि सोयई ॥

१५. एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई ॥

[१४-१५] जैसे कोई गाडीवान सम महामार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड कर विषम मार्ग (उत्पथ) मे उतर जाता है, तो गाडी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही धर्म का उल्लघन करके जो अज्ञानी अधर्म को स्वीकार कर लेता है, वह मृत्यु के मुख मे पडने पर उसी तरह शोक करता है, जैसे धुरी टूट जाने पर गाडीवान करता है।

१६. तओ से मरणन्तमि बाले सन्तस्सई भया ।
अकाम-मरणं मरई धुत्ते व कलिना जिए ॥

[१६] फिर वह अज्ञानी जीव मृत्युरूप प्राणान्त के समय (नरकादि परलोक के) भय से सत्रस्त (उद्विग्न) होता है, और एक ही दाव मे सर्वस्व हार जाने वाले धूर्त-जुआरी की तरह (शोक करता हुआ) अकाममरण से मरता है।

विवेचन—कामगिद्धे—इच्छाकाम और मदनकाम, इन दोनो का अभिकाक्षी-आसक्त।[1]

'काम-भोगेसु'—शब्द और रूप, ये दोनो 'काम,' तथा गन्ध, रस और स्पर्श, 'भोग' कहलाते है। अथवा प्रकारान्तर से स्त्रीसग को काम, और विलेपन-मर्दन आदि को भोग कहा गया है।[2]

'एगे' पद का आशय—'कामभोगासक्त मानव अकेला—किसी मित्रादि सहायक से रहित-ही कूट-नरक मे जाता है।'[3]

कूडाय गच्छइ—तीन अर्थ—(१) कूट-मासादि की लोलुपतावश मृगादि को बन्धन मे डालना है। (२) कूट मे पडे हुए मृग को शिकारी द्वारा यातना दी जाती है, उसी तरह कूट-नरक मे पडे जीव को भी परमाधार्मिक असुर यातना देते है—अत कूट अर्थात् नरक के बन्धन मे पडता है। (३) कूट-मिथ्याभाषणादि मे प्रवृत्त होता है।'[4]

१ बृहद् वृत्ति, पत्र २४२

२. वही, पत्र २४२ मे उद्धृत—"**कामा दुविहा पण्णत्ता—सद्दा' रूवाय्य, भोगा तिविहा पण्णत्ता त —गधा रसा फासा य।**" यद्वा—यो गृद्ध —कामभोगेषु कामेषु स्त्रीसगेषु' भोगेषु धूपन—विलेपनादिषु।

३ 'एक सुहृदादिसहाय्यरहित'—बृहद् वृत्ति, पत्र २४३

४ 'कूटमिव कूट प्रभूतप्राणिना यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थ **अथवा** कूट द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादि-बन्धन, भावस्तु मिथ्याभाषणादि।'—बृ वृ पत्र २४३

अनात्मवादी नास्तिकों का मत—बालजीव किस विचारधारा से प्रेरित होकर हिंसादि कर्मों का आचरण धृष्ट और निःसंकोच होकर करते हैं ? इस तथ्य को इस अध्ययन की पांचवीं, छठी और सातवीं गाथाओं द्वारा व्यक्त किया गया है—

'न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई' इस पंक्ति के द्वारा पंचभूतवादी अनात्मवादी या तज्जीव—तच्छरीरवादी का मत बताया गया है, जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है । **'हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया'** इस पंक्ति के द्वारा भूत और भविष्य की उपेक्षा करके वर्तमान को ही सब कुछ मानने वाले अदूरदर्शी प्रेयवादियो का मत व्यक्त किया गया है, जो केवल वर्तमान, काम-भोगजन्य सुखो को ही सर्वस्व मानते है । तथा **'जणेण सद्धिं होक्खामि'** इस पंक्ति द्वारा गतानुगतिक विवेकमूढ बहिरात्माओ का मत व्यक्त किया गया है । इस तीन मिथ्यामतो के कारण ही बालजीव धृष्ट और निःसंकोच होकर हिंसादि पापकर्म करते है ।[1]

'अट्ठाए य अणट्ठाए'—का अर्थ क्रमशः प्रयोजनवश एवं निष्प्रयोजन हिंसा है ।

उदाहरण—एक पशुपाल की आदत थी कि वह जंगल मे बकरियों को एक वट वृक्ष के नीचे बिठा कर स्वयं सीधा सोकर बांस के गोफण से बेर की गुठलियाँ फेंक कर वृक्ष के पत्तो को छेदा करता था । एक दिन उसे एक राजपुत्र ने देखा और उसके पत्रच्छेदन-कौशल को देख कर उसे धन का प्रलोभन देकर कहा—मै कहूँ, उसकी आँखे बींध दोगे ?' उसने स्वीकार किया तो राजपुत्र उसे अपने साथ नगर मे ले आया । अपने भाई—राजा की आँख फोड डालने के लिए उसने कहा तो उस पशुपाल ने तपाक से गोफन से उसकी आँखे फोड डाली । राजपुत्र ने प्रसन्न होकर उसकी इच्छानुसार उसे एक गाँव दे दिया ।[2]

सढे—शठ—यो तो शठशब्द का अर्थ धूर्त्त, दुष्ट, मूढ या आलसी होता है, परन्तु बृहद्-वृत्तिकार इसका अर्थ करते है—वेषादि परिवर्तन करके जो अपने को अन्य रूप मे प्रकट करता है । यहाँ मण्डिकचोर के दृष्टान्त का निर्देश किया गया है ।[3]

दुहओ—दो प्रकार से, इसके अनेक विकल्प—(१) राग और द्वेष से, (२) बाह्य और आन्तरिक प्रवृत्तिरूप प्रकार से, (३) इहलोक और परलोक दोनो प्रकार के बन्धनो मे (४) पुण्य और पाप दोनो के, (५) स्वयं करता हुआ और दूसरो को कराता हुआ, और (६) अन्तःकरण और वाणी दोनो से ।[4]

मलं—आठ प्रकार के कर्मरूपी मैल का ।[5]

सिसुणागुव्व—शिशुनाग केंचुआ या अलसिया को कहते है । वह पेट मे (भीतर) मिट्टी खाता

---

१ उत्तराध्ययनमूल, अ ५ गा ५-६-७

२ बृहद्वृत्ति, पत्र २४४-२४५

३ 'शठ —तत्र नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति, मण्डिकचोरवत्'—बृहद्वृत्ति, पत्र २४४

४ बृहद्वृत्ति, पत्र २४४

५ वही, पत्र २४४

है, और बाहर से अपने (स्निग्ध शरीर पर मिट्टी चिपका लेता है। इस प्रकार अन्दर और बाहर दोनों ओर से वह मिट्टी का संचय करता है।[1]

'उववाइयं' पद का आशय—उववाइय का अर्थ होता है—'औपपातिक'। जैनदर्शन मे तीन प्रकार से प्राणियो की उत्पत्ति (जन्म) बताई गई है—संमूर्च्छन, गर्भ और उपपात।[2] द्वीन्द्रियादि जीव सम्मूर्च्छिम हैं, पशु-पक्षी आदि गर्भज और नारक तथा देव औपपातिक होते है। गर्भज जीव गर्भ में रहता है, वहाँ तक छेदन-भेदनादि की पीडा नही होती, किन्तु औपपातिक जीव अन्तर्मुहूर्त्त भर मे पूर्ण शरीर वाले हो जाते हैं, नरक मे तो एक अन्तर्मुहूर्त्त के बाद ही महावेदना का उदय होता है,जिसके कारण निरन्तर दु.ख रहता है।[3]

कलिणा जिए—एक ही दाव मे पराजित। प्राचीन ग्रन्थो के अनुसार जुए मे दो प्रकार के दाव होते थे—कृतदाव और कलिदाव। 'कृत' जीत का दाव और 'कलि' हार का दाव माना जाता था।[4]

'धुत्ते व' का अर्थ—वृत्तिकार इसका सस्कृत रूपान्तर धूर्त्त करके धूर्त्त इव—द्यूतकार इव (जुआरी की तरह) अर्थ करते हैं।[5]

सकाममरण : स्वरूप, अधिकारी,-अनधिकारी एवं सकाममरणोत्तर स्थिति

१७. एय अकाम-मरणं बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो सकाम-मरण पण्डियाणं सुणेह मे॥

[१७] यह (पूर्वोक्त) बाल जीवो के अकाम-मरण का प्ररूपण किया गया। अब यहाँ से आगे पण्डितो के सकाम-मरण (का वर्णन) मुझ से सुनो।

१८. मरण पि सपुण्णाण जहा मेयमणुस्सुय।
विप्पसण्णमणाघाय संजयाणं वुसीमओ॥

[१८] जैसा कि मैंने परम्परा से सुना है—सयत, जितेन्द्रिय एव पुण्यशाली आत्माओं का मरण अतिप्रसन्न (अनाकुलचित्त) और आघात-रहित होता है।

१९. न इमं सव्वेसु भिक्खूसु न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणा-सीला अगारत्था विसम-सीला य भिक्खुणो॥

[१९] यह (सकाममरण) न तो सभी भिक्षुओ को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थो को, (क्योकि) गृहस्थ नाना प्रकार के शीलो (व्रत-नियमो) से सम्पन्न होते हैं, जबकि बहुत-से भिक्षु भी विषम (विकृत-सनिदान सातिचार) शील वाले होते हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २४६

२ **'सम्मूर्च्छन-गर्भोपपाता जन्म'**—तत्त्वार्थसूत्र २।३२

३ 'उपपातात्सजातमौपपातिकम्, न तत्र गर्भव्युत्क्रान्तिरस्ति, येन गर्भकालान्तरित तन्नरकदुःख स्यात्, ... ते हि उत्पन्नमात्रा एव नरकवेदनाभिरभिभूयन्ते' उत्त चूर्णि, पृ. १३५

४, (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४८ (ख) सुखबोधा पत्र १०५

५ बृहद्वृत्ति पत्र २४८

२०. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा॥

[२०] कई भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ सयम मे श्रेष्ठ होते है किन्तु सभी गृहस्थों से (सर्वविरति चारित्रवान् शुद्धाचारी) साधुगण सयम मे श्रेष्ठ है।

२१. चीराजिणं नगिणिणं जडी-संघाडि-मुण्डिणं।
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीलं परियागयं॥

[२१] प्रव्रज्यापर्यायप्राप्त दुःशील (दुराचारी) साधु को चीर (वल्कल-वस्त्र) एव अजिन (मृगछाला आदि चर्म-) धारण, नग्नत्व, जटा-धारण, सघाटी (चिथडो से बनी हुई गुदड़ी या उत्तरीय)-धारण, शिरोमुण्डन, ये सब (बाह्यवेष या बाह्याचार) भी (दुर्गतिगमन से) नही बचा सकते।

२२. पिण्डोलए व दुस्सीले नरगाओ न मुच्चई।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कमई दिवं॥

[२२] भिक्षाजीवी साधु भी यदि दुःशील है तो वह नरक से मुक्त नही हो सकता। भिक्षु हो या गृहस्थ यदि वह सुव्रती (व्रतो का निरतिचार पालक) है, तो स्वर्ग प्राप्त करता है।

२३. अगारि-सामाइयंगाइं सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए॥

[२३] श्रद्धावान् श्रावक गृहस्थ की सामायिक-साधना के सभी अगो का काया से स्पर्श (—आचरण) करे। (कृष्ण और शुक्ल) दोनो पक्षो मे पौषधव्रत को एक रात्रि के लिए भी न छोडे।

२४. एवं सिक्खा-समावन्ने गिहवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छवि-पव्वाओ गच्छे जक्ख-सलोगयं॥

[२४] इस प्रकार शिक्षा (व्रताचरण के अभ्यास) से सम्पन्न सुव्रती गृहवास मे रहता हुआ भी मनुष्यसम्बन्धी औदारिक शरीर से मुक्त हो जाता है और देवलोक मे जाता है।

२५. अह जे संवुडे भिक्खू दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्व-दुक्ख-प्पहीणे वा देवे वावि महड्ढिए॥

[२५] और जो सवृत (आश्रवद्वारनिरोधक) (भाव-) भिक्षु होता है; वह दोनो मे से एक (स्थिति वाला) होता है—या तो वह (सदा के लिए) सर्वदुःखो से रहित—मुक्त अथवा महर्द्धिक देव होता है।

२६. उत्तराइं विमोहाइं जुइमन्ताणुपुव्वसो।
समाइण्णाइं जक्खेहिं आवासाइं जसंसिणो॥

२७. दीहाउया इड्ढिमन्ता समिद्धा काम-रूविणो।
अहुणोववन्न-संकासा भुज्जो अच्चिमालिप्पभा॥

[२६-२७] उपरिवर्ती (अनुत्तरविमानवासी) देवों के आवास (स्वर्ग-स्थान) अनुक्रम से (सौधर्म देवलोक से अनुत्तर-विमान तक उत्तरोत्तर) श्रेष्ठ, एव (पुरुषवेदादि मोहनीय कर्म क्रमश अल्प होने से) मोहरहित, द्युति (कान्ति) मान्, देवो से परिव्याप्त होते है। उनमे रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान् (रत्नादि सम्पत्ति से सम्पन्न), अतिदीप्त (समृद्ध), इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (वैक्रियशक्ति से सम्पन्न) सदैव अभी-अभी उत्पन्न हुए देवो के समान (भव्य वर्ण-कान्ति युक्त), अनेक सूर्यों के सदृश तेजस्वी होते है।

२८. ताणि ठाणाणि गच्छन्ति सिक्खित्ता सजमं तव।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे सन्ति परिनिव्वुडा॥

[२८] भिक्षु हो या गृहस्थ, जो उपशम (शान्ति की साधना) से परिनिर्वृत्त—(उपशान्तकषाय) होते है, वे सयम (सत्तरह प्रकार के) और तप (बारह प्रकार के) का पुन पुन अभ्यास करके उन (पूर्वोक्त) स्थानो (देव-आवासो) मे जाते है।

२९. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं सजयाण वुसीमओ।
न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया॥

[२९] उन सत्पूज्य, सयत और जितेन्द्रिय मुनियो का (पूर्वोक्त स्थानो की प्राप्ति का) वृत्तान्त सुन कर शीलवान् और बहुश्रुत (आगम श्रवण से शुद्ध बुद्धि वाले) साधक मृत्युकाल मे भी सत्रस्त (उद्विग्न) नही होते।

विवेचन—'वुसीमओ' : के पाच रूप : पांच अर्थ—(१) वश्यवन्त —आत्मा या इन्द्रियाँ जिनके वश मे हो, (२) वुसीमन्त —साधुगुणो से जो बसते है—या वासित है, (३) वुसीमा—सविग्न—सवेगसम्पन्न, (४) वुसिम—सयमवान् (वुसि सयम का पर्यायवाची होने मे), (५) वृषीमान्—कुश आदि-निर्मित मुनि का आसन जिसके पास हो अथवा वृषीमान्—मुनि या सयमी।[1]

विप्पसण्ण—विप्रसन्न चार अर्थ—(१) मृत्यु के समय कषाय-कालुष्य के मिट जाने से सुप्रसन्न—अकलुष मन वाला, (२) विशेषरूप से या विविध भावनादि के कारण मृत्यु के समय भी मोह-रज हट जाने से अनाकुल चित्त वाला मरण, (३) पाप-पक के दूर हो जाने से प्रसन्न—अति स्वच्छ-निर्मल—पवित्र (मरण) (४) विप्रसन्न-विशिष्ट चित्तसमाधियुक्त (मरण)।

अणाघाय—जिस मृत्यु मे किसी प्रकार का आघात, शोक, चिन्ता, अथवा **विप्पसण्णामघायं** को एक ही समस्त पद (तथा उसका सस्कृत रूप **'विप्रसन्नमनःख्यातम्'** मान कर अर्थ किया गया है,—कषाय एव मोहरूप कलुषितता अन्त करण (मन) मे लेशमात्र भी न होने से जो विप्रसन्नमना-वीतरागमहामुनि है, उसके द्वारा ख्यात—कथित अथवा स्वसवेदन से प्रसिद्ध।[2]

नाणासीला—नानाशीला—तीन व्याख्याएँ—(१) चूर्णि के अनुसार-गृहस्थ नाना-विविध शील-स्वभाव वाले, विविध रुचि और अभिप्रायवाले होते है, (२) आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार-नाना-

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्राक २४९, (ख) उत्त चूर्णि, पृ १३७,
(ग) सूत्रकृताग २।२ सू ३२··· भिसिग (वृषिक) वा। (घ) वुसिमति सयमवान्—सूत्रकृताग वृत्ति २।६।१४

२ बृहद्वृत्ति, पत्र २४९

शील अर्थात् अनेकविधव्रत या मत वाले—जैसे कि कई कहते है—'गृहस्थाश्रम का पालन करना ही महाव्रत है, किसी का कथन—गृहस्थाश्रम से बढकर कोई भी धर्म न तो हुआ है, न होगा। जो शूरवीर होते है, वे ही इसका पालन करते है, नपुंसक (कायर) लोग पाखण्ड का आश्रय लेते हैं। कुछ लोगो का कहना है—गृहस्थो के सात सौ शिक्षाप्रद व्रत है, इत्यादि। (३) शान्त्याचार्य के अनुसार—गृहस्थो के अनेकविध शील अर्थात्-अनेकविधव्रत है। अर्थात्—देशविरति रूप व्रतो के अनेक भंग होने के कारण गृहस्थव्रतपालन अनेक प्रकार से होता है।[1]

विसमसीला—विषमशीलाः—दो व्याख्याएँ—(१) शान्त्याचार्य के अनुसार भिक्षु भी विषम अर्थात् अति दुर्लक्षता के कारण अति गहन, विसदृशशील यानी आचार वाले होते है, जैसे कि कई पाच यमो और पाच नियमो को, कई कन्दमूल, फलादि-भक्षण को, कतिपय आत्मतत्त्व-परिज्ञान को ही व्रत मानते है। (२) चूर्णिकार के अनुसार भिक्षुओ को विषमशील इसलिए कहा गया है कि तापस, पाडुरग आदि कुछ कुप्रवचनभिक्षु अभ्युदय (ऐहिक उन्नति) की ही कामना करते हैं, जो मोक्षसाधना के लिए उद्यत हुए है, वे भी उसे सम्यक् प्रकार से नही समझते, वे आरम्भ से मोक्ष मानते है तथा लोकोत्तर भिक्षु भी सभी निदान, शल्य और अतिचार से रहित नही होते, आकांक्षारहित तप करने वाले भी नही होते।[2]

'संति एगेहि साहवो संजमुत्तरा' का आशय—इस गाथा का अभिप्राय यह है कि अव्रती अगारिओ या नामधारी भिक्षुओ की अपेक्षा सम्यग्दृष्टियुक्त देशविरत गृहस्थ सयम मे श्रेष्ठ होते है। किन्तु उन सब देशविरत गृहस्थो की अपेक्षा सर्वविरत भावभिक्षु सयम मे श्रेष्ठ होते है, क्योकि उनका सयमव्रत परिपूर्ण है। इसे एक सवाद द्वारा समझाया गया है—एक श्रावक ने साधु से पूछा—श्रावको और साधुओ मे कितना अन्तर है? साधु ने कहा—सरसो और मदरपर्वत जितना? श्रावक ने फिर पूछा—कुलिगी (वेषधारी) साधु और श्रावक मे क्या अन्तर है? साधु ने उत्तर दिया—वही, सरसो और मेरुपर्वत जितना। श्रावक का इससे समाधान हो गया।[3]

'चीराजिणं . दुस्सील परियागत' का तात्पर्य—इस गाथा को उल्लिखित करके शास्त्रकार ने 'गृहस्थ कई भिक्षुओ से सयम मे श्रेष्ठ होते हैं' इस वाक्य का समर्थन किया है। इस गाथा मे उस युग के विभिन्न धर्मसम्प्रदायो के साधु-- सन्यासियो, तापसो, परिव्राजको या भिक्षुओ के द्वारा सुशील-पालन की उपेक्षा करके मात्र विभिन्न बाह्य वेषभूषा से मोक्ष या स्वर्ग प्राप्त हो जाने की मान्यता का खण्डन किया गया है। सम्यक्त्वपूर्वक अतिचार - निदान-शल्यरहित व्रताचरण को ही मुख्यतया सकाममरण के अनन्तर स्वर्ग का अधिकारी माना गया है।

'चीर' के दो अर्थ—चीवर और वल्कल। **नगिणिणं का अर्थ** चूर्णिकार ने नग्नता किया है तथा उस युग के कुछ **नग्न-सम्प्रदायों का उल्लेख** भी किया है—मृगचारिक, उदण्डक और आजीवक। **संघाडि-सघाटी**—कपडे के टुकडे को जोड कर बनाया गया साधुओ का एक उपकरण। बौद्धश्रमणो

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३७ (ख) सुखबोधा, पत्र १०६
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २४९

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृष्ठ १३७

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २५०

मे यह प्रचलित था। **मुंडिणं** का अर्थ जो अपने सन्यासाचार के अनुसार सिर मुंडा कर चोटी कटाते थे, उनके आचार के लिए यह सकेत है।[1]

केवल भिक्षाजीविता नरक से नहीं बचा सकती—उदाहरण—राजगृह नगर मे एक उद्यान में नागरिको ने बृहद् भोज किया। एक भिक्षुक नगर मे तथा उद्यान मे जगह-जगह भिक्षा मागता फिरा, उसने दीनता भी दिखाई, परन्तु किसी ने कुछ न दिया। अत उसने वैभारगिरि पर चढ कर रोषवश नागरिको पर शिला गिरा कर उन्हे समाप्त करने का विचार किया, दुर्भाग्य से शिला गिरते समय वह स्वय शिला के नीचे दब गया। वही मर कर सातवी नरक मे गया। इसलिए दु शील को केवल भिक्षाजीवता नरक से नही बचा सकती।

अगारि—सामाइयगाइ: तीन व्याख्याएँ—यहाँ सामायिक शब्द का अर्थ किया गया है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और समय ही सामायिक है। उसके दो प्रकार है—अगारी-सामायिक और अनगार-सामायिक (१) चूर्णिकार के अनुसार—श्रावक के बारहव्रत अगारिसामायिक के बारह अग है, (२) शान्त्याचार्य के अनुसार—नि शकता, स्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय और अणुव्रतादि, ये अगारिसामायिक के अग है, (३) विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार—'सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशव्रतसामायिक और सर्वव्रत (महाव्रत) सामायिक, इन चारो मे से प्रथम तीन अगारि-सामायिक के अग है।[2]

पोसह : विविधरूप और विभिन्न स्वरूप—(१) श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार—पोषध, प्रोषध, पोषधोपवास, परिपूर्ण पोषध, (२) दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार—प्रोषध, (३) बौद्ध साहित्य के अनुसार—उपोसथ। जैनधर्मानुसार पोषध श्रावक के बारह व्रतो मे ग्यारहवां व्रत है। जिसे परिपूर्ण पोषध कहा जाता है। श्रावक के लिए महीने मे ६ पर्व तिथियो मे ६ पोषध करने का विधान है—द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी (पूर्णिमा अथवा अमावस्या)। प्रस्तुत गाथा मे कृष्ण और शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि जिसे पक्खी कहते है, महीने मे ऐसी दो पाक्षिक तिथियों का पोषध न छोडने का निर्देश किया है। परिपूर्ण पोषध मे—अशनादि चारो आहारो का त्याग, मणि-मुक्ता-स्वर्ण-आभरण, माला, उबटन, मर्दन, विलेपन आदि शरीरसत्कार का त्याग, अब्रह्मचर्य का त्याग एव शस्त्र, मूसल आदि व्यवसायादि तथा आरम्भादि सासारिक एव सावद्य कार्यों का त्याग,

१ (क) चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डशिखाजटा।
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधको तु दयादमौ॥ —सुखबोधा पत्र १२७ मे उद्धृत

(ख) न नग्गचरिया न जटा न पका, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रज्जो च जल्ल उक्कटिकप्पधान सोधेति मच्च अवितिण्णकख॥ —धम्मपद १०।१३

(ग) 'चीर' वल्कल—चूर्णि १३८ पृ., 'चीराणि चीवराणि'—बृहद्वृत्ति, पत्र २५०

(घ) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १३८

(ङ) 'सघाटी'—वस्त्रसहतिजनिता —बृहद्वृत्ति, पत्र २५०, विशुद्धिमार्ग १।२, पृ. ६०

(च) मुडिण ति—यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते, तत प्राग्वद् मुण्डिकत्वम्। —बृ. वृ, पत्र २५०

२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३९ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५१

(ग) विशेषावश्यकभाष्य, गा ११९६

करना अनिवार्य होता है तथा एक अहोरात्रि (आठ पहर) तक आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, धर्मध्यान एव सावद्यप्रवृत्तियों के त्याग मे बिताना होता है । भगवतीसूत्र मे उल्लिखित शख श्रावक के वर्णन से अशन-पान का त्याग किये बिना भी पोषध किया जाता था, जिसे देशपोषध (या दया—छकायव्रत) कहते हैं । वसुनन्दिश्रावकाचार के अनुसार—दिगम्बर परम्परा मे प्रोषध के तीन प्रकार बताये हैं—(१) उत्तम प्रोषध—चतुर्विध आहारत्याग, (२) मध्यम प्रोषध—त्रिविध आहारत्याग और (३) जघन्य प्रोषध—आयम्बिल (आचाम्ल), निर्विकृतिक, एक स्थान और एक भक्त । बौद्ध साहित्य मे आर्य-उपोसथ का स्वरूप भी लगभग जैन (देश-पोषध) जैसा ही है । पोषध का शब्दशः अर्थ होता है—धर्म के पोष (पुष्टि) को धारण करने वाला ।[1]

छविपव्वाओ में 'छविपर्व' का तात्पर्य—छवि का अर्थ है—चमडी और पर्व का अर्थ है—शरीर के संधिस्थल—घुटना, कोहनी आदि । इसका तात्पर्य है—मानवीय औदारिकशरीर (हड्डी, चमडी आदि स्थूल पदार्थों से बना शरीर ।[2]

गच्छे जक्खसलोगयं—यक्षसलोकता—यक्ष अर्थात् देव, देवो के समान लोक—स्थान को प्राप्त करता है । आचार्य सायण और शकराचार्य ने 'सलोकता' का अर्थ—'समान लोक या एक स्थान मे बसना—समान लोक मे निवास करना' किया है ।[3]

विमोहाइ—मोहरहित । मोह के दो अर्थ—द्रव्यमोह—अन्धकार, भावमोह—मिथ्यादर्शन । ऊपर के देवलोको मे ये दोनो मोह नही होते । इसलिए वे आवास विमोह कहलाते हैं । अथवा शान्त्याचार्य ने यह अर्थ भी किया है—वेदादिमोहनीय का उदय स्वल्प होने से विमोह की तरह वे विमोह है ।[4]

अहुणोववन्नसकासा—अभी-अभी उत्पन्न के समान अथवा प्रथम उत्पन्न देव के तुल्य । तात्पर्य यह है कि अनुत्तर देवो मे आयुष्यपर्यन्त वर्ण, कान्ति आदि घटते नही तथा देवो मे औदारिक शरीर को तरह बालक, युवक, वृद्धादि अवस्थाएँ नही होती, आयुष्य के अन्त तक वे एक समान अवस्था मे रहते है ।[5]

'तसंतसंतिमरणंते' का तात्पर्य—यह है कि अपने जीवन मे धर्मोपार्जन नही किये हुए अविरत, असयमी, पापकर्मी जन अन्तिम समय मे जैसे मृत्यु का नाम सुनते ही घबराते हैं, अपने पापकृत्यो का स्मरण करके तथा इन पापो के फलस्वरूप न मालूम 'मैं कहाँ जाऊगा ?' इस प्रकार

---

१ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १३९ (ख) स्थानाग, ३।१।१५०, ४।३।३१४ (ग) भगवती १२।१
(घ) वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक २८०-२९४ (ङ) अगुत्तरनिकाय २१२-२२१, पृ १४७

२ (क) छविश्च त्वक्, पर्वाणि च जानुकूर्परादीनि छविपर्व, तद्योगाद् औदारिकशरीरमपि छविपर्व, तत. ।
—सुखबोधा पत्र १०७
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ (ख) ऐतरेय आरण्यक० ३।२।१।७, पृ २४२-२४३
'सलोकता—समानलोकवासित्वमश्नुते ।'
(ग) 'सलोकता समानलोकता वा एकस्थानत्वम् ।' —बृहदारण्यक उ., पृ ३९१

४ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२

५. (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १४०, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ (ग) सुखबोधा पत्र १०८

शोक एव परिवारादि मे मोहग्रस्त होने के कारण विलाप एव रुदन करते हैं, वैसे धर्मोपार्जन किये हुए सयमी, शीलवान् धर्मात्मा पुरुष धर्मफल को जानने के कारण नही घबराते, न ही भय, चिन्ता, शोक, विलाप या रुदन करते है।[1]

सकाममरण प्राप्त करने का उपदेश और उपाय

३० तुलिया विसेसमादाय दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहा-भूएण अप्पणा ॥

[३०] मेधावी साधक पहले अपने आपका परीक्षण करके बालमरण से पण्डितमरण की विशेषता जान कर विशिष्ट सकाममरण को स्वीकार करे तथा दयाप्रधानधम-(दशविध यतिधर्म)-सम्बन्धी क्षमा (उपलक्षण मे मार्दवादि) से और तथाभूत (उपशान्त-कषाय-मोहादिरूप) आत्मा से प्रसन्न रहे (--मरणकाल मे उद्विग्न न बने)।

३१ तओ काले अभिप्पेए सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोम-हरिस भेयं देहस्स कंखए ॥

[३१] उसके पश्चात् जब मृत्युकाल निकट आए, तब भिक्षु ने गुरु के समीप जैसी श्रद्धा से प्रव्रज्या या सलेखना ग्रहण की था, वसी ही श्रद्धावाला रहे और (परीषहोपसर्ग-जनित) रोमाच को दूर करे तथा मरणभय से सत्रस्त न होकर शान्ति मे शरीर के नाश (भेद) की प्रतीक्षा करे। (अर्थात् देह की अब सार-सभाल न करे।)

३२. अह कालंमि सपत्ते आघायाय समुस्सय।
सकाम-मरणं मरई तिण्हमन्नयर मुणी ॥
—त्ति बेमि।

[३२] मृत्यु का समय आने पर भक्तपरिज्ञा, इगिनी अथवा पादोगमन, इन तीनो से किसी एक को स्वीकार करके मुनि (सल्लेखना-समाधि-पूर्वक) (अन्दर मे कार्मणशरीर और बाहर से औदारिक) शरीर का त्याग करता हुआ सकाममरण से मरता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—'तुलिया' दो व्याख्याएँ—(१) अपने आपको तौल कर (अपनी धृति, दृढता, उत्साह, शक्ति आदि की परीक्षा करके), (२) बालमरण और पण्डितमरण दोनो की तुलना करके।[2]

'विसेसमादाय' दो व्याख्याएँ—(१) विशेष-भक्तपरिज्ञा आदि तीन समाधिमरण के भेदो मे से किसी एक मरणविशेष को स्वीकार करके, (२) बालमरण से पण्डितमरण को विशिष्ट जान कर।[3]

तहाभूएण अप्पणा विप्पसीएज्ज' दो व्याख्याएँ—(१) तथाभूत आत्मा मे—मृत्यु के पूर्व अनाकुलचित्त था, मरणकाल मे भी उसी रूप मे अवस्थित आत्मा से, (२) तथाभूत उपशान्तमोहोदयरूप या निष्कषाय आत्मा से। **विप्रसीदेत्**—(१) विशेष रूप से प्रसन्न रहे, मृत्यु मे उद्विग्न न हो, (२)

१ सुखबोधा पत्र १०८, 'सुगहियतवपव्वयणा, विसुद्धसम्मत्तनाणचारित्ता।
मरण ऊसवभूय, मन्नति समाहियप्पाणो ॥'

२ बृहद्वृत्ति, पत्र २५८

३ वही, पत्र २५८

कषायपंक दूर होने से स्वच्छ रहे, किन्तु बारह वर्ष तक की सलेखना का तथाविध तप करके अपनी अंगुली तोड़ कर गुरु को बताने वाले तपस्वी की तरह कषायकलुषता धारण किया हुआ न रहे।[1]

आघायाय समुस्सयं: दो रूप, दो अर्थ—(१) आघातयन् समुच्छ्रयम्—बाह्य और आन्तरिक-शरीर का नाश (त्याग) करता हुआ, (२) आघाताय समुच्छ्रयस्य—शरीर के विनाश (त्याग) का अवसर आने पर।[2]

'तिण्हमन्नयरं मुणी' की व्याख्या—तीन प्रकार के अनशनो (भक्तपरिज्ञा, इगिनी और पादोप-गमन) मे से किसी एक के द्वारा देह त्याग करे। **भक्तपरिज्ञा**—चतुर्विध आहार तथा बाह्याभ्यन्तर उपधि का यावज्जीवन प्रत्याख्यानरूप अनशन, **इंगिनी**—अनशनकर्ता का निश्चित स्थान से बाहर न जाना, **पादोपगमन**—अनशनकर्ता का कटे वृक्ष की भाति स्थिर रहना, शरीर की सार-सभाल न करना।[3]

॥ अकाममरणीय : पंचम अध्ययन समाप्त ॥

□□

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २५४
२. वही, पत्र २५४
३. (क) वही, पत्र २५४ (ख) उत्त. निर्युक्ति, गा. २२५

छठा अध्ययन : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत छठे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय' है। क्षुल्लक अर्थात् साधु के निर्ग्रन्थत्व का प्रतिपादन जिस अध्ययन मे हो, वह क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय अध्ययन है। निर्युक्ति के अनुसार इस अध्ययन का दूसरा नाम 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थसूत्र' भी है।[1]

* 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन आगमो मे यत्र-तत्र बहुत प्रयुक्त हुआ है। यह जैनधर्म का प्राचीन और प्रचलित शब्द है। 'तपागच्छ पट्टावली' के अनुसार सुधर्मास्वामी से लेकर आठ आचार्यों तक जैनधर्म 'निर्ग्रन्थधर्म' के नाम से प्रचलित था। भगवान् महावीर को भी जैन और बौद्ध साहित्य मे 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' कहा गया है।[2]

* स्थूल और सूक्ष्म अथवा बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के ग्रन्थो (परिग्रहवृत्ति रूप गाठो) का परित्याग करके क्षुल्लक अर्थात् साधु निर्ग्रन्थ होता है। स्थूलग्रन्थ है—आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओ को जोडकर या सग्रह करके रखना अथवा उन पदार्थो को बिना दिये लेना, अथवा स्वय उन पदार्थों को तैयार करना या कराना। सूक्ष्मग्रन्थ है—अविद्या (तत्त्वज्ञान का अभाव), भ्रान्त मान्यताएँ, सासारिक सम्बन्धो के प्रति आसक्ति, मोह, माया, कषाय, रागयुक्त परिचय (सम्पर्क), भोग्य पदार्थों के प्रति ममता-मूर्च्छा, स्पृहा, फलाकाक्षा, मिथ्यादृष्टि (ज्ञान-वाद, वाणीवीरता, भाषावाद, शास्त्ररटन या क्रियारहित विद्या आदि भ्रान्त मान्यताएँ), शरीरासक्ति, (विविध प्रमाद, विषयवासना आदि) 'निर्ग्रन्थता' के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार की ग्रन्थियो का त्याग करना आवश्यक है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थत्व अगीकार करने पर भी, निर्ग्रन्थ-योग्य महाव्रतो एव यावज्जीवन सामायिक की प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने पर भी किस-किस रूप मे, कहाँ-कहाँ से, किस प्रकार से ये ग्रन्थियाँ—गाठे पुन उभर सकती है और इनसे बचना साधु के लिए क्यो आवश्यक है? इन ग्रन्थियो से किस-किस प्रकार से निर्ग्रन्थ को बचना चाहिए? न बचने पर निर्ग्रन्थ की क्या दशा होती है? इन ग्रन्थो के कुचक्र मे पडने पर निर्ग्रन्थनामधारी व्यक्ति केवल वेष मे, कोरे शास्त्रीय शाब्दिक ज्ञान से, वागाडम्बर से, भाषाज्ञान से या विविध विद्याओ के अध्ययन से अपने आपको पापकर्मो से नही बचा सकता। निर्ग्रन्थत्व शून्य निर्ग्रन्थनामधारी को

१. (क) 'अत्राध्ययन क्षुल्लकस्य साधोनिर्ग्रन्थित्वमुक्तम्।'—उत्तराध्ययन, अ. ६ टीका, अ रा. कोष, भा ३।७५२
(ख) सावज्जगथ मुक्का अब्भितरबाहिरेण गथेण। एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियठसुत्तस्स ॥
—उत्तरा निर्युक्ति, गा. २४३

२ (क) 'श्री सुधर्मास्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निग्रन्था।'—तपागच्छ पट्टावलि (प कल्याणविजय सपादित), भा. १, पृ. २५३
(ख) 'निग्गथो नायपुत्तो' —जैन आगम (ग) 'निग्गथोनाटपुत्तो' —विसुद्धिमग्गो, विनयपिटक

उसका पूर्वाश्रय का लम्बा-चौडा परिवार, धन, धान्य, धाम, रत्न, आभूषण, चल-अचल सम्पत्ति आदि दु.ख या पापकर्मों के फल से नही बचा सकते। जो ज्ञान केवल ग्रन्थो तक ही सीमित है, बन्धनकारक है, भारभूत है।

* इसीलिए इस अध्ययन मे सर्वप्रथम अविद्या को 'ग्रन्थ' का मूल स्रोत मान कर उसको समस्त दु खो एवं पापो की जड बताया है और उसके कारण ही जन्ममरण की परम्परा से मुक्त होने के बदले साधक जन्ममरणरूप अनन्त ससार मे परिभ्रमण करता है, पीडित होता है। पातजल योगदर्शन मे भी अविद्या को ससारजन्य दु खो का मुख्य हेतु बताया है, क्योकि अविद्या (मिथ्याज्ञान) के कारण सारी ही वस्तुएँ उलटे रूप मे प्रतीत होती है। जो बन्धन दु ख, अत्राण, अशरण, असुरक्षा के कारण है, उन्हे अविद्यावश व्यक्ति मुक्ति, सुख, त्राण, शरण एव सुरक्षा के कारण समझता है। इसीलिए यहाँ साधक को विद्यावान्, सम्यग्द्रष्टा एव वस्तुतत्त्व-ज्ञाता बनकर अविद्याजनित परिणामो, बन्धनो एव जातिपथो की समीक्षा एव प्रेक्षा करके अपने पारिवारिक जन त्राण-शरणरूप है, धनधान्य, दास आदि सब पापकर्म से मुक्त कर सकते है, इन अविद्याजनित मिथ्यामान्यताओ से बचने का निर्देश किया गया।[1]

* तत्पश्चात् सत्यदृष्टि से आत्मौपम्य एव मैत्रीभाव से समस्त प्राणियो को देखकर हिंसा, अदत्तादान, परिग्रह आदि ग्रन्थो से दूर रहने का छठी, सातवी गाथा मे निर्देश किया गया है।

* ८-९-१० वी गाथाओ मे आचरणशून्य ज्ञानवाद, अक्रियावाद, भाषावाद, विद्यावाद आदि अविद्याजनित मिथ्या मान्यताओ को ग्रन्थ (बन्धनरूप) बताकर निर्ग्रन्थ को उनसे बचने का सकेत किया गया है।

* ११ वी से १६ वी गाथा तक शरीरासक्ति, विषयाकाक्षा, आवश्यकता से अधिक भक्तपान का ग्रहण-सेवन, सग्रह आदि एव नियतविहार, आचारमर्यादा का अतिक्रमण आदि प्रमादो को 'ग्रन्थ' के रूप मे बताकर निर्ग्रन्थ को उनसे बचने तथा अप्रमत्त रहने का निर्देश किया गया है।

* कुल मिलाकर १६ गाथाओ मे आत्मलक्षी या मोक्षलक्षी निर्ग्रन्थ को सदैव इन ग्रन्थो से दूर रहकर अप्रमादपूर्वक निर्ग्रन्थाचार के पालन की प्रेरणा दी गई है। १७ वी गाथा मे इन निर्ग्रन्थ-सूत्रो के प्रज्ञापक के रूप मे भगवान् महावीर का सविशेषण उल्लेख किया गया है।[2]

---

१ (क) उत्तरा, अ ६, गा १ से ५ (ख) Ignorance is the root of all evils —English proverb
(ग) 'तस्य हेतुरविद्या'। अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या।'
—पातजल योगदर्शन २।४-५

२ (क) उत्तरा, अ ६, गा - से ७ (ख) वही, गा ८-९-१० (ग) वही, गा ११ से १६ तक
(घ) उत्तरा, अ ६, गा. १७

छट्ठज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

अविद्या : दुःखजननी और अनन्तसंसार भ्रमणकारिणी

१ जावन्तऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारंमि अणन्तए ॥

[१] जितने भी अविद्यावान् पुरुष है, वे सब (अपने लिए) दु खो के उत्पादक है। (अविद्या के कारण) मूढ बने हुए वे (सब) अनन्त ससार मे बार-बार (आधि-व्याधि-वियोगादि-दु खो से) लुप्त (पीडित) होते हैं।

विवेचन—अविज्जापुरिसा—अविद्यापुरुषाः—अविद्यावान् पुरुष। तीन व्याख्याएँ—(१) जो कुत्सित ज्ञान युक्त हों, (जिन का चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त हो) वे अविद्यपुरुष है। (२) जिनमे तत्त्व-ज्ञानात्मिका विद्या न हो, वे अविद्य हैं। अविद्या का अर्थ यहाँ मिथ्यात्व से अभिभूत कुत्सित ज्ञान है। अत अविद्याप्रधान पुरुष—अविद्यापुरुष है। (३) अथवा विद्या शब्द प्रचुर श्रुतज्ञान के अर्थ मे है। जिनमे विद्या न हो, वे अविद्यापुरुष है। इस दृष्टि से अविद्या का अर्थ सर्वथा ज्ञानशून्यता नही, किन्तु प्रभूत श्रुतज्ञान (तत्त्वज्ञान) का अभाव है, क्योकि कोई भी जीव सर्वथा ज्ञानशून्य तो होता ही नही, अन्यथा जीव और अजीव मे कोई भी अन्तर न रहता।[१]

दुक्खसंभवा—जिनमे दु खो का सम्भव—उत्पत्ति हो, वे दु ख सम्भव है, अर्थात् दु खभाजन होते है।[२]

उदाहरण—एक भाग्यहीन दरिद्र धनोपार्जन के लिए परदेश गया। वहाँ उसे कुछ भी द्रव्य प्राप्त न हुआ। वह वापिस स्वदेश लौट रहा था। रास्ते मे एक गाँव के बाहर शून्य देवालय मे रात्रि-विश्राम के लिए ठहरा। सयोगवश वहाँ एक विद्यासिद्ध पुरुष मिला। उसके पास कामकुम्भ था, जिसके प्रताप से वह मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेता था। दरिद्र ने उसकी सेवा की। उसने सेवा से प्रसन्न होकर कहा—'तुझे मत्रित कामकु भ दू या कामकुम्भ प्राप्त करने की विद्या दू ?' विद्यासाधना मे कायर दरिद्र ने कामकुम्भ ही माग लिया। कामकुम्भ पाकर वह मनचाही वस्तु पाकर भोगासक्त हो गया। एक दिन मद्यपान से उन्मत्त होकर वह सिर पर कामकुम्भ रखकर नाचने लगा। जरा-सी असावधानी से कामकुम्भ नीचे गिर कर टुकडे-टुकड़े हो गया। उसका सब वैभव नष्ट हो गया, पुनः दरिद्र हो गया। वह पश्चात्ताप करने लगा—'यदि मैंने विद्या सीख ली होती तो मैं दूसरा कामकुम्भ बनाकर सुखी हो जाता।' परन्तु अब क्या हो ? जैसे विद्यारहित वह दरिद्र दु खी हुआ, वैसे ही

---

१ (क) उत्तरा टीका, अभिधानराजेन्द्र कोष, भा ३. पृ ७५०, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६२

२. उत्तराध्ययन टीका, अभि रा कोष, भा, ३ पृ. ७५०

अध्यात्मविद्यारहित पुरुष, विशेषत: निर्ग्रन्थ अनन्त ससार मे जन्म-जरा, मृत्यु, व्याधि-आधि आदि के कारण दु:खी होता है।[1]

सत्यदृष्टि (विद्या) से अविद्या के विविध रूपों को त्यागने का उपदेश

२ समिक्ख पंडिए तम्हा पासजाईपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥

[२] इसलिए साधक पण्डित (विद्यावान्) बनकर बहुत-से पाशो (बन्धनो) और जातिपथों (एकेन्द्रियादि मे जन्ममरण के मोहजनित कारणो-स्रोतो) की समीक्षा करके स्वय सत्य का अन्वेषण करे और विश्व के सभी प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव का सकल्प करे।

३. माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥

[३] (फिर सत्यद्रष्टा पण्डित यह विचार करे कि) अपने कृतकर्मों से लुप्त (पीडित) होते समय माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस (आत्मज) पुत्र ये सब (स्वकर्म-समुद्भूत दु:खो से) मेरी रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकते।

४. एयमट्ठं सपेहाए पासे समियदंसणे ।
छिन्द गेहिं सिणेहं च न कंखे पुव्वसंथवं ॥

[४] सम्यग्दर्शन-युक्त साधक अपनी प्रेक्षा (स्वतत्र बुद्धि) से इस अर्थ (उपर्युक्त तथ्य) को देखे (तटस्थदृष्टा बनकर विचारे) (तथा अविद्याजनित) गृद्धि (आसक्ति) और स्नेह का छेदन करे। (किसी के साथ) पूर्व परिचय की आकाक्षा न रखता हुआ ममत्वभाव का त्याग कर दे।

५. गवासं मणिकुंडलं पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ताणं कामरूवी भविस्ससि ॥

[५] गौ (गाय-बैल आदि), अश्व, और मणिकुण्डल, पशु, दास और (अन्य सहयोगी या आश्रित) पुरुष-समूह, इन सब (पर अविद्याजनित ममत्व) का परित्याग करने पर ही (हे साधक!) तू काम-रूपी (इच्छानुसार रूप-धारक) होगा।

५. थावरं जंगमं चेव धणं धण्णं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे ॥

[६] अपने कर्मों से दु:ख पाते (पचते) हुए जीव को स्थावर (अचल) और जगम (चल) सम्पत्ति, धन, धान्य, उपस्कर (गृहोपकरण-साधन) आदि सब पदार्थ भी (अविद्योपार्जित कर्मजनित) दु:ख से मुक्त करने मे समर्थ नही होते।*

---

१ उत्तराध्ययन, कमलसयमी टीका, अ रा कोष भा ३ पृ ७५०

* यह गाथा चूर्णि एव टीका मे व्याख्यात नहीं है, इसलिए प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। —स

७. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ॥

[७] सबको सब प्रकार से अध्यात्म—(सुख) इष्ट है, सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, यह भय और वैर (द्वेष) उपरत (—निवृत्त) साधक किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे।

८. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥

८ 'आदान (धन-धान्यादि का परिग्रह, अथवा अदत्तादान) नरक (नरक हेतु) है,' यह जान-देखकर (बिना दिया हुआ) एक तृण भी (मुनि) ग्रहण न करे। आत्म-जुगुप्सक (देहनिन्दक) मुनि गृहस्थों द्वारा अपने पात्र में दिया हुआ भोजन ही करे।

विवेचन—पासजाईपहे : दो रूप- दो व्याख्याएँ—(१) चूर्णि में 'पश्य जातिपथान्' रूप मान कर 'पश्य' का अर्थ 'देख' और 'जातिपथान' का अर्थ—'चौरासी लाख जीवयोनियों को' किया गया है, (२) बृहद्वृत्ति में—'पाशजातिपथान्' रूप मान कर पाश का अर्थ- 'स्त्री-पुत्रादि का मोह-जनित सम्बन्ध' है, जो कर्म बन्धनकारक होने से जातिपथ है, अर्थात् एकेन्द्रियादि जातियों में ले जाने वाले मार्ग है। इसका फलितार्थ है एकेन्द्रियादि जातियों में ले जाने वाले स्त्री-पुत्रादि के सम्बन्ध।[1]

अप्पणा सच्चमेसेज्जा—'अप्पणा' से शास्त्रकार का तात्पर्य है विद्यावान् साधक स्वयं सत्य की खोज करे। अर्थात् वह किसी दूसरे के उपदेश से, बहकाने दबाने से, लज्जा एवं भय से अथवा गतानुगतिक रूप से सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। सत्य की प्राप्ति के लिए वस्तुतत्त्वज्ञ विचारक साधक को स्वयं अन्तर की गहराई में पैठकर चिन्तन करना आवश्यक है। सत्य का अर्थ है—जो सत् अर्थात् प्राणिमात्र के लिए हितकर—सम्यक् रक्षण, प्ररूपणादि से कल्याणकर हो। यथार्थ ज्ञान और संयम प्राणिमात्र के लिए हितकर होते हैं।[2]

निष्कर्ष—प्रस्तुत अध्ययन का नाम क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय है, इसलिए निर्ग्रन्थ बन जाने पर उसे अविद्या के विविध रूपों से दूर रहना चाहिए और स्वयं विद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी-वस्तुतत्त्वज्ञ) बनकर अपनी आत्मा और शरीर के आसपास लगे हुए अविद्याजनित सम्बन्धों से दूर रहकर स्वयं समीक्षा और सत्य की खोज करनी चाहिए। अन्यथा वह जिन स्त्रीपुत्रादिजनित सम्बन्धों का त्याग कर चुका है, उन्हें अविद्यावश पुनः अपनाने लगा तो पुनः उसे जन्म-मरण के चक्र में पड़ना होगा।

---

१. (क) जायन्ते इतिजातयः, जातीनां पथा जातिपथा —चुलसीतिखल लोए जोणीण पमुहसयसहस्सा।

—उत्त० चूर्णि, पृ. १४०

(ख) पाशा—अत्यन्त पारवश्य हेतव कलत्रादिसम्बन्धास्ते एव तीव्रमोहोदयादि हेतुतया जातीनां एकेन्द्रियादि-जातीनां पन्थान—तत्प्रापकत्वान्मार्गा, पाशजातिपथा, तान्।

—बृहद्वृत्ति पत्र २६४

२. (क) उत्तरा० टीका, अभि० रा० कोष भा. ३, पृ ७५० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४

अत अब उसे केवल एक कुटुम्ब के साथ मैत्रीभाव न रखकर विश्व के सभी प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए। यही सत्यान्वेषण का नवनीत है।[1]

सपेहाए—दो अर्थ—(१) सम्यक् बुद्धि से, (२) अपनी बुद्धि से।

पासे—दो अर्थ—(१) पश्येत्—देखे—अवधारण करे, (२) पाश—बन्धन।[2]

समियदंसणे—दो रूप—दो अर्थ—(१) शमितदर्शन—जिसका मिथ्यादर्शन शमित हो गया हो, (२) समितदर्शन—जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो। दोनों का फलितार्थ है—सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न साधक। यहाँ 'बनकर' इस पूर्वकालिक क्रिया का अध्याहार लेना चाहिए।[3]

गेहिं सिणेहं च—दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—गृद्धि का अर्थ—रसलम्पटता और स्नेह का अर्थ है—पुत्र-स्त्री आदि के प्रति राग। (२) चूर्णिकार के अनुसार—गृद्धि का अर्थ है—द्रव्य, गाय, भैस, बकरी, भेड, धन, धान्य आदि मे आसक्ति और स्नेह का अर्थ है—बन्धु-बान्धवो के प्रति ममत्व।[4] प्रस्तुत गाथा (४) मे साधक को विद्या (वस्तुतत्त्वज्ञान) के प्रकाश मे आसक्ति, ममत्व, राग, मोह, पूर्वसस्तव आदि अविद्याजनित सम्बन्धो को मन से भी त्याग देने चाहिए। यही तथ्य पाँचवी गाथा मे झलकता है।

कामरूवी—व्याख्या—स्वेच्छा से मनचाहा रूप धारण करने वाला। सासारिक भोग्य पदार्थों के प्रति ममत्वत्याग करने पर इहलोक मे वैक्रियलब्धिकारक अर्थात् अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि अष्टसिद्धियो का स्वामी होगा तथा निरतिचार सयम पालन करने से परलोक मे—देवभव मे वैक्रियादिलब्धिमान् होगा। गौ-अश्व आदि सासारिक भोग्य पदार्थों का त्याग क्यो किया जाए? इसका समाधान अगली गाथा मे दिया गया है—'नाल दुक्खाउ मोयणे'—ये दुखो से मुक्त कराने मे समर्थ नही है।[5]

थावर जगमं—स्थावर का अर्थ है अचल—गृह आदि साधन तथा जगम का अर्थ है—चल, पुत्र, मित्र, भृत्य आदि पूर्वाश्रय स्नेहीजन।[6]

पियायए: तीन रूप—तीन अर्थ—(१) प्रियात्मान—जिन्हे अपनी आत्मा—जीवन प्रिय है, (२) प्रियदया—जैसे सभी को अपना सुख प्रिय है, वैसे सभी को अपनी दया—रक्षण प्रिय है। (३) पियायए—प्रियायते क्रिया = चाहते है, सत्कार करते है, उपासना करते है।[7]

---

१ उत्तराध्ययन मूल पाठ अ ६, गा.२ से ६ तक

२ (क) उत्त चूर्णि, पृ १५० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ (ग) सुखबोधा पत्र ११२

३ बृहद्वृत्ति, पत्र २६४

४. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ १५१ (ख) उत्तरा टीका, अ० रा कोष, भा. ३, पृ ७५१

५. उत्तरा टीका, अ रा. कोष, भा. ३, पृ ७५१

६. वही, अ रा. को पृ ७५१

७ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १५१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ (ग) सुखबोधा पत्र ११२ (घ) उत्तरा (सरपेंटियर कृत व्याख्या) पृ. ३०३

दोगुंछी:—तीन व्याख्याएँ—(१) जुगुप्सी=असयम से जुगुप्सा करने वाला, (२) आहार किए बिना धर्म करने मे असमर्थ अपने शरीर से जुगुप्सा करने वाला, (३) **अप्पणो दुगुंछी**—आत्म जुगुप्सी—आत्मनिन्दक होकर। अर्थात आहार के समय आत्मनिन्दक होकर ऐसा चिन्तन करे कि अहो! धिक्कार है मेरी आत्मा को, यह मेरी आत्मा या शरीर आहार के बिना धर्मपालन में असमर्थ है। क्या करूं, धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ इसे भाडा देता हूँ। जैन शास्त्रो में दूसरो से जुगुप्सा करने का तो सर्वत्र निषेध है।[1]

निष्कर्ष—प्रस्तुत गाथा (८) मे अदत्तादान एव परिग्रह इन दोनो आश्रवो के निरोध से—उपरत होने से अन्य आश्रवो का निरोध भी ध्वनित होता है।[2]

अप्पणो पाए दिन्न—अपने पात्र मे गृहस्थो द्वारा दिया हुआ। इस पंक्ति से यह भी सूचित होता है, कतिपय अन्यतीर्थिक साधु सन्यासियो या गैरिको की तरह निर्ग्रन्थि साधु गृहस्थ के बर्तनो मे भोजन न करे। इसका कारण दशवैकालिक सूत्र मे—दो मुख्य दोषो (पश्चात्कर्म एव पुर कर्म) का लगना बताया है।[3]

तात्पर्य—दूसरी से सातवी गाथा तक मे अविद्याओ के विविध रूप और पण्डित एव सम्यग्दृष्टि साधक को स्वय समीक्षा—प्रेक्षा करके इनका वस्तुस्वरूप जानकर इनसे सर्वथा दूर रहने का उपदेश दिया है।

अविद्याजनित मान्यताएँ

९. इहमेगे उ मन्नन्ति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्व दुक्खा विमुच्चई॥

[९] इस ससार मे (या आध्यात्मिक जगत् मे) कुछ लोग यह मानते है कि पापो का प्रत्याख्यान (त्याग) किये बिना ही केवल आर्य (-तत्त्वज्ञान) अथवा आचार (-स्व-स्वमत के बाह्य आचार) को जानने मात्र से ही मनुष्य सभी दु खो से मुक्त हो सकता है।

---

१ (क) '**दुगछा—सयमो किं दुगछति? असंजय।**'—उत्तरा चूर्णि, पृ. १५२
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६
(ग) सुखबोधा, पत्र १२२
(घ) उत्त. टीका, अ. रा. कोष भाग ३।७५१

२ उत्तराध्ययन गा ८, टीका, अ. रा. कोष, भा २।७५१

३. (क) उत्तरा चूर्णि, पृ. १५२ ' . .आत्मीयपात्रगृहणात् माभूत् कश्चित् परपात्रे गृहीत्वा भक्षयति तेन पात्रग्रहण, ण सो परिग्गह इति।'
(ख) पात्रग्रहण तु व्याख्याद्वयेऽपि माभूत निस्परिग्रहतया पात्रस्याऽप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद् गृहिभाजन एव भोजन भवेत् तत्र च बहुदोषसभव। तथा च शय्यम्भवाचार्य—

पच्छाकम्म पुरेकम्म सिया तत्थ ण कप्पई।
एयमट्ठ ण भुजति, णिग्गथा गिहिभायणे॥ —दशवैकालिक ६।५३
—बृहद्वृत्ति, पत्र २६६

१०. भणन्ता अकरेन्ता य बन्ध-मोक्खपइण्णिणो ।
वाया-विरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ॥

[१०] जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तो की स्थापना (प्रतिज्ञा) तो करते हैं, (तथा ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार से) कहते बहुत कुछ है, तदनुसार करते कुछ नही है, वे (ज्ञानवादी) केवल वाणी की वीरता से अपने आपको (झूठा) आश्वासन देते रहते हैं ।

११. न चित्ता तायए भासा कओ विज्जाणुसासणं ?
विसन्ना पाव-कम्मेहि बाला पंडियमाणिणो ॥

[११] विभिन्न भाषाएँ (पापो या दु खो से मनुष्य की) रक्षा नही करती, (फिर व्याकरण-न्याय-मीमासा आदि) विद्याओ का अनुशासन (शिक्षण) कहाँ सुरक्षा दे सकता है ? जो इन्हे सरक्षक (त्राता) मानते हैं, वे अपने आपको पण्डित मानने वाले (पण्डितमानी) अज्ञानी (अतत्त्वज्ञ) जन पापकर्मरूपी कीचड में (विविध प्रकार से) फँसे हुए है ।

विवेचन—अविद्याजनित भ्रान्त मान्यताएँ—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे उस युग के दार्शनिको की भ्रान्त मान्यताएँ प्रस्तुत करके शास्त्रकार ने उनका खण्डन किया है—(१) एकान्त ज्ञान से ही मोक्ष (सर्व दु खमुक्ति) हो सकता है, क्रिया या आचरण की कोई आवश्यकता नही, (२) लच्छेदार भाषा मे अपने सिद्धान्तो को प्रस्तुत कर देने मात्र से कल्याण हो जाता है, (३) विविध भाषाएँ सीखकर अपने-अपने धर्म के शास्त्रो को उसकी मूल-भाषा मे उच्चारण करने मात्र से अथवा विविध शास्त्रो को सीख लेने—रट लेने मात्र से पापो या दु खो से रक्षा हो जाएगी । परन्तु भगवान् ने इन तीनो भ्रान्त एव अविद्याजनित मान्यताओ का खण्डन किया है ।[1] साख्य आदि का एकान्त ज्ञानवाद है —

पंचविशतितत्वज्ञो, यत्रकुत्राश्रमे रत ।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र संशय ॥

अर्थात् 'शिखाधारी, मुण्डितशिर, जटाधारी हो अथवा जिस किसी भी आश्रम मे रत व्यक्ति सिर्फ २५ तत्त्वो का ज्ञाता हो जाए तो नि सदेह वह मुक्त हो जाता है ।'[2]

आयरियं—तीन रूप—तीन अर्थ—(१) चूर्णि मे आचरित अर्थात्—आचार, (२) बृहद्वृत्ति मे आर्य रूप मानकर अर्थ किया गया है और (३) सुखबोधा मे आचारिक रूप मानकर अर्थ किया है—अपने-अपने आचार मे होने वाला अनुष्ठान ।[3]

विविध प्रमादों से बचकर अप्रमत्त रहने की प्रेरणा

१२. जे केई सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

---

१ उत्तरा. टीका, अ. ६, अ रा. कोष ३।७५१

२ साख्यदर्शन, साख्यतत्त्वकौमुदी

३ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १५२, 'आचारे निविष्ट आचरित—आचरणीय वा'
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६
(ग) आचारिक—निज-निजाऽचारभवमनुष्ठानम् । —सुखबोधा, पत्र ११३

[१२] जो मन, वचन और काया से शरीर मे तथा वर्ण और रूप (आदि विषयो) मे सब प्रकार से आसक्त हैं, वे सभी अपने लिए दु.ख उत्पन्न करते हैं।

१३. आवन्ना दीहमद्धाणं संसारम्मि अणंतए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स अप्पमत्तो परिव्वए ॥

१३. वे (ज्ञानवादी शरीरासक्त पुरुष) इस अनन्त ससार मे (विभिन्न भवभ्रमण रूप) दीर्घ पथ को अपनाए हुए हैं। इसलिए (साधक) सब (भाव-) दिशाओ (जीवो के उत्पत्तिस्थानो) को देख कर अप्रमत्त होकर विचरण करे।

१४. बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्म-खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे ॥

[१४] (वह ससार से) ऊर्ध्व (मोक्ष का लक्ष्य) रख कर चलने वाला कदापि बाह्य (विषयो) की आकाक्षा न करे। (साधक) पूर्वकृतकर्मों के क्षय के लिए ही इस देह को धारण करे।

१५. विविच्च कम्मुणो हेउं कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स कडं लद्धूण भक्खए ॥

[१५] अवसरज्ञ (कालकाक्षी) साधक कर्मों के (मिथ्यात्व, अविरति आदि) हेतुओ को (आत्मा से) पृथक् करके (सयममार्ग मे) विचरण करे। गृहस्थ के द्वारा स्वय के लिए निष्पन्न आहार और पानी (सयमनिर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार उचित) मात्रा मे प्राप्त करके सेवन करे।

१६. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए ॥

[१६] सयमी साधु लेशमात्र भी सचय न करे—(बासी न रखे), पक्षी के समान सग्रह-निरपेक्ष रहता हुआ मुनि पात्र लेकर भिक्षाटन करे।

१७. एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं पिंडवायं गवेसए ॥

[१७] एषणासमिति के उपयोग मे तत्पर (निर्दोष आहार-गवेषक) लज्जावान् (सयमी) साधु गाँवो (नगरो आदि) मे अनियत (नियतनिवासरहित) होकर विचरण करे। अप्रमादी रहकर वह गृहस्थो (—विषयादिसेवनासक्त होने से प्रमत्तो) से (निर्दोष) पिण्डपात (भिक्षा) की गवेषणा करे।

विवेचन—'बहिया उड्ढं च' : दो व्याख्याएँ—(१) 'देह से ऊर्ध्व—परे कोई आत्मा नही है, देह ही आत्मा है' इस चार्वाकमत के निराकरण के लिए शास्त्रकार का कथन है—देह से ऊर्ध्व—परे आत्मा है, उसको, (२) ससार से बहिर्भूत और सबसे ऊर्ध्ववर्ती—लोकाग्रस्थान = मोक्ष को।[1]

कालकंखी—तीन अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार—जब तक आयुष्य है तब तक पण्डितमरण के काल की आकाक्षा करने वाला—भावार्थ—आजीवन सयम की इच्छा करने वाला, (२) काल—

---

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १५५ (ख) बृहद्वृत्ति पत्र २६८ (ग) सुखबोधा, पत्र ११४

स्वक्रियानुष्ठान के अवसर की आकांक्षा करने वाला और (३) अवसरज्ञ।[1]

मन-वचन-काया से शरीरासक्ति—मन से—यह सतत चिन्तन करना कि हम सुन्दर, बलिष्ठ, रूपवान् कैसे बने ? वचन से—रसायनादि से सम्बन्धित प्रश्न करते रहना तथा काया से—सदा रसायनादि तथा विगय आदि का सेवन करते रहकर शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना शरीरासक्ति है।[2]

सव्वदिसं—यहाँ दिशा शब्द से १८ भाव दिशाओ का ग्रहण किया गया है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) मूलबीज, (६) स्कन्धबीज, (७) अग्रबीज, (८) पर्वबीज, (९) द्वीन्द्रिय, (१०) त्रीन्द्रिय, (११) चतुरिन्द्रिय, (१२) पचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक, (१३) नारक, (१४) देव, (१५) समूर्च्छनज, (१६) कर्मभूमिज, (१७) अकर्मभूमिज, (१८) अन्तर्द्वीपज।[3]

पिंडस्स पाणस्स—व्याख्याएँ—(१) साधु के लिए भिक्षादान के प्रसग मे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, यो चारो प्रकार के आहार का उल्लेख आता है, अत. चूर्णिकार ने 'पिंड' शब्द को अशन, खाद्य और स्वाद्य, इन तीनो का और 'पान' शब्द को 'पान' का सूचक माना है। (२) वृत्तिकारो के अनुसार—मुनि के लिए उत्सर्ग रूप मे खाद्य और स्वाद्य का ग्रहण—सेवन अयोग्य है, इसलिए पिण्ड अर्थात् ओदनादि और पान यानी आयामादि (भोजन और पान) का ही यहाँ ग्रहण किया गया है।[4]

सन्निहि—घृत-गुडादि को दूसरे दिन के लिए सग्रह करके रखना सन्निधि है। निशीथचूर्णि मे दूध, दही आदि थोडे समय के बाद विकृत हो जाने वाले पदार्थों के सग्रह को सन्निधि और घी, तेल आदि चिरकाल तक न बिगडने वाले पदार्थों के सग्रह को सचय कहा है।[5]

'पक्खी पत्त समादाय निरवेक्खो परिव्वए' : दो व्याख्याएँ—(१) चूर्णि के अनुसार—जैसे पक्षी अपने पत्र—(पखो) को साथ लिए हुए उडता है, उसे पीछे की कोई अपेक्षा—चिन्ता नही होती, वैसे

---

१ (क) उत्तरा चूर्णि ११५ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६८-२६९ (ग) उत्त टीका, अ रा. कोष, भा ३, पृ २७३

२ सुखबोधा (आचार्य नेमिचन्द्रकृत), पत्र ११३-११४

३. (क) उत्त चूर्णि, पृ १५४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६८

(ग) पुढवि १ जल २ जलण ३ वाऊ ७ मूला ५ खध ६ ग्ग ७ पोरबीया य ८।
बि ९ ति १० चउ ११ पचिदिय-तिरि १२ नारया १३ देवसघाया १४ ॥१॥
सम्मुच्छिम १५ कम्माकम्मगा य १६-१७ मणुआ तहतरद्दीवा य १८।
भावदिसादिस्सइ ज, ससारी नियमे आहिं ॥२॥ —अ रा कोष ३।७५२

४ (क) 'असण-पाण-खाइम-साइमेण ' पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।' —उपासकदसा २

(ख) उत्तरा चूर्णि., पृ. १५५ 'पिण्डग्रहणात् त्रिविध आहार।'

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ 'पिण्डस्य—ओदनादेरन्नस्य, पानस्य च'—आयामादे खाद्य-स्वाद्यानुपादान च यते प्रायस्तत् परिभोगासम्भवात्।

(घ) 'खाद्य-स्वाद्ययोरुत्सर्गतो यतीनामयोग्यत्वात् पानभोजनयोर्ग्रहणम्।' —स्थानाग. ५।६६३, वृत्ति ४४५

(ड) सुखबोधा, पत्र ११४

५ (क) सन्निधि—प्रातरिद भविष्यतीत्याद्यभिसन्धितोऽतिरिक्ताऽन्नादि-स्थापनम्।

(ख) निशीथचूर्णि, उद्देशक ८, सू १८ (ग) उत्तरा टीका, अ रा कोष, भा ३, पृ ७५२

ही साधु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहाँ जाए वहाँ साथ में ले जाए, कहीं रखे नहीं; तात्पर्य यह है कि पीछे की चिन्ता से मुक्त—निरपेक्ष होकर विहार करे। (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—पक्षी दूसरे दिन के लिए सग्रह न करके निरपेक्ष होकर उड जाता है, वैसे ही भिक्षु निरपेक्ष होकर रहे और सयमनिर्वाह के लिए पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे—मधुकरवृत्ति से निर्वाह करे, सग्रह की अपेक्षा न रखे—चिन्ता न करे।[1]

इन प्रमादों से बचे—प्रस्तुत गाथा ११ से १६ तक मे निम्नोक्त प्रमादो से बचने का निर्देश है—(१) शरीर और उसके रूप-रग आदि पर मन-वचन-काया से आसक्त न हो, शरीरासक्ति प्रमाद है। शरीरासक्ति से मनुष्य अनेक पापकर्म करता है और विविध योनियो मे परिभ्रमण करता है, यह लक्ष्य रख कर सदैव अप्रमत्त रहे। (२) शरीर से ऊपर उठ कर मोक्षलक्ष्यी या आत्मलक्ष्यी रहे, शारीरिक विषयाकाक्षा न रखे, अन्यथा प्रमादलिप्त हो जाएगा। (३) मिथ्यात्वादि कर्मबन्धन के कारणो से बचे, जब भी कर्मबन्धन काटने का अवसर आए, न चूके। (४) सयमयात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार उचित मात्रा मे आहार ग्रहण-सेवन करे, अनावश्यक तथा अधिक मात्रा मे आहार का ग्रहण-सेवन करना प्रमाद है। (५) सग्रह करके रखना प्रमाद है, अत. लेशमात्र भी सग्रह न रखे, पक्षी की तरह निरपेक्ष रहे। जब भी आहार की आवश्यकता हो तब भिक्षापात्र लेकर गृहस्थो से निर्दोष आहार ग्रहण करे। (६) ग्राम, नगर आदि मे नियत निवास करके प्रतिबद्ध होकर रहना प्रमाद है, अत नियत निवासरहित अप्रतिबद्ध होकर विहार करे। (७) सयममर्यादा को तोडना निर्लज्जता—प्रमाद है, अत. साधु लज्जावान् (सयममर्यादावान्) रहकर अप्रमत्त होकर विचरण करे।[2]

अप्रमत्तशिरोमणि भगवान् महावीर द्वारा कथित अप्रमादोपदेश

१८. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ —त्ति बेमि।

[१८] इस प्रकार (क्षुल्लक निर्ग्रन्थो के लिए अप्रमाद का उपदेश) अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शनधारक, अर्हन्-व्याख्याता, ज्ञातपुत्र, वैशालिक (तीर्थंकर) भगवान् (महावीर) ने कहा है। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—अरहा . दो रूप दो अर्थ—(१) **अर्हन्**=त्रिलोकपूज्य, इन्द्रादि द्वारा पूजनीय, (२) **अरहा**=रह का अर्थ है—गुप्त—छिपा हुआ। जिनसे कोई भी बात गुप्त—छिपी हुई नही है, वे अरह कहलाते हैं।[3]

---

१. (क) 'यथाऽसौ पक्षी त पत्रभार समादाय गच्छति, एवमुपकरण भिक्षुरादाय णिरवेक्खो परिव्वए।'
—उत्तरा. चूर्णि पृ. १५६

(ख) 'पक्षीव निरपेक्ष, पात्र पतद्ग्रहादिभाजनमर्थात् तन्निर्योग च समादाय व्रजेत्—भिक्षार्थं पर्यटेत्। इदमुक्त भवति—मधुकरवृत्त्या हि तस्य निर्वहण, तत्कि तस्य सन्निधिना ?' —बृहद्वृत्ति, पत्र २७०

२. उत्तराध्ययन मूल, गा. १२ से १६ तक का निष्कर्ष

३ (क) उत्तरा टीका, अ रा. कोष ३।७५२ (ख) आवश्यकसूत्र

नायपुत्ते—ज्ञातपुत्र : तीन अर्थ—(१) ज्ञात—उदार क्षत्रिय का पुत्र, (२) ज्ञातवंशीय-क्षत्रिय-पुत्र, (३) ज्ञात—प्रसिद्ध सिद्धार्थ क्षत्रिय का पुत्र।[1]

वेसालिए—पाच रूप : छह अर्थ —(१) **वैशालीय**—जिसके विशाल गुण हों, (२) **वैशालिय**—विशाल इक्ष्वाकुवश मे उत्पन्न, (३) **वैशालिक**—जिसके शिष्य, तीर्थ (शासन) तथा यश आदि गुण विशाल हों, अथवा वैशाली जिसकी माता हो वह, (४) **विशालीय**—विशाला—त्रिशला का पुत्र। (५) **विशालिक**—जिसका प्रवचन विशाल हो।[2]

॥ क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय : षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

□□

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७० (ख) उत्तरा. चूर्णि पृ १५६
   (ग) सुखबोधा, पत्र ११५ (घ) उत्तरा टीका, अ रा कोष ३।७५२

२. (क) उत्तरा. चूर्णि, १५६-१५७—वैशाली जननी यस्य, विशाल कुलमेव च।
   विशाल वचन चास्य तेन वैशालिको जिन·॥
   (ख) उत्तरा. टीका, अ रा. कोष ३।७५२

सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन के प्रारम्भ मे कथित 'उरभ्र' (मेढे) के दृष्टान्त के आधार से प्रस्तुत अध्ययन का नाम उरभ्रीय है। समवायागसूत्र मे इसका नाम 'एलकीय' है। मूलपाठ मे भी 'एलय' शब्द का प्रयोग हुआ है, अत 'एलक' और 'उरभ्र' ये दोनो पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं।[1]

* श्रमणसस्कृति का मूलाधार कामभोगो के प्रति अनासक्ति है। जो व्यक्ति कामभोगो—पचेन्द्रिय-विषयो मे प्रलुब्ध हो जाता है, विषय-वासना के क्षणिक सुखो के पीछे परिणाम मे छिपे हुए महादु.खो का विचार नही करता, केवल वर्तमानदर्शी बन कर मनुष्यजन्म को खो देता है, वह मनुष्यभवरूपी मूलधन को तो गवाता ही है, उससे पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप हो सकने वाले लाभ से भी हाथ धो बैठता है, प्रत्युत अज्ञान एव मोह के वश विषयसुखो मे तल्लीन एव हिसादि पापकर्मों मे रत होकर मूलधन के नाश से नरक और तिर्यञ्च गति का मेहमान बनता है। इसके विपरीत जो दूरदर्शी बन कर क्षणिक विषयभोगो की आसक्ति मे नही फसता, अणुव्रतो या महाव्रतो का पालन करता है, सयम, नियम, तप मे रत और परीषहादिसहिष्णु है, वह देवगति को प्राप्त करता है। अत गहन तत्त्वो को समझाने के लिए इस अध्ययन मे पाच दृष्टान्त प्रस्तुत किये गए हैं—

* १ क्षणिक सुखो—विशेषत रसगृद्धि मे फसने वाले साधक के लिए मेढे का दृष्टान्त— एक धनिक एक मेमने (भेड के बच्चे) को बहुत अच्छा-अच्छा आहार खिलाता। इससे मेमना कुछ ही दिनो मे हृष्ट-पुष्ट हो गया। इस धनिक ने एक गाय और बछडा भी पाल रखे थे। परन्तु वह गाय, बछडे को सिर्फ सूखा घास खिलाता था। एक दिन बछडे ने मालिक के व्यवहार मे पक्ष-पात की शिकायत अपनी मा (गाय) से की—'मा! मालिक मेमने को बहुत सरस स्वादिष्ठ आहार खाने-पीने को देता है और हमे केवल सूखा घास। ऐसा अन्तर क्यो?' गाय ने बछडे को समझाया—'बेटा! जिसकी मृत्यु निकट है, उसे मनोज्ञ एव सरस आहार खिलाया जाता है। थोडे दिनो मे ही तू देखना मेमने का क्या हाल होता है? हम सूखा घास खाते है, इसलिए दीर्घजीवी है।'[2] कुछ ही दिनो बाद एक दिन भयानक दृश्य देखकर बछडा काप उठा और अपनी मा से बोला—'मा! आज तो मालिक ने मेहमान के स्वागत मे मेमने को काट दिया है! क्या मै भी इसी तरह मार दिया जाऊगा?' गाय ने कहा—'नही, बेटा! जो स्वाद मे लुब्ध होता है, उसे इसी प्रकार का फल भोगना पडता है, जो सूखा घास खाकर जीता है, उसे ऐसा दु ख नही भोगना पडता।'

जो मनोज्ञ विषयसुखो मे आसक्त होकर हिंसा, झूठ, चोरी, लूटपाट, ठगी, स्त्री और अन्य विषयो मे गृद्धि, महारम्भ, महापरिग्रह, सुरा-माससेवन, परदमन करता है, अपने शरीर को

---

१ उत्त निर्युक्ति, गा. २४६   २ बृहद्वृत्ति, पत्र २७२-२७५

ही मोटाताजा बनाने मे लगा रहता है, उसकी भी दशा उस मेमने की-सी ही होती है। कामभोगासक्ति अन्तिम समय में पश्चात्तापकारिणी और घोर कर्मबन्ध के कारण नरक में ले जाने वाली होती है।

* अल्प सुखो के लिए दिव्य सुखो को हार जाने वाले के लिए दो दृष्टान्त—
(१) एक भिखारी ने माग-माग कर हजार कार्षापण (बीस काकिणी का एक कार्षापण) एकत्रित किए। उन्हे लेकर वह घर की ओर चला। रास्ते मे खाने-पीने की व्यवस्था के लिए एक कार्षापण को भुना कर काकिणियाँ रख ली। उनमे से वह खर्च करता जाता। जब उसके पास उनमे से एक काकिणी बची तो आगे चलते समय वह एक स्थान पर उसे भूल आया। कुछ दूर जाने पर उसे काकिणी याद आई तो अपने पास के कार्षापणो की नौली को कहीं गाड कर काकिणी को लेने वापस दौडा। लेकिन वहाँ उसे काकिणी नही मिली। जब निराश होकर वापिस लौटा तब तक कार्षापणो की नौली भी एक आदमी लेकर भाग गया। वह लुट गया। अपार पश्चात्ताप हुआ उसे। (२) चिकित्सक ने एक रोगी राजा को आम खाना कुपथ्यकारक बताया, एक दिन वह राजा मत्री के साथ वन-विहार करने गया। वहाँ आम के पेड देख कर उसका मन ललचा गया। वह वैद्य के सुझाव को भूलकर स्वादलोलुपतावश मंत्री के मना करने पर भी आम खा गया। आम खाते ही राजा की मृत्यु हो गई। क्षणिक स्वाद-सुख के लिए राजा ने अपना अमूल्य जीवन एव राज्य खो दिया।[1]

इसी प्रकार जो मनुष्य थोडे से सुख के लिए मानवीय कामभोगो मे आसक्त हो जाता है, वह काकिणी के लिए कार्षापणो को खो देने वाले तथा अल्प आम्रस्वादसुख के लिए जीवन एव राज्य को गँवा देने वाले राजा की तरह दीर्घकालीन दिव्य कामभोग-सुखो को हार जाता है।

* दिव्य कामभोगो के समक्ष मानवीय कामभोग तुच्छ और अल्पकालिक हैं। दिव्य कामभोग समुद्र के अपरिमेय जल के समान हैं, जबकि मानवीय कामभोग कुश की नोक पर टिके हुए जलबिन्दु के समान अल्प एवं क्षणिक हैं।

* मनुष्यभव मे सज्जनवत् प्रणधारी होना मनुष्यगतिरूप मूलधन की सुरक्षा है, व्रतधारी होकर देवगति पाना अतिरिक्त लाभ है और अज्ञानी-अव्रती रहना मूलधन को खोकर नरक-तिर्यञ्च-गति पाना है। इस पर तीन वणिक्पुत्रो का दृष्टान्त—पिता के आदेश से तीन वणिक्पुत्र व्यवसायार्थ विदेश गए। उनमे से एक बहुत धन कमा कर लौटा, दूसरा पुत्र मूल पू जी लेकर लौटा और तीसरा जो पू जी लेकर गया था, उसे भी खो आया।[2]

* अन्तिम गाथाओ मे कामभोगो से अनिवृत्ति और निवृत्ति का परिणाम तथा बालभाव को छोड कर पण्डितभाव को अपनाने का निर्देश किया गया है।

□□

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २७६-२७७

२. (क) वही, पत्र २७८-२७९

(ख) ओरब्भे य कागिणी अम्बए य ववहार सागरे चेव।
पचेए दिट्ठ ता उरब्भिज्जम्मि अज्झयणे॥ —उत्त निर्युक्ति, गा २४७।

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

उरब्भिज्जं : उरभ्रीय

क्षणिक विषयसुखों के विषय में अल्पजीवी परिपुष्ट मेंढे का रूपक

१. जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा पोसेज्जा वि सयंगणे ॥

[१] जैसे कोई (निर्दय मनुष्य) सभावित पाहुने के उद्देश्य से एक मेमने (भेड के बच्चे) का पोषण करता है। उसे चावल, मूग, उडद आदि खिलाता (देता) है और उसका पोषण भी अपने गृहागण मे करता है।

२. तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे आएसं परिकंखए ॥

[२] इससे (चावल आदि खिलाने से) वह मेमना पुष्ट, बलवान्, मोटा-ताजा और बडे पेट वाला हो जाता है। अब वह तृप्त और विशाल शरीर वाला मेमना आदेश (—पाहुने) की प्रतीक्षा करता है अर्थात् तभी तक जीवित है जब तक पाहुना न आए।

३. जाव न एइ आएसे ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तमि आएसे सीस छेत्तूण भुज्जई ॥

[३] जब तक (उस घर मे) पाहुना नही आता है, तब तक ही वह बेचारा दु खी होकर जीता है। बाद मे पाहुने के आने पर उसका सिर काट कर भक्षण कर लिया जाता है।

४. जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए।
एव बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउय ॥

[४] जैसे मेहमान के लिए प्रकल्पित (समीहित) वह मेमना वस्तुत मेहमान की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ (पापरत) अज्ञानी जीव भी वास्तव मे नरक के आयुष्य की प्रतीक्षा करता है।

विवेचन—आएस—जिसके आने पर घर के लोगो को उसके आतिथ्य के लिए आदेश (आज्ञा) दिया जाता है, उसे आदेश, अतिथि या पाहुना कहा जाता है। आएस के सस्कृत मे दो रूप होते है—'आदेश' और 'आवेश।' दोनो का अर्थ एक ही है।[1]

---

[1] (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १५८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२

जवसं—यवस के अर्थ—चूर्णि और वृत्ति मे इसका अर्थ किया गया है—मूग, उड़द आदि धान्य। शब्दकोष में अर्थ किया गया है—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य।[1]

परिवूढे—युद्धादि मे समर्थ, **जायमेए**—जिसकी चर्बी बढ़ गई है, अत. जो मोटाताजा हो गया है। **सयंगणे : दो रूप**—(१) स्वागणे—अपने घर के आगन मे, (२) विषयांगणे—इन्द्रिय-विषयों की गणना—चिन्तन करता हुआ।[2]

दुही : दो रूप : दो भावार्थ—(१) दु खी—समस्त सुखसाधनो का उपभोग करता हुआ भी वह हृष्टपुष्ट मेमना इसलिए दु खी है कि जैसे वध्य—मारे जाने वाले व्यक्ति को सुसज्जित करना, सवारना वस्तुतः उसे दु खी करना ही है, वैसे ही इस मेमने को अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना वस्तुत दु खप्रद ही हैं। (२) **अदुही-अदुःखी**—बृहद्‌वृत्ति मे 'सेऽदुही' मे अकार को लुप्त मानकर 'अदुही' की व्याख्या की गई है। वह मेमना (स्वय को) अदु खी-सुखी मान रहा था, क्योंकि उसे अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाये जाते थे तथा सभाला जाता था।

दु खी अर्थ ही यहाँ अधिक संगत है। इसके समर्थन मे निर्युक्ति की एक गाथा भी प्रस्तुत है—

आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कतणेहि लाढाहि एयं दीहाउलक्खणं॥

गौ ने अपने बछड़े से कहा—'वत्स! यह नदिक (—मेमना) जो खा रहा है, वह रोगी का चिह्न है। रोगी अन्तकाल मे जो कुछ पथ्य-कुपथ्य मागता है, वह उसे दे दिया जाता है, सूखे तिनको से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।[3]

नरकाकांक्षी एवं मरणकाल में शोकग्रस्त जीव की दशा—मेंढे के समान

५. हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे माई कण्हुहरे सढे॥

६. इत्थीविसयगिद्धे य महारंभ—परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे॥

७. अयकक्कर—भोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए॥

---

१ (क) 'यवसो मुद्‌माषादि'—बृहद्‌वृत्ति, पत्र २७२ (ख) सुखबोधा, पत्र ११६ (ग) चूर्णि, पृ १५८
(घ) पाइयसद्दमहण्णवो, पृ ४३९,

२ (क) बृहद्‌वृत्ति, पत्र २७२ (ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ १५८
(ग) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा २।८५२

३ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १५९ (ख) सुखबोधा, पत्र ११७
(ग) सेऽदुहित्ति अकार प्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदु खी सुखी सन्।
—बृहद्‌वृत्ति, पत्र २७३

[५-६-७] हिसक, अज्ञानी, मिथ्याभाषी, मार्ग मे लूटने वाला (लुटेरा), दूसरो की दी गई वस्तु को बीच मे ही हडपने वाला, चोर, मायावी, कुतोहर (कहाँ से धन-हरण करू ?, इसी उधेडबुन मे सदा लगा रहने वाला), शठ (धूर्त्त), स्त्री एव रूपादि विषयो मे गृद्ध, महारम्भी, महापरिग्रही, मदिरा और मास का उपभोग करने वाला, हृष्टपुष्ट, दूसरो को दबाने-सताने वाला, बकरे की तरह कर्कर शब्द करते हुए मासादि अभक्ष्य खाने वाला, मोटी तोद और अधिक रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाक्षा करता है, जिस प्रकार मेमना मेहमान की प्रतीक्षा करता है ।

८. आसण सयण जाणं वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा बहुं संचिणिया रय ।।

९. ततो कम्मगुरू जन्तू पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे मरणन्तमि सोयई ।।

[८-९] आसन, शयन, वाहन (यान), धन एव अन्य काम-भोगो को भोग कर, दु ख से बटोरा हुआ धन छोड कर बहुत कर्मरज सचित करके, केवल वर्तमान (या निकट) को ही देखने मे तत्पर, तथा कर्मों से भारी बना हुआ प्राणी मरणान्तकाल मे वैसे ही शोक करता है, जैसे कि मेहमान के आने पर मेमना करता है ।

१०. तओ आउपरिक्खीणे चुया देहा विहिसगा ।
आसुरिय दिसं बाला गच्छन्ति अवसा तम ।।

[१०] तत्पश्चात् विविध प्रकार से हिसा करने वाले बाल जीव, आयुष्य के परिक्षीण होने पर जब शरीर से पृथक् (च्युत) होते है, तब वे (कृतकर्मों से) विवश हो कर अन्धकारपूर्ण आसुरी दिशा (नरक) की ओर जाते है ।

विवेचन—कण्हुहरे-कन्नुहरे : दो रूप : दो अर्थ—(१) कुतोहर —किससे या कहाँ से द्रव्य का हरण करू ? अथवा (२) कन्नुहर —किसके द्रव्य का हरण करू ? सदा इस प्रकार के दुष्ट अध्यवसाय वाला ।[1]

'आउयं नरए कखे' का आशय—नरक के आयुष्य की आकाक्षा करता है, इसका आशय है—जिनसे नरकायुष्य का बन्ध हो, ऐसे पापकर्म करता है ।[2]

दुःस्साहडं धण हिच्चा—दु सहृत धन चार अर्थ—(१) समुद्रतरण आदि विविध प्रकार के दु खो को सह कर इकट्ठे किये हुए धन को, (२) दु स्वाहृतम् धन—दूसरो को दु खी करके दु ख से स्वय उपार्जित धन, (३) दु सहृतम्—दुष्ट कार्य (जूआ, चोरी, व्यभिचारादि) करके उपार्जित धन, (४) अथवा दु ख से प्राप्त (मिला) हुआ धन । **हिच्चा**—हित्वा—**दो अर्थ**—(१) विविध भोगोपभोगो मे व्यय करके—छोड कर, अथवा (२) द्यूत आदि विविध दुर्व्यसनो मे खोकर । आचार्य नेमिचन्द्र ने इसी का समर्थक एक श्लोक उद्धृत किया है—

---

१ (क) उत्तरा टीका, अ र कोष, भा २।८५२ (ख) उत्तरज्झयणाणि अनुवाद (मु नथमलजी) अ ७, पृ ९४
(ग) उत्तरा (गुजराती अनुवाद) पत्र २८३

२ (क) उत्तरा टीका, अ र कोष, भा २।८५२ (ख) उत्तरा (गुजराती अनुवाद) पृ २८३

द्यूतेन मद्येन पण्यांगनाभिः, तोयेन भूपेन हुताशनेन।
मलिम्लुचेनांऽशहरेण नाशं, नीयेत वित्तं क्व धने स्थिरत्वम् ?

जूआ, मद्यपान, वेश्यागमन, जल, राजा, अग्नि आदि के द्वारा आंशिक हरण होने से धन का नाश हो जाता है, फिर धन की स्थिरता कहाँ ?'[1]

पच्चुप्पण्णपरायणे—प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान मे परायण—निष्ठ। अर्थात्—**'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः'**—जितना इन्द्रियगोचर है, इतना ही यह लोक है। इस प्रकार का नास्तिकमतानुसारी परलोकनिरपेक्ष।[2]

अय इव = अय = अज शब्द अनेकार्थक—इसके बकरा, भेड, मेढा, पशु आदि नाना अर्थ होते है। यहाँ प्रसगानुसार इसका अर्थ—भेड या मेढा है, क्योकि इसके स्थान मे एडक और उरभ्र शब्द यहाँ प्रयुक्त हैं।[3]

आसुरियं दिसं—दो रूप : दो अर्थ—(१) असूर्य या असूरिक—जहाँ सूर्य न हो, ऐसा प्रदेश (दिशा)। जैसे कि ईशावास्योपनिषद् मे आत्महन्ता जनो को अन्धतमस् से आवृत असूर्य लोक मे जाना बताया गया है। (२) असुर अर्थात् रौद्रकर्म करने वाला। असुर की जो दिशा हो, उसे असुरीय कहते हैं। इसका तात्पर्यार्थ 'नरक' है, क्योकि नरक मे परमाधार्मिक असुर (नरकपाल) रहते है। नरक मे सूर्य न होने के कारण वह तमसाच्छन्न रहता है तथा वहाँ असुरो का निवास है, इसलिए आसुरिय दिस का भावार्थ 'नरक' ही ठीक है।[4]

अल्पकालिक सुखों के लिए दीर्घकालिक सुखों को हारने वाले के लिए दो दृष्टान्त

११. जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए॥

[११] जैसे एक (क्षुद्र) काकिणी के लिए मूर्ख मनुष्य हजार (कार्षापण) खो देता है और जैसे राजा अपथ्य रूप एक आम्रफल खा कर बदले मे राज्य को गँवा बैठता है, (वैसे ही जो व्यक्ति मनुष्य-सम्बन्धी भोगो मे लुब्ध हो जाता है, वह दिव्य भोगो को हार जाता है।)

१२. एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका (पू घासीलालजी म.) भा. २, पृ. २४२
 (ख) उत्तरा टीका, अ. रा. कोष, भा २।८५२ (ग) सुखबोधा, पत्र ११७

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५

३ (क) 'अज पशु, स चेह प्रक्रमादुरभ्र।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २७५
 (ख) 'पाइयसद्दमहण्णवो' मे देखें 'अय' शब्द, पृ. ६९

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १६१
 (ग) "असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
 तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः॥" —ईशावास्योपनिषद्

[१२] इसी प्रकार देवो के कामभोगो के समक्ष मनुष्यो के कामभोग उतने ही तुच्छ हैं, (जितने कि हजार कार्षापणो के समक्ष एक काकिणी और राज्य की अपेक्षा एक ग्राम ।) (क्योकि) देवो का आयुष्य और कामभोग मनुष्य के आयुष्य और भोगो से सहस्रगुणा अधिक हैं ।

१३. अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए ।।

[१३] 'प्रज्ञावान् साधक की देवलोक मे अनेक नयुत वर्ष (असख्यकाल) की स्थिति होती है',— यह जान कर भी दुर्बुद्धि (विषयो से पराजित मानव) सौ वर्ष से भी कम आयुष्यकाल मे उन दीर्घकालिक दिव्य सुखो को हार जाता है ।

विवेचन—ग्यारहवीं गाथा में दो दृष्टान्त—(१) एक काकिणी के लिए हजार कार्षापण को गँवा देना, (२) आम्रफलासक्त राजा के द्वारा जीवन और राज्य खो देना । इन दोनो दृष्टान्तो का साराश अध्ययनसार मे दिया गया है ।

कागिणीए— काकिणी शब्द के अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार—एक रुपये का ८० वाँ भाग, अथवा वीसोपग का चतुर्थ भाग । (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—बीस कौडियो की एक-एक काकिणी । (३) 'सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार—पण के चतुरश की काकिणी होती है । अर्थात् बीस मासो का एक पण होता है, तदनुसार ५ मासो की एक काकिणी (तौल के रूप मे) होती है । (४) कोश के अनुसार काकिणी का अर्थ कौडी अथवा २० कौडी के मूल्य का एक सिक्का है ।[1]

सहस्सं—सहस्रकार्षापण—सहस्र शब्द से चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार का अभिमत हजार कार्षापण उपलक्षित है । कार्षापण एक प्रकार का सिक्का था, जो उस युग मे चलता था । वह सोना, चादी, ताबा, तीनो धातुओ का होता था । स्वर्णकार्षापण १६ माशा का, रजतकार्षापण ३२ रत्ती का और ताम्रकार्षापण ८० रत्ती के जितने भार वाला होता था ।[2]

अणेगवासानउया— वर्षों के अनेक नयुत—नयुत एक सख्यावाचक शब्द है । वह पदार्थ की गणना मे और आयुष्यकाल की गणना मे प्रयुक्त होता है । यहाँ आयुष्यकाल की गणना की गई है । इसी कारण इसके पीछे वर्ष शब्द जोडना पडा । एक नयुत की वर्षसख्या ८४ लाख नयुताग है ।[3]

जीयंति—हार जाते हैं । **जाणि**—दिव्यसुखो को ।[4]

---

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १३१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२
(ग) A Sanskrit English Dictionary, P 267
(घ) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ २३५

२ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १६२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६ सहस्र —दशशतात्मक, कार्षापणानामिति गम्यते ।
(ग) M M Williams, Sanskrit English Dictionary, P 276

३. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र २७३ (ख) अनुयोगद्वारसूत्र

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २७७

तीन वणिकों का दृष्टान्त

१४. जहा य तिन्नि वाणिया मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ ॥
१५. एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह ॥

[१४-१५] जैसे तीन वणिक् मूलधन लेकर व्यापार के लिए निकले। उनमे से एक लाभ प्राप्त करता है, एक सिर्फ मूलधन को लेकर लौट आता है और एक वणिक् मूलधन को भी गँवा कर आता है। यह व्यवहार (-व्यापार) की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

१६. माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥

[१६] (यथा—) मनुष्यपर्याय की प्राप्ति मूलधन है। देवगति लाभरूप है। मनुष्यो को नरक और तिर्यञ्चगति प्राप्त होना, निश्चय ही मूल पूजी का नष्ट होना है।

१७. दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे ॥

[१७] बालजीव की दो प्रकार की गति होती है—(१) नरक और (२) तिर्यञ्च, जहाँ उसे वधमूलक कष्ट प्राप्त होता है, क्योकि वह लोलुपता और शठता (वचकता) के कारण देवत्व और मनुष्यत्व तो पहले ही हार चुका होता है।

१८. तओ जिए सइं होइ दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्धाए सुचिरादवि ॥

[१८] (नरक और तिर्यञ्च, इन) दो प्रकार की दुर्गति को प्राप्त (अज्ञानी जीव) (देव और मनुष्यगति को) सदा हारा हुआ (पराजित) ही होता है, (क्योकि भविष्य मे) दीर्घकाल तक उसका (पूर्वोक्त) दोनो दुर्गतियो से निकलना दुर्लभ है।

१९. एवं जियं सपेहाए तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसन्ति माणुसं जोणिमेन्ति जे ॥

[१९] इस प्रकार पराजित हुए बालजीव की सम्यक् प्रेक्षा (विचारणा) करके तथा बाल एवं पण्डित की तुलना करके जो मानुषी योनि मे आते हैं, वे मूलधन के साथ (लौटे हुए वणिक् की तरह) हैं।

२०. वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥

[२०] जो मनुष्य विविध परिणाम वाली शिक्षाओं से (युक्त होकर) घर में रहते हुए भी

सुव्रती है, वे मनुष्य-सम्बन्धी योनि को प्राप्त होते हैं, क्योकि प्राणी कर्मसत्य होते हैं, (अर्थात्—स्वकृत कर्मों का फल अवश्य पाते हैं।)

२१. जेसि तु विउला सिक्खा मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा अद्दीणा जन्ति देवयं॥

[२१] और जिनकी शिक्षाएँ (ग्रहण-आसेवनात्मिका) विपुल (सम्यक्त्वयुक्त अणुव्रत-महाव्रतादि विषयक होने से विस्तीर्ण) है, वे शीलवान् (देश-सर्वविरति-चारित्रवान्) एव उत्तरोत्तर गुणो से युक्त हैं, वे अदीन पुरुष मूलधनरूप मनुष्यत्व से आगे बढ कर देवत्व को प्राप्त होते है।

२२. एवमद्दीणव भिक्खुं अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं जिच्चमाणे न संविदे॥

[२२] इस प्रकार दैन्यरहित भिक्षु और गृहस्थ को (देवत्वप्राप्ति रूप लाभ से युक्त) जानकर कैसे कोई विवेकी पुरुष उक्त लाभ को हारेगा (खोएगा)? विषय-कषायादि से पराजित होता हुआ क्या वह नही जानता कि मै पराजित हो रहा हूँ (देवगतिरूप धनलाभ को हार रहा हूँ?)

विवेचन—वाणिक्पुत्रत्रय का दृष्टान्त—प्रस्तुत अध्ययन के अध्ययन-सार मे तीन वणिक् पुत्रो का दृष्टान्त सक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टान्त द्वारा मनुष्यत्व को मूलधन, देवत्व को लाभ और मनुष्यत्व रूप मूलधन खोने से नरक-तिर्यञ्चगति-रूप हानि का सकेत किया गया है।

ववहारे उवमा—यह उपमा व्यवहार—व्यापारविषयक है।

'मूल' का भावार्थ—जैसे मूल पूजी हो तो उससे व्यापार करने से उत्तरोत्तर लाभ मे वृद्धि की जा सकती है, वैसे ही मनुष्यगति (या मनुष्यत्व) रूप मूल पूजी हो तो उसके द्वारा पुरुषार्थ करने पर उत्तरोत्तर स्वर्ग-अपवर्गरूप लाभ की प्राप्ति की जा सकती है। परन्तु मनुष्यत्व गतिरूप मूल नष्ट होने पर तो वह मनुष्यत्व-देवत्व-अपवर्ग रूप लाभ खो देता है और नरक-तिर्यञ्च गतिरूप हानि ही उसके पल्ले पडती है।[1]

जं जिए लोलयासढे—क्योकि लोलता—जिह्वालोलुपता और शाठ्य-शठता (विश्वास उत्पन्न करके वचना करना—ठगना), इन दोनो के कारण वह मनुष्यगति-देवगति को तो हार ही चुका होता है। क्योकि मासाहारादि रसलोलुपता नरकगति के और वचना (माया) तिर्यञ्चगति के आयुष्य-बन्ध का कारण है।[2]

वहमूलिया—ये दोनो गतियाँ वधमूलिका है। वधमूलिका के दो अर्थ—(१) वध शब्द से उपलक्षण से महारम्भ, महापरिग्रह, असत्यभाषण, माया आदि इनके मूल कारण है, इसलिए ये वध-मूलिका है। अथवा (२) वध-विनाश जिसके मूल—आदि मे है, वे वधमूलिका है। वध शब्द से छेदन, भेदन, अतिभारारोपण आदि का ग्रहण होता है। वस्तुत नरक और तिर्यञ्चगति मे वध आदि आपत्तियाँ है।[3]

१ उत्तरा मूल अ ७ गा १५-१६,

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८० (ख) चूर्णि, पृ १६४ (ग) स्थानाग, स्था ४।४।३७३

३ बृहद्वृत्ति, पत्र २८१

उन्मज्जा-उन्मज्जा का भावार्थ—नरकगति एव तिर्यञ्चगति से भविष्य मे चिरकाल तक उन्मज्जा अर्थात्—निर्गमन—निकलना दुर्लभ—दुष्कर है। यह कथन प्रायिक है, क्योंकि कई लघुकर्मा तो नरक-तिर्यञ्चगति से निकल कर एक भव मे ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1]

सपेहाए-सम्प्रेक्ष्य, तुलिया-तोलयित्वा—तात्पर्य—इस प्रकार लोलुपता और वचना से देवत्व और मनुष्यत्व को हारे हुए बालजीव को सम्यक् प्रकार से देख—विचार करके तथा नरक-तर्यञ्च-गतिगामी बालजीव को एव इसके विपरीत मनुष्य-देवगतिगामी पण्डित को गुणदोषवत्ता की दृष्टि से बुद्धि की तुला पर तोल कर।[2]

"वेमायाहिं सिक्खाहिं ....."—विमात्रा शिक्षा का अर्थ यहाँ विविध-मात्राओ अर्थात् परिमाणो वाली शिक्षाएँ हैं। जैसे किसी गृहस्थ का प्रकृतिभद्रता आदि का अभ्यास कम होता है, किसी का अधिक और किसी का अधिकतर होता है। इस तरह विविध तरतमताओं (डिग्रियो) मे मानवीय गुणो के अभ्यास, शिक्षाओ से। शिक्षा का यह अर्थ शान्त्याचार्य ने किया है। चूर्णि मे शिक्षा का अर्थ 'शास्त्रकलाओ मे कौशल' किया गया है।[3]

गिहिसुव्वया : 'गृहिसुव्रता'—शब्द के तीन अर्थ—(१) गृहस्थो के सत्पुरुषोचित व्रतो—गुणो से युक्त, (२) गृहस्थ सज्जनो के प्रकृतिभद्रता, प्रकृतिविनीतता, सानुक्रोशता (सदयहृदयता) एव अमत्सरता आदि व्रतो-प्रतिज्ञाओ को धारण करने वाले, (३) गृहस्थो मे सुव्रत अर्थात् ब्रह्मचरण-शील। इन तीनो अर्थों मे से दूसरा अर्थ यहाँ अधिक सगत है, क्योकि यहाँ व्रत शब्द आगमोक्त बारह व्रतो के अर्थ मे प्रयुक्त नही है। उन अणुव्रतादि का धारक गृहस्थ श्रमणोपासक देवगति (वैमानिक) मे अवश्य उत्पन्न होता है। प्रस्तुत गाथा मे सुव्रती की उत्पत्ति मनुष्ययोनि मे बताई गई है। इसलिए यहाँ 'व्रत' का अर्थ प्रकृतिभद्रता आदि गृहस्थपुरुषोचित व्रत—प्रण (प्रतिज्ञा) है। बृहद्-वृत्तिकार ने यहाँ नीतिशास्त्रोक्त सज्जनो के व्रत उद्धृत किये है—

> **"विपद्युच्चैः धैर्यं, पदमनुविधेयं हि महताम्।**
> **प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम्॥**
> **असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।**
> **सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥"**

विपत्ति मे उच्च गम्भीरता-धीरता तथा महान् व्यक्तियो का पदानुसरण, जिसे न्याययुक्त वृत्ति प्रिय है, प्राण जाने पर भी नियम या व्रत मे मलिनता जिसके लिए दुष्कर है, दुर्जन से किसी प्रकार की प्रार्थना-याचना न करना, निर्धन मित्र से भी याचना न करना। न जाने, सज्जनो को यह विषम असिधाराव्रत किसने बताया है ? यहाँ 'गृहिसुव्रता' पद की व्याख्या को देखते हुए व्रत से ३५ मार्गानुसारी गुण सूचित होते है।[4]

---

१ बृहद्वृत्ति पत्र २८१ २ वही, पत्र २८१

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ (ख) 'शिक्षा नाम शास्त्रकलासु कौशलम्।' —उत्त चूर्णि, पृ १६५

४ (क) बृहद्वृत्ति पत्र २८१ 'सुव्रताश्च धृतसत्पुरुषव्रता', ते हि प्रकृतिभद्रताद्यभ्यासानुभावत एव। आगमविहितव्रतधारण त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुत्वेन तदभिधानात्।

(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवो मणुस्सताते कम्म पगरेति, त —पगतिभद्दयाए, पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। —स्थानाग, स्था ४।४।३७३ (ग) 'ब्रह्मचरणशीला सुव्रता'—उत्त चूर्णि, पृ १६५

कम्मसच्चा हु पाणिणो—की पाच व्याख्याएँ—(१) जीव के जैसे कर्म होते हैं, तदनुसार ही उन्हे गति मिलती है। इसलिए प्राणी वास्तव में कर्मसत्य है। (२) जीव जो कर्म करते हैं, उन्हे भोगना ही पडता है। बिना भोगे छुटकारा नही, अत 'जीवो को कर्मसत्य' कहा है। (३) जिनके कर्म—(मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियाँ) सत्य—अविसवादी होते है, वे कर्मसत्य कहलाते हैं। (४) अथवा जिनके कर्म अवश्य ही फल देने वाले होते है, वे कर्मसत्य कहलाते है। (५) अथवा कर्मसक्ता रूपान्तर मान कर अर्थ किया है—ससारी जीव कर्मों मे अर्थात् मनुष्यगतियोग्य क्रियाओ मे सक्त-आसक्त हैं। अतएव वे कर्मसक्त हैं।[1]

विउला सिक्खा-विपुल-शिक्षा : यहाँ शिक्षा का अर्थ किया है—ग्रहणरूप और आसेवनरूप शिक्षा-अभ्यास। ग्रहण का अर्थ है—शास्त्रीय सिद्धान्तो का अध्ययन करना—जानना और आसेवन का अर्थ है—ज्ञात आचार-विचारो को क्रियान्वित करना। इन्हे सैद्धान्तिक प्रशिक्षण और प्रायोगिक कह सकते है। सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना आसेवन सम्यक् नही होता और आसेवन के बिना सैद्धान्तिक ज्ञान सफल नही होता। इसलिए ग्रहण और आसेवन, दोनो शिक्षा को पूर्ण बनाते हैं। ऐसी शिक्षा विपुल-विस्तीर्ण तब कहलाती है, जब वह सम्यग्दर्शनयुक्त अणुव्रत-महाव्रतादिविषयक हो।[2]

सीलवंता—अविरत सम्यग्दृष्टि वाले तथा विरतिमान-देश-सर्वविरतिरूप चारित्रवान् शील-वान् कहलाते है। आशय यह है—शीलवान् के अपेक्षा से तीन अर्थ होते है—अविरतिसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से सदाचारी, विरताविरत की अपेक्षा से अणुव्रती और सर्वविरत की अपेक्षा से महाव्रती।

सविसेसा—उत्तरोत्तर गुणप्रतिपत्तिरूप विशेषताओ से युक्त।[3]

अदीणा—परीषह और उपसर्ग आदि के आने पर दीनता-कायरता न दिखाने वाले, हीनता की भावना मन मे न लाने वाले, पराक्रमी।[4]

मूलियं—मौलिक—मूल मे होने वाले मनुष्यत्व का। **अइच्छिया**—अतिक्रमण करके। निष्कर्ष—विपुल शिक्षा एव शास्त्रोक्त व्रतधारी अदीन गृहस्थ श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी ही देवगति को प्राप्त करते हैं। वास्तव मे मुक्तिगति का लाभ ही परम लाभ है, परन्तु सूत्र त्रिकालविषयक होते हैं। इस समय विशिष्ट सहनन के अभाव मे मुक्ति पुरुषार्थ का अभाव है, इसलिए देवगति का लाभ ही यहाँ बताना अभीष्ट है।[5]

मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों की दिव्य कामभोगों के साथ तुलना

२३. जहा कुसग्गे उदगं समुद्दे ण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ (ख) उत्त चूर्णि, पृ १६५ (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१

२ (क) 'शिक्षा ग्रहणाऽऽसेवनात्मिका' —सुखबोधा, पत्र १२२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८२

३ बृहद्वृत्ति, पत्र २८२

४ वही, पत्र २८२

५ वही, पत्र २८२

[२३] देवों के कामभोगों के समक्ष मनुष्यसम्बन्धी कामभोग वैसे ही क्षुद्र हैं, जैसे कुश (डाभ) के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु समुद्र की तुलना मे क्षुद्र है।

२४. कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ? ॥

[२४] मनुष्यभव की इस अतिसंक्षिप्त आयु मे ये कामभोग कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु-जितने हैं। (फिर भी अज्ञानी) क्यो (किस कारण से) अपने लिए लाभप्रद योग-क्षेम को नही समझता!

२५. इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं जं भुज्जो परिभस्सई ॥

[२५] यहाँ (मनुष्यजन्म मे) (या जिनशासन मे) कामभोगो से निवृत्त न होने वाले का आत्मार्थ (—आत्मा का प्रयोजन) विनष्ट हो जाता है। क्योकि न्याययुक्त मार्ग को सुनकर (स्वीकार करके) भी (भारी कर्म वाला मनुष्य) उससे परिभ्रष्ट हो जाता है।

२६. इह कामणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेह-निरोहेणं भवे देवे त्ति मे सुयं ॥

[२६] इस मनुष्यभव मे कामभोगो से निवृत्त होने वाले का आत्मार्थ नष्ट (सापराध) नही होता, क्योकि वह (लघुकर्मा होने से) पूति-दुर्गन्धियुक्त (अशुचि) औदारिकशरीर का निरोध कर (छोडकर) देव होता है। ऐसा मैने सुना है।

२७. इड्ढी जुई जसो वण्णो आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु तत्थ से उववज्जई ॥

[२७] (देवलोक से च्यव कर) वह जीव, जहाँ श्रेष्ठ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण (प्रशसा), (दीर्घ) आयु और (प्रचुर) सुख होते है, उन मनुष्यो (मानवकुलो) मे पुन उत्पन्न होता है।

विवेचन—'अत्तट्ठे अवरज्झइ नावरज्झइ—भावार्थ—जो मनुष्यजन्म मिलने पर भी कामभोगो से निवृत्त नही होता, उसका आत्मार्थ—आत्मप्रयोजन स्वर्गादि, अपराधी हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। अथवा आत्मरूप अर्थ-धन सापराध हो जाता है, आत्मा से जो अर्थ सिद्ध करना चाहता है, वह सदोष बन जाता है। किन्तु जो कामनिवृत्त होता है, उसका आत्मार्थ-स्वर्गादि सापराध नही होता, अर्थात् भ्रष्ट नही होता। अथवा आत्मरूप अर्थ-धन, नष्ट नही होता, बिगडता नही।[1]

पूइदेह का भावार्थ—औदारिकशरीर अशुचि है, क्योकि यह हड्डी, मांस, रक्त आदि से युक्त स्थूल एवं घृणित, दुर्गन्धयुक्त होता है।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २८२
२ वही, पत्र २८२

'इड्ढी ' ' सुहं च' के अर्थ—ऋद्धि—स्वर्णादि, द्युति—शरीरकांति, यश-पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि, वर्ण—गाम्भीर्य आदि गुणो के कारण होने वाली प्रशसा, सुख-यथेष्ट विषय की प्राप्ति होने से हुआ आह्लाद ।[1]

बाल और पण्डित का दर्शन तथा पण्डितभाव स्वीकार करने की प्रेरणा

२८. बालस्स पस्स बालत्त अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे नरए उववज्जई ॥

[२८] बाल जीव के बालत्व (अज्ञानता) को तो देखो ! वह अधर्म को स्वीकार कर एव धर्म का त्याग करके अधर्मिष्ठ बन कर नरक मे उत्पन्न होता है ।

२९. धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई ॥

[२९] समस्त धर्मों का अनुवर्त्तन-पालन करने वाले धीरपुरुष के धैर्य को देखो । वह अधर्म का त्याग करके धर्मिष्ठ बन कर देवो मे उत्पन्न होता है ।

३०. तुलियाण बालभावं अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं अबालं सेवए मुणी ॥
—त्ति बेमि ।

[३०] पण्डित (विवेकशील) साधक बालभाव और अबाल (—पण्डित) भाव की तुलना (—गुण-दोष की सम्यक् समीक्षा) करके बालभाव को छोड कर अबालभाव को अपनाता है ।
—ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—अहम्मं—धर्म के विपक्ष विषयासाक्तिरूप अधर्म को, **धम्मं**—विषयनिवृत्तिरूप सदाचार धर्म को । **धीरस्स**—बुद्धि से सुशोभित, धैर्यवान्, अथवा परीषहो से अक्षुब्ध । **सव्वधम्माणुवत्तिणो**--क्षमा, मार्दव आदि सभी धर्मों के अनुरूप आचरण करने वाला ।[2]

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) सुखबोधा, पत्र १२३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २८३

अष्टम अध्ययन : कापिलीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'कापिलीय' है। नाम दो प्रकार से रखे जाते है—(१) निर्देश्य—विषय के आधार पर और (२) निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का निर्देशक 'कपिल' है, इसलिए इसका नाम 'कापिलीय' रखा गया। बृहद्वृत्ति के अनुसार—मुनि कपिल के द्वारा यह अध्ययन गाया गया था, इसलिए भी इसे 'कापिलीय' कहा जाता है। सूत्रकृताग-चूर्णि मे इस अध्ययन को गेय माना गया है।[1]

* अनुश्रुति ऐसी है कि एक बार कपिल मुनि श्रावस्ती से विहार करके जा रहे थे। मार्ग मे महारण्य मे उन्हे बलभद्र आदि चोरो ने घेर लिया। चोरो के अधिपति ने इन्हे श्रमण समझ कर कहा—'श्रमण ! कुछ गाओ।' कपिल मुनि ने उन्हे सुलभबोधि समझ कर गायन प्रारम्भ किया—'**अधुवे असासयंमि** ......।' यह ध्रुवपद था।[2] प्रथम कपिल मुनि गाते, तत्पश्चात् चोर उनका अनुसरण करके तालिया पीट कर गाते। कई चोर प्रथम गाथा सुनते ही प्रबुद्ध हो गए, कई दूसरी, तीसरी, चौथी आदि गाथा सुनकर। इस प्रकार पूरा अध्ययन सुनकर वे ५०० ही चोर प्रतिबुद्ध हो गए। कपिल मुनिवर ने उन्हे दीक्षा दी। प्रस्तुत समग्र अध्ययन मे प्रथम जिज्ञासा का उत्थान एव तत्पश्चात् कपिल मुनि का ही उपदेश है।

* प्रसगवश इस अध्ययन मे पूर्वसम्बन्धो के प्रति आसक्तित्याग का, ग्रन्थ, कलह, कामभोग, जीवहिसा, रसलोलुपता के त्याग का, एषणाशुद्ध प्राप्त आहारसेवन का तथा लक्षणादि शास्त्र-प्रयोग, लोभवृत्ति एव स्त्री-आसक्ति के त्याग का एव ससार की असारता का विशद उपदेश दिया गया है।

* लोभवृत्ति के विषय मे तो कपिल मुनि ने संक्षेप मे स्वानुभव प्रकाशित किया है। कथा का उद्गम सक्षेप मे इस प्रकार है—

अनेक विद्याओ का पारगामी काश्यप ब्राह्मण कौशाम्बी नगरी के राजा प्रसेनजित का सम्मानित राजपुरोहित था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। कपिल उस समय अल्पवयस्क एव अपठित था। इसलिए राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे पण्डित की नियुक्ति कर दी। कपिल ने एक दिन विधवा माता यशा को रोते देख रोने का कारण पूछा तो उसने कहा—'पुत्र ! एक समय था, जब तेरे पिता इसी प्रकार के ठाठ-बाठ से राजसभा मे जाते थे। वे

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८९ (ख) सूत्रकृतागचूर्णि, पृ. ७
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति गा १४१, वृत्ति—'**निर्देशकवशाज्जिनवचन कापिलीयम्**'

२. ज गिज्जइ पुव्व चिय, पुण-पुणो सव्वकव्वबधेसु। धुवयंति तमिह तिविह, छप्पाय चउपय दुपये।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र २८९

अनेक विद्याओं मे पारगत थे, राजा भी उनसे प्रभावित था। उनके निधन के बाद तेरे अविद्वान् होने के कारण वह स्थान दूसरे को दे दिया है।' कपिल ने कहा– 'मा ! मैं भी विद्या पढूंगा।' यशा—बेटा ! यहाँ के कोई भी ब्राह्मण तुझे विद्या नही पढायेंगे, क्योकि सभी ईर्ष्यालु है। यदि तू विद्या पढना चाहता है तो श्रावस्ती मे तू अपने पिता के घनिष्ट मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास चला जा। वे तुझे पढाएंगे।'

कपिल मा का आशीर्वाद लेकर श्रावस्ती चल पडा। वहाँ पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास पहुचा। उन्होंने जब उसका परिचय एव आगमन का प्रयोजन पूछा तो कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया। इससे प्रभावित होकर इन्द्रदत्त ने उसके भोजन की व्यवस्था वहाँ के शालिभद्र वणिक् के यहाँ करा दी। विद्याध्ययन के लिए वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास रहता और भोजन के लिए प्रतिदिन शालिभद्र श्रेष्ठी के यहाँ जाता। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी, जो कपिल को भोजन कराती थी। धीरे-धीरे दोनो का परिचय बढा और अन्त मे, वह प्रेम के रूप मे परिणत हो गया। एक दिन दासी ने कपिल से कहा—'तुम मेरे सर्वस्व हो। किन्तु तुम्हारे पास कुछ भी नही है। मै निर्वाह के लिए इस सेठ के यहाँ रह रही हूँ, अन्यथा, हम स्वतत्रता से रहते।'

दिन बीते। एक बार श्रावस्ती मे विशाल जनमहोत्सव होने वाला था। दासी की प्रबल इच्छा थी उसमे जाने की। परन्तु कपिल के पास महोत्सव-योग्य कुछ भी धन या साधन नही था। दासी ने उसे बताया कि अधीर मत बनो ! इस नगरी का धनसेठ प्रात काल सर्व-प्रथम बधाई देने वाले को दो माशा सोना देता है। कपिल सबसे पहले पहुचने के इरादे से मध्यरात्रि मे ही घर से चल पडा। नगररक्षकों ने उसे चोर समझकर पकड लिया और प्रसेनजित राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उससे रात्रि मे अकेले घूमने का कारण पूछा तो उसने स्पष्ट बता दिया। राजा ने कपिल की सरलता और स्पष्टवादिता पर प्रसन्न हो कर उसे मनचाहा मागने के लिए कहा। कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर निकटवर्ती अशोकवनिका मे चला गया। कपिल का चिन्तन-प्रवाह दो माशा सोने से क्रमश आगे बढते-बढते करोडो स्वर्णमुद्राओं तक पहुच गया। फिर भी उसे सन्तोष नही था। वह कुछ निश्चित नही कर पा रहा था। अन्त मे उसकी चिन्तनधारा ने नया मोड लिया। लोभ की पराकाष्ठा सन्तोष मे परिणत हो गई। जातिस्मरणज्ञान पाकर वह स्वयबुद्ध हो गया। मुख पर त्याग का तेज लिए वह राजा के पास पहुचा और बोला 'राजन् ! अब आपसे कुछ भी लेने की आकाक्षा नही रही। जो पाना था, मैंने पा लिया. सतोष, त्याग और अनाकाक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया है।' राजा के सान्निध्य से निर्ग्रन्थ होकर वह दूर वन मे चला गया। साधना चलती रही। ६ मास तक वे मुनि छद्मस्थ अवस्था मे रहे।

कपिल मुनि का चोरो को दिया गया गेय उपदेश ही इस अध्ययन मे सकलित है।

□□

अट्ठमं अज्झयणं : अष्टम अध्ययन

काविलीयं : कापिलीय

दुःखबहुल संसार में दुर्गतिनिवारक अनुष्ठान की जिज्ञासा

१. अधुवे असासयंमि ससारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज त कम्मयं जेणाऽहं दोग्गइ न गच्छेज्जा ॥

[१] 'अध्रुव, अशाश्वत और दु खप्रचुर (दु खो से परिपूर्ण) ससार मे वह कौन-सा कर्म (-अनुष्ठान) है, जिसके कारण मैं (नरकादि) दुर्गति मे न जाऊँ ?'

विवेचन—अधुवे असासयंमि दुक्खपउराए: अर्थ—ध्रुव का अर्थ है—एक स्थान मे प्रतिबद्ध—अचल, जो ध्रुव नही है, अर्थात्—जिसमे ऊँच-नीच स्थानो (गतियो एव योनियो) मे जीव भ्रमण करता है, वह अध्रुव है तथा **अशाश्वत**—जिसमे कोई भी वस्तु शाश्वत—नित्य नही है,—अर्थात् अविनाशी नही है, वह अशाश्वत है। **दु.खप्रचुर**—जिसमे शारीरिक, मानसिक दुःख अथवा आधि-व्याधि-उपाधिरूप दु खो की प्रचुरता—अधिकता है। ये तीनो ससार के विशेषण है। (२) अथवा ये दोनो (अध्रुव और अशाश्वत) शब्द एकार्थक है। किन्तु इनमे पुनरुक्ति दोष नही है, क्योकि उपदेश मे या किसी अर्थ को विशेष रूप से कहने मे पुनरुक्ति दोष नही होता।[1]

कपिलमुनि द्वारा बलभद्रादि पांच सौ चोरों को अनासक्ति का उपदेश

२. विजहित्तु पुव्वसजोगं न सिणेह कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥

[२] पूर्व (आसक्तिमूलक)-सयोग (सम्बन्ध) को सर्वथा त्याग कर फिर किसी पर भी स्नेह (आसक्ति) न करे। स्नेह (राग या मोह) करने वालो के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषो (इहलोक मे मानसिक सतापादि) और प्रदोषो (परलोक मे नरकादि दुर्गतियो) से मुक्त हो जाता है।

३. तो नाण—दंसणसमग्गो हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

[३] केवलज्ञान और केवलदर्शन से सम्पन्न तथा मोहरहित कपिल मुनिवर ने (सर्वजीवो के तथा) उन (पाच सौ चोरो) के हित और कल्याण के लिए एवं विमोक्षण (अष्टविध कर्मों से मुक्त होने) के लिए कहा—

४. सव्वं गन्थ कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥

[४] (कर्मबन्धन के हेतुरूप) सभी ग्रन्थो (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थो-परिग्रहो) तथा कलह का

---

1. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८९ (ख) उत्तरा वृत्ति, अ. रा कोष, भा ३, पृ. ३८७

भिक्षु परित्याग करे। कामभोगो के सभी प्रकारो मे (दोष) देखता हुआ आत्मरक्षक (त्राता) मुनि उनमे लिप्त न हो।

५. भोगामिसदोसविसण्णे हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मन्दिए मूढे बज्झई मच्छिया व खेलम्मि॥

[५] आत्मा को दूषित करने वाले (शब्दादि-मनोज्ञ विषय-) भोग रूप आमिष मे निमग्न, हित और नि श्रेयस मे विपर्यस्त बुद्धि वाला, बाल (अज्ञ), मन्द और मूढ प्राणी कर्मों मे उसी तरह बद्ध हो जाता है, जैसे श्लेष्म (कफ) मे मक्खी।

६. दुपरिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू जे तरन्ति अतरं वणिया व॥

[६] ये काम-भोग दुस्त्याज्य है, अधीर पुरुषो के द्वारा ये आसानी से नही छोडे जाते। किन्तु जो निष्कलक व्रत वाले साधु है, वे दुस्तर कामभोगो को उसी प्रकार तैर जाते है, जैसे वणिक्जन (दुस्तर) समुद्र को (नौका आदि द्वारा तैर जाते है।)

विवेचन—पुव्वसजोगं : दो व्याख्या—(१) पूर्वसंयोग—ससार पहले होता है, मोक्ष पीछे, असयम पहले होता है, सयम बाद मे, ज्ञातिजन, धन आदि पहले होते है, इनका त्याग तत्पश्चात् किया जाता है, इन दृष्टियो से चूर्णि मे पूर्वसयोग का अर्थ—'ससारसम्बन्ध, असयम का सम्बन्ध और ज्ञाति आदि का सम्बन्ध' किया गया है। (२) बृहद्वृत्ति एव सुखबोधा मे पूर्वसयोग का अर्थ—'पूर्व-परिचित—माता-पिता आदि का तथा उपलक्षण से स्वजन-धन आदि का सयोग-सम्बन्ध' किया है।[1]

दोसपओसेहिं : दो व्याख्या—(१) दोष का अर्थ है—इहलोक मे मानसिक सताप आदि और प्रदोष का अर्थ है—परलोक मे नरकगति आदि, (२) दोष पदो से—अपराधस्थानो से। आशय यह है कि आसक्तिमुक्त साधु अतिचार रूप—दोषस्थानो से मुक्त हो जाता है।[2]

तेसिं विमोक्खणट्ठाए : तात्पर्य—पूर्वभव मे कपिल ने उन सभी चोरो के साथ सयम-पालन किया था, उनके साथ ऐसी वचनबद्धता थी कि समय आने पर हमे प्रतिबोध देना। अत केवली कपिल मुनिवर उनको कर्मों से विमुक्त करने (उनके मोक्ष) के लिए प्रवचन करते है।[3]

कलहं : दो अर्थ—(१) कलह—क्रोध, अथवा (२) कलह—भण्डन, अर्थात्—वाक्कलह, गाली देना और क्रोध करना। क्रोध कलह का कारण है इसलिए क्रोध को कलह कहा गया। पाश्चात्य विद्वानो ने कलह का अर्थ—झगडा, गालीगलौज, झूठ या धोखा, अथवा घृणा किया है।[4]

---

१ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १७१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९० (ग) सुखबोधा, पत्र १२६
२ (क) सुखबोधा, पत्र १२६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९०
३ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ १७१, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९०
४ (क) 'कलहहेतुत्वात् कलह क्रोधस्तम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २९१, सुखबोधा, पत्र १२६
(ख) 'कलाभ्यो हीयते येन स कलह —भण्डनम् इत्यर्थ।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ. १७१
(ग) Sacred Books of the East, Vol XLV Uttaradhyayana, P.33 (डॉ० हर्मन जेकोबी)
(घ) Sanskrit English Dictionary, P 261

ताई—दो रूप : तीन अर्थ (१-२) तायी-त्रायी—(१) दुर्गति से आत्मा की जो रक्षा (-त्राण) करता है, अथवा (२) जो षट्काय का त्राता-रक्षक है। (३) **तायी**—तादृक्—वैसा, उन (बुद्धादि) जैसा।[1]

भोगामिसदोसविसण्णे—आमिष शब्द : अनेक अर्थों में—(१) वर्तमान में 'आमिष' का अर्थ 'मांस' किया जाता है। (२) प्राचीन काल मे आसक्ति के हेतुभूत पदार्थों के अर्थ मे आमिष शब्द प्रयुक्त होता था। जैसे कि 'अनेकार्थकोष' मे आमिष के 'फल, सुन्दर आकार, रूप, सम्भोग, लोभ और लचा'—ये अर्थ मिलते हैं। पचासकप्रकरण मे आहार या फल आदि के अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है। बौद्धसाहित्य मे भोजन, विषयभोग आदि अर्थों मे 'आमिष' शब्द-प्रयोग हुआ है। यथा—आमिष-सविभाग, आमिषदान, आदि।[2]

बुद्धिवोच्चत्थे—अर्थ और भावार्थ—(१) हित और नि.श्रेयस मे जिसकी विपरीत-बुद्धि है। (२) हित और नि:श्रेयस मे अथवा हित और नि:श्रेयस सम्बन्धी बुद्धि—उनकी प्राप्ति की उपाय-विषयक मति हितनि·श्रेयसबुद्धि है। उसमे जो विपर्ययवान् है।[3]

बज्झइ—भावार्थ—बध जाता है अर्थात्—श्लिष्ट हो (चिपक) जाता है।

खेलंमि—तीन रूप : तीन अर्थ—(१) श्लेष्म—कफ, (२) क्ष्वेट या क्ष्वेद—चिकनाई—श्लेष्म, (३) क्ष्वेल—थूक (निष्ठीवन)।[4]

अधीरपुरिसेहिं—दो अर्थ—अधीर पुरुषो के द्वारा—(१) अबुद्धिमान् ·मनुष्यो के द्वारा, (२) असत्त्वशील पुरुषो द्वारा।[5]

सति सुव्वया—दो रूप : दो व्याख्या—(१) सन्ति सुव्रताः—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से अधिष्ठित होने से जिनके हिंसाविरमणादिव्रत शुभ या शुद्ध—निष्कलक है।

(२) शान्ति-सुव्रताः—शान्ति से उपलक्षित सुव्रत वाले।[6]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ख) उत्तराध्ययन (अंग्रेजी) पृ ३०७-३०८, पवित्र सन्त व्यक्ति आदि।
(ग) दीघनिकाय, पृ. ८८, विसुद्धिमग्गो, पृ १८०

२. (क) सहामिषेण पिशितरूपेण वर्त्तते इति सामिष, (ख) फले सुन्दराकाररूपादौ सभोगे लोभलचयो।
—अनेकार्थकोष, पृ १३३०

(ग) पचासकप्रकरण ९।३१ (घ) 'भोगा·—मनोज्ञा· शब्दादय., ते च ते आमिष चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ङ) 'भुज्यन्त इति भोगा, यत्सामान्य बहुभि. प्राथ्यंते तद् आमिषम्, भोगा एव आमिष भोगामिषम्।' —उत्त. चूर्णि, पृ. १७२ (च) बुद्धचर्या पृ १०२,४३२, इतिवुत्तक, पृ ८६

३. (क) उत्त. चूर्णि, पृ. १७२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ख) उत्तरा (सरपेंटियर), पृ. ३०८ (ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ. २०३

५ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९२

६ वही, पत्र २९२

हिंसा से सर्वथा विरत होने का उपदेश

७. 'समणा मु' एगे वयमाणा पाणवहं मिया अयाणन्ता ।
मन्दा नरयं गच्छन्ति बाला पावियाहि दिट्ठीहि ॥

[७] 'हम श्रमण हैं'—यो कहते हुए भी कई पशुसम अज्ञानी जीव प्राणवध को नही समझते । वे मन्द और अज्ञानी अपनी पापपूर्ण दृष्टियो से नरक मे जाते है ।

८. 'न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।'
एवारिएहिं अक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥

[८] जिन्होने इस साधुधर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्यपुरुषो ने कहा है—जो प्राणवध का अनुमोदन करता है, वह कदापि समस्त दु खो से मुक्त नही हो सकता ।

९. पाणे य नाइवाएज्जा से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई ।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

[९] जो प्राणियो के प्राणो का अतिपात (हिंसा) नही करता, वही त्रायी (जीवरक्षक) मुनि 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहलाता है । उससे (अर्थात्—उसके जीवन से) पापकर्म वैसे ही निकल (हट) जाता है, जैसे उन्नत स्थल मे जल ।

१०. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंड मणसा वयसा कायसा चेव ॥

[१०] जो भी जगत् के आश्रित (ससारी) त्रस और स्थावर नाम के (नामकर्मवाले) जीव है, उनके प्रति मन, वचन और काय से किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे ।

विवेचन—मिया अयाणता . व्याख्या—पाशविक बुद्धि वाले, अज्ञपुरुष । ज्ञपरिज्ञा से—प्राणी कितने प्रकार के, कौन-कौन-से है, उनके प्राण कितने है ? उनका वध—अतिपात कैसे हो जाता है ? इन बातो को नही जानते तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा मे प्राणिवध का प्रत्याख्यान नही करते । इस प्रकार प्रथम अहिंसाव्रत को भी नही जानते, तब शेष व्रतो का जानना तो बहुत दूर की बात है ।[1]

पावियाहि दिट्ठीहि : दो रूप : दो अर्थ (१) **प्रापिका दृष्टियो से,** अर्थात्—नरक को प्राप्त कराने वाली दृष्टियो से, (२) **पापिका दृष्टियों से,** अर्थात्—पापमयी या पापहेतुक या परस्पर विरोध आदि दोषो से दूषित दृष्टियो से जैसे कि उन्ही के ग्रन्थो के उद्धरण—**'न हिंस्यात् सर्वभूतानि', 'श्वेत छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यो, वैश्यं, तपसे शूद्रम् ।'** तात्पर्य यह है कि एक ओर तो वे कहते है—'सब जीवो की हिंसा मत करो' किन्तु दूसरी ओर श्वेत बकरे का तथा ब्राह्मणादि के वध का उपदेश देते है । ये परस्परविरोधी पापमयी दृष्टिया है ।[2]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र २९२

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९२-२९३

(ख) **'चर्म-वल्कलचीराणि, कूर्च-मुण्ड-जटा-शिखाः ।**
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ ॥ —वाचकवर्य उमास्वाति

समिए—समित—समितिमान्—सम्यक् प्रवृत्त !

पाणवहं अणुजाणे : आशय—इस गाथा मे बताया गया है—प्राणिवध का अनुमोदनकर्त्ता भी सर्वदुःखों से मुक्त नही हो सकता, तब फिर जो प्राणिवध करते-कराते हैं, वे दुःखो से कैसे मुक्त हो सकते हैं !'

दंडं—हिंसारूप दण्ड ।

उदाहरण—उज्जयिनी में एक श्रावकपुत्र था । एक वार चोरो ने उसका अपहरण कर लिया । उसे मालव देश मे एक पारधी के हाथ बेच दिया । पारधी ने उससे कहा—'बटेर मारो ।' उसने कहा—'नही मारूंगा ।' इस पर उसे हाथी के पैरो तले कुचला तथा मारा-पीटा गया, मगर उसने प्राणत्याग का अवसर आने पर भी जीवहिंसा करना स्वीकार न किया । इसी प्रकार साधुवर्ग को भी जीवहिंसा त्रिकरण-त्रियोग से नही करनी चाही ।[1]

रसासक्ति से दूर रह कर एषणासमितिपूर्वक आहार-ग्रहण-सेवन का उपदेश

११. सुद्धेसणाओ नच्चाणं तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥

[११] भिक्षु शुद्ध एषणाओ को जान कर उनमे अपने आप को स्थापित करे (अर्थात्—एषणा—शुद्ध आहार-ग्रहण मे प्रवृत्ति करे) । भिक्षाजीवी साधु (सयम) यात्रा के लिए ग्रास (आहार) की एषणा करे, किन्तु वह रसो मे गृद्ध (आसक्त) न हो ।

१२. पन्ताणि चेव सेवेज्जा सीयपिण्डं पुराणकुम्मासं ।
अदु बुक्कसं पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥

[१२] भिक्षु जीवनयापन (शरीरनिर्वाह) के लिए (प्राय) प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उडद (कुल्माष), बुक्कस (सारहीन) अथवा पुलाक (रूखा) या मथु (बेरसत्तु आदि के चूर्ण) का सेवन करे ।

विवेचन—जायाए घासमेसेज्जा : भावार्थ—सयमजीवन-निर्वाह के लिए साधु आहार की गवेषणादि करे । जैसे कि कहा है—

'जह सगडक्खोवंगो कीरइ भरवहणकारणा णवरं ।
तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं ॥

जैसे—गाडी के पहिये की धुरी को भार ढोने के कारण से चुपड़ा जाता है, वैसे ही महाव्रतादि गुणभार को वहन करने की दृष्टि से ब्रह्मचारी साधक आहार करे ।[2]

पंताणि चेव सेवेज्जा : एक स्पष्टीकरण—इस पंक्ति की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—**प्रान्तानि च सेवेतैव, प्रान्तानि चैव सेवेत**—(१) गच्छवासी मुनि के लिए यह विधान है कि

१ बृहद्वृत्ति, पत्र २९३

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९४ (ख) सुखबोधा, पत्र १२८

होती । अर्थात्—मुझे इतना देकर इसने परिपूर्णता कर दी, इस प्रकार की सतुष्टि उसे नही होती । कहा भी है— न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधि ।
न चैवात्मार्थसारेण, शक्यस्तर्पयितु क्वचित् ।।

अग्नि तृण और काष्ठो से और समुद्र नदियो से तृप्त नही होता, वैसे ही आत्मा अर्थ—सर्वस्व दे देने से कभी तृप्त नही किया जा सकता ।[1]

स्त्रियों के प्रति आसक्ति-त्याग का उपदेश

१८. नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा गडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिस पलोभित्ता खेल्लन्ति जहा व दासेहि ।।

[१८] जिनके वक्ष मे गाठे (ग्रन्थियाँ) है, जो अनेक चित्त (कामनाओ) वाली है, जो पुरुष को प्रलोभन मे फसा कर खरीदे हुए दास की भाति उसे नचाती है, (वासना की दृष्टि से ऐसी) राक्षसी-स्वरूप (साधनाविघातक) स्त्रियो मे आसक्त (गृद्ध) नही होना चाहिए ।

१९. नारीसु नोवगिज्झेज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे ।
धम्म च पेसल नच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।।

[१९] स्त्रियो को त्यागने वाला अनगार उन नारियो मे आसक्त न हो । धर्म (साधुधर्म) को पेशल (—अत्यन्त कल्याणकारी-मनोज्ञ) जान कर भिक्षु उसी मे अपनी आत्मा को स्थापित (सलग्न) कर दे ।

विवेचन—**'नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा'** यहाँ राक्षसी शब्द लाक्षणिक है, वह कामासक्ति या उत्कट वासना का अभिव्यञ्जक है । जिस प्रकार राक्षसी सारा रक्त पी जाती है और जीवन का सत्त्व चूस लेती है, वैसे ही स्त्रिया भी कामासक्त पुरुष के ज्ञानादि गुणो तथा सयमी जीवन एव धर्म-धन का सर्वनाश कर डालती है । स्त्री पुरुष के लिए कामोत्तेजना मे निमित्त बनती है । इस दृष्टि से उसे राक्षसी कहा गया है । वैसे ही स्त्री के लिए पुरुष भी वासना के उद्दीपन मे निमित्त बनता है, इस दृष्टि से उसे भी राक्षस कहा जा सकता है ।[2]

गंड-वच्छासु—गड अर्थात् गाँठ या फोडा—गुमडा । स्त्रियो के वक्षस्थल मे स्थित स्तन मास की ग्रन्थि या फोडे के समान होते है, इसलिए उन्हे ऐसा कहा गया है ।

१ बृहद्वृत्ति, पत्र २९६
२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९७
(ख) वातोद्धूतो दहति हुतभुग् देहमेक नराणाम्,
मत्तो नाग, कुपितभुजगश्चैकदेह तथैव ।
ज्ञान शील विनय-विभवौदार्य-विज्ञान-देहान् ,
सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकाश्च ।।
अर्थात्—हवा के झोके से उडती हुई अग्नि मनुष्यो के एक शरीर को जलाती है, मतवाला हाथी और क्रुद्ध सर्प एक ही देह को नष्ट करता है, किन्तु कामिनी ज्ञान, शील, विनय, वैभव, औदार्य, विज्ञान और शरीर आदि सभी इहलौकिक—पारलौकिक पदार्थों को जला (नष्ट कर) देती है । —हारीतस्मृति

उपसंहार

२०. इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति तेहिं आराहिया दुवे लोगा ॥
—त्ति बेमि ।

[२०] इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल (केवली-मुनिवर) ने इस (साधु) धर्म का प्रतिपादन किया है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे ससारसागर को पार करेंगे और उनके द्वारा दोनो ही लोक आराधित होगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—**आराहिया**=आराधित किये, सफल कर लिये।[1]

॥ कापिलीय : अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

□□

१. बृहद्‌वृत्ति, पत्र २९७

नमिप्रव्रज्या : नवम अध्ययन

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत नौवे अध्ययन का नाम 'नमिप्रव्रज्या' है। मिथिला के राजर्षि नमि जब विरक्त एवं सबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करने लगे, तब देवेन्द्र ने ब्राह्मणवेष मे आकर उनके त्याग, वैराग्य, नि स्पृहता आदि की परीक्षा ली। इन्द्र ने लोकजीवन की नीतियो से सम्बन्धित अनेक प्रश्न प्रस्तुत किये। राजर्षि नमि ने प्रत्येक प्रश्न का समाधान अन्तस्तल को गहराई मे पैठ कर श्रमणसस्कृति और आध्यात्मिक सिद्धान्त की दृष्टि से किया। इन्ही प्रश्नोत्तरो का वर्णन प्रस्तुत अध्ययन मे अकित किया गया है।

* प्रतिबुद्ध होने पर ही मुनि बना जाता है। प्रतिबुद्ध तीन प्रकार से होते हैं—(१) स्वयबुद्ध (किसी के उपदेश के बिना स्वय बोधि प्राप्त), (२) प्रत्येकबुद्ध (किसी बाह्य घटना के निमित्त से प्रतिबुद्ध) और (३) बुद्ध-बोधित (बोधिप्राप्त व्यक्तियो के उपदेश से प्रतिबुद्ध)। प्रस्तुत शास्त्र के ८ वे अध्ययन में स्वयम्बुद्ध कपिल का, नौवे अध्ययन मे प्रत्येकबुद्ध नमि का और अठारहवे अध्ययन मे बुद्ध-बोधित सजय का वर्णन है।[1]

* इस अध्ययन का सम्बन्ध प्रत्येकबुद्ध मुनि से है। यो तो चार प्रत्येकबुद्ध समकालीन हुए है—(१) करकण्डु, (२) द्विमुख, (३) नमि और (४) नग्गति। ये चारो प्रत्येकबुद्ध पुष्पोत्तर विमान से एक साथ च्युत होकर मनुष्यलोक मे आए। चारो ने एक साथ दीक्षा ली, एक ही समय मे प्रत्येकबुद्ध हुए, एक ही समय मे केवली और सिद्ध हुए। करकण्डु कलिग का, द्विमुख पचाल का, नमि विदेह का और नग्गति गन्धार का राजा था। चारो के प्रत्येकबुद्ध होने मे क्रमश वृद्ध बैल, इन्द्रध्वज, एक ककण की नि शब्दता और मजरीरहित आम्रतरु, ये चारो घटनाएँ निमित्त बनी।[2]

* नमि राजर्षि के प्रत्येकबुद्ध होकर प्रव्रज्याग्रहण करने की घटना इस प्रकार है—

मालव देश के सुदर्शनपुर का राजा मणिरथ था। उसका छोटा भाई, युवराज युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा के रूप मे आसक्त मणिरथ ने छल से अपने छोटे भाई की हत्या कर दी। गर्भवती मदनरेखा ने एक वन मे एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिलानृप पद्मरथ मिथिला ले आया। उसका नाम रखा—नमि। यही नमि आगे चल

---

१ नन्दीसूत्र ३०

२ (क) अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ४ 'णमि' शब्द, पृ १८१०

(ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनी टीका, भा २, पृ ३३० से ३६० तक

(ग) पुप्फुत्तराओ चवण पव्वज्जा होइ एगसमएण।
पत्तेयबुद्ध-केवलि-सिद्धिगया एगसमएण॥ —उत्त निर्युक्ति, गा २७०

कर पद्मरथ के मुनि बन जाने पर विदेह राज्य का राजा बना। विदेहराज्य में दो नमि हुए हैं, दोनों अपना-अपना राज्य त्याग करके अनगार बने थे। एक इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हुए, और दूसरे प्रत्येकबुद्ध नमि राजर्षि।[1]

एक बार नमि राजा के शरीर मे दु.सह दाहज्वर उत्पन्न हुआ। घोर पीडा रही। छह महीने तक उपचार चला। लेकिन कोई लाभ नही हुआ। एक वैद्य ने चन्दन का लेप शरीर पर लगाने के लिए कहा। रानियाँ चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय हाथो मे पहने हुए कंकणो के परस्पर टकराने से आवाज हुई। वेदना से व्याकुल नमिराज ककणो की आवाज सह नही सके। रानियो ने जाना तो सौभाग्यचिह्नस्वरूप एक-एक कंकण रख कर शेष सभी उतार दिये। अब आवाज बन्द हो गई। अकेला ककण कैसे आवाज करता ?

राजा ने मन्त्री से पूछा—'ककण की आवाज क्यो नही सुनाई दे रही है ?'

मन्त्री ने कहा—'स्वामिन् ! आपको ककणो के टकराने से होने वाली ध्वनि अप्रिय लग रही थी, अत' रानियो ने सिर्फ एक-एक ककण हाथ मे रख कर शेष सभी उतार दिये है।'

राजा को इस घटना से नया प्रकाश मिला। इस घटना से राजा प्रतिबुद्ध हो गया। सोचा—जहाँ अनेक है, वहाँ सघर्ष, दु ख पीडा और रागादि दोष हैं, जहाँ एक है, वही सच्ची सुख-शान्ति है। जहाँ शरीर, इन्द्रियाँ, मन और इससे आगे धन, परिवार, राज्य आदि परभावो की बेतुकी भीड है, वही दु ख है। जहाँ केवल एकत्वभाव है, आत्मभाव है, वहाँ दु ख नही है। अत जब तक मैं मोहवश स्त्रियो खजानो, महल तथा गज-अश्वादि से एवं राजकीय भोगो से सबद्ध हूँ, तब तक मैं दु खित हूँ। इन सब को छोड कर एकाकी होने पर ही सुखी हो सकूँगा। इस प्रकार राजा के मन मे विवेकमूलक वैराग्यभाव जागा। उसने सर्व-सग परित्याग करके एकाकी होकर प्रव्रजित होने का दृढ सकल्प किया। दीक्षा ग्रहण करने की इस भावना से नमि राजा को गाढ निद्रा आई। उनका दाहज्वर शान्त हो गया। रात्रि मे श्वेतगजारूढ होकर मेरुपर्वत पर चढने का विशिष्ट स्वप्न देखा, जिस पर ऊहापोह करते-करते जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया। राजा ने जान लिया कि मै पूर्वभव मे शुद्ध सयम पालन के कारण उत्कृष्ट १७ सागरोपम वाले देवलोक मे उत्पन्न हुआ, इस जन्म मे राजा बना। अत राजा ने पुत्र को राज्य सौपा और सर्वोत्कृष्ट मुनिधर्म मे दीक्षित होने के लिए सब कुछ ज्यो का त्यो छोड कर नगर से बाहर चले गए।

अकस्मात् नमि राजा को यो राज्य-त्याग कर प्रव्रजित होने के समाचार स्वर्ग के देवो ने जाने तो वे विचार करने लगे—यह त्याग क्षणिक आवेश है या वास्तविक वैराग्यपूर्ण है ? अत उनकी प्रव्रज्या की परीक्षा लेने के लिए स्वय देवेन्द्र ब्राह्मण का वेश बना कर नमि राजर्षि के पास आया और क्षात्रधर्म की याद दिलाते हुए लोकजीवन से सम्बन्धित १० प्रश्न उपस्थित किये, जिनका समाधान उन्होने एकत्वभावना और आध्यात्मिक दृष्टि से कर दिया। वे प्रश्न सक्षेप मे इस प्रकार थे—

---

१ दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइ पयहिऊण पव्वइया।
एगो नमि तित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो य॥ —उत्त निर्युक्ति, गा २६७

(१) मिथिलानगरी में सर्वत्र कोलाहल हो रहा है। आप दयालु हैं, इसे शान्त करके फिर दीक्षा लें।

(२) आपका अन्त पुर, महल आदि जल रहे है, इनकी ओर उपेक्षा करके दीक्षा लेना अनुचित है।

(३) पहले आप कोट, किले, खाई, अट्टालिका, शस्त्रास्त्र आदि बना कर नगर को सुरक्षित करके फिर दीक्षा ले।

(४) अपने और वशजो के आश्रय के लिए पहले प्रासादादि बनवा कर फिर दीक्षा ले।

(५) तस्कर आदि प्रजापीडको का निग्रह करके, नगर मे शान्ति स्थापित करके फिर दीक्षा लेना हितावह है।

(६) उद्धत शासको को पराजित एव वशीभूत करके फिर दीक्षा ग्रहण करे।

(७) यज्ञ, विप्रभोज, दान एव भोग, इन प्राणिप्रीतिकारक कार्यों को करके फिर दीक्षा लेना चाहिए।

(८) घोराश्रम (गृहस्थाश्रम) को छोड कर संन्यास ग्रहण करना उचित नही है। यही रह कर पौषधव्रतादि का पालन करो।

(९) चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, कास्य, दूष्य-वस्त्र, वाहन, कोश आदि मे वृद्धि करके निराकाक्ष होकर तत्पश्चात् प्रव्रजित होना।

(१०) प्रत्यक्ष प्राप्त भोगो को छोड कर अप्राप्त भोगो की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रव्रज्याग्रहण करना अनुचित है।

* राजर्षि नमि के सभी उत्तर आध्यात्मिक स्तर के एव श्रमणसस्कृति-अनुलक्षी है। सारे विश्व को अपना कुटुम्बी—आत्मसम समझने वाले नमि राजर्षि ने प्रथम प्रश्न का मार्मिक उत्तर वृक्षाश्रयी पक्षियो के रूपक से दिया है। ये सब अपने संकुचित स्वार्थवश आक्रन्दन कर रहे हैं। मैं तो विश्व के सभी प्राणियो के आक्रन्द को मिटाने के लिए दीक्षित हो रहा हूँ। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होने आत्मैकत्वभाव की दृष्टि से दिया है कि मिथिला या कोई भी वस्तु, शरीर आदि भी जलता हो तो इसमे मेरा कुछ भी नही जलता। इसी प्रकार उन्होने कहा—राज्यरक्षा, राज्यविस्तार, उद्धत नृपो, चोर आदि प्रजापीडको के दमन की अपेक्षा अन्त शत्रुओ से युद्ध करके विजेता बने हुए मुनि द्वारा अन्तर्राज्य की रक्षा करना सर्वोत्तम है, मुक्तिप्रदायक है। अशाश्वत घर बनाने की अपेक्षा शाश्वत गृह बनाना ही महत्त्वपूर्ण है। आत्मगुणो मे बाधक शत्रुओ से सुरक्षा के लिए आत्मदमन करके आत्मविजयी बनाना ही आत्मार्थी के लिए श्रेयस्कर है। सावद्य यज्ञ और दान, भोग आदि की अपेक्षा सर्वविरति सयम श्रेष्ठ है, गृहस्थाश्रम मे देश-विरति या नीतिन्याय-पालक रह कर साधना करने की अपेक्षा सन्यास आश्रम मे रह कर सर्व-विरति सयम, समत्व एव रत्नत्रय की साधना करना श्रेष्ठ है। क्योकि वही सु-आख्यात धर्म है। स्वर्णादि का भण्डार बढ़ा कर आकाक्षापूर्ति की आशा रखना व्यर्थ है, इच्छाएँ अनन्त हैं, उनकी पूर्ति होना असम्भव है, अत निराकाक्ष, निस्पृह बनना ही श्रेष्ठ है। कामभोग प्राप्त हो,

चाहे अप्राप्त, दोनो की अभिलाषा दुर्गति में ले जाने वाली है, अत: कामभोगों की इच्छाएँ तथा तज्जनित कषायो का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए हितकर है।

नमि राजर्षि के उत्तर सुन कर देवेन्द्र अत्यन्त प्रभावित होकर परम श्रद्धाभक्तिवश स्तुति, प्रशसा एव वन्दना करके अपने स्थान को लौट जाता है।[1] □

१ (क) उत्तरा. मूलपाठ, अ. ९, गा. ७ से ६० तक (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३६१ से ३६४

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

नमिपव्वज्जा : नमिप्रव्रज्या

नमिराज : जन्म से अभिनिष्क्रमण तक

१. चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसंमि लोगंमि ।
उवसन्त—मोहणिज्जो सरई पोराणियं जाइं ॥

[१] (महाशुक्र नामक) देवलोक से च्युत होकर नमिराज का जीव मनुष्यलोक मे उत्पन्न हुआ । उसका मोह उपशान्त हुआ, जिससे पूर्व जन्म (जाति) का उसे स्मरण हुआ ।

२. जाइं सरित्तु भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥

[२] भगवान् नमि पूर्वजन्म का स्मरण करके अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) (चारित्र-) धर्म (के पालन) के लिए स्वय सम्बुद्ध बने । अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर नमि राजा ने अभिनिष्क्रमण किया (प्रव्रज्या ग्रहण की) ।

३. से देवलोग—सरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए ।
भुंजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥

[३] (अभिनिष्क्रमण से पूर्व) नमि राजा श्रेष्ठ अन्त.पुर मे रह कर देवलोक के भोगो के सदृश उत्तम भोगो को भोग कर (स्वय) प्रबुद्ध हुए और उन्होने भोगो का परित्याग किया ।

४. मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥

[४] भगवान् नमि ने पुर और जनपद सहित अपनी राजधानी मिथिला, सेना, अन्त पुर (रनिवास) और समस्त परिजनो को छोड कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्त का आश्रय लिया ।

५. कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए पव्वयन्तंमि ।
तइया रायरिसिमि नमिमि अभिणिक्खमन्तंमि ॥

[५] नमि राजर्षि जिस समय अभिनिष्क्रमण करके प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला नगरी मे (सर्वत्र) कोलाहल-सा होने लगा ।

विवेचन—सरइ पोराणियं जाइं—पुराण जाति—आत्मवाद की दृष्टि से जन्म की परम्परा अनादि है, इसलिए इसे पुराणजाति कहा है, अर्थात् पूर्वजन्म की स्मृति। इसे जातिस्मरणज्ञान कहते हैं, जो मतिज्ञान का एक भेद (रूप) है। इसके द्वारा पूर्ववर्ती सख्यात जन्मों तक का स्मरण हो सकता है।[1]

भयवं : भगवान् : अनेक अर्थ—भग शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस. श्रिय. ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीगडना ।।

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न, ये छह 'भग' कहलाते हैं। 'भग' से जो सम्पन्न हो वह भगवान् है।

अन्यत्र अन्य अर्थ भी बतलाए गए हैं—

धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तनु। प्रस्तुत प्रसग मे 'भग' शब्द का अर्थ—बुद्धि, धैर्य या ज्ञान है। भगवान् का अर्थ है—बुद्धिमान्, धैर्यवान् या अतिशय ज्ञानवान्।[2]

अभिणिक्खमई—अभिनिष्क्रमण किया—घर से प्रव्रज्या के लिए निकला, दीक्षाग्रहण की।[3]

एगंतमहिट्ठिओ—एकान्त शब्द के चार अर्थ—(१) मोक्ष—जहाँ कर्मों का अन्त हो कर जीव एक—अद्वितीय रहता हो, ऐसा स्थान मोक्ष ही है। (२) मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी एकान्त—एकमात्र अन्त—उपाय है। इनकी आराधना से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। (३) एकान्त—द्रव्य से निर्जन उद्यान, श्मशानादि स्थान हैं। (४) भाव से एकान्त का अर्थ—मैं अकेला हूँ, मैं किसी का नही हूँ, न मेरा कोई है, जिस-जिस पदार्थ को मै अपना देखता हूँ, वह मेरा नही, दिखाई देता, इस भावना से मैं अकेला ही हूँ, ऐसा निश्चय एकान्त है। एकान्त को अधिष्ठित—आश्रित।[4]

अभिणिक्खमन्तंमि—अभिनिष्क्रमण करने पर अर्थात् द्रव्य से—घर से निकलने पर, भावतः अन्त करण से कषायादि के निकाल देने पर।[5]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ (ख) 'जातिस्मरण तत्त्वाभिनिबोधविशेष' —आचाराग १।१।४
(ग) जातिस्मरण तु नियमत· सख्येयान्।

२ भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकार्थेषु वर्तते, यदुक्तम्—
'धैर्य-सौभाग्य-माहात्म्य—यशोऽर्कश्रुत-धी-श्रियः।
तपोऽर्थोऽपस्थ-पुण्येश-प्रयत्न-तनवो भगाः ॥' —बृ वृ, पत्र ३०७

३ अभिनिष्क्रमति—धर्माभिमुख्येन गृहस्थपर्यायान्निर्गच्छति —बृ वृ, पत्र ३०७

४. एगतत्ति—एकोऽद्वितीय कर्मणामन्तो यस्मिन्निति एकान्त। तत एकान्तो मोक्ष, तदुपाय—सम्यग्दर्शनाद्यासेवनात्'" इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्ते। यद्वा एकान्त द्रव्यतो विजनमुद्यानादि। भावतश्च—एकोऽहं न मे कश्चिद् नाहमन्यस्य कस्यचित्। न तं पश्यामि यस्याऽहं नाऽसौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७.

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७

प्रथम प्रश्नोत्तर : मिथिला में कोलाहल का कारण

६. अब्भुट्ठियं रायरिसिं पव्वज्जा—ठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेण इमं वयणमब्बवी—।।

[६] सर्वोत्कृष्ट प्रव्रज्यारूप स्थान (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणो की स्थानभूत प्रव्रज्या) के लिए अभ्युत्थित हुए राजर्षि नमि को ब्राह्मण के रूप मे आए हुए शक्र (देवेन्द्र) ने यह वचन कहा—

७. 'किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए कोलाहलग—संकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा पासाएसु गिहेसु य ?'

[७] हे राजर्षि ! मिथिला नगरी मे, महलों और घरो में कोलाहल (विलाप एव क्रन्दन) से व्याप्त दारुण (हृदय-विदारक) शब्द क्यो सुने जा रहे हैं ?

८. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—।।

[८] (देवेन्द्र के) इस प्रश्न को सुन कर हेतु और कारण से सम्प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह (वचन) कहा—

९. 'मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त—पुप्फ—फलोवेए बहूणं बहुगुणे सया—।।

१०. वाएण हीरमाणंमि चेइयंमि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता एए कन्दन्ति भो ! खगा ।।'

[९-१०] मिथिला नगरी मे एक उद्यान (चैत्य) था, (उस मे) ठडी छाया वाला, मनोरम, पत्तो, फूलो और फलो से युक्त बहुत-से पक्षियो का सदैव अत्यन्त उपकारी (बहुगुणसम्पन्न) एक वृक्ष था ।

प्रचण्ड आँधी से (आज) उस मनोरम वृक्ष के हट जाने पर, हे ब्राह्मण ! ये दु.खित, अशरण और पीड़ित पक्षी आक्रन्दन कर रहे हैं ।

विवेचन—सक्को माहणरूवेण : आशय—इन्द्र ब्राह्मण के वेष मे क्यो आया ? इसका कारण बृहद्वृत्तिकार बताते है कि राज्य करते हुए भी ऋषि के समान नमि राजर्षि राज्यऋद्धि छोड कर भागवती दीक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत थे । उस समय उनकी त्यागवृत्ति की परीक्षा करने के लिए स्वय इन्द्र ब्राह्मण के वेष मे दीक्षास्थल पर आया और उनसे तत्सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे ।[१]

पासाएसु गिहेसु : प्रासाद और गृह में अन्तर—सात या इससे अधिक मजिल वाला मकान प्रासाद या महल कहलाता है, जबकि साधारण मकान को गृह—घर कहते हैं ।[२]

हेउकारण—चोइओ—साध्य के विना जो न हो, उसे हेतु कहते हैं और जो कार्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती हो, उसे कारण कहते हैं । कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कदापि संभव नही है ।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०८ २ वही, पत्र ३०८

यही हेतु और कारण में अन्तर है। इन्द्रोक्त वाक्य में हेतु इस प्रकार है—आपका यह अभिनिष्क्रमण अनुचित है, क्योंकि इससे समस्त नगरी मे आक्रन्द, विलाप एव दारुण कोलाहल हो रहा है। कारण इस प्रकार है—यदि आप अभिनिष्क्रमण न करते तो इतना हृदयविदारक कोलाहल न होता। इस हृदयविदारक कोलाहल का कारण आपका अभिनिष्क्रमण है। इस हेतु और कारण से प्रेरित।[1]

चेइए वच्छे—यहाँ चैत्य और वृक्ष, दो शब्द हैं। चैत्य का प्रसगवश अर्थ है—उद्यान, जो चित्त का आह्लादक है। उसी चैत्य (उद्यान) का एक वृक्ष।

बहूणं बहुगुणे : व्याख्या—बहुतो का—प्रसगवश बहुत-से पक्षियो का। बहुगुण—जिससे बहुत गुण—फलादि के कारण प्रचुर उपकार हो, वह; अर्थात् अत्यन्त उपकारक।[2]

प्रस्तुत उत्तर : उपमात्मक शब्दों में—यहाँ नमि राजर्षि ने मिथिला नगरी स्थित चैत्य—उद्यान से राजभवन को, स्वयं को मनोरम वृक्ष से तथा उस वृक्ष पर आश्रय पाने वाले पुरजन-परिजनो को पक्षियो से उपमित किया है। वृक्ष के उखड़ जाने पर जैसे पक्षिगण हृदयविदारक क्रन्दन करते हैं, वैसे ही ये पुरजन-परिजन आक्रन्द कर रहे हैं।[3]

नमि राजर्षि के उत्तर का हार्द—आक्रन्द आदि दारुण शब्दो का कारण मेरा अभिनिष्क्रमण नही है, इसलिए यह हेतु असिद्ध है। पौरजन-स्वजनो के आक्रन्दादि दारुण शब्दो का हेतु तो और ही है, वह है स्व-स्व-प्रयोजन (स्वार्थ) का विनाश। कहा भी है—

आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरिजनो रौति हाहा रवार्त्तो,
भार्या चात्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्वं वयस्याश्च कार्यम्।
क्रन्दत्यन्योन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
यश्चान्यस्तत्र किञ्चित् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै॥

अर्थात्—स्वजन-परिजन या पौरजन अपने स्वार्थ के नाश होने के कारण, पत्नी अपने विषयभोग, गृहवैभव के सुख और धन के लिए, मित्र अपने कार्य रूप स्वार्थ के लिए, बहुत-से लोग इस जगत् मे लोकयात्रा (आजीविका) निमित्त परस्पर एक दूसरे के अभीष्ट स्वार्थ के लिए रोते हैं। जो जिससे किसी भी गुण-(लाभ या उपकार) की अपेक्षा रखता है, वह इष्टजन उसके विनाश के लिए ही रोता है। अत. मेरा यह अभिनिष्क्रमण, उनके क्रन्दन का हेतु कैसे हो सकता है! न ही मेरा यह अभिनिष्क्रमण, क्रन्दनादि कार्य का नियत पूर्ववर्ती कारण है। वस्तुत अभिनिष्क्रमण (सयम) किसी के लिए भी पीडाजनक नही होता, क्योंकि वह षट्कायिक जीवो की रक्षा के हेतु होता है।[4]

---

१. (क) 'निश्चितान्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।' —प्रमाणनयतत्त्वालोक, सू ११
   (ख) 'कार्याव्यवहितप्राक्क्षणवर्तित्वं कारणत्वम्।' —तर्कसंग्रह
   (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०९
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्राक ३०९ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३७७
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०९
४ (क) वही, पत्र ३०९ (ख) उत्त. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३७९

द्वितीय प्रश्नोत्तर : जलते हुए अन्तःपुर-प्रेक्षण सम्बन्धी

११. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[११] देवेन्द्र ने (नमि राजर्षि के) इस अर्थ (बात) को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हो कर नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१२. 'एस अग्गी य वाऊ य एयं डज्झइ मन्दिरं।
भयवं! अन्तेउरं तेणं कीस णं नावपेक्खसि? ॥'

[१२] भगवन्! यह अग्नि है और यह वायु है। (इन दोनो से) आपका यह मन्दिर (महल) जल रहा है। अत आप अपने अन्त पुर (रनिवास) की ओर क्यो नही देखते? (अर्थात् जो वस्तु अपनी हो, उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह अन्त.पुर आपका है, अत. इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है।)

१३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[१३] तत्पश्चात् देवेन्द्र की यह बात सुन कर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह कहा—

१४. 'सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥

[१४] जिनके पास अपना कुछ भी नही है, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं और जीते हैं। अत मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नही जलता।

१५. चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जए॥

[१५] पुत्र और पत्नी आदि का परित्याग किये हुए एव गृह कृषि आदि सावद्य व्यापारो से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय है।

१६. बहुं खु मुणिणो भद्दं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगन्तमणुपस्सओ॥'

[१६] (बाह्य और आभ्यन्तर) सब प्रकार (के सयोगों या परिग्रहो) से विमुक्त एव 'मैं सर्वथा अकेला ही हूँ,' इस प्रकार एकान्त (एकत्वभावना) के अनुप्रेक्षक अनगार (गृहत्यागी) मुनि को भिक्षु (भिक्षाजीवी) होते हुए भी बहुत ही आनन्द-मगल (भद्र) है।

विवेचन—हेउकारण—चोइओ—इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण—अपने राजभवन एवं अन्त पुर की आपको रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि ये आपके हैं। जो-जो अपने होते हैं, वे रक्षणीय

होते हैं, जैसे—ज्ञानादि गुण। भवन एवं अन्त:पुर आपके हैं, इस कारण इनका रक्षण करना चाहिए। ये क्रमशः हेतु और कारण हैं।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—इस ससार मे एक मेरे (आत्मा के) सिवाय और कोई भी वस्तु (स्त्री, पुत्र, अन्तःपुर, भवन, शरीर, धन आदि) मेरी नही है। यहाँ किसी प्राणी की कोई भी वस्तु नही है। मेरी जो वस्तु है, वह (आत्मा तथा आत्मा के ज्ञानादि निजगुण) मेरे पास है। जो अपनी होती है, उसी की रक्षा अग्नि-जलादि के उपद्रवों से की जाती है। जो अपनी नही होती, उसे मिथ्याज्ञानवश अपनी मान कर कौन अकिंचन, निर्व्यापार, गृहत्यागी भिक्षु दु.खी होगा? जैसे कि कहा है—

> एकोऽहं न मे कश्चित् स्व· परो वापि विद्यते।
> यदेको जायते अन्तर्म्रियते चैक एव हि॥
> एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसजुतो।
> सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

अत. अन्तपुरादि पक्ष मे स्वत्वरूप हेतु का सद्भाव न रहने से इन्द्रोक्त हेतु असिद्ध है और रक्षणीय होने से इनका त्याग न करने रूप कारण भी यथार्थ नही है। वस्तुत अभिनिष्क्रमण के लिए ये सब संयोगजनित बन्धन त्याज्य हैं, परिग्रह नरक आदि अनर्थ का हेतु होने से मोक्षाभिलाषी द्वारा त्याज्य है।[2]

भद्दं—भद्र शब्द कल्याण और सुख तथा आनन्द-मगल अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

पियं अप्पियं—प्रिय अप्रिय शब्द यहाँ इष्ट और अनिष्ट अर्थ मे है। एक को इष्ट—प्रिय और दूसरे को अनिष्ट—अप्रिय मानने से राग-द्वेष होता है, जो दु ख का कारण है।[3]

तृतीय प्रश्नोत्तर : नगर को सुरक्षित एवं अजेय बनाने के सम्बन्ध में

> **१७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।**
> **तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥**

[१७] इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने तब नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

> **१८. 'पागारं कारइत्ताणं गोपुरट्टालगाणि य।**
> **उस्सूलग—सयग्घीओ तओ गच्छसि खत्तिया! ॥'**

[१८] हे क्षत्रिय! पहले तुम प्राकार (– परकोटा), गोपुर (मुख्य दरवाजा), अट्टालिकाएँ, दुर्ग की खाई, शतघ्नियां (किले के द्वार पर चढाई हुई तोपें) बनवा कर, फिर प्रव्रजित होना।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ. ३८४

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३८५-३८६

३ (क) 'भद्र' कल्याण सुख च।' (ख) प्रियमिष्ट, अप्रियमनिष्टम्।' —बृ वृ, पत्र ३१०

१९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[१९] इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यह कहा—

२०. 'सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं ।
खन्ति निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥

[२०] (जो मुनि) श्रद्धा को नगर, तप और सवर को अर्गला, क्षमा को (शत्रु से रक्षण मे) निपुण (सुदृढ) प्राकार (दुर्ग) को (बुर्ज, खाई और शतघ्नीरूप) त्रिगुप्ति (मन-वचन-काया की गुप्ति) से सुरक्षित एव अपराजेय बना कर तथा—

२१. धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च ईरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमन्थए ।

[२१] (आत्मवीर्य के उल्लासरूप) पराक्रम को धनुष बनाकर, ईर्यासमिति (उपलक्षण से अन्य समितियो) को धनुष की प्रत्यचा (डोर या जीवा) तथा धृति को उसकी मूठ (केतन) बना कर सत्य (स्नायुरूप मन सत्यादि) से उसे बाधे,

२२. तवनारायजुत्तेण भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए ॥'

[२२] तपरूपी बाणो से युक्त (पूर्वोक्त) धनुष से कर्मरूपी कवच को भेद कर (जीतने योग्य कर्मों को अन्तर्युद्ध मे जीत कर) सग्राम से विरत मुनि भव से परिमुक्त हो जाता है ।

विवेचन—इन्द्र के प्रश्न में हेतु और कारण—आप क्षत्रिय होने से नगररक्षक है, भरत आदि के समान, यह हेतु है । नगररक्षा करने से ही आप मे क्षत्रियत्व घटित हो सकता है, यह कारण है । प्रस्तुत गाथा मे 'क्षत्रिय' सम्बोधन से हेतु उपलक्षित किया गया है । आशय यह है कि आप क्षत्रिय है, इसलिए पहले क्षत्रियधर्म (—नगररक्षारूप) का पालन किए बिना आपका प्रव्रजित होना अनुचित है ।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय मैंने आन्तरिक क्षत्रियत्व घटित कर दिया है, क्योकि सच्चा क्षत्रिय षट्कायरक्षक एव आत्मरक्षक होता है । कर्मरूपी शत्रुओ को पराजित करने के लिए वह आन्तरिक युद्ध छेड़ता है । उस आन्तरिक युद्ध मे मुनि श्रद्धा को नगर बनाता है एव तप, सवर, क्षमा, तीन गुप्ति, पाँच समिति, धृति, पराक्रम आदि विविध सुरक्षासाधनो के द्वारा आत्मरक्षा करते हुए विजय प्राप्त करता है । अन्तर्युद्ध-विजेता मुनि ससार से सर्वथा विमुक्त हो जाता है ।[2]

सद्धं—समस्त गुणों के धारण करने वाली तत्त्वरुचिरूप श्रद्धा । **अग्गलं**—तप—बाह्य और आभ्यन्तर तप एव आश्रवनिरोधरूप सवर मिथ्यात्वादि दोषो की निवारक होने से अर्गला है ।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ. ३९४

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ३११

खंति निउणपागारं—क्षमा,—उपलक्षण से मार्दव, आर्जव आदि सहित क्षमा, श्रद्धारूप नगर को ध्वस्त करने वाले अनन्तानुबन्धीकषाय की अवरोधक होने से—क्षान्ति को समर्थ सुदृढ कोट या परकोटा बना कर। **सयग्घी-शतघ्नी**—एक बार में सौ व्यक्तियो का संहार करने वाला यंत्र, तोप जैसा अस्त्र।[1]

चतुर्थ प्रश्नोत्तर : प्रासादादि-निर्माण कराने के सम्बन्ध में

२३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी॥

[२३] देवेन्द्र ने इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२४. 'पासाए कारइत्ताणं वद्धमाणगिहाणि य।
बालग्गपोइयाओ य तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[२४] हे क्षत्रिय! पहले आप प्रासाद (महल), वर्धमानगृह (वास्तुशास्त्र के अनुसार विविध वर्द्धमान घर) और बालाग्रपोतिकाएँ (—चन्द्रशालाएँ) बनवाकर, तदनन्तर जाना—अर्थात्—प्रव्रजित होना।

२५. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी॥

[२५] देवेन्द्र की बात को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२६. 'संसयं खलु सो कुणई जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥'

[२६] जो मार्ग मे घर बनाता है, वह निश्चय ही सशयशील बना रहता है (पता नही, कब उसे छोड कर जाना पडे)। अतएव जहाँ जाने की इच्छा हो, वही अपना शाश्वत घर बनाना चाहिए।

विवेचन—इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण—अपने वशजो के लिए आपको प्रासाद आदि बनवाने चाहिए, क्योकि आप समर्थ और प्रेक्षावान् हैं; यह हेतु है और कारण है—प्रासाद आदि बनवाए बिना सामर्थ्य के होते हुए भी आप मे प्रेक्षावत्ता—सूक्ष्मबुद्धिमत्ता घटित नही होती। 'क्षत्रिय' शब्द से सामर्थ्य और प्रेक्षावत्ता उपलक्षित की है।[2]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—जिस व्यक्ति को यह सदेह होता है कि मैं अपने अभीष्ट शाश्वत स्थान (मोक्ष) तक पहुँच सकूँगा या नही, वही मार्ग मे—ससार मे—अपना घर बनाता है। मुझे तो दृढ विश्वास है कि मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा और वही पहुँचकर मैं अपना शाश्वत (स्थायी)

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११
२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४०८

घर बनाऊँगा। अत: समर्थता और प्रेक्षावत्ता में कहाँ क्षति है? क्योंकि मैं तो अपने घर बनाने की तैयारी मे लगा हुआ हूँ और स्वाश्रयी शाश्वत गृह बनाने में प्रवृत्त हूँ! अत. प्रेक्षावान् हेतु वास्तव मे सिद्धसाधन है। 'मोक्षस्थान ही मेरे लिए गन्तव्यस्थान है, क्योंकि वही शाश्वत सुखास्पद है' यह प्रतिज्ञा एवं हेतु वाक्य है। जो ऐसा नही होता वह स्थान मुमुक्षु के लिए गन्तव्य नही होता, जैसे नरकनिगोदादि स्थान, यह व्यतिरेक उदाहरण है।[1]

वद्धमाणगिहाणि—वर्द्धमानगृह—वास्तुशास्त्र मे कथित अनेकविध गृह। मत्स्यपुराण के मतानुसार वर्द्धमानगृह वह है, जिसमे दक्षिण की ओर द्वार न हो। वाल्मीकि रामायण मे भी ऐसा ही बताया गया है और उसे 'धनप्रद' कहा है।[2]

बालग्गपोइयाओ—बालाग्रपोतिका देशी शब्द है, अर्थ है—वलभी, अर्थात्—चन्द्रशाला, अथवा तालाब मे निर्मित लघु प्रासाद।[3]

सासयं—दो रूप, दो अर्थ—(१) **स्वाश्रय**—स्व यानी आत्मा का आश्रय—घर, अथवा (२) **शाश्वत**—नित्य (प्रसगानुसार) गृह।[4]

पंचम प्रश्नोत्तर : चोर-डाकुओं से नगररक्षा करने के सम्बन्ध में

२७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[२७] (अनन्तरोक्त नमि राजर्षि के) इस वचन को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८. 'आमोसे लोमहारे य गंठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊणं तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[२८] हे क्षत्रिय! पहले आप लुटेरो को, प्राणघातक डाकुओ, गाठ काटने वालो (गिरहकटो) और तस्करो (सदा चोरी करने वालो) का दमन करके, नगर का क्षेम (अमन-चैन) करके फिर (दीक्षा लेकर) जाना।

२९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्द इणमब्बवी—॥

[२९] इस पूर्वोक्त बात को सुन कर हेतु और कारणो से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यो कहा—

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा २, पृ ४०९

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) 'दक्षिणद्वारहीन तु वर्धमानमुदाहृतम्,' —मत्स्यपुराण, पृ २५४
(ग) 'दक्षिणद्वाररहित वर्धमान धनप्रदम्। —वाल्मीकि रामायण ५।८

३ (क) उत्त. चूर्णि, पृ १८३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२

४ वही, पत्र ३१२

३०. 'असइं तु मणुस्सेहिं मिच्छादण्डो पजुंजई।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति मुच्चई कारगो जणो ॥'

[३०] मनुष्यो के द्वारा अनेक बार मिथ्या दण्ड का प्रयोग (अपराधरहित जीवो पर भी अज्ञान या अहकारवश दण्डविधान) कर दिया जाता है। (चौर्यादि अपराध) न करने वाले यहाँ बन्धन मे डाले (बाधे) जाते हैं और वास्तविक अपराधकर्ता छूट जाते हैं।

विवेचन—इन्द्र-कथित हेतु और उदाहरण—'आप धर्मिष्ठ क्षत्रिय शासक होने से चोर आदि अधार्मिक व्यक्तियो का निग्रह करके नगर मे शान्ति स्थापित करने वाले है। जो धार्मिक शासक होता है, वह अधार्मिको का निग्रह करके नगर मे शान्ति स्थापित करता है। जैसे भरतादि नृप, यह हेतु है। चोरादि अधार्मिक व्यक्तियो का निग्रह करके नगरक्षेम किये बिना आपका शासकत्व एव धार्मिकत्व घटित नही हो सकता, यह कारण है। अत अधार्मिको का निग्रह करके नगरक्षेम किये बिना आपका दीक्षा लेना अनुचित है।'[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का तात्पर्य—हे विप्र! प्रजापीडक जनो का दमन करके नगर मे शान्ति स्थापित करने के बाद प्रव्रजित होने का आपका कथन एकान्तत उपादेय नही है, क्योकि बहुत वार वास्तविक अपराधी जाने नही जाते, इसलिए वे दण्डित होने से बच जाते है और निरपराध दण्डित किये जाते है। ऐसी स्थिति मे निरपराधियो को जाने विना ही दण्ड दे देने वाले शासक मे धार्मिकता कैसे घटित हो सकती है? अत आपका हेतु असिद्ध है। आध्यात्मिक दृष्टि से नमि राजर्षि का तात्पर्य यह था कि ये इन्द्रियरूपी तस्कर ही मोक्षाभिलाषियो के द्वारा निग्रह—दमन—करने योग्य है, क्योकि ये ही आत्मगुणरूपी सर्वस्व के अपहारक है। जो-जो सर्वस्व-अपहारक होते हैं, वे ही निग्रहणीय होते है, जैसे तस्कर आदि। इस प्रकार नमि राजर्षि द्वारा उक्त हेतु एव कारण है।[2]

आमोषादि चारों के अर्थ—(१) **आमोष**—पथमोषक—बटमार, मार्ग मे लूटने वाला, सर्वस्व हरण करने वाला।

(२) **लोमहार**—मारकर सर्वस्व हरण करने वाला, डाकू, पीड़नमोषक—पीडा पहुँचा कर लूटने वाला।

(३) **ग्रन्थिभेदक**—द्रव्य सम्बन्धी गाठ कैंची आदि के द्वारा कुशलता से काट लेने वाला, या सुवर्णयौगिक या नकली सोना बना कर युक्ति से अथवा इसी तरह के दूसरे कौशल से लोगो को ठगने वाला।

(४) **तस्कर**—सदैव चोरी करने वाला।[3]

मिच्छादंडो पउंजई—अज्ञान, अहकार और लोभ आदि कारणो से मनुष्य मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है, अर्थात्—वह निरपराध को देश-निष्कासन तथा शारीरिक निग्रह—यातना आदि दण्ड दे देता है।[4]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ (ख) उत्त., प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ ४१०

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ (ख) उत्त, प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ ४१२-४१३

३. (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १८३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२

४ 'मिथ्या-व्यलीक:, किमुक्त भवति ?—अनपराधिष्वज्ञानाहकारादिहेतुभिरपराधिष्विव दण्डन—दण्ड.—देशत्याग-शरीरनिग्रहादि।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३१३

छठा प्रश्नोत्तर : उद्दण्ड राजाओं को वश में करने के सम्बन्ध में

३१. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी ॥

[३१] इस (अनन्तरोक्त) अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

३२. 'जे केइ पत्थिवा तुब्भं नाऽऽनमन्ति नराहिवा !
वसे ते ठावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥'

[३२] हे नराधिपति ! हे क्षत्रिय ! कई राजा, जो आपके सामने नही झुकते (नमते—आज्ञा नही मानते), (पहले) उन्हे अपने वश मे करके, फिर (प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए) जाना ।

३३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[३३] (देवेन्द्र की) यह बात सुन कर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यो कहा—

३४. 'जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥'

[३४] जो दुर्जय (जहाँ विजयप्राप्ति दुष्कर हो, ऐसे) सग्राम मे दस लाख सुभटो को जीतता है, (उसकी अपेक्षा जो) एक आत्मा को (विषय-कषायो मे प्रवृत्त अपने आपको) जीत (वश मे कर) लेता है, उस (आत्मजयी) की यह विजय ही उत्कृष्ट (परम) विजय है ।

३५. अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए—॥

[३५] अपने आपके साथ युद्ध करो, तुम्हे बाहरी युद्ध (राजाओ आदि के साथ युद्ध) करने से क्या लाभ ?, (क्योकि मुनि विषयकषायो मे प्रवृत्त) आत्मा को आत्मा द्वारा जीत कर ही (शाश्वत स्ववश मोक्ष) सुख को प्राप्त करता है ।

३६. पंचिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं ॥

[३६] (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एव श्रोत्र, ये) पाच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा—मन (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग से दूषित मन); ये सब एक (अकेले अपने) आत्मा को जीत लेने पर जीत लिये जाते हैं ।

विवेचन—इन्द्र द्वारा कथित हेतु और कारण—आपको उद्दण्ड और नहीं झुकने वाले राजाओ को नमन कराना (झुकाना) चाहिए, क्योकि आप सामर्थ्यवान् नराधिप क्षत्रिय हैं । जो सामर्थ्यवान् नराधिपति होते हैं, वे उद्दण्ड राजाओं को नमन कराने वाले होते हैं, जैसे भरत आदि नृप; यह हेतु है ।

सामर्थ्य होने पर भी आप उद्दण्ड राजाओ को नही झुकाते, इसलिए आपमें नराधिपत्व एवं क्षत्रियत्व घटित नही हो सकता, यह कारण है। अतः राजाओ को जीते बिना आपका प्रव्रजित होना अनुचित है।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—बाह्य शत्रुओ को जीतने से क्या लाभ? क्योकि उससे सुख प्राप्ति नही हो सकती, पचेन्द्रिय, क्रोधादिकषाय एव दुर्जय मन आदि से युक्त दु खहेतुक एक आत्मा को जीत लेने पर सभी जीत लिये जाते हैं, यह विजय ही शाश्वत सुख का कारण है। अत· मुमुक्षु आत्मा द्वारा शाश्वतसुखविघातक कषायादि युक्त आत्मा ही जीतने योग्य है। अतः मैं बाह्य-शत्रुओ पर विजय की उपेक्षा करके आत्मा को जीतने मे प्रवृत्त हूँ।[2]

दुज्जयं चेव अप्पाणं—दो व्याख्याएँ—(१) दुर्जय आत्मा अर्थात् मन; जो अनेकविध अध्यवसाय-स्थानो मे सतत गमन करता है, वह आत्मा—मन ही है। अथवा (२) आत्मा (जीव) ही दुर्जय है। इस आत्मा के जीत लेने पर सब बाह्य शत्रु जीत लिये जाते हैं।[3]

सप्तम प्रश्नोत्तर : यज्ञ, ब्राह्मणभोजन, दान और भोग करके दीक्षाग्रहण के सम्बन्ध में

३७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[३७] (नमि राजर्षि की) इस उक्ति को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८. 'जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य तओ गच्छसि खत्तिया!॥

[३८] हे क्षत्रिय! पहले (ब्राह्मणो द्वारा) विपुल यज्ञ करा कर, श्रमणो और ब्राह्मणो को भोजन करा कर तथा (ब्राह्मणादि को गौ, भूमि, स्वर्ण आदि का) दान देकर, (मनोज्ञ शब्दादि भोगो का) उपभोग कर एव (स्वय) यज्ञ करके फिर (दीक्षा के लिए) जाना।

३९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[३९], इस (अनन्तरोक्त) अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह कहा—

४०. 'जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण॥'

[४०] जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायो का दान करता है, उसका भी (कदाचित्

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४१५

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४१९-४२०

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ (१) अतति सतत गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेरात्मा मन, तच्च दुर्जयम् (२) अथवा चकारो हेत्वर्थ, यस्मादात्मैव जीव एव दुर्जय। ततः सर्वमिन्द्रियाद्यात्मनि जिते जितम्।

चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम हो तो) सयम (ग्रहण करना) श्रेयस्कर-कल्याणकारक है, (भले ही) वह (उस अवस्था मे) (किसी को) कुछ भी दान न देता हो।

विवेचन—देवेन्द्र-कथित हेतु और कारण—यज्ञ, दान आदि धर्मजनक है, क्योकि ये प्राणियो के लिए प्रीतिकारक हैं। जो जो कार्य प्राणिप्रीतिकारक होते है, वे-वे धर्मजनक है, जैसे प्राणातिपात-विरमण आदि, यह हेतु है और यज्ञादि मे प्राणिप्रीतिकरता धर्मजनकत्व के बिना नही होती, यह कारण है। इन्द्र के कथन का आशय है कि आप जब तक यज्ञ नही करते-कराते, गो आदि का दान स्वय नही देते-दिलाते तथा श्रमण-ब्राह्मणो को भोजन नही कराते और स्वय शब्दादि विषयो का उपभोग नही करते, तब तक आपका दीक्षित होना अनुचित है।[1]

राजर्षि द्वारा प्रदत्त उत्तर का आशय—ब्राह्मणवेषी इन्द्र ने राजर्षि के समक्ष ब्राह्मण-परम्परा मे प्रचलित यज्ञ, ब्राह्मणभोजन, दान और भोग-सेवन, ये चार विषय प्रस्तुत किये थे, जबकि राजर्षि ने उनमे से केवल एक दान का उत्तर दिया है, शेष प्रश्नो के उत्तर उसी मे समाविष्ट हैं। दस लाख गायो का दान प्रतिमास देने वाले की अपेक्षा किञ्चित् भी दान न देने वाले व्यक्ति का सयमपालन श्रेयस्कर है। इसका तात्पर्य यह नही है कि अन्न-वस्त्रादि का दान पापजनक है या योग्य पात्र को इनका दान नही करना चाहिए, किन्तु इस शास्त्रवाक्य का अभिप्राय यह है कि योग्य पात्र को दान देना यद्यपि पुण्यजनक है, तथापि वह दान सयम के समान श्रेष्ठ नही है। सयम उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योकि दान से तो परिमित प्राणियो का ही उपकार होता है, किन्तु सयमपालन करने मे सर्वसावद्य से विरति होने से उसमे षट्काय (समस्त प्राणियो) की रक्षा होती है। इस कथन से दान की पुण्यजनकता सिद्ध होती है, क्योकि यदि दान पुण्यजनक न होता तो सयम उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह कथन असगत हो जाता। तीर्थंकर भी दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक लगातार दान देते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रदत्त दान महापुण्यवर्द्धक है, मगर उसकी अपेक्षा भी अकिंचन बन कर सयमपालन करना अत्यन्त श्रेयस्कर है, यह बताना ही तीर्थंकरों के दान का रहस्य है।[2]

यज्ञ आदि प्रेय हैं, सावद्य है, क्योकि उनमे पशुवध होता है, स्थावरजीवो की भी हिंसा होती है और भोग भी सावद्य ही हैं. इसलिए जो सावद्य है, वह प्राणिप्रीतिकारक नही होता, जैसे हिसा आदि। यज्ञ आदि सावद्य होने से प्राणिप्रीतिकर नही हैं। नमि राजर्षि का आशय यह है कि दान-यज्ञादि से सयम श्रेयस्कर है, इसलिए दानादि अनुष्ठान किये बिना ही मेरे द्वारा सयमग्रहण करना अनुचित नहीं है।[3]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४२४

२ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४२५-४२६

३ गोदान चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम्। एव च सयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीना सावद्यत्वमर्थादावेदितम्। तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

इयत्पशुवधे कथमसावद्यतानाम ?·· भोगाना तु सावद्यत्व सुप्रसिद्धम्। तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतु —यत्सावद्य, न तत्प्राणिप्रीतिकरम् यथा हिंसादि। सावद्यानि च यागादीनि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५

अष्टम प्रश्नोत्तर : गृहस्थाश्रम में ही धर्मसाधना के सम्बन्ध में

४१. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[४१] (राजर्षि के) इस वचन को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित होकर देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२. 'घोरासमं चइत्ताणं अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ भवाहि मणुयाहिवा! ॥'

[४२] हे मानवाधिप! आप घोराश्रम अर्थात्—गृहस्थाश्रम का त्याग करके अन्य आश्रम (सन्यासाश्रम) को स्वीकार करना चाहते हो, (यह उचित नही है।) आप इस (गृहस्थाश्रम मे) मे ही रहते हुए पौषधव्रत मे तत्पर रहें।

४३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[४३] (देवेन्द्र की) यह बात सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४. 'मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥'

[४४] जो बाल (अज्ञानी) साधक महीने-महीने का तप करता है और पारणा में कुश के अग्रभाग पर आए, उतना ही आहार करता है, वह सुआख्यात धर्म (सम्यक्चारित्ररूप मुनि-धर्म) की सोलहवी कला को भी नही पा सकता।

विवेचन—घोराश्रम का अर्थ यहाँ गृहस्थाश्रम किया गया है। वैदिकदृष्टि से गृहस्थाश्रम को घोर अर्थात्—अल्प सत्त्वो के लिए अत्यन्त दुष्कर, दुरनुचर, कठिन इसलिए बताया गया है कि इसी आश्रम पर शेष तीन आश्रम आधारित हैं। ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम, इन तीनो आश्रमो का परिपालक एव रक्षक गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रमी पर इन तीनो के परिपालन का दायित्व आता है, स्वय अपने गार्हस्थ्य जीवन को चलाने और निभाने का दायित्व भी है तथा कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, न्याय, सुरक्षा आदि गृहस्थाश्रम की साधना अत्यन्त कष्ट-साध्य है, जबकि अन्य आश्रमों मे न तो दूसरे आश्रमो के परिपालन की जिम्मेदारी है और न ही स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण की चिन्ता है और न कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, न्याय, सुरक्षा आदि का दायित्व है। इस दृष्टि से अन्य आश्रम इतने कष्टसाध्य नही हैं। महाभारत मे बताया गया है कि जैसे सभी जीव माता का आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर सभी जीते है। मनुस्मृति मे भी गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठाश्रम कहा गया है। चूर्णिकार ने इसी आशय को व्यक्त किया है कि

प्रव्रज्या का पालन करना तो सुखसाध्य है, किन्तु गृहस्थाश्रम का पालन दु:खसाध्य—कठिन है।[1]

देवेन्द्र-कथित हेतु और कारण—धर्मार्थी पुरुष को गृहस्थाश्रम का सेवन करना चाहिए, क्योंकि वह घोर है, अर्थात् संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम घोर है, जैसे अनशनादि तप। उसे छोड़ कर संन्यासाश्रम में जाना उचित नहीं। यह हेतु और कारण है।[2]

राजर्षि के उत्तर का आशय—घोर होने मात्र से कोई कार्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता। बालतप करने वाला तपस्वी पचाग्नितप, कटकशय्याशयन आदि घोर तप करता है, किन्तु वह सर्वसावद्य-विरति रूप मुनिधर्म (संयम) की तुलना मे नही आता, यहाँ तक कि वह उसके सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है। अत जो स्वाख्यातधर्म नहीं है, वह घोर हो तो भी धर्मार्थी के लिए अनुष्ठेय—आचरणीय नहीं है, जैसे आत्मवध आदि। वैसे ही गृहस्थाश्रम है, क्योंकि गृहस्थाश्रम का घोर रूप सावद्य होने से मेरे लिए हिंसादिवत् त्याज्य है। आशय यह है कि धर्मार्थी के लिए गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यातधर्म नहीं है, उसके लिए स्वाख्यातधर्म ही आचरणीय है, चाहे वह घोर हो या अघोर। इसलिए मैं गृहस्थाश्रम को जो छोड रहा हूँ, वह उचित ही है।[3]

'स्वाख्यातधर्म' का अर्थ—तीर्थंकर आदि के द्वारा सर्वसावद्यप्रवृत्तियो से विरति रूप होने से जिसे सर्वथा सुष्ठु—शोभन कहा गया (कथित) है। आशय यह है कि तीर्थंकरो द्वारा कथित सर्वविरतिचारित्ररूप धर्म स्वाख्यात है। इसका समग्ररूप से आचरण करने वाला स्वाख्यातधर्मा—सर्वविरतिचारित्रवान् मुनि होता है।[4]

'कुसग्गेण तु भुंजए' : दो रूप, दो अर्थ—(१) जो कुश की नोक पर टिके उतना ही खाता है, (२) कुश के अग्रभाग से ही खाता है, अगुली आदि से उठा कर नहीं खाता। पहले का आशय एक बार खाना है, जबकि दूसरे का आशय अनेक बार खाना है।[5]

नवम प्रश्नोत्तर : हिरण्यादि तथा भण्डार की वृद्धि करने के सम्बन्ध में

४५. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[४५] (राजर्षि का) पूर्वोक्त कथन सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१. (क) घोर अत्यन्त दुरनुचर, स चासौ आश्रमश्च घोराश्रमो गार्हस्थ्य, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात्। यत आहु—'गृहस्थाश्रमसमो धर्मो, न भूतो, न भविष्यति। पालयन्ति नरा शूरा, क्लीबा पाखण्डमाश्रिता ॥ अन्यमेतद् व्यतिरिक्त कृषि पशुपाल्याद्यशक्तकातरजनाभिनन्दित ।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५.

(ख) 'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव । तथा गृहस्थाश्रम प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमा ॥'

—महाभारत-अनुशासन पर्व, अ १४१

(ग) 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।' —मनुस्मृति ३।७८

(घ) 'आश्रयन्ति तमित्याश्रया:, का भावना ? सुख हि प्रव्रज्या क्रियते, दु ख गृहाश्रम इति, त हि सर्वाश्रमास्तर्कयन्ति।' —उत्त. चूर्णि, पृ १८४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ ३ वही, पत्र ३१६

४. वही, पत्र ३१६ ५ बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६

४६. 'हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं वड्ढावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[४६] हे क्षत्रियप्रवर! (पहले) आप चांदी, सोना, मणि, मुक्ता, कासे के पात्र, वस्त्र, वाहन और कोश (भण्डार) की वृद्धि करके तत्पश्चात् प्रव्रजित होना।

४७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविंद इणमब्बवी—॥

[४७] इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८. 'सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया॥

[४८] कदाचित् सोने और चादी के कैलाशपर्वत के तुल्य असख्य पर्वत हो (मिल जाए), फिर भी लोभी मनुष्य की उनसे किंचित् भी तृप्ति नही होती, क्योकि (मनुष्य की) इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है

४९. पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स इइ विज्जा तवं चरे॥

[४९] सम्पूर्ण पृथ्वी, शाली धान्य, जौ तथा दूसरे धान्य एव समस्त पशुओ सहित (समग्र) स्वर्ण, ये सब वस्तुएँ एक की भी इच्छा को परिपूर्ण करने मे समर्थ नही हैं—यह जान कर विद्वान् साधक तपश्चरण (इच्छानिरोध) करे।

विवेचन—इन्द्रोक्त हेतु और कारण—'आप अभी मुनि-धर्मानुष्ठान करने योग्य नही बने, क्योकि आप अभी तक आकाक्षायुक्त है। आपने अभी तक आकाक्षायोग्य स्वर्णादि वस्तुएँ पूर्णतया एकत्रित नही की। इन सब वस्तुओ की वृद्धि हो जाने से, इन सबकी आकाक्षा एव गृद्धि शान्त एव तृप्त हो जाएगी; तब आपका मन प्रव्रज्यापालन मे निराकुलतापूर्वक लगा रहेगा। अतः जब तक व्यक्ति आकाक्षायुक्त होता है, तब तक वह धर्मानुष्ठानयोग्य नही होता, जैसे—मम्मण श्रेष्ठी, यह हेतु है, हिरण्यादि की वृद्धि से आकाक्षापूर्ति करने के बाद ही आप मुनिधर्मानुष्ठान के योग्य बनेंगे, यह कारण है।'[1]

राजर्षि द्वारा समाधान का निष्कर्ष—संतोष ही निराकाक्षता मे हेतु है, हिरण्यादि की वृद्धि हेतु नही है। यहाँ साकाक्षत्व हेतु असिद्ध है। आकाक्षणीय वस्तुओ की परिपूर्ति न होने पर भी यदि आत्मा मे सतोष है तो उससे आकाक्षणीय वस्तुओ की आकाक्षा ही जीव को नही रहती और इच्छाओ का निरोध एव नि.स्पृह (निराकाक्षा-) वृत्ति द्वादशविध तप एव सयम के आचरण से जागती है। इसलिए जब मुझे तपश्चरण से सतोष प्राप्त हो चुका है, तब तद्विषयक आकाक्षा न होने से उनके

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६
(ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४३९, ४४०

बढ़ाने आदि को बात कहना और उन वस्तुओ की वृद्धि न होने से मुनिधर्मानुष्ठान के अयोग्य बताना युक्तिविरुद्ध है ।[1]

हिरण्णं सुवण्णं—हिरन्य सुवर्ण : तीन अर्थ—(१) हिरण्य—चादी, सुवर्ण—सोना । (२) सुवर्ण-हिरण्य—शोभन (सुन्दर) वर्ण का सोना । (३) हिरण्य का अर्थ घडा हुआ सोना और सुवर्ण का अर्थ बिना घड़ा हुआ सोना ।[2]

इइ विज्जा . दो रूप . दो अर्थ—(१) इति विदित्वा—ऐसा जानकर, (२) इति विद्वान्—इस कारण से विद्वान् साधक ।[3]

दशम प्रश्नोत्तर : प्राप्त कामभोगों को छोड़ कर अप्राप्त को पाने की इच्छा के संबंध में

५० एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[५०] (राजर्षि के मुख से) इस सत्य को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से यह कहा—

५१. 'अच्छेरगमब्भुदए भोए चयसि पत्थिवा ! ।
असन्ते कामे पत्थेसि संकप्पेण विहम्मसि ॥'

[५१] हे पृथ्वीपते ! आश्चर्य है कि तुम सम्मुख आए हुए (प्राप्त) भोगो को त्याग रहे हो और अप्राप्त (अविद्यमान) काम-भोगो की अभिलाषा कर रहे हो ! (मालूम होता है) (उत्तरोत्तर अप्राप्त-भोगाभिलाषरूप) सकल्प-विकल्पो से तुम बाध्य किये जा रहे हो ।

५२. एयमट्ठ निसामित्ता हेउ—कारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[५२] (देवेन्द्र की) इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित होकर नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

५३. 'सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं ॥

[५३] (ये शब्दादि) काम-भोग शल्य रूप हैं, ये कामादि विषय विषतुल्य हैं, ये काम

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६
(ख) उत्त प्रियदर्शिनी टीका, भा २, पृ ४४३

२ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १८५ हिरण्य—रजत, शोभनवर्णं-सुवर्णम् ।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ हिरण्य-सुवर्ण—सुवर्ण शोभनवर्ण विशिष्टवर्णिकमित्यर्थ । यद्वा—हिरण्य—घटितस्वर्णमितरस्तु सुवर्णम् ।
(ग) सुखबोधा, पत्र १५१

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ 'इति—इत्येतत्श्लोकद्वयोक्त विदित्वा, यद्वा—इति—अस्माद्धेतो, विद्वान्—पण्डित ।

आशीविष सर्प के समान हैं। कामभोगों को चाहने वाले (किन्तु परिस्थितिवश) उनका सेवन न कर सकने वाले जीव भी दुर्गति प्राप्त करते हैं।

५४. अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं॥

[५४] क्रोध से जीव अधो (नरक) गति मे जाता है, मान से अधमगति होती है, माया से सद्गति का प्रतिघात (विनाश) होता है और लोभ से इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार का भय होता है।

विवेचन—इन्द्र-कथित हेतु और कारण—जो विवेकवान् होता है, वह अप्राप्त की आकांक्षा से प्राप्त कामभोगो को नही छोडता, जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि। यह हेतु है अथवा हेतु इस प्रकार भी है—आप कामभोगो के परित्यागी नही हैं क्योकि आप मे अप्राप्त कामभोगों की अभिलाषा विद्यमान है। जो-जो ऐसे होते हैं, वे प्राप्त कामो के परित्यागी नही होते, जैसे मम्मण सेठ। उसी तरह आप भी हैं। इसलिए आप प्राप्त कामो के परित्यागी नही हो सकते तथा कारण इस प्रकार है—प्रव्रज्याग्रहण से अनुमान होता है, आप मे अप्राप्त भोगो की अभिलाषा है, किन्तु अप्राप्त भोगो की अभिलाषा, प्राप्त कामभोगो के अपरित्याग के बिना बन नही सकती। इसलिए प्राप्त कामभोगो का परित्याग करना अनुचित है।[1]

नमि राजर्षि द्वारा उत्तर का आशय—मोक्षाभिलाषी के लिए विद्यमान और अविद्यमान, दोनो प्रकार के कामभोग शल्य, विष और आशीविष सर्प के समान हैं। रागद्वेष के मूल एव कषायवर्द्धक होने से इन दोनो प्रकार के कामभोगो की अभिलाषा सावद्यरूप है। इसलिए मोक्षाभिलाषी के लिए प्राप्त या अप्राप्त कामभोगो की अभिलाषा, सर्वथा त्याज्य है। आपने अविद्यमान भोगो के इच्छाकर्ता को प्राप्तकामभोगो का त्यागी नही माना, यह हेतु असिद्ध है। क्योकि मैं मोक्षाभिलाषी हूँ, मोक्षाभिलाषी मे लेशमात्र भी कामाभिलाषा होना अनुचित है। इसलिए कामभोग ही नही, विद्यमान-अविद्यमान कामभोगो की अभिलाषा मैं नही करता।[2]

अब्भुदए भोए : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) अद्भुतकान् भोगान्—आश्चर्यरूप भोगो को, (२) अभ्युद्यतान् भोगान्—प्रत्यक्ष विद्यमान भोगो को, (३) अभ्युदये भोगान्—इतना धन, वैभव, यौवन, प्रभुत्व आदि का अभ्युदय (उन्नति) होते हुए भी (सहजप्राप्त) भोगो को।[3]

संकप्पेण विहन्नसि—आप सकल्पो (अप्राप्त कामभोगो की प्राप्ति की अभिलाषारूप विकल्पो) से विशेषरूप से ठगे जा रहे हैं या बाधित—उत्पीडित हो रहे हैं।[4]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७
  (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ. ४४७-४४८

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७
  (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४५१

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७

४ (क) वही, पत्र ३१७
  (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ४४७

देवेन्द्र द्वारा असली रूप में स्तुति, प्रशंसा एवं वन्दना

५५. अवउज्झिऊण माहणरूवं विउव्विऊण इन्दत्तं।
वन्दइ अभित्थुणन्तो इमाहि महुराहिं वग्गूहिं—॥

[५५] देवेन्द्र, ब्राह्मण रूप को छोड कर अपनी वैक्रियशक्ति से अपने वास्तविक इन्द्र के रूप को प्रकट करके इन मधुर वचनो से स्तुति करता हुआ (नमि राजर्षि को) वन्दना करता है—

५६. 'अहो! ते निज्जिओ कोहो अहो! ते माणो पराजिओ।
अहो! ते निरक्किया माया अहो! ते लोभो वसीकओ॥

[५६] अहो! आश्चर्य है—आपने क्रोध को जीत लिया है, अहो! आपने मान को पराजित किया है, अहो! आपने माया को निराकृत (दूर) कर दिया है, अहो! आपने लोभ को वश मे कर लिया है।

५७. अहो! ते अज्जवं साहु अहो! ते साहु मद्दवं।
अहो! ते उत्तमा खन्ती अहो! ते मुत्ति उत्तमा॥

[५७] अहो! आपका आर्जव (सरलता) उत्तम है, अहो! उत्तम है आपका मार्दव (कोमलता), अहो! उत्तम है आपकी क्षमा, अहो! उत्तम है आपकी निर्लोभता।

५८. इहं सि उत्तमो भन्ते! पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छसि नीरओ॥'

[५८] भगवन्! आप इस लोक मे भी उत्तम है और परलोक मे भी उत्तम होगे, क्योकि कर्म-रज से रहित होकर आप लोक मे सर्वोत्तम स्थान—सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे।

५९. एवं अभित्थुणन्तो रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए।
पयाहिणं करेन्तो पुणो पुणो वन्दई सक्को॥

[५९] इस प्रकार उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति तथा प्रदक्षिणा करते हुए शक्रेन्द्र ने पुन - पुन. वन्दना की।

६०. तो वन्दिऊण पाए चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी॥

[६०] तदनन्तर नमि मुनिवर के चक्र और अकुश के लक्षणो (चिह्नो) से युक्त चरणो मे वन्दन करके ललित एवं चपल कुण्डल और मुकुट का धारक इन्द्र आकाशमार्ग से उड़ गया (स्वस्थान में चला गया)।

विवेचन—इन्द्र के द्वारा राजर्षि की स्तुति का कारण—इन्द्र ने सर्वप्रथम नमि राजर्षि से यह कहा था कि 'आप पहले उद्धत राजवर्ग को जीते, बाद मे दीक्षा ले,' इससे राजर्षि का चित्त जरा भी क्षुब्ध नही हुआ। इन्द्र को ज्ञात हो गया कि आपने क्रोध को जीत लिया है तथा जब इन्द्र ने कहा कि आपका अन्त पुर एवं राजभवन जल रहा है, तब मेरे जीवित रहते मेरा अन्तःपुर एवं राजभवन

आदि जल रहे हैं, क्या मैं इसकी रक्षा नही कर सकता ? इस प्रकार राजर्षि के मन में जरा-सा भी अहंकार उत्पन्न न हुआ। तत्पश्चात् जब इन्द्र ने राजर्षि को तस्करो, दस्युओ आदि का निग्रह करने के लिए प्रेरित किया, तब आपने जरा भी न छिपा कर निष्कपट भाव से कहा था कि मैं कैसे पहचानू कि यह वास्तविक अपराधी है, यह नही ? इसलिए दूसरो का निग्रह करने की अपेक्षा मैं अपनी दोषदुष्ट आत्मा का ही निग्रह करता हूँ। इससे उनमे माया पर विजय का स्पष्ट लक्षण प्रतीत हुआ। जब इन्द्र ने यह कहा कि आप पहले हिरण्य-सुवर्ण आदि बढ़ा कर, आकाक्षाओ को शान्त करके दीक्षा लें तो उन्होने कहा कि आकाक्षाएँ अनन्त, असीम हैं, उनकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। मैं तप-सयम के आचरण से निराकाक्ष होकर ही अपनी इच्छाओ को शान्त करने जा रहा हूँ। इससे इन्द्र को उनमे लोभविजय की स्पष्ट प्रतीति हुई। इसीलिए इन्द्र ने आश्चर्य व्यक्त किया कि राजवश मे उत्पन्न होकर भी आपने कषायो को जीत लिया। इसके अतिरिक्त इन्द्र को अपने द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो के राजर्षि द्वारा किये समाधान मे भी सर्वत्र उनकी सरलता, मृदुता, क्षमा, निर्लोभता आदि साधुता के उज्ज्वल गुणो के दर्शन हुए। इसलिए इन्द्र ने उनकी साधुता का बखान किया तथा यहाँ और परलोक मे भी उनके उत्तम होने और सर्वोत्तम सिद्धिस्थान प्राप्त करने की भविष्यवाणी की। अन्त मे पूर्ण श्रद्धा से उनके चरणो मे बारबार वन्दना की।[1]

तिरीडी—किरीटी—सामान्यतया किरीट और मुकुट दोनो पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, अत: बृहद्वृत्ति मे तिरीटी का अर्थ मुकुटवान् ही किया है, किन्तु सूत्रकृतागचूर्णि मे—जिसके तीन शिखर हो, उसे 'मुकुट' और जिसके चौरासी शिखर हो, उसे 'तिरीट या किरीट' कहा गया है। जिसके सिर पर किरीट हो, उसे किरीटी कहते हैं।[2]

श्रामण्य में सुस्थित नमि राजर्षि और उनके दृष्टान्त द्वारा उपदेश

६१. नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

[६१] नमि राजर्षि ने (इन्द्र द्वारा स्तुति-वन्दना होने पर गर्व त्याग करके) भाव से अपनी आत्मा को (आत्मतत्त्व भावना से) विनत किया। साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी (श्रमणधर्म से विचलित न होकर) गृह और वैदेही (-विदेहदेश की राजधानी मिथिला अथवा विदेह की राज्यलक्ष्मी) को त्याग कर श्रामण्यभाव की आराधना मे तत्पर हो गए।

६२. एवं करेन्ति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु जहा से नमी रायरिसी॥
—त्ति बेमि।

[६२] जो सम्बुद्ध (तत्त्वज्ञ), पण्डित (शास्त्र के अर्थ का निश्चय करने वाले) और

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१८-३१९ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४५५

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१९
(ख) सूत्रकृतागचूर्णि, पृ. ३६०—'तिहिं सिहरेहिं मउडो वुच्चति, चउरासीहिं तिरीडं।'

प्रविचक्षण (अतीव अभ्यास के कारण प्रवीणता प्राप्त) हैं, वे भी इसी (नमि राजर्षि की) तरह (धर्म मे निश्चलता) करते हैं ! तथा कामभोगो से निवृत्त होते हैं, जैसे कि नमि राजर्षि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—नमेइ अप्पाणं : दो व्याख्या—(१) भावत आत्मा को स्वतत्त्वभावना से विनत किया, (२) नमि ने आत्मा को नमाया—सयम के प्रति समर्पित कर दिया—झुका दिया ।

वइदेही—दो अर्थ—(१) जिसका विदेह नामक जनपद है, वह वैदेही, विदेहजनपदाधिप । (२) विदेह मे होने वाली वैदेही—मिथिला नगरी ।[1]

।। नमिप्रव्रज्या : नवम अध्ययन समाप्त ।।

---

१ बृहद्वृत्ति पत्र ३२०

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'द्रुमपत्रक' है, यह नाम भी आद्यपद के आधार पर रखा गया है।[1]

* प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

चम्पानगरी के पृष्ठभाग मे पृष्ठचम्पा नगरी थी। वहाँ साल और महाशाल ये दो सहोदर भ्राता थे। शाल वहाँ के राजा थे और महाशाल युवराज। इनकी यशस्वती नाम की एक बहन थी। बहनोई का नाम पिठर और भानजे का नाम था—गागली। एक बार श्रमण भगवान् महावीर विहार करते हुए पृष्ठचम्पा पधारे। शाल और महाशाल दोनो भाई भगवान् को वन्दना के लिए गए। वहाँ उन्होने भगवान् का धर्मोपदेश सुना। शाल का अन्त करण ससार से विरक्त हो गया। वह नगर में आया और अपने भाई के समक्ष स्वय दीक्षा लेने की और उसे राज्य ग्रहण करने की बात कही तो महाशाल ने कहा—'मुझे राज्य से कोई प्रयोजन नही। मैं स्वय इस असार ससार से विरक्त हो गया हूँ। अत आपके साथ प्रव्रजित होना चाहता हूँ। राजा ने अपने भानजे गागली को काम्पिल्यपुर से बुलाया और उसे राज्य का भार सौंप कर दोनो भाई भगवान् के चरणो मे दीक्षित हो गए। गागली राजा ने अपने माता-पिता को पृष्ठचम्पा बुला लिया। दोनो श्रमणो ने ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह से विहार करके चम्पानगरी जा रहे थे। तभी शाल और महाशाल मुनि ने भगवान् के पास आकर सविनय प्रार्थना की—'भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो हम दोनो स्वजनो को प्रतिबोधित करने के लिए पृष्ठचम्पा जाना चाहते हैं।'

भगवान् ने श्री गौतमस्वामी के साथ उन दोनो को जाने की अनुज्ञा दी। श्री गौतमस्वामी के साथ दोनो मुनि पृष्ठचम्पा आए। वहाँ के राजा गागली और उसके माता-पिता को दीक्षित करके वे सब पुन भगवान् महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग मे चलते-चलते शाल और महाशाल के अध्यवसायो की पवित्रता बढी—धन्य है गौतमस्वामी को, जो इन्होने ससार-सागर से पार कर दिया। उधर गागली आदि तीनों ने भी ऐसा विचार किया—शाल महाशाल मुनि हमारे परम उपकारी है। पहले तो इनसे राज्य पाया और अब महानन्दप्राप्तिकारक सयम। इस प्रकार पाचो ही व्यक्तियो को केवलज्ञान हुआ। सभी भगवान् के पास पहुँचे। ज्यो ही शाल, महाशाल आदि पाचो केवलियो की परिषद् मे जाने लगे तो गौतम ने उन सब को रोकते हुए कहा—'पहले त्रिलोकीनाथ भगवान् को वन्दना करो।'

भगवान् ने गौतम से कहा—'गौतम! ये सब केवलज्ञानी हो चुके हैं। इनकी आशातना मत करो।'

---

१. दुमपत्तेणोवमियं, अहट्ठिइए उवक्कमेण च।
एत्थ कयं आइम्मी, तो दुमपत्तं ति अज्झयण ॥१८॥ —उत्त निर्युक्ति

गौतम ने उनसे क्षमायाचना की परन्तु उनका मन अधीरता और शका से भर गया कि मेरे बहुत-से शिष्य केवलज्ञानी हो चुके हैं, परन्तु मुझे अभी तक केवलज्ञान नही हुआ ! क्या मैं सिद्ध नही होऊँगा ?[1]

इसी प्रकार एक बार गौतमस्वामी अष्टापद पर गए थे। वहाँ कौडिन्य, दत्त और शैवाल नामक तीन तापस अपने पाच-पाच सौ शिष्यो के साथ क्लिष्ट तप कर रहे थे। इनमे से कौडिन्य उपवास के अनन्तर पारणा करके फिर उपवास करता था। पारणा मे मूल, कन्द आदि का आहार करता था। वह अष्टापद पर्वत पर चढा, किन्तु एक मेखला से आगे न जा सका। दत्त बेले-बेले का तप करता था और पारणा मे नीचे पडे हुए पीले पत्ते खा कर रहता था। वह अष्टापद की दूसरी मेखला तक ही चढ पाया। शैवाल तेले-तेले का तप करता था, पारणे मे सूखी शैवाल (सेवार) खाता था। वह अष्टापद की तीसरी मेखला तक ही चढ पाया।

गौतमस्वामी वहाँ आए तो उन्हे देख तापस परस्पर कहने लगे—हम महातपस्वी भी ऊपर नही जा सके तो यह स्थूल शरीर वाला साधु कैसे जाएगा ? परन्तु उनके देखते ही देखते गौतमस्वामी जघाचारणलब्धि से सूर्य की किरणो का अवलम्बन लेकर शीघ्र ही चढ गए और क्षणभर मे अन्तिम मेखला तक पहुँच गए। आश्चर्यचकित तापसो ने निश्चय कर लिया कि ज्यो यह मुनि नीचे उतरेगे, हम उनके शिष्य बन जाएँगे। प्रात काल जब गौतमस्वामी पर्वत से नीचे उतरे तो तापसो ने उनका रास्ता रोक कर कहा—'पूज्यवर ! आप हमारे गुरु है, हम सब आपके शिष्य हैं।' तब गौतम बोले—'तुम्हारे और हमारे सब के गुरु तीर्थंकर महावीर है।' यह सुन कर वे आश्चर्य से बोले—'क्या आपके भी गुरु हैं ?' गौतमस्वामी ने कहा—'हाँ, सुरासुरो एव मानवो द्वारा पूज्य, रागद्वेषरहित सर्वज्ञ प्रभु महावीर स्वामी जगद्गुरु हैं, वे मेरे भी गुरु हैं।' सभी तापस यह सुन कर हर्षित हुए। सभी तापसो को प्रव्रजित कर गौतम भगवान् की ओर चल पडे।

मार्ग मे गौतमस्वामी ने अक्षीणमहानसलब्धि के प्रभाव से सभी साधको को 'खीर' का भोजन कराया। शैवाल आदि ५०१ साधुओ ने सोचा—'हमारे महाभाग्य से सर्वलब्धिनिधान महागुरु मिले हैं।' यो शुभ अध्यवसायपूर्वक शुक्लध्यानश्रेणी पर आरूढ ५०१ साधुओ को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जब सभी साधु समवसरण के निकट पहुँचे तो बेले-बेले तप करने वाले दत्तादि ५०१ साधुओ को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। फिर उपवास करने वाले कौडिन्य आदि ५०१ साधुओं को शुक्लध्यान के निमित्त से तीर्थंकर महावीर के दर्शन होते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तीर्थंकर भगवान् की प्रदक्षिणा करके ज्यो ही वे केवलियो की परिषद् की ओर जाने लगे, गौतम ने उन्हें रोकते हुए भगवान् को वन्दना करने का कहा, तब भगवान् ने कहा—'गौतम ! केवलियो की आशातना मत करो। ये केवली हो चुके है।' यह सुन कर गौतमस्वामी ने मिथ्यादुष्कृतपूर्वक उन सबसे क्षमायाचना करके विचार किया—मैं गुरुकर्मा इस भव मे मोक्ष प्राप्त करूँगा या नही ? भगवान् गौतम के अधैर्ययुक्त मन को जान गए। उन्होने

१ (क) उत्तरा (गुजराती अनुवाद), पत्र ३९६-३९७
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४६३ से ४६९ तक

गौतम से पूछा—'गौतम ! देवो का वचन प्रमाण है या तीर्थंकर का ?' गौतम—'भगवन् ! तीर्थंकर का वचन प्रमाण है ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! स्नेह चार प्रकार के होते हैं—सोठ के समान, द्विदल के समान, चर्म के समान और ऊर्णाकट के समान। चिरकाल के परिचय के कारण तुम्हारा मेरे प्रति ऊर्णाकट जैसा स्नेह है। इस कारण तुम्हें केवलज्ञान नही होता। जो राग स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति होता है, वही राग तीर्थंकर देव, गुरु और धर्म के प्रति हो तो वह प्रशस्त होता है, फिर भी वह यथाख्यातचारित्र का प्रतिबन्धक है। सूर्य के बिना जैसे दिन नही होता, वैसे ही यथाख्यातचारित्र के बिना केवलज्ञान नही होता। इसलिए जब मेरे प्रति तुम्हारा राग नष्ट होगा तब तुम्हे अवश्य ही केवलज्ञान होगा। यहाँ से च्यव कर हम दोनो ही एक ही अवस्था को प्राप्त होगे, अत. अधैर्य न लाओ।'

इस प्रकार भगवान् ने गौतम तथा अन्य साधको को लक्ष्य में रख कर प्रमाद-त्याग का उद्बोधन करने हेतु 'द्रुमपत्रक' नामक यह अध्ययन कहा है।[1]

* इस अध्ययन मे भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को सम्बोधित करके ३६ बार समयमात्र का प्रमाद न करने के लिए कहा है। इसका एक कारण तो यह है कि गौतमस्वामी को भगवान् महावीर की वाणी पर अटूट विश्वास था। वे सरल, सरस, निश्छल अन्त.करण के धनी थे। श्रेष्ठता के किसी भी स्तर पर कम नही थे। उनका तप, सयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र अनुपम था। तेजस्वी एव सहज तपस्वी जीवन था उनका। भगवान् के प्रति उनका परम प्रशस्त अनुराग था। अत सम्भव है, गौतम ने दूसरों के लिए कुछ प्रश्न किये हो और भगवान् ने सभी साधको को लक्ष्य मे रख कर उत्तर दिया हो। जैन आगम प्राय. गौतम की जिज्ञासाओ और भ महावीर के समाधानो से व्याप्त हैं। चूकि पूछा गौतम ने है, इसलिए भगवान् ने गौतम को ही सम्बोधन किया है। इसका अर्थ है—सम्बोधन केवल गौतम को है, उद्बोधन सभी के लिए है।

* दूसरा कारण सघ मे सैकडो नवदीक्षित और पश्चात्दीक्षित साधुओ को (उपर्युक्त घटनाद्वय के अनुसार) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते देख, गौतम का मन अधीर और विचलित हो उठा हो। अत: भगवान् ने उन्हे ही सुस्थित एव जागृत करने के लिए विशेष रूप से सम्बोधित किया हो; क्योकि उन्हे लक्ष्य करके जीवन की अस्थिरता, नश्वरता, मनुष्यजन्म की दुर्लभता, अन्य उपलब्धियो की दुष्करता, शरीर तथा पचेन्द्रिय बल की क्षीणता का उद्बोधन करने के बाद ९ गाथाओ मे स्नेह-त्याग की, परित्यक्त धन-परिजनादि के पुन अस्वीकार की, वर्तमान मे उपलब्ध न्यायपूर्ण पथ पर तथा कण्टकाकीर्ण पथ छोड कर स्पष्ट राजपथ पर दृढ़ निश्चय के साथ चलने की प्रेरणा, विषममार्ग पर चलने से पश्चात्ताप की चेतावनी, महासागर के तट पर ही न रुक कर इसे शीघ्र पार करने का अनुरोध, सिद्धिप्राप्ति का आश्वासन, प्रबुद्ध, उपशान्त, सयत, विरत एव अप्रमत्त होकर विचरण करने की प्रेरणा दी है।[2]

* समग्र अध्ययन में प्रमाद से विरत होकर अप्रमाद के राजमार्ग पर चलने का उद्घोष है।

---

१ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा १९ से ४१ तक

२. उत्तराध्ययन मूल, गा. १ से ३६ तक

दसमं अज्झयणं : दुमपत्तयं

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

मनुष्यजीवन की नश्वरता, अस्थिरता और अप्रमाद का उद्‌बोधन

१. दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१] जैसे रात्रि-दिवसो का समूह (समय) बीतने पर वृक्ष का पका (सूखा) हुआ सफेद पत्ता गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्यो (उपलक्षण से सर्वप्राणियो) का जीवन है । अत हे गौतम ! समय-(क्षण) मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[२] जैसे कुश के अग्रभाग पर लटकता हुआ ओस का बिन्दु थोडे समय तक ही (लटका) रहता है, इसी प्रकार मनुष्यो का जीवन भी क्षणभगुर है । अत हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

३. इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३] इस प्रकार स्वल्पकालीन आयुष्य मे तथा अनेक विघ्नो (-विष, अग्नि, जल, शस्त्र, अत्यन्त हर्ष, शोक आदि जीवनविघातक कारणो) से प्रतिहत (सोपक्रम आयु वाले) जीवन मे ही पूर्व-सचित (ज्ञानावरणीयादि) (कर्म-) रज को दूर कर । गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

विवेचन—जीवन की अस्थिरता : दो उपमाओं से उपमित—(१) प्रथम गाथा मे जीवन की अस्थिरता को पके हुए द्रुमपत्र से उपमित किया गया है । निर्युक्तिकार ने पके हुए पत्ते और नये पत्ते (कोपल) का उद्‌बोधक सवाद प्रस्तुत किया है—पके हुए पत्ते ने नये पत्तो से कहा—'एक दिन हम भी वैसे थे, जैसे आज तुम हो, और एक दिन तुम भी वैसे ही हो जाओगे, जैसे कि आज हम हैं ।' आशय यह है कि जिस प्रकार पका हुआ पत्ता एक दिन वृक्ष से टूट कर गिर पड़ता है, वैसे ही आयुष्य के दलिक भी रात्रि-दिवस व्यतीत होने के साथ क्रमशः कम (निर्जीर्ण) होते-होते एक दिन सर्वथा क्षीण हो जाते है । छद्मस्थ को इसका पता नही चलता कि कब आयुष्य समाप्त हो जाएगा । अतः एक क्षण भी किसी प्रकार का प्रमाद (मद्य-विषय-कषाय-निद्रा-विकथादि रूप) नहीं करना चाहिए । (२) द्वितीय गाथा मे कुश की नोक पर टिके हुए ओस के बिन्दु से मनुष्य-जीवन की अस्थिरता को उपमित किया गया है ।

'इह इत्तरियम्मि आउए०'—इस पंक्ति का आशय यह है कि आयुष्य दो प्रकार का है—(१) निरुपक्रम (बीच में न टूटने वाला) और (२) सोपक्रम। निरुपक्रम आयुष्य, भले ही बीच मे टूटता न हो, परन्तु है तो वह भी थोडे ही समय का। सोपक्रम आयुष्य तो और भी अस्थिर है, क्योकि विष, शस्त्र आदि से वह बीच मे कभी भी समाप्त हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य-जीवन का कोई भरोसा नही है। इस स्वल्पकालीन आयुष्य वाले जीवन मे ही कर्मों को क्षय करना है; अतः धर्माराधन में एक क्षण भी प्रमाद मत करो।[1]

राइगणाण-रात्रिगणानां—रात्रिगण दिवसगण के बिना हो नही सकते, इसलिए उपलक्षण से यहाँ दिवसगण भी लिए गए हैं। अत. इसका अर्थ हुआ—रात्रि-दिवससमूह।[2]

मनुष्यजन्मप्राप्ति की दुर्लभता बताकर प्रमादत्याग का उपदेश

४. दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम ! मा पमायए॥

[४] (विश्व के पुण्यविहीन) समस्त प्राणियो को चिरकाल तक भी मनुष्यजन्म पाना दुलभ है। (क्योकि मनुष्यगतिविघातक) कर्मों के विपाक (-उदय) अत्यन्त दृढ (हटाने मे दु'शक्य) होते है।

५. पुढविक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम ! मा पमायए॥

[५] पृथ्वीकाय मे गया हुआ (उत्पन्न हुआ) जीव उत्कर्षत (-अधिक-से-अधिक) असख्यात (असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (उसी पृथ्वीकाय मे) रहता (जन्म-मरण करता रहता) है। इसलिए गौतम ! (इस मनुष्यदेह मे रहते हुए धर्माराधन करने मे) एक समय का भी प्रमाद मत करो।

६. आउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम ! मा पमायए॥

[६] अप्काय मे गया हुआ जीव उत्कृष्टत. असख्यात काल तक (उसी रूप मे, वहां जन्म-मरण करता) रहता है। अत. गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

७. तेउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम ! मा पमायए॥

[७] तेजस्काय (अग्निकाय) मे गया हुआ जीव उत्कृष्टत असख्य काल तक (उसी रूप मे) रहता है। अत गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

८. वाउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम ! मा पमायए॥

---

१ (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ३०८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३३

२. वही, पत्र ३३३

[८] वायुकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्टत असख्यात काल तक रहता है। अत. गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

९. वणस्सइकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणन्तदुरन्तं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[९] वनस्पतिकाय मे उत्पन्न हुआ जोव उत्कृष्टत दु ख से समाप्त होने वाले अनन्तकाल तक (वनस्पतिकाय मे ही जन्म-मरण करता) रहता है। इसलिए हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद न करो।

१०. बेइन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१०] द्वीन्द्रिय काय-पर्याय मे गया (उत्पन्न) हुआ जीव अधिक-से-अधिक सख्यातकाल तक रहता है। अत गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत करो।

११. तेइन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
काल संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[११] त्रीन्द्रिय अवस्था मे गया (उत्पन्न) हुआ जीव उत्कृष्टत. सख्यातकाल तक रहता है, अत हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१२. चउरिन्दियकायमइगओ उक्कोस जीवो उ सवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१२] चतुरिन्द्रिय अवस्था मे गया हुआ जीव उत्कृष्टत सख्यात काल तक (उसी मे) रहता है। अत गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत करो।

१३. पंचिन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठ—भवग्गहणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१३] पचेन्द्रियकाय मे उत्पन्न हुआ जीव उत्कृष्टत सात या आठ भवो तक (उसी मे जन्मता-मरता) रहता है। इसलिए गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१४. देवे नेरइए य अइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्क—भवग्गहणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१४] देवयोनि और नरकयोनि मे गया हुआ जीव उत्कृष्टत एक-एक भव (जन्म) तक रहता है। इसलिए गौतम ! एक क्षण का भी प्रमाद मत करो।

१५. एवं भव-ससारे संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमाय-बहुलो समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१५] इस प्रकार प्रमादबहुल (अनेक प्रकार के प्रमादो से व्याप्त) जीव शुभाशुभकर्मों के कारण जन्म-मरण रूप ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए हे गौतम ! क्षणभर भी प्रमाद मत करो।

विवेचन—मनुष्यजन्म की दुर्लभता के १२ कारण—प्रस्तुत गाथाओं के द्वारा मनुष्यजन्म की दुर्लभता के बारह कारण बताए गए है—(१) पुण्यरहित जीव द्वारा मनुष्यगति-विघातक कर्मों का क्षय किये विना चिरकाल तक मनुष्यजीवन पाना दुर्लभ है, (२ से ५) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के जीवों में उसी पर्याय में असख्यातकाल तक बार-बार जन्ममरण, (६) वनस्पतिकाय के जीवो मे अनन्तकाल तक बार-बार जन्ममरण, (७-८-९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो में उत्कृष्टत: सख्यातकाल की अवधि तक रहना, (१०) पचेन्द्रिय अवस्था मे ७-८ भवो तक निरन्तर जन्मग्रहण, (११-१२) देवगति और नरकगति के जीवो मे दीर्घ आयुष्य वाला एक-एक जन्मग्रहण, और (१२) प्रमादबहुल जीव द्वारा शुभाशुभ कर्मों के कारण चिरकाल तक भवभ्रमण। मनुष्यजीवन की दुर्लभता के इन १२ कारणो को समझाकर प्राप्त मनुष्यजीवन में धर्माराधना करने मे समयमात्र का भी प्रमाद न करने की प्रेरणा दी गई है।[1]

भवस्थिति और कायस्थिति—जीव का अमुक काल तक एक जन्म मे जीना भवस्थिति है और मृत्यु के पश्चात् उसी जीवनिकाय मे पुन-पुन उत्पन्न होना कायस्थिति है। देव और नारक मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म मे पुन देव और नारक नही होते; अत. उनकी भवस्थिति ही होती है, कायस्थिति नही। अथवा दोनो का काल बराबर है। तिर्यञ्च और मनुष्य मर कर अगले जन्म मे पुन. तिर्यञ्च और मनुष्य के रूप मे जन्म ले सकते हैं। इसलिए उनकी कायस्थिति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के जीव लगातार असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल तक तथा वनस्पतिकाय के जीव अनन्तकाल तक अपने-अपने उन्ही स्थानो मे मरते और जन्म लेते रहते हैं। द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीव हजारो वर्षों तक अपने-अपने जीवनिकायो मे जन्म ले सकते है और पचेन्द्रिय जीव लगातार ७-८ जन्म ग्रहण कर सकते है। इसीलिए शास्त्रकार ने इन गाथाओ मे जीवो की कायस्थिति का निर्देश किया है।[2]

मनुष्यजन्मप्राप्ति के बाद भी कई कारणों से धर्माचरण की दुर्लभता बताकर प्रमाद-त्याग की प्रेरणा

१६. लद्धूण वि माणुसत्तणं आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया समयं गोयम! मा पमायए॥

[१६] (दुर्लभ) मनुष्यजन्म पाकर भी आर्यत्व का पाना और भी दुर्लभ है, (क्योकि मनुष्य होकर भी) बहुत-से लोग दस्यु (चोर, लुटेरे आदि) और म्लेच्छ (अनार्य-असस्कारी) होते हैं। इसलिए, गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१७. लद्धूण वि आरियत्तणं अहीणपंचिन्दियया हु दुल्लहा।
विगलिन्दियया हु दीसई समयं गोयम! मा पमायए॥

[१७] आर्यत्व की प्राप्ति होने पर भी पाचो इन्द्रियो की परिपूर्णता (अविकलता) प्राप्त

१. उत्तराध्ययन मूलपाठ, अ १०, गा ४ से १५ तक

२. (क) स्थानांग २।३।८५ "दुविहा ठिती० दोण्हं भवट्ठिती., दोण्हं कायट्ठिती.।"

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३६

होना दुर्लभ है। क्योंकि अनेक व्यक्ति विकलेन्द्रिय (इन्द्रियहीन) देखे जाते हैं। अत गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

१८. अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१८] अविकल (पूर्ण) पचेन्द्रियो के प्राप्त होने पर भी उत्तम धर्म का श्रवण और भी दुर्लभ है, क्योकि बहुत-से लोग कुतीर्थिको के उपासक हो जाते हैं। अत हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१९. लद्धूण वि उत्तमं सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१९] उत्तमधर्म-विषयक श्रवण (श्रुति) प्राप्त होने पर भी उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है, (क्योकि) बहुत-से लोग मिथ्यात्व के सेवन करने वाले होते है। अत गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

२०. धम्मं पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[२०] (उत्तम) धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसका काया से स्पर्श (आचरण) करने वाले अति दुर्लभ हैं, क्योकि इस जगत् मे बहुत-से धर्मश्रद्धालु जन शब्दादि कामभोगो मे मूर्च्छित (आसक्त) होते हैं। अत गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

विवेचन—मनुष्यजन्मप्राप्ति के बाद भी आर्यत्व, पञ्चेन्द्रियो की पूर्णता, उत्तम-धर्म-श्रवण, श्रद्धा और तदनुरूप धर्म का आचरण उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। दुर्लभता की इन घाटियो को पार कर लेने पर भी अर्थात्—उक्त सभी दुर्लभ बातो का सयोग मिलने पर भी अब क्षणभर का भी प्रमाद करना जरा भी हितावह नही है।[1]

आरियत्तणं—आर्यत्वं : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—मगध आदि आर्य देशो मे आर्यकुल मे उत्पत्तिरूप आर्यत्व, (२) जो हेय आचार-विचार से दूर हो, वे आर्य हैं, अथवा जो गुणो अथवा गुणवानो के द्वारा माने जाते हैं, वे आर्य हैं। आर्य के फिर क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, चारित्र और दर्शन के भेद से ८ भेद हैं, अनेक उपभेद हैं। यहाँ क्षेत्रार्य विवक्षित है। जिस देश मे धर्म, अधर्म, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य, जीव-अजीव आदि का विचार होता है, वह आर्यदेश है।[2]

दसुया-दस्यवः—दस्यु शब्द चोर, आतकवादी, लुटेरे, डाकू आदि अर्थों मे प्रसिद्ध है। देश की सीमा पर रहने वाले चोर भी दस्यु कहलाते है।

---

१ उत्तरा. मूल अ १०, गा. १६ से २०

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ (ख) राजवार्तिक ३।३६।१।२०० (ग) तत्त्वार्थ, (प. सुखलालजी) अ ३।१५, पृ. ९३

मिलक्खुया—म्लेच्छाः—पर्वत आदि की खोहों या बीहड़ों में रहने वाले एव जिनकी भाषा को आर्य भलीभाति न समझ सकें, वे म्लेच्छ हैं। शक, यवन, शबर, पुलिंद, नाहल, नेष्ट, करट, भट, माल, भिल्ल, किरात आदि सब म्लेच्छजातीय कहलाते हैं। ये सब धर्म-अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि सभी आर्य व्यवहारों से रहित, सस्कारहीन होते है।[1]

कुतित्थिनिसेवए—कुतीर्थिक का लक्षण बृहद्वृत्ति के अनुसार यह है कि जो सत्कार, यश आदि पाने के अभिलाषी हो तथा इसके लिए जो प्राणियो को प्रिय मनोज्ञ विषयादिसेवन का ही उपदेश देते हो, ताकि लोग अधिक से अधिक आकर्षित हो, उन्हे कुछ त्याग, तप, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि करना न पडे। यही कारण है कि कुतीर्थी जनो के उपासक को शुद्ध एव उत्तम धर्मश्रवण का अवसर ही नही मिलता।[2]

मिच्छत्तनिसेवए—मिथ्यात्वनिषेवक का तात्पर्य है—अतत्त्व मे तत्त्वरुचि मिथ्यात्व है। जीव अनादिकालिक भवो से अभ्यस्त होने से तथा गुरुकर्मा होने से प्राय मिथ्यात्व मे ही प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत-से लोग हैं।[3]

इन्द्रियबल की क्षीणता बता कर प्रमादत्याग का उपदेश

२१. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई समयं गोयम! मा पमायए॥

[२१] गौतम! तुम्हारा शरीर (प्रतिक्षण वय घटते जाने से) सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे केश भी (वृद्धावस्था के कारण) सफेद हो रहे हैं तथा पहले जो श्रोत्रबल (श्रवणशक्ति) था, वह क्षीण हो रहा है। अत एक क्षण भी प्रमाद मत करो।

२२. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई समयं गोयम! मा पमायए॥

[२२] तुम्हारा शरीर सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे सिर के बाल सफेद हो रहे हैं तथा पूर्ववर्ती नेत्रबल (आंखो का सामर्थ्य) क्षीण हो रहा है। अत हे गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

---

१ (क) तत्त्वार्थ. (प. सुखलालजी), अ ३।१५, पृ ९३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७
(ग) 'पुलिंदा नाहला, नेष्टा. शबरा करटा भटा, माला, भिल्ला किराताश्च सर्वेऽपि म्लेच्छजातय।
—उत्त. प्रियदर्शिनी, भा. २, पृ. ४८७

२. कुतीर्थिनो हि यश सत्काराद्येषिणो यदेव प्राणिप्रिय विषयादि तदेवोपदिशन्ति''''''इति सुकरैव तेषा सेवा, तत्सेविनां च कुत उत्तमधर्मश्रुति ?' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७

३. मिथ्याभावो मिथ्यात्वं—अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूप त निषेवते य स मिथ्यात्वनिषेवको। जनो-लोको अनादि भवाऽभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्राय प्रवृत्ते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७

२३. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से घाणबले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२३] तुम्हारा शरीर (दिनानुदिन) जीर्ण हो रहा है तुम्हारे केश सफेद हो रहे हैं तथा पूर्ववर्ती घ्राणबल (नासिका से सूघने का सामर्थ्य) भी घटता जा रहा है । (ऐसी स्थिति मे) गौतम ! एक समय का भी प्रमाद मत करो ।

२४. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से जिब्भ-बले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२४] तुम्हारा शरीर (प्रतिक्षण) सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है तुम्हारे केश सफेद हो रहे है तथा तुम्हारा (रसग्राहक) जिह्वाबल (जीभ का रसग्रहण-सामर्थ्य) नष्ट हो रहा है । अत. गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत करो ।

२५. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से फास-बले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२५] तुम्हारा शरीर सब तरह से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे केश सफेद हो रहे है तथा तुम्हारे स्पर्शनेन्द्रिय की स्पर्शशक्ति भी घटती जा रही है । अत गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो ।

२६. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२६] तुम्हारा शरीर सब प्रकार से कृश हो रहा है, तुम्हारे (पूर्ववर्ती मनोहर काले) केश सफेद हो रहे है तथा (शरीर के) समस्त (अवयवो का) बल नष्ट हो रहा है । ऐसी स्थिति मे, गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो ।

२७. अरई गण्डं विसूइया आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२७] (वातरोगादिजनित) उद्वेग (अरति), फोडा-फुसी, विसूचिका (हैजा-अतिसार आदि) तथा विविध प्रकार के अन्य शीघ्रघातक रोग (आतक) तुम्हारे शरीर को स्पर्श (आक्रान्त) कर सकते है, जिनसे तुम्हारा शरीर विपद्ग्रस्त (शक्तिहीन) तथा विध्वस्त हो सकता है । इसलिए हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो ।

विवेचन—पंचेन्द्रियबल की क्षीणता का जीवन पर प्रभाव—श्रोत्रेन्द्रियबल क्षीण होने से मनुष्य धर्मश्रवण नही कर सकता और धर्मश्रवण के बिना कल्याण-अकल्याण, श्रेय-प्रेय को जान नही सकता और ज्ञान के विना धर्माचरण अन्धा होता है, सम्यक् धर्माचरण नही हो सकता । चक्षुरिन्द्रिय-बल क्षीण होने से जीवदया, प्रतिलेखना, स्वाध्याय, गुरुदर्शन आदि के रूप मे धर्माचरण नही हो सकेगा । नासिका मे गन्धग्रहणबल होने पर ही सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रति रागद्वेष का परित्याग करके समत्वधर्म का पालन किया जा सकता है, उसके अभाव मे नही । जिह्वा में रसग्राहकबल तथा वचनो-

च्चारणबल होने पर क्रमशः रसास्वाद के प्रति राग-द्वेष के त्याग से तथा स्वाध्याय करने, वाचना देने, उपदेश एव प्रेरणा देने से निर्दोष और सहज धर्माचरण कर सकता है, जबकि जिह्वाबल क्षीण होने पर ये सब नही हो सकते। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियबल प्रबल हो तो शीत-उष्ण आदि परीषहों पर विजय तथा तप, संयम आदि के रूप में उत्तम धर्माचरण हो सकता है, अन्यथा इस धर्माचरण से साधक वंचित हो जाता है। इसी प्रकार जब तक सर्वबल—अर्थात्—मन, वचन, काया एवं समस्त अगोपांगो में अपना-अपना कार्य करने की शक्ति विद्यमान है, तब तक साधक ध्यान, अनुप्रेक्षा, आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय, वाचना, उपदेश, भिक्षाचरी, प्रतिलेखन, तप, सयम, त्याग आदि के रूप मे स्वाख्यात धर्म का आचरण कर सकता है, अन्यथा नही। इसी प्रकार शरीर स्वस्थ न हों, दुःसाध्य व्याधियो से घिर जाए तो भी निश्चिन्तता एव निर्विघ्नता से धर्म का आचरण नही हो सकता। इसलिए गौतमस्वामी से भगवान् महावीर कहते हैं कि जब तक शरीर, इन्द्रियाँ आदि स्वस्थ, सशक्त और कार्यक्षम हैं, तब तक रत्नत्रय-धर्माराधना में एक क्षण भी प्रमाद न करो।[1]

'आयंका विविहा फुसंति ते' का आशय—यद्यपि श्री गौतमस्वामी के शरीर मे कोई रोग, पीडा या व्याधि नही थी और न उनकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हुई थी, तथापि भगवान् ने सम्भावना व्यक्त करके उनके आश्रय के समस्त साधको को अप्रमाद का उपदेश दिया है।[2]

अप्रमाद में बाधक तत्त्वों से दूर रहने का उपदेश

२८. वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम ! मा पमायए॥

[२८] जिस प्रकार शरत्कालीन कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) पानी से लिप्त नही होता, उसी प्रकार तू भी अपने स्नेह को विच्छिन्न (दूर) कर। तू सभी प्रकार के स्नेह का त्याग करके गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

२९. चिच्चाण धणं च भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आइए समयं गोयम! मा पमायए॥

[२९] हे गौतम ! धन और पत्नी (आदि) का परित्याग करके तुम अनगारधर्म मे प्रव्रजित (दीक्षित) हुए हो, अत एक बार वमन किये हुए कामभोगो (सासारिक पदार्थों) को पुन मत पीना (सेवन करना)। (अब इस अनगारधर्म के सम्यक् अनुष्ठान मे) क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो।

३०. अवउज्झिय मित्तबन्धवं विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए समयं गोयम ! मा पमायए॥

[३०] मित्र, बान्धव और विपुल धनराशि के सचय को छोडकर पुन उनकी गवेषणा (तलाश—आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध की इच्छा) मत कर। (अगीकृत श्रमणधर्म के पालन मे) एक क्षण का भी प्रमाद न कर।

---

१ (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीवृत्ति, पृ. ४९६ से ५०१ तक
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३८

२. यद्यपि केशपाण्डुरत्वादि गौतमे न सम्भवति, तथापि तन्निश्रयाऽशेषशिष्यबोधनार्थत्वाददुष्टम्।
—बृ. वृत्ति, पत्र ३३८

३१. न हु जिणे अज्ज दिस्सई बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३१] (भविष्य मे लोग कहेंगे—) आज जिन नही दीख रहे है और जो मार्गदर्शक हैं वे अनेक मत के (एक मत के नही) दीखते है। किन्तु इस समय तुझे न्यायपूर्ण (अथवा पार ले जाने वाला, मोक्ष-) मार्ग उपलब्ध है। अत गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

३२. अवसोहिय कण्टगापहं ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३२] हे गौतम ! (तू) कण्टकाकीर्ण पथ छोड़कर महामार्ग (महापुरुषो द्वारा सेवित मोक्ष-मार्ग) पर आया है। अत दृढ निश्चय के साथ बहुत सभलकर इस मार्ग पर चल। एक समय का भी प्रमाद करना उचित नही है।

३३. अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमेवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३३] दुर्बल भारवाहक जैसे विषम मार्ग पर चढ जाता है, तो बाद मे पश्चात्ताप करता है, उसकी तरह, हे गौतम ! तू विषम मार्ग पर मत जाना, अन्यथा, तुझे भी बाद मे पछताना पडेगा। अत समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

३४. तिण्णो हु सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३४] हे गौतम ! तू विशाल महासमुद्र को तो पार कर गया है, अब तीर (किनारे) के पास पहुँच कर क्यो खडा है ? उसके पार पहुँचने मे शीघ्रता कर। समयमात्र का भी प्रमाद न कर।

३५. अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३५] हे गौतम ! अकलेवरो (-अशरीर सिद्धो) की श्रेणी (क्षपकश्रेणी) पर आरूढ होकर तू भविष्य मे क्षेम, शिव और अनुत्तर सिद्धि-लोक (मोक्ष) को प्राप्त करेगा। अत गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर।

३६. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व संजए ।
सन्तिमग्गं च वूहए समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३६] प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ या जागृत), उपशान्त और संयत हो कर तू गाँव और नगर मे विचरण कर, शान्ति-मार्ग की संवृद्धि कर। गौतम ! इसमे समयमात्र का भी प्रमाद न कर।

विवेचन—अप्रमाद-साधना के नौ मूलमंत्र—प्रस्तुत गाथाओ मे भगवान् ने गौतमस्वामी को अप्रमाद की साधना के नौ मूलमत्र बताए हैं—(१) मेरे प्रति तथा सभी पदार्थों के प्रति स्नेह को विच्छिन्न कर दो, (२) धन आदि परित्यक्त पदार्थों एव भोगों को पुन. अपनाने का विचार मत

करो, अनगारधर्म पर दृढ रहो, (३) मित्र, बान्धव आदि के साथ पुनः आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध जोड़ने की इच्छा मत करो, (४) इस समय तुम्हे जो न्याययुक्त मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ है, उसी पर दृढ़ रहो, (५) कटीले पथ को छोडकर शुद्ध राजमार्ग पर आ गए हो तो अब दृढ़ निश्चयपूर्वक इसी मार्ग पर चलो, (६) दुर्बल भारवाहक की तरह विषममार्ग पर मत चलो, अन्यथा पश्चात्ताप करना पडेगा, (७) महासमुद्र के किनारे आकर क्यो ठिठक गए ? आगे बढो, शीघ्र ही पार पहुंचो, (८) एक दिन अवश्य ही तुम सिद्धिलोक को प्राप्त करोगे, यह विश्वास रख कर चलो, (९) प्रबुद्ध, उपशान्त एवं सयत होकर शान्तिमार्ग को बढ़ाते हुए ग्राम-नगर मे विचरण करो ।[1]

'वोच्छिन्द सिनेहमप्पणो' का रहस्य—यद्यपि गौतमस्वामी पदार्थों मे मूर्च्छित नही थे, न विषयभोगों मे उनकी आसक्ति थी, उन्हे सिर्फ भगवान् के प्रति स्नेह-अनुराग था और वह प्रशस्त राग था । वीतराग भगवान् नही चाहते थे कि कोई उनके प्रति स्नेहबन्धन से बद्ध रहे । अत भगवान् ने गौतमस्वामी को उस स्नेहतन्तु को विच्छिन्न करने के उद्देश्य से उपदेश दिया हो, ऐसा प्रतीत होता है । भगवतीसूत्र मे इस स्नेहबन्धन का भगवान् ने उल्लेख भी किया है ।[2]

न हु जिणे अज्ज दिस्सइ, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए : चार व्याख्याएँ—(१) (यद्यपि) आज (इस पचमकाल मे) जिन भगवान् नही दिखाई देते, किन्तु उनके द्वारा मार्गरूप से उपदिष्ट हुआ तथा अनेक शिष्टजनो द्वारा सम्मत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो दीखता है, ऐसा सोचकर भविष्य मे भव्यजन सम्यक्त्व को प्राप्त कर प्रमाद नही करेंगे । (२) अथवा भाविभव्यो को उपदेश देते हुए भगवान् गौतम से कहते हैं—जैसे मार्गोपदेशक और नगर को नही देखते हुए भी व्यक्ति मार्ग को देख कर मार्गोपदेशक के उपदेश से उसकी प्रापकता का निश्चय कर लेता है, वैसे ही इस पचमकाल मे जिन और मोक्ष नही दिखाई देते, फिर भी मार्गदेशक आचार्य आदि तो दीखते हैं । अत मुझे नही देखने वाले भाविभव्यजनो को उस मार्गदेशक मे भी मोक्षप्रापकता का निश्चय कर लेना चाहिए ···· । (३) तीसरी पद्धति से व्याख्या—हे गौतम ! तुम इस समय जिन नही हो, परन्तु अनेक प्राणियो द्वारा अभिमत मार्ग (जिनत्वप्राप्ति का पथ) मैंने तुम्हे बता दिया है, वह तुम्हे दिखता (ज्ञात) ही है, इसलिए जिनरूप से मेरे विद्यमान रहते मेरे द्वारा उपदिष्ट मार्ग मे···· । (४) चौथी व्याख्या मूलार्थ मे दी गई है । वही व्याख्या अधिक सगत लगती है ।[3]

अबले जह भारवाहए : इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त—एक व्यक्ति धन कमाने के लिए परदेश गया । वहाँ से वह सोना आदि बहुत-सा द्रव्य लेकर अपने गाँव की ओर लौट रहा था । वजन बहुत था और वह दुर्बल था । जहाँ तक सीधा-साफ मार्ग आया, वहाँ तक वह ठीक चलता रहा, किन्तु जहाँ ऊबड-खाबड रास्ता आया, वहाँ वह घबराया और धन-गठरी वही फेंक कर खाली हाथ घर चला आया । अब वह सब कुछ गँवा देने के कारण निर्धन हो गया और पछताने लगा । इसी प्रकार जो साधक प्रमादवश विषममार्ग मे जाकर सयमधन को गँवा देता है, उसे बाद मे बहुत पछताना पडता है ।[4]

---

१ उत्त मूलपाठ, अ १०, गा. २८ से ३६ तक   २ भगवती. १४।७

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१

(ख) उत्त प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ. ५०७ से ५०९ तक

(ग) उत्तरा. (सानुवाद, मु नथमलजी) पृ. १२७

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१

अकलेवरसेणि—अकलेवरश्रेणि—कलेवर का अर्थ है—शरीर। मुक्त आत्मा अशरीरी होते हैं। उनकी श्रेणी की तरह—कर्मों का सर्वथा क्षय करने वाली विचारश्रेणी—क्षपकश्रेणी कहलाती है।[1]

३७. बुद्धस्स निसम्म भासियं सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिन्दिया सिद्धिगइ गए गोयमे॥
—त्ति बेमि।

[३७] अर्थ और पदों (शब्दों) से सुशोभित एवं सुकथित बुद्ध (केवलज्ञानी भगवान् महावीर) की वाणी सुनकर राग-द्वेष को विच्छिन्न कर श्री गौतमस्वामी सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अट्ठपओवसोहियं—दो अर्थ—(१) अर्थप्रधान पद—अर्थपद। (२) न्यायशास्त्रानुसार मोक्षशास्त्र के चतुर्व्यूह (हेय—दुःख तथा दुःखनिर्वर्तक, आत्यन्तिकहान—दुःखनिवृत्ति—मोक्षकारण, उपाय—शास्त्र, और अधिगन्तव्य—लभ्य मोक्ष) को अर्थपद कहा गया है।[2]

॥ द्रुमपत्रक : दशम अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१
(ख) न्यायभाष्य १।१।१

ग्यारहवाँ अध्ययन : बहुश्रुतपूजा

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत ग्यारहवें अध्ययन का नाम बहुश्रुतपूजा है। इसमे बहुश्रुत की भावपूजा—महिमा एव जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे बहुश्रुत का अर्थ—चतुर्दशपूर्वधर, सर्वाक्षरसन्निपाती निपुण साधक है। यहाँ समग्र निरूपण ऐसे बहुश्रुत की भावपूजा से सम्बन्धित है, क्योकि तीर्थंकर केवली, सिद्ध, आचार्य एव समस्त साधुओ की जो पूजा (गुणगान-बहुमानादिरूप) की जाती है, वह भाव से (भावनिक्षेप की अपेक्षा से) होती है। उपलक्षण से शेष सभी बहुश्रुत मुनियो की भावपूजा भी अभिप्रेत है।[1]

* विभिन्न आगमो मे बहुश्रुत के विभिन्न अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—दशवैकालिकसूत्र मे **'आगमवृद्ध'**, सूत्रकृताग मे **'शास्त्रार्थपारंगत'**, बृहत्कल्प मे **बहुत-से सूत्र अर्थ और तदुभय के धारक'**, व्यवहारसूत्र मे—जिसको अगबाह्य, अगप्रविष्ट आदि बहुत प्रकार के श्रुत—आगमो का ज्ञान हो तथा जो बहुत-से साधको की चारित्रशुद्धि करने वाला एवं युगप्रधान हो। स्थानागसूत्र के अनुसार सूत्र और अर्थरूप से प्रचुरश्रुत (आगमो) पर जिसका अधिकार हो, अथवा जो जघन्यत नौवे पूर्व की तृतीय वस्तु का और उत्कृष्टत सम्पूर्ण दश पूर्वो का ज्ञाता हो, वह बहुश्रुत है। इसका पर्यायवाची बहुसूत्र शब्द भी है, जिसका अर्थ किया गया है—जो आचाराग आदि बहुत-से कालोचित सूत्रो का ज्ञाता हो।[2]

* बहुश्रुत की तीन कोटियां निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प आदि मे प्रतिपादित हैं—(१) जघन्य बहुश्रुत—जो आचारप्रकल्प एव निशीथ का ज्ञाता हो, (२) मध्यम बहुश्रुत—जो बृहत्कल्प एव व्यवहारसूत्र का ज्ञाता हो और (३) उत्कृष्ट बहुश्रुत—नौवे, दसवे पूर्व तक का धारक हो।[3]

---

१. जे किर चउदसपुव्वी सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा।
जा तेसिं पूया खलु सा भावे ताइ अहिगारो॥ —उत्तरा निर्युक्ति, गा ३१७

२. (क) दशवै., अ. ८ (ख) सूत्रकृ. श्रु १, अ. २, उ. १ (ग) बृहत्कल्प

(घ) बहुस्सुए जुगप्पहाणे अब्भितरबाहिरं सुयं बहुहा।
होंति चसद्दग्गहणा चारित्तं पि सुबहुय पि॥ —व्यवहारसूत्र, गा. २५१

(ङ) बहुप्रचुर श्रुतमागम सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य उत्कृष्टत सम्पूर्णदशपूर्वधरे, जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयवस्तुवेदिनि। —स्थानांग, स्था. ८

(च) व्यवहारसूत्र ३ उ, दशाश्रुत

३. तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो।
आयारपकप्पे, कप्पे, नवम-दसमे य उक्कोसो॥

—बृहत्कल्प, उ. १, प्रकरण १, गा. ४०४, नि. चू

* प्रस्तुत अध्ययन मे बहुश्रुत और अबहुश्रुत का अन्तर बताने के लिए सर्वप्रथम अबहुश्रुत का स्वरूप बताया गया है, जो कि बहुश्रुत बनने वालो को योग्यता, प्रकृति, अनासक्ति, अलोलुपता एव विनीतता प्राप्त करने के विषय में गभीर चेतावनी देने वाला है। तत्पश्चात् तीसरी और चौथी गाथा में अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के मूल स्रोत शिक्षाप्राप्ति के अयोग्य और योग्य के क्रमशः ५ और ८ कारण बताए गए है। तदनन्तर छठी से तेरहवी गाथा तक अबहुश्रुत और बहुश्रुत होने मे मूल-कारणभूत अविनीत और सुविनीत के लक्षण बताए गए हैं। इसके पश्चात् बहुश्रुत बनने का क्रम बताया गया है।[1]
* इतनी भूमिका बाधने के बाद शास्त्रकार ने अनेक उपमाओ से उपमित करके बहुश्रुत की महिमा, तेजस्विता, आन्तरिकशक्ति, कार्यक्षमता एवं श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए उसे शख, अश्व गजराज, उत्तम वृषभ आदि की उपमाओ से अलकृत किया है।
* अन्त मे बहुश्रुतता की फलश्रुति मोक्षगामिता बताकर बहुश्रुत बनने की प्रेरणा की गई है।[2]

□□

१ उत्तराध्ययनसूत्र मूल, अ ११, गा २ से १४ तक
२ उत्तराध्ययन. मूल, अ. ११, गा १५ से ३२ तक

इक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन

बहुस्सुयपूया : बहुश्रुतपूजा

अध्ययन का उपक्रम

१. संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो ।
आयारं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

[१] जो (बाह्य और आभ्यन्तर) संयोग से सर्वथा मुक्त, अनगार (गृहत्यागी) भिक्षु है, उसके आचार को अनुक्रम से प्रकट करूंगा, (उसे) मुझ से सुनो ।

विवेचन—आयारं—आचार शब्द यहाँ उचित क्रिया या विनय के अर्थ मे है । वृद्धव्याख्यानुसार विनय और आचार दोनो एकार्थक हैं । प्रस्तुत प्रसग मे 'बहुश्रुतपूजात्मक आचार' ही ग्रहण किया गया है ।[1]

अबहुश्रुत का स्वरूप

२. जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए ॥

[२] जो विद्यारहित है, विद्यावान् होते हुए भी अहकारी है, जो (रसादि मे) लुब्ध (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध बोलता (बकता) है तथा जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है ।

विवेचन—निर्विद्य और सविद्य—निर्विद्य का अर्थ है—सम्यक् शास्त्रज्ञानरूप विद्या से विहीन । 'अपि' शब्द के आधार पर विद्यावान् का भी उल्लेख किया गया है । अर्थात् जो विद्यावान् होते हुए भी स्तब्धता, लुब्धता, अजितेन्द्रियता, असम्बद्धभाषिता एव अविनीतता आदि दोषो से युक्त है, वह भी अबहुश्रुत है, क्योकि स्तब्धता आदि दोषो से उसमे बहुश्रुतता के फल का अभाव है ।[2]

अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के कारण

३. अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽऽलस्सएण य ॥

[३] पाच स्थानो (कारणो) से (ग्रहणात्मिका और आसेवनात्मिका) शिक्षा प्राप्त नही होती, (वे इस प्रकार हैं—)

(१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग और (५) आलस्य । (इन्ही पाच कारणो से अबहुश्रुतता होती है ।)

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४

४. अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ।।

५. नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।।

[४-५] इन आठ स्थानों (कारणों) से शिक्षाशील कहलाता है—(१) जो सदा हसी-मजाक न करे, (२) जो दान्त (इन्द्रियो और मन का दमन करने वाला) हो, (३) जो दूसरो का मर्मोद्घाटन नहीं करे, (४) जो अशील (—सर्वथा चारित्रहीन) न हो, (५) जो विशील (—दोषों—अतिचारो से कलकित व्रत-चारित्र वाला) न हो, (६) जो अत्यन्त रसलोलुप न हो, (७) (क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी) जो क्रोध न करता हो (क्षमाशील हो) और (८) जो सत्य मे अनुरक्त हो, उसे शिक्षाशील (बहुश्रुतता की उपलब्धि वाला) कहा जाता है ।

विवेचन—शिक्षा के दो प्रकार—ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा । शास्त्रीयज्ञान गुरु से प्राप्त करने को ग्रहणशिक्षा और गुरु के सान्निध्य में रहकर तदनुसार आचरण एव अभ्यास करने को आसेवनशिक्षा कहते हैं । अभिमान आदि कारणो से ग्रहणशिक्षा भी प्राप्त नही होती तो आसेवन-शिक्षा कहाँ से प्राप्त होगी ? जो शिक्षाशील होता है, वह बहुश्रुत होता है ।[1]

स्तम्भ का भावार्थ—अभिमान है । साब्ध—अभिमानी को कोई शास्त्र नही पढाता, क्योकि वह विनय नही करता । अत. अभिमान शिक्षाप्राप्ति मे बाधक है ।

पमाएणं—प्रमाद के मुख्य ५ भेद हैं—मद्य (मद्यजनित या मद्य), विषय, कषाय, निद्रा और विकथा । यो तो आलस्य भी प्रमाद के अन्तर्गत है, किन्तु यहाँ आलस्य—लापरवाही, उपेक्षा या उत्साहहीनता के अर्थ मे है ।[2]

अबहुश्रुत होने के पांच कारण—प्रस्तुत पाच कारणो से मनुष्य शिक्षा के योग्य नही होता । शिक्षा के अभाव मे ऐसा व्यक्ति अबहुश्रुत होता है ।

सिक्खासीले—शिक्षाशील : दो अर्थ—(१) शिक्षा मे जिसकी रुचि हो, अथवा (२) जो शिक्षा का अभ्यास करता हो ।

अहस्सिरे—अहसिता—अकारण या कारण उपस्थित होने पर भी जिसका स्वभाव हसी-मजाक करने का न हो ।

सच्चरए—सत्यरत : दो अर्थ—(१) सत्य मे रत हो या (२) सयम मे रत हो ।

अकोहणे—अक्रोधन—जो निरपराध या अपराधी पर भी क्रोध न करता हो ।[3]

अविनीत और विनीत का लक्षण

६. अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ ।।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५

२ वही, पत्र ३४५

३ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ, १९६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३६

[६] चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नही करता ।

७. अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई ॥

८. अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं ॥

९. पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चइ ॥

[७-८-९] (१) जो बार-बार क्रोध करता है, (२) जो क्रोध को निरन्तर लम्बे समय तक बनाये रखता है, (३) जो मैत्री किये जाने पर भी उसे ठुकरा देता है, (४) जो श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके अहकार करता है, (५) जो स्खलनारूप पाप को लेकर (आचार्य आदि की) निन्दा करता है, (६) जो मित्रो पर भी क्रोध करता है, (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र का भी एकान्त (परोक्ष) मे अवर्णवाद बोलता है, (८) जो प्रकीर्णवादी (असम्बद्धभाषी) है, (९) द्रोही है, (१०) अभिमानी है, (११) रसलोलुप है, (१२) जो अजितेन्द्रिय है, (१३) असविभागी है (साथी साधुओ मे आहारादि का विभाग नही करता), (१४) और अप्रीति-उत्पादक है ।

१०. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले ॥

११ अप्पं चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं न मज्जई ॥

१२. न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई ॥

१३. कलह—डमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई ॥

[१०-११-१२-१३] पन्द्रह कारणो से साधक सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र (नीचा) होकर रहता है, (२) अचपल-(चंचल नही) है, (३) जो अमायी (दम्भी नही—निश्छल) है, (४) जो अकुतूहली (कौतुक देखने मे तत्पर नही) है, (५) जो किसी का तिरस्कार नही करता, (६) जो क्रोध को लम्बे समय तक धारण किए रहता, (७) मैत्रीभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञता रखता है, (८) श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके मद नही करता, (९) स्खलना होने पर जो (दूसरो की) निन्दा नही करता, (१०) जो मित्रों पर कुपित नही होता, (११) अप्रिय मित्र का भी एकान्त मे गुणानुवाद करता है, (१२) जो वाक्कलह और मारपीट (हाथापाई) से दूर रहता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१५) जो लज्जाशील होता है और (१५) जो प्रतिसंलीन (अंगोपांगो का गोपन-कर्त्ता) होता है, ऐसा बुद्धिमान् साधक सुविनीत कहलाता है ।

विवेचन—'अभिक्खणं कोही'—जो बार-बार क्रोध करता है, या अभिक्षण—क्षण-क्षण मे क्रोध करता है, किसी कारण से या अकारण क्रोध करता ही रहता है।

पबंधं च पकुव्वइ : दो व्याख्याएँ—(१) प्रबन्ध का अर्थ है—अविच्छिन्न रूप से (लगातार) प्रवर्त्तन। जो अविच्छिन्नरूप से उत्कट क्रोध करता है, अर्थात्—एक बार कुपित होने पर अनेक बार समझाने, सान्त्वना देने पर भी उपशान्त नही होता। (२) विकथा आदि मे निरन्तर रूप से प्रवृत्त रहता है।

मेत्तिज्जमाणो वमइ—किसी साधक के द्वारा मित्रता का हाथ बढाने पर भी जो ठुकरा देता है, मैत्री को तोड देता है, मैत्री करने• वाले से किनाराकसी कर लेता है। इसका तात्पर्य एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा बृहद्वृत्तिकार ने समझाया है। जैसे-कोई साधु पात्र रगना नही जानता, दूसरा साधु उससे कहता है—'मैं आपके पात्र रग देता हूँ।' किन्तु वह सोचने लगता है कि मैं इससे पात्र रगाऊगा तो बदले मे मुझे भी इसका कोई काम करना पडेगा। अत प्रत्युपकार के डर मे वह कहता है—रहने दीजिए, मुझे आपसे पात्र नही रगवाना है। अथवा कोई व्यक्ति उसका कोई काम कर देता है तो भी कृतघ्नता के कारण उसका उपकार मानने को तैयार नही होता।

पावपरिक्खेवी—आचार्य आदि कोई मुनिवर समिति-गुप्ति आदि के पालन मे कही स्खलित हो गए तो जो दोषदर्शी बन कर उनके उक्त दोष को लेकर उछालता है, उन पर आक्षेप करता है, उन्हे बदनाम करता है। इसे ही पापपरिक्षेपी कहते है।

रहे भासइ पावगं—अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने प्रिय और मधुर बोलता है, किन्तु पीठ पीछे उसकी बुराई करता है कि यह तो अमुक दोष का सेवन करता है।[1]

पइण्णवाई · दो रूप : तीन अर्थ (१) प्रकीर्णवादी—इधर-उधर की, उटपटाग, असम्बद्ध बाते करने वाला, वस्तुतत्त्व का विचार किये बिना जो मन मे आया सो बक देता है, वह यत्किंचनवादी या प्रकीर्णवादी है। (२) प्रकीर्णवादी वह भी है, जो पात्र-अपात्र की परीक्षा किये बिना ही कथञ्चित् प्राप्त श्रुत का रहस्य बता देता है। (३) **प्रतिज्ञावादी**—जो साधक एकान्तरूप से आग्रहशील होकर प्रतिज्ञापूर्वक बोल देता है कि 'यह ऐसा ही है'।[2]

अचियत्ते : अप्रीतिकरः—जो देखने पर या बुलाने पर सर्वत्र अप्रीति ही उत्पन्न करता है।

नीयावित्ति-नीचैर्वृत्तिः अर्थ और व्याख्या—बृहद्वृत्ति के अनुसार दो अर्थ—(१) नीचा या नम्र—अनुद्धत होकर व्यवहार (वर्त्तन) करने वाला, (२) शय्या आदि मे गुरु से नीचा रहने वाला। जैसे कि दशवैकालिकसूत्र मे कहा है—

> **"नीयं सेज्जं गइं ठाणं, णीयं च आसणाणि य।**
> **णीयं च पायं वंदेज्जा, णीयं कुज्जा य अंजलिं ॥"**

अर्थात्—विनीत शिष्य अपने गुरु से अपनी शय्या सदा नीची रखता है, चलते समय उनके

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६-३४७

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ (ख) उत्तरा चूर्णि, पृ. १९६ (ग) सुखबोधा, पत्र १६८

पीछे-पीछे चलता है, गुरु के स्थान और आसन से उसका स्थान और आसन नीचा होता है। वह नीचे झुककर गुरुचरणो मे वन्दन करता है और नम्र रह कर हाथ जोड़ता है।[1]

अचवले—अचपल : दो अर्थः—(१) प्रारम्भ किये हुए कार्य के प्रति स्थिर। अथवा (२) चार प्रकार की चपलता से रहित (१) **गतिचपल**—उतावला चलने वाला, (२) **स्थानचपल**—जो बैठा-बैठा भी हाथ-पैर हिलाता रहता है, (३) **भाषाचपल**—जो बोलते मे चपल हो। भाषाचपल भी चार प्रकार के होते हैं—असत्प्रलापी, असभ्यप्रलापी, असमीक्ष्यप्रलापी और अदेशकालप्रलापी। और (४) **भावचपल**—प्रारम्भ किये हुए सूत्र या अर्थ को पूरा किये बिना ही जो दूसरे कार्य मे लग जाता है, या अन्य सूत्र, अर्थ का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है।[2]

अमाई—अमायी : प्रस्तुत प्रसग मे अर्थ—मनोज्ञ आहारादि प्राप्त करके गुरु आदि से छिपाना माया है। जो इस प्रकार की माया नही करता, वह अमायी है।

अकुऊहले : दो अर्थ—(१) जो इन्द्रियो के विषयो और चामत्कारिक ऐन्द्रजालिक विद्याओ, जादू-टोना आदि को पापस्थान जान कर उनके प्रति अनुत्सुक रहता है, (२) जो साधक नाटक, तमाशा, इन्द्रजाल, जादू आदि खेल-तमाशो को देखने के लिए अनुत्सुक हो।

अप्पं चाऽहिक्खिवई : दो व्याख्याएँ—यहाँ अल्प शब्द के दो अर्थ सूचित किये गए है—(१) थोड़ा और (२) अभाव। प्रथम के अनुसार अर्थ होगा—(१) ऐसे तो वह किसी का तिरस्कार नही करता, किन्तु किसी अयोग्य एव अनुत्साही व्यक्ति को धर्म मे प्रेरित करते समय उसका थोड़ा तिरस्कार करता है, (२) दूसरे के अनुसार अर्थ होगा—जो किसी का तिरस्कार नही करता।[3]

रहे कल्लाण भासइ—कृतज्ञ व्यक्ति अपकारी (अप्रिय मित्र) के एक गुण को सामने रख कर उसके सौ दोषो को भुला देते है, जब कि कृतघ्न व्यक्ति एक दोष को सामने रख कर सौ गुणो को भुला देते है। अत सुविनीत साधक न केवल मित्र के प्रति किञ्चित् अपराध होने पर कुपित नही होते, अमित्र-अपकारी मित्र के भी पूर्वकृत किसी एक सुकृत का स्मरण करके उसके परोक्ष मे भी उसका गुणगान करते है।[4]

अभिजाइए—अभिजातिक—कुलीन—अभिजाति का अर्थ—कुलीनता है। जो कुलीन होता है, वह लिये हुए भार (दायित्व) को निभाता है।

हिरिमं—ह्रीमान्—लज्जावान्—लज्जा सुविनीत का एक विशिष्ट गुण है। उसकी आँखो

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ (ख) दशवैकालिक, ९।२।१७

२. अचपल —नाऽऽरब्धकार्यं प्रति अस्थिर, अथवाऽचपलो—गति-स्थान-भाषा-भावभेदतश्चतुर्धा।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७

३ (क) वही, पत्र ३४७ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ १९७

४ कल्याण भाषते, इदमुक्त भवति—मित्रमिति य प्रतिपन्न, स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते, तथाऽप्येकमपि सुकृत-मनुस्मरन् न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति। तथा चाह—

'एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि, ये नाशयन्ति ते धन्याः।
न त्वेकदोषजनितो येषा कोप, स च कृतघ्न ॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३

में शर्म होती है। लज्जावान् साधक कदाचित् कलुषित अध्यवसाय (परिणाम) आ जाने पर भी अनुचित कार्य करने मे लज्जित होता है।

पडिसंलीणे—**प्रतिसंलीन**—जो अपने हाथ-पैर आदि अगोपागो से या मन और इन्द्रियों से व्यर्थ चेष्टा न करके उन्हे स्थिर करके अपनी आत्मा मे सलीन रहता है। बृहद्वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—जो साधक गुरु के पास या अन्यत्र भी निष्प्रयोजन इधर-उधर की चेष्टा नही करता, नहीं भटकता।[1]

बहुश्रुत का स्वरूप और माहात्म्य

१४. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई॥

[१४] जो सदा गुरुकुल मे रहता है (अर्थात् सदैव गुरु-आज्ञा मे ही चलता है), जो योगवान् (समाधियुक्त या धर्मप्रवृत्तिमान्) होता है, जो उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप) मे निरत रहता है, जो प्रिय करता है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा (ग्रहण और आसेवन शिक्षा) प्राप्त करने योग्य होता है (अर्थात् वह बहुश्रुत हो जाता है)।

१५. जहा संखम्मि पयं निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं॥

[१५] जैसे शंख मे रखा हुआ दूध—अपने और अपने आधार के गुणो के कारण—दोनो प्रकार से सुशोभित होता है (अर्थात् वह अकलुषित और निर्विकार रहता है), उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु मे धर्म, कीर्त्ति और श्रुत (शास्त्रज्ञान) भी दोनो ओर से (अपने और अपने आधार के गुणो से) सुशोभित होते हैं (—निर्मल एव निर्विकार रहते हैं)।

१६ जहा से कम्बोयाणं आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१६] जिस प्रकार कम्बोजदेश मे उत्पन्न अश्वो मे कन्थक अश्व (शीलादि गुणो से) आकीर्ण (अर्थात् जातिमान्) और वेग (स्फूर्ति) मे श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक भी (श्रुतशीलादि) गुणो तथा (जाति और स्फूर्ति वाले) गुणो से श्रेष्ठ होता है।

१७. जहाऽऽइण्णसमारूढे सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेणं एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१७] जैसे आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर आरूढ दृढ पराक्रमी-शूरवीर योद्धा दोनो ओर से (अगल-बगल मे या आगे-पीछे) होने वाले नान्दीघोष (विजयवाद्यो या जयकारों) से सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (स्वाध्याय के मांगलिक स्वरो से) सुशोभित होता है।

१८. जहा करेणुपरिकिण्णे कुंजरे सट्ठिहायणे।
बलवन्ते अप्पडिहए एवं हवइ बहुस्सुए॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ (ख) उत्तरा चूर्णि, पृ १९७-१९८

[१८] जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलिष्ठ हाथी किसी से पराजित नहीं होता, वैसे ही बहुश्रुत साधक (औत्पत्तिकी आदि बुद्धिरूपी हथिनियों से तथा विविध विद्याओं से युक्त होकर) किसी से भी पराजित नहीं होता।

१९. जहा से तिक्खसिंगे जायखन्धे विरायई।
वसहे जूहाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१९] जैसे तीखे सींगों एवं बलिष्ठ स्कन्धों वाला वृषभ यूथ के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत (स्वशास्त्र-परशास्त्र रूप तीक्ष्ण शृंगों से, गच्छ का गुरुतर-कार्य-भार उठाने में समर्थ स्कन्ध से साधु आदि संघ के अधिपति—आचार्य के रूप में) सुशोभित होता है।

२०. जहा से तिक्खदाढे उदग्गे दुप्पहंसए।
सीहे मियाण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२०] जैसे तीक्ष्ण दाढों वाला, पूर्ण वयस्क एवं अपराजेय (दुष्प्रधर्ष) सिंह वन्यप्राणियों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत (नैगमादि नयरूप) दाढों से तथा प्रतिभादि गुणों के कारण दुर्जय एवं श्रेष्ठ होता है।

२१. जहा से वासुदेवे संख-चक्क-गयाधरे।
अप्पडिहयबले जोहे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२१] जैसे शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अप्रतिबाधित बल वाला योद्धा होता है, वैसे ही बहुश्रुत (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप त्रिविध आयुधों से युक्त एवं कर्मरिपुओं को पराजित करने में अपराजेय योद्धा की तरह समर्थ) होता है।

२२. जहा से चाउरन्ते चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चउद्दसरयणाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२२] जैसे महान् ऋद्धिमान् चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (आमर्षौषधि आदि ऋद्धियों तथा पुलाकादि लब्धियों से युक्त, चारों दिशाओं में व्याप्त कीर्ति वाला चौदह पूर्वों का स्वामी) होता है।

२३. जहा से सहस्सक्खे वज्जपाणी पुरन्दरे।
सक्के देवाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२३] जैसे सहस्राक्ष, वज्रपाणि एवं पुरन्दर शक्र देवों का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (देवों के द्वारा पूज्य होने से) देवों का स्वामी होता है।

२४. जहा से तिमिरविद्धंसे उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२४] जैसे अन्धकार का विध्वंसक उदीयमान दिवाकर (सूर्य) तेज से जाज्वल्यमान होता है, वैसे ही बहुश्रुत (अज्ञानान्धकारनाशक होकर तप के तेज से जाज्वल्यमान) होता है।

२५. जहा से उडुवई चन्दे नक्खत्त—परिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२५] जैसे नक्षत्रो के परिवार से परिवृत नक्षत्रो का अधिपति चन्द्रमा पूर्णमासी को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (जिज्ञासु साधको से परिवृत, साधुओ का अधिपति एव ज्ञानादि सकल कलाओ से परिपूर्ण) होता है।

२६. जहा से सामाइयाणं कोट्ठागारे सुरक्खिए।
नाणाधन्नपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२६] जैसे सामाजिको (कृषकवर्ग या व्यवसायिगण) का कोष्ठागार (कोठार) सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यो से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत (गच्छवासी जनो के लिए सुरक्षित ज्ञानभण्डार की तरह अग, उपाग, मूल, छेद आदि विविध श्रुतज्ञानविशेष से परिपूर्ण) होता है।

२७. जहा सा दुमाण पवरा जम्बू नाम सुदंसणा।
अणाढियस्स देवस्स एव हवइ बहुस्सुए॥

[२७] जिस प्रकार 'अनादृत' देव का 'सुदर्शन' नामक जम्बूवृक्ष, सब वृक्षो मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (अमृतफलतुल्य श्रुतज्ञानयुक्त, देवपूज्य एव समस्त साधुओ मे श्रेष्ठ) होता है।

२८. जहा सा नईण पवरा सलिला सागरगमा।
सीया नीलवन्तपवहा एव हवइ बहुस्सुए॥

[२८] जैसे नीलवान् वर्षधर पर्वत से नि सृत जलप्रवाह से परिपूर्ण एव समुद्रगामिनी शीता-नदी सब नदियो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (वीर-हिमाचल से नि सृत, निर्मलश्रुतज्ञान रूप जल से पूर्ण मोक्षरूप-महासमुद्रगामी एव समस्त श्रुतज्ञानी साधुओ मे श्रेष्ठ) होता है।

२९. जहा से नगाण पवरे सुमहं मन्दरे गिरी।
नाणोसहिपज्जलिए एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२९] जिस प्रकार नाना प्रकार की ओषधियो से प्रदीप्त, अतिमहान्, मन्दर (मेरु) पर्वत सब पर्वतो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (श्रुतमाहात्म्य के कारण स्थिर, आमर्षौषधि आदि लब्धियो से प्रदीप्त एवं समस्त साधुओ मे) श्रेष्ठ होता है।

३०. जहा से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[३०] जिस प्रकार अक्षयजलनिधि स्वयम्भूरमण समुद्र नानाविध रत्नो से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (अक्षय सम्यग्ज्ञानरूपी जलनिधि अर्थात् नानाविध ज्ञानादि रत्नो से परिपूर्ण) होता है।

विवेचन— वसे गुरुकुले निच्चं—अर्थात् गुरुओ-आचार्यों के कुल-गच्छ मे रहे। यहाँ 'गुरुकुल मे रहे' का भावार्थ है—गुरु की आज्ञा मे रहे। कहा भी है—'गुरुकुल मे रहने से साधक ज्ञान का

भागी होता है, दर्शन और चारित्र मे स्थिरतर होता है, वे धन्य हैं, जो जीवनपर्यन्त गुरुकुल नही छोड़ते।'[1]

जोगवं—योगवान्—योग के ५ अर्थ : विभिन्न सन्दर्भों में—(१) मन, वचन और काया का व्यापार, (२) सयमयोग, (३) अध्ययन मे उद्योग, (४) धर्मविषयक प्रशस्त प्रवृत्ति और (५) समाधि। प्रस्तुत प्रसग मे योगवान् का अर्थ है—समाधिमान् अथवा प्रशस्त मन, वचन, काया के योग—व्यापार से युक्त।[2]

दुहओ वि विरायइ : व्याख्या—शख मे रखा हुआ दूध दोनो प्रकार से सुशोभित होता है—निजगुण से और शखसम्बन्धी गुण से। दूध स्वय स्वच्छ होता है, जब वह शख जैसे स्वच्छ पात्र मे रखा जाता है तब और अधिक स्वच्छ प्रतीत होता है। शख मे रखा हुआ दूध न तो खट्टा होता है और न झरता है।

बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं : दो व्याख्याएँ—(१) बहुश्रुत भिक्षु मे धर्म, कीर्ति तथा श्रुत अबाधित (सुशोभित) रहते हैं। तात्पर्य यह है कि यो तो धर्म, कीर्ति और श्रुत ये तीनों स्वय ही निर्मल होने से सुशोभित होते है तथापि मिथ्यात्व आदि कालुष्य दूर होने से निर्मलता आदि गुणो से शखसदृश उज्ज्वल बहुश्रुत के आश्रय मे रहे हुए ये गुण (आश्रय के गुणो के कारण) विशेष प्रकार से सुशोभित होते है तथा बहुश्रुत मे रहे हुए ये धर्मादि गुण मलिनता, विकृति या हानि को प्राप्त नही होते—अबाधित रहते है। (२) योग्य भिक्षुरूपी भाजन मे ज्ञान देने वाले बहुश्रुत को धर्म होता है, उसकी कीर्ति होती है, श्रुत आराधित या अबाधित होता है।[3]

आइण्णे कंथए : आकीर्ण का अर्थ—शील, रूप, बल आदि गुणो से आकीर्ण व्याप्त, जातिमान्। **कन्थक**—(१) पत्थरो के टुकडो से भरे हुए कुप्पो के गिरने की आवाज से जो भयभीत नही होता, (२) जो खडखडाहट से नही चौकता या पर्वतो के विषममार्ग मे या विकट युद्धभूमि मे जाने से या शस्त्रप्रहार से नही हिचकिचाता, ऐसा श्रेष्ठ जाति का घोडा।[4]

नंदिघोसेणं—नन्दिघोष दो अर्थ—बारह प्रकार के वाद्यो की एक साथ होने वाली ध्वनि

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७
(ख) उत्तरा चूर्णि, पृष्ठ १९८ 'णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवास न मुचति॥'

२. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ १९८ **'जोगो मणजोगादि संजमजोगो उज्जोगं पठितव्वते करेइ।'**
(ख) 'योजन योगो-व्यापार स चेह प्रक्रमाद् धर्मगत एव, तद्वान् अतिशायने मतुप्। यद्वा योग —समाधि, सोऽस्यास्तीति योगवान्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७
(ग) 'मोक्खेण जोयणाओ जोगो, सव्वोवि धम्मवावारो।' —योगविंशिका-१

३ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १९८
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८

४ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ १९८
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८
(ग) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ५४०

या मगलपाठकों (बंदिग्रो) की आशीर्वचनात्मक ध्वनि। बहुश्रुत भी इसी प्रकार जिनप्रवचनरूपी अश्वाश्रित होकर अभिमानी परवादियो के दर्शन से अत्रस्त और उन्हे जीतने मे समर्थ होता है। दोनों ओर के अर्थात्—दिन और रात अथवा अगल-बगल मे शिष्यो के स्वाध्यायरूपी नन्दिघोष से युक्त होता है।

कुंजरे सट्ठिहायणे—साठ वर्ष का हाथी। अभिप्राय यह है कि साठ वर्ष की आयु तक हाथी का बल प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर बढता जाता है, उसके पश्चात् कम होने लगता है। इसलिए यहाँ हाथी की पूर्ण बलवत्ता बताने के लिए 'षष्ठिवष' का उल्लेख किया गया है।

जायखंधे—जातस्कन्ध—जिस वृषभ का कधा अत्यन्त पुष्ट हो गया हो, वह जातस्कन्ध कहलाता है। कन्धा परिपुष्ट होने पर उसके दूसरे सभी अगोपागो की परिपुष्टता उपलक्षित होती है।[1]

उदग्गे मियाण पवरे—उदग्र : दो अर्थ—(१) उत्कट, (२) अथवा उदग्र वय—पूर्ण युवावस्था को प्राप्त, **मियाण पवरे** का अर्थ है—वन्य पशुओ मे श्रेष्ठ।

चाउरंते—चातुरन्त : दो अर्थ—(१) जिसके राज्य मे एक दिगन्त मे हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिगन्तो मे समुद्र हो, वह चातुरन्त होता है अथवा (२) हाथी, घोडा, रथ और पंदल इन चारो सेनाओ के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला चातुरन्त है।

चक्कवट्टी : चक्रवर्ती—षट्खण्डो का अधिपति चक्रवर्ती कहलाता है।

चउद्दसरयणाहिवई—चतुर्दशरत्नाधिपति—चक्रवर्ती चौदह रत्नो का स्वामी होता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न ये हैं—(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) बढई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड।[2]

सहस्सक्खे—सहस्राक्ष : दो भावार्थ—(१) इन्द्र के पाच सौ देव मत्री होते हैं। राजा मत्री की आँखो से देखता है, अर्थात्—इन्द्र उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है, इसलिए वह सहस्राक्ष कहलाता है। (२) जितना हजार आँखो से दीखता है, इन्द्र उससे अधिक अपनी दो आँखो से देख लेता है, इसलिए वह सहस्राक्ष है। यह अर्थ वैसे ही आलकारिक है, जैसे कि चतुष्कर्ण—चौकन्ना शब्द अधिक सावधान रहने के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

पुरंदरे : भावार्थ—पुराण मे इस सम्बन्ध मे एक कथा है कि इन्द्र ने शत्रुओ के पुरो का विदारण किया था, इस कारण उसका नाम 'पुरन्दर' पड़ा। ऋग्वेद मे दस्युओ अथवा दासो के पुरो

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४९

(ख) हायण वरिस, सट्ठिवरसे पर बलहीणो, अपत्तबलो परेण परिहाति। —उत्तरा चूर्णि, पृ १९९

(ग) 'षष्टिहायनः—षष्टिवर्षप्रमाण तस्य हि एतावत्काल यावत् प्रतिवर्ष बलोपचय ततस्तदपचय, इत्येव-मुक्तम्।' —उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ३४९

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५० —सेणावइ गाहावइ पुरोहिय, गय तुरग वड्ढइग इत्थी।

चक्क छत्त चम्म मणि, कागिणी खग्ग दडो य॥ —चतुर्दशरत्नानि।

को नष्ट करने के कारण 'इन्द्र' को 'पुरन्दर' कहा गया है। वस्तुत इन्द्र के 'सहस्राक्ष' और 'पुरन्दर' ये दोनो नाम लोकोक्तियों पर आधारित हैं।[1]

उत्तिट्ठन्ते दिवायरे—दो अर्थ : (१) उत्थित होता हुआ सूर्य—चूर्णिकार के अनुसार मध्याह्न तक का सूर्य उत्थित होता हुआ माना गया है, उस समय तक सूर्य का तेज (प्रकाश और आतप) बढ़ता है। (२) उगता हुआ सूर्य—बाल सूर्य। वह सौम्य होता है, बाद में तीव्र होता है।

नक्खत्तपरिवारिए—अश्विनी, भरणी आदि २७ नक्षत्रों के परिवार से युक्त। २७ नक्षत्र ये हैं—(१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिरा, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसु, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वाफाल्गुनी, (१२) उत्तराफाल्गुनी, (१३) हस्त, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढा, (२१) उत्तराषाढा, (२२) श्रवण, (२३) धनिष्ठा, (२४) शतभिषक्, (२५) पूर्वाभाद्रपदा, (२६) उत्तराभाद्रपदा और (२७) रेवती।[2]

सामाइयाणं कोट्ठागारे—सामाजिक-कोष्ठागार—समाज का अर्थ है—समूह। सामाजिक का अर्थ है—समूहवृत्ति (सहकारीवृत्ति) वाले लोग, उनके कोष्ठागार अर्थात् विविध धान्यों के कोठार। प्राचीन काल मे भी कृषको या व्यापारियो के सामूहिक अन्नभण्डार (गोदाम) होते थे, जिनमे नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे। चोर, अग्नि एव चूहो आदि से बचाने के लिए पहरेदारो को नियुक्त करके उनकी पूर्णत सुरक्षा की जाती थी।[3]

जबू नाम सुदंसणा, अणाढियस्स देवस्स—अणाढिय—अनादृतदेव, जम्बूद्वीप का अधिपति व्यन्तरजाति का देव है। सुदर्शना नामक जम्बूवृक्ष जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का आश्रय (निवास) स्थानरूप है, उसके फल अमृततुल्य है। इसलिए वह सभी वृक्षो मे श्रेष्ठ माना जाता है।

सीया नीलवंतपवहा : शीता नीलवत्प्रवहा—मेरु पर्वत के उत्तर मे नीलवान् पर्वत है। इसी पर्वत से शीता नदी प्रवाहित होती है, जो सबसे बडी नदी है और अनेक जलाशयो से व्याप्त है।[4]

---

१ (क) सहस्सक्खेत्ति—'पचमतिसयाइ देवाण तस्स सहस्सो अक्खीण, तेसिं णीतिए दिट्ठमिति। अहवा जं सहस्सेण अक्खीण दीसति, त सो दोहि अक्खीहि अब्भहियतराय पेच्छति।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ १९९

(ख) लोकोक्त्या च पुर्दारणात् पुरन्दर।

(ग) ऋग्वेद १।१०२।७, १।१०९।८, २।२०।७, ३।५४।१५, ५।३०।११, ६।१६।१४

२ (क) जाव मज्झण्णो ताव उट्ठेति, ताव ते तेयलेसा वढति, पच्छा परिहाति, अहवा उत्तिट्ठतो सोमो भवति, हेमंतियबालसूरिओ।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५१

(ग) होडाचक्र, २७ नक्षत्रो के नाम

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ३५१

४ (क) वही, पत्र ३५२ शीता—शीतानाम्नी, नीलवान्—मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्षधरपर्वतस्तत ·· प्रवहति···· नीलवत्प्रवहा।

(ख) सीता सव्वणदीण महल्ला, बहूहिं च जलासतेहिं च आइण्णा। —उत्त. चूर्णि, पृ २००

सुमहं मंदरे गिरी, नाणोसहिपज्जलिए—चूर्णि के अनुसार मदर पर्वत स्थिर और सबसे ऊँचा पर्वत है। यही से दिशाओ का प्रारम्भ होता है। 'उसे यहाँ नाना प्रकार की ओषधियो से प्रज्वलित कहा गया है। वहाँ कई ओषधियाँ ऐसी हैं, जो जाज्वल्यमान प्रकाश करती हैं, उनके योग से मन्दर-पर्वत भी प्रज्वलित होता है।'[1]

बहुश्रुतता का फल एवं बहुश्रुतता प्राप्ति का उपदेश

३१. समुद्दगम्भीरसमा दुरासया अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया॥

[३१] सागर के समान गम्भीर, दुरासद (जिनका पराभूत होना दुष्कर है), (परीषहादि से) अविचलित, परवादियो द्वारा अत्रासित अर्थात् अजेय, विपुल श्रुतज्ञान से परिपूर्ण और त्राता (षट्-कायरक्षक)—ऐसे बहुश्रुत मुनि कर्मों का सर्वथा क्षय करके उत्तमगति (मोक्ष) मे पहुँचे।

३२. तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा उत्तमट्ठगवेसए।
जेणऽप्पाणं परं चेव सिद्धिं संपाउणेज्जासि॥
—त्ति बेमि।

[३२] (बहुश्रुतता मुक्ति प्राप्त कराने वाली है,) इसलिए उत्तमार्थ (मोक्ष-पुरुषार्थ) का अन्वेषक श्रुत (आगम) का (अध्ययन-श्रवण-चिन्तनादि के द्वारा) आश्रय ले, जिससे (श्रुत के आश्रय से) वह स्वय को और दूसरे साधको को भी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करा सके। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—समुद्दगंभीरसमा—गम्भीरसमुद्रसम—गहरे समुद्र के समान जो बहुश्रुत अध्यात्म-तत्त्व मे गहरे उतरे हुए हैं।

दुरासया—दुष्पराजेय।

अचक्किया-अचक्रिता : दो अर्थ—(१) परीषहादि से अचक्रित—अविचलित, अथवा (२) परवादियो से अत्रासित—निर्भय।

उत्तमं गइं गया—उत्तम—प्रधान गति—मोक्ष को प्राप्त हुए।

उत्तमट्ठगवेसए—उत्तम अर्थ-प्रयोजन या पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का अन्वेषक।[2]

॥ बहुश्रुत-पूजा : ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त॥

---

१ (क) 'जहा मदरो थिरो उस्सिओ, दिसाओ य एत्थ पवत्तंति।' —उत्त. चूर्णि, पृ २००
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५२

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३

बारहवाँ अध्ययन : हरिकेशीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'हरिकेशीय' है। इसमें साधुजीवन अगीकार करने के पश्चात् चाण्डाल-कुलोत्पन्न हरिकेशबल महाव्रत, समिति, गुप्ति, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म एव तप, सयम की साधना करके किस प्रकार उत्तमगुणधारक, तपोलब्धिसम्पन्न, यक्षपूजित मुनि बने और जातिमदलिप्त ब्राह्मणो का मिथ्यात्व दूर करके किस प्रकार उन्हे सच्चे यज्ञ का स्वरूप समझाया, इसका स्पष्ट वर्णन किया है। सक्षेप मे, इसमे हरिकेशबल के उत्तरार्द्ध (मुनि) जीवन का निरूपण है।

* हरिकेशबल मुनि कौन थे ? वे किस कुल मे जन्मे थे ? मुनिजीवन में कैसे आए ? चाण्डालकुल मे उनका जन्म क्यो हुआ था ? इससे पूर्वजन्मों मे वे कौन थे ? इत्यादि विषयो की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। सक्षेप मे, हरिकेशबल के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ इस प्रकार हैं—

* मथुरानरेश शख राजा ने ससार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की। विचरण करते हुए एक बार वे हस्तिनापुर पधारे। भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए शखमुनि एक गली के निकट आए, वहाँ जनसचार न देखकर निकटवर्ती गृहस्वामी सोमदत्त पुरोहित से मार्ग पूछा। उस गली का नाम 'हुतवह-रथ्या' था। वह ग्रीष्मऋतु के सूर्य के ताप से तपे हुए लोहे के समान अत्यन्त गर्म रहती थी। कदाचित् कोई अनजान व्यक्ति उस गली के मार्ग से चला जाता तो वह उसकी उष्णता से मूच्छित होकर वही मर जाता था। परन्तु सोमदत्त को मुनियो के प्रति द्वेष था, इसलिए उसने द्वेषवश मुनि को उसी हुतवह-रथ्या का उष्णमार्ग बता दिया। शंखमुनि निश्चल भाव से ईर्यासमितिपूर्वक उसी मार्ग पर चल पडे। लब्धिसम्पन्न मुनि के प्रभाव से उनका चरणस्पर्श होते ही वह उष्णमार्ग एकदम शीतल हो गया। इस कारण मुनिराज धीरे-धीरे उस मार्ग को पार कर रहे थे। यह देख सोमदत्त पुरोहित के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह उसी समय अपने मकान से नीचे उतर कर उसी हुतवहगली से चला। गली का चन्दन-सा शीतल स्पर्श जान कर उसके मन मे बडा पश्चात्ताप हुआ। सोचने लगा—'यह मुनि के तपोबल का का ही प्रभाव है कि यह मार्ग चन्दन-सम-शीतल हो गया।' इस प्रकार विचार कर वह मुनि के पास आकर उनके चरणो मे अपने अनुचित कृत्य के लिए क्षमा मागने लगा। शखमुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया, जिससे वह विरक्त होकर उनके पास दीक्षित हो गया। मुनि बन जाने पर भी सोमदेव जातिमद और रूपमद करता रहा। अन्तिम समय मे उसने उक्त दोनो मदो की आलोचना-प्रतिक्रमणा नही की। चारित्रपालन के कारण मर कर वह स्वर्ग मे गया।

* देव-आयुष्य को पूर्ण कर जातिमद के फलस्वरूप मृतगगा के किनारे हरिकेशगोत्रीय चाण्डालों के अधिपति 'बलकोट्ट' नामक चाण्डाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्र-रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'बल' रखा गया। यही बालक आगे चल कर 'हरिकेशबल' कहलाया। पूर्वजन्म मे उसने रूपमद किया था, इस कारण वह कालाकलूटा, कुरूप और बेडौल हुआ उसके सभी

परिजन उसकी कुरूपता देख कर घृणा करने लगे। साथ ही ज्यो-ज्यो वह बडा होता गया, त्यों-त्यों उसका स्वभाव भी क्रोधी और झगड़ालू बनता गया। वह हर किसी से लड पड़ता और गालियाँ बकता। यहाँ तक कि माता-पिता भी उसके कटु व्यवहार और उग्र स्वभाव से परेशान हो गए।

एक दिन बसतोत्सव के अवसर पर सभी लोग एकत्रित हुए। अनेक बालक खेल खेलने मे लगे हुए थे। उपद्रवी हरिकेशबल जब बालको के उस खेल मे सम्मिलित होने लगा तो वृद्धो ने उसे खेलने नही दिया। इससे गुस्से मे आकर वह सबको गालियाँ देने लगा। सबने उसे वहाँ से निकालकर दूर बैठा दिया। अपमानित हरिकेशबल अकेला लाचार और दु.खित हो कर बैठ गया। इतने मे ही वहाँ एक भयकर काला विषधर निकला। चाण्डालो ने उसे 'दुष्टसर्प है' यह कह कर मार डाला। थोडी देर बाद एक अलशिक (दुमुंही) जाति का निर्विष सर्प निकला। लोगों ने उसे विषरहित कह कर छोड दिया। इन दोनो घटनाओ को दूर बैठे हरिकेशबल ने देखा। उसने चिन्तन किया कि 'प्राणी अपने ही दोषो से दु ख पाता है, अपने ही गुणो से प्रीतिभाजन बनता है। मेरे सामने ही मेरे बन्धुजनो ने विषैले साप को मार दिया और निर्विष की रक्षा की, नही मारा। मेरे बन्धुजन मेरे दोषयुक्त व्यवहार के कारण ही मुझ से घृणा करते हैं। मैं सबका अप्रीतिभाजन बना हुआ हूँ। यदि मैं भी दोषरहित बन जाऊँ तो सबका प्रीतिभाजन बन सकता हूँ।' यों विचार करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके समक्ष मनुष्यभव मे कृत जातिमद एव रूपमद का चित्र तैरने लगा। उसी समय उसे विरक्ति हो गई और उसने किसी मुनि के पास जा कर भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। उसकी धर्मसाधना मे जाति अवरोध नही डाल सकी।

मुनि हरिकेशबल ने कर्मक्षय करने के लिये तीव्र तपश्चर्या की। एक बार विहार करते हुए वे वाराणसी पहुँचे। वहाँ तिंदुकवन् मे एक विशिष्ट तिन्दुकवृक्ष के नीचे वे ठहर गए और वही मासखमण-तपश्चर्या करने लगे। इनके उत्कृष्ट गुणो से प्रभावित हो कर गण्डीतिन्दुक नामक एक यक्षराज उनकी वैयावृत्य करने लगा। एक बार नगरी के राजा कौशलिक की भद्रा नाम की राजपुत्री पूजनसामग्री लेकर अपनी सखियो सहित उस तिन्दुकयक्ष की पूजा करने वहाँ आई। उसने यक्ष की प्रदक्षिणा करते हुए मलिन वस्त्र और गदे शरीर वाले कुरूप मुनि को देखा तो मुह मचकोड कर घृणाभाव से उन पर थूक दिया। यक्ष ने राजपुत्री का यह असभ्य व्यवहार देखा तो कुपित हो कर शीघ्र ही उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गया। यक्षाविष्ट राजपुत्री पागलो की तरह असम्बद्ध प्रलाप एव विकृत चेष्टाएँ करने लगी। सखियाँ उसे बड़ी मुश्किल से राजमहल मे लाई। राजा उसकी यह स्थिति देख कर अत्यन्त चिन्तित हो गया। अनेक उपचार होने लगे, किन्तु सभी निष्फल हुए। राजा और मत्री विचारमूढ हो गए कि अब क्या किया जाए? इतने मे ही यक्ष किसी के शरीर मे प्रविष्ट हो कर बोला—'इस कन्या ने घोर तपस्वी महामुनि का घोर अपमान किया है, अत: मैंने उसका फल चखाने के लिए इसे पागल कर दिया है। अगर आप इसे जीवित देखना चाहते हैं तो इस अपराध के प्रायश्चित्तस्वरूप उन्ही मुनि के साथ इसका विवाह कर दीजिए। अगर राजा ने यह विवाह स्वीकार नही किया तो मैं राजपुत्री को जीवित नही रहने दूगा।'

राजा ने सोचा—यदि मुनि के साथ विवाह कर देने से यह जीवित रहती है तो हमें क्या आपत्ति है? राजा ने यह बात स्वीकार कर ली और मुनि की सेवा में पहुँच कर अपने अपराध

की क्षमा मागी। हाथ जोड़ कर भद्रा को सामने उपस्थित करते हुए प्रार्थना की—'भगवन्! इस कन्या ने आपका महान् अपराध किया है। अतः मैं आपकी सेवा मे इसे परिचारिका के रूप मे देता हूँ। आप इसका पाणिग्रहण कीजिए।' यह सुन कर मुनि ने शान्तभाव से कहा—'राजन्! मेरा कोई अपमान नही हुआ है। परन्तु मैं धन-धान्य-स्त्री-पुत्र आदि समस्त सासारिक सम्बन्धो से विरक्त हूँ। ब्रह्मचर्यमहाव्रती हूँ। किसी भी स्त्री के साथ विवाह करना तो दूर रहा, स्त्री के साथ एक मकान मे निवास करना भी हमारे लिए अकल्पनीय है। सयमी पुरुषो के लिए ससार की समस्त स्त्रियाँ माता, बहिन एव पुत्री के समान हैं। आपकी पुत्री से मुझे कोई प्रयोजन नही है।' कन्या ने भी अपने पर यक्षप्रकोप को दूर करने के लिए मुनि से पाणिग्रहण करने के लिए अनुनय-विनय की। किन्तु मुनि ने जब उसे स्वीकार नही किया तो यक्ष ने उससे कहा—मुनि तुम्हे नही चाहते, अतः अपने घर चली-जाओ। यक्ष का वचन सुन कर निराश राजकन्या अपने पिता के साथ वापस लौट आई

किसी ने राजा से कहा कि 'ब्राह्मण भी ऋषि का ही रूप है। अत. मुनि द्वारा अस्वीकृत इस कन्या का विवाह यहाँ के राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर देना उचित रहेगा।' यह सुन कर राजा ने इस विचार को पसद किया। राजकन्या भद्रा का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दिया गया।

रुद्रदेव यज्ञशाला का अधिपति था। उसने अपनी नवविवाहिता पत्नी भद्रा को यज्ञशाला की व्यवस्था सौपी और एक महान् यज्ञ का प्रारम्भ किया। मुनि हरिकेशबल मासिक उपवास के पारणे के दिन भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए रुद्रदेव की यज्ञशाला मे पहुँच गए।

* आगे की कथा प्रस्तुत अध्ययन मे प्रतिपादित है ही।[1] पूर्वकथा मूलपाठ मे सकेतरूप से है, जिसे वृत्तिकारो ने परम्परानुसार लिखा है।

* मुनि और वहाँ के वरिष्ठ यज्ञसचालक ब्राह्मणो के बीच निम्नलिखित मुख्य विषयो पर चर्चा हुई है—(१) दान का वास्तविक पात्र-अपात्र, (२) जातिवाद की अतात्त्विकता, (३) सच्चा यज्ञ और उसके विविध आध्यात्मिक साधन, (४) जलस्नान, (५) तीर्थ आदि। इस चर्चा के माध्यम से ब्राह्मणसंस्कृति और श्रमण (निर्ग्रन्थ)-सस्कृति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यक्ष के द्वारा मुनि की सेवा भी 'देव धर्मनिष्ठपुरुषो के चरणो के दास बन जाते हैं' इस उक्ति को चरितार्थ करती है।

---

१. देखिये—उत्तरा अ १२ की १२ वीं गाथा से लेकर ४७ वीं गाथा तक।

बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन

हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

हरिकेशबल मुनि का मुनिरूप में परिचय

१. सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ॥

[१] हरिकेशबल नामक मुनि श्वपाक-चाण्डाल कुल मे उत्पन्न हुए थे, (फिर भी वे) ज्ञानादि उत्तम गुणो के धारक और जितेन्द्रिय भिक्षु थे।

२. इरि-एसण-भासाए उच्चार-समिईसु य।
जओ आयाणनिक्खेवे संजओ सुसमाहिओ॥

[२] वे ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार (परिष्ठापन) और आदान-निक्षेप—(इन पाच) समितियो मे यत्नशील, सयत (सयम मे पुरुषार्थी) और सुसमाधिमान् थे।

३. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
भिक्खट्ठा बम्भ-इज्जंमि जन्नवाडं उवट्ठिओ॥

[३] वे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त जितेन्द्रिय मुनि भिक्षा के लिए यज्ञवाट (यज्ञमण्डप) मे पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणो का यज्ञ हो रहा था।

विवेचन—श्वपाककुल में उत्पन्न—श्वपाककुल : बृहद्वृत्तिकार के अनुसार—चाण्डालकुल, चूर्णिकार के अनुसार—जिस कुल मे कुत्ते का मांस पकाया जाता है, वह कुल, निर्युक्तिकार के अनुसार—हरिकेश, चाण्डाल, श्वपाक, मातंग, बाह्य, पाण, श्वानधन, मृताश, श्मशानवृत्ति और नीच, ये सब एकार्थक हैं।[1]

हरिएसबलो—हरिकेशबल : अर्थ—हरिकेश, मुनि का गोत्र था और बल उनका नाम था। उस युग मे नाम के पूर्व गोत्र का प्रयोग होता था। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार हरिकेशनाम गोत्र का वेदन करने वाला।[2]

---

१ (क) श्वपाका चाण्डला। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
(ख) हरिएसा चंडाला सोवाग मयंग बाहिरा पाणा। साणधणा य मयासा सुसाणवित्ती य नीया य॥
—उत्त निर्युक्ति, गा ३२३

२ (क) हरिकेश.—सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो, बलो नाम—बलाभिधानम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
(ख) हरिकेशनाम-गोत्र वेदयन्। —उत्त- निर्युक्ति, गा ३२० का अर्थ

मुणो-मुनि : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—'सर्वविरति की प्रतिज्ञा लेने वाला' और (२) चूर्णि के अनुसार—धर्म-अधर्म का मनन करने वाला।[1]

चाण्डालकुलोत्पन्न होते हुए भी श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न—यहाँ शास्त्रकार का आशय यह है कि किसी जाति या कुल मे जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति उच्च या नीच नही हो जाता, किन्तु गुण और अवगुण के कारण ही व्यक्ति की उच्चता-नीचता प्रकट होती है। हरिकेशबल चाण्डालकुल मे जन्मा था, जिस कुल के लोग कुत्ते का मास भक्षण करने वाले, शव के वस्त्रो का उपयोग करने वाले, आकृति से भयकर, प्रकृति से कठोर एवं असस्कारी होते है। उस असस्कारी घृणित कुल मे जन्म लेकर भी हरिकेशबल पूर्वपुण्योदय से श्रेष्ठ गुणो के धारक, जितेन्द्रिय और भिक्षाजीवी मुनि बन गए थे। वे कैसे उत्तमगुणधारी मुनि बने ? इसकी पूर्वकथा अध्ययनसार मे दी गई है।[2]

वे प्रतिज्ञा से ही नहीं, आचार से भी मुनि थे—दूसरी और तीसरी गाथा में बताया गया है कि वे केवल प्रतिज्ञा से या नाममात्र से ही मुनि नही थे, अपितु मुनिधर्म के आचार से युक्त थे। यथा—वे पाच समिति और तीन गुप्तियो का पालन पूर्ण सावधानीपूर्वक करते थे, जितेन्द्रिय थे, पचमहाव्रतरूप सयम मे पुरुषार्थी थे, सम्यक् समाधिसम्पन्न थे और निर्दोष भिक्षा पर निर्वाह करने वाले थे।[3]

जण्णवाड—यज्ञवाड या यज्ञपाट। यज्ञवाड का अर्थ यज्ञ करने वालो का मोहल्ला, पाडा, अथवा बाडा प्रतीत होता है। कई आधुनिक टीकाकार 'यज्ञमण्डप' अर्थ करते हैं।[4]

मुनि को देख कर ब्राह्मणों द्वारा अवज्ञा एवं उपहास

४. तं पासिऊणमेज्जन्त तवेण परिसोसियं।
पन्तोवहिउवगरणं उवहसन्ति अणारिया॥

[४] तप से सूखे हुए शरीर वाले तथा प्रान्त (जीर्ण एवं मलिन) उपधि एव उपकरण वाले उस मुनि को आते देख कर (वे) अनार्य (उनका) उपहास करने लगे।

५. जाईमयपडिथद्धा हिंसगा अजिइन्दिया।
अबम्भचारिणो बाला इमं वयणमब्बवी—॥

[५] (उन) जातिमद से प्रतिस्तब्ध—गर्वित, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी एव अज्ञानी लोगो ने इस प्रकार कहा—

६. कयरे आगच्छइ दित्तरूवे काले विगराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए सकरदूसं परिहरिय कण्ठे॥

[६] बीभत्स रूप वाला, काला-कलूटा, विकराल, बेडौल (आगे से मोटी) नाक वाला, अल्प

---

1. (क) 'मुणति-प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुणि।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
   (ख) 'मनुते-मन्यते वा धर्माऽधर्मानिति मुनि।' -उत्त चूर्णि, पृ २०३
2. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
3. वही, पत्र ३५७
4. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ (ख) उत्तरा (मुनि नथमलजी) अनुवाद, पृ. १४३

एवं मलिन वस्त्र वाला, धूलि-धूसरित शरीर होने से भूत-सा दिखाई देने वाला, (और) गले मे संकर-दूष्य (कूडे के ढेर से उठा कर लाये हुए जीर्ण एव मलिन वस्त्र-सा) धारण किये हुए यह कौन आ रहा है ?

७. कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया गच्छ क्खलाहि किमिह ठिओसि ? ॥

[७] 'अरे अदर्शनीय ! तू कौन है रे ?, यहाँ तू किस आशा से आया है ? जीर्ण और मैले वस्त्र होने से अधनगे तथा धूल के कारण पिशाच जैसे शरीर वाले ! चल, हट जा यहाँ से ! यहाँ क्यो खड़ा है ?'

विवेचन—पंतोवहिउवगरणं—प्रान्त शब्द यहाँ जीर्ण और मलिन होने से तुच्छ—असार अर्थ मे है, यह उपधि और उपकरण का विशेषण है। यो तो उपधि और उपकरण ये दोनो धर्मसाधना के लिए उपकारी होने से एकार्थक हैं, तथापि उपधि का अर्थ यहाँ नित्योपयोगी वस्त्रपात्रादि रूप उपकरण—औघिकोपधि है और उपकरण का अर्थ—सयमोपकारक रजोहरण, प्रमार्जनिका आदि औपग्रहिकोपधि है।[1]

अणारिया—अनार्य शब्द मूलत: निम्न जाति, कुल, क्षेत्र, कर्म, शिल्प आदि से सम्बन्धित था, किन्तु बाद मे यह निम्न-असभ्य-आचरणसूचक बन गया। यहाँ अनार्य शब्द असभ्य, उज्जड, अनाडी अथवा साधु पुरुषो के निन्दक—अशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त है।[2]

आचरणहीन ब्राह्मण—प्रस्तुत गाथा (स ५) मे आचरणहीन ब्राह्मणो का स्वरूप बताया गया है, उनके ५ विशेषण बताये गए हैं—जातिमद से मत्त, हिसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और बाल। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'हम ब्राह्मण हैं, उच्च जातीय हैं, श्रेष्ठ है, इस प्रकार के जातिमद से वे मत्त थे, यज्ञो मे पशुवध करने के कारण हिंसापरायण थे, पाचो इन्द्रियो को वश मे नही किये हुए थे, वे पुत्रोत्पत्ति के लिए मैथुनसेवन (अब्रह्माचरण) को धर्म मानते थे तथा बालक्रीडा की तरह लौकिक-कामनावश अग्निहोत्रादि मे प्रवृत्त होने से अज्ञानी (अतत्त्वज्ञ) थे।[3]

ओमचेलए—(१) चूर्णि के अनुसार—अचेल अथवा थोडे-से जीर्ण-शीर्ण तुच्छ वस्त्रो वाला, (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—हलके, गदे एव जीर्ण होने से असार वस्त्रो वाला।[4]

---

१. (क) **'प्रान्तः—जीर्ण-मलिनत्वादिभिरसारम्।'** —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८
(ख) **उपधिः**—नित्योपयोगी वस्त्रपात्रादिरूप औघिकोपधि, **उपकरण**—सयमोपकारक रजोहरणप्रमार्जिकादिकम्—औपग्रहिकोपधिश्च। —उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ५७६

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ५७६

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८—

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः।
ऋतुकाले विधानेन तत्र दोषो न विद्यते ॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चात् स्वर्गं गमिष्यति ॥
उक्त च—**अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेति लक्ष्यते ॥**

४ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ. २०४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९

पंसुपिसायभूए—लौकिक व्यवहार में पिशाच वह माना जाता है, जिसके दाढी-मूछ, नख और रोएँ लम्बे एव बडे हुए हों, शरीर धूल से भरा हो, मुनि भी शरीर के प्रति निरपेक्ष एव धूल से भरे होने के कारण पिशाच (भूत) जैसे लगते थे।[1]

'संकरदूसं परिहरिय'—सकर का अर्थ है—तृण, धूल, राख, गोबर, कोयले आदि मिले हुए कूडे-कर्कट का ढेर, जिसे उकरडी कहते हैं। वहाँ लोग उन्ही वस्त्रो को डालते हैं, जो अनुपयोगी एव अत्यन्त रद्दी हों। इसलिए सकरदूष्य का अर्थ हुआ—उकरडी से उठा कर लाया हुआ चिथड़ा। मुनि के वस्त्र भी वैसे थे, जीर्ण, शीर्ण और निकृष्ट, फेंकने योग्य। इसलिए मुनि को उन्होंने कहा था—गले मे सकरदूष्य पहने हुए। कन्धा कण्ठ का पार्श्ववर्ती भाग है, इसलिए यहाँ कन्धे के लिए 'कण्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। आशय यह है कि ऐसे वस्त्र मुनि के कन्धे पर डले हुए थे। जो मुनि अभिग्रहधारी होते हैं, वे अपने वस्त्रो को जहाँ जाते हैं, वहाँ साथ ही रखते हैं, उपाश्रय मे छोड कर नही जाते।[2]

विगराले—विकराल—हरिकेशबल मुनि के दात आगे बढे हुए थे, इस कारण उनका चेहरा विकराल लगता था।[3]

यक्ष के द्वारा मुनि का परिचयात्मक उत्तर

८. जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं इमाइं वयणाइमुदाहरित्था—॥

[८] उस समय उस महामुनि के प्रति अनुकम्पाभाव रखने वाले तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष ने अपने शरीर को छिपा कर (महामुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर) ऐसे वचन कहे—

९. समणो अहं संजओ बम्भयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि॥

[९] मैं श्रमण हूँ, मैं सयत (सयम-निष्ठ) हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, धन, पचन (भोजनादि पकाने) और परिग्रह से विरत (निवृत्त) हूँ, मैं भिक्षाकाल मे दूसरो (गृहस्थो) के द्वारा (अपने लिए) निष्पन्न आहार पाने के लिए यहाँ (यज्ञपाडे मे) आया हूँ।

१०. वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति सेसावसेसं लभऊ तवस्सी॥

[१०] यहाँ यह बहुत-सा अन्न बाटा जा रहा है, (बहुत-सा) खाया जा रहा है और (भात-दाल आदि भोजन) उपभोग मे लाया जा रहा है। आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं याचनाजीवी (भिक्षाजीवी) हूँ। अत भोजन के बाद बचे हुए (शेष) भोजन मे से अवशिष्ट भोजन इस तपस्वी को भी मिल जाए।

विवेचन—अणुकंपओ—जातिमदलिप्त ब्राह्मणों ने महामुनि का उपहास एव अपमान किया,

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९
२. वही, पत्र ३५९
३. वही, पत्र ३५८

फिर भी प्रशमपरायण महामुनि कुछ भी नही बोले, वे शान्त रहे। किन्तु तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष मुनि की तपस्या से प्रभावित होकर उनका सेवक बन गया था। उसी का विशेषण है—**अनुकम्पक**—मुनि के अनुकूल चेष्टा—प्रवृत्ति करने वाला।[1]

तिन्दुयरुक्खवासी—इस विषय मे परम्परागत मत यह है कि तिन्दुक (तेंदू) का एक वन था, उसके बीच मे एक बडा तिन्दुक-वृक्ष था, जिसमे वह यक्ष रहता था। उसी वृक्ष के नीचे एक चैत्य था, जिसमे वह महामुनि रह कर साधना करते थे।[2]

धण-पयणपरिग्गहाओ—धन का अर्थ यहाँ गाय आदि चतुष्पद पशु है, **पचन**—का अर्थ उपलक्षण से भोजन पकाना-पकवाना-खरीदवाना, बेचना बिकवाना है। परिग्रह का **अर्थ**—बृहद्-वृत्तिकार ने द्रव्यादि मे मूर्च्छा किया है, जब कि चूर्णिकार ने—स्वर्ण आदि किया है।[3]

परपवित्तस्स—दूसरो—गृहस्थो ने अपने लिए जो प्रवृत्त—निष्पादित—बनाया है।[4]

खज्जइ भुज्जइ : दोनों का अर्थ भेद—बृहद्वृत्ति के अनुसार खाजा आदि तले हुए पदार्थ 'खाद्य' कहलाते हैं और दाल-भात आदि पदार्थ भोज्य। सामान्यतया 'खाद्' और 'भुज्' दोनो धातु समानार्थक है, तथापि इनमे अर्थभेद है, जिसे चूर्णिकार ने बताया है—खाद्य खाया जाता है और भोज्य भोगा जाता है।[5]

यज्ञशालाधिपति रुद्रदेव

११. उवक्खडं भोयण माहणाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्न-पाणं दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि॥

[११] (रुद्रदेव—) यह भोजन (केवल) ब्राह्मणो के अपने लिए तैयार किया गया है। यह एकपक्षीय है। अत ऐसा (यज्ञार्थनिष्पन्न) अन्न-पान हम तुझे नही देगे। (फिर) यहाँ क्यो खड़ा है?

१२. थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं॥

[१२] (भिक्षुशरीरस्थ यक्ष—) अच्छी उपज की आकाक्षा से जैसे कृषक स्थलो (उच्च-भूभागो) मे बीज बोते हैं, वैसे ही निम्न भूभागो मे भी बोते है। कृषक की इस श्रद्धा (दृष्टि) से मुझे दान दो। यही (मैं ही) पुण्यक्षेत्र हूँ। इसी की आराधना करो।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ २०४-२०५
अणुकंपओ त्ति—अनु शब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूप कम्पते—चेष्टते इत्यनुकम्पक।

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ २०४-२०५

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० (ख) उत्तरा चूर्णि, पृ २०५

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०

५. (क) 'खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्त-सूपादि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २०५

१३. खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा ।
जे माहणा जाइ-विज्जोववेया ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ।।

[१३] (रुद्रदेव—) जगत् में ऐसे क्षेत्र हमे विदित (ज्ञात) हैं, जहाँ बोये हुए बीज पूर्णरूप से उग आते हैं। जो ब्राह्मण (ब्राह्मणरूप) जाति और (चतुर्दश) विद्याओ से युक्त हैं, वे ही मनोहर (उत्तम) क्षेत्र हैं, (तेरे सरीखे शूद्रजातीय तथा चतुर्दशविद्यारहित भिक्षु उत्तम क्षेत्र नही हैं)।

१४. कोहो य माणो य वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ।।

[१४] (यक्ष—) जिनके जीवन मे क्रोध और अभिमान है, वध (हिंसा) और असत्य (मृषावाद) है, अदत्तादान (चोरी) और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन हैं, वे क्षेत्र स्पष्टत पापक्षेत्र है।

१५. तुब्भेत्थ भो ! भारधरा गिराणं अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ।।

[१५] हे ब्राह्मणो ! तुम तो इस जगत् मे (केवल) वाणी (शास्त्रवाणी) का भार वहन करने वाले हो ! वेदो को पढकर भी उनके (वास्तविक) अर्थ को नही जानते। जो मुनि ऊँच-नीच--मध्यम घरो मे (समभावपूर्वक) भिक्षाटन करते है, वे ही वास्तव मे उत्तम क्षेत्र है।

१६. अज्झावयाणं पडिकूलभासी पभाससे किं नु सगासि अम्हं ।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं न य णं दहामु तुमं नियण्ठा ! ।।

[१६] (रुद्रदेव--) अध्यापको (उपाध्यायो) के प्रतिकूल बोलने वाले निर्ग्रन्थ ! तू हमारे समक्ष क्या बकवास कर रहा है ? यह अन्न-पान भले ही सड़कर नष्ट हो जाए, परन्तु तुझे तो हम हर्गिज नही देंगे।

१७. समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ? ।।

[१७] (यक्ष—) मैं ईर्या आदि पाच समितियो से सुसमाहित हूँ, तीन गुप्तियो से गुप्त हूँ और जितेन्द्रिय हूँ, यदि तुम मुझे यह एषणीय (एषणाविशुद्ध) आहार नही दोगे, तो आज इन यज्ञो का क्या (पुण्यरूप) लाभ पाओगे ?

विवेचन—रुद्रदेव-यक्ष-संवाद—प्रस्तुत सात गाथाओ मे रुद्रदेव याज्ञिक और महामुनि के शरीर मे प्रविष्ट यक्ष की परस्पर चर्चा है। एक प्रकार से यह ब्राह्मण और श्रमण का विवाद है।

एगपक्खं—एकपक्ष : व्याख्या—यह भोजन का विशेषण है। एकपक्षीय इसलिए कहा गया है कि यह यज्ञ में निष्पन्न भोजन केवल ब्राह्मणो के लिए है। अर्थात्—यज्ञ मे सुसंस्कृत भोजन ब्राह्मण-जाति के अतिरिक्त अन्य किसी जाति को नही दिया जा सकता, विशेषत शूद्र को तो बिल्कुल नही

दिया जा सकता ।[1]

अन्नपाणं—अन्न का अर्थ है—भात आदि तथा पान का अर्थ है—द्राक्षा आदि फलो का रस या पना या कोई पेय पदार्थ ।[2]

आससाए—यदि अच्छी वृष्टि हुई, तब तो ऊँचे भूभाग मे फसल अच्छी होगी, अगर वर्षा कम हुई तो नीचे भूभाग मे अच्छी पैदावार होगी, इस आशा से किसान ऊँची और नीची भूमि मे यथावसर बीज होते है ।

एआए सद्धाए—किसान की पूर्वोक्तरूप श्रद्धा—आशा के समान आशा रखकर भी मुझे दान दो । इसका आशय यह है कि चाहे आप अपने को ऊँची भूमि के समान और मुझे नीची भूमि के तुल्य समझे, फिर भी मुझे देना उचित है ।[3]

आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं : भावार्थ—यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला क्षेत्र (मै) ही पुण्यरूप है—शुभ है, अर्थात्—पुण्यप्राप्ति का हेतुरूप क्षेत्र है । इसी की आराधना करो ।[4]

सुपेसलाइं—यो तो सुपेशल का अथ—शोभन-सुन्दर या प्रीतिकर किया गया है, किन्तु यहाँ सुपेशल का प्रासगिक अर्थ उत्तम या पुण्यरूप ही सगत है ।[5]

जाइविज्जाविहीणा—यक्ष ने याज्ञिक ब्राह्मण से कहा—जो ब्राह्मण क्रोधादि से युक्त है, वे जाति और विद्या से कोसो दूर है, क्योकि जाति (वर्ण)-व्यवस्था क्रिया और कर्म के विभाग से है । जैसे कि ब्रह्मचर्य-पालन से ब्राह्मण, शिल्प के कारण शिल्पिक । किन्तु जिसमे ब्राह्मणत्व की क्रिया (आचरण) और कर्म (कर्त्तव्य या व्यवसाय) न हो, वे तो नाममात्र के ब्राह्मण है । सत्-शास्त्रो की विद्या (ज्ञान) भी उसी मे मानी जाती है, जिनमे अहिसादि पाच पवित्र व्रत हो, क्योकि ज्ञान का फल विरति है ।[6]

---

१ (क) एगपक्ख नाम नाब्राह्मणेभ्यो दीयते । —उत्तरा चूर्णि, पृ २०५
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०—
"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्ट, न हविः कृतम् ।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥"

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० "अन्न च—ओदनादि, पान च द्राक्षापानाद्यन्नपानम् ।"

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१

४. वही, पत्र ३६१

५. वही, पत्र ३६१

६. क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था । यत उक्तम्—
"एकवर्णमिद सर्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ।
क्रियाकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥"
"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिक ।
अन्यथा नाममात्र स्यादिन्द्रगोपककीटवत् ॥"
"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण ।
तमस कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रत स्थातुम् ?" —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१

उच्चावयाइं : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **उच्चावचानि**—उत्तम-अधम या उच्च-नीच-मध्यम कुलो-घरों में, (२) अथवा **उच्चावच** का अर्थ है—छोटे-बड़े नानाविध तप, अथवा (३) **उच्चव्रतानि**—अर्थात्—शेष व्रतों की अपेक्षा से महाव्रत उच्च व्रत हैं, जिनका आचरण मुनि करते हैं। वे तुम्हारी तरह अजितेन्द्रिय व अशील नही है। अत वे उच्चव्रती मुनिरूप क्षेत्र ही उत्तम हैं।[1]

अज्ज . दो अर्थ—(१) **अद्य**—आज, इस समय जो यज्ञ आरम्भ किया है, उसका, (२) **आर्यो** : हे आर्यो !

लभित्थ लाभं : भावार्थ—विशिष्ट पुण्यप्राप्तिरूप लाभ तभी मिलेगा, जब पात्र को दान दोगे। कहा भी है—अपात्र मे दही, मधु या घृत रखने से शीघ्र नष्ट हो जाते है, इसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान हानिरूप है।[2]

ब्राह्मणों द्वारा यक्षाधिष्ठित मुनि को मारने-पीटने का आदेश तथा उसका पालन

१८. के एत्थ खत्ता उवजोइया वा अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं खु दण्डेण फलेण हन्ता कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ?॥

[१८] (रुद्रदेव—) हैं कोई यहाँ क्षत्रिय, उपज्योतिष्क (-रसोइये) अथवा विद्यार्थियो सहित अध्यापक, जो इस साधु को डडे से और फल (बिल्व आदि फल या फलक-पाटिया) से पीटकर और कण्ठ (गर्दन) पकड़ कर यहाँ से निकाल दे।

१९. अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव समागया तं इसिं तालयन्ति॥

[१९] अध्यापको (उपाध्यायो) का वचन (आदेश) सुनकर बहुत-से कुमार (छात्रादि) दौड कर वहाँ आए और डडो से, बेतो से और चाबुको से उन हरिकेशबल ऋषि को पीटने लगे।

विवेचन—विशिष्ट शब्दों के अर्थ—खत्ता—क्षत्र, क्षत्रियजातीय, **उवजोइया**—उपज्योतिष्क, अर्थात्—अग्नि के पास रहने वाले रसोइए अथवा ऋत्विज, **खंडिकेहिं**—खण्डिको-छात्रो सहित।[3]

दंडेण : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—डडो से, (२) वृद्धव्याख्यानुसार—दंडो से—बास, लट्ठी आदि से, अथवा कुहनी मार कर।[4]

भद्रा द्वारा कुमारों को समझा कर मुनि का यथार्थ परिचय-प्रदान

२०. रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ॥

[२०] उस यज्ञपाटक मे राजा कौशलिक की अनिन्दित अग वाली (अनिन्द्य सुन्दरी) कन्या भद्रा उन सयमी मुनि को पीटते देख कर क्रुद्ध कुमारो को शान्त करने (रोकने) लगी।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६२-३६३
२ वही, पत्र ३६३
३ वही, पत्र ३६२
४. (क) वही, पत्र ३६३ (ख) चूर्णि, पृ २०७

२१. देवाभिओगेण निओइएणं दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्द-देविन्दऽभिवन्दिएणं जेणऽम्हि वन्ता इसिणा स एसो॥

[२१] (भद्रा—) देव (यक्ष) के अभियोग (बलवती प्रेरणा) से प्रेरित (मेरे पिता कौशलिक) राजा ने मुझे इन मुनि को दी थी, किन्तु मुनि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा और मेरा परित्याग कर दिया। (ऐसे निःस्पृह) तथा नरेन्द्रों और देवेन्द्रों द्वारा अभिवन्दित (पूजित) ये वही ऋषि हैं।

२२. एसो हु सो उग्गतवो महप्पा जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना॥

[२२] ये वही उग्रतपस्वी हैं, महात्मा हैं, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा उस समय मुझे दिये जाने पर भी नहीं चाहा।"

२३. महाजसो एस महाणुभागो घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा॥

[२३] ये ऋषि महायशस्वी हैं, महानुभाग हैं, घोरव्रती हैं और घोरपराक्रमी हैं। ये अवहेलना (अवज्ञा) के योग्य नहीं है, अतः इनकी अवहेलना मत करो। ऐसा न हो कि कहीं यह तुम सबको अपने तेज से भस्म कर दें।

विवेचन—कोसलियस्स—कोशला नगरी के राजा कौशलिक की। **'उग्गतवो' आदि विशिष्ट शब्दों के अर्थ—उग्गतवो**—कर्मशत्रुओं के प्रति उत्कट-दारुण अनशनादि तप करने वाला उत्कटतपस्वी। **महप्पा**—महात्मा—विशिष्ट वीर्योल्लास के कारण जिसकी आत्मा प्रशस्त—महान् है, वह। **महाजसो**—जिसकी कीर्ति असीम है—त्रिभुवन में व्याप्त है। **महाणुभागो**—जिसका अनुभाव-सामर्थ्य-प्रभाव महान् है, अर्थात्—जिसमें महान् शापानुग्रह-सामर्थ्य है अथवा जिसे अचिन्त्य शक्ति प्राप्त है। **घोरव्वओ**—अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को जो धारण किये हुए है। **घोरपरक्कमो**—जिसमें कषायादि विजय के प्रति अपार सामर्थ्य है।[1]

यक्ष द्वारा कुमारों की दुर्दशा और भद्रा द्वारा पुनः प्रबोध

२४. एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति॥

[२४] (रुद्रदेव पुरोहित की) पत्नी उस भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर तपस्वी ऋषि की वैयावृत्य (सेवा) के लिए (उपस्थित) यक्षों ने उन ब्राह्मण कुमारों को भूमि पर गिरा दिया (अथवा मुनि को पीटने से रोक दिया)।

२५. ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे असुरा तहिं तं जणं तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो॥

१ (क) महाणुभागो—महान्-भागो—अचिन्त्यशक्तिः यस्य स महाभागो महप्पभावो त्ति।—विशेषा भाष्य १०६३
(ख) अणुभावोणाम शापानुग्रहसामर्थ्यं। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०८
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५

[२५] (फिर भी वे नही माने तो) वे भयंकर रूप वाले असुर (यक्ष) आकाश में स्थित हो कर वहाँ (खडे हुए) उन कुमारों को मारने लगे। कुमारो के शरीरों को क्षत-विक्षत होते एवं खून की उल्टी करते देख कर भद्रा ने पुन. कहा—

२६. गिरिं नहेहिं खणह अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह जे भिक्खु अवमन्नह॥

[२६] तुम (तपस्वी) भिक्षु की जो अवज्ञा कर रहे हो सो मानो नखो से पर्वत खोद रहे हो, दातो से लोहा चबा रहे हो और पैरो से अग्नि को रौद रहे हो।

२७. आसीविसो उग्गतवो महेसी घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह॥

[२७] यह महर्षि आशीविष (आशीविषलब्धिमान्) हैं, घोर तपस्वी हैं, घोर-पराक्रमी हैं। जो लोग भिक्षा-काल मे भिक्षु को (मारपीट कर) व्यथित करते हैं, वे पतंगो की सेना (समूह) की तरह अग्नि मे गिर रहे हैं।

२८. सीसेण एयं सरणं उवेह समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा॥

[२८] यदि तुम अपना जीवन और धन (सुरक्षित) रखना चाहते हो तो सभी लोग मिल कर नतमस्तक हो कर इनकी शरण मे आओ। (तुम्हे मालूम होना चाहिए —) यह ऋषि यदि कुपित हो जाएँ तो समग्र लोक को भी भस्म कर सकते है।

२९. अवहेडिय पिट्ठिसउत्तमंगे पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते उड्ढंमुहे निग्गयजीह-नेत्ते॥

[२९] मुनि को प्रताडित करने वाले छात्रो के मस्तक पीठ की ओर झुक गए, उनकी बाँहे फैल गईं, इससे वे प्रत्येक क्रिया के लिए निश्चेष्ट हो गए। उनकी आँखे खुली की खुली रह गईं, उनके मुख से रक्त बहने लगा। उनके मुह ऊपर की ओर हो गए और उनकी जिह्वाएँ और आँखें बाहर निकल आईं।

विवेचन—वेयावडियं० : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **वैयापृत्य**—विशेषरूप से प्रवृत्तिशीलता—परिचर्या, (२) **वैयावृत्य**—सेवा—प्रसगवश यहाँ विरोधी से रक्षा या प्रत्यनीकनिवारण के अर्थ मे वैयावृत्य शब्द प्रयुक्त है। (३) **वेदावडित**—जिससे कर्मों का विदारण होता है, ऐसा सत्पुरुषार्थ।[1]

असुरा : यक्ष।

---

१. (क) उत्तरा. अनुवाद (मुनि नथमलजी) पृ

(ख) वैयावृत्यर्थमेतत् प्रत्यनीक-निवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।—बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५-३

(ग) विदारयति वेदारयति वा कर्म्म वेदावडिता। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०८

तं जणं—उन उपसर्गकर्ता छात्रजनो को ।

विनिवाडयंति— : **दो रूप : दो अर्थ**—(१) **विनिपातयन्ति**—भूमि पर गिरा देते हैं, (२) **विनिवारयन्ति**—मुनि को मारने से रोकते हैं ।[1]

आसीविसो : दो अर्थ—(१) आशीविषलब्धि से सम्पन्न । अर्थात्—इस लब्धि से शाप और अनुग्रह करने मे समर्थ हैं । (२) आशीविष सर्प जैसा । जो आशीविष साप को छेडता है, वह मृत्यु को बुलाता है, इसी प्रकार जो ऐसे तपस्वी मुनि से छेडखानी करता है, वह भी मृत्यु को आमंत्रित करता है ।[2]

अगणिं व पक्खंद पतंगसेणा : भावार्थ—जैसे पतगो का झुंड अग्नि मे गिरते ही तत्काल विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार तुम भी इनकी तपरूपी अग्नि मे गिर कर नष्ट हो जाओगे ।[3]

उग्गतवो—जो एक से लेकर मासखमण आदि उपवासयोग का प्रारम्भ करके जीवनपर्यन्त उसका निर्वाह करता है, वह उग्रतपा है ।[4]

अकम्मचिट्ठे : दो अर्थ—(१) जिनमें क्रिया करने की चेष्टा—(कर्महेतुकव्यापार) न रही हो, अर्थात्—जो मूर्च्छित हो गए हो, (२) जिनकी यज्ञ मे इन्धन डालने आदि की चेष्टा—कर्मचेष्टा बन्द हो गई हो ।[5]

छात्रों की दुर्दशा से व्याकुल रुद्रदेव द्वारा मुनि से क्षमायाचना तथा आहार के लिए प्रार्थना—

३०. ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए विमणो विसण्णो अह माहणो सो ।
इसिं पसाएइ सभारियाओ हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते ! ॥

[३०] (पूर्वोक्त दुर्दशाग्रस्त) उन छात्रो को काष्ठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह रुद्रदेव ब्राह्मण उदास एवं चिन्ता से व्याकुल हो कर अपनी पत्नी भद्रा को साथ लेकर उन ऋषि (हरिकेश-बल मुनि) को प्रसन्न करने लगा—"भंते ! हमने आपकी जो अवहेलना (अवज्ञा) और निन्दा की, उसे क्षमा करे ।"

३१. बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते !
महप्पसाया इसिणो हवन्ति न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥

[३१] 'भगवन् ! इन अज्ञानी (हिताहित विवेक से रहित) मूढ (कषाय के उदय से व्यामूढ

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५-३६६ 'आसुरा—आसुरभावान्वितत्वाद् त एव यक्षा ।'

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६

३. वही, पत्र ३६६

४ तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. २०६

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६ अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया अकर्मचेष्टा' यदा—क्रियन्त इति कर्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते ।

चित्त वाले) बालकों ने आपकी जो अवहेलना (अवज्ञा) की है, उसके लिए क्षमा करें। क्योंकि ऋषिजन महान् प्रसाद-प्रसन्नता से युक्त होते हैं। मुनिजन कोप-परायण नही होते।

३२. पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

[३२] (मुनि—) मेरे मन मे न कोई प्रद्वेष पहले था, न अब है और न ही भविष्य में होगा। ये (तिन्दुक-वनवासी) यक्ष मेरी वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। ये कुमार उनके द्वारा ही प्रताडित किए गए हैं।

३३. अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो समागया सव्वजणेण अम्हे॥

[३३] (रुद्रदेव—) अर्थ और धर्म को विशेष रूप से जानने वाले भूतिप्रज्ञ आप क्रोध न करे। हम सब लोग मिल कर आपके चरणो की शरण स्वीकार करते हैं।"

३४ अच्चेमु ते महाभाग! न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं नाणावंजण-संजुयं॥

[३४] हे महाभाग! हम आपकी अर्चना करते है। आपका (चरणरज आदि) कुछ भी ऐसा नही है, जिसकी अर्चना हम न करे। (हम आपसे विनति करते हैं कि) दही आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जनो से समिश्रित एव शालि चावलो से निष्पन्न भोजन (ग्रहण करके) उसका उपभोग कीजिए।

३५ इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं तं भुंजसु अम्ह अणुग्गहट्ठा।
"बाढं" ति पडिच्छइ भत्तपाणं मासस्स उ पारणए महप्पा॥

[३५] मेरी (इस यज्ञशाला मे) यह प्रचुर अन्न विद्यमान है, हम पर अनुग्रह करने के लिए आप (इसे स्वीकार कर) भोजन करे। (पुरोहित के इस आग्रह पर) महान् आत्मा मुनि ने (आहार लेने की) स्वीकृति दी और एक मास के तप की पारणा करने हेतु आहार-पानी ग्रहण किया।

विवेचन—विसण्णो : विषादयुक्त—ये कुमार कैसे होश मे आएँगे—सचेष्ट होगे, इस चिन्ता से व्याकुल—विषण्ण।[1]

खमाह : आशय—भगवन्! क्षमा करे। क्योंकि ये बच्चे मूढ और अज्ञानी है, ये दयनीय हैं, इन पर कोप करना उचित नही है। कहा भी है—आत्मद्रोही, मर्यादाविहीन, मूढ और सन्मार्ग को छोड देने वाले तथा नरक की ज्वाला मे इन्धन बनने वाले पर अनुकम्पा करनी चाहिए।[2]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१
२ आत्मद्रुहममर्याद मूढमुज्झितसत्पथम्।
सुतरामनुकम्पेत नरकार्चिष्मदिन्धनम्॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७

वेयावडियं : प्रासंगिक अर्थ—वैयावृत्य—सेवा करते है ।[1]

अत्थं : तात्पर्य—यो तो अर्थ ज्ञेय होता है, इस कारण उसका एक अर्थ—समस्त पदार्थ हो सकता है, किन्तु यहाँ प्रसगवश अर्थ से तात्पर्य है—शुभाशुभ कर्मविभाग अथवा राग-द्वेष का फल, या शास्त्रो का अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय ।

धम्मं : धर्म का अर्थ यहाँ श्रुत-चारित्ररूप धर्म, अथवा दशविध श्रमणधर्म है ।

वियाणमाणा : अर्थ—विशेष रूप से या विविध प्रकार से जानते हुए ।[2]

भूइपन्ना : तीन अर्थ—भूतिप्रज्ञ मे 'भूति' शब्द के तीन अर्थ प्राचीन आचार्यों ने माने है—(१) मंगल (२) वृद्धि और (३) रक्षा । प्रज्ञा का अर्थ है—जिससे वस्तुतत्त्व जाने जाए, ऐसी बुद्धि । अत भूतिप्रज्ञ के अर्थ हुए—(१) जिनकी प्रज्ञा सर्वोत्तम मगलरूप हो, (२) सर्वश्रेष्ठ वृद्धि युक्त हो, या (३) जो बुद्धि प्राणरक्षा या प्राणिहित मे प्रवृत्त हो ।[3]

पभूयमन्नं—प्रभूत अन्न—का आशय—यहाँ मालपूए, खाड के खाजे आदि समस्त प्रकार के भोज्य पदार्थ (भोजन) से है । पहले जो 'शालि धान का ओदन' का निरूपण था, वह समस्त भोजन मे उसकी प्रधानता बताने के लिए ही था ।[4]

आहारग्रहण के बाद देवों द्वारा पंच दिव्यवृष्टि और ब्राह्मणों द्वारा मुनिमहिमा

३६. तहियं गन्धोदय-पुप्फवासं दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥

[३६] (जहाँ तपस्वी मुनि ने आहार ग्रहण किया था,) वहाँ (यज्ञशाला मे) देवो ने सुगन्धित जल, पुष्प एवं दिव्य (श्रेष्ठ) वसुधारा (द्रव्य की निरन्तर धारा) की वृष्टि की और दुन्दुभियाँ बजाई तथा आकाश मे 'अहो दानम्, अहो दानम्' उद्घोष किया ।

३७ सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

[३७] (ब्राह्मण विस्मित होकर कहने लगे) तप की विशेषता—महत्ता तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, जाति की कोई विशेषतानही दीखती । जिसकी ऐसी ऋद्धि है, महती चमत्कारी-अचिन्त्य शक्ति (महानुभाग) है, वह हरिकेश मुनि श्वपाक-(चाण्डाल) पुत्र है । (यदि जाति की विशेषता होती तो देव हमारी सेवा एव सहायता करते, इस चाण्डालपुत्र की क्यो करते ?)

विवेचन—'सक्खं खु दीसइ०' : व्याख्या—प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त उद्गार हरिकेशबल मुनि के

---

१ "वैयावृत्य प्रत्यनीक-प्रतिघातरूप कुर्वन्ति ।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८

३ भूतिप्रज्ञा—भूतिर्मंगल वृद्धी रक्षा चेति वृद्धा । प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा । भूतिः मगल, सर्वमगलोत्तमत्वेन, वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन, रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञाबुद्धिर्यस्येति भूतिप्रज्ञ । —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८

४. प्रभूत-प्रचुर अन्न—मण्डक-खण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनम् । यत्प्राक् पृथक् ओदनग्रहण तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थम् ।—बृ वृ , पत्र ३६९

तप, सयम एवं चारित्र का प्रत्यक्ष चमत्कार देख कर विस्मित हुए ब्राह्मणो के हैं। वे अब सुलभबोधि एव मुनि के प्रति श्रद्धालु भक्त बन गए थे। अत उनके मुख से निकलती हुई यह वाणी श्रमण-सस्कृति के तत्त्व को अभिव्यक्त कर रही है कि जातिवाद अतात्त्विक है, कल्पित है। इसी सूत्र मे आगे चल कर कहा जाएगा—"अपने कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है, जन्म (जाति) से नही।" सूत्रकृताग मे तो स्पष्ट कह दिया है—"मनुष्य की सुरक्षा उसके ज्ञान और चारित्र से होती है, जाति और कुल से नही।' व्यक्ति की उच्चता-नीचता का आधार उसकी जाति और कुल नही, ज्ञान-दर्शन-चारित्र या तप-सयम है। जिसका ज्ञान-दर्शन-चारित्र उन्नत है, या तप-सयम का आचरण अधिक है, वही उच्च है, जो आचारभ्रष्ट है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से रहित है, वह चाहे ब्राह्मण की सन्तान ही क्यो न हो, निकृष्ट है।

जैनधर्म का उद्घोष है कि किसी भी वर्ण, जाति, देश, वेष या लिंग का व्यक्ति हो, अगर रत्नत्रय की निर्मल साधना करता है तो उसके लिए सिद्धि-मुक्ति के द्वार खुले है। यही प्रस्तुत गाथा का आशय है।[1]

मुनि और ब्राह्मणों की यज्ञ-स्नानादि के विषय में चर्चा

३८. किं माहणा! जोइसमारभन्ता उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥

[३८] (मुनि—) ब्राह्मणो! अग्नि (ज्योति) का (यज्ञ मे) समारम्भ करते हुए क्या तुम जल (जल आदि पदार्थों) से बाहर की शुद्धि को ढूढ रहे हो? जो बाहर मे शुद्धि को खोजते है, उन्हे कुशल पुरुष सुदृष्ट—(सम्यग्दृष्टिसम्पन्न या सम्यग्द्रष्टा) नही कहते।

३९. कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा! पगरेह पावं ॥

[३९] कुश (डाभ), यूप (यज्ञस्तम्भ), तृण (घास), काष्ठ और अग्नि का प्रयोग तथा प्रात:-काल और सायकाल मे जल का स्पर्श करते हुए तुम मन्दबुद्धि लोग (जल आदि के आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रियादि) प्राणियो (प्राणो) का और भूतो (वनस्पतिकाय का, उपलक्षण से पृथ्वीकायादि जीवो) का विविध प्रकार से तथा फिर (अर्थात्—प्रथम ग्रहण करते समय और फिर शुद्धि के समय जल और अग्नि आदि के जीवों का) उपमर्दन करते हुए बारम्बार पापकर्म करते हो।

४०. कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो? पावाइ कम्माइ पणुल्लयामो?
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया! कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति?

[४०] (रुद्रदेव—) हे भिक्षु! हम कैसे प्रवृत्ति करे? कैसे यज्ञ करें? जिससे हम पापकर्मों को

---

१. (क) कम्मुणा बम्भणो होई. · उत्तरा अ २५।३१
(ख) न तस्स जाई व कुल व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरण सुचिण्ण। —सूत्रकृताग १।१३।११
(ग) उववाईसूत्र १
(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६९-३७०

दूर कर सके। हे यक्षपूजित संयत ! आप हमे बताइए कि कुशल (तत्त्वज्ञानी) पुरुष श्रेष्ठं यज्ञ (सु-इष्ट) किसे कहते हैं ?

४१. छज्जीवकाए असमारभन्ता मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण-मायं एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता॥

[४१] (मुनि-) मन और इन्द्रियो को वश मे रखने वाले (दान्त) मुनि (पृथ्वी आदि) षट्-जीवनिकाय का आरम्भ (हिंसा) नही करते, असत्य नही बोलते, चोरी नही करते, परिग्रह, स्त्री, मान और माया के स्वरूप को जान कर एव उन्हे त्याग कर प्रवृत्ति करते है।

४२. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो महाजयं जयई जन्नसिट्ठं॥

[४२] जो पाच सवरो से पूर्णतया सवृत होते है, इस मनुष्य-जन्म मे (असयमी-) जीवन की आकाक्षा नही करते, जो काया (शरीर के प्रति ममत्व या आसक्ति) का व्युत्सर्ग (परित्याग) करते है, जो शुचि (पवित्र) है, जो विदेह (देह-भावरहित) है, वे महाजय रूप श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।

४३. के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ? का ते सुया ? किं व ते कारिसंग ?
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू ! कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?

[४३] (रुद्रदेव—) हे भिक्षु ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति-स्थान कौन-सा है ? तुम्हारी (घी आदि को आहुति डालने की) कुडछियाँ कौन-सी है ? (अग्नि को उद्दीप्त करने वाले) तुम्हारे करीषाग (कण्डे) कौन-से है ? (अग्नि को जलाने वाले) तुम्हारे इन्धन क्या है ? एव शान्तिपाठ कौन-से है ? तथा किस होम (हवनविधि) से आप ज्योति को (आहुति द्वारा) तृप्त (हुत) करते है ?

४४. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती होम हुणामी इसिणं पसत्थं॥

[४४] (मुनि—) (बाह्याभ्यन्तरभेद वाली) तपश्चर्या ज्योति है, जीव (आत्मा) ज्योतिस्थान (अग्निकुण्ड) है, योग (मन, वचन और काय की शुभप्रवृत्तियाँ (घी आदि डालने की) कुडछियाँ है, शरीर (शरीर के अवयव) अग्नि प्रदीप्त करने के कण्डे हैं, कर्म इन्धन हैं, सयम के योग (प्रवृत्तियाँ) शान्तिपाठ है। ऐसा ऋषियो के लिए प्रशस्त जीवोपघातरहित (होने से विवेकी मुनियो द्वारा प्रशसित) होम (होमप्रधान-यज्ञ) मैं करता हूँ।

४५. के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ? कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया ! इच्छामो नाउं भवओ सगासे॥

[४५] (रुद्रदेव-) हे यक्षपूजित सयत ! आप हमे यह बताइए कि आपका ह्रद (—जलाशय) कौन-सा है ? आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है ? आप कहाँ स्नान करके रज (कर्मरज) को झाड़ते (दूर करते) हैं ? हम आपसे जानना चाहते हैं।

४६. धम्मे हरए बंभे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

[४६] (मुनि—) अनाविल (-अकलुषित) और आत्मा की प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा ह्रद-जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है, जहाँ स्नान कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशान्त (सुशीतल) हो कर कर्मरूप दोष को दूर करता हूँ।

४७. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥
—त्ति बेमि।

[४७] इसी (उपर्युक्त) स्नान का कुशल (तत्त्वज्ञ) पुरुषो ने उपदेश दिया (बताया) है। ऋषियो के लिए यह महास्नान ही प्रशस्त (प्रशसनीय) है। जिस धर्मह्रद मे स्नान करके विमल और विशुद्ध हुए महर्षि उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—सोहि—शुद्धि—शोधि का अर्थ है—निर्मलता। वह दो प्रकार की है—द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि। पानी से मलिन वस्त्र आदि धोना द्रव्यशुद्धि है तथा तप, सयम आदि के द्वारा अष्टविध कर्ममल को धोना भावशुद्धि है। इसीलिए मुनि ने रुद्रदेव आदि ब्राह्मणो से कहा था—जल से बाह्य (द्रव्य) शुद्धि को क्यो ढूढ रहे है![1]

कठिन शब्दो के अर्थ—कुसला—तत्त्वविचार मे निपुण। **उदय फुसंता**—आचमन आदि मे जल का स्पर्श करते हुए। **पाणाइ**—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी। **भूयाइ**—वृक्ष, उपलक्षण से अन्य वनस्पतिकायिक जीवो और पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिए। **विहेडयंति**—विशेषरूप से, विविध प्रकार से विनष्ट करते है। **परिण्णाय**—ज्ञपरिज्ञा से इनका स्वरूप भलीभाति जान कर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से परित्याग करके। **सुसवुडो**—जिसके प्राणातिपात आदि पाचो आश्रवद्वार रुक गए हो, वह सुसवृत है। **वोसट्ठकाओ—व्युत्सृष्टकाय**—विविध उपायो से या विशेष रूप से परीषहो एव उपसर्गो को सहन करने के रूप मे, काया का जिसने व्युत्सर्ग कर दिया है। **सुइचत्तदेहो**—जो शुचि है, अर्थात्—निर्दोष व्रतवाला है तथा जो अपने देह की सार-सभाल नही करने के कारण देहाध्यास का त्याग कर चुका है।

कुशलपुरुषो द्वारा अभिमत शुद्धि—कुशल (तत्त्वविचारनिपुण पुरुष कर्ममलनाशात्मिका) तात्त्विक शुद्धि को ही मानते है। ब्राह्मणसस्कृति की मान्यतानुसार यूपादिग्रहण एव जलस्पर्श यज्ञ-स्नान मे अनिवार्य है और इस प्रक्रिया मे प्राणियो का उपमर्दन होता है, इसीलिये सब शुद्धि-प्रक्रियाएँ कर्ममल के उपचय की हेतु है। इसलिए ऐसे प्राणिविनाश के कारणरूप शुद्धिमार्ग को तत्त्वज्ञ कैसे सुदृष्ट (सम्यक्) कह सकते है! वाचक उमास्वाति ने कहा है—

शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्धयात्मकं शुभम्।
जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत् ॥

---

१ उत्तरा चूर्णि, पृ २११

भावशुद्धिरूप आध्यात्मिक शौच (शुद्धि) को छोड कर जलादि शौच (बाह्यशुद्धि) को स्वीकार करना मूढजनो को चक्कर मे डालने वाला है।

महाजयं जन्नसिट्ठं—व्याख्या—कर्मशत्रुओ को परास्त करने की प्रक्रिया होने से जो महान् जयरूप है, अथवा जिस प्रकार महाजय हो उस प्रकार से यज्ञ करते है। श्रेष्ठ यज्ञ को कुशलजन श्रेष्ठ स्विष्ट भी कहते है।

पसत्थं—प्रशस्त : भावार्थ—जीवोपघातरहित होने से यह यज्ञ सम्यक्चारित्री विवेकी ऋषियो के द्वारा प्रशंसनीय—श्लाघनीय है।

बंभे संतितित्थे : दो रूप : दो व्याख्या—ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है। क्योकि उस तीर्थ का सेवन करने से समस्त मलो के मूल राग-द्वेष उन्मूलित हो जाते है। उनके उन्मूलित हो जाने पर मल की पुन. कदापि सभावना नही है। उपलक्षण से सत्यादि का ग्रहण करना चाहिए। जैसे कि कहा है—

'ब्रह्मचर्येण, सत्येन, तपसा सयमेन च।
मातगर्षिर्गतः शुद्धिं, न शुद्धिस्तीर्थयात्रया॥'

ब्रह्मचर्य, सत्य, तप और सयम से मातगऋषि शुद्ध हो गए थे, तीर्थयात्रा से शुद्धि नही होती। अथवा **ब्रह्म** का अर्थ अभेदोपचार से ब्रह्मवान् साधु है, सन्ति का अर्थ है—विद्यमान है। आशय यह है कि 'साधु मरे तीर्थ है।' कहा भी है—

'साधूनां दर्शन श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः।'

'साधुओ का दर्शन श्रेष्ठ है, क्योकि साधु तीर्थभूत है।'

अणाविले अत्तपसन्नलेसे—अनाविल का अर्थ है—मिथ्यात्व और तीन गुप्ति की विराधनारूप कलुषता से रहित। **'अत्तपसन्नलेसे'** के दो रूप—**आत्मप्रसन्नलेश्यः**—जिसमे आत्मा (जीव) की प्रसन्न अकलुषित पीतादिलेश्याएँ हैं, वह, अथवा **आप्तप्रसन्नलेश्यः**—दो अर्थ—प्राणियो के लिए आप्त—इह-परलोकहितकर प्रसन्न लेश्याएँ जिसमे हो, अथवा जिसने प्रसन्नलेश्याएं प्राप्त की है, वह। ये दोनो विशेषण ह्रद और शान्तितीर्थ के है।[1]

॥ बारहवाँ : हरिकेशीय अध्ययन समाप्त ॥

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३७१ से ३७३ तक

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम **'चित्र-सम्भूतीय'** है। इसमे चित्र और सम्भूत, इन दोनो के पाच जन्मो तक लगातार भ्रातृ-सम्बन्ध का और छठे जन्म मे पूर्वजन्मकृत सयम की आराधना एव विराधना के फलस्वरूप पृथक्-पृथक् स्थान, कुल, वातावरण आदि प्राप्त होने के कारण हुए एक दूसरे से विसम्बन्ध (वियोग) का सवाद द्वारा निरूपण है।

* चित्र और सम्भूत कौन थे ? इनके लगातार पाच जन्म कौन-कौन-मे थे ? इन जन्मो मे कहाँ-कहाँ उन्नति-अवनति हुई ? छठे जन्म मे दोनो क्यो और कैसे पृथक्-पृथक् हुए ? कैसे इनका परस्पर समागम हुआ ? इन सबके सम्बन्ध मे जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यहाँ दोनो के छठे भव मे समागम होने तक की खास-खास घटनाओ का उल्लेख किया जाता है—

* साकेत के राजा चन्द्रावतसक के पुत्र मुनिचन्द्र राजा को सासारिक कामभोगो से विरक्ति हो गई। उसने सागरचन्द्र मुनि से भागवती दीक्षा अगीकार की। एक बार वे विहार करते हुए एक भयानक अटवी मे भटक गए। वे भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे थे। इतने मे ही वहाँ उन्हे चार गोपालक-पुत्र मिले। उन्होने इनकी यह दुरवस्था देखी तो करुणा से प्रेरित होकर परिचर्या की। मुनि ने चारो गोपाल-पुत्रो को धर्मोपदेश दिया। उसे सुन कर चारो बालक प्रतिबुद्ध होकर उनके पास दीक्षित हो गए। दीक्षित होने पर भी उनमे से दो साधुओ के मन मे साधुओं के मलिन वस्त्रो से घृणा बनी रही। इसी जुगुप्सावृत्ति के सस्कार लेकर वे मर कर देवगति मे गए। वहाँ से आयुष्यपूर्ण करके जुगुप्सावृत्ति वाले वे दोनो दशार्णनगर (दशपुर) मे शाडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षि से युगलरूप से जन्मे। एक बार दोनो भाई रात को अपने खेत मे एक वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि अकस्मात् एक सर्प निकला और एक भाई को डँस कर चला गया। दूसरा जागा। मालूम होते ही वह सर्प को ढूढने निकला, किन्तु उसी सर्प ने उसे भी डँस लिया। दोनो भाई मर कर कालिजर पर्वत पर एक हिरनी के उदर मे युगलरूप से उत्पन्न हुए। एक बार वे दोनो चर रहे थे कि एक शिकारी ने एक ही बाण से दोनो को मार डाला। मर कर वे दोनो मृतगगा के किनारे राजहस बने। एक दिन वे साथ-साथ घूम रहे थे कि एक मछुए ने दोनो को पकडा और उनकी गर्दन मरोड कर मार डाला। दोनो हस मर कर वाराणसी के अतिसमृद्ध एव चाण्डालो के अधिपति भूतदत्त के यहाँ पुत्ररूप मे जन्मे। उनका नाम 'चित्र' और 'सम्भूत' रखा गया। दोनो भाइयो मे अपार स्नेह था।

वाराणसी के तत्कालीन राजा शख का नमुचि नामक एक मन्त्री था। राजा ने उसके किसी भयकर अपराध पर क्रुद्ध होकर उसके वध की आज्ञा दी। वध करने का कार्य चाण्डाल भूतदत्त को सौपा गया। भूतदत्त ने अपने दोनो पुत्रो को अध्ययन कराने की शर्त पर नमुचि का वध न करके उसे अपने घर मे छिपा लिया। जीवित रहने की आशा से नमुचि दोनो चाण्डाल-

पुत्रो को पढाने लगा और कुछ ही वर्षों मे उन्हे अनेक विद्याओ मे प्रवीण बना दिया। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की सेवा करती थी। नमुचि उस पर आसक्त होकर उससे अनुचित सम्बन्ध करने लगा। भूतदत्त को जब यह मालूम हुआ तो उसने क्रुद्ध होकर नमुचि को मार डालने का निश्चय कर लिया। परन्तु कृतज्ञतावश दोनो चाण्डालपुत्रो ने नमुचि को यह सूचना दे दी। नमुचि वहाँ से प्राण बचा कर भागा और हस्तिनापुर मे जा कर सनत्कुमार चक्रवर्ती के यहाँ मन्त्री बन गया।

चित्र और सम्भूत नृत्य और सगीत मे अत्यन्त प्रवीण थे। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। एक बार वाराणसी मे होने वाले वसन्त-महोत्सव मे ये दोनो भाई सम्मिलित हुए। उत्सव मे इनके नृत्य और सगीत विशेष आकर्षणकेन्द्र रहे। इनकी कला को देख-सुनकर जनता इतनी मुग्ध हो गई कि स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद ही भूल गई। कुछ कट्टर ब्राह्मणो के मन मे ईर्ष्या उमडी। जातिवाद को धर्म का रूप देकर उन्होने राजा से शिकायत की कि 'राजन्! इन दोनो चाण्डालपुत्रो ने हमारा धर्म नष्ट कर दिया है। इनकी नृत्य-सगीतकला पर मुग्ध लोग स्पृश्यास्पृश्यमर्यादा को भग करके इनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे रहे है।' इस पर राजा ने दोनो चाण्डालपुत्रो को वाराणसी से बाहर निकाल दिया। वे अन्यत्र रहने लगे।

वाराणसी मे एक बार कौमुदीमहोत्सव था। उस अवसर पर दोनो चाण्डालपुत्र रूप बदल कर उस उत्सव मे आए। सगीत के स्वर सुनते ही इन दोनो से न रहा गया। इनके मुख से भी सगीत के विलक्षण स्वर निकल पडे। लोग मत्रमुग्ध होकर इनके पास बधाई देने और परिचय पाने को आए। वस्त्र का आवरण हटाते ही लोग इन्हे पहचान गए। ईर्ष्यालु एव जातिमदान्ध लोगो ने इन्हे चाण्डालपुत्र कह कर बुरी तरह मार-पीट कर नगरी से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार अपमानित एव तिरस्कृत होने पर उन्हे अपने जीवन के प्रति घृणा हो गई। दोनो ने पहाड पर से छलाग मार कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। इसी निश्चय से दोनो पर्वत पर चढे और वहाँ से नीचे गिरने की तैयारी मे थे कि एक निर्ग्रन्थ श्रमण ने उन्हे देख लिया और समझाया— आत्महत्या करना कायरो का काम है। इससे दु खो का अन्त होने के बदले वे बढ जाएँगे। तुम जैसे विमल बुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए यह उचित नही। अगर शारीरिक और मानसिक समस्त दु ख सदा के लिए मिटाना चाहते हो तो मुनिधर्म की शरण मे आओ।' दोनो प्रतिबुद्ध हुए। दोनो ने निर्ग्रन्थ श्रमण से दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनि ने उन्हे योग्य समझ कर दीक्षा दी।

गुरुचरणो मे रहकर दोनो ने शास्त्रो का अध्ययन किया। गीतार्थ हुए तथा विविध उत्कट तपस्याएँ करने लगे, उन्हे कई लब्धियाँ प्राप्त हो गई। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर उद्यान मे ठहरे। एक दिन मासखमण के पारण के लिए सम्भूत मुनि नगर मे गए। भिक्षा के लिए घूमते देखकर वहाँ के राजमंत्री नमुचि ने उन्हे पहचान लिया। उसे सन्देह हुआ—यह मुनि मेरा पूर्ववृत्तान्त जानता है, अगर इसने वह रहस्य प्रकट कर दिया तो मेरी महत्ता नष्ट हो जाएगी। अत नमुचि मत्री के कहने से लाठी और मुक्को से कई लोगो ने सम्भूतमुनि को पीटा और नगर से निकालना

चाहा । कुछ देर तक मुनि शान्त रहे । परन्तु लोगो की अत्यन्त उग्रता को देख मुनि शान्ति और धैर्य खो बैठे । क्रोधवश उनके शरीर से तेजोलेश्या फूट पडी । मुख से निकलते हुए धुए के घने बादलो से सारा नगर आच्छन्न हो गया । जनता घबराई । भयभीत लोग अपने अपराध के लिए क्षमा माग कर मुनि को शान्त करने लगे । सूचना पाकर चक्रवर्ती सनत्कुमार भी घटना-स्थल पर पहुँचे । अपनी त्रुटि के लिए चक्रवर्ती ने मुनि से क्षमा मागी और प्रार्थना की कि—'भविष्य में हम ऐसा अपराध नही करेंगे, महात्मन् ! आप नगर-निवासियो को जीवनदान दें ।' इतने पर भी सम्भूतमुनि का कोप शान्त न हुआ तो उद्यानस्थित चित्रमुनि भी सूचना पाकर तत्काल वहाँ आए और उन्होने सम्भूतमुनि को क्रोधानल उपशान्त करने एव अपनी शक्ति (तेजोलेश्या की लब्धि) को समेटने के लिए बहुत ही प्रिय वचनो से समझाया ।

सम्भूतमुनि शान्त हुए । उन्होने तेजोलेश्या समेट ली । अन्धकार मिटा । नागरिक प्रसन्न हुए । दोनो मुनि उद्यान मे लौट आए । सोचा—हम कायसलेखना कर चुके है, अतः अब यावज्जीवन अनशन करना चाहिए । दोनो मुनियो ने अनशन ग्रहण किया ।

चक्रवर्ती ने जब यह जाना कि मन्त्री नमुचि के कारण सारे नगर को यह त्रास सहना पडा, तो उसने मन्त्री को रस्सो से बाध कर मुनियो के पास ले जाने का आदेश दिया । मुनियों ने रस्सी से जकडे हुए मन्त्री को देख कर चक्रवर्ती को समझाया और मन्त्री को बन्धनमुक्त कराया । चक्रवर्ती मुनियो के तेज से प्रभावित होकर उनके चरणो मे गिर पडा । चक्रवर्ती की रानी सुनन्दा ने भी भावुकतावश सम्भूतमुनि के चरणो मे सिर झुकाया । उसकी कोमल केश-राशि के स्पर्श से मुनि को सुखद अनुभव हुआ, मन-ही-मन वह निदान करने का विचार करने लगा । चित्रमुनि ने ज्ञानबल से जब यह जाना तो सम्भूतमुनि को निदान न करने की शिक्षा दी, पर उसका भी कुछ असर न हुआ । सम्भूतमुनि ने निदान कर ही लिया—'यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो भविष्य मे मैं चक्रवर्ती बनू ।'

दोनो मुनियो का अनशन पूर्ण हुआ । आयुष्य पूर्ण कर दोनो सौधर्म देवलोक मे पहुँचे । पाच जन्मो तक साथ-साथ रहने के बाद छठे जन्म मे दोनो ने अलग-अलग स्थानो मे जन्म लिया । चित्र का जीव पुरिमताल नगर मे एक अत्यन्त धनाढ्य सेठ का पुत्र हुआ और सम्भूत के जीव ने काम्पिल्य-नगर मे ब्रह्मराजा की रानी चूलनी के गर्भ से जन्म लिया । बालक का नाम रखा गया 'ब्रह्मदत्त' ।

* आगे चल कर यही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना । इसकी बहुत लम्बी कहानी है । वह यहाँ अप्रासगिक है ।

* एक दिन अपराह्न मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एक नाटक देख रहा था । नाटक देखते हुए मन मे यह विकल्प उत्पन्न हुआ कि ऐसा नाटक मैंने कही देखा है । यो ऊहापोह करते-करते उसे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे स्पष्ट ज्ञात हो गया कि ऐसा नाटक मैंने प्रथम देवलोक के पद्मगुल्म-विमान मे देखा था । पाच जन्मो के साथी चित्र से, इस छठे भव मे पृथक्-पृथक् स्थानो मे जन्म की स्मृति से राजा शोकमग्न हो गया और मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ा । यथेष्ट उपचार

से राजा की चेतना लौट आई। पूर्वजन्म के भाई की खोज के लिए महामात्य वरधनु के परामर्श से चक्रवर्ती ने निम्नोक्त श्लोकार्द्ध रच डाला—

"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"

इस श्लोकार्द्ध को प्रचारित कराते हुए राजा ने घोषणा करवाई कि 'जो इस श्लोकार्द्ध की पूर्ति कर देगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूगा।' पर किसे पता था उस रहस्य का, जो इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की पूर्ति करता? श्लोक का पूर्वार्द्ध प्राय प्रत्येक नागरिक की जबान पर था।

चित्र का जीव, जो पुरिमताल नगर मे धनसार सेठ के यहाँ था, युवा हुआ। एक दिन उसे भी पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और वह मुनि बन गया। एक बार विहार करता हुआ वह काम्पिल्य-नगर के उद्यान मे आकर ध्यानस्थ खडा हो गया। वहाँ उक्त श्लोक का पूर्वार्द्ध रहट को चलाने वाला जोर-जोर से बोल रहा था। मुनि ने उसे सुना तो उसका उत्तरार्द्ध पूरा कर दिया—

एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः।

दोनो चरणो को उसने एक पत्ते पर लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी मे तत्क्षण चक्रवर्ती के पास पहुँचा और एक ही सास मे पूरा श्लोक उन्हे सुना दिया। सुनते ही चक्रवर्ती स्नेहवश मूच्छित हो गए। इस पर सारी राजसभा क्षुब्ध हो गई और कुछ सभासद् सम्राट् को मूर्छित करने के अपराध मे उसे पीटने पर उतारू हो गए। इस पर वह रहट चलाने वाला बोला—'मैने इस श्लोक की पूर्ति नही की है। रहट के पास खडे एक मुनि ने की है।' अनुकूल उपचार से राजा की मूर्च्छा दूर हुई। होश मे आते ही सम्राट् ने सारी जानकारी प्राप्त की। पूर्ति का भेद खुलने पर ब्रह्मदत्त प्रसन्नतापूर्वक अपने राजपरिवार-सहित मुनि के दर्शन के लिए उद्यान मे पहुँचे। मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त वन्दना कर सविनय उनके पास बैठा। अब वे दोनो पूर्व जन्मो के भाई सुख-दु ख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे।

मुनि ने इस छठे जन्म मे दोनो के एक दूसरे से पृथक् होने का कारण ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती (सम्भूत के जीव) को बताया। साथ ही यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि पूर्वजन्म के शुभकर्मों से हम यहाँ आए हैं, तुम्हे अगर इस वियोग को सदा के लिए मिटाना है तो अपनी जीवनयात्रा को अब सही दिशा दो। अगर तुम कामभोगो को नही छोड सकते तो कम-से-कम आर्य कर्म करो, धर्म मे स्थिर हो कर सर्वप्राणियो पर अनुकम्पाशील बनो, जिससे तुम्हारी दुर्गति तो न हो।

परन्तु ब्रह्मदत्त को मुनि का एक भी वचन नही सुहाया। उलटे, उसने मुनि को समस्त सासारिक सुखभोगो के लिए वार-वार आमन्त्रित किया। किन्तु मुनि ने भोगो की असारता, दु खावहता, सुखाभासता, अशरणता तथा नश्वरता समझाई। समस्त सासारिक रिश्ते-नातो को झूठे, असहायक और अशरण्य बताया। ब्रह्मदत्त चक्री ने उस हाथी की तरह अपनी असमर्थता प्रकट की, जो दल-दल मे फसा हुआ है, किनारे का स्थल देख रहा है, किन्तु वहाँ

से एक कदम भी आगे नही बढा सकता। श्रमणधर्म को जानता हुआ भी कामभोगों में गाढ आसक्त ब्रह्मदत्त उसका अनुष्ठान न कर सका।

मुनि वहाँ से चले जाते हैं और सयमसाधना करते हुए अन्त मे सर्वोत्तम सिद्धि गति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मदत्त अशुभ कर्मों के कारण सर्वाधिक अशुभ सप्तम नरक मे जाते हैं।

* चित्र और सम्भूत दोनो की ओर से पूर्वभव मे सयम की आराधना और विराधना का फल बता कर साधु-साध्वीगण के लिए प्रस्तुत अध्ययन एक सुन्दर प्रेरणा दे जाता है। चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती दोनो अपनी-अपनी त्याग और भोग की दिशा मे एक दूसरे को खींचने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु कामभोगो से सर्वथा विरक्त, सासारिक सुखो के स्वरूपज्ञ चित्रमुनि अपने सयम मे दृढ रहे, जबकि ब्रह्मदत्त गाढ चारित्रमोहनीयकर्मवश त्याग-सयम की ओर एक इच भी न बढा।

* बौद्ध ग्रन्थो मे भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन मिलता है।[1]

---

१ मिलाइए—चित्रसभूतजातक, संख्या ४९८

तेरसमं अज्झयणं : चित्तसंभूइज्जं

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

संभूत और चित्र का पृथक्-पृथक् नगर और कुल में जन्म

१. जाईपराजिओ खलु कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ॥

(१) जाति से पराजित (पराभव मानते) हुए (पूर्वभव मे) सम्भूतमुनि ने हस्तिनापुर मे (चक्रवर्ती पद की प्राप्ति का) निदान किया था । (वहाँ से मर कर वह) पद्मगुल्म विमान मे (देवरूप मे) उत्पन्न हुआ । (वहाँ से च्यव कर) चुलनी रानी की कुक्षि से ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती) के रूप मे जन्म लिया ।

२. कम्पिल्ले सम्भूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि ।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥

(२) सम्भूत काम्पिल्यनगर मे और चित्र पुरिमतालनगर मे विशाल श्रेष्ठिकुल मे उत्पन्न हुआ और वह धर्मश्रवण कर प्रव्रजित हुआ ।

विवेचन—जाईपराजिओ : दो व्याख्या—(१) जाति—चाण्डालजाति से पराजित—पराभूत । अर्थात्—चित्र और सम्भूत दोनो भाई चाण्डालजाति मे उत्पन्न हुए थे । इसलिए शूद्रजातीय होने के कारण ये स्वय दु खित रहा करते थे । निमित्त पाकर इन्होने दीक्षा ग्रहण कर ली और तपस्या के प्रभाव से अनेक लब्धिया प्राप्त कर ली । पहले वाराणसी मे ये राजा और सवर्ण लोगो द्वारा अपमानित और नगरनिष्कासित हुए और दीक्षित होने के बाद जब वे हस्तिनापुर गए तो नमुचि नामक (ब्राह्मण) मत्री ने 'ये चाण्डाल है,' यो कह कर इनका तिरस्कार किया और नगर से निकाल दिया, इस प्रकार शूद्रजाति मे जन्म के कारण पराजित—अपमानित (२) अथवा जातियो से—दास आदि नीच स्थानो मे बारबार जन्मो (उत्पत्तियो) से पराजित—ओह ! मै कितना अधन्य हूँ कि इस प्रकार बारबार नीच जातियो मे ही उत्पन्न होता हूँ, इस प्रकार का पराभव मानते हुए ?[१]

नियाणं—निदानं—परिभाषा—विषयसुख भोगो की वाछा से प्रेरित होकर किया जाने वाला सकल्प । यह आर्त्तध्यान के चार भेदो मे से एक है । प्रस्तुत प्रसग यह है कि सम्भूतमुनि ने सम्भूत के भव मे हस्तिनापुर मे नमुचि मत्री द्वारा प्रताडित एव अपमानित (नगरनिष्कासित) किये जाने पर तेजोलेश्या के प्रयोग से अग्निज्वाला और धुआ फैलाया । नगर को दु.खित देखकर सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी श्रीदेवी रानी सहित मुनि के पास आए, क्षमा मागी । तब जाकर वे प्रसन्न हुए । रानी ने भक्ति के आवेश मे उनके चरणो पर अपना मस्तक रख दिया । रानी के केशो के कोमल स्पर्शजन्य

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७६ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ७४१

सुखानुभव के कारण सम्भूत ने चित्रमुनि के द्वारा रोके जाने पर भी ऐसा निदान कर लिया कि 'मेरी तपस्या का अगर कोई फल हो तो मुझे अगले जन्म मे चक्रवर्ती पद मिले ।'

कंपिल्ले संभूओ—पूर्वजन्म मे जो सम्भूत नामक मुनि था, वह निदान के प्रभाव से पाञ्चाल मण्डल के काम्पिल्यनगर मे ब्रह्मराज और चूलनी के सम्बन्ध से ब्रह्मदत्त के रूप मे हुआ ।[1] सम्पूर्ण कथा अध्ययनसार में दी गई है ।

सेट्ठिकुलम्मि पंक्ति का भावार्थ—प्रचुर धन और बहुत बडे परिवार से सम्पन्न होने से विशाल **धनसार** श्रेष्ठी के कुल मे **गुणसार** नामक पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ और जैनाचार्य शुभचन्द्र से श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश सुनकर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की ।[2]

चित्र और सम्भूत का काम्पिल्यनगर में समागम और पूर्वभवों का स्मरण

३. कम्पिल्लम्मि य नयरे समागया दो वि चित्तसम्भूया ।
सुहदुक्खफलविवागं कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥

[३] काम्पिल्यनगर मे चित्र और सम्भूत दोनो का समागम हुआ । वहाँ उन दोनो ने परस्पर (एक दूसरे को) सुख-दु ख रूप कर्मफल के विपाक के सम्बन्ध मे वार्त्तालाप किया ।

४. चक्कवट्टी महिड्ढीओ बम्भदत्तो महायसो ।
भायरं बहुमाणेण इमं वयणमब्बवी—॥

[४] महान् ऋद्धिसम्पन्न एव महायशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अपने (पूर्वजन्म के) भाई से इस प्रकार के वचन कहे—

५. आसिमो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा ।
अन्नमन्नमणूरत्ता अन्नमन्नहिएसिणो ॥

[५] (ब्रह्मदत्त)—(इस जन्म से पूर्व) हम दोनो भाई थे, एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त (एक दूसरे के प्रति प्रीति वाले) एव परस्पर हितैषी थे ।

६. दासा दसण्णे आसी मिया कालिंजरे नगे ।
हंसा मयगतीरे य सोवागा कासिभूमिए ॥
७. देवा य देवलोगम्मि आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा नो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा ॥

[६-७] हम दोनो दशार्ण देश मे दास, कालिंजर गिरि पर मृग, मृतगगा के तट पर हस और काशी देश मे चाण्डाल थे ।

फिर हम दोनो सौधर्म (नामक प्रथम) देवलोक मे महान् ऋद्धि वाले देव थे । यह हम दोनो का छठा जन्म है, जिसमे हम एक दूसरे से पृथक्-पृथक् (वियुक्त) हो गए ।

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७७ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ७४२
२ उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ७४३

विवेचन—चित्र और सम्भूत का समागम—प्रस्तुत गाथा मे चित्र और सम्भूत पूर्वजन्म के नाम हैं। इस जन्म मे उनका समागम क्रमश· श्रेष्ठिपुत्र गुणसार (मुनि) के रूप मे तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप मे ब्रह्मदत्त चक्री के जन्मस्थान काम्पिल्यनगर मे हुआ था। चित्र का जीव मुनि के रूप मे काम्पिल्यपुर मे आया हुआ था। उन्ही दिनो ब्रह्मदत्त चक्री को जातिस्मरण ज्ञान मे पूर्वजन्मो की स्मृति हो गई। उसने अपने पूर्वजन्म के भाई चित्र को खोजने के लिए आधी गाथा बना कर घोषणा करवा दी कि जो इसकी आधी गाथा की पूर्ति कर देगा, उसे मै आधा राज्य दे दू गा। सयोगवश उसी निमित्त से चित्र के जीव का मुनि के रूप मे पता लग गया। इस प्रकार पाच पूर्वजन्मो मे सहोदर रहे हुए दोनो भ्राताओ का अपूर्व मिलन हुआ। इसकी पूर्ण कथा अध्ययनसार मे दी गई है।[1]

चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त द्वारा पूर्वभवो का सस्मरण—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पिछले भवो मे सहोदर होकर साथ-साथ रहने की स्मृति दिलाते हुए कहा कि यह छठा जन्म है, जिसमे हम लोग पृथक्-पृथक् कुल और देश मे जन्म लेने के कारण एक दूसरे से बहुत दूर पड गए है और दूसरे के सुख-दु.ख मे सहभागी नही बन सके है।[2]

चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का एक दूसरे की ओर खींचने का प्रयास

८ कम्मा नियाणप्पगडा तुमे राय ! विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया ॥

[८] (मुनि)—राजन् ! तुमने निदान (आसक्तिसहित भोगप्रार्थनारूप) से कृत (-उपार्जित) (ज्ञानावरणीयादि) कर्मों का विशेषरूप मे (आर्त्तध्यानपूर्वक) चिन्तन किया। उन्ही कर्मों के फलविपाक (उदय) के कारण (अतिप्रीति वाले) हम दोनो अलग-अलग जन्मे (और बिछुड गए)।

९. सच्चसोयप्पगडा कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो किं नु चित्ते वि से तहा ?

[९] (चक्रवर्ती)—चित्र ! मैने पूर्वजन्म मे सत्य (मृषात्याग) और शौच (आत्मशुद्धि) करने वाले शुभानुष्ठानो से प्रकट शुभफलदायक कर्म किये थे। उनका फल (चक्रवर्तित्व) मैं आज भोग रहा हूँ। क्या तुम भी उनका वैसा ही फल भोग रहे हो ?

१०. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराण कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि आया मम पुण्णफलोववेए ॥

[१०] (मुनि)—मनुष्यो के समस्त सुचीर्ण (समाचरित सत्कर्म) सफल होते है, क्योकि किये हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही है। मेरी आत्मा भी उत्तम अर्थ और कामो के द्वारा पुण्यफल से युक्त रही है।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३८२

२ वही, पत्र ३८३

११. जाणासि संभूय ! महाणुभागं महिड्डियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं ! इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥

[११] हे सम्भूत ! (ब्रह्मदत्त का पूर्वभव के नाम से सम्बोधन) जैसे तुम अपने आपको महानुभाग-(अचिन्त्य शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिसम्पन्न एव पुण्यफल से युक्त समझते हो, वैसे ही चित्र को (मुझे) भी समझो । राजन् ! उसके (चित्र के) पास भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति रही है ।

१२. महत्थरूवा वयणऽप्पभूया गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया इहऽज्जयन्ते समणो म्हि जाओ ॥

[१२] स्थविरो ने मनुष्य-समुदाय के बीच अल्प वचनो (अक्षरो) वाली किन्तु महार्थरूप (अर्थगम्भीर) गाथा गाई (कही) थी, जिसे (सुनकर) शील और गुणो से युक्त भिक्षु इस निर्ग्रन्थ धर्म मे स्थिर होकर यत्न (अथवा—यत्न से अर्जित) करते हैं । उसे सुन कर मैं श्रमण हो गया ।

१३. उच्चोदए महु कक्के य बम्भे पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥

[१३] (चक्रवर्ती)—(१) उच्च, (२) उदय, (३) मधु, (४) कर्क और (५) ब्रह्म, ये (पाच प्रकार के) मुख्य प्रासाद तथा और भी अनेक रमणीय प्रासाद (मेरे वर्द्धकिरत्न ने) प्रकट किये (बनाये) हैं तथा यह जो पाचालदेश के अनेक गुणो (शब्दादि विषयो) की सामग्री से युक्त, आश्चर्यजनक प्रचुर धन से परिपूर्ण मेरा घर है, इसका तुम उपभोग करो ।

१४. नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं नारीजणाइं परिवारयन्तो ।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू ! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥

[१४] भिक्षु ! नाट्य, सगीत और वाद्यो के साथ नारीजनो से घिरे हुए तुम इन भोगो (भोगसामग्री) का उपभोग करो, (क्योकि) मुझे यही रुचिकर है । प्रव्रज्या तो निश्चय ही दु खप्रद है या प्रव्रज्या तो मुझे दुःखकर प्रतीत होती है ।

१५. तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ॥

[१५] उस राजा (ब्रह्मदत्त) के हितानुप्रेक्षी (हितैषी) और धर्म मे स्थिर चित्र मुनि ने पूर्वभव के स्नेहवश अपने प्रति अनुरागी एव कामभोगो मे लुब्ध नराधिप (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) को यह वचन कहा—

१६. सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा ॥

[१६] (मुनि)—सब गीत (गायन) विलाप है, समस्त नाट्य विडम्बना से भरे है, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी कामभोग दु खावह (दुखोत्पादक) है ।

१७. बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाण जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाण ॥

[१७] राजन् ! अज्ञानियो को रमणीय प्रतीत होने वाले, (किन्तु वस्तुत:) दु:खजनक कामभोगों मे वह सुख नही है, जो सुख शीलगुणो मे रत, कामभोगो से (इच्छाकाम-मदनकामो से) विरक्त तपोधन भिक्षुओ को प्राप्त होता है ।

१८. नरिंद ! जाई अहमा नराणं सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा वसीय सोवाग-निवेसणेसु ॥

[१८] हे नरेन्द्र ! मनुष्यो मे श्वपाक (-चाण्डाल) जाति अधम जाति है, उसमे हम दोनो जन्म ले चुके है, जहाँ हम दोनो चाण्डालो की बस्ती मे रहते थे, वहाँ सभी लोग हमसे द्वेष (घृणा) करते थे ।

१९. तीसे य जाईइ उ पावियाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ॥

[१९] उस पापी (नीच-निन्द्य) जाति मे हम जन्मे थे और उन्ही चाण्डालो की बस्तियो मे हम दोनो रहे थे, (उस समय) हम सभी लोगो के घृणापात्र थे, किन्तु इस भव मे (यहाँ) तो पूर्वकृत (शुभ) कर्मों का शुभ फल प्राप्त हुआ है ।

२०. सो दाणिसिं राय ! महाणुभागो महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि ॥

[२०] (उन्ही पूर्वजन्मकृत शुभ कर्मों के फलस्वरूप) इस समय वह (पूर्वजन्म मे निन्दित—घृणित) तू महानुभाग (अत्यन्त-प्रभावशाली), महान् ऋद्धिसम्पन्न, पुण्यफल से युक्त राजा बना है । अत: तू अशाश्वत (क्षणिक) भोगो का परित्याग करके आदान, अर्थात्—चारित्रधर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण (प्रव्रज्या-ग्रहण) कर ।

२१. इह जीविए राय ! असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥

[२१] राजन् ! इस अशाश्वत (अनित्य) मानवजीवन मे जो विपुल (या ठोस) पुण्यकर्म (शुभ-अनुष्ठान) नही करता, वह मृत्यु के मुख मे पहुंचने पर पश्चात्ताप करता है । वह धर्माचरण न करने के कारण परलोक मे भी पश्चात्ताप करता है ।

२२. जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिऽसहरा भवंति ॥

[२२] जैसे यहाँ सिंह मृग को पकड कर ले जाता है, वैसे ही अन्तकाल मे मृत्यु मनुष्य को ले जाती है । उस (मृत्यु) काल मे उसके माता-पिता एव भार्या (पत्नी) (तथा भाई-बन्धु, पुत्र आदि) कोई भी मृत्यु-दु:ख के अंशधर (हिस्सेदार) नही होते ।

२३. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।।

[२३] ज्ञातिजन (जाति के लोग), मित्रवर्ग, पुत्र और बान्धव आदि उसके (मृत्यु के मुख मे पड़े हुए मनुष्य के) दु ख को नही बाँट सकते। वह स्वय अकेला ही दु:ख का अनुभव करता (भोगता) है; क्योकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है।

२४. चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ परं भवं सुन्दर पावगं वा ।।

[२४] द्विपद (पत्नी, पुत्र आदि स्वजन), चतुष्पद (गाय, घोडा आदि चौपाये पशु), खेत, घर, धन (सोना-चाँदी आदि), धान्य (गेहूँ, चावल आदि) सभी कुछ (यही) छोड कर, केवल अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों को साथ लेकर यह पराधीन जीव, सुन्दर (देव-मनुष्य सम्बन्धी सुखद) अथवा असुन्दर (नरक-तिर्यञ्चसम्बन्धी दु खद) परभव (दूसरे लोक) को प्रयाण करता है।

२५. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ।।

[२५] चिता पर रखे हुए (अपने मृत सम्बन्धी के जीवरहित) उस एकाकी तुच्छ शरीर को अग्नि से जला कर, स्त्री, पुत्र, अथवा ज्ञातिजन (स्वजन) दूसरे दाता (आश्रयदाता—स्वार्थसाधक) का अनुसरण करने लगते है—किसी अन्य के हो जाते है।

२६ उवणिज्जई जीवियमप्पमायं वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं !
पचालराया ! वयणं सुणाहि मा कासि कम्माइ महालयाइं ।।

[२६] राजन् ! कर्म किसी भी प्रकार का प्रमाद (भूल) किये विना (क्षण-क्षण में आवीचिमरण के रूप मे) जीवन को मृत्यु के निकट ले जा रहे है। वृद्धावस्था मनुष्य के वर्ण (शरीर की काति) का हरण कर रही है। अत हे पाचालराज ! मेरी बात सुनो, (पचेन्द्रियवध आदि) महान् (घोर) पापकर्म मत करो।

२७. अहंपि जाणामि जहेह साहू ! जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं ।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहिं ।।

[२७] (चक्रवर्ती)—हे साधो ! जिस प्रकार तुम मुझे इस (समस्त सासारिक पदार्थों की अशरण्यता एव अनित्यता आदि के विषय) मे उपदेशवाक्य कह रहे हो, उसे मैं भी समझ रहा हूँ कि ये भोग सगकारक (आसक्ति मे बाधने वाले) होते हैं, किन्तु आर्य ! वे हम जैसे लोगो के लिए तो अत्यन्त दुर्जय है।

२८ हत्थिणपुरम्मि चित्ता ! दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ।।

[२८] चित्र ! हस्तिनापुर मे महान् ऋद्धिसम्पन्न चक्रवर्ती (सनत्कुमार) नरेश को देखकर मैने कामभोगो मे आसक्त होकर अशुभ निदान (कामभोग-प्राप्ति का सकल्प) कर लिया था।

२९. तस्स मे अपडिकन्तस्स इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं कामभोगेसु मुच्छिओ॥

[२९] (मृत्यु के समय) मैने उस निदान का प्रतिक्रमण नही किया, उसी का इस प्रकार का यह फल है कि धर्म को जानता-बूझता हुआ भी मैं कामभोगो मे मूर्च्छित (आसक्त) हूँ। (उन्हे छोड नही पाता।)

३०. नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥

[३०] जैसे पकजल (दलदल) मे धँसा हुआ हाथी स्थल (सूखी भूमि) को देखता हुआ भी किनारे पर नही पहुँच पाता, उसी प्रकार हम (श्रमण-धर्म को जानते हुए) भी कामगुणो (शब्दादि विषय-भोगो) मे आसक्त बने हुए है, (इस कारण) भिक्षुमार्ग का अनुसरण नही कर पाते।

३१. अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥

[३१] (मुनि)—राजन्! समय व्यतीत हो रहा है। रात्रियाँ (दिन-रात) द्रुतगति से भागी जा रही है और मनुष्यो के (विषयसुख-) भोग भी नित्य नही है। कामभोग क्षीणपुण्य वाले व्यक्ति को वैसे ही छोड देते है, जैसे क्षीणफल वाले वृक्ष को पक्षी।

३२. जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो अज्जाइं कम्माइं करेहि राय!
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

[३२] राजन्! यदि तू (इस समय) भोगो (कामभोगो) को छोडने मे असमर्थ है तो आर्यकर्म कर। धर्म मे स्थिर होकर समस्त प्राणियो पर दया-(अनुकम्पा-) परायण बन, जिससे कि तू भविष्य मे इस (मनुष्यभव) के अनन्तर वैक्रियशरीरधारी (वैमानिक) देव हो सके।

३३. न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो सि आरम्भ-परिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो गच्छामि रायं! आमन्तिओऽसि॥

[३३] (मुनि)—(शब्दादि काम-) भोगो को त्यागने की (तदनुसार धर्माचरण करने की) तेरी बुद्धि (दृष्टि या रुचि) नही है। तू आरम्भ-परिग्रह मे गृद्ध (आसक्त) है। मैने व्यर्थ ही इतना प्रलाप (बकवास) किया और तुझे सम्बोधित किया (—धर्माराधना के लिए आमन्त्रित किया)। राजन्! (अब) मैं जा रहा हूँ।

विवेचन—प्रेयमार्गी और श्रेयमार्गी का संवाद—प्रस्तुत अध्ययन की गाथा ८ से ३३ तक पाच पूर्वजन्मो मे साथ-साथ रहे हुए दो भाइयो का सवाद है। इनमे से पूर्वजन्म का सम्भूत एव वर्तमान मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती प्रेयमार्ग का प्रतीक है और पूर्वजन्म का चित्र और वर्तमान मे गुणसार मुनि श्रेयमार्ग का प्रतीक है। प्रेयमार्ग के अनुगामी ब्रह्मदत्त चक्री ने पूर्वजन्म मे आचरित सनिदान तप-संयम के फलस्वरूप विपुल भोगसामग्री प्राप्त की है, उसी पर उसे गर्व है, उसी मे वह निमग्न रहता है। उसी भोगवादी प्रेयमार्ग की ओर मुनि को खीचने के लिए प्रयत्न करता है, समस्त भोग्य

सामग्री के उपभोग के लिए मुनि को आमन्त्रित करता है, परन्तु तत्त्वज्ञ मुनि कहते हैं कि तुम यह मत समझो कि तुमने ही अर्थकामपोषक भोगसामग्री प्राप्त की है। मैंने भी प्राप्त की थी परन्तु मैंने उन वैषयिक सुखभोगो को दुःखबीज, जन्ममरणरूप संसारपरिवर्द्धक, दुर्गतिकारक, आर्त्तध्यान के हेतु मान कर त्याग दिया है और शाश्वत-स्वाधीन आत्मिक सुख-शान्ति के हेतुभूत त्यागप्रधान श्रेयमार्ग की ओर अपने जीवन को मोड लिया है। इसमे मुझे अपूर्व सुखशान्ति और आनन्द है। तुम भी क्षणिक भोगो की आसक्ति और पापकर्मों की प्रवृत्ति को छोडो। जीवन नाशवान् है, मृत्यु प्रतिक्षण आ रही है। अत कम से कम आर्यकर्म करो, मार्गानुसारी बनो, सम्यग्दृष्टि तथा व्रती श्रमणोपासक बनो, जिससे कि तुम सुगति प्राप्त कर सको। माना कि तुम्हे पूर्व जन्म मे आचरित तप, संयम एव निदान के फलस्वरूप चक्रवर्ती की ऋद्धि एव भोगसामग्री मिली है, परन्तु इनका उपभोग सत्कर्म मे करो, आसक्तिरहित होकर इनका उपभोग करोगे तो तुम्हारी दुर्गति टल जाएगी। परन्तु ब्रह्मदत्त चक्री ने कहा—मै यह सब जानता हुआ भी दल-दल मे फसे हुए हाथी की तरह कामभोगो मे फस कर उनके अधीन, निष्क्रिय हो गया हूँ। त्यागमार्ग के शुभपरिणामो को देखता हुआ भी उस ओर एक भी कदम नही बढा सकता। इस प्रकार चित्र और सभूत इन दोनो का मार्ग इस छठे जन्म मे अलग-अलग दो ध्रुवो की ओर हो गया।[१]

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि—पूर्वजन्म मे किये हुए अवश्य वेद्य—भोगने योग्य निकाचित कर्मों का फल अवश्य मिलता है, अर्थात्—वे कर्म अपना फल अवश्य देते हैं।[२] **बद्धकर्म** कदाचित् अनुभाग द्वारा न भोगे जाएँ तो भी प्रदेशोदय से तो अवश्यमेव भोगने पडते है।

पचालगुणोववेय—(१) पचाल नामक जनपद मे इन्द्रियोपकारी जो भी विशिष्ट रूपादि गुण—विषय है, उनसे उपेत—युक्त, (२) पचाल मे जो विशिष्ट वस्तुएँ, वे सब इस गृह मे है।[३]

नट्टेहि गीएहि वाइएहि—बत्तीस पात्रो से उपलक्षित नाट्यो से या विविध अगहारादिस्वरूप नृत्यो से, ग्राम-स्वरूप,-मूर्च्छनारूप गीतो से तथा मृदग-मुकुद आदि वाद्यो से।[४]

आयाणहेउं—सद्विवेकी पुरुषो द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उस चारित्रधर्म को यहा आदान कहा गया है। उसके लिए।[५]

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म—आशय—कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है, अर्थात्—जिसने जो कर्म किया है, उसी को उस कर्म का फल मिलता है, दूसरे को नही। दूसरा कोई भी उस कर्मफल मे हिस्सेदार नही बनता।[६]

अपडिकतस्स—उक्त निदान की आलोचना, निन्दना, गर्हणा एव प्रायश्चित्त रूप से प्रतिक्रमणा—प्रतिनिवृत्ति नही की।[७]

---

१ उत्तराध्ययन-मूल एव बृहद्वृत्ति, अ १३, गा. ८ से ३२ तक का तात्पर्य, पत्र ३८४ से ३९१ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८४ ३ वही, पत्र ३८६

४. वही, पत्र ३६८ ५. वही, पत्र ३८७

६ वही, पत्र ३८९ ७ वही, पत्र ३९०

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्र मुनि की गति

३४. पंचालराया वि य बम्भदत्तो साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो॥

[३४] पाचाल जनपद का राजा ब्रह्मदत्त उन तपस्वी साधु चित्र मुनि के वचन का पालन नही कर सका। फलत वह अनुत्तर कामभोगो का उपभोग करके अनुत्तर (सप्तम) नरक मे उत्पन्न (प्रविष्ट) हुआ।

३५. चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो उदग्गचारित्त-तवो महेसी।
अणुत्तरं संजमं पालइत्ता अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ॥
—त्ति बेमि।

[३५] अभिलषणीय शब्दादि कामो से विरक्त, उग्रचारित्री एव तपस्वी महर्षि चित्र भी अनुत्तर संयम का पालन करके अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—वयणं अकाउं : भावार्थ—तपस्वी साधु चित्र मुनि के हितोपदेशदर्शक वचन का पालन वज्रतन्दुल की तरह गुरुकर्मा होने के कारण पचाल-राजा नही कर सका।

अणुत्तरे, अणुत्तरं : विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न अर्थ—प्रस्तुत अन्तिम दो गाथाओ मे 'अनुत्तर' शब्द का चार बार प्रयोग हुआ है। प्रसगवश इसके विभिन्न अर्थ होते है। चौतीसवी गाथा मे (१) प्रथम अनुत्तर शब्द कामभोगो का विशेषण है, उसका अर्थ है—सर्वोत्तम। (२) द्वितीय अनुत्तर नरक का विशेषण है, जिसका अर्थ है—समस्त नरको से स्थिति, दु ख आदि मे ज्येष्ठ, सर्वोत्कृष्ट दु:खमय अप्रतिष्ठान नामक सप्तम नरक। (३) पैतीसवी गाथा मे प्रथम अनुत्तर शब्द सयम का विशेषण है, अर्थ है—सर्वोपरि सयम। (४) द्वितीय अनुत्तर सिद्धिगति का विशेषण है, जिसका अर्थ है—सर्वलोकाकाश के ऊपरी भाग मे रही हुई, अति प्रधान मुक्ति—सिद्धिगति।

॥ तेरहवां अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय समाप्त ॥

□□

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ३९२
२. वही, पत्र ३९२-३९३

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—इषुकारीय। इसमे भृगु पुरोहित के कुटुम्ब के निमित्त से 'इषुकार' राजा को प्रतिबोध मिला है और उसने आर्हतशासन मे प्रव्रजित होकर मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार के वर्णन को लेकर इषुकार राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है।[1]

* प्रत्येक प्राणी कर्मों के अनुसार पूर्वजन्मो के शुभाशुभ सस्कार लेकर आता है। अनेक जन्मो की करणी के फलस्वरूप विविध आत्माओ का एक ही नगर मे, एक कुटुम्ब मे तथा एक ही धर्मपरम्परा मे अथवा एक ही वातावरण मे पारस्परिक सयोग मिलता है। इस अध्ययन के प्रारम्भ मे छह आत्माओ के इस अभूतपूर्व सयोग का निरूपण है। ये छह जीव ही इस अध्ययन के प्रमुख पात्र है—महाराज इषुकार, रानी कमलावती, पुरोहित भृगु, पुरोहितपत्नी यशा तथा पुरोहित के दो पुत्र।

* इसमे ब्राह्मणसस्कृति की कुछ मुख्य परम्पराओ का उल्लेख पुरोहितकुमारो और पुरोहित के सवाद के माध्यम से किया है—

  (१) प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम मे रह कर वेदाध्ययन करना। (२) तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम स्वीकार कर विवाहित होकर विषयभोग-सेवन करके पुत्रोत्पत्ति करना, क्योकि पुत्ररहित की सद्गति नही होती। (३) गृहस्थाश्रम मे रहकर ब्राह्मणो को भोजन कराना। (४) फिर पुत्रो का विवाह करके, उनके पुत्र हो जाने पर घर का भार उन्हे सौंपना। (५) इसके पश्चात् ही अरण्यवासी (वानप्रस्थी) मुनि हो जाना। ब्राह्मणसस्कृति मे गृहस्थाश्रम का पालन न करके सीधे ही वानप्रस्थाश्रम या सन्यासाश्रम स्वीकार करना वर्जित था।

* किन्तु भृगु पुरोहित के दोनो पुत्रो मे पूर्वजन्मो का स्मरण हो जाने से श्रमणसस्कृति के त्याग-प्रधान सस्कार उद्‌बुद्ध हो गए और वे उसी मार्ग पर चलने को कटिबद्ध हो गए। अपने पिता (भृगु पुरोहित) को उन्होने श्रमणसस्कृति के त्याग एव तप से कर्मक्षयद्वारा आत्मशुद्धिप्रधान सिद्धान्त के अनुसार युक्तिपूर्वक समझाया, जिसका निरूपण १२ वी गाथा से १५ वी गाथा तक तथा १७ वी गाथा मे किया गया है।[2]

* भृगु पुरोहित ने जब नास्तिको के तज्जीव-तच्छरीरवाद को लेकर आत्मा के नास्तित्व का प्रतिपादन किया तो दोनो कुमारो ने आत्मा के अस्तित्व एव उसके बन्धनयुक्त होने का सयुक्तिक सप्रमाण प्रतिपादन किया, जिससे पुरोहित भी निरुत्तर और प्रतिबुद्ध हो गया। पुरोहितानी

---

१ उत्तरा. निर्युक्ति, गाथा ३६२

२. उत्तरा. मूलपाठ, अ १४, गा. १ से ३, तथा १२ वीं से १७ वी तक।

का मन भोगवाद के सस्कारो से लिप्त था किन्तु पुरोहित के द्वारा अपने दोनो पुत्रो को त्यागमार्ग पर आरूढ होने का उदाहरण देकर त्याग की महत्ता समझाने से पुरोहितानी भी प्रबुद्ध हो गई। पुरोहित-परिवार के चार सदस्यो को सर्वस्व गृहत्याग कर जाते देख रानी कमलावती के अन्त करण मे प्रशस्त स्फुरणा हुई। उसकी प्रेरणा से राजा के भी मन पर छाया हुआ धन और कामभोग-सेवन का मोह नष्ट हो गया। यो राजा और रानी भी सर्वस्व त्याग कर प्रव्रजित हुए।

* इसमे प्राचीनकालिक एक सामाजिक परम्परा का उल्लेख भी है कि जिस व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी नही होता था या जिसका सारा परिवार गृहत्यागी श्रमण बन जाता था, उसकी धनसम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता था। इस परम्परा को रानी कमलावती ने निन्द्य बताकर राजा की वृत्ति को मोडा है। यह सारा वर्णन ३८ वी से ४८ वी गाथा तक है।[1]

* अन्तिम ५ गाथाओ मे राजा-रानी के प्रव्रजित होने, तप-सयम में घोर-पराक्रमी बनने तथा पुरोहितपरिवार के चारो सदस्यो के द्वारा मुनिजीवन स्वीकार करके तप-सयम द्वारा मोहमुक्त एव सर्वकर्ममुक्त बनने का उल्लेख है।[2]

* निर्युक्तिकार ने ग्यारह गाथाओ मे इनकी पूर्वकथा प्रस्तुत की है। वह सक्षेप मे इस प्रकार है—पूर्व-अध्ययन मे प्रतिपादित चित्र और सम्भूत के पूर्वजन्म मे दो गोपालपुत्र मित्र थे। उन्हे साधु की सत्सगति से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे दोनो वहाँ से मरकर देवलोक मे देव हुए। वहाँ से च्यव कर क्षितिप्रतिष्ठित नगर मे वे दोनो इभ्यकुल मे जन्मे। यहाँ चार इभ्य श्रेष्ठिपुत्र उनके मित्र बने। उन्होने एक बार स्थविरो से धर्म-श्रवण किया और विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। चिरकाल तक सयम का पालन किया। अन्त मे समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करके ये छहो सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान मे चार पल्योपम की स्थिति वाले देव हुए। दोनो भूतपूर्व गोपालपुत्रो को छोड़कर शेष चारो वहाँ से च्युत हुए। कुरुजनपद के इषुकार नगर मे जन्मे। उनमे से एक जीव तो इषुकार नामक राजा बना, दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती, तीसरा भृगु नामक पुरोहित और चौथा हुआ—भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नही हुआ। पति-पत्नी दोनो, 'वश कैसे चलेगा ?' इसी चिन्ता से ग्रस्त रहते थे।

दोनो गोपालपुत्रो ने, जो अभी तक देवभव मे थे, एक बार अवधिज्ञान से जाना कि वे दोनो इषुकार नगर मे भृगु पुरोहित के पुत्र होगे, वे श्रमणवेश मे भृगु पुरोहित के यहाँ आए। पुरोहित दम्पती ने वन्दना की। दोनो श्रमणवेषी देवो ने धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर पुरोहितदम्पती ने श्रावकव्रत ग्रहण किए। श्रद्धावश पुरोहितदम्पती ने पूछा—'मुनिवर! हमे कोई पुत्र प्राप्त होगा या नही ?' श्रमणयुगल ने कहा—'तुम्हे दो पुत्र होगे, किन्तु वे बचपन में ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे। उनकी प्रव्रज्या मे तुम कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकोगे। वे मुनि बनकर धर्मशासन की प्रभावना करेगे।' इतना कह कर श्रमणवेषी देव वहाँ से चले गए।

---

१ उत्तरा मूलपाठ, ३८ से ४८ वी गाथा तक

२ उत्तरा मूलपाठ, गा. ४९ से ५३ तक

पुरोहितदम्पती को प्रसन्नता हुई। भविष्यवाणी के अनुसार वे दोनो देव पुरोहितपत्नी यशा के गर्भ मे आए। दीक्षा ग्रहण कर लेने के भय से पुरोहितदम्पती नगर को छोड़ कर व्रजगाँव मे आ बसे। यही पुरोहितपत्नी यशा ने दो सुन्दर पुत्रो को जन्म दिया। कुछ बड़े हुए। माता-पिता यह सोच कर कि कही ये दीक्षा न ले ले, अल्पवयस्क पुत्रो के मन मे समय-समय पर साधुओ के प्रति घृणा और भय की भावना पैदा करते रहते थे। वे समझाते रहते—देखो, बच्चो! साधुओ के पास कभी मत जाना। ये छोटे-छोटे बच्चो को उठा कर ले जाते हैं और उन्हे मार कर उनका मास खा जाते है। उनसे बात भी मत करना।

माता-पिता की इस शिक्षा के फलस्वरूप दोनो बालक साधुओ से डरते रहते, उनके पास तक नही फटकते थे।

एक बार दोनो बालक खेलते-खेलते गाँव से बहुत दूर निकल गए। अचानक उसी रास्ते से उन्होने कुछ साधुओ को अपनी ओर आते देखा तो वे घबरा गए। अब क्या करे! बचने का कोई उपाय नही था। अत झटपट वे पास के ही एक सघन वट वृक्ष पर चढ गए और छिप कर चुपचाप देखने लगे कि ये साधु क्या करते है? सयोगवश साधु भी उसी वृक्ष के नीचे आए। इधर-उधर देखा-भाला, रजोहरण से चीटी आदि जीवो को धीरे-से एक ओर किया और बडी यतना के साथ बड की सघन छाया मे बैठ कर झोली मे से पात्र निकाले और एक मडली मे भोजन करने लगे। बच्चो ने देखा कि उनके पात्रो मे मास जेमी कोई वस्तु नही है। सादा सात्त्विक भोजन है, साथ ही उनके दयाशील व्यवहार तथा करुणाद्रवित वार्तालाप देखा-सुना तो उनका भय कम हुआ। बालको के कोमल निर्दोष मानस पर धुधली-सी स्मृति जागी—'ऐसे साधु तो हमने पहले भी कही देखे है, ये अपरिचित नही है।' ऊहापोह करते-करते कुछ ही क्षणो मे उन्हे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म की स्मृति स्पष्ट हो गई। उनका भय सर्वथा मिट गया। वे दोनो पेड से नीचे उतरे और साधुओ के पास आकर दोनो ने श्रद्धापूर्वक वन्दना की। साधुओ ने उन्हे प्रतिबोध दिया। दोनो बालको ने ससार से विरक्त होकर, मुनि बनने का निर्णय किया। वहाँ से वे सीधे माता-पिता के पास आए और अपना निर्णय बतलाया। भृगु पुरोहित ने उन्हे ब्राह्मणपरम्परा के अनुसार बहुत कुछ समझाने और साधु बनने से रोकने का प्रयत्न किया, मगर सब व्यर्थ! उनके मन पर दूसरा कोई रग नही चढ सका, बल्कि दोनो पुत्रो की युक्तिसगत बातो से भृगु पुरोहित भी दीक्षा लेने को तत्पर हो गया। आगे की कथा मूलपाठ मे ही वर्णित है।[1]

* कुल मिला कर इस अध्ययन से पुनर्जन्मवाद की पुष्टि होती है तथा ब्राह्मण-श्रमण परम्परा की मौलिक मान्यताओ तथा तत्कालीन सामाजिक परम्परा का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है।

□□

१. उत्तरा निर्युक्ति, गा. ३६३ से ३७३ तक

चउदसमं अज्झयणं : उसुयारिज्जं

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

प्रस्तुत अध्ययन के छह पात्रों का पूर्वजन्म एवं वर्त्तमान जन्म का सामान्य परिचय

१. देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी केइ चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे उसुयारनामे खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥

[१] देवलोक के समान रमणीय, प्राचीन, प्रसिद्ध और समृद्ध 'इषुकार' नामक नगर मे, पूर्वजन्म में देव होकर एक ही विमान मे रहने वाले कुछ जीव देवता का आयुष्य पूर्ण कर अवतरित हुए।

२. सकम्मसेसेण पुराकएण कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया।
निव्विण्णसंसारभया जहाय जिणिन्दमग्गं सरणं पवन्ना ॥

[२] पूर्वभव मे कृत, अपने अवशिष्ट शुभ कर्मों के कारण वे (छहो) जीव (इषुकारनगर के) उच्चकुलो मे उत्पन्न हुए और ससार के भय से उद्विग्न होकर, (कामभोगो का) परित्याग कर जिनेन्द्रमार्ग की शरण को प्राप्त हुए।

३. पुमत्तमागम्म कुमार दो वी पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहोसुयारो रायत्थ देवी कमलावई य ॥

[३] इस भव मे पुरुषत्व को प्राप्त करके दो व्यक्ति पुरोहितकुमार (भृगु-पुत्र) हुए, (तीसरा जीव भृगु नामक) पुरोहित हुआ, (चौथा जीव) उसकी पत्नी (यशा नाम की पुरोहितानी), (पाचवाँ जीव) विशाल कीर्ति वाला इषुकार नामक राजा हुआ तथा (छठा जीव) उसकी देवी (मुख्य रानी) कमलावती हुई। (ये छहो जीव अपना-अपना आयुष्य पूर्ण होने पर क्रमशः पहले-पीछे च्यवकर पूर्वभव के सम्बन्ध से एक ही नगर मे उत्पन्न हुए।)

विवेचन—पुराणे—प्राचीन या चिरन्तन। यह नगर बहुत पुराना था।

एगविमाणवसी—वे एक ही पद्मगुल्म नामक विमान के निवासी थे। इसलिए एगविमाण-वासी कहा गया है।

पुराकएणं सकम्मसेसेण : भावार्थ—पुराकृत—पूर्वजन्मोपार्जित स्वकर्मशेष—अपने पुण्य-प्रकृति रूप कर्म शेष थे, इन कारण। अपने द्वारा पूर्वजन्मो मे उपार्जित पुण्य कर्म शेष होने से जीव को जन्म ग्रहण करना पडता है। इन छहो व्यक्तियो के सभी पुण्यकर्म देवलोक मे क्षीण नही हुए थे, वे बाकी थे। इस कारण उनका जन्म उत्तमकुल मे हुआ।

जिणिदमग्गं : जिनेन्द्रमार्ग—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मुक्तिपथ को।

कुमार दो वी—दोनो कुमार—दो पुरोहित पुत्र।[1]

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९६-३९७

विरक्त पुरोहितकुमारों की पिता से दीक्षा की अनुमति

४. जाई-जरा-मच्चुभयाभिभूया बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥

५. पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं तहा सुचिण्णं तव-संजमं च ॥

[४-५] स्वकर्मशील (ब्राह्मण के योग्य यजन-याजन आदि अनुष्ठान मे निरत) पुरोहित के दोनो प्रियपुत्रो ने एकबार मुनियो को देखा तो उन्हे अपने पूर्वजन्म का तथा उस जन्म मे सम्यक्रूप से आचरित तप और सयम का स्मरण हो गया। (फलत) वे दोनो जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए। उनका अन्त करण बहिर्विहार, अर्थात्—मोक्ष की ओर आकृष्ट हो गया। (अत) वे (दोनो) ससारचक्र से विमुक्त होने के लिए (शब्दादि) कामगुणो से विरक्त हो गए।

६. ते कामभोगेसु असज्जमाणा माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥

[६] वे दोनो पुरोहित पुत्र मनुष्य तथा देवसम्बन्धी कामभोगो से अनासक्त हो गए। मोक्ष के अभिलाषी और श्रद्धा (तत्त्वरुचि) सपन्न उन दोनो पुत्रो ने पिता के पास आकर इस प्रकार कहा—

७. असासयं दट्ठु इमं विहारं बहुअन्तरायं न य दीहमाउ ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥

[७] इस विहार (मनुष्य-जीवन के रूप मे अवस्थान) को हमने अशाश्वत (अनित्य = क्षणिक) देख (जान) लिया। (साथ ही यह) अनेक विघ्न-बाधाओ से परिपूर्ण है और मनुष्य आयु भी दीर्घ (लम्बी) नही है। इसलिए हमे अब घर मे कोई आनन्द नही मिल रहा है। अत अब मुनिभाव (सयम) का आचरण (अगीकार) करने के लिए आप से हम अनुमति चाहते है।

विवेचन—बहिं विहाराभिणिविट्ठचित्ता—बहि अर्थात्—ससार से बाहर, विहार—स्थान, अर्थात्—मोक्ष। मोक्ष ससार से बाहर है। उसमे उन दोनो का चित्त अभिनिविष्ट हो गया—अर्थात्—जम गया।

कामगुणे विरत्ता—कामनाओ को उत्तेजित करने वाले शब्दादि इन्द्रियविषयो से विरक्त—पराङ्मुख, क्योकि कामगुण मुक्ति के विरोधी है, मुक्तिमार्ग मे बाधक है। बृहद्वृत्तिकार ने कामगुणविरक्ति को ही जिनेन्द्रमार्ग की शरण मे जाना बताया है।

सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स—स्वकर्मशील—ब्राह्मणवर्ण के अपने कर्म—यज्ञ-याग आदि अनुष्ठान मे निरत पुरोहित के—शान्तिकर्त्ता के।

सुचिण्णं—यह तप और संयम का विशेषण है। इसका आशय है कि पूर्वजन्म मे उन्होने जो निदान आदि से रहित तप, सयम का आचरण किया था, उसका स्मरण हुआ।

इमं विहारं—'इस विहार' से आशय है—इस प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यजीवन (नरभव) मे अवस्थान ।

आमंतयामो : तात्पर्य—आमन्त्रण कर रहे—पूछ रहे हैं, यह अर्थ होते हुए भी आशय है—अनुमति माग रहे हैं ।[1]

पुरोहित और उसके पुत्रों का परस्पर संवाद

८. अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति जहा न होई असुयाण लोगो ॥

[८] यह (पुत्रो के द्वारा विरक्ति की बात) सुन कर पिता ने उस अवसर पर उन कुमारमुनियो के तप मे बाधा उत्पन्न करने वाली यह बात कही—'पुत्रो ! वेदो के ज्ञाता यह वचन कहते हैं कि—निपूते की—जिनके पुत्र नही होता, उनकी—(उत्तम) गति (परलोक) नहीं होती है ।'

९. अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥

[९] (इसलिए) हे पुत्रो ! (पहले) वेदो का अध्ययन करके, ब्राह्मणो को भोजन करा कर, स्त्रियो के साथ भोग भोगो और फिर पुत्रो को घर का भार सौप कर आरण्यक (अरण्यवासी) प्रशस्त मुनि बनना ।

१०. सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥

[१०] (इसके पश्चात्) जिसका अन्त.करण अपने रागादिगुणरूप इन्धन (जलावन) से एव मोहरूपी पवन से अधिकाधिक प्रज्वलित तथा शोकाग्नि से संतप्त एव परितप्त हो गया था और जो मोहग्रस्त हो कर अनेक प्रकार से अत्यधिक दीनहीन वचन बोल रहा था—

११. पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं निमंतयन्तं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥

[११] जो एक के बाद एक—बार-बार अनुनय कर रहा था तथा जो अपने दोनो पुत्रो को धन का और क्रमप्राप्त कामभोगो का निमत्रण दे रहा था, उस (अपने पिता) पुरोहित (भृगु नामक विप्र) को दोनो कुमारो ने भली भाति सोच-विचार कर ये वाक्य कहे—

१२. वेया अहीया न भवन्ति ताणं भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

[१२] (पुत्र)—अधीत वेद अर्थात् वेदो का अध्ययन त्राण (आत्मरक्षक) नही होता । (यज्ञ-यागादि के रूप मे पशुवध के उपदेशक) द्विज (ब्राह्मण) भी भोजन कराने पर तमस्तम (घोर अन्धकार) मे ले जाते हैं । अगजात (औरस) पुत्र भी त्राण (शरण) रूप नहीं होते । अतः आपके इस (पूर्वोक्त) कथन का कौन अनुमोदन करेगा ! ।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९७-३९८

१३. खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।

[१३] ये कामभोग क्षणमात्र के लिए सुखदायी होते हैं, किन्तु फिर चिरकाल तक दुःख देते हैं । अतः ये अधिक दुःख और अल्प (अर्थात्—तुच्छ) सुख देते है । ये ससार से मुक्त होने में विपक्षभूत (बाधक) हैं और अनर्थों की खान हैं ।

१४. परिव्वयन्ते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ।।

[१४] जो काम से निवृत्त नही है, वह (अतृप्ति की ज्वाला से संतप्त होता हुआ) दिन-रात भटकता फिरता है । दूसरो (स्वजनो) के लिए प्रमत्त (आसक्तचित्त) होकर (विविध उपायो से) धन की खोज मे लगा हुआ वह पुरुष (एकदिन) जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

१५. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाण हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ।।

[१५] यह मेरा है, और यह मेरा नही है, (तथा) यह मुझे करना है और यह नही करना है; इस प्रकार व्यर्थ की बकवास (लपलप) करने वाले व्यक्ति को आयुष्य का अपहरण करने वाले दिन और रात (काल) उठा ले जाते है । ऐसी स्थिति मे प्रमाद करना कैसे उचित है ?

१६. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तव कए तप्पइ जस्स लोगो तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ।।

[१६] (पिता)—जिसकी प्राप्ति के लिए लोग तप करते है, वह प्रचुर धन है, स्त्रियाँ है, माता-पिता आदि स्वजन भी है तथा इन्द्रियो के मनोज्ञ विषय-भोग भी है, ये सब तुम्हे यही स्वाधीनरूप से प्राप्त हैं । (फिर परलोक के इन सुखो के लिए तुम क्यो भिक्षु बनना चाहते हो ?)

१७. धणेण किं धम्मधुराहिगारे सयणेण वा कामगुणेहि चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ।।

[१७] (पुत्र)—(दशविध श्रमण-) धर्म की धुरा को वहन करने के अधिकार (को पाने) मे धन से, स्वजन से या कामगुणो (इन्द्रियविषयो) से हमे क्या प्रयोजन है ? हम तो शुद्ध भिक्षा का आश्रय लेकर गुण-समूह के धारक अप्रतिबद्धविहारी श्रमण बनेगे । (इसमे हमे धन आदि की आवश्यकता ही नही रहेगी ।)

१८. जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ।।

[१८] (पिता)—पुत्रो ! जैसे अरणि के काष्ठ मे से अग्नि, दूध मे से घी, तिलो मे से तेल, (पहले असत्) विद्यमान न होते हुए भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर मे से जीव (भी पहले) असत् (था, फिर) पैदा हो जाता है और (शरीर के नाश के साथ) नष्ट हो जाता है । फिर जीव का कुछ भी अस्तित्व नही रहता ।

१९. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियय़ऽस्स बन्धो संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥

[१६] (पुत्र)—(पिता !) आत्मा अमूर्त्त है, वह इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य नही है (जाना नहीं जा सकता) और जो अमूर्त्त होता है, वह नित्य होता है । आत्मा के आन्तरिक रागादि दोष ही निश्चितरूप से उसके बन्ध के कारण है और बन्ध को ही (ज्ञानी पुरुष) ससार का हेतु कहते हैं ।

२०. जहा वयं धम्ममजाणमाणा पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥

[२०] जैसे पहले धर्म को नही जानते हुए तथा आपके द्वारा घर मे अवरुद्ध होने (रोके जाने) से एव चारो ओर से बचाने पर (घर से नही निकलने देने) से हम मोहवश पापकर्म करते रहे; परन्तु अब हम पुन उस पापकर्म का आचरण नही करेगे ।

२१. अब्भाहयंमि लोगंमि सव्वओ परिवारिए ।
अमोहाहिं पडन्तीहिं गिहंसि न रइं लभे ॥

[२१] यह लोक (जबकि) आहत (पीडित) है, चारो ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आती जा रही है, (ऐसी स्थिति मे) हम (अब) घर (ससार) मे सुख नही पा रहे हैं । (अत हमे अब अनगार बनने दो) ।

२२ केण अब्भाहओ लोगो ? केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा वुत्ता ? जाया ! चिंतावरो हुमि ॥

[२२] (पिता)—पुत्रो ! यह लोक किसके द्वारा आहत (पीडित) है ? किससे घिरा हुआ है ? अथवा अमोघा किसे कहते है ? यह जानने के लिए मै चिन्तातुर हूँ ।

२३. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता एव ताय ! वियाणह ॥

[२३] (पुत्र)—पिताजी ! आप यह निश्चित जान लें कि यह लोक मृत्यु से आहत है तथा वृद्धावस्था से घिरा हुआ है और रात्रि (रात और दिन मे समय-चक्र की गति) को अमोघा (अचूक रूप से सतत गतिशील) कहा गया है ।

२४. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ ॥

[२४] जो जो रात्रि (उपलक्षण से दिन—समय) व्यतीत हो रही है, वह लौट कर नही आती । अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल व्यतीत हो रही हैं ।

२५. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ ॥

[२५] जो-जो रात्रि व्यतीत हो रही है, वह फिर कभी वापिस लौट कर नही आती। धर्म करने वाले व्यक्ति की रात्रियां सफल होती है।

२६. एगओ संवसित्ताणं दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो भिक्खमाणा कुले कुले ॥

[२६] (पिता)—पुत्रो! पहले हम सब (तुम दोनो और हम दोनो) एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतो से युक्त हो (अर्थात्—गृहस्थधर्म का आचरण करे) और पश्चात् ढलती उम्र मे दीक्षित हो कर घर-घर से भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

२७. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया ॥

[२७] (पुत्र)—(पिताजी!) जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, अथवा जो मृत्यु आने पर भाग कर बच सकता हो, या जो यह जानता है कि मै कभी मरूंगा ही नही, वही सोच सकता है कि (आज नही) कल धर्माचरण कर लूँगा।

२८ अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥

[२८] (अत) हम तो आज ही राग को दूर करके, श्रद्धा से सक्षम हो कर मुनिधर्म को अगीकार करगे, जिसकी शरण पा कर इस ससार मे फिर जन्म न लेना पडे। कोई भी भोग हमारे लिए अनागत (—अप्राप्त—अभुक्त) नही है, (क्योकि वे अनन्त बार भोगे जा चुके है।)

विवेचन—मुणीण—दोनो कुमारो के लिये यहाँ 'मुनि' शब्द का प्रयोग भावमुनि की अपेक्षा से है। अत यहाँ मुनि शब्द का अर्थ मुनिभाव को स्वीकृत—भावमुनि समझना चाहिए।

तवस्स वाघायकर—अनशनादि बारह प्रकार के तप तथा उपलक्षण से सद्धर्माचरण मे विघ्न-कारक-बाधक।[1]

न होई असुयाण लोगो : व्याख्या—वैदिक धर्मग्रन्थो का यह मन्तव्य है कि जिसके पुत्र नही होता, उसकी सद्गति नही होती, उसका परलोक बिगड जाता है, क्योकि पुत्र के बिना पिण्डदान आदि देने वाला कोई नही होता, इसलिए अपुत्र को सद्गति या उत्तम परलोक-प्राप्ति नही होती। जैसा कि कहा है—

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चात् धर्मं समाचरेत् ॥"

अर्थात्—पुत्रहीन की सद्गति नही होती है, स्वर्ग तो किसी भी हालत मे नही मिलता। इसलिए पहले पुत्र का मुख देख कर फिर सन्यासादि धर्म का आचरण करो।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९८

२. (क) 'अनपत्यस्य लोका न सन्ति'—वेद (ख) 'पुत्रेण जायते लोक।'
(ग) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।' —ऐतरेय ब्राह्मण ७।३

अहिज्ज वेए० गाथा की व्याख्या—भृगु पुरोहित का यह कथन—अपने दोनो विरक्त पुत्रो को गृहस्थाश्रम मे रहने का अनुरोध करते हुए वैदिक धर्म की परम्परा की दृष्टि से है। इस मन्तव्य का समर्थन ब्राह्मण, धर्मसूत्र एव स्मृतियो मे मिलता है। बोधायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणों को साथ लेकर उत्पन्न होता है, यथा—ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण। ऋषिऋण—वेदाध्ययन व स्वाध्याय के द्वारा, पितृऋण—गृहस्थाश्रम स्वीकार करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा और देवऋण—यज्ञ-यागादि के द्वारा चुकाया जाता है। इन ऋणो को चुकाने के लिए यज्ञादिपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक मे पहुँचता है, किन्तु इसे छोड कर यानी वेदो को पढे विना, पुत्रो को उत्पन्न किये विना और यज्ञ किये विना, जो ब्राह्मण मोक्ष या ब्रह्मचर्य या सन्यास की इच्छा करता है या प्रशसा करता है वह नरक मे जाता है या धूल मे मिल जाता है।

महाभारत मे भी ब्राह्मण के लिए इसी विधान की पुष्टि मिलती है। प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'अहिज्ज वेए' से ब्रह्मचर्याश्रम स्वीकार करने का तथा परिविस्स विप्पे इत्यादि शेष पदो से गृहस्थाश्रम स्वीकार सूचित होता है।

आरण्णगा मुणी—ऐतरेय, कौषीतकी, तैत्तिरीय एव बृहदारण्यक आदि ब्राह्मणग्रन्थ या उपनिषद् आरण्यक कहलाते है। इनमे वर्णित विषयो के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास स्वीकार किया जाता था, इस दृष्टि से आरण्यक का अर्थ—आरण्यकव्रतधारी किया गया है। इस गाथा मे प्रयुक्त इन दोनो पदो के दो अर्थ बृहद्वृत्ति मे किये गए है—(१) आरण्यकव्रतधारी मुनि—तपस्वी होना। (२) आरण्यक शब्द से वानप्रस्थाश्रम और मुनि शब्द से सन्यासाश्रम ये दो अर्थ सूचित होते है।[1]

वेया अहीया न भवंति ताणं—ऋग्वेद आदि वेदशास्त्रो के अध्ययन मात्र से किसी की दुर्गति से रक्षा नही हो सकती। कहा भी है—हे युधिष्ठिर जो ब्राह्मण सिर्फ वेद पढा हुआ है, वह अकारण है, क्योकि अगर वेद पढने मात्र से आत्मरक्षा हो जाती तो जिसे शील रुचिकर नही है, ऐसा दु शील भी वेद पढता है।

भुत्ता दिआ०—भोजन कराए हुए ब्राह्मण कैसे तमस्तम मे ले जाते है? इसका रहस्य यह है कि जो ब्राह्मण वैडालिक वृत्ति के है, जो यज्ञादि मे होने वाली पशुहिसा के उपदेशक है, कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं, ऐसे ब्राह्मणो की प्रेरणा से व्यक्ति महारम्भ करके तथा पशुवध करके घोर नरक के मेहमान बनते है। क्योकि पचेन्द्रियवध नरक का कारण है। इस दृष्टि से कहा गया है कि जो ऐसे वैडालिक ब्राह्मणो को भोजन कराते है, उन्हे वैसे अनाचारी ब्राह्मण तमस्तम नामक सप्तम नरक मे जाने के कारण बनते है। अथवा तमस्तम का अर्थ—अज्ञान-अन्धविश्वास आदि घोर अन्धकार है, अत ऐसे दु शील ब्राह्मण यजमान को अज्ञान-अन्धविश्वास रूपी अन्धकार मे ले जाते है।

जाया य पुत्ता न हवंति ताणं—वास्तव मे पुत्र किसी भी माता-पिता को नरकादि गतियो मे जाने से बचा नही सकते। उनके ही धर्मग्रन्थो मे कहा है—यदि पुत्रो के द्वारा पिण्डदान से ही स्वर्ग मिल जाता हो तो फिर दान आदि धर्मों का आचरण व्यर्थ हो जाएगा। दान के लिए फिर धन-धान्य का व्यय करके घर खाली करने की क्या जरूरत है? परन्तु ऐसी बात युक्तिविरुद्ध है। 'यदि

---

१ (क) बोधायन धर्मसूत्र २।६।११।३३-३४ (ख) मनुस्मृति ३।१३१, १८६-१८७
(ग) महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म अ २७७ (घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ३९९

पुत्र उत्पन्न करने से ही स्वर्ग प्राप्त होता तो डुली (कच्छपी), गोह, सूअरी तथा मुर्गे आदि अनेक पुत्रो वाले पशुपक्षियो को सर्वप्रथम स्वर्ग मिल जाना चाहिए, तत्पश्चात् अन्य लोगो को। प्रस्तुत गाथा (सं.१२) मे वेद पढ कर आदि तीन बातो का समाधान दिया गया है, चौथी बात थी—भोग-भोगकर बाद मे सन्यास लेना—उसके उत्तर मे १३-१४-१५ वी गाथा है।[1]

अन्नपमत्ते धणमेसमाणे०—एक ओर कामनाओ से अतृप्त व्यक्ति विषयसुखो की प्राप्ति के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है, दूसरी ओर वह स्वजन आदि अन्य लोगो के लिए अथवा अन्न (आहार) के लिए आसक्तचित्त होकर विविध उपायो से धन के पीछे पागल बना रहता है, ऐसे व्यक्ति के मनोरथ पूर्ण नही होते और बीच मे बुढापा और मृत्यु उसे धर दबाते है। वह धर्म मे उद्यम किये विना यो ही खाली हाथ चला जाता है।[2]

धणेण किं धम्मधुराहिगारे०—इस गाथा का आशय यह है कि मुनिधर्म के आचरण मे, भिक्षाचरी मे, सम्यग्दर्शनादि गुणो के धारण करने मे, अथवा सयम-पालन मे धन की कोई आवश्यकता नही रहती, स्वजनो की भी आवश्यकता नही रहती, क्योकि महाव्रतादि का पालन व्यक्तिगत है। और न ही कामभोगो की इनमे अपेक्षा है, बल्कि कामभोग, धन या स्वजन सयम मे बाधक है। इसीलिए वेद मे कहा है—**"न प्रजया, न धनेन, त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।"** अर्थात्—न सन्तान से और न धन से, किन्तु एकमात्र त्याग से ही लोगो ने अमृतत्व प्राप्त किया है।[3]

जहा य अग्गी० : गाथा का तात्पर्य—इस गाथा मे भृगु पुरोहित द्वारा अपने पुत्रो को आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करके सशय मे डालने का उपक्रम किया गया है। क्योकि समस्त धर्मसाधनाओ का मूल आत्मा है। आत्मा को शुद्ध और विकसित करने के लिए ही मुनिधर्म की साधना है। अत पुरोहित का आशय था कि आत्मा के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया जाए तो मुनि बनने की उनकी भावना स्वत समाप्त हो जाएगी। यहाँ असद्वादियो का मत प्रस्तुत किया गया है, जिसमे आत्मा को उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' माना जाता है। मद्य की तरह कारणसामग्री मिलने पर वह उत्पन्न एव विनष्ट हो जाती है। अवस्थित नही रहती, अर्थात् जन्मान्तर मे नही जाती। नास्तिक लोग आत्मा को 'असत्' इसलिए मानते है कि जन्म से पहले उसका कोई अस्तित्व नही होता, वे अनवस्थित इसलिए मानते है कि मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व नही रहता। तात्पर्य यह है नास्तिको के मत मे आत्मा न तो शरीर मे प्रवेश करते समय दृष्टिगोचर होती है, न ही शरीर छूटते समय, अतएव आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नही है। वस्तुत सर्वथा असत् की उत्पत्ति नही होती। उत्पन्न वही होता है जो पहले भी हो और पीछे भी। जो पहले भी नही होता, पीछे भी नही होता, वह बीच मे कैसे हो सकता

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४००

यदि पुत्राद् भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते।
मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो निरर्थक ॥१॥
बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च।
तेषा च प्रथम स्वर्ग पश्चाल्लोको गमिष्यति ॥२॥

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१ (ख) वेद, उपनिषद्

है ? यह आचाराग आदि मे स्पष्ट कहा गया है ।[1]

कुमारों द्वारा प्रतिवाद—आत्मा को असत् बताने का खण्डन करते हुए कुमारो ने कहा—'आत्मा चर्मचक्षुओ से नही दिखती, इतने मात्र से उसका अस्तित्व न मानना युक्तिसगत नही। इन्द्रियो के द्वारा मूर्त द्रव्यो को ही जाना जा सकता है, अमूर्त्त को नही। आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नही है। अत कुमारो ने इस गाथा द्वारा ४ तथ्यो का निरूपण कर दिया—(१) आत्मा है, (२) वह अमूर्त्त होने से नित्य है, (३) अध्यात्मदोष—(आत्मा मे होने वाले मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोष) के कारण कर्मबन्ध होता है और (४) कर्मबन्ध के कारण वह बार-बार जन्म-मरण करती है ।[2]

नो इन्दियगेज्झ० : दो अर्थ—(१) चूर्णि मे नोइन्द्रिय एक शब्द मान कर अर्थ किया है—अमूर्त्त भावमन द्वारा ग्राह्य है, (२) बृहद्वृत्ति मे नो और इन्द्रिय को पृथक्-पृथक् मान कर अर्थ किया है—अमूर्त वस्तु इन्द्रियग्राह्य नही है ।[3]

धम्मं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म ।

ओरुज्झमाणा परिरक्खयता—पिता के द्वारा अवरुद्ध—घर से बाहर जाने से रोके गए थे। अथवा साधुओ के दर्शन से रोके गए थे। घर मे ही रखे गए थे। या बाहर न निकलने पाएँ ऐसे कडे पहरे मे रखे गए थे ।[4]

मच्चुणाऽब्भाहओ लोओ—मृत्यु की सर्वत्र निराबाध गति है, इसलिए यह विश्व मृत्यु द्वारा पीडित है ।

अमोहा . अमोघ—अमोघा का यो तो अर्थ होता है—अव्यर्थ, अचूक । परन्तु प्रस्तुत गाथा मे अमोघा का प्रयोग 'रात्रि' के अर्थ मे किया गया है, उसका कारण यह है कि लोकोक्ति के अनुसार मृत्यु को कालरात्रि कहा जाता है। बृहद्वृत्ति मे उपलक्षण मे दिन का भी ग्रहण किया गया है ।[5]

दुहओ—यहाँ दुहओ का अर्थ है—तुम दोनो और हम (माता-पिता) दोनो ।

पच्छा—पश्चात् यहाँ पश्चिम अवस्था—बुढापे मे मुनि बनने का सकेत है। इससे वैदिकधर्म की आश्रमव्यवस्था भी सूचित होती है ।[6]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१-४०२
'आत्मास्तित्वमूलत्वात् सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहित ।'
(ख) आचाराग १।४।४।४६ **'जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया ?'**

२. (क) **अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते ।** —बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२
(ख) **'कोह च माण च तहेव माय लोभ चउत्थ अज्झत्थदोसा ।'** —सूत्रकृतांग १।६।२५

३ (क) 'नोइन्द्रिय मन ।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ २२६
(ख) नो इति प्रतिषेधे, इन्द्रियै श्रोत्रादिभिर्ग्राह्य -सवेद्य इन्द्रियग्राह्य । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२

४. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४०३ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ८४१

५ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ २२७ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०३

६ (क) वही, पत्र ४०४ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ २२७

अणागयं नेव य अत्थि किंचि : तीन अर्थ—(१) अनागत—अप्राप्त (मनोज्ञ सासारिक कोई भी विषयसुखभोग आदि अभुक्त) नही हैं, क्योकि अनादि काल से ससार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा के लिए कुछ भी अभुक्त नही है। सब कुछ पहले प्राप्त हो (भोगा जा) चुका है। पदार्थ या भोग की प्राप्ति के लिए घर मे रहना आवश्यक नही है। (२) जहाँ मृत्यु की आगति—पहुँच—न हो, ऐसा कोई स्थान नही है। (३) आगतिरहित (अनागत) कोई भी नही है, जरा, मरण आदि दु ख-समूह सब आगतिमान् है। क्योकि संसारी जीवो के लिए ये अटल है, अनिवार्य है।[1]

विणइत्तु रागं—राग का अर्थ यहाँ प्रसगवश स्वजनो के प्रति आसक्ति है। वास्तव मे कौन किसका स्वजन है और कौन किसका स्वजन नही है? आगम मे कहा है—(प्र०) 'भते! क्या यह जीव इस जन्म से पूर्व माता, पिता, भाई, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी के रूप मे तथा मित्र-स्वजन-सम्बन्धी से परिचित के रूप मे उत्पन्न हुआ है?' (उ०) हाँ, गौतम! (एक बार नही), बार-बार यहाँ तक कि अनन्तवार तथारूप मे उत्पन्न हुआ है।[2]

प्रबुद्ध पुरोहित, अपनी पत्नी से

२९. पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं॥

[२९] (प्रबुद्ध पुरोहित)—हे वाशिष्ठि! पुत्रो से विहीन (इस घर मे) मेरा निवास नही हो सकता। (अब मेरा) भिक्षाचर्या का काल (आ गया) है। वृक्ष शाखाओ से ही शोभा पाता है (समाधि को प्राप्त होता है)। शाखाओ के कट जाने पर वही वृक्ष ठ्ठ कहलाने लगता है।

३०. पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी भिच्चा विहूणो व्व रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि॥

[३०] इस लोक मे जैसे पाखो से रहित पक्षी तथा रणक्षेत्र मे भृत्यो-सुभटो के बिना राजा, नष्ट (टूटे) जलपोत (जहाज) पर के स्वर्णादि द्रव्य नष्ट हो जाने पर जैसे वणिक् असहाय होकर दु ख पाता है, वैसे ही मैं भी पुत्रो के बिना (असहाय होकर दु खी) हूँ।

३१. सुसंभिया कामगुणा इमे ते संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥

[३१] (पुरोहित-पत्नी)—तुम्हारे (घर मे) सुसस्कृत और सम्यक् रूप से सगृहीत प्रधान शृंगारादि ये रसमय जो कामभोग हमे प्राप्त है, इन कामभोगो को अभी हम खूब भोग ले, उसके पश्चात् हम मुनिधर्म के प्रधानमार्ग पर चलेगे।

३२, भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०४

२ (क) वही, पत्र ४०५

(ख) "अयं णं भंते! जीवे एगमेगस्स जीवस्स माइत्ताए (पियत्ताए) भाइत्ताए, पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए, भज्जत्ताए सुहि-सयण-संबंध-सथुयत्ताए उववण्णपुव्वे?, हंता गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो।"

[३२] (पुरोहित)—भवति ! (प्रिये !) हम विषय-रसो को भोग चुके है। (अभीष्ट क्रिया करने मे समर्थ) वय हमे छोडता जा रहा है। मै (असयमी या स्वर्गीय) जीवन (पाने) के लिए भोगो को नही छोड रहा हूँ। लाभ और अलाभ, सुख और दु ख को समभाव से देखता हुआ मुनिधर्म का आचरण करू गा। (अर्थात्—मुक्ति के लिए ही मुझे दीक्षा लेनी है, कामभोगो के लिए नही)।

३३. मा हू तुमं सोयरियाण सम्भरे जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो॥

[३३] (पुरोहितपत्नी)—प्रतिस्रोत (उलटे प्रवाह) मे बहने वाले बूढे हस की तरह कही तुम्हे फिर अपने सहोदर भाइयो (स्वजन-सम्बन्धियो) को याद न करना पडे ! अत मेरे साथ भोगो को भोगो। यह भिक्षाचर्या और (ग्रामानुग्राम) विहार करना आदि वास्तव मे दु खरूप ही है।

३४. जहा य भोई ! तणुयं भुयगो निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहन्ति भोए ते ह कह नाणुगमिस्समेक्को॥

[३४] (पुरोहित)—भवति ! (प्रिये !) जैसे सर्प शरीर से उत्पन्न हुई केचुली को छोड कर मुक्त मन से (निरपेक्षभाव से) आगे चल पडता है, वैसे ही दोनो पुत्र भोगो को छोड कर चले जा रहे है। तब मै अकेला क्यो रहूँ ? क्यो न उनका अनुगमन करू ?

३५. छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति॥

[३५] जैसे रोहित मच्छ कमजोर जाल को (तीक्ष्ण पूछ आदि से) काट कर बाहर निकल जाते है, वैसे ही (जाल के समान बन्धनरूप) कामभोगो को छोड कर धारण किये हुए गुरुतर भार को वहन करने वाले उदार (प्रधान), तपस्वी एव धीर साधक भिक्षाचर्या (महाव्रती भिक्षु की चर्या) को अगीकार करते है। (अत मैं भी इसी प्रकार की साधुचर्या ग्रहण करू गा)।

३६. जहेव कुंचा समइक्कमन्ता तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं ते हं कह नाणुगमिस्समेक्का ?

[३६] (प्रतिबुद्ध पुरोहितपत्नी यशा)—जैसे क्रौच पक्षी और हस उन-उन स्थानो को लाघते हुए बहेलियो द्वारा फैलाये हुए जालो को तोड कर आकाश मे स्वतन्त्र उड जाते हैं, वैसे ही मेरे पुत्र और पति छोड़ कर चले जा रहे हैं, तब मै पीछे अकेली रह कर क्या करू गी ? मै भी क्यो न उनका अनुगमन करू ?

(इस प्रकार पुरोहितपरिवार के चारो सदस्यों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली)।

विवेचन—वासिट्ठि वाशिष्ठि—यह पुरोहित द्वारा अपनी पत्नी को किया गया सम्बोधन है। इसका अर्थ है—'हे वशिष्ठगोत्रोत्पन्ने !' प्राचीन काल मे गोत्र से सम्बोधित करना गौरवपूर्ण समझा जाता था।

समाहिं लहई—शब्दश अर्थ होता है—शाखाओ से वृक्ष समाधि (स्वास्थ्य) प्राप्त करता है,

किन्तु इसका भावार्थ है—शोभा पाता है। शाखाएँ वृक्ष की शोभा, सुरक्षा और सहायता करने के कारण समाधि की हेतु हैं।[1]

पहीणपुत्तस्स० : आदि गाथाद्वय का तात्पर्य—जैसे शाखाएँ वृक्ष की शोभा, सुरक्षा और सहायता करने मे कारणभूत हैं, वैसे ही मेरे लिए ये दोनो पुत्र है। पुत्रो से रहित-अकेला मैं सूखे ठूठ के समान हूँ। पाखो से रहित पक्षी उडने मे असमर्थ हो जाता है तथा रणक्षेत्र मे सेना के बिना राजा शत्रुओ से पराजित हो जाता है और जहाज के टूट जाने से उसमे रखे हुए सोना, रत्न आदि सारभूत तत्त्व नष्ट हो जाने पर वणिक् विषादमग्न हो जाता है, वैसे ही पुत्रो के बिना मेरी दशा है।[2]

अग्गरसा : तीन अर्थ—(१) अग्र—प्रधान मधुर आदि रस। यद्यपि रस कामगुणो के अन्तर्गत आ जाते है, तथापि शब्दादि पाचो विषय-रसों मे इनके प्रति आसक्ति अधिक होने से इनका पृथक् ग्रहण किया गया है। ये प्रधान रस है। अथवा (२) कामगुणो का विशेषण होने से अग्र—रस—शृ गारादि रस वाले अर्थ होता है। (३) प्राचीन व्याख्याकारो के अनुसार—रसो अर्थात्—सुखो मे अग्र जो कामगुण है।[3]

पच्छा—पश्चात्—भुक्तभोगी होकर बाद मे अर्थात् वृद्धावस्था मे।

पहाणमग्गं—महापुरुषसेवित प्रव्रज्यारूप मुक्तिपथ।

भोइ-भवति—यह सम्बोधन वचन है, जिसका भावार्थ है—हे ब्राह्मणि!।

पडिसोयगामी—प्रतिकूल प्रवाह की ओर गमन करने वाला।

जुण्णो व हसो पडिसोयगामी—जैसे बूढा—अशक्त हस नदी के प्रवाह के प्रतिकूल गमन शुरू करने पर भी अशक्त होने पर पुन अनुकूल प्रवाह की ओर दौडता है, वैसे ही आप (पुरोहित) भी दुष्कर सयमभार को वहन करने मे असमर्थ होकर कही ऐसा न हो कि पुन अपने बन्धु-बान्धवो या पूर्वभुक्त भोगो को स्मरण करे।[4]

पुरोहित का पत्नी के प्रति गृहत्याग का निश्चय कथन—३४ वी गाथा का आशय यह है कि जब ये हमारे दोनो पुत्र भोगो को साँप के द्वारा केंचुली के त्याग की तरह त्याग रहे है, तब मै भुक्त-भोगी इन भोगो को क्यो नही त्याग सकता? पुत्रो के बिना असहाय होकर गृहवास मे मेरे रहने से क्या प्रयोजन है?[5]

धोरेयसीला—धुरा को जो वहन करे वे धौरेय। उनकी तरह अर्थात्—उठाये हुए भार को अन्त तक वहन करने वाले धौरेय—धोरी बैल होते है, उनकी तरह जिनका स्वभाव है। अर्थात—महाव्रतो या संयम के उठाए हुए भार को अन्त तक जो वहन करने वाले है।[6]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४०५

२ वही, पत्र ४०५

३ वही, पत्र ४०६

४ वही, पत्र ४०६

५ वही, पत्र ४०७

६ वही, पत्र ४०७

क्रौंच और हंस की उपमा—पुरोहितानी द्वारा क्रौंच की उपमा स्त्री-पुत्र आदि के बन्धन से रहित अपने पुत्रों की अपेक्षा से दी गई है। हंस की उपमा इसके विपरीत स्त्री-पुत्रादि के बन्धन से युक्त अपने पति की अपेक्षा से दी गई है।[1]

पुरोहित-परिवार के दीक्षित होने पर रानी और राजा की प्रतिक्रिया एवं प्रतिबुद्धता

३७. पुरोहियं तं ससुयं सदारं सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं रायं अभिक्खं समुवाय देवी॥

[३७] पुत्र और पत्नी के साथ पुरोहित ने भोगों को त्याग कर अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) किया है, यह सुन कर उस कुटुम्ब की प्रचुर और श्रेष्ठ धन-सम्पत्ति की चाह रखने वाले राजा को रानी कमलावती ने बार-बार कहा—

३८. वन्तासी पुरिसो राय! न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं धणं आदाउमिच्छसि॥

[३८] (रानी कमलावती)—हे राजन्! जो वमन किये हुए का उपभोग करता है वह पुरुष प्रशंसनीय नहीं होता। तुम ब्राह्मण (भृगु पुरोहित) के द्वारा त्यागे हुए धन को (अपने अधिकार में) लेने की इच्छा रखते हो।

३९. सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव॥

[३९] (मेरी दृष्टि से) सारा जगत् और जगत् का सारा धन भी यदि तुम्हारा हो जाए, तो भी वह सब तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होगा। वह तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।

४०. मरिहिसि राय! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

[४०] राजन्! इन मनोज्ञ काम-गुणों को छोड कर जब या तब (एक दिन) मरना होगा। उस समय धर्म ही एकमात्र त्राता (संरक्षक) होगा। हे नरदेव! यहाँ धर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी रक्षक नहीं है।

४१. नाहं रमे पक्खिणी पंजरे वा संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारम्भनियत्तदोसा॥

[४१] जैसे पक्षिणी पींजरे में सुख का अनुभव नहीं करती, वैसे मैं भी यहाँ आनन्द का अनुभव नहीं करती। अतः मैं स्नेह-परम्परा का बन्धन काट कर अकिंचन, सरल, निरामिष (विषय-रूपी आमिष से रहित) तथा परिग्रह और आरम्भरूपी दोषों से निवृत्त होकर मुनिधर्म का आचरण करूंगी।

४२. दवग्गिणा जहा रण्णे डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति रागद्दोसवसं गया॥

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४०७

४३. एवमेव वयं मूढा कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो रागद्दोसऽग्गिणा जगं ॥

[४२-४३] जैसे वन मे लगे हुए दावानल मे जलते हुए जन्तुओ को देख कर रागद्वेषवश अन्य जीव प्रमुदित होते हैं—

इसी प्रकार कामभोगो मे मूर्च्छित हम मूढ लोग भी रागद्वेष की अग्नि मे जलते हुए जगत् को नही समझ रहे हैं ।

४४. भोगे भोच्चा वमित्ता य लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति दिया कामकमा इव ॥

[४४] आत्मार्थी साधक भोगो को भोग कर तथा यथावसर उनका त्याग करके वायु की तरह अप्रतिबद्धविहारी—लघुभूत होकर विचरण करते है । अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र विचरण करने वाले पक्षियो की तरह वे साधुचर्या करने मे प्रसन्न होते हुए स्वतन्त्र विहार करते है ।

४५. इमे य बद्धा फन्दन्ति मम हत्थऽज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु भविस्सामो जहा इमे ॥

[४५] हे आर्य ! हमारे (मेरे और आपके) हस्तगत हुए ये कामभोग जिन्हे हमने नियन्त्रित (बद्ध समझ रखा है, वे क्षणिक है, नष्ट हो जाते है ।) और हम तो (उन्ही क्षणिक) कामभोगो मे आसक्त है, किन्तु जैसे ये (पुरोहितपरिवार के चार सभ्य) बन्धनमुक्त हुए है, वैसे ही हम भी होगे ।

४६. सामिस कुलल दिस्स बज्झमाण निरामिसं ।
आमिस सव्वमुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा ॥

[४६] मास सहित गिद्ध को देख उस पर दूसरे मासभक्षी पक्षी झपटते हैं (उसे बाधा-पीडा पहुँचाते है) और जिसके पास मास नही होता उस पर नही झपटते, उन्हे देख कर मैं भी आमिष, अर्थात् मास के समान समस्त कामभोगो को छोड कर निरामिष (नि सग) होकर अप्रतिबद्ध विहार करू गी ।

४७. गिद्धोवमे उ नच्चाण कामे ससारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे व संकमाणो तणु चरे ॥

[४७] ससार को बढाने वाले कामभोगो को गिद्ध के समान जान कर उनसे वैसे ही शकित हो कर चलना चाहिए, जैसे गरुड के निकट साप शकित हो कर चलता है ।

४८. नागो व्व बन्धणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए ।
एयं पत्थं महारायं ! उसुयारि त्ति मे सुयं ॥

[४८] जैसे हाथी बन्धन को तोड कर अपने निवासस्थान (बस्ती—वन) मे चला जाता है, इसी प्रकार हे महाराज इषुकार ! हमे भी अपने (आत्मा के) वास्तविक स्थान (मोक्ष) मे चलना चाहिए । यही एकमात्र पथ्य (आत्मा के लिए हितकारक) है, ऐसा मैंने (ज्ञानियो से) सुना है ।

विवेचन—'वंतासी वान्ताशी'—भृगुपुरोहित के सपरिवार दीक्षित होने के बाद राजा इषुकार उसके द्वारा परित्यक्त धन को लावारिस समझ कर ग्रहण करना चाहता था, इसलिए रानी कमलावती ने प्रकारान्तर से राजा को वान्ताशी (वमन किये हुए का खाने वाला) कहा ।[1]

नाहं रमे.:—जैसे पक्षिणी पीजरे मे आनन्द नही मानती, वैसे ही मै भी जरा-मरणादि उपद्रवो से पूर्ण भवपजर मे आनन्द नही मानती ।[2]

संताणछिन्ना : छिन्नसंताना—स्नेह-सतति-परम्परागत राग के बन्धन को काट कर ।

निरामिसा, सामिस आदि शब्दो का भावार्थ—४१ वी गाथा मे निरामिसा का, ४६ वी मे सामिस, निरामिस,आमिस और निरामिसा शब्दो का चार बार प्रयोग हुआ है । अन्त मे ४९ वी गाथा मे 'निरामिसा' शब्द प्रयुक्त हुआ है । प्रथम अन्तिम निरामिषा शब्द का अर्थ है—गृद्धि हेतुभूत मनोज्ञ शब्दादि कामभोग अथवा धन । ४६ वी गाथा के प्रथम दो चरणो मे वह मास के अर्थ मे तथा शेष स्थानो मे गृद्धिहेतुभूत मनोज्ञ शब्दादि कामभोग के अर्थ मे प्रयुक्त है ।[3]

परिग्गहारम्भनियत्तऽदोसा : दो रूप : दो अर्थ—(१) परिग्रहारम्भनिवृत्ता और अदोषा (दोषरहित) (२) परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता—परिग्रह और आरम्भरूप दोषो से निवृत्त ।

लहुभूयविहारिणो : दो अर्थ—(१) वायु की तरह लघुभूत—अप्रतिबद्ध हो कर विचरण करने वाले, (२) लघु अर्थात् सयम मे विचरण करने के स्वभाव वाले ।[4]

दिया कामकमा इव—काम—इच्छानुसार क्रमा— चलने वाले । अर्थात्—जैसे पक्षी स्वेच्छानुसार जहाँ चाहे, वहाँ उन्मुक्त एव स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करते है, वैसे हम भी स्वेच्छा से स्वतत्रतापूर्वक विचरण करेगे ।

बद्धा फंदंते—बद्ध—अनेक उपायो से नियत्रित-सुरक्षित किये जाने पर भी स्पन्दन करते है—क्षणिक हैं, इसलिए चले जाते है ।[5]

राजा, रानी की प्रव्रज्या एवं छहों मुमुक्षु आत्माओं की क्रमशः मुक्ति

४९. चइत्ता विउलं रज्जं कामभोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा निन्नेहा निप्परिग्गहा ।।

[४९] विशाल राज्य और दुस्त्यज कामभोगो का परित्याग कर वे राजा और रानी भी निर्विषय (विषयो की आसक्ति से रहित), निरामिष, स्नेह-(सासारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति) से रहित एव निष्परिग्रह हो गए ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्राक ४०८
२ वही, पत्र ४०९
३ वही, पत्र ४०९-४१०
४. वही, पत्र ४०९
५. वही, पत्र ४१०

५०. सम्मं धम्मं वियाणित्ता चेच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झऽहक्खायं घोरं घोरपरक्कमा॥

[५०] धर्म को भलीभाति जान कर, फलत उपलब्ध श्रेष्ठ कामगुणो को छोड कर तथा जिनवरो द्वारा यथोपदिष्ट घोर तप को स्वीकार कर दोनो ही तप-सयम मे घोर पराक्रमी बने।

५१. एवं ते कमसो बुद्धा सव्वे धम्मपरायणा।
जम्म-मच्चुभउव्विग्गा दुक्खस्सन्तगवेसिणो॥

[५१] इस प्रकार वे सब (छहो मुमुक्षु आत्मा) क्रमश बुद्ध (प्रतिबुद्ध अथवा तत्त्वज्ञ) हुए, धर्म (चारित्रधर्म) मे तत्पर हुए, जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हुए, अतएव दु ख के अन्त का अन्वेषण करने मे लग गए।

५२. सासणे विगयमोहाण पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण दुक्खस्सन्तमुवागया॥

५३. राया सह देवीए माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव सव्वे ते परिनिव्वुडे॥
—त्ति बेमि।

[५२-५३] जिन्होने पूर्वजन्म मे अपनी आत्मा को अनित्य, अशरण आदि भावनाओ से भावित किया था, वे सब रानी (कमलावती) सहित राजा (इषुकार), ब्राह्मण (भृगु) पुरोहित, उसकी पत्नी ब्राह्मणी (यशा) और उनके दोनो पुत्र, वीतराग अर्हत्-शासन मे (आ कर) मोह को दूर करके थोडे ही समय मे, दु ख का अन्त कर परिनिर्वृत्त-(मुक्त) हो गए। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—रज्ज : के दो अर्थ—(१) राष्ट्र-राज्यमण्डल, अथवा (२) राज्य।

निव्विसया निरामिसा : दो अर्थ—(१) राजा-रानी दोनो शब्दादि विषयो से रहित हुए अत भोगासक्ति के कारणो से रहित हुए। (२) अथवा विषय अर्थात्—(अपने राष्ट्र का परित्याग करने के कारण) देश से विरहित हुए तथा कामभोगो का परित्याग करने के कारण निरामिष-विषय-भोगो की आसक्ति के कारणो से दूर हो गए।

निन्नेहा निप्परिग्गहा—नि स्नेह -किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध या प्रतिबद्धता से रहित, अतएव निष्परिग्रह—सचित्त-अचित्त, विद्यमान-अविद्यमान, द्रव्य और भाव सभी प्रकार के परिग्रहो से रहित हुए।

सम्मं धम्मं वियाणित्ता—धर्म-श्रुत-चारित्रात्मक धर्म को सम्यक्-प्रकार से जान कर।[1]

घोरं घोरपरक्कमा : व्याख्या—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार तीर्थकरादि के द्वारा यथोपदिष्ट अनशनादि घोर—अत्यन्तदुष्कर—उत्कट तप स्वीकार करके शत्रु के प्रति रौद्र पराक्रम की तरह कर्मशत्रुओ का क्षय करने मे धर्माचरण विषयक घोर—कठोर पराक्रम वाले बने। (२) तत्त्वार्थराज-

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४११

वार्तिक के अनुसार ज्वर, सन्निपात आदि अत्यन्त भयकर रोगो के होने पर भी जो अनशन, कायक्लेश आदि तपश्चरण मे शिथिल नही होते और जो भयावह श्मशान, पर्वत-गुफा आदि मे निवास करने मे अभ्यस्त होते हैं, वे **'घोर तपस्वी** है और ऐसे घोर तपस्वी जब अपने तप और योग को उत्तरोत्तर बढाते जाते हैं, तब वे **'घोरपराक्रमी'** कहलाते है। तप के अतिशय की जो सात प्रकार की ऋद्धियाँ बताई है, उनमे छठी ऋद्धि **'घोरपराक्रम'** है।[1]

धम्मपरायणा : दो रूप . दो अर्थ—(१) धर्मपरायण—धर्मनिष्ठ। अथवा (२) धम्मपरपर (पाठान्तर)—धर्मपरम्पर—जिन्हे परम्परा से (साधुदर्शन मे दोनो कुमारो को, कुमारो के निमित्त से पुरोहित-पुरोहितानी को, इन दोनो के निमित्त से रानी कमलावती को और रानी के द्वारा राजा को) धर्म मिला, ऐसे।[2]

॥ इषुकारीय : चौदहवां अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४११ (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ २०३

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४११

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुकम्

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम सभिक्षुक है। इसमे भिक्षु के लक्षणो का सांगोपांग निरूपण है। दशवैकालिक का दसवा अध्ययन 'सभिक्षु' है, उसमें २१ गाथाएँ हैं। प्रस्तुत अध्ययन भी सभिक्षुक है। दोनो के शब्द और उद्देश्य मे सदृशता होते हुए भी दोनो के वर्णन मे अन्तर है। इस अध्ययन मे केवल १६ गाथाएँ है, परन्तु दशवैकालिकसूत्र के उक्त अध्ययन के पदो मे कही-कही समानता होने पर भी भिक्षु के अधिकाश विशेषण नए हैं। प्रस्तुत समग्र अध्ययन से भिक्षु के जीवनयापन की विधि का सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

* भिक्षु का अर्थ जैसे-तैसे सरस-स्वादिष्ट आहार भिक्षा द्वारा लाने और पेट भर लेने वाला नही है। जो भिक्षु अपने लक्ष्य के प्रति तथा मोक्षलक्ष्यी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के प्रति जागरूक नही होता, केवल सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि आदि के चक्कर मे पडकर अपने सयमी जीवन को खो देता है, वह मात्र द्रव्यभिक्षु है। वह वेश और नाम से ही भिक्षु है, वास्तविक भावभिक्षु नही है। भावभिक्षु के लक्षणो का ही इस अध्ययन मे निरूपण है।

* प्रथम दो गाथाओ मे भिक्षु को मुनिभाव की साधना द्वारा मोक्षप्राप्ति मे बाधक निम्नोक्त बातो से दूर रहने वाला बताया है—(१) राग-द्वेष, (२) माया-कपट पूर्वक आचरण-दम्भ, (३) निदान, (४) कामभोगो की अभिलाषा, (५) अपना परिचय देकर भिक्षादिग्रहण, (६) प्रतिबद्ध विहार, (७) रात्रिभोजन एव रात्रिविहार, (८) सदोष आहार, (९) आश्रवरति, (१०) सिद्धान्त का अज्ञान, (११) आत्मरक्षा के प्रति लापरवाही, (१२) अप्राज्ञता, (१३) परीषहो से पराजित होना, (१४) आत्मौपम्य-भावनाविहीनता, (१५) सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति)।

* तीसरी से छठी गाथा तक मे वर्णन है कि जो भिक्षु आक्रोश, वध, शीत, उष्ण, दश-मशक, निषद्या, शय्या, सत्कार-पुरस्कार आदि अनुकूल-प्रतिकूल परीषहो मे हर्ष-शोक से दूर रहकर उन्हे समभाव से सहन करता है, जो संयत, सुव्रत, सुतपस्वी एव ज्ञान-दर्शनयुक्त आत्मगवेषक है तथा उन स्त्री-पुरुषो से दूर रहता है, जिनके सग से असयम मे पड़ जाए और मोह के बन्धन मे बँध जाए, कुतूहलवृत्ति तथा व्यर्थ के सम्पर्क एव भ्रमण से दूर रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

* सातवी और आठवी गाथा मे छिन्ननिमित्त आदि विद्याओं, मन्त्र, मूल, वमन, विरेचन औषधि एव चिकित्सा आदि के प्रयोगो से जीविका नही करने वाले को भिक्षु बताया गया है। आगमयुग मे आजीविक आदि श्रमण इन विद्याओ तथा मन्त्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान् महावीर ने इन सबको दोषावह जान कर इनके प्रयोग से आजीविका चलाने का निषेध किया है।

* नौवी और दसवी गाथा मे बताया है कि सच्चा भिक्षु अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए धनिकों, सत्ताधारियो या उच्चपदाधिकारियो की प्रशसा या चापलूसी नही करता, न पूर्वपरिचितो की प्रशसा या परिचय करता है और न निर्धनों की निन्दा एव छोटे व्यक्तियो का तिरस्कार करता है ।

* ११ वी से १३ वी गाथा तक मे बताया गया है कि आहार एव भिक्षा के विषय मे सच्चा भिक्षु बहुत सावधान रहता है, वह न देने वाले या मागने पर इन्कार करने वाले के प्रति मन मे द्वेष-भाव नही लाता और न आहार पाने के लोभ से गृहस्थ का किसी प्रकार का उपकार करता है । अपितु मन-वचन-काया से सुसवृत होकर नि.स्वार्थ भाव से उपकार करता है । वह नीरस एवं तुच्छ भिक्षा मिलने पर दाताकी निन्दा नही करता, न सामान्य घरो को टालकर उच्च घरो से भिक्षा लाता है ।

* १४ वी गाथा मे बताया है कि सच्चा भिक्षु किसी भी समय, स्थान या परिस्थिति मे भय नही करता । चाहे कितने ही भयकर शब्द सुनाई दे, वह भयमुक्त रहता है ।

* १५ वी एव १६ वी गाथा मे बताया है कि सच्चा और निष्प्रपंच भिक्षु विविध वादो को जान कर भी स्वधर्म मे दृढ़ रहता है । वह सयमरत, शास्त्ररहस्यज्ञ, प्राज्ञ, परीषहविजेता होता है । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को हृदयगम किया हुआ भिक्षु उपशान्त रहता है, न वह विरोधकर्ता के प्रति द्वेष रखता है, न किसी को अपमानित करता है । न उसका कोई शत्रु होता है, और न मोहहेतुक कोई मित्र । जो गृहत्यागी एव एकाकी (द्रव्य से अकेला, भाव से रागद्वेष-रहित) होकर विचरता है, उसका कषाय मन्द होता है । वह परीषहविजयी, कष्टसहिष्णु, प्रशान्त, जितेन्द्रिय, सर्वथा परिगृहमुक्त एव भिक्षुओ के साथ रहता हुआ भी अपने कर्मों के प्रति स्वय को उत्तरदायी मान कर अन्तर से एकाकी निर्लेप एव पृथक् रहता है ।[1]

* निर्युक्तिकार ने सच्चे भिक्षु के लक्षण ये बताए हैं—सद्भिक्षु रागद्वेषविजयी, मानसिक-वाचिक-कायिक दण्डप्रयोग से सावधान, सावद्यप्रवृत्ति का मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्यागी होता है । वह ऋद्धि, रस और साता (सुखसुविधा) को पाकर भी उसके गौरव से दूर रहता है, माया, निदान और मिथ्यात्व रूप शल्य से रहित होता है, विकथाएँ नही करता, आहारादि संज्ञाओ, कषायो एव विविध प्रमादो से दूर रहता है, मोह एवं द्वेष-द्रोह बढ़ाने वाली प्रवृत्तियो से दूर रह कर कर्मबन्धन को तोडने के लिए सदा प्रयत्न-शील रहता है । ऐसा सुव्रत ऋषि ही समस्त ग्रन्थियो का भेदन कर अजरामर पद प्राप्त करते हैं ।[2]

□□

---

१. उत्तरा मूल, बृहद्वृत्ति, अ. १५, गा १ से १६ तक

२. रागद्दोसा दण्डा जोगा तह गारवाय सल्ला य । विगहाओ सण्णाओ खुहे कसाया पमाया य ॥ ३७८
एयाइं तु खुड्डाइं जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसिओ,....वंति अयरामरं ठाणं ॥ ३७९

—उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ३७८-३७९

पनरसमं अज्झयणं : पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्खुयं : सभिक्षुकम्

भिक्षु के लक्षण : ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक जीवन के रूप में

१. मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥

[१] 'श्रुत-चारित्ररूप धर्म को अंगीकार कर मौन (-मुनिभाव) का आचरण करूंगा', जो ऐसा संकल्प करता है, जो दूसरे स्थविर साधुओं के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान (-धर्माचरण) ऋजु (सरल-मायारहित) है, जिसने निदानों को विच्छिन्न कर दिया है; जो (पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों—माता-पिता आदि स्वजनों के) परिचय (संसर्ग) का त्याग करता है, जो कामभोगों की कामना से रहित है, जो अज्ञात कुल (जिसमें अपनी जाति, तप आदि का कोई परिचय नहीं है या परिचय देता नहीं है, उस) में भिक्षा की गवेषणा करता है, जो अप्रतिबद्ध रूप से विहार करता है, वह भिक्षु है ।

२. राओवरयं चरेज्ज लाढे विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी जे कम्हिचि न मुच्छिए स भिक्खू ॥

[२] जो राग से उपरत है, जो (सदनुष्ठान करने के कारण) प्रधान साधु है, जो (असंयम से) विरत (निवृत्त) है, जो तत्त्व या सिद्धान्त (वेद) का वेत्ता है तथा आत्मरक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो राग-द्वेष को पराजित कर सर्व (प्राणिगण को आत्मवत्) देखता है, जो किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु में मूर्च्छित (प्रतिबद्ध) नहीं होता, वह भिक्षु है ।

३. अक्कोसवहं विइत्तु धीरे मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

[३] कठोर वचन और वध (मारपीट) को (अपने पूर्वकृत कर्मों का फल) जान कर जो मुनि धीर (अक्षुब्ध=सम्यक् सहिष्णु) होकर विचरण करता है, जो (संयमाचरण से) प्रशस्त है, जिसने असंयम-स्थानों से सदा आत्मा को गुप्त—रक्षित किया है, जिसका मन अव्यग्र (अनाकुल) है, जो हर्षातिरेक से रहित है, जो (परीषह, उपसर्ग आदि) सब कुछ (समभाव से) सहन करता है, वह भिक्षु है ।

४. पन्तं सयणासणं भइत्ता सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

[४] जो निकृष्ट से निकृष्ट शयन (शय्या, संस्तारक या वसति—उपाश्रय आदि) तथा आसन (पीठ, पट्टा चौकी आदि) (उपलक्षण से भोजन, वस्त्र आदि) का समभाव से सेवन करता है, जो सर्दी-गर्मी तथा डांस-मच्छर आदि के अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों में हर्षित और व्यथित (व्यग्र-चित्त) नहीं होता, जो सब कुछ सह लेता है, वह भिक्षु है ।

५. नो सक्कियमिच्छई न पूयं नो वि य वन्दणगं, कुओ पसंसं ?
से संजए सुव्वए तवस्सी सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

[५] जो साधक न तो सत्कार चाहता है, न पूजा (प्रतिष्ठा) और न वन्दन चाहता है, भला वह किसी से प्रशसा की अपेक्षा कैसे करेगा ? जो सयत है, सुव्रती है, तपस्वी है, जो सम्यग्ज्ञान-क्रिया से युक्त है, जो आत्म-गवेषक (शुद्ध-आत्मस्वरूप का साधक) है, वह भिक्षु है।

६. जेण पुण जहाइ जीवियं मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

[६] जिसकी सगति से सयमी जीवन छूट जाए और सब ओर से पूर्ण मोह (कषाय-नोकषायादि रूप मोहनीय) से बध जाए, ऐसे पुरुष या स्त्री की सगति को जो त्याग देता है, जो सदा तपस्वी है, जो (अभुक्त-भोग सम्बन्धी) कुतूहल नही करता, वह भिक्षु है।

७. छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्ज।
अंगवियार सरस्स विजय जो विज्जाहि न जीवइ स भिक्खू ॥

[७] जो साधक छिन्न (वस्त्रादि-छिद्र) विद्या, स्वर (सप्त स्वर—गायन) विद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षणविद्या, दण्डविद्या, वास्तुविद्या, अगस्फुरणादि विचार, स्वरविज्ञान, (पशु-पक्षी आदि के शब्दो का ज्ञान)—इन विद्याओ द्वारा जो जीविका नही करता, वह भिक्षु है।

८. मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं वमणविरेयणधूमणेत्त-सिणाणं।
आउरे सरण तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

[८] मत्र, मूल (जडीबूटी) आदि विविध प्रकार की वैद्यक-सम्बन्धी विचारणा, वमन, विरेचन, धूम्रपान की नली, नेती, (या नेत्र-सस्कारक अजन, सुरमा आदि), (मत्रित जल से) स्नान की प्रेरणा, रोगादिपीडित (आतुर) होने पर (स्वजनो का) स्मरण, रोग की चिकित्सा करना-कराना आदि सबको ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग करके जो सयममार्ग मे विचरण करता है, वह भिक्षु है।

९. खत्तियगणउग्गरायपुत्ता माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

[९] क्षत्रिय (राजा आदि), गण (मल्ल, लिच्छवी आदि गण), उग्र (आरक्षक आदि), राजपुत्र, ब्राह्मण (माहन), भोगिक (सामन्त आदि), नाना प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशसा और पूजा के विषय मे जो कुछ नही कहता, किन्तु इसे हेय जानकर विचरण करता है, वह भिक्षु है।

१०. गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥

[१०] प्रव्रजित होने के पश्चात् जिन गृहस्थो को देखा हो (अर्थात्—जो परिचित हुए हो), अथवा जो प्रव्रजित होने से पहले के परिचित हो, उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र, पात्र, भिक्षा, प्रसिद्धि, प्रशसा आदि) की प्राप्ति के लिए जो सस्तव (परिचय) नही करता, वह भिक्षु है।

११. सयणासण-पाण-भोयणं विविहं खाइमं साइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ।।

[११] शयन, आसन, पान (पेयपदार्थ), भोजन, विविध प्रकार के खाद्य एव स्वाद्य पदार्थ दूसरे (गृहस्थ) स्वय न दें अथवा मागने पर भी इन्कार कर दे तो जो निर्ग्रन्थ उन पर प्रद्वेष नही करता, वह भिक्षु है ।

१२. ज किंचि आहारपाण विविहं खाइम-साइमं परेसिं लद्धु ।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे मण-वय-कायसुसवुडे स भिक्खू ।।

[१२] दूसरो (गृहस्थो) से जो कुछ अशन-पान तथा विविध खाद्य-स्वाद्य प्राप्त करके जो मन-वचन-काया से (त्रिविध प्रकार से) अनुकम्पा (ग्लान, बालक आदि का उपकार या आशीर्वाद-प्रदान आदि) नही करता, अपितु मन-वचन-काया से पूर्ण सवृत रहता है, वह भिक्षु है ।

१३. आयामगं चेव जवोदणं च सीय च सोवीर-जवोदगं च ।
नो हीलए पिण्डं नीरसं तु पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ।।

[१३] ओसामण, जौ मे बना भोजन और ठडा भोजन तथा काजी का पानी और जौ का पानी, ऐसे नीरस पिण्ड (भोजनादि) की जो निन्दा नही करता, अपितु भिक्षा के लिए साधारण (प्रान्त) कुलो (घरो) मे जाता है, वह भिक्षु है ।

१४. सद्दा विविहा भवन्ति लोए दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा ।
भीमा भयभेरवा उराला जो सोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू ।।

[१४] जगत् मे देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो के अनेकविध रौद्र, अत्यन्त भयोत्पादक और अत्यन्त कर्णभेदी (महान्—बडे जोर के) शब्द होते हैं, उन्हे सुनकर जो भयभीत नही होता, वह भिक्षु है ।

१५. वादं विविहं समिच्च लोए सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ।।

[१५] लोक मे (प्रचलित) विविध (धर्म-दर्शनविषयक) वादो को जान कर जो ज्ञानदर्शनादि स्वहित (स्वधर्म) मे स्थित रहता है, जो (कर्मों को क्षीण करने वाले) सयम का अनुगामी है, कोविदात्मा (शास्त्र के परमार्थ को प्राप्त आत्मा) है, प्राज्ञ है, जो परीषहादि को जीत चुका है, जो सब जीवो के प्रति समदर्शी है, उपशान्त है और किसी के लिए बाधक-पीडाकारक नही होता, वह भिक्षु है ।

१६. असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ।।

—त्ति बेमि ।

[१६] जो (चित्रादि-) शिल्पजीवी नही होता, जो गृहत्यागी (जिसका अपना कोई घर नही) होता है, जिसके (आसक्तिसम्बन्धहेतुक) कोई मित्र नही होता, जो जितेन्द्रिय एव सब प्रकार

के परिग्रहो से मुक्त होता है, जो अल्प (मन्द) कषायी है, जो तुच्छ (नीरस) और वह भी अल्प आहार करता है और जो गृहवास छोड़कर अकेला (राग-द्वेषरहित होकर) विचरता है, वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोण : दो अर्थ—(१) **मौन**—वचनगुप्ति, (२) जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है या उस पर मनन करता है, वह मुनि है, मुनि का भाव या कर्म मौन है। यहाँ प्रसगवश मौन का अर्थ—समग्र श्रमणत्व या मुनिभाव (धर्म) है।[1]

सहिए : सहित : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **सहित**—सम्यग्दर्शन आदि (ज्ञान, चारित्र एव तप) से युक्त, सम्यग्ज्ञानक्रिया से युक्त, (२) **सहित**—दूसरे साधुओ के साथ, (३) **स्वहित**—स्वहित-(सदनुष्ठानरूप) से युक्त, अथवा स्व-आत्मा का हितचिन्तक।[2]

सहित शब्द से एकाकीविहारनिषेध प्रतिफलित—आचार्य नेमिचन्द्र 'सहित' शब्द का अर्थ—'अन्य साधुओ के साथ रहना' बताकर एकाकी विहार मे निम्नोक्त दोष बताते हैं—(१) स्त्रीप्रसग की सम्भावना, (२) कुत्ते आदि का भय, (३) विरोधियो-विद्वेषियो का भय, (४) भिक्षाविशुद्धि नही रहती, (५) महाव्रतपालन मे जागरूकता नही रहती।[3]

नियाणछिन्ने—निदानछिन्न : तीन अर्थ—(१) निदान—विषयसुखासक्तिमूलक सकल्प अथवा (२) निदान—बन्धन—प्राणातिपातादि कर्मबन्ध का कारण। जिसका निदान छिन्न हो चुका है। अथवा (३) छिन्ननिदान का अर्थ—अप्रमत्तसयत है।[4]

उज्जुकडे—ऋजुकृत : दो अर्थ—(१) ऋजु—सयम, जिसने ऋजुप्रधान अनुष्ठान किया है, (२) ऋजु—जिसने माया का त्याग करके सरलतापूर्वक धर्मानुष्ठान किया है।

संथवं जहिज्ज—सस्तव अर्थात्—परिचय को जो छोड देता है, पूर्वपरिचित माता-पिता आदि, पश्चात्परिचित सास ससुर आदि के सस्तव का जो त्याग करता है।

अकामकामे—अकामकाम : दो अर्थ—(१) इच्छाकाम और मदनकामरूप कामो की जो कामना-अभिलाषा नही करता, वह, (२) अकाम अर्थात्—मोक्ष, क्योकि मोक्ष मे मनुष्य सकल कामो-अभिलाषाओ से निवृत्त हो जाता है। उस अकाम-मोक्ष की जो कामना करता है, वह।

---

१ (क) उत्तरा चूर्णि, पृ २३४ मन्यते त्रिकालावस्थित जगदिति मुनि, मुनिभावो मौनम्।
(ख) 'मुने कर्म मौन, तच्च सम्यक्चारित्रम्।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४
(ग) 'मौन श्रामण्यम्' —सुखबोधा, पत्र २१४

२. (क) 'सहित. ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिः।' —चूर्णि, पृ २३४,
(ख) सहित सम्यग्दर्शनादिभि साधुभिर्वा। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४
(ग) वही, पत्र ४१४ स्वस्मै हित स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणत।
(घ) सहित सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्याम्। —बृ. वृत्ति, पत्र ४१६
(ङ) वही, पत्र ४१६ सहहितेन आयतिपथ्येन, अर्थादनुष्ठानेन वर्तते इति सहित।

३ एगागियस्स दोसा, इत्थि साणे तहेव पडिणीए। भिक्खविसोहि-महव्वय, तम्हा सेविज्ज दोगमण॥
—सुखबोधा, पत्र २१४

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

राओवरयं : दो रूप : दो अर्थ—(१) **रागोपरत**—राग (आसक्ति या मैथुन) से उपरत, (२) **रात्र्युपरत**— रात्रिभोजन तथा रात्रिविहार से उपरत—निवृत्त।

वेयवियाऽऽयरक्खिए—वेदविदात्मरक्षित : दो रूप: दो अर्थ—(१) वेदवित् होने के कारण आत्मा की रक्षा करने वाला। जिससे तत्त्व जाना जाता है, उसे वेद यानी सिद्धान्त (आगम) कहते हैं। उसका वित्—वेत्ता—ज्ञाता होने से दुर्गति मे पतन से आत्मा का जिसने रक्षण-त्राण किया है। (२) वेदवित्-ज्ञानवान् तथा आयरक्षित—जिसने सम्यग्दर्शनादि लाभो की रक्षा की है, वह रक्षिताय है।[1]

पन्ने—प्राज्ञ . दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—हेयोपादेय मे बुद्धिमान् तथा (२) चूर्णिकार के अनुसार—आय (सम्यदर्शन-ज्ञान-चारित्र के लाभ) और उपाय (उत्सर्ग-अपवाद तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की विधियो का ज्ञाता।[2]

अभिभूय—परीषह-उपसर्गों को या राग-द्वेष को पराजित करके।

सव्वदंसी—दो रूप : तीन अर्थ—(१) सर्वदर्शी-समस्त प्राणिगण को आत्मवत् देखने वाला, (२) सर्वदर्शी—सभी वस्तुएँ समभाव से देखने वाला, अथवा सर्वदशी—इसका भावार्थ है—पात्र मे लेपमात्र भी भोजन न रख कर दुर्गन्धित हो या सुगन्धित, सारे भोजन को खाने वाला।

कम्हि वि न मुच्छिए- जो किसी भी सचित्त या अचित्त वस्तु मे मूर्च्छित यानी प्रतिबद्ध—ससक्त नही है। इस पक्ति से मुख्यतया परिग्रहनिवृत्ति का विधान तो स्पष्ट सूचित होता है, गौणरूप से अदत्तादानविरमण, मैथुन एवं असत्य से विरमण भी सूचित होता है। अर्थात्—भिक्षु समस्त मूलगुणो से युक्त होता है।

लाढे : भावार्थ—लाढ शब्द दूसरी एवं तीसरी गाथा मे आया है। दोनो स्थानो मे लाढ शब्द का भावार्थ "अपने सदनुष्ठान के कारण प्रधान—प्रशस्त" किया गया है।[3]

आयगुत्ते—आत्मगुप्त : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—आत्मा का अर्थ शरीर भी होता है, अत आत्मगुप्त का अर्थ हुआ—शरीर के अवयवो को गुप्त—सवृत—नियन्त्रित रखने वाला, (२) सुखबोधावृत्ति के अनुसार-असयम-स्थानो से जिसने आत्मा को गुप्त—रक्षित कर लिया है, वह।[4]

पूअं—पूजा—वस्त्र-पात्र आदि से सेवा करना।

आयगवेसए : दो रूप : दो अर्थ—(१) **आत्मगवेषक**—कर्मरहित आत्मा के शुद्धस्वरूप की गवेषण-अन्वेषण करने वाला, अर्थात्—मेरी आत्मा कैसे (शुद्ध) हो, इस प्रकार अन्वेषण करने

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

२ (क) प्राज्ञो—विदु सम्पन्नो आयोपायविधिज्ञो भवेत् उत्सर्गापवादद्रव्यादापदादिको य उपाय।—चूर्णि. पृ. २३४
(ख) प्राज्ञ हेयोपादेयबुद्धिमान्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

३. बृहद्वृत्ति, पत्र४१४

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१५ (ख) सुखबोधा, पत्र २१५

वाला (२) आय—सम्यग्दर्शनादि-लाभ का अथवा आयत—मोक्ष का गवेषक—**आयगवेषक** या **आयतगवेषक**।[1]

'विज्जाहिं न जीवइ' की व्याख्या—प्रस्तुत गाथा (सं. ७) मे दस विद्याओ का उल्लेख है। (१) छिन्ननिमित्त, (२) स्वरनिमित्त, (३) भौमनिमित्त, (४) अन्तरिक्षनिमित्त, (५) स्वप्न-निमित्त, (६) लक्षणनिमित्त, (७) दण्डविद्या, (८) वास्तुविद्या, (९) अगविकारनिमित्त, और (१०) स्वरविचय।

अष्टांगनिमित्त—अगविज्जा में अग, स्वर, लक्षण, व्यजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्त-रिक्ष, ये अष्टागनिमित्त बताए। प्रस्तुत गाथा मे 'व्यजन' को छोड कर शेष ७ निमित्तो का उल्लेख है। दण्डविद्या, वास्तुविद्या और स्वरविचय, ये तीन विद्याएँ मिलकर कुल दस विद्याएँ होती है।

प्रत्येक का परिचय—**छिन्नविद्या**—(१) वस्त्र, दात, लकडी आदि मे किसी भी प्रकार से हुए छेद या दरार के विषय मे शुभाशुभ निरूपण करने वाली विद्या। (२) **स्वरविद्या**—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत आदि सात स्वरो मे से किसी स्वर का स्वरूप एव फलादि कहना, बताना या गाना। (३) **भौमविद्या**—भूमिकम्पादि का लक्षण एव शुभाशुभ फल बताना अथवा भूमिगत धन आदि द्रव्यो को जानना। (४) **अन्तरिक्षविद्या**—आकाश मे गन्धर्वनगर, दिग्दाह, धूलिवृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहनक्षत्रो के या उनके युद्धो के तथा उदय-अस्त के द्वारा शुभाशुभ फल कहना। (५) **स्वप्नविद्या**—स्वप्न का शुभाशुभ फल कहना। (६) **लक्षणविद्या**—स्त्री-पुरुष के शरीर के लक्षणो को देखकर शुभाशुभ फल बताना। (७) **दण्डविद्या**—बास के दण्ड या लाठी आदि को देखकर उसका स्वरूप तथा शुभाशुभ फल बताना। (८) **वास्तुविद्या**—प्रासाद आदि आवासो के लक्षण, स्वरूप एव तद्विषयक शुभाशुभ का कथन करना, (९) **अंगविकारविद्या**—नेत्र, मस्तक, भुजा आदि फडकने पर उसका शुभाशुभ फल कहना। (१०) **स्वरविचयविद्या**—कोचरी (दुर्गा), शृगाली, पशु-पक्षी आदि का स्वर जान कर शुभाशुभ फल कहना। सच्चा भिक्षु वह है, जो इन विद्याओ द्वारा आजीविका नही चलाता।[2]

मंतं मूलं इत्यादि शब्दों का प्रासंगिक अर्थ—(१) **मंत्र**—लौकिक एव सावद्य कार्य के लिए मत्र, तत्र का प्रयोग करना या बताना। (२) मूल—वनस्पतिरूप औषधियो—जडीबूटियो का प्रयोग करना या बताना। (३) **वैद्यचिन्ता**—वैद्यकसम्बन्धी विविध औषधि आदि का विचार एव प्रयोग करना। (४-५) **वमन, विरेचन,** (६) **धूप**—भूतप्रेतादि को भगाने के लिए मैनमिल वगैरह की धूप देना। (७) नेत्र या नेती—आंखो का सुरमा, अजन, काजल, या जल नेती का प्रयोग बताना, (८) **स्नान**—पुत्रप्राप्ति के लिए मत्र या जडीबूटी के जल से स्नान, आचमन आदि बताना। (९) **आतुर-स्मरण,** एव (१०) दूसरो की **चिकित्सा** करना, कराना।[3]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४१५

२. (क) उत्तरा. मूलपाठ, अ १५ गा. ७,

(ख) "अग सरो लक्खण च वजण सुविणो तहा।
छिण्ण-भोम्मऽन्तलिक्खाए एमेए अट्ठ आहिया॥" —अगविज्जा १/२३

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६-४१७

३ वही, पत्र ४१७.

भोइअ दो अर्थ—(१) भोगिक—विशिष्ट वेशभूषा मे रहने वाले राजमान्य अमात्य आदि प्रधान पुरुष, (२) **भोगी**—विशिष्ट गणवेश का उपभोग करने वाले।[1]

भयभेरवा—(१) अत्यन्त भयोत्पादक अथवा (२) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार भय—आकस्मिकभय और भैरव—सिंहादि से उत्पन्न होने वाला भय।[2]

खेयाणुगए : खेदानुगत : दो अर्थ—(१) विनय, वैयावृत्य एव स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियो से होने वाले कष्ट को खेद कहते हैं, उससे अनुगत—युक्त, (२) खेद—सयम से अनुगत—सहित।

अविहेडए : अविहेटक—जो वचन और काया से दूसरो का अपवाद—निन्दा या प्रपंच नही करता या जो किसी का भी बाधक नही होता।

अमित्ते—अमित्र का सामान्य अर्थ है—जिसके मित्र न हो। यहाँ आशय यह है कि मुनि के आसक्तिवर्द्धक मित्र नही होना चाहिए।[3]

तिविहेण नाणुकंपे : तात्पर्य—जो चारो प्रकार का आहार गृहस्थो से प्राप्त करके बाल, ग्लान आदि साधुओं पर अनुकम्पा (उपकार) नही करता, उन्हे नही देता, वह भिक्षु नही है, किन्तु जो साधक मन, वचन और काया से अच्छी तरह सवृत (सवरयुक्त) है, वह आहारादि से बाल, ग्लान आदि साधुओ पर अनुकम्पा (उपकार) करता है, वह भिक्षु है। यही इस गाथा का आशय है।

वायं विविहं : व्याख्या—अपने-अपने दर्शन या धर्म का अनेक प्रकार का वाद या विवाद। जैसे कि—कोई पुल बाधने मे धर्म मानता है, तो कोई पुल न बाधने मे, कोई गृहवास में धर्म मानता है, कोई वनवास मे, कोई मुण्डन कराने मे तो कोई जटा रखने मे धर्म समझता है। इस प्रकार के नाना वाद है।

लहु-अप्पभक्खी— लघु का अर्थ है—तुच्छ, नीरस और अल्प का अर्थ है—थोडा। अर्थात्—नीरस भोजन और वह भी मात्रा मे खाने वाला।

एगचरे : दो अर्थ—(१) एकाकी—रागद्वेषरहित होकर विचरण करने वाला, (२) तथाविध योग्यता प्राप्त होने पर दूसरे साधुओ की सहायता लिये बिना अकेला विचरण करने वाला।[4]

॥ पन्द्रहवाँ अध्ययन · सभिक्षुकम् समाप्त ॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१८ (ख) सुखबोधा, पत्र २१७

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१९ (ख) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वृत्ति, पत्र १४३

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१९

४. वही, ४१९-४२०

सोलहवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान' है। इसमे ब्रह्मचर्यसमाधि के दस स्थानो के विषय मे गद्य और पद्य मे निरूपण किया गया है।

* ब्रह्मचर्य, साधना का मेरुदण्ड है। साधुजीवन की समस्त साधनाएँ—तप, जप, समत्व, ध्यान, कायोत्सर्ग, परीषहविजय, कषायविजय, विषयासक्तित्याग, उपसर्गसहन आदि ब्रह्मचर्यरूपी सूर्य के इर्दगिर्द घूमने वाले ग्रहनक्षत्रो के समान हैं। यदि ब्रह्मचर्य सुदृढ एव सुरक्षित है तो ये सब साधनाएँ सफल होती हैं, अन्यथा ये साधनाएँ केवल शारीरिक कष्टमात्र रह जाती हैं।

* ब्रह्मचर्य का सर्वसाधारण में प्रचलित अर्थ—मैथुनसेवन का त्याग या वस्तिनिग्रह है। किन्तु भारतीय धर्मों की परम्परा में उसका इससे भी गहन अर्थ है—ब्रह्म मे विचरण करना। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा, आत्मा, आत्मविद्या अथवा बृहद् ध्येय है। इन चारो मे विचरण करने के अर्थ मे ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग होता रहा है। परन्तु ब्रह्म मे विचरण सर्वेन्द्रियसयम एव मन सयम के बिना हो नही सकता। इस कारण बाद मे ब्रह्मचर्य का अर्थ सर्वेन्द्रिय-मन सयम समझा जाने लगा। उसकी साधना के लिए कई नियम-उपनियम बने। प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वेन्द्रिय-मन:सयमरूप ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए जो १० नियम हैं, जिन्हे अन्य आगमो एवं ग्रन्थों मे दस गुप्तियाँ या दस कारण बताए हैं, वे ही दस समाधिस्थान हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्य को मन, बुद्धि, चित्त एव हृदय मे सम्यक् रूप से समाहित—प्रतिष्ठित या लीन करने के लिए ये दस नियम या कारण हैं।

* यद्यपि व्रत, नियम या मर्यादाएँ अपने आप मे ब्रह्मचर्य नही हैं। बाह्यरूप से व्रत, नियम आदि पालन करने मे ही ब्रह्मचर्य की साधना परिसमाप्त नही होती, क्योकि कामवासना एव अब्रह्मचर्य या विषयो मे रमणता आदि विकारो के बीज तो भीतर हैं, नियम, व्रत आदि तो ऊपर-ऊपर से कदाचित् शरीर के अगोपागो या इन्द्रियो को स्थूलरूप से अब्रह्मचर्यसेवन करने से रोक लें। अत. भीतर मे छिपे विकारों को निर्मूल करने के लिए अनन्त आनन्द और विश्व-वात्सल्य मे आत्मा का रमण करना और शरीर, इन्द्रिय एवं मन के विषयो मे आनन्द खोजने से विरत होना आवश्यक है। सक्षेप मे—आत्मस्वरूप या आत्मभावो मे रमणता से ही ये सब पर-रमणता के जाल टूट सकते हैं। यही ब्रह्मचर्य की परिपूर्णता तक पहुँचने का राजमार्ग है। फिर भी साधना के क्षेत्र मे अथवा आत्मस्वरूप-रमणता मे बार-बार जागृति एव सावधानी के लिए इन नियम-मर्यादाओ की पर्याप्त उपयोगिता है। शरीर, इन्द्रियो एव मन के मोहक वातावरण मे साधक को अब्रह्मचर्य की ओर जाने से नियम या मर्यादाएँ रोकती हैं। अत: ये

नियम ब्रह्मचर्यसाधना के सजग प्रहरी हैं। इनसे ब्रह्मचर्य की सर्वांगीण साधना मे सुगमता रहती है।

* स्वय शास्त्रकार ने इन दस समाधिस्थानो की उपयोगिता मूलपाठ मे प्रारम्भ मे बता दी है कि इनके पालन से साधक की आत्मा सयम, सवर और समाधि से अधिकाधिक सम्पन्न हो सकती है, बशर्ते कि वह मन, वचन, काया का सगोपन करे, इन्द्रिया वश मे रखे, अप्रमत्तभाव से विचरण करे।

* प्रस्तुत अध्ययन में ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए बताए गए समाधिस्थान क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) स्त्री-पशु-नपु सक से विविक्त (अनाकीर्ण) शयन और आसन का सेवन करे, (२) स्त्रीकथा न करे, (३) स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे, (४) स्त्रियो की मनोहर एव मनोरम इन्द्रियो को दृष्टि गडा कर न देखे, न चिन्तन करे, (५) दीवार आदि की ओट मे स्त्रियो के कामविकारजनक शब्द न सुने, (६) पूर्वावस्था मे की हुई रति एव क्रीडा का स्मरण न करे, (७) प्रणीत (सरस स्वादिष्ट पौष्टिक) आहार न करे, (८) मात्रा से अधिक आहार-पानी का सेवन न करे, (९) शरीर की विभूषा न करे और (१०) पचेन्द्रिय-विषयो मे आसक्त न हो।[1]

* स्थानाग और समवायाग मे ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो का उल्लेख है। उत्तराध्ययन मे जो दसवाँ समाधिस्थान है, वह यहाँ आठवी गुप्ति है। केवल पाचवाँ समाधिस्थान, स्थानाग एव समवायांग मे नही है। उत्तराध्ययन के ९ वे स्थान—विभूषात्याग के बदले उनमे नौवी गुप्ति है—साता और सुख मे प्रतिबद्ध न हो।

* मूलाचार मे शीलविराधना (अब्रह्मचर्य) के दस कारण ये बतलाए है—(१) स्त्रीससर्ग, (२) प्रणीतरस भोजन, (३) गन्धमाल्यसस्पर्श, (४) शयनासनगृद्धि, (५) भूषणमण्डन, (६) गीतवाद्यादि की अभिलाषा, (७) अर्थसम्प्रयोजन, (८) कुशीलसंसर्ग, (९) राजसेवा (विषयो की सम्पूर्ति के लिए राजा की अतिशय प्रशसा करना) और (१०) रात्रिसचरण।

* अनगारधर्मामृत मे १० नियमो मे से तीन नियम भिन्न हैं। जैसे—(२) लिगविकारजनक कार्यनिषेध, (६) स्त्रीसत्कारवर्जन, (१०) इष्ट रूपादि विषयो मे मन को न जोडे।

* स्मृतियो मे ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए स्मरण, कीर्त्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति, इन अष्ट मैथुनागो से दूर रहने का विधान है।[2]

* प्रस्तुत दस समाधिस्थानो मे स्पर्शनेन्द्रियसंयम के लिए सह-शयनासन तथा एकासननिषद्या का, रसनेन्द्रियसयम के लिए अतिमात्रा मे आहार एव प्रणीत आहार सेवन का, चक्षुरिन्द्रियसंयम के लिए स्त्रीदेह एव उसके हावभावो के निरीक्षण का, मन.सयम के लिए कामकथा, विभूषा एव

---

१. उत्तरा मूल, अ १६, सू. १ से १२, गा १ से १३ तक

२ (क) स्थानाग ९।६६३ (ख) समवायांग, सम. ९ (ग) मूलाचार ११।१३-१४
(घ) अनगारधर्मामृत ४।६१ (ङ) दक्षस्मृति ७।३१-३३

पूर्वक्रीड़ित स्मरण का, श्रोत्रेन्द्रियसंयम के लिए स्त्रियो के विकारजनक शब्दश्रवण का एव सर्वेन्द्रियसयम के लिए पंचेन्द्रियविषयो मे आसक्ति का त्याग बताया है।[1]

* साथ ही इन इन्द्रियो एव मन पर सयम न रखने के भयकर परिणाम भी प्रत्येक समाधिस्थान के साथ-साथ बताये गए हैं। अन्त मे पद्यो मे उक्त दस स्थानो का विशद निरूपण भी कर दिया गया है तथा ब्रह्मचर्य की महिमा भी प्रतिपादित की है।

* पूर्वोक्त अनेक परम्पराओ के सन्दर्भ मे ब्रह्मचर्य के इन दस समाधिस्थानो का महत्त्वपूर्ण वर्णन इस अध्ययन मे है।

---

१. उत्तरा. मूल, अ. १६, गा. १ से १३ तक

सोलसमं अज्झयणं : सोलहवाँ अध्ययन

बंभचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान और उनके अभ्यास का निर्देश

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेर-समाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

[१] आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है—स्थविर भगवन्तो ने निर्ग्रन्थप्रवचन में (या इस क्षेत्र मे) दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान बतलाए हैं, जिन्हे सुन कर, जिनको अर्थरूप से निश्चित करके, भिक्षु सयम, सवर (आश्रवद्वारो का निरोध) तथा समाधि (चित्त की स्वस्थता) से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो, मन-वचन-काय-गुप्तियो से गुप्त रहे, इन्द्रियो को उनके विषयों मे प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को गुप्तियो के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे ।

२. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, सवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ?

[२] स्थविर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्यसमाधि के वे कौन-से दस स्थान बतलाए है, जिन्हे सुन कर, जिनका अर्थत. निश्चय करके, भिक्षुसयम, सवर तथा समाधि से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो, मन-वचन-काया की गुप्तियो से गुप्त रहे, इन्द्रियो को उनके विषयो मे प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को गुप्तियो के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे ?

प्रथम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

३. इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा । त जहा—

विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा, से निग्गन्थे । नो-इत्थी-पसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा । तम्हा नो इत्थि-पसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

[३] स्थविर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्य-समाधि के ये दस समाधिस्थान बतलाए हैं, जिन्हे सुन कर, जिनका अर्थतः निश्चय करके भिक्षु सयम, सवर तथा समाधि से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो, मन-वचन-काया की गुप्तियो से गुप्त रहे, इन्द्रियो को उनके विषयो मे प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ गुप्तियो के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे।

(उन दस समाधिस्थानो मे से) प्रथम समाधिस्थान इस प्रकार है—जो विविक्त-एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। (अर्थात्) जो स्त्री, पशु और नपुसक से संसक्त (आकीर्ण) शयन और आसन का सेवन नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यो ?

[उ] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जो स्त्री, पशु और नपुसक से ससक्त शयन और आसन का सेवन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसके ब्रह्मचर्य (सयम) का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, या कोई दीर्घकालिक (लम्बे समय का) रोग और आतक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्री-पशु-नपु सक से ससक्त शयन और आसन का जो साधु सेवन नही करता, वह निर्ग्रन्थ है, (ऐसा कहा गया)।

विवेचन—ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानों की सुदृढता—साधु को ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानो की सुदृढता के लिए यहाँ नवसूत्री बताई गई है—(१) इन स्थानो का भलीभाति श्रवण, (२) अर्थ पर विचार, (३-४-५) सयम का, सवर का और समाधि का अधिकाधिक अभ्यास, (६) तीन गुप्तियो से मन, वाणी एव शरीर का गोपन, (७) इन्द्रियो की विषयो से रक्षा, (८) नवविधगुप्तियो से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा और (९) सदैव अप्रमत्त-अप्रतिबद्ध विहार।

प्रथम समाधिस्थान—विविक्त शयनासनसेवन—**विविक्त : अर्थात्**—स्त्री (दैवी, मानुषी या तिर्यंची), पशु (गाय, भैस, साड, भैसा, बकरा-बकरी आदि) और पण्डक—नपु सक से ससक्त अर्थात् ससर्ग वाला न हो। यहाँ प्रथम विधिमुख से कथन है, तत्पश्चात् निषेधमुख से कथन है, जिससे विविक्त का तात्पर्य और स्पष्ट हो जाता है।

सयणासणाइं : शयन और आसन का अर्थ—शयन के तीन अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से—(१) शय्या, बिछौना, सस्तारक, (२) या सोने के लिए पट्टा आदि, (३) उपलक्षण से वसति (उपाश्रय) को भी शय्या कहते हैं। **आसन का अर्थ है**—जिस पर बैठा जाए, जैसे—चौकी, बाजोट (पादपीठ) या केवल आसन, पादप्रोञ्छन आदि।[1]

नो-इत्थी० : वाक्य का आशय—जिस निवासस्थान मे स्त्री-पशु-नपुंसक का निवास न हो या दिन या रात्रि में अकेली स्त्री आदि का ससर्ग न हो अथवा जिस पट्टे, शय्या, आसन, चौकी आदि पर साधु बैठा या सोया हो, उसी पर स्त्री आदि बैठे या सोए न हो। **विविक्त शयनासन न होने से ७ बड़ी हानियां**—(१) शका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) ब्रह्मचर्य-भंग, (५) उन्माद, (६)

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२३

दीर्घकालिक रोग और आतक, (७) जिन-प्ररूपित धर्म से भ्रष्टता, इन सात हानियो की सम्भावना है। **इनकी व्याख्या—शंका**—साधु को अथवा साधु के ब्रह्मचर्य के विषय मे दूसरों को शका हो सकती है कि यह स्त्री आदि से ससक्तस्थान आदि का सेवन करता है, अत. ब्रह्मचारी है या नही ?, अथवा मैथुनसेवन करने से नौ लाख सूक्ष्म जीवो की विराधना आदि दोष बताए हैं, वे यथार्थ हैं या नही ? या ब्रह्मचर्यपालन करने से कोई लाभ है या नही, तीर्थंकरो ने अब्रह्मचर्य का निषेध किया है या यो ही शास्त्र मे लिख दिया है ? अब्रह्मचर्यसेवन में क्या हानि है। **कांक्षा**—शका के पश्चात् उत्पन्न होने वाली अब्रह्मचर्य की या स्त्रीसहवास आदि की इच्छा। **विचिकित्सा**—चित्तविप्लव। जब भोगाकाक्षा तीव्र हो जाती है, तब मन समूचे धर्म के प्रति विद्रोह कर बैठता है या व्यर्थ के कुतर्क या कुविकल्प उठाने लगता है, यह विचिकित्सा है। यथा—इस असार ससार मे कोई सारभूत वस्तु है तो वह सुन्दरी है। अथवा इतना कष्ट उठा कर ब्रह्मचर्यपालन का कुछ भी फल है या नही ? यह भी विचिकित्सा है। **भेद**—जब विचिकित्सा तीव्र हो जाती है, तब झटपट, ब्रह्मचर्य का भग करके चारित्र का नाश करना भेद है। **उन्माद**—ब्रह्मचर्य के प्रति विश्वास उठ जाने या उसके पालन मे आनन्द न मानने की दशा मे बलात् मन और इन्द्रियो को दबाने से कामोन्माद तथा दीर्घकालीन **रोग** (राजयक्ष्मा, मृगी, अपस्मार, पक्षाघात आदि) तथा **आतंक** (मस्तकपीडा, उदरशूल आदि) होने की सम्भावना रहती है। **धर्मभ्रंश**—इन पूर्व अवस्थाओ से जो नही बच पाता, वह चारित्रमोहनीय के क्लिष्ट कर्मोदय मे धर्मभ्रष्ट भी हो जाता है।[1]

द्वितीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

४. नो इत्थीण कह कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ? आयरियाह—**निग्गन्थस्स खलु इत्थीण कहं कहेमाणस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका कखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।**

[४] जो स्त्रियो की कथा नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र] ऐसा क्यो ?

[उ] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—जो साधु स्त्रियो सम्बन्धी कथा करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का नाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, या दीर्घकालिक रोग और आतक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ स्त्रीसम्बन्धी कथा न करे।

विवेचन—नो इत्थीणं : दो व्याख्या—बृहद्वृत्तिकार ने इसकी दो प्रकार की व्याख्या की है—(१) केवल स्त्रियो के बीच मे कथा (उपदेश) न करे और (२) स्त्रियो की जाति, रूप, कुल, वेष, शृंगार आदि से सम्बन्धित कथा न करे। जैसे—**जाति**—यह ब्राह्मणी है, वह वैश्या है, **कुल**—

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४

उग्रकुल की ऐसी होती है, अमुक कुल की वैसी, रूप—कर्णाटकी विलासप्रिय होती है इत्यादि, संस्थान—स्त्रियों के डिलडौल, आकृति, ऊँचाई आदि की चर्चा, नेपथ्य—स्त्रियो के विभिन्न वेश, पोशाक, पहनावे आदि की चर्चा। इसका परिणाम पूर्ववत् है।[1]

तृतीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

५. नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ? आयरियाह- निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा।

[५] जो स्त्रियो के साथ एक आसन पर नही बैठता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र] ऐसा क्यो ?

[उ.] आचार्य कहते हैं—जो ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियो के साथ एक आसन पर बैठता है, उस को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, या दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे।

विवेचन—इत्थीहिं सद्धिं सन्निसिज्जागए : व्याख्या—इसकी व्याख्या बृहद्वृत्ति मे दो प्रकार से की गई है -(१) स्त्रियो के साथ सन्निषद्या—पट्टा, चौकी, शय्या, बिछौना, आसन आदि पर न बैठे, (२) स्त्री जिस स्थान पर बैठी हो उस स्थान पर तुरत न बैठे, उठने पर भी एक मुहूर्त्त (दो घडी) तक उस स्थान या आसनादि पर न बैठे।[2]

चतुर्थ ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

६. नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोइत्ता, निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

[६] जो स्त्रियों की मनोहर एव मनोरम इन्द्रियो को (ताक-ताक कर) नही देखता, उनके विषय मे चिन्तन नही करता, वह निर्ग्रन्थ श्रमण है।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४, (ख) मिलाइए—दशवै ८।५२, स्थानाग ९।६६३, समवायांग, ९

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४

[प्र] ऐसा क्यो ?

[उ] इस पर आचार्य कहते है—जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियो को (ताक-ताक कर या दृष्टि गडा कर) देखता है और उनके विषय मे चिन्तन करता है, उसके ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का भग हो जाता है अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक हो जाता है, या वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर एव मनोरम इन्द्रियो को न तो देखे और न ही उनका चिन्तन करे।

विवेचन—मनोहर और मनोरम में अन्तर—मनोहर का अर्थ है—चित्ताकर्षक और मनोरम का अर्थ है—चित्ताह्लादक।

आलोइत्ता निज्झाइत्ता—'आलोकन' का यहाँ भावार्थ है—दृष्टि गडा कर बार-बार देखना। **निर्ध्यान** अर्थात् देखने के बाद अतिशयरूप से चिन्तन करना, जैसे—अहो! इसके नेत्र कितने सुन्दर है! अथवा आलोकन का अर्थ है—थोडा देखना, निर्ध्यान का अर्थ है—जम कर व्यवस्थित रूप से देखना।[1]

इंदियाइं—यहाँ उपलक्षण से सभी अगोपागो का, अगसौष्ठव आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए।

पंचम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

७. नो इत्थीण कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बंभयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

[७] जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, कपडे के पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियो के कूजितशब्द को, रुदितशब्द को, गीत की ध्वनि को, हास्यशब्द को, स्तनित (गर्जन-से) शब्द को, आक्रन्दन अथवा विलाप के शब्द को नही सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यो ?

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५ (ख) मिलाइए—दशवैकालिक ८।५७ 'चित्तभित्तिं' न निज्झाए।'

[उ.] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—जो निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर, से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन अथवा विलाप के शब्दों को सुनता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक हो जाता है, या वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियो के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्द को न सुने।

विवेचन—कुड्य और भित्ति के अर्थों में अन्तर—शब्दकोष के अनुसार इन दोनो का अर्थ एक है, किन्तु बृहद्वृत्ति के अनुसार कुड्य का अर्थ मिट्टी से बनी हुई भीत, सुखबोधा के अनुसार पत्थरो की दीवार और चूर्णि के अनुसार पक्की ईंटो से बनी भीत है। शान्त्याचार्य और आ. नेमिचन्द्र ने भित्ति का अर्थ पक्की ईंटो से बनी भीत और चूर्णिकार के अनुसार केतुक आदि है।

कुड्य (भींत) के ९ प्रकार—अगविज्जा-भूमिका मे कुड्य के ६ प्रकार वर्णित हैं—(१) लीपी हुई भींत, (२) विना लीपी, (३) वस्त्र की भीत, पर्दा, (४) लकडी के तख्तो से बनी हुई, (५) अगल-बगल मे लकडी के तख्तो से बनी, (६) घिस कर चिकनी बनाई हुई, (७) चित्रयुक्त दीवार, (८) चटाई से बनी हुई दीवार तथा (६) फूस से बनी हुई आदि।[1]

कूजनादि शब्दों के अर्थ—कूजित—रतिक्रीडा शब्द, **रुदित**—रतिकलहादिकृत शब्द, **हसित**—ठहाका मार का हँसने का, कहकहे लगाने का शब्द, **स्तनित**—अधोवायुनिसर्ग आदि का शब्द, **क्रन्दित**—वियोगिनी का आक्रन्दन।[2]

छठा ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

८. नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा।

[८] जो साधु (सयमग्रहण से) पूर्व (गृहस्थावस्था मे स्त्री आदि के साथ किये गए) रमण का और पूर्व (गृहवास मे स्त्री आदि के साथ की गई) क्रीडा का अनुस्मरण नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यो?

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५ (ख) सुखबोधा, पत्र २२१,
(ग) चूर्णि, पृ २४२ (घ) अगविज्जा-भूमिका, पृ. ५८-५९
२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५

[उ.] इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—जो पूर्व (गृहवास में की गई) रति और क्रीडा का अनुस्मरण करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, या वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ (सयमग्रहण से) पूर्व (गृहवास मे) की (गई) रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे।

विवेचन—छठे ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान का आशय—साधु अपनी पूर्वावस्था मे चाहे भोगी, विलासी, या कामी रहा हो, किन्तु साधुजीवन स्वीकार करने के बाद उसे पिछली उन कामुकता की बातो का तनिक भी स्मरण या चिन्तन नही करना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मचर्य की जडे हिल जाएँगी और धीरे-धीरे वह पूर्वोक्त सकटो से घिर कर सर्वथा भ्रष्ट हो जाएगा।

सातवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

९. नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पणीयं पाणभोयण आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

[९] जो प्रणीत—रसयुक्त पौष्टिक आहार नही करता वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र] ऐसा क्यो ?

[उ] इस पर आचार्य कहते है—जो रसयुक्त पौष्टिक भोजन-पान करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसके ब्रह्मचर्य का भग हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत—सरस एव पौष्टिक आहार न करे।

विवेचन—पणीयं—प्रणीत : दो अर्थ—(१) जिस खाद्यपदार्थ से तेल, घी आदि की बूंदे टपक रही हो, वह, अथवा (२) जो धातुवृद्धिकारक हो।[1]

आठवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

१०. नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स, बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा,

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५

दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा।

[१०] जो अतिमात्रा मे (परिमाण से अधिक) पान-भोजन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यो ?

[उ.] उत्तर मे आचार्य कहते हैं—जो परिमाण से अधिक खाता-पीता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शंका, काक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होती है, या ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ मात्रा से अधिक पान-भोजन का सेवन न करे।

विवेचन—अइमायाए : व्याख्या—मात्रा का अर्थ है—परिमाण। भोजन का जो परिमाण है, उसका उल्लघन करना अतिमात्र है। प्राचीन परम्परानुसार पुरुष (साधु) के भोजन का परिमाण है—बत्तीस कौर और स्त्री (साध्वी) के भोजन का परिमाण अट्ठाईस कौर है, इससे अधिक भोजन-पान का सेवन करना अतिमात्रा मे भोजन-पान है।[1]

नौवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

११, नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-विभूसावत्तिए, विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

[११] जो विभूषा नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र] ऐसा क्यो ?

[उ] इस प्रकार पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, जो शरीर को विभूषित (सुसज्जित) किये रहता है, वह स्त्रियो की अभिलाषा का पात्र बन जाता है। इसके पश्चात् स्त्रियो द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य मे शका, काक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, अथवा ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, अथवा उसे उन्माद पैदा हो जाता है, या उसे दीर्घकालिक रोग और आतक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ विभूषानुपाती न बने।

विवेचन—विभूसाणुवाई—शरीर को स्नान करके सुसंस्कृत करना, तेल-फुलेल लगाना,

---

१. "बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।
पुरिसस्स, महिलियाए अट्ठावीस भवे कवला॥" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४२६

सुन्दर वस्त्रादि उपकरणो से सुसज्जित करना, केशप्रसाधन करना आदि विभूषा है। इस प्रकार से शरीर-संस्कारकर्ता—शरीर को सजाने वाला—विभूषानुपाती है।

विभूसावत्तिए : अर्थ—जिसका स्वभाव विभूषा करने का है, वह विभूषावृत्तिक है।

विभूसियसरीरे—स्नान, अजन, तेल-फुलेल आदि से शरीर को जो विभूषित—सुसज्जित करता है, वह विभूषितशरीर है।

इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे—विभूषा करने वाला साधु स्त्रीजनो द्वारा अभिलषणीय हो जाता है, स्त्रियाँ उसे चाहने लगती हैं, स्त्रियो द्वारा चाहे जाने या प्रार्थना किये जाने पर ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, जैसे—जब स्त्रियाँ इस प्रकार मुझे चाहती हैं, तो क्यो न मैं इनका उपभोग कर लू ? अथवा इसका उत्कट परिणाम नरक-गमन है, अत क्या उपभोग न करूँ ? ऐसी शका तथा अधिक चाहने पर स्त्रीसेवन की आकाक्षा, अथवा बार-बार मन मे ऐसे विचारो का भूचाल मच जाने से स्त्रीसेवन की प्रबल इच्छा हो जाती है और वह ब्रह्मचर्य भग कर देता है।[1]

दसवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

१२. नो सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हविज्जा। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

भवन्ति इत्थ सिलोगा, तं जहा—

[१२] जो साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त नही होता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यो ?

[उ.] उत्तर मे आचार्य कहते है—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य मे शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, अथवा ब्रह्मचर्य भग हो जाता है, अथवा उसे उन्माद पैदा हो जाता है, या फिर दीर्घकालिक रोग या आतक हो जाता है, अथवा वह केवलिभाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मे अनुपाती (—आसक्त) न बने। यह ब्रह्मचर्यसमाधि का दसवाँ स्थान है।

इस विषय मे यहाँ कुछ श्लोक हैं, जैसे—

विवेचन—सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई : स्त्रियो के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुपाती—मनोज्ञ शब्दादि को देखकर पतित होने वाला या फिसल जाने वाला, या उनमे आसक्त। जैसे कि—**शब्द**—स्त्रियो के कोमल ललित शब्द या गीत, **रूप**—उनके कटाक्ष, वक्षस्थल, कमर आदि

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२७

का या उनके चित्रो का अवलोकन, रस—मधुरादि रसो द्वारा अभिवृद्धि पाने वाला, गन्ध—कामवर्द्धक सुगन्धित पदार्थ एव स्पर्श—आसक्तिजनक कोमल कमल आदि का स्पर्श, इनमे लुभा जाने (आसक्त हो जाने) वाला।[1]

पूर्वोक्त दस समाधिस्थानों का पद्यरूप में विवरण

१. जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए॥

[१] निर्ग्रन्थ साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे स्थान (आलय) मे रहे, जो विविक्त (एकान्त) हो, अनाकीर्ण—(स्त्री आदि से अव्याप्त) हो और स्त्रीजन से रहित हो।

२. मणपल्हायजणणिं कामरागविवड्ढणिं।
बंभचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए॥

[२] ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु मन मे आह्लाद उत्पन्न करने वाली और कामराग बढाने वाली स्त्रीकथा का त्याग करे।

३. समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥

[३] ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु स्त्रियो के साथ सस्तव (ससर्ग या अतिपरिचय) और बार-बार वार्तालाप (सकथा) का सदैव त्याग करे।

४. अंगपच्चंग-संठाणं चारुल्लविय-पेहियं।
बंभचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए॥

[४] ब्रह्मचर्यपरायण साधु नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के अंग-प्रत्यग, सस्थान (आकृति, डीलडौल या शरीर रचना), बोलने की सुन्दर छटा (या मुद्रा), तथा कटाक्ष को देखने का परित्याग करे।

५. कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणिय-कन्दियं।
बंभचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए॥

[५] ब्रह्मचर्य मे रत साधु श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन न सुने।

६. हासं किड्डं रइं दप्पं सहभुत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि॥

[६] ब्रह्मचर्य-निष्ठ साधु दीक्षाग्रहण से पूर्व जीवन मे स्त्रियो के साथ अनुभूत हास्य, क्रीडा, रति, दर्प (कन्दर्प, या मान) और साथ किए भोजन एव बैठने का कदापि चिन्तन न करे।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२७-४२८

७. पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥

[७] ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु शीघ्र ही कामवासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भोजन-पान का सदैव त्याग करे।

८. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया॥

[८] ब्रह्मचर्य मे लीन रहने वाला, चित्त-समाधि से सम्पन्न साधु सयमयात्रा (या जीवन-निर्वाह) के लिए उचित (शास्त्र-विहित) समय मे धर्म (मुनिधर्म की मर्यादानुसार) उपलब्ध परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक भोजन न करे।

९. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

[९] ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु विभूषा का त्याग करे, शृंगार के लिए शरीर का मण्डन (प्रसाधन) न करे।

१०. सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥

[१०] वह शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन पाच प्रकार के कामगुणो का सदा त्याग करे।

विवेचन—विविक्त, अनाकीर्ण और रहित : तीनों का अन्तर—विविक्त का अर्थ है—स्त्री आदि के निवास से रहित एकान्त, अनाकीर्ण का अर्थ है—उन-उन प्रयोजनो से आने वाली स्त्रियो आदि से अनाकुल—भरा न रहता हो ऐसा स्थान तथा रहित का अर्थ है—अकाल मे व्याख्यान, वन्दन आदि के लिए आने वाली स्त्रियो से रहित—वर्जित।[1]

कामरागविवड्ढणी : अर्थ—कामराग—विषयासक्ति की वृद्धि करने वाली।

चक्खुगिज्झं० : तात्पर्य—चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियो के अगादि को न देखे, न देखने का प्रयत्न करे। यद्यपि नेत्र होने पर रूप का ग्रहण अवश्यम्भावी है, तथापि यहाँ प्रयत्नपूर्वक—स्वेच्छा से देखने का परित्याग करना चाहिए, यह अर्थ अभीष्ट है। कहा भी है—चक्षु-पथ मे आए हुए रूप का न देखना तो अशक्य है, किन्तु बुद्धिमान् साधक राग-द्वेषवश देखने का परित्याग करे।[2]

मयविवड्ढणं—मद का अर्थ यहाँ—कामोद्रेक—कामोत्तेजन है, उसको बढ़ाने वाला (मद-विवर्द्धन)।[3]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८

२. वही, पत्र ४२८ · असक्का रूवमद्दट्ठुं चक्खुगोयरमागयं।
रागद्दोसे उ जे तत्थ, त बुहो परिवज्जए॥

३. वही, पत्र ४२८

धम्मलद्धं : तीन रूप : तीन अर्थ (१) धर्म्यलब्ध—धर्म्य—धर्मयुक्त एषणीय, निर्दोष भिक्षा द्वारा गृहस्थो से उपलब्ध, न कि स्वय निर्मित, (२) धर्म—मुनिधर्म के कारण या धर्मलाभ के कारण लब्ध, न कि चमत्कारप्रदर्शन से प्राप्त और (३) 'धर्मलब्धु'—उत्तम क्षमादि दस धर्मों को निरतिचार रूप से प्राप्त करने के लिए प्राप्त।[1]

'मियं –मितं'—सामान्य अर्थ है—परिमित, परन्तु इसका विशेष अर्थ है—शास्त्रोक्त परिमाणयुक्त आहार। आगम मे कहा है—पेट मे छह भागो की कल्पना करे, उनमे से आधा—यानी तीन भाग साग-तरकारी सहित भोजन से भरे, दो भाग पानी से भरे और एक भाग वायुसचार के लिए खाली रखे।[2]

'जत्तत्थं'—यात्रार्थ—सयमनिर्वाहार्थ, न कि शरीरबल बढाने एव रूप आदि से सम्पन्न बनने के लिए।

पणिहाणवं—चित्त की स्वस्थता से युक्त होकर भोजन करे, न कि रागद्वेष या क्रोधादि वश होकर।[3]

सरीरमंडणं—शरीरपरिमण्डन, अर्थात्—केशप्रसाधन आदि।

कामगुणे : व्याख्या—इच्छाकाम और मदनकाम रूप द्विविध काम के गुण, अर्थात्—उपकारक या साधन अथवा साधन रूप उपकरण।[4]

आत्मान्वेषक ब्रह्मचर्यनिष्ठ के लिए दस तालपुटविष-समान

११. आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासि इन्दियदरिसण॥

१२. कूइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयण॥

१३. गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नारस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा॥

[११-१२-१३] (१) स्त्रियो से आकीर्ण आलय (निवासस्थान), (२) मनोरम स्त्रीकथा, (३) नारियो का परिचय (ससर्ग), (४) उनकी इन्द्रियो का (रागभाव से) अवलोकन, ॥११॥

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८-४२९

२ (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ७३
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२९

३. वही, पत्र ४२९

यात्रार्थं-सयमनिर्वाहणार्थं, न तु रूपाद्यर्थम्।
"प्रणिधानवान्—चित्तस्वास्थ्योपेतो, न तु रागद्वेषवशगो भुंजीत॥

४. वही, पत्र ४२९

(५) उनके कूजन, रोदन, गीत तथा हास्य (हसी-मजाक) को (दीवार आदि की ओट मे छिप कर सुनना), (६) (पूर्वावस्था मे) भुक्त भोग तथा सहावस्थान का स्मरण—(चिन्तन) करना, (७) प्रणीत पान-भोजन और (८) अतिमात्रा मे पान-भोजन ।

(९) स्त्रियों के लिए इष्ट शरीर की विभूषा करना और (१०) दुर्जय काम-भोग; ये दस आत्मगवेषक मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं ।

विवेचन—फलितार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान की उन्ही नौ गुप्तियो के भग को तालपुट विष के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।

संस्तव : प्रासंगिक अर्थ—स्त्रियो का परिचय, एक ही आसन पर बैठने या साथ-साथ भोजनादि सेवन से होता है ।

काम और भोग—शास्त्रानुसार काम शब्द, शब्द एव रूप का वाचक है और भोग शब्द है—रस, गन्ध और स्पर्श का वाचक ।

विसं तालउडं जहा—तालपुट विष शीघ्रमारक होता है । उसे ओठ पर रखते ही, ताल या ताली बजाने जितने समय मे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । इसी प्रकार ब्रह्मचर्यसमाधि मे बाधक ये पूर्वोक्त १० बाते ब्रह्मचारी साधक के सयम की शीघ्र विघातक है ।[1]

ब्रह्मचर्य-समाधिमान् के लिए कर्त्तव्यप्रेरणा

१४. दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

[१४] प्रणिधानवान् (स्वस्थ या स्थिर चित्त वाला) मुनि दुर्जय कामभोगो का सदैव परित्याग करे और (ब्रह्मचर्य के पूर्वोक्त) सभी शकास्थानो (भयस्थलो) से दूर रहे ।

१५. धम्माराने चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दन्ते बम्भचेर-समाहिए ॥

[१५] भिक्षु धृतिमान् (परीषह और उपसर्गों को सहने मे सक्षम), धर्मरथ का सारथि, धर्म (श्रुत-चारित्र रूप धर्म) के उद्यान मे रत, दान्त तथा ब्रह्मचर्य मे सुसमाहित होकर धर्म के आराम (बाग) मे विचरण करे ।

विवेचन—संकट्ठाणाणि सव्वाणि—पूर्व गाथात्रय मे उक्त दसों ही शकास्थानो का परित्याग करे, यह ब्रह्मचर्यरत साधु-साध्वी के लिए भगवान् की आज्ञारूप चेतावनी है । इस पर न चलने से आज्ञा-भग अनवस्था मिथ्यात्व एव विराधना के दोष की सम्भावना है ।[2]

१५ वीं गाथा का द्वितीय अर्थ—ब्रह्मचर्यसमाधि के लिए भिक्षु धृतिमान्, धर्मसारथि,

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०

धर्माराम में रत एवं दान्त होकर धर्म रूप उद्यान में ही विचरण करे। यह अर्थ भी सम्भव है, क्योंकि ये दोनो गाथाएँ ब्रह्मचर्यविशुद्धि के लिए हैं।[1]

धर्मसारथि—यहाँ भिक्षु को धर्मसारथि इसलिए बतलाया गया है कि वह स्वयं धर्म में स्थिर होकर दूसरों (गृहस्थो, श्रावक आदि) को भी धर्म मे प्रवृत्त करता है, स्थिर भी करता है।[2]

ब्रह्मचर्य-महिमा

१६. देव—दाणव—गन्धव्वा जक्ख—रक्खस—किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं॥

[१६] देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सभी उस को नमस्कार करते है, जो दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है।

१७. एस धम्मे धुवे निअए सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥
—त्ति बेमि।

[१७] यह (ब्रह्मचर्यरूप) धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इस धर्म के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, हो रहे है और भविष्य मे होगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—देव आदि शब्दों के अर्थ—देव—ज्योतिष्क और वैमानिक, **दानव**—भवनपति, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये व्यन्तर विशेष हैं। उपलक्षण से अन्य व्यन्तरदेवो का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

दुक्करं—कायर लोगो द्वारा कठिनता से आचरणीय।

ध्रुवादि : अर्थ—ध्रुव—प्रमाण से प्रतिष्ठित, **नित्य**—त्रिकालसम्भवी, **शाश्वत**—अनवरत रहने वाला।[3]

॥ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान : सोलहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०
२ वही, पत्र ४३०
'ठिओ य ठावए परे।' —इति वचनात्।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०

सत्रहवाँ अध्ययन : पापश्रमणीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'पापश्रमणीय' है। इसमें पापी श्रमण के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

* श्रमण बन जाने के बाद यदि व्यक्ति यह सोचता है कि अब मुझे और कुछ करने की कोई आवश्यकता नही है, न तो मुझे ज्ञानवृद्धि के लिए शास्त्रीय अध्ययन की जरूरत है, न तप, जप, ध्यान अहिंसादि व्रतपालन या दशविध श्रमणधर्म के आचरण की अपेक्षा है, तो यह बहुत बडी भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति का शिकार होकर साधक यह सोचने लगता है कि मैं महान् गुरु का शिष्य हूँ। मुझे सम्मानपूर्वक भिक्षा मिल जाती है, धर्मस्थान, वस्त्र, पात्र या अन्य सुखसुविधाएँ भी प्राप्त हैं। अब तप या अन्य साधना करके आत्मपीडन से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार विवेकभ्रष्ट होकर सोचने वाले श्रमण को प्रस्तुत अध्ययन मे 'पापश्रमण' कहा गया है।

* श्रमण दो कोटि के होते है। एक सुविहित श्रमण और दूसरा पापश्रमण। सुविहित श्रमण वह है, जो दीक्षा सिंह की तरह लेता है और सिंह की तरह ही पालन करता है। अहर्निश ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की साधना मे पुरुषार्थ करता है। प्रमाद को जरा भी स्थान नही देता। उसका आत्मभान जागृत रहता है। वह निरतिचार सयम का एव महाव्रतो का पालन करता है। समता उसके जीवन के कण-कण मे रमी रहती है। क्षमा आदि दस धर्मों के पालन मे वह सतत जागरूक रहता है।

* इसके विपरीत पापश्रमण सिंह की तरह दीक्षा लेकर सियार की तरह उसका पालन करता है। उसकी दृष्टि शरीर पर टिकी रहती है। फलत शरीर का पोषण करने मे, उसे आराम से रखने मे वह रात-दिन लगा रहता है। सुबह से शाम तक यथेच्छ खाता-पीता है, आराम से सोया रहता है। उसे खाने-पीने, सोने-जागने, बैठने-उठने और चलने-फिरने का कोई विवेक नही होता। वह चीजो को जहाँ-तहाँ बिना देखे-भाले रख लेता है। उसका सारा कार्य अविवेक से और अव्यवस्थित होता है। आचार्य, उपाध्याय एव गुरु के समझाने पर भी वह नही समझता, उलटे प्रतिवाद करता है। वह न तप करता है, न स्वाध्याय-ध्यान। रसलोलुप बन कर सरस आहार की तलाश मे रहता है। वह शान्त हुए कलह को भड़काता है, पापो से नही डरता, यहाँ तक कि अपना स्वार्थ सिद्ध न होने पर गण और गणी को भी छोड देता है।

  प्रस्तुत अध्ययन की १ से ४ गाथा मे ज्ञानाचार मे प्रमाद से, ५ वी गाथा मे दर्शनाचार में प्रमाद से, ६ से १४ तक की गाथा मे चारित्राचार मे प्रमाद से, १५-१६ गाथा मे तप-आचार मे प्रमाद से और १७ से १९ वी गाथा तक मे वीर्याचार में प्रमाद से पापश्रमण होने का निरूपण है।

* अन्त में २० वी गाथा मे पापश्रमण के निन्द्य जीवन का तथा २१ वीं गाथा मे श्रेष्ठश्रमण के वन्द्य जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। □□

सत्तरसमं अज्झयणं : सत्रहवाँ अध्ययन

पावसमणिज्जं : पापश्रमणीय

पापश्रमण : ज्ञानाचार में प्रमादी

१. जे के इमे पव्वइए नियण्ठे धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने ।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ।।

[१] जो कोई (मुमुक्षु साधक) धर्म-श्रवण कर, अत्यन्त दुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके, (पहले तो) विनय (अर्थात्—आचार) से सम्पन्न हो जाता है तथा निर्ग्रन्थधर्म मे प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु बाद मे सुख-सुविधा के अनुसार स्वच्छन्दविहारी हो जाता है ।

२. सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तु तहेव पाउं ।
जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ।।

[२] (आचार्य एव गुरु के द्वारा शास्त्राध्ययन की प्रेरणा मिलने पर वह दुर्मुख होकर कहता है—) आयुष्मन् ! गुरुदेव ! मुझे रहने को सुरक्षित (दृढ) वसति (उपाश्रय) मिल गई है, वस्त्र भी मेरे पास है, खाने-पीने को पर्याप्त मिल जाता है तथा (शास्त्र मे जीव-अजीव आदि) जो तत्त्व (वर्णित) हैं, (उन्हे) मैं जानता हूँ । भते ! फिर मैं शास्त्रो का अध्ययन करके क्या करूगा ?

३. जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

[३] जो कोई प्रव्रजित हो कर अत्यन्त निद्राशील रहता है, (यथेच्छ) खा-पीकर (निश्चिन्त होकर) सुख से सो जाता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है ।

४. आयरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

[४] जिन आचार्य और उपाध्याय से श्रुत (शास्त्रीय ज्ञान या विचार) और विनय (आचार) ग्रहण किया है, उन्ही आचार्यादि की जो निन्दा करता है, वह विवेकभ्रष्ट (बाल) पापश्रमण कहलाता है ।

विवेचन—शास्त्राध्ययन मे प्रमादी पापश्रमण के लक्षण : (१) स्वच्छन्दविहारी, (सुखसुविधावादी), (२) धृष्टतापूर्वक कुतर्कयुक्त दुर्वचनी, (३) अतिनिद्राशील, (४) खा-पीकर निश्चिन्त शयनशील, (५) शास्त्रज्ञानदाता का निन्दक और (६) विवेकभ्रष्ट अज्ञानी ।

'धम्मं' आदि शब्दों की व्याख्या—धम्मं—श्रुत-चारित्ररूप धर्म को । **विणओववन्ने**—विनय अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचाररूप विनयाचार से युक्त । **पच्छा जहासुहं**—प्रव्रज्याग्रहण के

पश्चात् जैसे-जैसे विकथा आदि करने से सुख मिलता जाता है, इस कारण सिंहरूप मे दीक्षित हो कर शृगालवृत्ति से जीता है। **दढा**—दृढ-मजबूत अर्थात् हवा, धूप, वर्षा आदि उपद्रवो से सुरक्षित। **पाउरणं**—प्रावरण-वर्षा-कल्प आदि या वस्त्रादि। **किं नाम काहामि सुएणं ?**—वह वर्तमान सुखैषी हो कर कहता है—मैं शास्त्र-अध्ययन करके क्या करू गा ? आप जो कुछ अध्ययन करते है, उससे भी आप किसी भी अतीन्द्रिय वस्तु को नही जान-देख सकते, किन्तु वर्तमान मात्र को देखते है, इतना ज्ञान तो मुझे मे भी है। फिर मैं शास्त्राध्ययन करके अपने कण्ठ और तालु को क्यो सुखाऊँ ? **सुहं सुवइ**—समस्त धर्मक्रियाओ से निरपेक्ष-उदासीन हो कर सो जाता है।[1]

दर्शनाचार में प्रमादी : पापश्रमण

५. आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[५] जो आचार्य और उपाध्याय के सेवा आदि कार्यों की चिन्ता नही करता, अपितु उनसे पराङ्मुख हो जाता है, जो अहकारी होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—पडितप्पई : भावार्थ—वह दर्शनाचारान्तर्गत वात्सल्य से रहित होकर आचार्यादि की सेवा मे ध्यान नही देता।

अप्पडिपूअए : वह आचार्यादि के प्रति पूजा-सत्कार के भाव नही रखता। उपलक्षण से अरिहन्त आदि के प्रति भी यथोचित विनय-भक्ति से विमुख हो जाता है।[2]

चारित्राचार में प्रमादी : पापश्रमण

६. सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[६] जो प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि जीव), बीज और हरी वनस्पति का सम्मर्दन करता (कुचलता) रहता है तथा असयत होते हुए भी स्वय को सयत मानता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

७. संथारं फलगं पीढं, निसेज्जं पायकम्बलं।
अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[७] जो सस्तारक (बिछौना), फलक (पट्टा), पीठ (चौकी या आसन), निषद्या (स्वाध्याय-भूमि आदि) तथा पादकम्बल (पैर पोछने के ऊनी वस्त्र) का प्रमार्जन किये बिना ही उन पर बैठ जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

८. दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[८] जो जल्दी-जल्दी चलता है, जो बार-बार प्रमादाचरण करता रहता है, जो मर्यादाओ का उल्लघन करता है, अति क्रोधी होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४३२-४३३
२ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४३३

९. पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[९] जो अनुपयुक्त (असावधान) हो कर प्रतिलेखन करता है, जो पात्र और कम्बल जहाँ-तहाँ रख देता है, जो प्रतिलेखन मे अनायुक्त (उपयोगरहित) होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१०. पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया।
गुरुं परिभावए निच्चं, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१०] जो (इधर-उधर की) तुच्छ बातो को सुनता हुआ प्रमत्त हो कर प्रतिलेखन करता है, जो गुरु की सदा अवहेलना करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

११. बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[११] जो बहुत मायावी (कपटशील) है, अत्यन्त वाचाल है, लुब्ध है, जिसका इन्द्रियो और मन पर नियन्त्रण नही है, जो प्राप्त वस्तुओ का सविभाग नही करता, जिसे अपने गुरु आदि के प्रति प्रेम नही है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१२. विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१२] जो शान्त हुए विवाद को पुन भडकाता है, जो अधर्म मे अपनी बुद्धि को नष्ट करता है, जो कदाग्रह (विग्रह) तथा कलह करने मे रत रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१३. अथिरासणे कुक्कुईए, जत्थ तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१३] जो स्थिरता से नही बैठता, जो हाथ-पैर आदि की चपल एव विकृत चेष्टाएँ करता है, जो जहाँ-तहाँ बैठ जाता है, जिसे आसान पर बैठने का विवेक नही है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१४. ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहइ।
संथारए अणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१४] जो सचित्त रज से लिप्त पैरो से सो जाता है, जो शय्या का प्रतिलेखन नही करता तथा सस्तारक (बिछौना) करने मे भी अनुपयुक्त (असावधान) रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—अप्पमज्जियं : प्रमार्जन किये विना अर्थात्—रजोहरण से पट्टे आदि की सफाई (शुद्धि) किये बिना। यहाँ उपलक्षण से प्रतिलेखन किये (देखे) बिना, अर्थ भी समझ लेना चाहिए। जहाँ प्रमार्जन है, वहाँ प्रतिलेखन अवश्य होता है।

'किंचि हु निसामिया' :—जो कुछ भी बातें सुनता है, उधर ध्यान देकर प्रतिलेखन मे उपयोग न रखना।[1]

१ बृहद्वृत्ति पत्र ४३४

गुरुं परिभावए—(१) जो गुरु का तिरस्कार करता है, गुरु के साथ विवाद करता है, असभ्य वचनो का प्रयोग करके गुरु को अपमानित करता है। जैसे—किसी गलत आचरण पर गुरु के द्वारा प्रेरित करने पर कहे—'आप अपना देखिये! आपने ही तो पहले हमे ऐसा सिखाया था, अब आप ही इसमे दोष निकालते हैं! इसमें गलती आपकी है, हमारी नही।'

असंविभागी—जो गुरु, रोगी, छोटे साधु आदि को उचित आहारादि दे देता है, वह संविभागी है, किन्तु जो अपना ही आत्मपोषण करता है, वह असंविभागी है।[1]

अत्तपन्नहा : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **आत्तप्रज्ञाहा**—सिद्धान्तादि के श्रवण से प्राप्त सद्बुद्धि (प्रज्ञा) को कुतर्कादि से हनन करने वाला, (२) **आप्तप्रज्ञाहा**—इहलोक-परलोक के लिए आप्त (हित) रूपी प्रज्ञा से कुयुक्तियो द्वारा दूसरो की बुद्धि को बिगाडने वाला। (३) **आत्मप्रश्नहा**—अपनी आत्मा मे उठती हुई आवाज को दबा देना। जैसे किसी ने पूछा कि आत्मा अन्य भवो मे जाती है या नही? तब उसी प्रश्न को अतिवाचालता से उडा देना कि आत्मा ही नही है, क्योकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अनुपलब्ध है, इसलिए तुम्हारा प्रश्न ही अयुक्त है।[2]

वुग्गहे : (१) विग्रह—डडे आदि से मारपीट करके लड़ाई-झगड़ा करना, (२) व्युद्ग्रह—कदाग्रह—मिथ्या आग्रह।

अणाउत्ते—सोते समय मुर्गी की तरह पैर पसार कर सिकोड लेने का आगम मे विधान है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि जो संस्तारक पर सोते समय ऐसी सावधानी नही रखता, वह अनायुक्त है।[3]

तप-आचार में प्रमादी : पापश्रमण

१५. दुद्ध-दहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१५] जो दूध, दही आदि विकृतियो (विगई) का बार-बार सेवन करता है, जिसकी तप-क्रिया मे रुचि नही है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१६. अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१६] जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बार-बार आहार करता रहता है, जो समझाने (प्रेरणा देने) वाले शिक्षक गुरु को उलटे उपदेश देने लगता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—विगईओ : व्याख्या—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ (चीनी आदि मीठी वस्तुएँ) और

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४
२. वही, पत्र ४३५
३. वही, पत्र ४३५

नवनीत, ये पाच विगइ (विकृतियाँ) कहलाती है। इनका बार-बार या अतिमात्रा मे बिना किसी पुष्टावलम्बन (कारण) के सेवन विकार बढाता है। इसलिए इन्हे विकृति कहा जाता है।[1]

चोइओ पडिचोएइ : व्याख्या—प्रेरणा करने वाले को ही उपदेश झाडने लगता है। जैसे किसी गीतार्थ साधु ने दिन भर आहार करते रहने वाले साधु से कहा—'भाई! क्या तुम दिन भर आहार ही करते रहोगे? मनुष्यजन्म, धर्मश्रवण आदि उत्तम सयोग प्राप्त करके तपस्या मे उद्यम करना उचित है।' इस प्रकार प्रेरित करने पर वह उलटा सामने बोलने लगता है—आप दूसरो को उपदेश देने मे ही कुशल है, स्वय आचरण करने मे नही। अन्यथा, जानते हुए भी आप लम्बी तपस्या क्यो नही करते है?[2]

वीर्याचार में प्रमादी : पापश्रमण

१७. आयरियपरिच्चाई, परपासण्डसेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१७] जो अपने आचार्य का परित्याग करके अन्य पाषण्ड—(मतपरम्परा) को स्वीकार करता है, जो एक गण को छोडकर दूसरे गण मे चला जाता है, वह दुर्भूत (निन्दित) पापश्रमण कहलाता है।

१८. सयं गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावडे।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१८] जो अपने घर (साधु-सघ) को छोडकर पर-घर (गृहस्थी के धन्धो) मे व्यापृत होता (लग जाता) है, जो शुभाशुभ निमित्त बतला कर व्यवहार चलाता—द्रव्योपार्जन करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१९. सन्नाइपिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१९] जो अपने ज्ञातिजनो—पूर्वपरिचित स्वजनो से ही आहार लेता है, सभी घरो से सामुदानिक भिक्षा लेना नही चाहता तथा गृहस्थ की निषद्या (बैठने की गद्दी) पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

२०. एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थ लोए ॥

[२०] जो इस प्रकार का आचरण करता है, वह पाच कुशील भिक्षुओ के समान असंवृत है, वह केवल मुनिवेष का ही धारक है, वह श्रेष्ठ मुनियो मे निकृष्ट है, वह इस लोक मे विष की तरह निन्द्य है। न वह इस लोक का रहता है, न परलोक का।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५

२ वही, पत्र ४३५

विवेचन—आयरियपरिच्चाई—आचार्यपरित्यागी—आचार्य का परित्याग कर देने वाला। तपक्रिया में असमर्थता अनुभव करने वाले साधु को।आचार्य तपस्या मे उद्यम करने की प्रेरणा देते हैं तथा लाया हुआ आहार भी ग्लान, बालक आदि साधुओं को देते हैं, इस कारण या ऐसे ही किसी अन्य कारणवश जो आचार्य को छोड़ देता है और सुख-सुविधा वाले अन्य पासण्ड मत—पंथ का आश्रय ले लेता है।[1]

गाणंगणिए—गाणंगणिक—जो मुनि स्वेच्छा से गुरु या आचार्य की आज्ञा के बिना, अध्ययन आदि किसी प्रयोजन के बिना ही छह मास की अल्प अवधि मे ही एक गण से दूसरे गण मे चला जाता है, वह गाणगणिक कहलाता है। भ महावीर की सघव्यवस्था मे यह नियम था कि जो साधु जिस गण में दीक्षित हो, उसी मे जीवन भर रहे। हाँ, अध्ययनादि किसी विशेष कारणवश गुरु-आज्ञा से वह अन्य साधार्मिक गणों मे जा सकता है। परन्तु गणान्तर में जाने के बाद कम-से-कम ६ महीने तक तो उसे उसी गण में रहना चाहिए।[2]

परगेहंसि वावडे : दो अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार परगृह में व्यापृत होता है का अर्थ है—निमित्तादि बता कर निर्वाह करना। (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—स्वगृह—स्वप्रव्रज्या को छोडकर जो परगृह में व्याप्त होता है—अर्थात्—जो रसलोलुप आहारार्थी होकर गृहस्थों को आप्तभाव दिखाकर उनका काम स्वय करने लग जाता है।[3]

संनाइपिंडं जेमेइ—स्वज्ञातिजन अर्थात्—स्वजन यथेष्ट स्निग्ध, मधुर एव स्वादिष्ट आहार देते हैं, इसलिए जो स्वज्ञातिपिण्ड खाता है।

सामुदाणियं—ऊँच-नीच आदि सभी कुलो से भिक्षा लेना सामुदानिक है। बृहद्वृत्ति के अनुसार—(१) अनेक घरो से लाई हुई भिक्षा तथा (२) अज्ञात ऊछ—अपरिचित घरो से लाई हुई भिक्षा।[4]

दुब्भूए : तात्पर्य—दुराचार के कारणभूत—निन्दित दुर्भूत कहलाता है।

सुविहित श्रमण द्वारा उभयलोकाराधना

२१. जे वज्जए एए सया उ दोसे से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए आराहए लोगमिणं तहावरं॥
—त्ति बेमि

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५

२ (क) वही, पत्र ४३५-४३६

(ख) "छम्मासऽब्भंतरतो गणा गण संकमं करेमाणो।" —दशाश्रुत.

(ग) स्थानांग. ७।५४१

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६ (ख) चूर्णि, पृ. २४६-२४७

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६

[२१] जो साधु इन दोषो का सदा त्याग करता है, वह मुनियो मे सुव्रत होता है, वह इस लोक में अमृत के समान पूजा जाता है। अत वह इस लोक और परलोक, दोनो लोको की आराधना करता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सुव्वए—अर्थ—निरतिचारता के कारण प्रशस्यव्रत।[1]

॥ पापश्रमणीय : सत्रहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६

अठारहवाँ अध्ययन : संजयीय

अध्ययन-सार

* उत्तराध्ययन सूत्र का अठारहवाँ अध्ययन (१) सजयीय अथवा (२) सयतीय है। यह नाम सजय (राजर्षि) अथवा सयति (राजर्षि) के नाम पर से पडा है।

* इस अध्ययन के पूर्वार्द्ध मे १८ गाथाओ तक सजय (या सयति) राजा के शिकारी से पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थमुनि के रूप मे परिवर्तन की कथा अकित है। काम्पिल्यनगर का राजा सजय अपनी चतुरगिणी सेना सहित शिकार लिए वन मे चला। सेना ने जगल के हिरणो को केसर उद्यान की ओर खदेडा। फिर घोडे पर चढे हुए राजा ने उन हिरणो को बाणो से बींधना शुरू किया। कई घायल होकर गिर पडे, कई मर गए। राजा लगातार उनका पीछा कर रहा था। कुछ दूर जाने पर राजा ने मरे हुए हिरणो के पास ही लतामण्डप मे ध्यानस्थ मुनि को देखा। वह भयभीत हुआ कि हो न हो, ये हिरण मुनि के थे, जिन्हे मैंने मार डाला। मुनि क्रुद्ध हो गए तो क्षणभर मे मुझे ही नही, लाखो व्यक्तियो को भस्म कर सकते है। अत भयभीत होकर अत्यन्त विनय-भक्तिपूर्वक मुनि से अपराध के लिए क्षमा मागी। मुनि ने ध्यान खोला और राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—राजन्! मेरी ओर से तुम्हे कोई भय नही है, परन्तु तुम भी इन निर्दोष प्राणियो के अभयदाता बनो। फिर तुम जिनके लिए ये और ऐसे घोर कुकृत्य कर रहे हो, उनके दुष्परिणाम भोगते समय कोई भी तुम्हे बचा न सकेगा, न ही शरण देगा। इसके पश्चात् शरीर, यौवन, धन, परिवार एव ससार की अनित्यता का उपदेश गर्दभालि आचार्य ने दिया, जिसे सुन कर सजय राजा को विरक्ति हो गई। उसने सर्वस्व त्याग कर जिन-शासन की प्रव्रज्या ले ली।

* इसके उत्तरार्द्ध मे, जब कि सजय मुनि गीतार्थ, कठोर श्रमणाचारपालक और एकलविहार-प्रतिमाधारक हो गए थे, तब एक क्षत्रिय राजर्षि ने उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की थाह लेने के लिए उनसे कुछ प्रश्न पूछे। तत्पश्चात् क्षत्रियमुनि ने स्वय स्वानुभवमूलक कई तथ्य एकान्तवादी क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एव अज्ञानवाद के विषय मे बताए, अपने पूर्व-जन्म की स्मृतियो का वर्णन किया।

* गाथा ३४ से ५१ तक मे भगवान् महावीर के जिनशासनसम्मत ज्ञान-क्रियावादसमन्वय रूप सिद्धान्तो पर चल कर जिन्होने स्वपरकल्याण किया, उन भरत आदि १९ महान् आत्माओ का सक्षेप मे प्रतिपादन किया है। इन गाथाओ द्वारा जैन इतिहास की पुरातन कथाओ पर काफी प्रकाश डाला गया है।

* अन्तिम तीन गाथाओ द्वारा क्षत्रियमुनि ने अनेकान्तवादी जिनशासन को स्वीकार करने की प्रेरणा दी है तथा उसके सुपरिणाम के विषय में प्रतिपादन किया गया है।

□□

अट्ठारसमं अज्झयणं : अठारहवाँ अध्ययन

संजइज्जं : संजयीय

संजय राजा का शिकार के लिए प्रस्थान एवं मृगवध

१. कम्पिल्ले नयरे राया उदिण्णबल-वाहणे ।
नामेणं संजए नाम मिगव्वं उवणिग्गए ।।

[१] काम्पिल्यनगर मे विस्तीर्ण बल (चतुरंग सैन्य) और वाहनो से सुसम्पन्न सजय नाम से प्रसिद्ध राजा था । (वह एक दिवस) मृगया (शिकार) के लिए (नगर से) निकला ।

२. हयाणीए गयाणीए रहाणीए तहेव य ।
पायत्ताणीए महया सव्वओ परिवारिए ।।

[२] वह (राजा) सब ओर से बडी सख्या मे अश्वसेना, गजसेना, रथसेना तथा पदाति (पैदल) सेना से परिवृत था ।

३. मिए छुभित्ता हयगओ कम्पिल्लुज्जाणकेसरे ।
भीए सन्ते मिए तत्थ वहेइ रसमुच्छिए ।।

[३] वह अश्व पर आरूढ था । काम्पिल्यनगर के केसर नामक उद्यान (बगीचे) की ओर (सैनिको द्वारा) उनमे से धकेले गए अत्यन्त भयभीत और श्रान्त कतिपय मृगो को वह रसमूर्च्छित होकर मार रहा था ।

विवेचन—बलवाहणे : दो अर्थ—(१) **बल**—चतुरगिणी सेना (हाथी, घोडे, रथ और पैदल सेना), **वाहन**—गाडी, शिविका, यान आदि । (२) बल—शरीरसामर्थ्य, वाहन—हाथी, घोडे आदि तथा उपलक्षण से पदाति ।[1]

मिए तत्थ : व्याख्या—उन मृगो मे से कुछ (परिमित) मृगो को ।

रसमुच्छिए : तात्पर्य—मास के स्वाद मे मूर्च्छित—आसक्त ।

हयाणीए : अर्थ—हय—अश्वो की, अनीक—सेना से ।

वहेइ : दो अर्थ—(१) व्यथित (परेशान) कर रहा था, (२) मार रहा था ।[2]

ध्यानस्थ अनगार के समीप राजा द्वारा मृगवध

४. अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे ।
सज्झाय-ज्झाणसंजुत्ते धम्मज्झाणं झियायई ।।

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र बृहद्वृत्ति, पत्रांक ४३८ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १०९

२ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८

[४] इधर उस केसर उद्यान मे एक तपोधन अनगार स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न थे। वे धर्मध्यान मे एकतान हो रहे थे।

५. अप्फोवमण्डवम्मि झायई झवियासवे।
तस्सागए मिए पासं वहेई से नराहिवे ॥

[५] आश्रव का क्षय करने वाले मुनि अप्फोव-(लता) मण्डप मे ध्यान कर रहे थे। उनके समीप आए हुए मृगो को उस नरेश ने (बाणो से) बीध दिया।

विवेचन—अणगारे तवोधणे : आशय—यहाँ तपोधन अनगार का नाम निर्युक्तिकार ने 'गद्दभालि' (गर्दभालि) बताया है।[1]

सज्झायज्झाणसंजुत्ते—स्वाध्याय से अभिप्राय है—अनुप्रेक्षणादि और ध्यान से अभिप्राय है—धर्मध्यान आदि शुभ ध्यान मे सलीन।

झवियासवे—जिन्होने हिंसा आदि आश्रवो अर्थात् कर्म-बन्ध के हेतुओ को निर्मूल कर दिया था।

अप्फोवमंडवे—यह देशीय शब्द है, वृद्ध व्याख्याकारो ने इसका अर्थ किया है—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि से आच्छादित मण्डप।

वहेइ : दो अर्थ—(१) बीध दिया, (२) वध कर दिया।[2]

मुनि को देखते ही राजा द्वारा पश्चात्ताप और क्षमायाचना

६. अह आसगओ राया खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता अणगारं तत्थ पासई ॥

[६] तदनन्तर वह अश्वारूढ राजा शीघ्र ही वहाँ आया, (जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे।) मृत हिरणो को देख कर उसने वहाँ एक ओर अनगार को भी देखा।

७. अह राया तत्थ संभन्तो अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मन्दपुण्णेणं रसगिद्धेण घन्तुणा ॥

[७] वहाँ मुनिराज को देखने पर राजा सम्भ्रान्त (भयत्रस्त) हो उठा। उसने सोचा—मुझ मन्दपुण्य (भाग्यहीन), रसासक्त एव हिंसापरायण (घातक) ने व्यर्थ ही अणगार को आहत किया, पीडा पहुँचाई है।

८. आसं विसज्जइत्ताणं अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए भगवं! एत्थ मे खमे ॥

[८] उस नृप ने अश्व को (वही) छोड कर मुनि के चरणो में सविनय वन्दन किया और कहा—'भगवन्! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करे।'

---

१. उत्तरा. निर्युक्ति, गाथा ३९७
२ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८

विवेचन—तहिं : आशय—उस मण्डप मे, जहाँ वे मुनि ध्यान कर रहे थे।

मणाऽऽहओ—उनके निकट मे ही हिरणो को मार कर व्यर्थ ही मैंने मुनि के हृदय को चोट पहुँचाई है।'[1]

मुनि के मौन से राजा की भयाकुलता

९. अह मोणेण सो भगवं अणगारे झाणमस्सिए।
रायाणं न पडिमन्तेइ तओ राया भयद्दुओ॥

[९] उस समय वे अनगार भगवान् मौनपूर्वक ध्यान (धर्मध्यान) मे मग्न थे। (अतः) उन्होने राजा को कोई प्रत्युत्तर नही दिया। इस कारण राजा भय से और अधिक त्रस्त हो गया।

१०. संजओ अहमस्सीति भगवं! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे डहेज्ज नरकोडिओ॥

[१०] (राजा ने कहा)—भगवन्! मै 'सजय' हूँ। आप मुझ से वार्तालाप करे, बोले, (क्योकि) क्रुद्ध अनगार अपने तेज से करोडो मनुष्यो को भस्म कर सकता है।

विवेचन—न पडिमंतेइ—प्रत्युत्तर नही दिया (अत राजा ने सोचा—'मैं तुम्हे क्षमा करता हूँ, या नही' ऐसा मुनि ने कोई प्रत्युत्तर नही दिया। इससे मालूम होता है कि ये अवश्य ही क्रुद्ध हो गये हैं, इसी कारण ये मुझ से कुछ भी नही बोलते)।

भयद्दुओ—मुनि के मौन रहने के कारण राजा अत्यन्त भयत्रस्त हो गया कि न जाने ये ऋषि कुपित होकर क्या करेगे?

सजओ अहमस्सीति—भयभीत राजा ने नम्रतापूर्वक अपना परिचय दिया—'मै 'सजय' नामक राजा हूँ।' यह इस आशय से कि कही मुझे ये नीच समझ कर कोप करके भस्म न कर दे।

कुद्धे तेएण०—राजा बोला—'मै इसलिए भयत्रस्त हूँ कि आप मुझ से बात नही कर रहे हैं। मैने सुना है कि तपोधन अनगार कुपित हो जाएँ तो अपने तेज (तपोमाहात्म्यजनित तेजोलेश्यादि) से सैकडो, हजारो ही नही, करोडो मनुष्यो को भस्म कर सकते हैं।'[2]

मुनि के द्वारा अभयदान, अनासक्ति एवं अनित्यता आदि का उपदेश

११. अभओ पत्थिवा! तुब्भं अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि?

[११] मुनि ने कहा—हे पृथ्वीपाल! तुझे अभय है। किन्तु तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीवलोक मे तू क्यों हिंसा मे रचा-पचा है?

१२. जया सव्वं परिच्चज्ज गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि?

---

१ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४३९

२. उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४३९

[१२] जब कि तुझे सब कुछ छोड कर अवश्य ही विवश होकर (परलोक मे) चले जाना है, तब इस अनित्य जीवलोक मे तू राज्य में क्यो आसक्त हो रहा है ?

१३. जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपाय-चंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं! पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

[१३] राजन ! तू जिस पर मोहित हो रहा है, वह जीवन और रूप विद्युत् की चमक के समान चचल है। तू अपने परलोक के हित (अर्थ) को नही जान रहा है।

१४. दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

[१४] (इस स्वार्थी ससार मे) स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र तथा बन्धुजन, (ये सब) जीवित व्यक्ति के साथी हैं, मृत व्यक्ति के साथ कोई नही जाता।

१५. नीहरन्ति मयं पुत्ता पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते बन्धू रायं! तवं चरे ॥

[१५] अत्यन्त दु खित होकर पुत्र अपने मृत पिता को (घर से बाहर) निकाल देते है। इसी प्रकार (मृत) पुत्रो को पिता और बन्धुओ को (बन्धुजन) भी बाहर निकाल देते हैं। अत हे राजन् ! तू तपश्चर्या कर।

१६. तओ तेणऽज्जिए दव्वे दारे य परिरक्खिए।
कीलन्तऽन्ने नरा रायं! हट्ठ-तुट्ठ-मलंकिया ॥

[१६] हे भूपाल ! मृत्यु के बाद उस (मृत व्यक्ति) के द्वारा उपार्जित द्रव्य को तथा सुरक्षित नारियो को दूसरे व्यक्ति (प्राप्त करके) आनन्द मनाते है, वे हृष्ट-पुष्ट-सन्तुष्ट और विभूषित (वस्त्राभूषणो से सुसज्जित) होकर रहते है।

१७. तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं ॥

[१७] उस मृत व्यक्ति ने (पहले) जो भी सुखहेतुक (शुभ) कर्म या दु खहेतुक (अशुभ) कर्म किया है, (तदनुसार) वह उस कर्म से युक्त होकर परभव (परलोक) मे (अकेला ही) जाता है।

विवेचन—अभओ पत्थिवा! तुज्झ—मुनि ने भयाकुल राजा को आश्वासन देते हुए कहा—हे राजन् ! मेरी ओर से तुम्हे कोई भय नही है।

विज्जुसंपाय चंचल : अर्थ—बिजली के सम्पात, अर्थात् चमक के समान चपल।

'अभयदाया भवाहि य' : मुनि ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—राजन् ! जैसे तुम्हे मृत्यु का भय लगा, वैसे दूसरे प्राणियो को भी मृत्यु का भय है। जैसे मैने तुझे अभयदान दिया, वैसे तू भी दूसरे प्राणियो का अभयदाता बन।

अणिच्चे जीवलोगम्मि०—यह समग्र जीवलोक अनित्य है, इस दृष्टि से तुम भी अनित्य हो,

तुम्हारा भी जीवन स्वल्प है। फिर इस स्वल्पकालिक जीवन के लिए क्यो हिंसा आदि पापो का उपार्जन कर रहे हो? इसी प्रकार यह जीवन और सौन्दर्य आदि सब चंचल हैं तथा मृत्यु के अधीन बनकर एक दिन तुम्हे राज्य, धन, कोश आदि सब छोड़कर जाना पडेगा, फिर इन वस्तुओ के मोह मे क्यों मुग्ध हो रहे हो?

दाराणि य सुया चेव०—जिन स्त्री-पुत्रादि के लिए मनुष्य धन कमाता है, पापकर्म करता है, वे जीते-जी के साथी हैं, मरने के बाद कोई साथ मे नही जाता। जीव अकेला ही अपने उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के साथ परलोक मे जाता है। वहाँ कोई भी सगे-सम्बन्धी दु ख भोगने नही आते; उसके मरने के बाद उसके द्वारा पापकर्म से या कष्ट से उपार्जित धन आदि का उपभोग दूसरे ही करते हैं, वे उसकी कमाई पर मौज उड़ाते हैं।[1]

निष्कर्ष—मुनि ने राजा को अभयदान देने, राज्यत्याग करने कर्मपरिणामो की निश्चितता एव परलोकहित को सोचने तथा अनित्य जीवन, यौवन, बन्धु-बान्धव आदि के प्रति आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया।

विरक्त संजय राजा जिनशासन में प्रव्रजित

१८. सोऊण तस्स सो धम्मं अणगारस्स अन्तिए।
महया संवेगनिव्वेयं समावन्नो नराहिवो॥

[१८] उन गर्दभालि अनगार (के पास) से महान् (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म (का उपदेश) श्रवण कर वह संजय नराधिप महान् सवेग और निर्वेद को प्राप्त हुआ।

१९. संजओ चइउं रज्जं निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ अणगारस्स अन्तिए॥

[१९] राज्य का परित्याग करके वह सजय राजा भगवान् गर्दभालि अनगार के पास जिन-शासन में प्रव्रजित हो गया।

विवेचन—महया : दो अर्थ—(१) महान् सवेग और निर्वेद, अथवा (२) महान् आदर के साथ।

संवेग और निर्वेद—सवेग का अर्थ है—मोक्ष की अभिलाषा और निर्वेद का अर्थ है—ससार से उद्विग्नता—विरक्ति।

रज्जं—राज्य को।[2]

क्षत्रियमुनि द्वारा संजयराजर्षि से प्रश्न

२०. चिच्चा रट्ठं पव्वइए खत्तिए परिभासइ।
जहा ते दीसई रूवं पसन्नं ते तहा मणो॥

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र बृहद्वृत्ति, पत्र ४४०, ४४१

२ उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पत्र ४४१

[२०] जिसने राष्ट्र का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली, उस क्षत्रिय (मुनि) ने (एक दिन) सजय राजर्षि से कहा—'(मुने !) जैसे आपका यह रूप (बाह्य आकार) प्रसन्न (निर्विकार) दिखाई दे रहा है, वैसे ही आपका मन (अन्तर) भी प्रसन्न दीख रहा है।'

२१. किंनामे ? किंगोत्ते ? कस्सट्ठाए व माहणे ?
कहं पडियरसी बुद्धे ? कहं विणीए त्ति वुच्चसि ?

[२१] (क्षत्रियमुनि)—'आपका क्या नाम है ? आपका गोत्र कौन-सा है ? आप किस प्रयोजन से माहन बने हैं ? तथा बुद्धो—आचार्यों की किस प्रकार से सेवा (परिचर्या) करते है ? एव आप विनयशील क्यो कहलाते हैं ?'

विवेचन—खत्तिए परिभासइ : तात्पर्य—किसी क्षत्रिय ने दीक्षा धारण कर ली। वह भी राजर्षि था। पूर्वजन्म मे वह वैमानिक देव था। वहाँ से च्यवन करके उसने क्षत्रियकुल मे जन्म लिया था। किसी निमित्त से उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो गई, जिससे संसार से विरक्त होकर उसने प्रव्रज्या धारण कर ली थी। उस मुनि का नाम न लेकर शास्त्रकार क्षत्रियकुल मे उसका जन्म होने से क्षत्रिय नाम से उल्लेख करते हैं कि क्षत्रिय ने सजय राजर्षि से सम्भाषण किया।[1]

संजय राजर्षि से क्षत्रिय के प्रश्न : कब और कैसी स्थिति मे ?—जब सजय राजर्षि दीक्षा धारण करके कुछ ही वर्षों मे गीतार्थ हो गए थे और निर्ग्रन्थमुनि-समाचारी का सावधानीपूर्वक पालन करते हुए गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करने लग गए थे। वे विहार करते हुए एक नगर मे पधारे। वही इन अप्रतिबद्धविहारी क्षत्रियमुनि ने उनसे भेंट की और परिचय प्राप्त करने के लिए उक्त प्रश्न किये।

पांच प्रश्न : आशय—क्षत्रियमुनि के पाच प्रश्न थे—आपका नाम व गोत्र क्या है ? आप किसलिए मुनि बने हैं ? आप एकाकी विचरण कर रहे है, ऐसी स्थिति मे आचार्यों की परिचर्या कैसे और कब करते हैं ? तथा आचार्य के सान्निध्य मे न रहने के कारण विनीत कैसे कहलाते हैं ?[2]

माहणे—'माहन' शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है—जिसका मन, वचन और क्रिया हिंसा-निवृत्ति-(मत मारो इत्यादि) रूप है, वह माहन है। उपलक्षण से हिंसादि सर्वपापो से विरत मुनि ही यहाँ माहन शब्द से गृहीत है।[3]

राष्ट्र शब्द की परिभाषा—यहाँ 'राष्ट्र' ग्राम, नगर आदि का समुदाय या मण्डल है। एक

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ १२५

२ (क) "स चैव गृहीतप्रव्रज्योऽधिगतहेयोपादेयविभागो दशविधचक्रवालसामाचारीरतश्चानियतविहारितया विहरन् तथाविधसन्निवेशमाजगाम।" —उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ. १२५

३. (क) माहणेत्ति मा वधीत्येवरूप मनो वाक् क्रिया यस्याऽसौ माहन.। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
(ख) मा हन्ति कमपि प्राणिन मनोवाक्कायैः. स माहन.—प्रव्रजित.। —उत्तरा. प्रिय, भा. ३, पृ १२६

मे अधिक ही विनय के योग्य पात्र माना जाता है। गुण ज्ञान, ध्यान के अनुष्ठान रूप होते हैं। देव-दानव आदि मे अज्ञान, आश्रव से अविरति आदि दोष होने से वे गुणाधिक कैसे माने जा सकते है?

(४) अज्ञानवाद—अज्ञानवादी मानते है कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। ज्ञान होने से कई जगत् को ब्रह्मादिविवर्त्तरूप, कई प्रकृति-पुरुषात्मक, दूसरे द्रव्यादि षड् भेद रूप, कई चार आर्यसत्यरूप, कई विज्ञानमय, कई शून्य रूप, यो विभिन्न मतपन्थ है, फिर आत्मा को कोई नित्य कहता है, कोई अनित्य, यो अनेक रूप से बताते है, अत इनके जानने से क्या प्रयोजन है? मोक्ष के प्रति ज्ञान का कोई उपयोग नही है। केवल कष्ट रूप तपश्चरण करना पडता है। घोर तप, व्रत आदि से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अत. ज्ञान अकिञ्चित्कर है।

जैनदर्शन क्रियावादी है, पर वह एकान्तवादी नही है, इसलिए सम्यक्वाद है। क्षत्रिय-महर्षि के कहने का आशय यह है कि मैं क्रियावादी हूँ, परन्तु आत्मा को कथञ्चित् (द्रव्यदृष्टि से) नित्य और कथञ्चित् (पर्यायदृष्टि से) अनित्य मानता हूँ। इसीलिए कहा है—'मै परलोकगत अपने आत्मा को भलीभाति जानता हूँ।'[1]

परलोक के अस्तित्व का प्रमाण : अपने अनुभव से

२८. अहमासी महापाणे जुइमं वरिससओवमे।
जा सा पाली महापाली दिव्वा वरिससओवमा॥

[२८] मैं (पहले) महाप्राण नामक विमान मे वर्षशतोपम आयु वाला द्युतिमान् देव था। मनुष्यो की सौ वर्ष की पूर्ण आयु के समान (देवलोक की) जो दिव्य आयु है, वह पाली (पल्योपम) और महापाली (सागरोपम) की पूर्ण (मानी जाती) है।

२९. से चुए बम्भलोगाओ माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च आउं जाणे जहा तहा॥

[२९] ब्रह्मलोक का आयुष्य पूर्ण करके मै मनुष्यभव मे आया हूँ। मै जैसे अपनी आयु को जानता हूँ, वैसे ही दूसरो की आयु को भी (यथार्थ रूप से) जानता हूँ।

विवेचन—**महापाणे**—पाचवे ब्रह्मलोक देवलोक का महाप्राण नामक एक विमान। **वरिस-सओवमे**—जैसे यहाँ इस समय सौ वर्ष की आयु परिपूर्ण मानी जाती है, वैसे मैं (क्षत्रियमुनि) ने वहाँ (देवलोक मे) परिपूर्ण सौ वर्ष की दिव्य आयु का भोग किया। जो कि यहाँ के वर्षशत के तुल्य वहाँ की पाली (पल्योपम-प्रमाण) और महापाली (सागरोपम-प्रमाण) आयु पूर्ण मानी जाती है। यह उपमेय काल है। असख्यात काल का एक पल्य होता है और दस कोटाकोटी पल्यो का एक सागरोपम काल होता है।[2]

क्षत्रियमुनि द्वारा जातिस्मरणरूप अतिशय ज्ञान की अभिव्यक्ति—आशय यह है कि मैं अपना और दूसरे जीवो का आयुष्य यथार्थ रूप से जानता हूँ। अर्थात्—जिसका जिस प्रकार जितना आयुष्य होता है, उसी प्रकार से उतना मैं जानता हूँ।[3]

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४४३ से ४४५ तक का साराश।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४५
३ (क) वही, पत्र ४४६ (ख) उत्तरा (गुजराती अनुवाद भा २, भावनगर से प्रकाशित), पृ २५

क्षत्रियमुनि द्वारा क्रियावाद से सम्बंधित उपदेश

३०. नाणारुइं च छन्दं च परिवज्जेज्ज संजए ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था इइ विज्जामणुसंचरे ।।

[३०] नाना प्रकार की रुचि (अर्थात्—क्रियावादी आदि के मत वाली इच्छा) तथा छन्दो (स्वमतिपरिकल्पित विकल्पो) का और सब प्रकार के (हिसादि) अनर्थक व्यापारो (कार्यों) का संयतात्मा मुनि को सर्वत्र परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार (सम्यक् तत्त्वज्ञान रूप) विद्या का लक्ष्य करके (तदनुरूप सयमपथ पर) सचरण करे ।

३१. पडिक्कमामि पसिणाणं परमन्तेहिं वा पुणो ।
अहो उट्ठिए अहोरायं इइ विज्जा तवं चरे ।।

[३१] शुभाशभसूचक प्रश्नो से और गृहस्थो (पर)की मत्रणाओ से मैं निवृत्त (दूर) रहता हूँ । अहो ! अहर्निश धर्म के प्रति उद्यत महात्मा कोई विरला होता है । इस प्रकार जान कर तपश्चरण करो ।

३२. जं च मे पुच्छसी काले सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ताइं पाउकरे बुद्धे तं नाणं जिणसासणे ।।

[३२] जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध चित्त से काल के विषय मे पूछ रहे हो, उसे बुद्ध सर्वज्ञ श्री महावीर स्वामी) ने प्रकट किया है । अत वह ज्ञान जिनशासन मे विद्यमान है ।

३३. किरियं च रोयए धीरे अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसपन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं ।।

[३३] धीर साधक क्रियावाद मे रुचि रखे और अक्रिया (वाद) का त्याग करे । सम्यग्दृष्टि से दृष्टिसम्पन्न होकर तुम दुश्चर धर्म का आचरण करो ।

विवेचन—पडिक्कमामि पसिणाण परमंतेहिं वा पुणो : क्षत्रियमुनि कहते हैं—मैं शुभाशुभसूचक अगुष्ठप्रश्न आदि से अथवा अन्य साधिकरणो से दूर रहता हूँ । विशेष रूप से परमत्रो से अर्थात्—गृहस्थकार्य सम्बन्धी आलोचन रूप मत्रणाओ से दूर रहता हूँ, क्योकि वे अतिसावद्य है ।[१]

बुद्धे : दो भावार्थ—(१) बुद्ध (सर्वज्ञ महावीर स्वामी) ने प्रकट किया । (२) स्वयं सम्यक्बुद्ध (अविपरीत बोध वाले) चित्त से उसे मैं प्रकट (प्रस्तुत) कर सकता हूँ । कैसे ? इस विषय मे क्षत्रियमुनि कहते हैं—जगत् मे जो भी यथार्थ वस्तुतत्त्वावबोधरूप ज्ञान प्रचलित है, वह सब जिनशासन मे है । अत मैं जिनशासन मे ही स्थित रह कर उसके प्रसाद से बुद्ध—समस्तवस्तुतत्त्वज्ञ हुआ हूँ । तुम भी जिनशासन मे स्थित रह कर वस्तुतत्त्वज्ञ (बुद्ध) बन जाओगे, यह आशय है ।[२]

किरियं रोयए : क्रिया अर्थात् जीव के अस्तित्व को मान कर सदनुष्ठान करना क्रियावाद है, उसमे उन-उन भावनाओ से स्वय अपने मे रुचि पैदा करे तथा धीर (मिथ्यादृष्टियो से अक्षोभ्य)

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४६
२ वही, पत्र ४४७

प्रस्थान किया। घूमते-घूमते वे सब विशिष्ट शोभासम्पन्न हैम पर्वत पर चढे। सहसा विचार आया कि इस पर्वत की रक्षा के लिए इसके चारो ओर खाई खोदना चाहिए। फलत वे सब दण्डरत्नों से खाई खोदने लगे। खोदते-खोदते विशेष भूमि के नीचे ज्वलनप्रभ नागराज अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। विनयपूर्वक उसे शान्त किया। परन्तु फिर दूसरी बार उस खाई को गगा नदी के जल से भरने का उपक्रम किया। नागराज ज्वलनप्रभ इस बार अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने दृष्टिविष सर्प भेजे, उन्होने सभी कुमारो (सागरपुत्रो) को नेत्र की अग्निज्वालाओ से भस्म कर दिया। सेना मे हाहाकार मच गया। चिन्तित सेना से एक ब्राह्मण ने चक्रवर्ती पुत्रो के मरण का समाचार सुना तो उसने सगर चक्रवर्ती को विभिन्न युक्तियो से समझाया। पहले तो वे पुत्र शोक से मूर्च्छित होकर गिर पड़े, बाद मे स्वस्थ हुए। उन्हे ससार से विरक्ति हो गई। कुछ समय बाद जह्नुकुमार के पुत्र भगीरथ को उन्होने राज्य सौपा और स्वय ने अजितनाथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण की। बहुत तपश्चर्या की और कर्मक्षय करके सिद्ध पद प्राप्त किया।[1]

चक्रवर्ती मघवा ने प्रव्रज्या अंगीकार की

३६. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ मघवं नाम महाजसो॥

[३६] महान् ऋद्धिमान्, महायशस्वी मघवा नामक तीसरे चक्रवर्ती ने भारतवर्ष (षट्खण्डव्यापी) का (साम्राज्य) त्याग करके प्रव्रज्या अगीकार की।

विवेचन—मघवा चक्रवर्ती द्वारा प्रव्रज्या धारण—श्रावस्ती के समुद्रविजय राजा की रानी भद्रा से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'मघवा' रखा गया। युवावस्था मे आने पर समुद्रविजय ने मघवा को राज्य सौपा। भरतक्षेत्र को साध कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। चिरकाल चक्रवर्ती के वैभव का उपभोग करते हुए एक दिन उन्हे धर्मघोषमुनि का धर्मोपदेश सुनकर ससार से विरक्ति हो गई। विचार किया कि—'ससार के ये सभी रमणीय पदार्थ कर्मबन्ध के हेतु हैं तथा अस्थिर है, बिजली की चमक की तरह क्षणविध्वंसी है। अत इन सब रमणीय भोगो का त्याग करके मुझे आत्मकल्याण की साधना करनी चाहिए।' यह विचार करके मघवा चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य सौप कर प्रव्रज्या ग्रहण की। क्रमश चारित्र-पालन करके, उग्र तपश्चर्या करके पाच लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके वे सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक मे देव बने।[2]

सनत्कुमार चक्रवर्ती द्वारा तपश्चरण

३७. सणंकुमारो मणुस्सिन्दो चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं सो वि राया तवं चरे॥

[३७] महान् ऋद्धिसम्पन्न मनुष्येन्द्र सनत्कुमार चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित करके तप (-चारित्र) का आचरण किया।

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ १५३ से १७४ तक का साराश

२ उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, भा ३, पृ १७७ से १७९

विवेचन—सनत्कुमार चक्रवर्ती की संक्षिप्त जीवनी—कुरुजांगल देशवर्ती हस्तिनापुर नगर के राजा अश्वसेन की रानी सहदेवी की कुक्षि से सनत्कुमार का जन्म हुआ। हस्तिनापुरनिवासी सूर नामक क्षत्रिय का पुत्र महेन्द्रसिंह उसका मित्र था। एक बार अश्वक्रीडा करते हुए युवक सनत्कुमार का अश्व विपरीत शिक्षा वाला होने से उसे बहुत दूर ले गया। सब साथी पीछे रह गए। उसकी खोज के लिए महेन्द्रसिंह गया। बहुत खोज करने पर उसका पता लगा। महेन्द्रसिंह ने सनत्कुमार के पराक्रम का सारा वृत्तान्त सुना। दोनो कुमार हस्तिनापुर आए। पिता ने शुभ मुहूर्त्त मे सनत्कुमार का राज्याभिषेक किया। उसके मित्र महेन्द्रसिंह को सेनापति बनाया। तत्पश्चात् अश्वसेन और सहदेवी दोनो ने दीक्षा ग्रहण करके मनुष्यजन्म सार्थक किया। कुछ समय बाद सनत्कुमार चक्रवर्ती हो गए। छहो खडो पर अपनी विजयपताका फहरा दी।

सौधर्मेन्द्र की सभा मे ईशानकल्प के किसी देव की उद्दीप्त देहप्रभा देखकर देवो ने पूछा—क्या ऐसी उत्कृष्ट देहप्रभा वाला और भी कोई है? इन्द्र ने हस्तिनापुर मे कुरुवशी सनत्कुमार चक्रवर्ती को सौन्दर्य मे अद्वितीय बताया। इस पर विजय, वैजयन्त नामक दो देवो ने इन्द्र के वचनो पर विश्वास न करके स्वय परीक्षा करने की ठानी। वे दोनो देव ब्राह्मण के वेष मे आए और तैलमर्दन कराते हुए सनत्कुमार चक्री के रूप को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। सनत्कुमार ने उनसे पूछ कर जब यह जाना कि मेरे अद्वितीय सौन्दर्य को देखने की इच्छा से आए हैं तो उन्होने रूपगर्वित होकर कहा—जब मै सर्वालकार-विभूषित होकर सिहासन पर बैठ तब मेरे रूप को देखना। दोनो देवो ने जब सर्ववस्त्रालकार विभूषित चक्रवर्ती को सिहासन पर बैठे देखा तो खिन्नचित्त से कहा—अब आपका शरीर पहले जैसा नही रहा। चक्रवर्ती ने पूछा—इसका क्या प्रमाण है?

देव—आप थूक कर इस बात की स्वय परीक्षा कर लीजिए। चक्री ने थूक कर देखा तो उसमे कीडे कुलबुलाते नजर आए तथा अपने शरीर पर दृष्टि डाली तो उसके भी रूप, कान्ति और लावण्य आदि फीके प्रतीत हुए। यह देख चक्रवर्ती ने विचार किया— मेरा यह शरीर, जो अद्वितीय सुन्दर था, आज अल्पसमय मे ही अनेक व्याधियो से ग्रस्त, निस्तेज तथा असुन्दर बन गया है। इस असार शरीर और शरीर से सम्बन्धित धन, जन, वैभव आदि मे आसक्ति एव गर्व करना अज्ञान है। इस शरीर से भोगो का सेवन उन्माद है, परिग्रह अनिष्टग्रहवत् है। इस सब पर ममत्व का त्याग करके स्वपरहितसाधक शाश्वतसुखप्रदायक सर्वविरति-चारित्र अगीकार करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा दृढ निश्चय करके चक्री ने अपने पुत्र को राज्य सौप कर विनयंधराचार्य के पास मुनिदीक्षा धारण कर ली। राजर्षि के प्रति गाढ स्नेह के कारण समस्त राजा, रानियाँ, प्रधान आदि छह महीने तक उनके पीछे-पीछे घूमे और वापस राज्य मे लौटने की प्रार्थना की; किन्तु राजर्षि ने उनकी ओर आँख उठा कर भी नही देखा। निराश होकर वे सब वापस लौट गए। फिर राजर्षि उग्र तपश्चर्या करने लगे। बेले के पारणे मे उन्हे अन्त, प्रान्त, तुच्छ, नीरस आहार मिलता, जिससे उनके शरीर मे कण्डू, कास, श्वास आदि ७ महाव्याधियाँ उत्पन्न हुईं, जिन्हे उन्होने ७०० वर्ष तक समभाव से सहन किया। इसके फलस्वरूप राजर्षि आमर्शौषधि, शकृदोषधि, मूत्रौषधि आदि अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हुई, फिर भी राजर्षि ने किसी प्रकार की चिकित्सा नही की।

इन्द्र के मुख से महर्षि की प्रशसा सुन कर वे ही (पूर्वोक्त) दो देव वैद्य का रूप धारण करके परीक्षार्थ आए। उनसे व्याधि की चिकित्सा कराने का बार-बार आग्रह किया तो मुनि ने कहा—आप कर्मरोग की चिकित्सा करते है या शरीररोग की? उन्होने कहा—हम

शरीररोग की चिकित्सा करते हैं, कर्मरोग की नही। यह सुन कर मुनि ने अपनी खड़ी हुई अंगुली पर थूक लगा कर उसे स्वर्ण-सी बना दी और देवों से कहा—शरीररोग की तो मैं इस प्रकार से चिकित्सा कर सकता हूँ, फिर भी चिकित्सा करने की मेरी इच्छा नही है। देव बोले—कर्मरूपी रोग का नाश करने मे तो आप ही समर्थ हैं। देवो ने उनकी धीरता एव सहिष्णुता की अत्यन्त प्रशसा की और नमस्कार करके चले गए। सनत्कुमार राजर्षि तीन लाख वर्ष की आयुष्य पूर्ण करके अन्त मे सम्मेदशिखर पर जाकर अनशन करके आयुष्यक्षय होने पर तीसरे देवलोक में गए। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष जाएँगे।[1]

शान्तिनाथ चक्रवर्ती को अनुत्तरगति प्राप्त

३८. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं ॥

[३८] महान् ऋद्धिसम्पन्न और लोक मे शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष (के राज्य) का त्याग करके अनुत्तरगति (मुक्ति) प्राप्त की।

विवेचन—मेघरथ राजा के भव मे एक शरणागत कबूतर को बचाने के लिए प्राणो की बाजी लगाने से तथा देवियो द्वारा अट्ठम प्रतिमा के समय उनकी दृढता की परीक्षा करने पर उत्तीर्ण होने से एव ससार से विरक्त होकर मेघरथ राजर्षि ने अपने छोटे भाई दृढरथ, सात सौ पुत्रो और चार हजार राजाओ सहित श्रीघनरथ तीर्थंकर से दीक्षा ग्रहण करने से और अपने आर्जवगुणों के कारण राजर्षि द्वारा अरिहंतसेवा, सिद्धसेवा आदि बीस स्थानको के आराधन से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे देव हुए।

सर्वार्थसिद्ध से च्यव कर मेघरथ राजर्षि का जीव हस्तिनापुर नगर के विश्वसेन राजा की रानी अचिरादेवी की कुक्षि मे अवतरित हुआ। ठीक समय पर मृगलाछन वाले पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र गर्भ मे आया तब फैले हुए महामारी आदि उपद्रव शान्त हो गए, यह सोचकर राजा ने पुत्र का जन्म-महोत्सव करके उसका 'शान्तिनाथ' नाम रखा। वयस्क होने पर यशोमती आदि राज-कन्याओ के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। जब ये २५ हजार वर्ष के हुए तब राजा विश्वसेन ने इन्हे राज्य सौपकर आत्मकल्याण सिद्ध किया। शान्तिनाथ राजा को राज्य करते हुए २५ हजार वर्ष हुए तब एक बार उनकी आयुधशाला मे चक्ररत्न प्रकट हुआ। भारतवर्ष के छह खण्डो पर विजय प्राप्त की। फिर देवो और सर्व राजाओ ने मिलकर १२ वर्ष तक चक्रवर्तीपद का अभिषेक किया। जब २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती पद भोगते हुए हो गये तब लोकान्तिक देव आकर प्रभु से प्रार्थना करने लगे—स्वामिन्! तीर्थप्रवर्त्तन कीजिए। अत. प्रभु ने वार्षिक दान दिया। अपना राज्य अपने पुत्र चक्रायुध को सौंप कर सहस्राम्रवन मे हजार राजाओं के साथ दीक्षा अगीकार की। एक वर्ष पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ। बाद मे चक्रायुध राजा सहित ३५ अन्य राजाओ ने दीक्षा ली। ये ३६ मुनि शान्तिनाथ भगवान् के गणधर के रूप मे हुए। तत्पश्चात् चिरकाल तक भूमण्डल में विचरण किया। अन्त मे दीक्षादिवस से २५ हजार वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु ने सम्मेतशिखर पर पदार्पण

१ (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर से प्रकाशित) भा २, पत्र ३४ से ४३ तक

(ख) उत्तरा, प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १८१ से २१० तक

करके नौ सौ साधुओं सहित अनशन ग्रहण किया। एक मास बाद आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध पद प्राप्त किया।[1]

कुन्थुनाथ की अनुत्तरगति-प्राप्ति

३९. इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नराहिवो।
विक्खायकित्ती धिइमं पत्तो गइमणुत्तरं॥

[३९] इक्ष्वाकुकुल के राजाओं में श्रेष्ठ (वृषभ) नरेश्वर, विख्यातकीर्ति तथा धृतिमान् कुन्थुनाथ ने अनुत्तरगति प्राप्त की।

विवेचन—कुन्थुनाथ भगवान् की संक्षिप्त जीवनगाथा—पूर्वमहाविदेह क्षेत्र में आवर्त्तविजय में खड्गी नामक नगरी का राजा 'सिंहावह' था। एक बार उसने संसार से विरक्त हो कर श्रीसंवराचार्य से दीक्षा ग्रहण की, तत्पश्चात् २० स्थानकों के सेवन से तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया। चिरकाल तक चारित्रपालन करके अन्त में अनशन ग्रहण कर आयुष्य का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुआ।

वहाँ से च्यवन कर हस्तिनापुर नगर के राजा सूर की रानी श्रीदेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। प्रभु गर्भ में आए थे, तब से ही सभी शत्रु राजा कुन्थुसम अल्पसत्त्व वाले हो गए तथा माता ने भी स्वप्न में कुत्स्थ—अर्थात्- पृथ्वीगत रत्नों के स्तूप (संचय) को देखा था। इस कारण महोत्सवपूर्वक उसका नाम 'कुन्थु' रखा गया।

युवावस्था में आने पर उनका अनेक कन्याओं के साथ पणिग्रहण हुआ। वे राज्य कर रहे थे, तभी उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अतः भरतक्षेत्र के ६ ही खण्ड उन्होंने साधे। चिरकाल तक राज्य का पालन किया। एक बार लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन के लिए अनुरोध किये जाने पर कुन्थु चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर वार्षिक दान दिया और हजार राजाओं के साथ चारित्र ग्रहण किया। तत्पश्चात् अप्रमत्त विचरण करते हुए १६ वर्ष बाद उन्हें उसी सहस्राम्रवन में ४ घातिकर्म का क्षय होते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थ-स्थापना की। अन्त में हजार मुनियों सहित सम्मेतशिखर पर एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की।[2]

अरनाथ की संक्षिप्त जीवनगाथा

४०. सागरन्तं जहित्ताणं भरहं नरवरीसरो।
अरो य अरयं पत्तो पत्तो गइमणुत्तरं॥

[४०] समुद्रपर्यन्त भारतवर्ष का (राज्य) त्याग कर कर्मरजरहित अवस्था को प्राप्त करके नरेश्वरों में श्रेष्ठ 'अर' ने अनुत्तरगति प्राप्त की।

विवेचन—अरनाथ की अनुत्तरगति-प्राप्ति—जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में वत्स नामक विजय के अन्तर्गत सुसीमा नगरी थी। वहाँ के राजा धनपति ने संसार से विरक्त हो कर समन्तभद्र मुनि से

---

१. उत्तरा. (गुजराती, भावनगर से प्रकाशित) भा. २, पत्र ६४
२. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ६४-६५

दीक्षा ग्रहण की । अरिहन्तसेवा आदि बीस स्थानको की आराधना से उन्होने तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया । चिरकाल तक तपश्चरण एव महाव्रतो का पालन करके अन्त मे अनशन करके आयुष्य पूर्ण होने पर नौवे ग्रैवेयक मे श्रेष्ठ देव हुए ।

वहाँ से च्यवन कर वे हस्तिनापुर के सुदर्शन राजा की रानी देवी की कुक्षि मे अवतरित हुए । गर्भ का समय पूर्ण होने पर रानी ने काचनवर्ण वाले पुत्र को जन्म दिया । माता ने स्वप्न मे रत्न का अर—चक्र का आरा—देखा था, तदनुसार पुत्र का नाम 'अर' रखा । अरनाथ ने यौवन मे पदार्पण किया तो उनका विवाह अनेक राजकन्याओ के साथ किया गया । तत्पश्चात् इन्हे राज्य का भार सौंप कर सुदर्शन राजा ने रानी-सहित सिद्धाचार्य से दीक्षा ग्रहण की । राजा अरनाथ ने सम्पूर्ण भारत क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित करके चक्रवर्तीपद प्राप्त किया । लोकान्तिक देवो ने तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की तो अरनाथ ने वर्षीदान दिया । फिर अपने पुत्र को राज्य सौप कर एक हजार राजाओ के साथ प्रव्रजित हुए । तीन वर्ष बाद उसी सहस्राम्रवन मे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । तीर्थ रचना की ।

अरनाथ भगवान् ने कुल ८४ हजार वर्ष की आयु पूर्ण करके अन्त मे सम्मेतशिखर पर हजार साधुओ के साथ जा कर अनशन करके एक मास के पश्चात् आयुष्य पूर्ण होते ही सिद्धि प्राप्त की ।[1]

महापद्म चक्रवर्ती द्वारा तपश्चरण

४१. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी नराहिओ ।
चइत्ता उत्तमे भोए महापउमे तवं चरे ॥

[४१] समग्र भारतवर्ष का (राज्य-) त्याग कर, उत्तम भोगो का परित्याग करके महापद्म चक्रवर्ती ने तपश्चरण किया ।

विवेचन—महापद्मचक्री की जीवनगाथा—हस्तिनापुर मे इक्ष्वाकुवशी पद्मोत्तर नामक राजा था । उसकी ज्वाला नाम की रानी ने सिंह का स्वप्न देखा । उससे विष्णु नामक एक पुत्र हुआ, फिर जब १४ महास्वप्न देखे तो महापद्म नामक पुत्र हुआ, दोनो पुत्रो ने कलाचार्य से समग्र कलाएँ सीखी । वयस्क होने पर महापद्म को अधिक पराक्रमी एव योग्य समझ कर पद्मोत्तर राजा ने उसे युवराज पद दिया ।

हस्तिनापुर राज्य के सीमावर्ती राज्य मे किला बना कर सिंहबल नामक राजा रहता था । वह बारबार हस्तिनापुर राज्य मे लूटपाट करके अपने दुर्ग मे घुस जाता । उस समय महापद्म का मत्री नमुचि था, जो साधुओ का द्वेषी था । महापद्म ने सिंहबल को पकड लाने का उपाय नमुचि से पूछा । नमुचि ने उसको पकड लाने का बीडा उठाया और शी - ही ससैन्य जाकर सिंहबल के दुर्ग को नष्टभ्रष्ट करके उसे बाध कर ले आया । उसके इस पराक्रम से प्रसन्न होकर यथेष्ट मागने को कहा । नमुचि ने कहा—मैं यथावसर आपसे मागूगा । इसके पश्चात् महापद्म ने दीर्घकाल तक राज्य से बाहर रह कर अनेक पराक्रम के कार्य किये । अन्त मे उसके यहाँ चक्रादि रत्न उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् भरतक्षेत्र के ६ खण्ड साध लिये । चक्रवर्ती के रूप मे उसने अपने माता-पिता के चरणो मे नमन किया । माता-पिता उसकी समृद्धि को देख अत्यन्त हर्षित हुए ।

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ २४० से २४६ तक

इसी अवसर पर श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के शिष्य श्रीसुव्रताचार्य पधारे। उनका वैराग्यपूर्ण प्रवचन सुन कर राजा पद्मोत्तर और उनके ज्येष्ठपुत्र विष्णुकुमार को संसार से वैराग्य हो गया। राजा पद्मोत्तर ने युवराज महापद्म का राज्याभिषेक करके विष्णुकुमार सहित दीक्षा ग्रहण की।

कुछकाल के पश्चात् पद्मोत्तर राजर्षि ने केवलज्ञान प्राप्त किया और विष्णुकुमार मुनि ने उग्र तपश्चर्या से अनेक लब्धियाँ प्राप्त की।

एक बार श्रीसुव्रताचार्य अपनी शिष्यमण्डली सहित हस्तिनापुर चातुर्मास के लिए पधारे। नमुचि मंत्री ने पूर्व वैर लेने की दृष्टि से महापद्म चक्री से अपना वरदान मागा कि मुझे यज्ञ करना है और यज्ञसमाप्ति तक मुझे अपना राज्य दे। महापद्म ने सरलभाव से उसे राज्य सौंप दिया। नवीन राजा को बधाई देने के लिए जैनमुनियो के सिवाय अन्य सब वेष वाले साधु एव तापस गए। इससे कुपित होकर नमुचि ने आदेश निकाला—'आज से ७ दिन के बाद कोई भी जैन साधु मेरे राज्य मे रहेगा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा।' आचार्य ने परस्पर विचारविनिमय करके एक लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को लाने के लिए भेजा। वे आए। सारी परिस्थिति समझकर विष्णुकुमार आदि मुनियो ने नमुचि को बहुत समझाया, परन्तु वह अपने दुराग्रह पर अडा रहा। विष्णुकुमार मुनि ने उससे तीन पैर (कदम) जमीन मागी। जब नमुचि वचनबद्ध हो गया तो विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर अपना शरीर मेरुपर्वत जितना विशाल बना लिया। दुष्ट नमुचि को पृथ्वी पर गिरा कर, अपना एक पैर चुल्लहेमपर्वत पर और दूसरा चरण जम्बूद्वीप की जगती पर रखा, फिर नमुचि से पूछा—कहो, यह तीसरा चरण कहाँ रखा जाए? अपने चरणाघातो से समस्त भूमण्डल को प्रकम्पित करने वाले विष्णुकुमार मुनि के उग्र पराक्रम एव विराट् रूप को देख कर नमुचि ही क्या, सर्व राजपरिवार, देव, दानव आदि भयभीत और क्षुब्ध हो उठे थे। महापद्म चक्रवर्ती ने आकर सविनय वन्दन करके अधम मन्त्री द्वारा श्रमणसघ की की गई आशातना के लिए क्षमायाचना की। अन्य सुरासुरो एव राजपरिवार की प्रार्थना से मुनिवर ने अपना विराट् शरीर पूर्ववत् कर लिया। चक्रवर्ती महापद्म ने दुष्ट पापात्मा नमुचि को देशनिकाला दे दिया। विष्णुकुमार मुनि आलोचना और प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि करके तप द्वारा केवलज्ञानी हुए। क्रमश मुक्त हुए।

महापद्म चक्रवर्ती ने चिरकाल तक महान् समृद्धि का उपभोग कर अन्त मे राज्य आदि सर्वस्व का त्याग करके १० हजार वर्ष तक उग्र आचार का पालन किया। अन्त मे घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1]

हरिषेण चक्रवर्ती

४२. एगच्छत्तं पसाहित्ता महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो पत्तो गइमणुत्तरं॥

[४२] शत्रु के मानमर्दक हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी को एकच्छत्र साध (अपने अधीन) करके अनुत्तरगति (मोक्षगति) प्राप्त की।

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा २, पत्र ६६ से ७४ तक

विवेचन—माणनिसूरणो—अहकार-विनाशक ।

पसाहित्ता—साध कर या अधीन करके, अथवा एकच्छत्र शासन करके ।

मणुस्सिदो : मनुष्येन्द्र—चक्रवर्ती ।

हरिषेण चक्रवर्ती द्वारा अनुत्तरगति प्राप्ति—काम्पिल्यनगर के महाहरि राजा की 'मेरा' नाम की महारानी की कुक्षि से हरिषेण नामक पुत्र हुए। वयस्क होने पर पिता ने उन्हे राज्य सौपा। राज्य-पालन करते-करते उन्हे चक्रवर्तीपद प्राप्त हुआ। परन्तु लघुकर्मी हरिषेणचक्री को ससार से विरक्ति हो गई। उन्होने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वय ने महान् ऋद्धि त्याग कर गुरुचरणो मे दीक्षा ले ली। उग्रतप से क्रमश. चार घातिकर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त मे मोक्ष पहुँचे।[1]

जय चक्रवर्ती ने मोक्ष प्राप्त किया

> **४३. अन्निओ रायसहस्सेहिं सुपरिच्चाई दमं चरे ।**
> **जयनामो जिणक्खायं पत्तो गइमणुत्तरं ॥**

[४३] हजार राजाओ सहित श्रेष्ठ त्यागी 'जय' चक्रवर्ती ने राज्य आदि का परित्याग कर जिनोक्त सयम का आचरण किया और (अन्त मे) अनुत्तरगति प्राप्त की।

विवेचन—जय चक्रवर्ती की संक्षिप्त जीवनगाथा—राजगृहनगर के राजा समुद्रविजय की वप्रा नाम की रानी थी। उनके जय नामक एक पुत्र था। उसने क्रमश. युवावस्था मे पदार्पण किया। पिता के राज्य की बागडोर अपने हाथ मे ली, फिर कुछ काल बाद चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ और दीर्घकाल तक चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि भोगी। वैराग्य हो गया। जयचक्री ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर चारित्र अंगीकार किया। फिर तपश्चरण रूप वायु से कर्मरूपी बादलो का नाश किया। श्री जय चक्रवर्ती कुल साढे तीन हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष मे गए।[2]

दशार्णभद्र राजा का निष्क्रमण

> **४४. दसण्णरज्जं मुइयं चइत्ताण मुणी चरे ।**
> **दसण्णभद्दो निक्खन्तो सक्खं सक्केण चोइओ ॥**

[४४] साक्षात् शक्रेन्द्र से प्रेरित होकर दशार्णभद्र राजा ने अपने प्रमुदित (समस्त उपद्रवो से रहित) दशार्णदेश के राज्य को छोड कर अभिनिष्क्रमण किया और मुनि होकर विचरण करने लगे।

विवेचन—देवेन्द्र से प्रेरित दशार्णभद्र राजा मुनि बने—भारतवर्ष के दशार्णपुर का राजा दशार्ण-भद्र था। वह जिनोक्त धर्म मे अनुरक्त था। एक बार नगर के बाहर उद्यान मे तीर्थंकर भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ, सुन कर दशार्णभद्र राजा के मन मे विचार हुआ—आज तक भगवान्

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर), भा. २, पत्र ७४

२. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा २, पत्र ७५

को किसी ने वन्दन न किया हो, उस प्रकार से समस्त वैभव सहित मैं प्रभु को वन्दन करने जाऊँ। तदनुसार घोषणा करवा कर उसने सारे नगर को दुलहिन की तरह सजाया। जगह-जगह माणिक्य के तोरण बंधवाए, नट लोग अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने लगे। राजा ने स्नान करके उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उत्तम हाथी पर आरूढ होकर प्रभु-वन्दन के लिए प्रस्थान किया। मस्तक पर छत्र धारण किया और चामर ढुलाते हुए सेवकगण जय-जयकार करने लगे। सामन्त राजा तथा अन्य राजा, राजपुरुष और चतुरंगिणी सेना तथा नागरिकगण सुसज्जित होकर पीछे-पीछे चल रहे थे। राजा दशार्णभद्र साक्षात् इन्द्र-सा लग रहा था।

राजा के वैभव के इस गर्व को अवधिज्ञान से जान कर इन्द्र ने विचार किया—प्रभुभक्ति मे ऐसा गर्व उचित नही है। अत इन्द्र ने ऐरावण देव को आदेश देकर कैलाशपर्वतसम उत्तुग ६४ हजार सुसज्जित शृंगारित हाथियों और देव-देवियो की विकुर्वणा की। अब इन्द्र की शोभायात्रा के आगे दशार्णभद्र की शोभायात्रा एकदम फीकी लगने लगी। यह देख कर दशार्णभद्र राजा के मन मे अन्त प्रेरणा हुई—कहाँ इन्द्र का वैभव और कहाँ मेरा तुच्छ वैभव! इन्द्र ने यह लोकोत्तर वैभव धर्माराधना (पुण्यप्रभाव) से ही प्राप्त किया है, अत मुझे भी शुद्ध धर्म की पूर्ण आराधना करनी चाहिए, जिससे मेरा गर्व भी कृतार्थ हो। यो ससार से विरक्त दशार्णभद्र राजा ने प्रभु महावीर से दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। अपने हाथ से केशलोच किया। विश्ववत्सल प्रभु ने राजा को स्वयं दीक्षा दी। इन्द्र ने दशार्णभद्र राजर्षि को इतनी विशाल ऋद्धि एव साम्राज्य का सहसा त्याग कर तथा महाव्रत ग्रहण करके अपनी प्रतिज्ञा-पालन करने के हेतु धन्यवाद दिया—वैभव मे हमारी दिव्य शक्ति आप से बढ कर है, परन्तु त्याग एव व्रत ग्रहण करने की शक्ति मुझ मे नही है। राजर्षि उग्र तपश्चर्या से सर्व कर्म क्षय करके मोक्ष पहुँचे।[1]

नमि राजर्षि की धर्म में सुस्थिरता

४५. नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

[४५] साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित किये जाने पर भी विदेह के अधिपति नमि गृह का त्याग करके श्रमणधर्म मे भलीभाति स्थिर हुए एव स्वय को अतिविनम्र बनाया।

विवेचन—सक्खं सक्केण चोइओ—साक्षात् शक्रेन्द्र ने ब्राह्मण के वेष मे आकर क्षत्रियोचित कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा की, किन्तु नमि राजर्षि श्रमण-सस्कृति के सन्दर्भ मे इन्द्र का युक्तिसगत समाधान करके श्रमणधर्म मे सुस्थिर रहे। नमि राजर्षि की कथा इसी सूत्र के अ ९ मे दी गई है।[2]

चार प्रत्येकबुद्ध जिनशासन में प्रव्रजित हुए

४६. करकण्डू कलिंगेसु पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु गन्धारेसु य नग्गई॥

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर से सक्षिप्त) भा. २, पत्र ७५ से ८० तक

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ८०

४७. एए नरिन्दवसभा निक्खन्ता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥

[४६-४७] कलिंगदेश मे करकण्डु, पाचालदेश मे द्विमुख, विदेहदेश में नमिराज और गान्धारदेश में नग्गति राजा हुए ।

ये चारो श्रेष्ठ राजा अपने-अपने पुत्रों को राज्य में स्थापित कर जिनशासन मे प्रव्रजित हुए और श्रमणधर्म मे भलीभाति समुद्यत हुए ।

विवेचन—(१)—करकण्डू—कलिगदेश का राजा दधिवाहन और रानी पद्मावती थी । एक बार गर्भवती रानी को इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं विविध वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर पट्टहस्ती पर आसीन होकर छत्र धारण कराती हुई राजोद्यान मे घूमूं ।' राजा ने जब यह जाना तो पद्मावती रानी के साथ स्वय 'जयकुजर' हाथी पर बैठ कर राजोद्यान मे पहुँचे । उद्यान मे पहुँचते ही वहाँ की विचित्र सुगन्ध के कारण हाथी उद्दण्ड होकर भागा । राजा ने रानी को सूचित किया कि 'वटवृक्ष आते ही उसकी शाखा पकड लेना, जिससे हम सुरक्षित हो जाएँगे ।' वटवृक्ष आते ही राजा ने तो शाखा पकड ली, परन्तु रानी न पकड सकी । हाथी पवनवेग से एक महारण्य मे स्थित सरोवर मे पानी पीने को रुका, त्यो ही रानी नीचे उतर गई । अकेली रानी व्याघ्र, सिह आदि जन्तुओ से भरे अरण्य में भयाकुल और चिन्तित हो उठी । वही उसने सागारी अनशन किया और अनिश्चित दिशा मे चल पडी । रास्ते मे एक तापस मिला । उसने रानी की करुणगाथा सुन कर धैर्य बधाया, पकके फल दिये, फिर उसे भद्रपुर तक पहुँचाया । आगे दन्तपुर का रास्ता बता दिया, जिससे आसानी से वह चम्पापुरी पहुँच सके । पद्मावती भद्रपुर होकर दन्तपुर पहुँच गई । वहाँ उसने सुगुप्त-व्रता साध्वीजी के दर्शन किए । प्रवर्तिनी साध्वीजी ने पद्मावती की दु खगाथा सुन कर उसे आश्वासन दिया, ससार की वस्तुस्थिति समझाई । इसे सुन कर पद्मावती को ससार से विरक्ति हो गई । गर्भवती होने की बात उसने छिपाई, शेष बाते कह दी । साध्वीजो ने उसे दीक्षा दे दी । किन्तु धीरे-धीरे जब गर्भिणी होने की बात साध्वियो को मालूम हुई तो पद्मावती साध्वी ने विनयपूर्वक सब बात कह दी । शय्यातर बाई को प्रवर्तिनी ने यह बात अवगत कर दी । उसने विवेकपूर्वक पद्मावती के प्रसव का प्रबन्ध कर दिया । एक सुन्दर बालक को उसने जन्म दिया और नवजात शिशु को श्मशान मे एक सुरक्षित स्थान पर छोड दिया । कुछ देर तक वह वही एक ओर गुप्त रूप से खडी रही । एक नि सन्तान चाण्डाल आया, उसने उस शिशु को ले जाकर अपनी पत्नी को सौप दिया । बालक के शरीर मे जन्म से ही सूखी खाज (रूक्ष कण्डूया) थी, इसलिए उसका नाम 'करकण्डू' पड गया । युवावस्था मे करकण्डू को अपने पालक पिता का श्मशान की रखवाली का परम्परागत काम मिल गया । एक बार श्मशानभूमि मे गुरु-शिष्य मुनि ध्यान करने आए । गुरु ने वहाँ जमीन मे गडे हुए बास को देख कर शिष्य से कहा—'जो इस बास के डडे को ग्रहण करेगा, वह राजा बनेगा ।' निकटवर्ती स्थान में बैठे हुए करकण्डू ने तथा एक अन्य ब्राह्मण ने मुनि के वचन सुन लिये । सुनते ही वह ब्राह्मण उस बास को उखाड़ कर लेकर चलने लगा । करकण्डू ने देखा तो क्रुद्ध होकर ब्राह्मण के हाथ से वह बास का दण्ड छीन लिया । उसने न्यायालय में करकण्डू के विरुद्ध अभियोग किया । परन्तु उस अभियोग मे करकण्डु की जीत हुई । फैसला सुनाते समय राजा ने करकण्डू से कहा—'अगर तुम इस दण्ड के प्रभाव से राजा बनो तो एक गाँव इस ब्राह्मण को दे देना । करकण्ड ने स्वीकार किया ।

किन्तु ब्राह्मण ने अपने जातिभाइयों से कह कर करकण्डू को मार कर उस दण्ड को ले लेने का निश्चय किया। करकण्डू की पालक माता को मालूम पड़ा तो पति-पत्नी दोनों करकण्डू को लेकर उसी समय दूसरे गाँव को चल पडे। वे सब कांचनपुर पहुँचे। रात्रि का समय होने से ये ग्राम के बाहर ही सो गए थे। संयोगवश उस ग्राम का राजा अपुत्र ही मर गया था। इसलिए मन्त्रियों ने तत्काल राज्य के पट्टहस्ती की सूंड में माला देकर नये राजा की खोज के लिए छोड़ दिया। वह हाथी घूमते-घूमते उसी स्थान पर पहुँचा, जहाँ करकण्डू सो रहा था। हाथी ने माला करकण्डू के गले में डाल दी। करकण्डू को राजा बना दिया गया। कुछ ब्राह्मणों ने इस पर आपत्ति उठाई, परन्तु जाज्वल्यमान दण्ड को देख कर सभी हतप्रभ हो गए। राजा करकण्डू के आदेश से वाटधानक निवासी समस्त मातंगो को शुद्ध कर ब्राह्मण बना दिया गया।

बांस के दण्ड के विषय में जिस ब्राह्मण से झगड़ा हुआ था, वह ब्राह्मण एक दिन राजा करकण्डू से एक ग्राम की याचना करने लगा। करकण्डू राजा ने चम्पापुरी के दधिवाहन राजा पर पत्र लिखा कि उक्त ब्राह्मण को एक ग्राम दे दिया जाए। परन्तु दधिवाहन वह पत्र देखते ही क्रोध से भडक उठा और अपमानपूर्वक ब्राह्मण को निकाल दिया। करकण्डू राजा ने जब यह सुना तो वह भी रोष से भडक उठा और उसने युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। दोनों ओर के सैनिक चम्पापुरी के युद्धक्षेत्र में आ डटे। घमासान युद्ध होने वाला था। तभी साध्वी पद्मावती ने राजा करकण्डू और राजा दधिवाहन दोनों को समझाया। दोनो के पुत्र-पिता होने का रहस्योद्घाटन कर दिया। इससे दोनो मे युद्ध के बदले परस्पर प्रेम का वातावरण स्थापित हो गया। राजा दधिवाहन ने हर्षित होकर अपने औरस पुत्र राजा करकण्डू को चम्पापुरी का राज्य सौंप दिया। स्वय ने मुनि दीक्षा ग्रहण की। करकण्डू राजा ने भी अपनी राजधानी चम्पा को ही बनाया और उक्त ब्राह्मण को उसी राज्य में एक ग्राम दिया। करकण्डू राजा को स्वभाव से गोवश प्रिय था। इसलिए उसने उत्तम गायें मगवा कर अपनी गोशाला मे रखी। एक दिन राजा ने अपनी गोशाला मे एक श्वेत और तेजस्वी बछडे को देखा। राजा को वह बहुत ही सुहावना लगा। उसने आदेश दिया कि 'इस बछडे को इसकी माता (गाय) का पूरा का पूरा दूध पिलाया जाए।' वैसा ही किया गया। इस तरह बढते-बढ़ते वह बछडा पूरा जवान, बलिष्ठ और पुष्ट साड हो गया।

उसके बहुत वर्षों के बाद एक दिन राजा ने गोशाला का निरीक्षण किया तो उसी (बैल) साड को एकदम कृश और अस्थिपंजरमात्र तथा दयनीय दशा मे देख कर राजा को विचार हुआ कि 'वय, रूप, बल, वैभव और प्रभुत्व आदि सब नश्वर हैं। अत इन पर मोह करना वृथा है। इसलिए मुझे इन सबसे मोह हटा कर नरजन्म को सफल करना चाहिए।' विरक्त राजा ने राज्य को तृण के समान त्याग दिया और स्वयं जिनशासन मे प्रव्रजित हुए। दीक्षा के बाद करकण्डू राजर्षि अप्रतिबद्धविहारी बन कर तपश्चर्या की आराधना करते हुए अन्त में समाधिमरणपूर्वक देह-त्याग कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध हुए।

प्रत्येकबुद्ध : द्विमुखराय—पाचालदेश मे काम्पिल्यपुर में जयवर्मा राजा था। उसकी रानी गुणमाला थी। एक दिन आस्थानमण्डप में बैठे हुए राजा ने एक विदेशी दूत से पूछा—'हमारे राज्य मे कौन-सी विशिष्टता नही है, जो दूसरे राज्य में है?' दूत ने कहा—'आपके राज्य में चित्रशाला नही है।' राजा ने चित्रशिल्पियों को बुला कर चित्रशाला-निर्माण का आदेश दिया। जब

चित्रशाला की नीव खोदी जा रही थी, तब उसमें से एक अत्यन्त चमकता हुआ रत्नमय मुकुट मिला, उसे पहन कर चित्रशाला का निर्माण पूर्ण होने पर राजा जब राजसिंहासन पर बैठते थे तब उस मुकुट के प्रभाव से दर्शको को दो मुख वाले दिखाई देते थे। इसलिए लोगो मे राजा 'द्विमुखराय' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

राजा के सात पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम मदनमजरी था। जो उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योतन को दी गई थी।

एक बार इन्द्रमहोत्सव के अवसर पर राजा ने नागरिकों को इन्द्रध्वज को स्थापित करने का आदेश दिया। वैसा ही किया गया। पुष्पमालाओं, मणि, माणिक्य आदि रत्नों एव रंगबिरगे वस्त्रो से उसे अत्यन्त सुसज्जित किया गया। उस सुसज्जित इन्द्रध्वज के नीचे नृत्य, वाद्य, गीत होने लगे, दीनों को दान देना प्रारम्भ हुआ, सुगन्धित जल एव चूर्ण उस पर डाला जाने लगा।

इस प्रकार विविध कार्यक्रमो से उत्सव की शोभा मे वृद्धि देख राजा को अपार हर्ष हुआ। आठवे दिन उत्सव की समाप्ति होते ही समस्त नागरिक अपने वस्त्र, रत्न, आभूषण आदि को ले-लेकर अपने घर आ गए। अब वहाँ सिर्फ एक सूखा ठूठ बच गया था, जिसे नागरिको ने वही डाल दिया था। उसी दिन राजा किसी कार्यवश उधर से गुजरा तो इन्द्रध्वज को धूल मे सना, कुस्थान मे पडा हुआ तथा बालको द्वारा घसीटा जाता हुआ देखा। इन्द्रध्वज की ऐसी दुर्दशा देख राजा के मन मे विचार आया—'अहो! कल जो सारी जनता के आनन्द का कारण बना हुआ था, आज वही विडम्बना का कारण बना हुआ है। ससार के सभी पदार्थों—धन, जन, मकान, महल, राज्य आदि की यही दशा होती है। अत. इन पर आसक्ति रखना कथमपि उचित नही है। क्यो न मैं अब दुर्दशा की कारणभूत इस राज्यसम्पदा पर आसक्ति का परित्याग करके एकान्त श्रेयस्कारिणी मोक्ष-राज्य-लक्ष्मी का वरण करू?' राजा ने इस विचार को कार्यान्वित करने हेतु राज्यादि सर्वस्व त्याग कर स्वय मुनिदीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् प्रत्येकबुद्ध द्विमुखराय ने वीतरागधर्म का प्रचार करके अन्त मे सिद्धगति प्राप्त की।

प्रत्येकबुद्ध नग्गतिराजा—भरतक्षेत्र मे क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु ने चित्रकार चित्रागद की कन्या कनकमजरी की वाक्चातुरी से प्रभावित हो कर उससे विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। राजा और रानी ने विमलचन्द्राचार्य से श्रावकव्रत ग्रहण किये। चिरकाल तक पालन करके वे दोनो देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर कनकमजरी का जीव वैताढ्यतोरणपुर में दृढशक्ति राजा की गुणमाला रानी से पुत्री रूप मे उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया कनकमाला। वासव नामक विद्याधर उसका अपहरण करके वैताढ्यपर्वत पर ले आया। कनकमाला के बडे भाई कनकतेज को पता लगा तो वह वहाँ जा पहुँचा। वासव के साथ उसका युद्ध हुआ। उसमें दोनो ही मारे गए। इसी समय एक व्यन्तर देव आया, उसने भाई के शोक से ग्रस्त कनकमाला को आश्वासन देते हुए कहा कि 'तुम मेरी पुत्री हो।' इतने मे कनकमाला का पिता दृढशक्ति भी वहाँ आ गया। व्यन्तर देव ने कनकमाला को मृततुल्य दिखाया, जिससे उसे ससार से विरक्ति हो गई। दृढशक्ति ने स्वय मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। कनकमाला तथा उस देव ने उन्हे वन्दना की। अपना वृत्तान्त सुनाया। मुनिराज से व्यन्तरदेव ने क्षमायाचना की। जातिस्मरण-ज्ञान से कनकमाला ने व्यन्तरदेव को अपना पूर्वजन्म का पिता जान कर उसने अपने भावी पति के

विषय में पूछा तो उसने कहा—तुम्हारा पूर्वभव का पति जितशत्रु, देवलोक से च्यव कर दृढ़सिंह राजा के यहाँ सिंहरथ नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है । वही तुम्हारा इस जन्म मे भी पति होगा । तदनुसार कनकमाला का विवाह सिंहरथ के साथ सम्पन्न हुआ । सिंहरथ को बार-बार अपने नगर जाना और वापस इस पर्वत पर आना होता था, इस कारण वह 'नगगति' नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

उक्त व्यन्तरदेव (कनकमाला का पिता) विदा लेकर उक्त पर्वत से चला गया, तब सिंहरथ राजा ने कनकमाला को अपने पिता के वियोग का दु खानुभव न हो, इस विचार से वही एक नया नगर बसाया । एक बार राजा कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नगर से बाहर चतुर्विध सैन्यसहित गए । वही वन मे एक स्थान पर पडाव डाला । राजा ने वहाँ एक आम्रवृक्ष देखा जो नये पत्तों और मजरियो से सुशोभित एव गोलाकार प्रतीत हो रहा था । राजा ने मंगलार्थ उस वृक्ष की एक मजरी तोड ली । इसे देख कर समस्त सैनिको ने उस वृक्ष की मजरी व पत्ते आदि तोड कर उसे ठूठ-सा बना दिया । राजा जब वन मे घूम कर वापस लौटा तो वहाँ हराभरा आम्रवृक्ष न देख कर पूछा—'मन्त्रिप्रवर ! यहाँ जो आम का वृक्ष था, वह कहाँ गया ?' मंत्री ने कहा—'महाराज ! इस समय यहाँ जो ठूठ के रूप मे मौजूद है, यही वह आम्रवृक्ष है ।' सारा वृत्तान्त सुन कर पहले के श्रीसम्पन्न आम्रवृक्ष को अब श्रीरहित देख कर ससार की प्रत्येक श्रीसम्पन्न वस्तु पर विचार करते-करते नग्गति राजा को ससार से विरक्ति हो गई । उन्होने प्रत्येकबुद्ध रूप से दीक्षा ग्रहण की । मुनि बन कर तप-सयम का पालन करते हुए समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करके अन्त मे सिद्धिगति पाई ।

नमि राजर्षि भी प्रत्येकबुद्ध थे, जिनकी कथा ९ वे अध्ययन मे अकित है । इस प्रकार ये चारो ही प्रत्येकबुद्ध महाशुक्र नामक ७ वे देवलोक मे १७ सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले देव हुए । वहाँ से च्यव कर एक समय मे ही मुनिदीक्षा ली और एक ही साथ मोक्ष मे गए ।[1]

सोवीर-नृप उदायन राजा

४८. सोवीररायवसभो चिच्चा रज्जं मुणी चरे ।
उद्दायणो पव्वइओ पत्तो गइमणुत्तरं ॥

[४८] सौवीरदेश के श्रेष्ठ राजा उदायन राज्य का परित्याग करके प्रव्रजित हुए । मुनिधर्म का आचरण किया और अनुत्तरगति प्राप्त की ।

विवेचन—उदायन राजा को विरक्ति, प्रव्रज्या और मुक्ति—सिन्धु-सौवीर आदि सोलह देशो का और वीतभयपत्तन आदि ३६३ नगरो का पालक राजा उदायन धैर्य, गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणो से अलकृत था । उसकी पटरानी का नाम प्रभावती था, जो चेटक राजा की पुत्री और जैनधर्मानुरागिणी थी । प्रभावती ने अभिजिन नामक एक पुत्र को जन्म दिया ।

यह वही उदायन राजा था, जिसने स्वर्णगुटिका दासी का अपहरण करके ले जाने वाले अपराधी चण्डप्रद्योतन के साथ सावत्सरिक क्षमायाचना करके उसे बन्धनमुक्त कर देने की उदारता बताई थी ।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ३१० से ३१६ (सक्षिप्त)

एक दिन राजा उदायन को पौषध करके धर्मजागरणा करते हुए ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि 'अगर भगवान् महावीर यहाँ पधारें तो मैं दीक्षाग्रहण करके अपना जीवन सफल बनाऊँ।' भगवान् उदायन के इन विचारो को ज्ञान से जान कर चम्पापुरी से वीतभयपत्तन के उद्यान मे पधारे। उदायन ने प्रभु के समक्ष जब दीक्षाग्रहण के विचार प्रस्तुत किये तो भगवान् ने कहा—'शुभ-कार्य मे विलम्ब न करो।' उदायन ने घर आकर विचार किया और आत्म-कल्याण से विमुख कर देने वाला राज्य पुत्र अभिजितकुमार को न सौंप कर अपने भानजे केशी को सौंपा तथा स्वय ने वीरप्रभु से दीक्षा ग्रहण की। उदायन मुनि मासक्षमण (मासोपवास) तप द्वारा कर्म का क्षय एव शरीर को कृश करने लगे। पारणे के दिन भी वे अन्त-प्रान्त आहार लेते थे। इस कारण उनका शरीर रोगग्रस्त हो गया। जब मुनिवर वीतभयपत्तन पधारे तो अकारणशत्रु दुष्ट मन्त्रियो ने उनके विरुद्ध केशी नृप के कान भर दिये। राजा केशी ने उनकी चाल मे आकर राज्य मे घोषणा करवा दी—'जो उदायन मुनि को रहने को स्थान देगा, वह राजा का अपराधी और दण्ड का भागी समझा जाएगा।' सिर्फ एक कुम्भकार ने अपनी कुम्भनिर्माणशाला मे उन्हे ठहरने को स्थान दिया। किन्तु केशी राजा दुष्ट अमात्यो के साथ आकर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! आप रुग्ण है, अत. यह स्थान आपके ठहरने योग्य नही है। आप उद्यान मे पधारें, वहाँ राजवैद्यो द्वारा आपकी चिकित्सा होगी।' इस पर राजर्षि उदायन उद्यान में आकर ठहर गए। वहाँ केशी राजा ने षड्यन्त्र कर वैद्यो द्वारा विषमिश्रित औषध पिला दी। कुछ ही देर मे विष समस्त शरीर में व्याप्त हो गया, राजर्षि को यह पता लग गया कि 'केशी राजा ने विषमिश्रित औषध दिलाई है। पर सोचा—इससे मेरी आत्मा का क्या नष्ट होने वाला है? शरीर भले ही नष्ट हो जाए!' पवित्र अध्यवसाय के प्रभाव से राजर्षि ने केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

रानी प्रभावती ने देवी के रूप मे जब यह सारा काण्ड अवधिज्ञान से जाना तो उक्त कुम्भकार को सिनपल्लीग्राम मे पहुँचा कर सारे वीतभयनगर को धूलिवर्षा करके ध्वस्त कर दिया।[1]

काशीराज द्वारा कर्मक्षय

४९. तहेव कासीराया सेओ-सच्चपरक्कमे।
कामभोगे परिच्चज्ज पहणे कम्ममहावणं॥

[४९] इसी प्रकार श्रेय और सत्य (सयम) मे पराक्रमी काशीराज ने कामभोगो का परित्याग कर कर्मरूपी महावन को ध्वस्त किया।

विवेचन—काशीराज नन्दन की कथा—वाराणसी मे अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ भगवान् के शासन मे अग्निशिख राजा था। उसकी दो पटरानियाँ थी—जयन्ती और शेषवती। जयन्ती से नन्दन नामक सप्तम बलदेव और शेषवती से दत्त नामक सप्तम वासुदेव हुए। यथावसर राजा ने दत्त को राज्य सौंपा। इसने नन्दन की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर विजय प्राप्त की। अपनी छप्पन हजार वर्ष की आयु दत्त ने अर्धचक्री की लक्ष्मी एवं भोग भोगने मे ही समाप्त की। अतः वह मर करके पंचम नरक भूमि मे गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर नन्दन ने दीक्षा ग्रहण की,

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ ३९७ से ३४१ तक (सक्षिप्त)

चारित्रपालन कर अन्त मे केवलज्ञान पाया और ५६ हजार वर्ष की कुल आयु पूर्ण करके सिद्धि प्राप्त की।[1]

विजय राजा राज्य त्याग कर प्रव्रजित

५०. तहेव विजओ राया अणट्ठाकित्ति पव्वए।
रज्जं तु गुणसमिद्धं पयहित्तु महाजसो॥

[५०] इसी प्रकार निर्मलकीर्ति वाले महायशस्वी विजय राजा ने गुणसमृद्ध राज्य का परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की।

विवेचन—अणट्ठाकित्ती : तीन अर्थ—(१) **अनार्त्तकीर्ति**—अनार्त्ता—आर्त्तध्यानरहित होकर दीन, अनाथ आदि को दान देने से होने वाली कीर्ति—प्रसिद्धि—से उपलक्षित। (२) **अनार्त्तकीर्ति**—अनार्त्ता—सकल दोषो से रहित होने से अबाधित कीर्ति वाले। (३) **आज्ञार्थाकृति**—आज्ञा का अर्थ है—आगम तथा अर्थ शब्द का अर्थ है—हेतु, अर्थात्—आज्ञार्थक आकृति—अर्थात् मुनिवेषात्मक आकृति।

रज्जं गुणसमिद्धं : दो अर्थ—(१) राज्य के गुणो, अर्थात्—स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य, इन सप्तांग राज्यगुणो से समृद्ध, अथवा (२) गुणो—शब्दादि विषयो से समृद्ध—सम्पन्न—राज्य।[2]

विजय राजा का सयम मे पराक्रम—द्वारकानगरी के ब्रह्मराज और उनकी पटरानी सुभद्रा का अगजात द्वितीय बलदेव था। उसका छोटा भाई द्विपृष्ठ वासुदेव था। जो ७२ लाख वर्ष की आयु पूर्ण करके नरक मे गया। जबकि विजय ने वैराग्यपूर्वक प्रव्रजित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया और ७५ लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष प्राप्त किया।[3]

महाबल राजर्षि ने सिद्धिपद प्राप्त किया

५१. तहेवुग्गं तवं किच्चा अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी अद्दाय सिरसा सिरं॥

[५१] इसी प्रकार अनाकुल चित्त से उग्र तपश्चर्या करके राजर्षि महाबल ने सिर देकर सिर (शीर्षस्थ पद मोक्ष) प्राप्त किया।

विवेचन—अद्दाय सिरसा सिरं : दो भावार्थ—(१) सिर देकर अर्थात्—जीवन से निरपेक्ष होकर सिर—समस्त जगत् का शीर्षस्थ—सर्वोपरि—मोक्ष, ग्रहण—स्वीकार किया। (२) शीर्षस्थ—सर्वोत्तम, श्री—केवलज्ञान—लक्ष्मी, ग्रहण करके परिनिर्वाण को प्राप्त किया।[4]

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ९०
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९
३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ४४७
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९

महाबल राजर्षि का वृत्तान्त—महाबल हस्तिनापुर के अतुल बलशाली बल राजा का पुत्र था। यौवन में पदार्पण करते ही माता प्रभावती रानी और पिता बल राजा ने ८ राजकन्याओं के साथ महाबल का विवाह किया।

एक बार नगर के बाहर उद्यान में विमलनाथ तीर्थंकर के शासन के धर्मघोष आचार्य पधारे। महाबलकुमार ने उनके दर्शन किये, प्रवचन सुना तो संसार से विरक्ति और मुनिधर्म के पालन में तीव्र रुचि हुई। माता-पिता से दीक्षा की अनुज्ञा लेने गया तो उन्होंने मोहवश उसे गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक सुख भोगने और पिछली वय में दीक्षा लेने को कहा। परन्तु उसने उन्हें भी विविध युक्तियों से समझाया तो उन्होंने निरुपाय होकर दीक्षा की आज्ञा दी।

महाबलकुमार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर सहस्रमानववाहिनी शिविका पर आरूढ होकर सर्वसैन्य, नृत्य, गीत, वाद्य आदि से गगन गुंजाते हुए नगर के बाहर उद्यान में पहुँचा। माता-पिता ने दीक्षा की आज्ञा दी। समस्त वस्त्राभूषण आदि उतार कर अपने केशों का लोच किया और गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के बाद महाबल मुनि ने १२ वर्ष तक तीव्र तपश्चरण किया। चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और अन्तिम समय में एक मास का अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर पंचम देवलोक में गए। वहाँ का १० सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर वे वाणिज्यग्राम में सुदर्शन श्रेष्ठी के रूप में उत्पन्न हुए। चिरकाल तक श्रावकधर्म का पालन किया। एक बार भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुन कर सुदर्शन श्रेष्ठी प्रतिबुद्ध हुआ, याचकों को दान देकर प्रभु के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। फिर सुदर्शन मुनि ने समस्त पूर्वों का अध्ययन करके उग्र तप से सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।[1]

क्षत्रियमुनि द्वारा सिद्धान्तसम्मत उपदेश

५२. कहं धीरो अहेऊहिं उम्मत्तो व्व महिं चरे?
एए विसेसमादाय सूरा दढपरक्कमा॥

[५२] इन (भरत आदि) शूरवीर और दृढपराक्रमी (राजाओं) ने जिनशासन में विशेषता देख कर उसे स्वीकार किया था। अत. धीर साधक (एकान्त क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान रूप) कुहेतु वादों से प्रेरित हो कर उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचर सकता है?

५३. अच्चन्तनियाणखमा सच्चा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरन्तेगे तरिस्सन्ति अणागया॥

[५३] मैंने ('जिनशासन ही आश्रयणीय है') यह अत्यन्त निदानक्षम (समुचित युक्तिसंगत) सत्य वाणी कही है। (इसे स्वीकार कर) अनेक (जीव अतीत में संसारसमुद्र से) पार हुए है, (वर्तमान में) पार हो रहे हैं और भविष्य में पार होंगे।

५४ कहं धीरे अहेऊहिं अत्ताणं परियावसे?
सव्वसंगविनिम्मुक्के सिद्धे हवइ नीरए॥

—त्ति बेमि।

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ९१ से ९३ तक

[५४] धीर साधक (पूर्वोक्त एकान्तवादी) अहेतुवादों से अपने आपको कैसे परिवासित करे ? जो सभी संगों से विनिर्मुक्त है, वही नीरज (कर्मरज से रहित) हो कर सिद्ध होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उन्मत्तो व्व :—उन्मत्त—ग्रहगृहीत की तरह, सत्तत्त्व रूप वस्तु का अपलाप करके या असत्प्ररूपणा करके।

तात्पर्य—गाथा ५१ द्वारा क्षत्रियमुनि का अभिप्राय यह है कि जैसे पूर्वोक्त महान् आत्माओं ने कुवादिपरिकल्पित क्रियावाद आदि को छोड़ कर जिनशासन को अपनाने में ही अपनी बुद्धि निश्चित कर ली थी, वैसे आपको (संजय मुनि को) भी धीर हो कर इसी जिनशासन में अपना चित्त दृढ करना चाहिए।

अच्चंतनियाणखमा : दो अर्थ—(१) अत्यन्त निदानों—कारणों—हेतुओं से सक्षम—युक्त। अथवा (२) अत्यन्त रूप से निदान—कर्ममलशोधन में सक्षम—समर्थ।

अत्ताणं परियावसे—कुहेतुओं से आत्मा को शासित कर सकता है, अर्थात् आत्मा को कैसे कुहेतुओं के स्थान में आवास करा सकता है ?

सव्वसंगविनिम्मुक्के—समस्त संग—द्रव्य से धन-धान्यादि और भाव से मिथ्यात्वरूप क्रिया-वादादि से रहित।[1]

॥ संजयीय (संयतीय) : अठारहवाँ अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

1. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९-४५०

उन्नीसवाँ अध्ययन : मृगापुत्रीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम मृगापुत्रीय (मियापुत्तिज्ज) है, जो मृगा रानी के पुत्र से सम्बन्धित है।

* मृगापुत्र का सामान्य परिचय देकर, उसे ससार से विरक्ति कैसे हुई ? उसके अपने माता-पिता के साथ क्या-क्या प्रश्नोत्तर हुए ? अन्त मे मृगापुत्र श्रमणधर्मपालन के कष्टो और कठिनाइयो से भी अनन्तगुणे कष्टो एव दु खो वाले नरकों तथा अन्य गतियो का अपना जाना-माना सजीव वर्णन करके माता-पिता से दीक्षा की अनुज्ञा प्राप्त करने मे कैसे सफल हो जाता है ? तथा मृगापुत्र दीक्षा लेने पर किन गुणो से समृद्ध होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुआ ? इन सब विषयो का विशद वर्णन इस अध्ययन में है।

* सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र और रानी मृगावती के पुत्र का नाम 'बलश्री' था, परन्तु वह माता के नाम पर 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था।

  एक बार मृगापुत्र अपने महल के गवाक्ष मे अपनी पत्नियो के साथ बैठा नगर का दृश्य देख रहा था। तभी उसकी दृष्टि राजपथ पर जाते हुए एक प्रशान्त, शीलसम्पन्न, तप, नियम और सयम के धारक तेजस्वी साधु पर पडी। मृगापुत्र अनिमेष दृष्टि से देख कर विचारो की गहराई मे डूब गया—ऐसा साधु पहले भी मैंने कही देखा है। कब देखा है ? यह याद नही आता, परन्तु देखा अवश्य है। उसे इस तरह ऊहापोह करते-करते पूर्वजन्म का स्मरण हो आया कि मैं भी पूर्वजन्म मे ऐसा ही साधु था। साथ ही साधुजीवन की श्रेष्ठता, चर्या, कर्मों से मुक्ति का सर्वोत्तम पथ आदि-आदि की स्मृतियाँ करवट लेने लगी। अब उसे सासारिक भोग, रिश्ते-नाते, धन-वैभव आदि सब बन्धनरूप लगने लगे। उसके लिए सासारिक वृत्ति मे रहना असह्य हो उठा।

* वह अपने माता-पिता के पास गया और बोला—'मै साधुदीक्षा अगीकार करना चाहता हूँ, आप मुझे अनुज्ञा दे। मुझे अब ससार के कामभोगो से विरक्ति और सयम मे अनुरक्ति हो गई है।' फिर उसने माता-पिता के समक्ष भोगो के कटु परिणाम बताए, शरीर एव ससार की अनित्यता का वर्णन किया। यह भी कहा कि धर्मरूपी पाथेय को लिये बिना जो परभव मे जाता है, वह व्याधि, रोग, दु:ख, शोक आदि से पीडित होता है। जो धर्माचरण करता है, वह इहलोक-परलोक मे अत्यन्त सुखी हो जाता है। (गा १ से २३ तक)

* परन्तु मृगापुत्र के माता-पिता यो सहज ही उसे दीक्षा की अनुमति देने वाले नही थे। वे उसके समक्ष सयम, महाव्रत एव श्रमणधर्म-पालन के बडे-बडे कष्टो और दु खो का वर्णन करने लगे और अन्त मे उसके समक्ष प्रस्ताव रखा—यदि दीक्षा ही लेना है तो भुक्तभोगी बन कर ले, अभी क्या जल्दी है ? (गा २४ से ४३ तक)

* इसके युक्तिपूर्वक समाधान के लिए माता-पिता के समक्ष नरक आदि मे सहे हुए कष्टों और दु:खो का मार्मिक वर्णन किया। (गा ४४ से ७४ तक)
* तब माता-पिता ने कहा—दीक्षित हो जाने पर एकाकी विचरण करने वाले श्रमण का कोई सहायक नही होता, वह रोगचिकित्सा नही करता, यह एक समस्या है ! किन्तु मृगापुत्र ने उन्हें जगल मे एकाकी विचरण करने वाले मृगो की समग्र चर्या का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य अगर अभ्यास करे तो उसके लिए रोग का अप्रतीकार तथा अन्य मृगचर्या, निर्दोष भिक्षाचर्या आदि कठिन नही है। मैं स्वयं मृगचर्या का आचरण करने का सकल्प लेता हूँ। (गा. ७५ से ८५ तक)
* इसके पश्चात् शास्त्रकार ने मृगापुत्र की साधुचर्या, समता, एव साधुता के गुणो के विषय मे उल्लेख किया है। अन्त मे मृगापुत्र की तरह समस्त साधु-साध्वियो को श्रमणधर्म के पालन का निर्देश दिया है एव उसके द्वारा आचरित श्रमणधर्म का सर्वोत्कृष्ट फल भी बतलाया है। (गा ८६ से ९८ तक)

मृगापुत्र के दृढ सकल्प को, उसके अनुभवो और पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर बने हुए सयमानुराग को माता-पिता तोड नही सके, अन्त मे दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने, उन्होने मृगचारिका की साधना की, श्रमणधर्म का जागृत रह कर पालन किया और अन्त मे सिद्धि प्राप्त की।

□□

एगूणविंसइमं अज्झयणं : उन्नीसवाँ अध्ययन

मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीय

मृगापुत्र का परिचय

१. सुग्गीवे नयरे रम्मे काणणुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दे त्ति मिया तस्सऽग्गमाहिसी ।।

[१] वनो और उद्यानो से सुशोभित सुग्रीव नामक रमणीय नगर मे बलभद्र नामक राजा (राज्य करता) था । 'मृगा' उसकी अग्रमहिषी (-पटरानी) थी ।

२. तेसिं पुत्ते बलसिरी मियापुत्ते त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊण दइए जुवराया दमीसरे ।।

[२] उनके 'बलश्री' नामक पुत्र था, जो 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था । वह माता-पिता को अत्यन्त वल्लभ था तथा दमीश्वर एव युवराज था ।

३. नन्दणे सो उ पासाए कीलए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव निच्चं मुइयमाणसो ।।

[३] वह प्रसन्नचित्त से नन्दन (आनन्ददायक) प्रासाद (राजमहल) मे दोगुन्दक देव की तरह अपनी पत्नियो के साथ क्रीडा किया करता था ।

विवेचन—दमीसरे—(१) (वर्तमान काल की अपेक्षा से—) उद्धत लोगो का दमन करने वाले राजाओ का ईश्वर-प्रभु, (२) इन्द्रियो को दमन करने वाले व्यक्तियो मे अग्रणी, अथवा (३) उपशमशील व्यक्तियो मे ईश्वर-प्रधान । (भविष्यकाल की अपेक्षा से) ।[1]

काणणुज्जाणसोहिए : अर्थ—कानन का अर्थ है—बडे-बडे वृक्षो वाला वन और उद्यान का अर्थ है—आराम या क्रीडावन । इन दोनो से सुशोभित ।[2]

जुवराया—युवराज-पद पर अभिषिक्त, राज्यपद की पूर्व स्वीकृति का द्योतक ।

देवो दोगुंदगो : अर्थ—दोगुन्दक देव त्रायस्त्रिश होते है, वे सदैव भागपरायण रहते है । ऐसी वृद्धपरम्परा है ।[3]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ४१७

२ कानने —बृहद्वृक्षाश्रयैर्वनैरुद्याने आरामै क्रीडावनैर्वा शोभिते । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ दोगुन्दकाश्च त्रायस्त्रिशा , तथा च वृद्धा.—'त्रायस्त्रिशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुन्दगा इति भण्णति ।'

मुनि को देख कर मृगापुत्र को पूर्वजन्म का स्मरण

४. मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणट्ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स चउक्क-तिय-चच्चरे ॥

[४] एक दिन मृगापुत्र मणि और रत्नो से जडे हुए कुट्टिमतल (फर्श) वाले प्रासाद के गवाक्ष (झरोखे) मे स्थित होकर नगर के चौराहों (चौक), तिराहो और चौहट्टो को देख रहा था ।

५. अह तत्थ अइच्छन्तं पासई समणसंजयं ।
तव—नियम—संजमधरं सीलड्ढं गुणआगरं ॥

[५] मृगापुत्र ने वहाँ राजपथ पर जाते हुए तप, नियम और सयम के धारक शील से सुसम्पन्न तथा (ज्ञानादि) गुणो के आकर एक श्रमण को देखा ।

६. तं देहई मियापुत्ते दिट्ठीए अणिमिसाए उ ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥

[६] मृगापुत्र उस मुनि को अनिमेष दृष्टि से देखने लगा और सोचने लगा—'ऐसा लगता है कि ऐसा रूप मैने इससे पूर्व कही देखा है ।'

७. साहुस्स दरिसणे तस्स अज्झवसाणंमि सोहणे ।
मोहं गयस्स सन्तस्स जाईसरणं समुप्पन्नं ॥

८. देवलोग-चुओ संतो माणुस्सं भवमागओ ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे जाइं सरइ पुराणयं ॥

[७-८] उस साधु के दर्शन तथा प्रशस्त अध्यवसाय के होने पर 'मैंने ऐसा कही देखा है' इस प्रकार के अतिचिन्तन (ऊहापोह) वश मूर्च्छा-मोह को प्राप्त होने पर उसे (मृगापुत्र को) जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया ।

सञ्ज्ञि-ज्ञान अर्थात् समनस्क ज्ञान होते ही उसने पूर्वजन्म का स्मरण किया—'मैं देवलोक से च्युत हो कर मनुष्यभव मे आया हूँ ।

विवेचन—मणि और रत्न मे अन्तर—बृहद्वृत्ति के अनुसार—मणि कहते है—विशिष्ट माहात्म्य वाले चन्द्रकान्त आदि रत्नो को तथा रत्न कहते है—गोमेयक आदि रत्नो को ।[1]

आलोयण : आलोकन : विशिष्ट अर्थ—जहाँ बैठ कर चारो दिशाओ का अवलोकन किया जा सके, ऐसे प्रासाद को आलोकन कहते हैं अथवा सर्वोपरि (सबसे ऊँचा) चतुरिकारूप गवाक्ष ।[2]

तवनियमसंजमधर : विशिष्ट अर्थ—तप—बाह्य और आभ्यन्तर तप, नियम—द्रव्य आदि का

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

२ आलोक्यते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनम् तस्मिन् सर्वोपरिवर्तिचतुरिकागवाक्षे वा स्थित —उपविष्ट ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

अभिग्रहात्मक व्रत अथवा ऐच्छिक व्रत या योगसम्मत शौच-सतोष आदि नियम एव सयम—सत्रह प्रकार का सयम, इनके धारक।[1]

सीलड्ढं : शीलाढ्य :—शील—अठारह हजार शीलागो से आढ्य—परिपूर्ण या समृद्ध।[2]

अज्झवसाणंमि सोहणे : अर्थ—शोभन (पवित्र) अध्यवसान—अन्त.करणपरिणाम। अर्थात्—प्रधान क्षायोपशमिक भाववर्ती परिणाम।

पुराकडं : अर्थ—पूर्वजन्म मे आचरित।[3]

विरक्त मृगापुत्र द्वारा दीक्षा की अनुज्ञा-याचना

९. जाइसरणे समुप्पन्ने मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं सामण्णं च पुराकयं॥

[९] जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर महान् ऋद्धि के धारक मृगापुत्र को पूर्वभव का स्मरण हुआ और पूर्वाचरित श्रामण्य-साधुत्व की भी स्मृति हो गई।

१०. विसएहि अरज्जन्तो रज्जन्तो सजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म इमं वयणमब्बवी॥

[१०] विषयो से विरक्त और सयम मे अनुरक्त मृगापुत्र ने माता-पिता के पास आ कर इस प्रकार कहा—

११. सुयाणि मे पच महव्वयाणि नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो!॥

[११] मैंने (पूर्वभव मे) पचमहाव्रतो को सुना है तथा नरको और तिर्यञ्चयोनियो मे दु ख है। मैं ससाररूप महासागर से काम-विरक्त हो गया हूँ। माता! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूगा, (अत·) मुझे अनुमति दे।"

विवेचन—विसएहि . अर्थ—मनोज्ञ शब्दादि विषयो मे।

पूर्वजन्म का अनुभव—मृगापुत्र ने जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होने से माता-पिता को अपने पूर्वजन्म के अनुभव अथवा अनुभूत वृत्तान्त बताए, जिनमे मुख्य थे—(१) पूर्वजन्म मे पचमहाव्रत-ग्रहण, (२) नरक-तिर्यञ्चगतियो मे अनुभूत दु ख। इन्ही पूर्वजन्मकृत अनुभूतियो और स्मृतियो के आधार पर मृगापुत्र को ससार के कामभोगो से विरक्ति हुई। फलत वह माता-पिता को दीक्षाग्रहण करने की अनुज्ञा प्रदान करने के लिए समझाता है।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ नियमश्च द्रव्याद्यभिग्रहात्मक।
(ख) शौचसतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा। —योगदर्शन २।३२

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४५२ शील-अष्टादशशीलागसहस्ररूप, तेनाढ्य-परिपूर्णम्।

३. वही, पत्र ४५२

मृगापुत्र की वैराग्यमूलक उक्तियाँ

१२. अम्मताय ! मए भोगा भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा अणुबन्ध—दुहावहा ॥

[१२] हे माता-पिता ! मैंने भोग भोग लिये है, वे विषफल के समान अन्त मे कटु परिणाम (विपाक) वाले और निरन्तर दुःखावह होते है ।

१३. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं दुक्ख-केसाण भायणं ॥

[१३] यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अपवित्र वस्तुओ से उत्पन्न हुआ है, यहाँ का आवास अशाश्वत है तथा दु.खो एव क्लेशो का भाजन है ।

१४. असासए सरीरम्मि रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे फेणबुब्बुय—सन्निभे ॥

[१४] यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभगुर है इसे पहले या पीछे (कभी न कभी) छोडना ही है । इसलिए इस अशाश्वत शरीर मे मैं आनन्द नही पा रहा हूँ ।

१५. माणुसत्ते असारम्मि वाही—रोगाण आलए ।
जरा—मरणघत्थम्मि खण पि न रमामऽहं ॥

[१५] व्याधि और रोगो के घर तथा जरा और मृत्यु से ग्रस्त इस असार मनुष्य शरीर (भव) मे एक क्षण भी मुझे सुख नही मिल रहा है ।

१६. जम्मं दुक्खं जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥

[१६] जन्म दुख.रूप है, जरा (बुढापा) दु खरूप है, रोग और मरण भी दु खरूप हैं । अहो ! निश्चय ही यह ससार दु खमय है, जिसमे प्राणी क्लेश पाते है ।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पुत्त—दारं च बन्धवा ।
चइत्ताणं इमं देहं गन्तव्वमवसस्स मे ॥

[१७] खेत (क्षेत्र), वास्तु (घर), हिरण्य (सोना-चादी) और पुत्र, स्त्री तथा बन्धुजनो को एव इस शरीर को भी छोड़ कर एक दिन मुझे अवश्य (विवश हो कर) चले जाना है ।

१८. जहा किम्पागफलाणं परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥

[१८] जैसे खाए हुए किम्पाक फलो का अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं होता, वैसे ही भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नही होता ।

१९. अद्धाणं जो महन्तं तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होई छुहा-तण्हाए पीडिओ ।।

[१९] जो व्यक्ति पाथेय लिये बिना लम्बे मार्ग पर चल देता है, वह चलता हुआ (रास्ते मे) भूख और प्यास से पीडित होकर दु खी होता है ।

२० एवं धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाहीरोगेहिं पीडिओ ।।

[२०] इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म (धर्माचरण) किये बिना परभव मे जाता है वह जाता हुआ व्याधि और रोग से पीडित एव दु खी होता है ।

२१. अद्धाणं जो महन्तं तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहा—तण्हाविवज्जिओ ।।

[२१] जो मनुष्य पाथेय साथ मे लेकर लम्बे मार्ग पर चलता है, वह चलता हुआ भूख और प्यास (के दु ख) से रहित होकर सुखी होता है ।

२२. एवं धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ।।

[२२] इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्माचरण करके परभव (आगामी जन्म) मे जाता है, वह अल्पकर्मा (जिसके थोड़े से कर्म शेष रहे हो, वह) जाता हुआ वेदना से रहित एव सुखी होता है ।

२३. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ ।।

[२३] जिस प्रकार घर मे आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह (उस घर मे रखी हुई) सारभूत वस्तुएं बाहर निकाल लाता है और असार (तुच्छ) वस्तुओ को (वही) छोड देता है ।

२४. एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ ।।

[२४] इसी प्रकार जरा और मरण से जलते हुए इस लोक मे से आपकी अनुमति पा कर सारभूत अपनी आत्मा को बाहर निकालू गा ।

विवेचन—भोगों का परिणाम—प्रस्तुत मे भोगो को जहरीले फल के समान कटुपरिणाम वाला बताया गया है । इसका आशय यही है कि विषयभोग भोगते समय पहले तो मधुर एव रुचिकर लगते है, किन्तु भोग लेने के पश्चात् उनका परिणाम अत्यन्त कटु होता है । इसलिए भोग सतत दु.ख-परम्परा को बढाते हैं, दु ख लाते हैं ।

शरीर की अनित्यता, अशुचिता एवं दुःखभाजनता—१३-१४-१५ वी गाथाओ मे कहा गया है कि शरीर अनित्य अशुचि, तथा शुक्र-शोणित आदि घृणित वस्तुओ से बना हुआ एव भरा हुआ

है और वह भी दु ख एवं क्लेश का भाजन है, शरीर के लिए मनुष्य को अनेक क्लेश, दु.ख, सकट, रोग, शोक, भय, चिन्ता, आधि, व्याधि, उपाधि आदि सहने पडते है। शरीर के पालन-पोषण, सवर्द्धन, रक्षण आदि मे रातदिन अनेक दु ख उठाने पडते हैं। इस कारण इस मनुष्यशरीर को व्याधि और रोग का घर तथा जरा-मरणग्रस्त बता कर मृगापुत्र ने ऐसे नश्वर एव एक दिन अवश्य त्याज्य इस शरीर मे रहने मे अपनी अनिच्छा एव अरुचि दिखाई है।

संसार की नश्वरता—ससार की प्रत्येक सजीव एव निर्जीव वस्तु नाशवान् है। फिर जिन नश्वर वस्तुओ, स्वजनो या मनोज्ञ विषयभोगो या भोगसामग्री को मनुष्य जुटाता है, उन पर मोह-ममता करता है, उनके लिए नाना कष्ट उठाता है, उन सबको एक दिन विवश होकर उसे छोडना पडता है। इसीलिए मृगापुत्र कहता है कि जब इन्हे एक दिन छोड कर चले जाना है तो फिर इनके साथ मोह-ममत्वसम्बन्ध ही क्यो बाधा जाए ?

धर्मकर्ता और अधर्मकर्ता को सपाथेय-अपाथेय की उपमा—१८ से २१ वी गाथा तक बताया गया है कि जो व्यक्ति धर्मरूपी पाथेय लेकर परभव जाता है, वह सुखी होता है, जबकि धर्मरूपी पाथेय लिये बिना ही परभव जाता है, वह धर्माचरण के बदले अनाचार, कदाचार, विषयभोग आदि मे रचा-पचा रहकर जीवन पूराकर देता है। फलत वह रोग, व्याधि, चिन्ता आदि कष्टो से पीडित रहता है।

असार को छोड कर सारभूत की सुरक्षा—बुढापे और मरण से जल रहे असार ससार मे से नि सारभूत शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी पदार्थों का त्याग करके या उनसे विरक्ति-अनासक्ति रख कर एकमात्र सारभूत आत्मा या आत्मगुणो को सुरक्षित रखना ही मृगापुत्र का आशय है। इस गाथा के द्वारा मृगापुत्र ने धर्माचरण मे विलम्ब के प्रति असहिष्णुता प्रगट की है।[1]

रोग और व्याधि मे अन्तर—मूल मे शरीर को **'वाहीरोगाण आलए'** (व्याधि और रोगो का घर) बताया है, सामान्यतया व्याधि और रोग समानार्थक है, किन्तु बृहद्वृत्ति मे दोनो का अन्तर बताया गया है। व्याधि का अर्थ है—अत्यन्त बाधा (पीडा) के कारणभूत राजयक्ष्मा आदि जैसे कष्ट साध्य रोग और रोग का अर्थ है—ज्वर आदि सामान्य रोग।[2]

पच्छा-पुरा य चइयव्वे—शरीर नाशवान् है, क्षणभगुर है, कब यह नष्ट हो जाएगा, इसका कोई ठिकाना नही है। वह पहले छूटे या पीछे, एक दिन छूटेगा अवश्य। यदि पहले छूटता है तो अभुक्तभोगावस्था यानी बाल्यावस्था मे और पीछे छूटता है तो भुक्तभोगावस्था अर्थात्—बुढापे मे छूटता है। अथवा जितनी स्थिति (आयुष्य कर्मदलिक) है, उतनी पूर्ण करके यानी आयुक्षय के पश्चात् अथवा सोपक्रमी आयुष्य हो तो जितनी स्थिति है, उससे पहले ही किसी दुर्घटना आदि के कारण आयुष्य टूट जाता है। निष्कर्ष यह है कि शरीर अनित्य होने से पहले या पीछे कभी भी छोडना पडेगा, तब फिर इस जीवन (शरीरादि) को विषयो या कषायों आदि मे नष्ट न करके धर्माचरण मे, आत्म-स्वरूपरमण मे या रत्नत्रय की आराधना मे लगाया जाए यही उचित है।[3]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५३ से ४५५ तक (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ. ४७६ से ४८९ तक

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५ व्याधय.—अतीव बाधाहेतव. कुष्ठादयो, रोगाः —ज्वरादय ।

३ वही, पत्र ४५४

किम्पाकफल—किम्पाक एक वृक्ष होता है, जिसके फल अत्यन्त मधुर, स्वादिष्ट, एव सुगन्धित होते हैं, किन्तु उसे खाते ही मनुष्य का शरीर विषाक्त हो जाता है और वह मर जाता है।[1]

अप्पकम्मे अवेयणे—धर्म पाथेय है। धर्माचरणसहित एव सावद्यव्यापाररहित सपाथेय व्यक्ति जब परभव मे जाता है, तो उसे सातावेदनरूप सुख का अनुभव होता है।[2]

माता-पिता द्वारा श्रमणधर्म की कठोरता बता कर उससे विमुख करने का उपाय

२५. तं बित ऽम्मापियरो सामण्णं पुत्त! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं धारेयव्वाइं भिक्खुणो॥

[२५] माता-पिता ने उसे (मृगापुत्र से) कहा—पुत्र! श्रमणधर्म का आचरण अत्यन्त दुष्कर है। (क्योकि) भिक्षु को हजारो गुण धारण करने होते है।

२६. समया सव्वभूएसु सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करं॥

[२६] भिक्षु को जगत् मे शत्रुओ और मित्रो के प्रति, अथवा (यो कहो कि) समस्त जीवो के प्रति समत्व रखना तथा जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना अत्यन्त दुष्कर है।

२७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाउत्तेण दुक्करं॥

[२७] सदा अप्रमादी रह कर मृषावाद (असत्य) का त्याग करना (तथा) निरन्तर उपयोग युक्त रह कर हितकर सत्य बोलना, बहुत ही दुष्कर है।

२८. दन्त-सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा अवि दुक्करं॥

[२८] दन्तशोधन आदि भी विना दिए न लेना तथा प्रदत्त वस्तु भी अनवद्य (—निर्दोष) और एषणीय ही लेना अतिदुष्कर है।

२९. विरई अबम्भचेरस्स कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बम्भं धारेयव्वं सुदुक्करं॥

[२९] कामभोगो के स्वाद से अभिज्ञ व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य (मैथुन) से विरत होना तथा उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना अतीव दुष्कर कार्य है।

३० धण-धन्न-पेसवग्गेसु परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं॥

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५४
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ४८६

[३०] धन-धान्य एवं प्रेष्यवर्ग—दास-दासी आदि से सम्बन्धित परिग्रह का त्याग तथा सभी प्रकार के आरम्भों का परित्याग करना और ममतारहित हो कर रहना अतिदुष्कर है।

३१. चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करो॥

[३१] अशन-पानादि चतुर्विध आहार का रात्रि मे सेवन करने का त्याग करना तथा (काल-मर्यादा से बाहर) घृतादि सन्निधि का सचय न करना भी सुदुष्कर है।

३२. छुहा तण्हा य सीउण्हं दंस-मसग-वेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य तणफासा जल्लमेव य॥

[३२] क्षुधा, तृषा (प्यास), सर्दी, गर्मी, डास और मच्छरो की वेदना, आक्रोश (दुर्वचन), दु खप्रद शय्या (वसति-स्थान), तृणस्पर्श तथा मलपरीषह—

३३. तालणा तज्जणा चेव वह-बन्धपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया जायणा य अलाभया॥

[३३] ताडना, तर्जना, वध और बन्धन, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ, इन परीषहों को सहन करना अत्यन्त दु खकर है।

३४. कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बम्भवयं घोरं धारेउं य महप्पणो॥

[३४] यह जो कापोतीवृत्ति (कबूतरो के समान दोषो से साशक एव सतर्क रहने की वृत्ति), दारुण (भयकर) केशलोच करना एव घोर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना महात्मा (उत्तम साधु) के लिए भी अतिदु खरूप है।

३५. सुहोइओ तुमं पुत्ता! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता! सामण्णमणुपालिउं॥

[३५] हे पुत्र! तू सुख भोगने के योग्य है, सुकुमार है, सुमज्जित (—स्नानादि द्वारा साफ-सुथरा रहता) है। अतः पुत्र! तू (अभी) श्रमणधर्म का पालन करने मे समर्थ नही है।

३६ जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता! होई दुव्वहो॥

[३६] पुत्र! साधुचर्या मे जीवन भर (कही) विश्राम नही है। लोहे के भार की तरह साधु-गुणो का वह महान् गुरुतर भार है, जिसे (जीवनपर्यन्त) वहन करना अत्यन्त कठिन है।

३७. आगासे गंगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही॥

[३७] जैसे आकाश-गंगा का स्रोत एवं (जलधारा का) प्रतिस्रोत दुस्तर है, जिस प्रकार

समुद्र को भुजाओ से तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणोदधि (—ज्ञानादि गुणो के सागर—सयम) को तैरना —पार पाना दुष्कर है।

३८. वालुयाकवले चेव निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव दुक्करं चरिउ तवो ॥

[३८] सयम, बालू (—रेत) के ग्रास (कौर) की तरह स्वाद-रहित है (तथा) तपश्चरण करना खड्ग की धार पर चलने जैसा दुष्कर है।

३९. अहीवेगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्कर ॥

[३९] हे पुत्र ! सर्प की तरह एकान्त (निश्चय) दृष्टि से चारित्र धर्म पर चलना अत्यन्त कठिन है। लोहे के जौ (यव) चबाना जैसे दुष्कर है, वैसे ही चारित्र का पालन करना दुष्कर है।

४०. जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्कर।
तह दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तण ॥

[४०] जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा (ज्वाला) को पीना दुष्कर है, वैसे ही तरुणावस्था मे श्रमण-धर्म का आचरण करना दुष्कर है।

४१. जहा दुक्खं भरेउं जे होई वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउ जे कीवेणं समणत्तण ॥

[४१] जैसे कपडे के कोथले (थैले) को हवा से भरना दुःशक्य है, वैसे ही कायर व्यक्ति के द्वारा श्रमणधर्म का आचरण करना कठिन होता है।

४२. जहा तुलाए तोलेउ दुक्कर मन्दरो गिरी।
तहा निहुय नीसक दुक्कर समणत्तण ॥

[४२] जैसे मन्दराचल को तराजू से तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और निःशक होकर श्रमणधर्म का आचरण करना भी दुष्कर कार्य है।

४३. जहा भुयाहि तरिउं दुक्कर रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेण दुक्कर दमसागरो ॥

[४३] जैसे भुजाओ से समुद्र को तैरना अति दुष्कर है, वैसे ही अनुपशान्त व्यक्ति के लिए दम (अर्थात् चारित्र) रूपी सागर को तैरना दुष्कर है।

४४. भुंज माणुस्सए भोगे पंचलक्खणए तुम।
भुत्तभोगी तओ जाया ! पच्छा धम्म चरिस्ससि ॥

[४४] हे अगजात ! तू पहले मनुष्य सम्बन्धी शब्द, रूप आदि पाच प्रकार के भोगों का भोग कर, उसके पश्चात् भुक्तभोग हो कर (श्रमण-) धर्म का आचरण करना।

विवेचन—श्रमणधर्म की कठिनता का प्रतिपादन—२४ वी से ४३ वी तक १६ गाथाओ मे मृगापुत्र के समक्ष उसके माता-पिता ने श्रमणधर्म की दुष्करता एव कठिनता का चित्र विविध पहलुओ से प्रस्तुत किया है । वह इस प्रकार है—

हजारो गुणो को धारण करना, प्राणिमात्र पर समभाव रखना और प्राणातिपात आदि पाच महाव्रतो का पालन करना अत्यन्त दुष्कर है । रात्रि-भोजनत्याग, सग्रह-त्याग भी अतीव कठिनतर है, यह यहाँ प्रथम सात गाथाओ मे प्रतिपादित है ।

तत्पश्चात् बाईस परीषहो मे से १३ परीषहो को सहन करने की कठिनता का दिग्दर्शन ३१-३२ वी दो गाथाओ मे कराया गया है ।

इसके बाद ३३ वी गाथा मे श्रमणधर्म के अन्तर्गत कापोतीवृत्ति, केशलोच, घोर ब्रह्मचर्य-पालन को महासत्त्वशालियो के लिए भी अतिदुष्कर बताया गया है और ३४ वी गाथा मे मृगापुत्र की सुखभोगयोग्य वय, सुकुमारता, स्वच्छता आदि प्रकृति की याद दिला कर श्रमणधर्मपालन मे उसकी असमर्थता का संकेत किया गया है ।

तदनन्तर विविध उपमाओ द्वारा श्रमणधर्म के आचरण को अतीव दुष्कर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और अन्त मे ४४ वी गाथा मे उसे सुझाव दिया गया है कि यदि इतनी दुष्करताओ और कठिनाइयो के बावजूद भी तेरी इच्छा श्रमणधर्म के पालन की हो तो पहले पचेन्द्रिय-विषय-भोगो को भोग कर फिर साधु बन जाना ।[1]

गुणाण तु सहस्साइ०—साधु को श्रामण्य के लिए उपकारक शीलागरूप सहस्र गुणो को धारण करना होता है ।

समया सव्वभूएसु—साधु को यावज्जीवन सामायिक का पालन करना होता है ।[2]

दतसोहणमाइस्स—(१) दात कुरेदने की तिनके की पतली सलाई, अथवा (२) दातो की सफाई करने की दतौन आदि ।

आशय यह है कि दात कुरेदने को तिनके की सलाई जैसी तुच्छतर वस्तु को भी आज्ञा बिना ग्रहण करना साधु के लिए वर्जित है, तो फिर अदत्त मूल्यवान् पदार्थों को ग्रहण करना तो वर्जित है ही ।[3]

कामभोगरसन्नुणा—(१) कामभोगो के रस को जानने वाला, (२) कामभोगो और शृ गारादि रसो के ज्ञाता ।[4]

परिग्रह, सर्वारम्भ एवं ममत्व का परित्याग—इन तीनो के परित्याग द्वारा साधुवर्ग मे निराकाक्षता और निर्ममत्व का होना अनिवार्य बताया है ।[5]

---

१ उत्तराध्ययन अ १९, मूलपाठ, बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५-४५६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

३ (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ० ४९३ (ख) उत्तरा. विवेचन (मुनि नथमल), पृ २४३

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

५. वही, पत्र ४५६

ताडना, तर्जना, वध और बन्ध—**ताडन**—हाथ आदि से मारना-पीटना, **तर्जना**—तर्जनी अंगुली आदि दिखाकर या भ्रुकुटि चढ़ाकर डांटना-फटकारना, **वध**—लाठी आदि से प्रहार करना, **बन्ध**—मूज, रस्सी आदि से बाधना।[1]

अहीवेगंतदिट्ठीए०—जैसे साप अपने चलने योग्य मार्ग पर ही अपनी दृष्टि जमाकर चलता है, दूसरी ओर दृष्टि नही दौडाता, वैसे ही साधक को अपने चारित्रमार्ग के प्रति एकान्त अर्थात्—एक ही (चारित्र ही) मे निश्चल दृष्टि रखनी होती है।[2]

निहुयं नीसंकं—निभृत—निश्चल अथवा विषयाभिलाषा आदि द्वारा अक्षोभ्य; नि.शक—शरीरादि निरपेक्ष, अथवा सम्यक्त्व के अतिचार रूप शंका से रहित।

अणुवसंतेणं—अनुपशान्त अर्थात्—जिसका कषाय शान्त नही हुआ है।

पंचलक्खणए—यह भोग का विशेषण है। पचलक्षण का अर्थ है—शब्दादि इन्द्रियविषयरूप पाच लक्षणो वाला ·।

भुत्तभोगी तओ पच्छा०—यौवन मे प्रव्रज्या अत्यन्त कठिन एव दु खकर है, इत्यादि बातें समझाकर अन्त मे माता-पिता कहते है—इतने पर भी तेरी इच्छा दीक्षा ग्रहण करने की हो तो भुक्त-भोगी होकर ग्रहण करना।[3]

मृगापुत्र द्वारा नरक के अनन्त दुःखों के अनुभव का निरूपण

४५. तं बित ऽम्मापियरो एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं॥

[४५] (मृगापुत्र)—उसने (मृगापुत्र ने) माता-पिता से कहा—आपने जैसा कहा है, वह वैसा ही है, 'प्रव्रज्या दुष्कर है' यह स्पष्ट है; किन्तु इस लोक मे जिसकी पिपासा बुझ चुकी है—अभिलाषा शान्त हो गई है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही है।

४६. सारीर-माणसा चेव वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ असइं दुक्खभयाणि य॥

[४६] मैंने शारीरिक और मानसिक भयकर वेदनाएँ अनन्त बार सहन की हैं तथा अनेक बार दु खो और भयो का भी अनुभव किया है।

४७. जरा—मरणकन्तारे चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि जम्माणि मरणाणि य॥

[४७] मैंने नरकादि चार गतिरूप अन्त वाले, जरामरणरूपी भय के आकर (खान), (ससाररूपी) कान्तार (घोर अरण्य)मे भयकर जन्म और मरण सहे हैं।

१. ताडना—करादिभिराहनन, तर्जना—अगुलिभ्रमण-भ्रूत्क्षेपादिरूपा, वधश्च लकुटादिप्रहारो, बन्धश्च—मयूर-बन्धादि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

२. (क) वही, पत्र ४५७ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ० ५०८

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५७

४८. जहा इहं अगणी उण्हो एत्तोऽणन्तगुणे तहिं ।
नरएसु वेयणा उण्हा अस्साया वेइया मए ॥

[४८] जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, उससे अनन्तगुणी अधिक असाता (—दुःख) रूप उष्णवेदना मैंने नरकों में अनुभव की है ।

४९. जहा इमं इहं सीयं एत्तोऽणंतगुणं तहिं ।
नरएसु वेयणा सीया अस्साया वेइया मए ॥

[४९] जैसे यहाँ यह ठंड (शीत) है, उससे अनन्तगुणी अधिक असाता (—दुःख) रूप शीत-वेदना मैंने नरको मे अनुभव की है ।

५०. कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलन्तम्मि पक्कपुव्वो अणन्तसो ॥

[५०] मैं नरक की कन्दुकुम्भियो मे (—पकाने के लोहपात्रो मे) ऊपर पैर और नीचे सिर करके प्रज्वलित (धधकती हुई) अग्नि में आक्रन्दन करता (चिल्लाता) हुआ अनन्त बार पकाया गया हूँ ।

५१. महादवग्गिसंकासे मरुम्मि वइरवालुए ।
कलम्बवालुयाए य दड्ढपुव्वो अणन्तसो ॥

[५१] महादावानल के तुल्य, मरुदेश की बालू के समान तथा वज्रबालुका (—वज्र के समान कर्कश एव ककरीली रेत) मे और कलम्बबालुका (नदी के पुलिन) की (तपी हुई) बालू मे अनन्त बार मैं जलाया गया हूँ ।

५२. रसन्तो कंदुकुम्भीसु उड्ढं बद्धो अबन्धवो ।
करवत्त-करकयाईहिं छिन्नपुव्वो अणन्तसो ॥

[५२] बन्धु-जनो से रहित (असहाय) रोता-चिल्लाता हुआ मैं कन्दुकुम्भियों पर ऊँचा बाधा गया तथा करपत्र (करवत) और क्रकच (—आरे) आदि शस्त्रो से अनन्त बार छेदा गया हूँ ।

५३. अइतिक्खकंटगाइण्णे तुंगे सिम्बलिपायवे ।
खेवियं पासबद्धेणं कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥

[५३] अत्यन्त तीक्ष्ण काटो से व्याप्त ऊँचे शाल्मलिवृक्ष पर पाश से बाध कर इधर-उधर खीचतान करके दु.सह कष्ट दे कर मुझे फेंका (या खिन्न किया) गया ।

५४. महाजन्तेसु उच्छू वा आरसन्तो सुभेरवं ।
पीलिओ मि सकम्मेहिं पावकम्मो अणन्तसो ॥

[५४] अतीव भयानक आक्रन्दन करता हुआ मैं पापकर्मा अपने (अशुभ) कर्मों के कारण गन्ने की तरह बड़े-बड़े महाकाय यत्रों में अनन्त बार पीला गया हूँ ।

५५. कूवन्तो कोलसुणएहिं सामेहि सबलेहि य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो विप्फुरन्तो अणेगसो ॥

[५५] मैं (इधर-उधर) भागता और चिल्लाता हुआ श्याम (काले) और सबल (चितकबरे) सूअरों और कुत्तो से (परमाधर्मी असुरो द्वारा) अनेक बार गिराया गया, फाडा गया और छेदा गया हूँ ।

५६. असीहि अयसिवण्णाहिं भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य ओइण्णो पावकम्मुणा ॥

[५६] पापकर्मो के कारण मै नरक मे जन्मा और (वहाँ) अलसी के फूलो के सदृश नीले रग की तलवारो से, भालो से और लोहे के दण्डो (पट्टिश नामक शस्त्रो) से छेदा गया, भेदा गया और टुकडे-टुकडे किया गया ।

५७. अवसो लोहरहे जुत्तो जलन्ते समिलाजुए ।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

[५७] समिला (जुए के छेदो मे लगाने की कील) से युक्त जुए वाले जलते लोहमय रथ मे विवश करके मै जोता गया हूँ, चाबुक और रास (नाक मे बाधी गई रस्सी) से हाका गया हूँ, फिर रोझ की तरह (लट्ठी आदि से पीट कर जमीन पर) गिराया गया हूँ ।

५८. हुयासणे जलन्तम्मि चियासु महिसो विव ।
दड्ढो पक्को य अवसो पावकम्मेहि पाविओ ॥

[५८] पापकर्मों से आवृत्त मैं परवश हो कर जलती हुई अग्नि की चिताओ मे भैसे की तरह जलाया और पकाया गया हूँ ।

५९. बला सडासतुण्डेहिं लोहतुण्डेहि पक्खिहिं ।
विलुत्तो विलवन्तोऽहं ढक-गिद्धेहिऽणन्तसो ॥

[५९] लोहे-सी कठोर और सडासी जैसी चोच वाले ढक एव गिद्ध पक्षियो द्वारा मै रोता-बिलखता बलात् अनन्तबार नोचा गया हूँ ।

६०. तण्हाकिलन्तो धावन्तो पत्तो वेयरणिं नदिं ।
जलं पाहिं ति चिन्तन्तो खुरधाराहिं विवाइओ ॥

[६०] पिपासा से व्याकुल हो कर, दौडता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा और 'जल पीऊगा, यह विचार कर ही रहा था कि सहसा छुरे की धार-सी तीक्ष्ण जल-धारा से मै चीर दिया गया ।

६१. उण्हाभितत्तो संपत्तो असिपत्तं महावणं ।
असिपत्तेहि पडन्तेहिं छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥

[६१] गर्मी से अत्यन्त तप जाने पर मैं (छाया में विश्राम के लिए) असिपत्र महावन मे पहुँचा, किन्तु वहाँ गिरते हुए असिपत्रो (—खड्ग-से तीक्ष्ण धार वाले पत्तो) से अनेक बार छेदा गया ।

६२. मुग्गरेहिं मुसंढीहिं सूलेहिं मुसलेहि य ।
गयासं भग्गगत्तेहिं पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥

[६२] मेरे शरीर को चूर-चूर करने वाले मुद्गरो से, मुसढियो से, त्रिशूलो (शूलो) से और मूसलो से (रक्षा के लिए) निराश हो कर मैंने अनन्त बार दु:ख पाया है ।

६३. खुरेहि तिक्खधारेहिं छुरियाहिं कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो उक्कत्तो य अणेगसो ॥

[६३] तीखी धार वाले छुरो (उस्तरो) से, छुरियो से और कैचियो से मैं अनेक बार काटा गया हूँ, फाडा हूँ, छेदा गया हूँ और मेरी चमडी उधेडी गई है ।

६४. पासेहिं कूडजालेहिं मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ बहुसो चेव विवाइओ ॥

[६४] मृग की भाति विवश बना हुआ पाशो और कूट (कपटयुक्त) जालो से मैं अनेक बार छलपूर्वक पकडा गया, (बधनो से) बाधा गया, रोका (बद कर दिया) गया और विनष्ट किया गया हूँ ।

६५. गलेहिं मगरजालेहिं मच्छो वा अवसो अहं ।
उल्लिओ फालिओ गहिओ मारिओ य अणन्तसो ॥

[६५] गलो (—मछली को फसाने के काटो) से, मगरो को पकड़ने के जालो से मत्स्य की तरह विवश बना हुआ मै अनन्त बार बीधा (या खीचा) गया, फाडा गया, पकडा गया और मारा गया ।

६६. वीदंसएहि जालेहिं लेप्पाहिं सउणो विव ।
गहिओ लग्गो बद्धो य मारिओ य अणन्तसो ॥

[६६] पक्षी की भाति बाज पक्षियो, जालो तथा वज्रलेपो के द्वारा मैं अनन्त बार पकडा गया, चिपकाया गया, बाधा गया और मारा गया ।

६७. कुहाड—फरसुमाईहिं वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो तच्छिओ य अणन्तसो ॥

[६७] सुथारो, के द्वारा वृक्ष की तरह कुल्हाडी और फरसा आदि से मैं अनन्त बार कूटा गया, फाडा गया, काटा गया और छीला गया हूँ ।

६८. चवेडमुट्ठिमाईहिं कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो चुण्णिओ य अणन्तसो ॥

[६८] लुहारो के द्वारा लोहे की भाति (परमाधर्मी असुरकुमारो द्वारा) थप्पड और मुक्का आदि से अनन्त बार पीटा गया, कूटा गया, खण्ड-खण्ड किया गया और चूर-चूर किया गया ।

६९. तत्ताइं तम्बलोहाइं तउयाइं सीसयाणि य ।
पाइओ कलकलन्ताइं आरसन्तो सुभेरवं ।।

[६९] भयकर आक्रन्दन करते हुए मुझे कलकलाता-उकलता गर्म ताबा लोहा, रागा और सीसा पिलाया गया ।

७०. तुहं पियाइं मंसाइं खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओ मि समंसाइं अग्गिवण्णाइं णेगसो ।।

[७०] तुझे 'टुकडे-टुकडे किया हुआ और शूल मे पिरो कर पकाया हुआ मास प्रिय था,—(यह याद दिला कर) मुझे अपना ही (शरीरस्थ) मास (काट कर और उसे तपा कर) अग्नि जैसा लाल रंग का (बना कर) बार-बार खिलाया गया ।

७१. तुहं पिया सुरा सीहू मेरओ य महूणि य ।
पाइओ मि जलन्तीओ वसाओ रुहिराणि य ।।

[७१] तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु (पूर्वभव मे) बहुत प्रिय थी,' (यह स्मरण करा कर) मुझे जलती (गर्म की) हुई, (मेरी अपनी ही) चर्बी और रक्त पिलाया गया ।

७२. निच्चं भीएण तत्थेण दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसंबद्धा वेयणा वेइया मए ।।

[७२] मैंने (पूर्वजन्मों में नरक मे इस प्रकार) नित्य ही भयभीत, सत्रस्त, दु:खित और व्यथित रहते हुए दु.ख से सम्बद्ध (—परिपूर्ण) उत्कट वेदनाओ का अनुभव किया है ।

७३. तिव्व-चण्ड-प्पगाढाओ घोराओ अइदुस्सहा ।
महब्भयाओ भीमाओ नरएसु वेइया मए ।।

[७३] मैंने नरको मे तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ, घोर, अतिदु:सह, महाभयकर और भीषण वेदनाओं का अनुभव किया है ।

७४. जारिसा माणुसे लोए ताया ! दीसन्ति वेयणा ।
एत्तो अणन्तगुणिया नरएसु दुक्खवेयणा ।।

[७४[हे पिता ! मनुष्यलोक मे जैसी (शीतोष्णादि) वेदनाएँ देखी जाती हैं, उनसे अनन्त-गुणी अधिक दु:खमयी वेदनाएँ नरको में होती हैं ।

७५ सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए ।
निमेसन्तरमित्तं पि जं साया नत्थि वेयणा ।।

[७५] मैंने सभी जन्मो में असाता-(दु.ख) रूप वेदना का अनुभव किया है । वहाँ निमेष मात्र के अन्तर जितनी भी सुखरूप वेदना नही है ।

विवेचन—मृगापुत्र के मुख से नरकों में अनुभूत उत्कृष्ट वेदनाओं का वर्णन—माता-पिता ने मृगापुत्र के समक्ष श्रमणधर्मपालन मे होने वाली कठिनाइयो और कष्टकथाओ का वर्णन किया तो

मृगापुत्र ने नरको मे अनुभूत उनसे भी अनन्तगुणी वेदनाओ का वर्णन किया, जो यहाँ ४४ से ७४ वी तक ३१ गाथाओ में अंकित है। यद्यपि नरको मे पक्षी, शस्त्रास्त्र, सूअर, कुत्ते, छुरे, कुल्हाड़ी, फरसा, लुहार, सुथार, बाजपक्षी आदि नही होते, किन्तु वहाँ नारको को दुःख देने वाले नरकपाल परमाधर्मी असुरो के द्वारा ये सब वैक्रियशक्ति से बना लिये जाते है और नारकीय जीवो को अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार (कभी-कभी पूर्वकृत पापकर्मों की याद दिला कर) विविध यत्रणाएँ दी जाती हैं।[1]

चाउरंते : चातुरन्त—यह ससार का विशेषण है। इसका विशेषार्थ है—ससार के नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, ये चार अन्त—अवयव (अग) है, इसलिए वह (ससार) चातुरन्त कहलाता है।[2]

इह लोगे निप्पिवासस्स—इहलोक शब्द से यहाँ इहलोकस्थ, इस लोक सम्बन्धी स्वजन, धन आदि का ग्रहण किया जाता है। किसी के मत से ऐहिक सुखो का ग्रहण किया जाता है। अत: इस पंक्ति का तात्पर्यार्थ हुआ—जो साधक इहलौकिक स्वजन, धन आदि के प्रति या ऐहिक सुखो के प्रति निःस्पृह या निराकाक्ष है, उसके लिए शुभानुष्ठान यदि अत्यन्त कष्टकर हो तो भी वे कुछ भी दुष्कर (दुरनुष्ठेय) नही है। तात्पर्य यह है कि भोगादि की स्पृहा होने पर ही ये शुभानुष्ठान दुष्कर लगते है।[3]

नरको मे अनन्तगुणी उष्णता—यद्यपि नरकलोक मे बादर अग्नि नही है, तथापि मनुष्य-लोक मे अग्नि की जितनी उष्णता है, उससे भी अनन्तगुणी उष्णता के स्पर्श का अनुभव वहाँ होता है। यही बात नारकीय शीत (ठड) के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

नरकों में पीड़ा पहुँचाने वाले कौन ?—इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रथम तीन नरक-पृथ्वियो मे परमाधर्मी असुरो द्वारा नारको को पीडा पहुँचाई जाती है। शेष अन्तिम चार नरक-पृथ्वियो मे नारकीय जीव स्वय परस्पर मे एक दूसरे को वेदना की उदीरणा करते है। १५ प्रकार के परमाधार्मिक देवो के नाम इस प्रकार हैं—(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रुद्र, (६) महारुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

यहाँ जिन यातनाओ का वर्णन किया गया है, उनमे से बहुत-सी यातनाएँ इन्ही १५ परमाधर्मी असुरो द्वारा दी जाती है।[4]

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र मूलपाठ, अ १९, गा ४४ से ७४ तक

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ चत्वारो देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्याऽसौ चतुरन्त —ससार।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ "इहलोकशब्देन च 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश' इति कृत्वा ऐहलौकिका स्वजन-धन-सम्बन्धादयो गृह्यन्ते।"

(ख) उत्तरा अनुवाद-विवेचन-युक्त (मुनि नथमल), भा. १ पृ २४६

४ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९, (ख) समवायाग, समवाय १५ वृत्ति, पत्र २८

कदुकुंभीसु : तीन अर्थ—(१) कदुकुम्भी—लोह आदि धातुओ से निर्मित पाकभाजनविशेष। (२) कन्दु का अर्थ है—भाड (भ्राष्ट्र) और कुम्भी का अर्थ है—घडा, अर्थात् भाड की तरह का विशेष कुम्भ। अथवा (३) ऐसा पाकपात्र, जो नीचे से चौडे और ऊपर से सकडे मुँह वाला हो।[1]

हुताशन : अग्नि—नरक मे बादर अग्निकायिक जीव नही होते, इसलिए वहाँ पृथ्वी का स्पर्श ही वैसा उष्ण प्रतीत होता है। यहाँ जो हुताशन (अग्नि) का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि का नही अपितु देवमाया (विक्रिया) कृत अग्निवत् उष्ण एव प्रकाशमान पुद्गलो का द्योतक है।[2]

वइरवालुए कलंबवालुयाए—नरक मे वज्रबालुका और कदम्बबालुका नाम की नदियाँ है, उनके पुलिन (तटवर्ती बालुमय प्रदेश) को भी वज्रबालुका और कदम्बबालुका कहते है, जो महादवाग्नि सदृश अत्यन्त तप्त रहते है।[3]

कोलसुणए—कोल का अर्थ है—सुअर और शुनक का अर्थ है—कुत्ता। अथवा कोलशुनक का अर्थ—बृहद्वृत्ति मे सूअर किया गया है। अर्थात्—सूकर-कुक्कुर स्वरूपधारी श्याम और शबल परमाधार्मिको द्वारा।[4]

कड्ढोकड्ढाहिं—कृष्ट एव अवकृष्ट—अर्थात्—खीचातानी करके।[5]

रोज्झो : रोझ—वृत्तिकार ने रोझ का अर्थ पशुविशेष किया है, परन्तु देशी नाममाला मे रोझ का अर्थ मृग की एक जाति किया गया है।[6]

मुसंढीहिं : मुषण्ढियों से—देशी नाममाला के अनुसार—मुषण्ढी लकडी का बना एक शस्त्र है, जिसमे लोहे के गोल काटे लगे रहते है।[7]

विदंसएहिं—विदशको—विशेषरूप से दश देने वाले विदशको अर्थात्—पक्षियो को पकडने वाले बाज पक्षियो से। प्रस्तुत ६५ वी गाथा का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इस लोक मे पारधी (बहेलिए) बाज आदि पक्षियो की सहायता से पक्षियो को पकड लिया करते है, अथवा जाल फैला कर उन्हे बाध लिया करते है तथा चिपकाने वाले लेप द्वारा उन्हे जोड दिया करते है और फिर मार देते है, इसी प्रकार नरक मे परमाधार्मिक देव भी अपनी वैक्रियशक्ति से बाज आदि का रूप

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ (ख) उत्तरा विवेचन (मुनि नथमल) भा २, पृ १४८

२ (क) 'तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविध स्पर्श इति गम्यते।'
(ख) 'अग्नौ देवमायाकृते।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९

३ वही, पत्र ४५९

४ (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ५२४
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० "कोलसुणएहिं—सूकरस्वरूपधारिभि.।"

५ कड्ढोकड्ढाहिं—कर्षणापकर्षणै: परमाधार्मिककृतै। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९

६ (क) रोज्झ —पशुविशेष। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६०
(ख) देशी नाममाला, ७।१२

७ देशी नाममाला, श्लोक १५१ 'मुसुण्ढी स्याद्दारुमयी वृत्तायःकीलसचिता।'

बना कर नारको को पकड लेते हैं, जाल मे बांध देते हैं, लेप्य द्रव्य से उन्हे चिपका देते हैं, फिर उन
मार देते है । ऐसी ही दशा मेरी (मृगापुत्र की) थी ।[1]

सोल्लगाणि—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—भाड मे पकाये हुए, अथवा (२) अन्य विचारक के मतानुसार--शूल मे पिरो कर आग मे पकाये गये ।[2]

सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—सामान्यतया ये चारो शब्द 'मद्य' के अर्थ मे है, किन्तु इन चारो का विशेष अर्थ इस प्रकार किया गया है—सुरा—चन्द्रहास नाम की मदिरा, सीधु—ताड़ वृक्ष की ताडी, मैरेय—जौ आदि के आटे से बनी हुई मदिरा तथा मधु—पुष्पो से तैयार किया हुआ मद्य ।[3]

तिव्वचंडप्पगाढाओ० —यद्यपि तीव्र, चण्ड, प्रगाढ आदि शब्द प्राय· एकार्थक है, अत्यन्त भयोत्पादक होने से ये सब वेदना के विशेषण है । इनका पृथक्-पृथक् विशेषार्थ इस प्रकार है—तीव्र-नारकीय वेदना रसानुभव की दृष्टि से अतीव तीव्र होने से तीव्र, चण्ड—उत्कट, प्रगाढ—दीर्घकाली (गुरुतर) स्थिति वाली, घोर—रौद्र, अति दु·सह—अत्यन्त असह्य, महाभया—जिससे महान् भय हो, भीमा—सुनने मे भी भयप्रद ।[4]

निमेसंतरमित्तं पि--निमेष का अर्थ—आँख की पलक झपकाना, उसमे जितना समय लगता है, उतने समय भर भी ।[5]

निष्कर्ष—मृगापुत्र के इस समग्र कथन का आशय यह है कि जब मैने पलक झपकने जितने समय मे भी सुख नही पाया, तब वास्तव मे कैसे कहा जा सकता है कि मैं सुखशील हूँ या सुकुमार हूँ । इसी तरह जिसने (मैने) नरको मे अत्युष्ण-अतिशीत आदि महावेदनाएँ अनेक बार सहन की है, परमाधार्मिको द्वारा दी गई विविध यातनाएँ भी सही है, उसके लिए महाव्रत-पालन का कष्ट अथवा श्रमणधर्म के पालन का दु ख या परीषह-उपसर्ग सहन किस बिसात मे है ? वास्तव मे महाव्रतपालन, श्रमणधर्माचरण अथवा परीषहसहन उसके लिए परमानन्द का हेतु है । इन सब दृष्टियो से मुझे अब निर्ग्रन्थमुनिदीक्षा ही अगीकार करनी है ।[6]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ५३७

२ (क) 'सोल्लगाणि' त्ति भडित्रीकृतानि ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१
(ख) शूलाकृतानि शूले समाविध्य पक्वानि । —उत्तरा प्रियदर्शिनी, भा. ३, पृ ५४०

३ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ५४१
सुरा—चन्द्रहासाभिधान मद्य, सीधु —तालवृक्षनिर्यास (ताडी), मैरेय —पिष्ठोद्भव मद्य, मधूनि—पुष्पोद्भवानि मद्यानि ।

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१

५ वही, पत्र ४६१

६ वही, पत्र ४६१

माता-पिता द्वारा अनुमति, किन्तु चिकित्सा-समस्या प्रस्तुत

७६. तं बितऽम्मापियरो छन्देणं पुत्त ! पव्वया ।
नवरं पुण सामण्णे दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥

[७६] माता-पिता ने उससे कहा—पुत्र ! अपनी इच्छानुसार तुम (भले ही) प्रव्रज्या ग्रहण करो, किन्तु विशेष बात यह है कि श्रमणजीवन में निष्प्रतिकर्मता (—रोग होने पर चिकित्सा का निषेध) यह दुःखरूप है ।

विवेचन—निष्प्रतिकर्मता : विधि-निषेध : एक चिन्तन—निष्प्रतिकर्मता का अर्थ है—रोगादि उत्पन्न होने पर भी उसका प्रतीकार—औषध आदि सेवन न करना । दशवैकालिकसूत्र में इसे अनाचीर्ण बताते हुए कहा गया है कि 'साधु चिकित्सा का अभिनन्दन न करे' तथा उत्तराध्ययनसूत्र सभिक्षुक अध्ययन में कहा गया है—'जो चिकित्सा का परित्याग करता है, वह भिक्षु है ।' यहाँ साध्वाचार के रूप में निष्प्रतिकर्मता का उल्लेख इसी तथ्य का समर्थन करता है । परन्तु यह विधान विशिष्ट अभिग्रहधारी या एकलविहारी निर्ग्रन्थ साधु के लिए प्रतीत होता है ।[1]

मृगापुत्र द्वारा मृगचर्या से निष्प्रतिकर्मता का समर्थन

७७. सो बितऽम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं ।
पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं ?

[७७] वह (मृगापुत्र) बोला—माता-पिता ! (आपने जो कहा,) वह उसी प्रकार सत्य है, किन्तु अरण्य में रहने वाले पशुओं (मृग) एवं पक्षियों की कौन चिकित्सा करता है ?

७८. एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो ।
एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य ॥

[७८] जैसे—वन में मृग अकेला विचरण करता है, वैसे मैं भी संयम और तप के साथ (एकाकी होकर) धर्म (निर्ग्रन्थधर्म) का आचरण करूंगा ।

७९. जया मिगस्स आयंको महारण्णम्मि जायई ।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि को णं ताहे तिगिच्छई ?

[७९] जब महावन में मृग के शरीर में आतंक (शीघ्र घातक रोग) उत्पन्न होता है, तब वृक्ष के नीचे (मूल में) बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है ?

८०. को वा से ओसहं देई ? को वा से पुच्छइ सुहं ?
को से भत्तं च पाणं च आहरित्तु पणामए ?

[८०] कौन उसे औषध देता है ? कौन उससे सुख की (कुशल-मंगल या स्वास्थ्य की) बात पूछता है ? कौन उसे भक्त-पान (भोजन-पानी) ला कर देता है ?

---

१ (क) 'निष्प्रतिकर्मता—कथंचिद् रोगोत्पत्तौ चिकित्साऽकरणरूपेति ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२
(ख) 'तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा' । —दशवै० अ ३ । ३१-३३
(ग) " ' तिगिच्छियं च ''''त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ।" —उत्तरा अ १५, गा ८

८१. जया य से सुही होइ तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए वल्लराणि सराणि य ।।

[८१] जब वह सुखी (स्वस्थ) हो जाता है, तब स्वय गोचरभूमि मे जाता है तथा खाने-पीने के लिए वल्लरों (-लता-निकुजो) एव जलाशयो को खोजता है ।

८२. खाइत्ता पाणियं पाउं वल्लरेहिं सरेहि वा ।
मिगचारियं चरित्ताणं गच्छई मिगचारियं ।।

[८२] लता-निकुजो और जलाशयो मे खा (चर) कर, और पानी पी कर, मृगचर्या करता (उछलता-कूदता) हुआ वह मृग अपनी मृगचारिका (मृगो की आवासभूमि) को चला जाता है ।

८३. एवं समुट्ठिओ भिक्खू एवमेव अणेगओ ।
मिगचारियं चरित्ताण उड्ढं पक्कमई दिसं ।।

[८३] इसी प्रकार सयम के अनुष्ठान मे समुद्यत (तत्पर) इसी (मृग की) तरह रोगोत्पत्ति होने पर चिकित्सा नही करने वाला तथा स्वतत्र रूप से अनेक स्थानो मे रह कर भिक्षु मृगचर्या का आचरण (-पालन) करके ऊर्ध्व दिशा (मोक्ष) को प्रयाण करता है ।

८४. जहा मिगे एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एव मुणी गोयरियं पविट्ठे नो हीलए नो वि य खिसएज्जा ।।

[८४] जैसे मृग अकेला अनेक स्थानो मे चरता (भोजन-पानी आदि लेता) है अथवा विचरता है, अनेक स्थानो मे रहता है, गोचरचर्या से ही स्थायीरूप से जीवन निर्वाह करता है, (ठीक) वैसे ही (मृगचर्या मे अभ्यस्त) मुनि गोचरी के लिए प्रविष्ट होने पर किसी की हीलना (निन्दा) नही करता और न ही किसी की अवज्ञा करता है ।

संयम की अनुमति और मृगचर्या का संकल्प

८५. मिगचारियं चरिस्सामि एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ जहाइ उवहिं तओ ।।

[८५] (मृगापुत्र)—हे माता-पिता ! मै भी मृगचर्या का आचरण (पालन) करू गा ।

(माता-पिता)—'हे पुत्र ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसे करो ।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पा कर फिर वह उपधि (गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी समस्त परिग्रह) का परित्याग करता है ।

८६. मियचारियं चरिस्सामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्म ! ऽणुन्नाओ गच्छ पुत्त ! जहासुहं ।।

[८६] (मृगापुत्र माता से)—"माताजी ! मै आपकी अनुमति पा कर समस्त दु.खो का क्षय करने वाली मृगचर्या का आचरण (पालन) करू गा ।"

(माता)—"पुत्र ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसा करो ।"

विवेचन—मृगचर्या का संकल्प—मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे जब श्रमणधर्म मे रोग-चिकित्सा के निषेध को दुःखकारक बताया तो मृगापुत्र ने वन मे एकाकी विचरणशील मृग का उदाहरण देते हुए कहा कि मृग जब रुग्ण हो जाता है तो कौन उसे औषध देता है ? कौन उसे घास-चारा देता है ? कौन उसकी सेवा करता है ? वह प्रकृति पर निर्भर हो कर जीता है, विचरण करता है और जब स्वस्थ होता है, तब स्वय अपनी चर्या करता हुआ अपनी आवासभूमि मे चला जाता है। इसलिए मैं भी वैसी ही मृगचर्या करूगा। उनके लिए अपनी चर्या दु खरूप नही है, तो मेरे लिए क्यो होगी।[1]

प्रस्तुत गाथाओ मे चिकित्सा-निरपेक्षता के सन्दर्भ मे मृग और पक्षियों का तथा आगे की गाथाओ मे केवल मृग का बारबार उल्लेख किया गया है, अन्य पशुओ का क्यो नही ? इसका समाधान बृहद्वृत्तिकार ने किया है कि मृग प्राय प्रशमप्रधान होते है, इसलिए एकचारी साधक के लिए मृगचर्या युक्तिसगत जँचती है।[2]

एगभूओ अरण्णे वा—घोर जगल मे मृग का कोई सहायक नही होता, जो उसकी सहायता कर सके, वह अकेला ही होता है, मृगापुत्र भी उसी तरह एकाकी और असहाय होकर सयम और तप सहित निर्ग्रन्थधर्म का आचरण करने का सकल्प प्रकट करता है। इस गाथा से यह स्पष्ट है कि मृगापुत्र स्वयबुद्ध (जातिस्मरणज्ञान के निमित्त से) होने के कारण एकलविहारी बने थे। गाथा ७७ और ८३ से यह स्पष्ट है।[3]

गच्छइ गोयरं—इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि जब मृग स्वत. रोग-रहित—स्वस्थ हो जाता है, तब वह अपने तृणादि के भोजन की तलाश मे गोचरभूमि मे चल जाता है। गोचर का अर्थ बृहद्वृत्ति मे यह किया गया है—गाय जैसे परिचित-अपरिचित भूभाग की कल्पना से रहित होकर अपने आहार के लिए विचरण करती है, वैसे ही मृग भी परिचित-अपरिचित गोचरभूमि मे जाता है।[4]

वल्लराणि—वल्लर शब्द के अनेक अर्थ यहाँ बृहद्वृत्तिकार ने दिये है—गहन लतानिकु ज, अपानीय देश, अरण्य और क्षेत्र। प्रस्तुत प्रसग मे वल्लरो के विभिन्न लताकु ज अर्थ सम्भव है। अर्थात्—वह मृग कभी किसी वल्लर मे और कभी किसी मे अपने आहार की तलाश के लिए जाता है।[5]

मियचारियं चरिस्साम—(१) **मृगचर्या**—इधर-उधर उछलकूद के रूप मे जो मृगो की चर्या है, उसे करता हुआ। (२) **मितचारितां**—परिमित भक्षणरूपा चर्या करके। मृग स्वभावत परिमि-

---

१ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

२ 'इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे, यन्मृगस्यैव पुन पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थन, तत्तस्य प्राय प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदाय । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

३ वही, पत्र ४६२-४६३ **"एकभूत—एकत्व प्राप्तोऽरण्ये ।" 'एकः—अद्वितीय.।'**

४ 'गौरिव परिचितेतरभूभागपरिभावनारहितत्वेन चरण भ्रमणमस्मिन्निति गोचरस्तम् । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

५ वल्लराणि—गहनानि । उक्तञ्च—**'गहणमवाणियं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण ।'** —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

ताहारी होते हैं, इसलिए यह अर्थ भी संगत होता है। (३) **मृगचारिका**—जहाँ मृगो की स्वतत्र रूप से बैठने की चर्या—चेष्टा होती हे, उस आश्रयस्थान को भी मृगचारिका या मृगचर्या कहते है।[1]

अणेगओ-अनेकगः—मृग जैसे एक ही नियत वृक्ष के नीचे नही बैठता, वह कभी किसी और कभी किसी वृक्ष का आश्रय लेता है, वैसे ही साधक भी एक ही स्थान मे नही रहता, कभी कही और कभी कही रहता है। इसी प्रकार भिक्षा भी एक नियत घर से प्रतिदिन नही लेता।[2]

मृगचर्या का स्पष्टीकरण—गाथा ८३ मे मृग की चर्या के साथ मुनि की मृगचर्या की तुलना की गई है। मुनि मृगतुल्य अकेला (असहाय और एकाकी) होता है, उसके साथ दूसरा कोई सहायक नही होता। वह मृग के समान अनेकचारी होता है। अर्थात् वह एक ही जगह आहार-पानी के लिए विचरण नही करता, बदल-बदल कर भिन्न-भिन्न स्थानो मे जाता है। इसी तरह वह मृगवत् अनेक-वास होता है, अर्थात् वह एक ही स्थान मे निवास नही करता तथा ध्रुवगोचर होता है। अर्थात् जैसे मृग स्वय इधर-उधर भ्रमण करके अपना आहार ढूढ कर चर लेता है, किसी और से नही मगाता, इसी प्रकार साधु भी अपने सेवक या भक्त से आहार-पानी नही मंगाता। वह ध्रुवगोचर (अर्थात्—गोचरी मे प्राप्त आहार का ही सेवन करता है तथा मृग, जैसा भी मिल जाता है, उसी मे सन्तुष्ट रहता है, वह न तो किसी से शिकायत करता है, न किसी की निन्दा और भर्त्सना करता है, उसी प्रकार मुनि भी कदाचित् मनोज्ञ या पर्याप्त आहार न मिले अथवा सूखा, रूखा, नीरस आहार मिले तो भी न किसो की अवज्ञा करता है और न किसी की निन्दा या भर्त्सना करता है। इसी प्रकार मृगचर्या मे अप्रतिबद्धविहार, पादविहार, गोचरी, चिकित्सानिवृत्ति आदि सभी गुण आ जाते है। ऐसी मृगचर्या-पालन का सर्वोत्कृष्ट फल—सर्वोपरि स्थान मे (मोक्ष मे) गमन बताया गया है।[3]

जहाइ उवहिं—मृगापुत्र उपधि का परित्याग करता है, अर्थात्—द्रव्यत गृहस्थोचित वेष, आभरण, वस्त्रादि उपकरणो का, भावत कषाय, विषय, छल-छद्म आदि (जो आत्मा को नरक मे स्थापित करते है, ऐसी) भावोपधि का त्याग करता है—प्रव्रजित होता है।[4]

मृगापुत्र : श्रमण निर्ग्रन्थरूप में

८७. एवं सो अम्मापियरो अणुमाणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कंचुयं॥

[८७] इस प्रकार वह (मृगापुत्र) अनेक प्रकार से माता-पिता को अनुमति के लिए मना कर उनके (या उनके प्रति) ममत्व को त्याग देता है, जैसे कि महानाग (महासर्प) केंचुली का परित्याग कर देता है।

१ (क) **मृगाणां चर्या**—इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मक चरण **मृगचर्या ता, मितचारिता** वा परिमितभक्षणात्मिका।
(ख) मृगाणा चर्या—चेष्टा स्वातन्त्र्योपवेशनादिका यस्या सा मृगचर्या—मृगाश्रयभू।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२-४६३

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

३ वही, पत्र ४६३

४. वही, पत्र ४६३ "त्यजति उपधिं—उपकरणमाभरणादि द्रव्यत भावतस्तु छद्मादि येनात्मा नरक उपधीयते, ततश्च प्रव्रजतीत्युक्त भवति।"

८८. इड्ढिं वित्तं च मित्ते य पुत्त-दारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ॥

[८८] वस्त्र पर लगी हुई धूल की तरह ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, स्त्री और ज्ञातिजनो को झटक कर वह सयमयात्रा के लिए निकल पडा।

८९. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तर—बाहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ॥

[८९] (वह अब) पच महाव्रतो से युक्त, पच समितियो से समित, तीन गुप्तियो से गुप्त, आभ्यन्तर और बाह्य तप मे उद्यत (हो गया।)

९०. निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥

[९०] (वह) ममता से निवृत्त, निरहकार, नि सग (अनासक्त), गौरवत्यागी तथा त्रस और स्थावर सभी प्राणियो पर समदृष्टि (हो गया।)

९१. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

[९१] (वह) लाभ और अलाभ मे, सुख और दुःख मे, जीवित और मरण मे, निन्दा और प्रशसा मे तथा मान और अपमान मे समत्व का (आराधक हो गया।)

९२. गारवेसु कसाएसु दण्ड-सल्ल-भएसु य।
नियत्तो हास-सोगाओ अनियाणो अबन्धणो॥

[९२] (वह) गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त एव निदान और बन्धन से रहित (हो गया।)

९३. अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो य असणे अणसणे तहा॥

[९३] वह इहलोक मे और परलोक मे अनिश्रित -निरपेक्ष हो गया तथा वासी-चन्दनकल्प-वसूले से काटे जाने अथवा चन्दन लगाए जाने पर भी अर्थात् सुख-दु ख मे समभावशील एव आहार मिलने या न मिलने पर भी समभाव (से रहने लगा।)

९४. अप्पसत्थेहिं दारेहिं सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं पसत्थ-दमसासणे॥

[९४] अप्रशस्त द्वारो (-कर्मोपार्जन हेतु रूप हिसादि) से (होने वाले) आश्रवो का सर्वतोभावेन निरोधक (महर्षि मृगापुत्र) अध्यात्म सम्बन्धी ध्यानयोगो से प्रशस्त सयममय शासन मे लीन

विवेचन—मृगापुत्र युवराज से निर्ग्रन्थ के रूप में—प्रस्तुत गाथाओं में मृगापुत्र के त्यागी-निर्ग्रन्थरूप का वर्णन किया गया है।

महानागो व्व कंचुयं—जैसे महानाग अपनी केंचुली छोड़कर आगे बढ़ जाता है, फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखता, वैसे ही मृगापुत्र भी सांसारिक माता-पिता, धन, धाम आदि का ममत्व-बन्धन तोड़ कर प्रव्रजित हो गया।[1]

अनियाणो—इहलोक-परलोक सम्बन्धी विषय-सुखों का सकल्प निदान कहलाता है। महर्षि मृगापुत्र ने निदान का सर्वथा त्याग कर दिया।

अबंधणो—रागद्वेषात्मक बन्धन से रहित।[2]

अणिस्सिओ—इहलोक या परलोक मे सुख, भोगसामग्री या किसी भी लौकिक लाभ की आकाक्षा से तप, जप, ध्यान, व्रत, नियम आदि करना इहलोकनिश्रित या परलोकनिश्रित कहलाता है। दशवैकालिक मे कहा गया है—इहलोक के लिए तप न करे। परलोक के लिए तप न करे और कीर्ति, वर्ण, या श्लोक (प्रशसा या प्रशस्ति) के लिए भी तपश्चरण न करे, किन्तु एकमात्र निर्जरा के लिए तपश्चरण करे। इसी प्रकार अन्य आचार के विषय मे अनिश्रितता समझ लेनी चाहिए। महर्षि मृगापुत्र इहलोक और परलोक मे अनिश्रित—बेलगाव हो गए थे।[3]

अप्पसत्थेहिं दारेहिं—समस्त अप्रशस्त द्वारो यानी अशुभ आश्रवो (कर्मागमन—हेतुओ) से वे सर्वथा निवृत्त थे।[4]

पसत्थदमसासणे—वे प्रशसनीय दम अर्थात्—उपशमरूप सर्वज्ञशासन मे लीन हो गए।[5]

असणे अणसणे तहा—'अशन' शब्द यहाँ कुत्सित अशन के अर्थ मे अथवा अशनाभाव के अर्थ मे है। अत इस पक्ति का अर्थ हुआ—आहार मिलने तथा तुच्छ आहार मिलने या न मिलने पर भी जो समभाव मे स्थित है।[6]

महर्षि मृगापुत्र : अनुत्तरसिद्धिप्राप्त

९५. एवं नाणेण चरणेण दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहिं सम्मं भावेत्तु अप्पयं॥

[९५] इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा शुद्ध भावनाओ के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित करके—

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ अबन्धन —रागद्वेषबन्धनरहित।

३. इहलोके परलोके वा अनिश्रितो, नेहलोकार्थं परलोकार्थं वाऽनुष्ठानवान्। —वही, पत्र ४६५

४ 'अप्रशस्तेभ्य —प्रशसाऽनास्पदेभ्य द्वारेभ्य —कर्मोपार्जनोपायेभ्यो हिंसादिभ्य य आश्रव'—कर्मसलग्नात्मक स पिहित निरुद्धो येन। —वही, पत्र ४६५

५ प्रशस्त —प्रशसास्पदो दमश्च उपशम शासन च—सर्वज्ञागमात्मक यस्य स प्रशस्तदमशासन।
—वही, पत्र ४६५

६. बृहद्वृत्ति, ४६५

९६. बहुयाणि उ वासाणि सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥

[९६] बहुत वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर (अन्त मे) एक मासिक भक्त-प्रत्याख्यान (-अनशन) से उन्होंने (मृगापुत्र महर्षि ने) अनुत्तर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की ।

विवेचन—भावणाहिं सुद्धाहिं—शुद्ध अर्थात् निदान आदि दोषो से रहित, भावनाओ—अर्थात् महाव्रत सम्बन्धी भावनाओ अथवा अनित्यत्वादि-विषयक द्वादश भावनाओ से आत्मा को सम्यक्तया भावित करके यानी इन भावनाओ में तन्मय होकर ।

मासिएण भत्तेण—मासिक (एक मास का) उपवास (अनशन) करके ।

अणुत्तरं सिद्धिं—समस्त सिद्धियो मे प्रधान सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त की ।[1]

महर्षि मृगापुत्र के चारित्र से प्रेरणा

९७. एवं करन्ति संबुद्धा पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु मियापुत्ते जहा रिसी ॥

[९७] सम्बुद्ध, पण्डित और अतिविचक्षण व्यक्ति ऐसा ही करते है । वे कामभोगो से वैसे ही निवृत्त हो जाते हैं, जैसे कि महर्षि मृगापुत्र निवृत्त हुए थे ।

९८. महापभावस्स महाजसस्स मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं ॥

[९८] महाप्रभावशाली, महायशस्वी मृगापुत्र के तप प्रधान, (मोक्षरूप) गति से प्रधान, त्रिलोकविश्रुत (प्रसिद्ध) उत्तम चारित्र के कथन को सुन कर—

९९. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं ममत्तबंधं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥
—त्ति बेमि ।

[९९] धन को दु खवर्द्धक और ममत्व-बन्धन को अत्यन्त भयावह जान कर (अनन्त-) सुखावह एव निर्वाण-गुणो को प्राप्त कराने वाली अनुत्तर धर्मधुरा को धारण करो ।

—ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—संबुद्धा—(१) जिन की प्रज्ञा सम्यक् है, वे ज्ञानादि सम्पन्न ।

निव्वाणगुणावहं—निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कराने वाले—अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखादि गुणो को धारण करने वाले ।

मियापुत्तस्स भासियं—मृगापुत्र का ससार को दु ख रूप बताने वाला वैराग्यमूलक कथन, जो उसने माता-पिता के समक्ष कहा था ।[2]

॥ मृगापुत्रीय : उन्नीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६६

वीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' (महानियंठिज्ज) है। महानिर्ग्रन्थ की चर्या तथा मौलिक सिद्धान्तो और नियमो से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है।
* प्रस्तुत अध्ययन मे श्रेणिक नृप द्वारा मुनि से पूछे जाने पर उनके द्वारा स्वय को 'अनाथ' कहने पर चर्चा का सूत्रपात हुआ है और बाद मे मुनि द्वारा अपनी अनाथता और सनाथता का वर्णन करने पर तथा अन्त मे अनाथता के विविध रूप बताये जाने पर सनाथ-अनाथ का रहस्योद्घाटन हुआ है।
* मगधसम्राट् श्रेणिक एक बार घूमने निकले। वे राजगृह के बाहर पर्वत की तलहटी मे स्थित मण्डिकुक्ष नामक उद्यान मे पहुँच गए। वहाँ उन्होने एक तरुण मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के अनुपम सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि को देख कर विस्मित राजा ने सविनय पूछा—'मुनिवर! यह तरुण अवस्था तो भोग के योग्य है। आपका यह सुन्दर, दीप्तिमान् एव स्वस्थ शरीर सासारिक सुख भोगने के लिए है। इस अवस्था मे आप मुनि क्यो बने?' मुनि ने कहा—'राजन्! मै अनाथ था, इस कारण साधु बना!' राजा को यह सुन कर और अधिक आश्चर्य हुआ।

राजा—'आपका इतना सुन्दर रूप, शरीरसौष्ठव आपकी अनाथता की साक्षी नही देता। फिर भी यदि किसी अभाव के कारण आप अनाथ थे, या कोई सरक्षक-अभिभावक नही था, तो लो मै आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे यहाँ रहे, मैं धन, धाम, वैभव तथा समस्त प्रकार की भोगसामग्री आपको देता हूँ।'

मुनि—'राजन्! आप स्वय अनाथ हैं, फिर दूसरो के नाथ कैसे बनेगे?'

राजा—'मैं अपार सम्पत्ति का स्वामी हूँ, मेरे आश्रित सारा राजपरिवार, नौकर-चाकर, सुभट, हाथी, घोडे, रथ आदि हैं। समस्त सुखभोग के साधन मेरे पास है। फिर मैं अनाथ कैसे?'

मुनि—'राजन्! आप सनाथ-अनाथ के रहस्य को नही समझते, केवल धन-सम्पत्ति होने मात्र से कोई सनाथ नहीं हो जाता। जब समझ लेंगे, तब स्वय ज्ञात हो जाएगा कि आप अनाथ हैं या सनाथ! मैं अपनी आपबीती सुनाता हूँ। मेरे पिता कौशाम्बी के धनाढ्य-शिरोमणि थे। मेरा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ। एक बार मुझे असह्य नेत्र-पीडा उत्पन्न हुई। मेरे पिताजी ने पानी की तरह पैसा बहा कर मेरी चिकित्सा के लिये वैद्य, मत्रवादी, तत्रवादी आदि बुलाए, उनके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। मेरी माता, मेरी सगी बहनें, भाई सब मिलकर रोगनिवारण के प्रयत्न मे जुट गए, परन्तु वे किसी भी तरह नही मिटा सके। मेरी पत्नी रात-

दिन मेरी सेवा-शुश्रूषा मे जुटी रहती थी, परन्तु वह भी मुझे स्वस्थ न कर सकी। धन, धाम, परिवार, वैद्य, चिकित्सक आदि कोई भी मेरी वेदना को नही मिटा सका। मुझे कोई भी उससे न बचा सका, यही मेरी अनाथता थी।

एक दिन रोग-शय्या पर पडे-पडे मैंने निर्णय किया कि 'धन, परिवार, वैद्य आदि सब शरण मिथ्या है। मुझे इन आश्रयो का भरोसा छोडे विना शान्ति प्राप्त नही हो सकती। मुझे श्रमणधर्म का एकमात्र आश्रय लेकर दु ख के बीजो—कर्मों को निर्मूल कर देना चाहिए। यदि इस पीडा से मुक्त हो गया तो मै प्रभात होते ही निर्ग्रन्थ मुनि बन जाऊँगा।' इस दृढ सकल्प के साथ मैं सो गया। धीरे-धीरे मेरा रोग स्वत' शान्त हो गया। सूर्योदय होते-होते मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। अत प्रात काल ही मैंने अपने समस्त परिजनो के समक्ष अपना सकल्प दोहराया और उनसे अनुमति लेकर मै निर्ग्रन्थ मुनि बन गया। राजन्! इस प्रकार मै अनाथ से सनाथ हो गया। आज मै स्वय अपना नाथ हूँ, क्योकि मेरी इन्द्रियो, मन, आत्मा आदि पर मेरा अनुशासन है, मै स्वेच्छा से विधिपूर्वक श्रमणधर्म का पालन करता हूँ। मैं अब त्रस-स्थावर समस्त प्राणियो का भी नाथ (त्राता) बन गया।'

मुनि ने अनाथता के और भी लक्षण बताए, जैसे कि—निर्ग्रन्थधर्म को पाकर उसके पालन से कतराना, महाव्रतो को अगीकार कर उनका सम्यक् पालन न करना, इन्द्रियनिग्रह न करना, रसलोलुपता रखना, रागद्वेषादि बन्धनो का उच्छेद न करना, पचसमिति-त्रिगुप्ति का उपयोग-पूर्वक पालन न करना, अहिंसादि व्रतो, नियमो एव तपस्या से भ्रष्ट हो जाना, मस्तक मुडा कर भी साधुधर्म का आचरण न करना, केवल वेष एव चिह्न के सहारे जीविका चलाना, लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कौतुक, वैद्यक आदि विद्याओ का प्रयोग करके जीविका चलाना, अनेषणीय, अप्रासुक आहारादि का उपभोग करना, सयमी एव ब्रह्मचारी न होते हुए स्वय को सयमी एव ब्रह्मचारी बताना आदि। इन अनाथताओ का दुष्परिणाम भी मुनि ने साथ-साथ बता दिया।

मुनि की अनुभवपूत वाणी सुन कर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट एव प्रभावित हुआ। वह सनाथ-अनाथ का रहस्य समझ गया। उसने स्वीकार किया कि वास्तव मे मैं अनाथ हूँ और तब श्रद्धापूर्वक मुनि के चरणो मे वन्दना की, सारा राजपरिवार धर्म मे अनुरक्त हो गया। राजा ने मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा मागी। पुन. वन्दना, स्तुति, भक्ति एव प्रदक्षिणा करके मगधेश श्रेणिक लौट गया।

प्रस्तुत अध्ययन जीवन के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को अनावृत करता है कि आत्मा स्वय अनाथ या सनाथ हो जाता है। बाह्य ऐश्वर्य, विभूति, धन-सम्पत्ति से, या मुनि का उजला वेष या चिह्न कितने ही धारण कर लेने से, अथवा मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि विद्याओ के प्रयोग से कोई भी व्यक्ति सनाथ नही हो जाता। बाह्य वैभवादि सब कुछ पा कर भी मनुष्य आत्मानुशासन से यदि रिक्त है तो अनाथ है। □□

विंसइमं अज्झयणं : वीसवाँ अध्ययन

महानियंठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन का प्रारम्भ

१. सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ ।
अत्थधम्मगइं तच्चं अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥

[१] (सुधर्मास्वामी)--(हे शिष्य !) सिद्धो और सयतो को भावपूर्वक नमस्कार कर मैं अर्थ (—मोक्ष) और धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म के स्वरूप) का बोध कराने वाली तथ्यपूर्ण अनुशिष्टि (-शिक्षा) का प्रतिपादन करता हूँ, उसे मुझ से सुनो ।

विवेचन—सिद्धाणं नमो किच्चा०—यहाँ अध्ययन के प्रारम्भ मे सिद्धो (जिनके अन्तर्गत भावक-सिद्धरूप अर्हन्त भी आ जाते हैं) और संयतो (जिनके अन्तर्गत समस्त सावद्य प्रवृत्तियो से विरत आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु-साध्वीगण आ जाते हैं) को नमस्कार मगलाचरण के लिए है । सिद्ध का अर्थ है—सित अर्थात्—बद्ध अष्टविध कर्म, जिनके ध्मात अर्थात्—भस्मसात् हो चुके हैं, वे सिद्ध है ।

अत्थधम्मगइ तच्चं—मुमुक्षुओ या हितार्थियो द्वारा जिसकी अभिलाषा की जाए, वह अर्थ (मोक्ष या साध्य) तथा धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म । गति का अर्थ है— (दोनो के) स्वरूप का ज्ञान कराने वाला तथ्य, अनुशासन—शिक्षा ।[१]

मुनिदर्शनानन्तर श्रेणिक राजा की जिज्ञासा

२. पभूयरयणो राया सेणिओ मगहाहिवो ।
विहारजत्तं निज्जाओ मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥

[२] प्रचुर रत्नो से समृद्ध मगधाधिपति श्रेणिक राजा विहारयात्रा के लिए मण्डिकुक्षि नामक चैत्य (उद्यान) मे नगर से निकला ।

३. नाणादुमलयाइण्णं नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसछन्नं उज्जाणं नन्दणोवमं ॥

[३] वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षो और लताओ से व्याप्त, नाना प्रकार के पक्षियो से परिसेवित एव विभिन्न प्रकार के पुष्पो से भलीभाति आच्छादित था, (किं बहुना) वह नन्दनवन के समान था ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२
(क) सित —बद्धमिहाष्टविध कर्म, ध्मात—भस्मसादभूतमेषामिति सिद्धा. ।
(ख) इत्थ पचपरमेष्ठिरूपेष्टदेवतास्तवमभिधाय''   ।

४. तत्थ सो पासई साहुं संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि सुकुमालं सुहोइयं ॥

[४.] वहाँ (उद्यान मे) मगधनरेश ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक सयत, समाधि-युक्त, सुकुमार एव सुखोचित (सुखोपभोग के योग्य) मुनि को देखा ।

५. तस्स रूवं तु पासित्ता राइणो तम्मि संजए ।
अच्चन्तपरमो आसी अउलो रूवविम्हओ ॥

[५] उन (साधु) के रूप को देख कर राजा श्रेणिक को उन सयमी के प्रति अत्यन्त अतुल्य विस्मय हुआ ।

६. अहो ! वण्णो अहो ! रूवं अहो ! अज्जस्स सोमया ।
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती अहो ! भोगे असंगया ॥

[६] (राजा सोचने लगा) अहो, कैसा वर्ण (रग) है ! अहो, क्या रूप है ! अहो, आर्य का कैसा सौम्यभाव है ! अहो कितनी क्षमा (क्षान्ति) है और कितनी निर्लोभता (मुक्ति) है ! अहो, भोगो के प्रति इनकी कैसी नि सगता है !

७. तस्स पाए उ वन्दित्ता काऊण य पयाहिणं ।
नाइदूरमणासन्ने पंजली पडिपुच्छई ॥

[७] उन मुनि के चरणो मे वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा, न अत्यन्त दूर और न अत्यन्त समीप (अर्थात् योग्य स्थान मे खडा रहा और) करबद्ध होकर पूछने लगा—

८. तरुणोसि अज्ज ! पव्वइओ भोगकालम्मि संजया ।
उवट्ठिओ सि सामण्णे एयमट्ठं सुणेमि ता ॥

[८] हे आर्य ! आप अभी युवा है, फिर भी हे सयत ! आप भोगकाल मे दीक्षित हो गए है ! श्रमणधर्म-(पालन) के लिए उद्यत हुए हैं; इसका कारण मैं सुनना चाहता हूँ ।

विवेचन—पभूयरयणो—(१) मरकत आदि प्रचुर रत्नो का स्वामी, अथवा (२) प्रवर हाथी, घोडा आदि के रूप मे जिसके पास प्रचुर रत्न हो, वह ।[1]

विहारजत्तं निज्जाओ : तात्पर्य—विहारयात्रा अर्थात् क्रीडार्थ भ्रमण—सैर-सपाटे के लिए नगर से निकला ।[2]

साहुं संजयं सुसमाहियं—यद्यपि यहाँ 'साधु' शब्द कहने से ही अर्थबोध हो जाता, फिर भी उसके दो अतिरिक्त विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं, वे सकारण हैं, क्योकि शिष्ट पुरुष को भी साधु कहा जाता है, अत' भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए 'सयत' (सयमी) शब्द का प्रयोग किया, किन्तु

१ प्रभूतानि रत्नानि—मरकतादीनि, प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा यस्याऽसौ प्रभूतरत्न । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२
२ वही, पत्र ४७२

निह्नव आदि भी बाह्य दृष्टि से संयमी हो सकते हैं, अत: 'सुसमाहित' विशेषण और जोड़ा गया, अर्थात्—वह संयत होने के साथ-साथ सम्यक् मन:समाधान-सम्पन्न थे।[1]

अच्चंतपरमो अउलो रूवविम्हओ—'राजा को उनके रूप के प्रति अत्यधिक अतुल—असाधारण विस्मय हुआ।'

वर्ण और रूप में अन्तर—वर्ण का अर्थ है सुस्निग्धता या गोरा, गेहुआ आदि रंग और रूप कहते हैं—आकार, (आकृति) एवं डीलडौल को। वर्ण और रूप से 'व्यक्तित्व' जाना जाता है।[2]

असंगया—असंगता का अर्थ—निःस्पृहता या अनासक्ति है।[3]

चरणवन्दन के बाद प्रदक्षिणा क्यों?—प्राचीनकाल में पूज्य पुरुषों के दर्शन होते ही चरणों में वन्दना और फिर साथ-साथ ही उनकी प्रदक्षिणा की जाती थी। इस विशेष परिपाटी को बताने के लिए यहाँ दर्शन, वन्दन और प्रदक्षिणा का क्रम अंकित है।[4]

राजा की विस्मययुक्त जिज्ञासा का कारण—श्रेणिक राजा को उक्त मुनि को देखकर विस्मय तो इसलिए हुआ कि एक तो वे मुनि तरुण थे, तरुणावस्था भोगकाल के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु उस अवस्था में कदाचित् कोई रोगादि हो या संयम के प्रति अनुद्यत हो तो कोई आश्चर्य नहीं होता, किन्तु यह मुनि तरुण थे स्वस्थ थे, समाधि-सम्पन्न थे और श्रमणधर्मपालन में समुद्यत थे, यही विस्मय राजा की जिज्ञासा का कारण बना। अर्थात्—भोगयोग्य काल (तारुण्य) में जो आप प्रव्रजित हो गए हैं, मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।[5]

मुनि और राजा के सनाथ-अनाथ सम्बन्धी उत्तर-प्रत्युत्तर

९. अणाहो मि महाराय! नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि कंचि नाभिसमेमऽहं॥

[९] (मुनि)—महाराज! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या सुहृद् (सहृदय) मुझे नहीं मिला।

१०. तओ सो पहसिओ राया सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स कहं नाहो न विज्जई?

[१०] (राजा)—यह सुनकर मगधनरेश राजा श्रेणिक जोर से हंसता हुआ बोला—इस प्रकार ऋद्धिसम्पन्न-ऋद्धिमान् (वैभवशाली) आपका कोई नाथ कैसे नहीं है?

---

१ "साधु सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते, तद्व्यवच्छेदार्थं संयतमित्युक्तं, सोऽपि च बहिः संयमवान्निह्नवादिरपि स्यादिति सुष्ठु समाहितो—मनःसमाधानवान् सुसमाहितस्तमित्युक्तम्।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२

२. 'वर्ण: सुस्निग्धो गौरतादि, रूपम्—आकार।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

३ (क) वही, पत्र ४७३ (ख) उत्तरा. अनुवाद विवेचन (मुनि नथमल), भा. १, पृ. २६२

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

५. वही, पत्र ४७३

११. होमि नाहो भयन्ताणं भोगे भुंजाहि संजया ! ।
मित्त–नाईपरिवुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥

[११] हे सयत ! (चलो,) मैं आप भदन्त का नाथ बनता हूँ। आप मित्र और ज्ञातिजनों सहित (यथेच्छ) विषय-भोगो का उपभोग करिये, (क्योंकि) यह मनुष्य-जीवन अतिदुर्लभ है।

१२. अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो कहं नाहो भविस्ससि ?

[१२] (मुनि)—हे मगधाधिप श्रेणिक ! तुम स्वय अनाथ हो। जब तुम स्वय अनाथ हो तो (किसी दूसरे के) नाथ कैसे हो सकोगे ?

१३. एवं वुत्तो नरिन्दो सो सुसम्भन्तो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं साहुणा विम्हयन्निओ ॥

[१३] राजा (पहले ही) अतिविस्मित (हो रहा) था, (अब) मुनि के द्वारा ('तुम अनाथ हो') इस प्रकार के अश्रुतपूर्व (पहले कभी नही सुने गये) वचन कहे जाने पर तो वह नरेन्द्र और भी अधिक सम्भ्रान्त (—सशयाकुल) एवं विस्मित हो गया।

१४. अस्सा हत्थी मणुस्सा मे पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोगे आणा इस्सरियं च मे ॥

[१४] (राजा श्रेणिक)—मेरे पास अश्व हैं, हाथी है, (अनेक) मनुष्य है, (सारा) नगर और अन्त पुर मेरा है। मैं मनुष्य-सम्बन्धी (सभी सुख-) भोगो को भोग रहा हूँ। मेरी आज्ञा (चलती) है और मेरा ऐश्वर्य (प्रभुत्व) भी है ;

१५. एरिसे सम्पयग्गम्मि सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ ? मा हु भन्ते ! मुसं वए ॥

[१५] ऐसे श्रेष्ठ सम्पदा से युक्त समस्त कामभोग मुझे (मेरे चरणो मे) समर्पित (प्राप्त) होने पर भी (भला) मैं कैसे अनाथ हूँ ? भदन्त ! आप मिथ्या न बोलें।

१६. न तुमं जाणे अणाहस्स अत्थं पोत्थं व पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो भवई सणाहो वा नराहिवा ! ॥

[१६] (मुनि)—हे पृथ्वोपाल ! तुम 'अनाथ' के अर्थ या परमार्थ को नही जानते हो कि नराधिप भी कैसे अनाथ या सनाथ होता है ?

विवेचन—अणाहोमि—मुनि द्वारा उक्त यह वृत्तान्त 'भूतकालीन' होते हुए भी तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्तमानकालिक प्रयोग किया गया है। अर्थात्—मैं अनाथ था, मेरा कोई भी नाथ नही था।[1]

---

१ '........ 'तत्कालापेक्षया वर्तमाननिर्देश ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

नाभिसमेमहं—किसी अनुकम्पाशील सहृदय सुहृद् का मेरे साथ समागम नही हुआ, जिससे कि मैं नाथ बन जाता ; यह मुनि के कहने का आशय है ।[1]

विम्हयन्निओ—वह श्रेणिक नरेन्द्र पहले ही मुनि के रूपादि को देखकर विस्मित था, फिर तू अनाथ है, इस प्रकार की अश्रुतपूर्व बात सुनते ही और भी अधिक आश्चर्यान्वित एव अत्याकुल हो गया ।[2]

इड्ढिमंतस्स—ऋद्धिमान्—आश्चर्यजनक आकर्षक वर्णादि सम्पत्तिशाली ।[3]

'कहं नाहो न विज्जई ?'—श्रेणिक राजा के कथन का आशय यह है कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इस न्याय से आपकी आकृति से आप अनाथ थे, ऐसा प्रतीत नही होता । आपकी आकृति ही आपमे सनाथता की साक्षी दे रही है । फिर जहाँ गुण होते है, वहाँ धन होता है और धन होता है, वहाँ 'श्री' और श्रीमान् में आज्ञा और जहाँ आज्ञा हो वहाँ प्रभुता होती है यह लोकप्रवाद है । इस दृष्टि से आप मे अनाथता सम्भव नही है ।[4]

होमि नाहो भयंताणं—श्रेणिक राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि इतने पर भी यदि अनाथता ही आपके प्रव्रज्या-ग्रहण का कारण है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ । आप सनाथ बनकर मित्र-ज्ञातिजन सहित यथेच्छ भोगो का उपभोग कीजिए और दुर्लभ मनुष्यजन्म को सार्थक कीजिए ।

श्रेणिक राजा 'नाथ' का अर्थ—'योगक्षेम करने वाला' समझा हुआ था, इसी दृष्टि से उसने मुनि से कहा था कि मै आपका नाथ (योगक्षेमविधाता) बनता हूँ । अप्राप्त की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्त वस्तु के सरक्षण को 'क्षेम' कहते हैं । श्रेणिक ने मुनि के समक्ष इस प्रकार के योगक्षेम को वहन करने का दायित्व स्वय लेने का प्रस्ताव रखा था ।[5]

आणाइस्सरियं च मे—(१) आज्ञा—अस्खलितशासनरूप, और ऐश्वर्य—द्रव्यादिसमृद्धि, अथवा (२) आज्ञा सहित ऐश्वर्य—प्रभुत्व, दोनो मेरे पास हैं ।[6]

निष्कर्ष—राजा भौतिक सम्पदाओ और प्रचुर भोगसामग्री आदि के स्वामी को ही 'नाथ'

---

१ न केनचिदनुकम्पकेन सुहृदा वा सगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तारुण्येऽपि प्रव्रजित इति भाव । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

२ वही, पत्र ४७४

३ वही, पत्र ४७३

४. वही, पत्र ४७३ "**यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति**, तथा '**गुणवति धन, ततः श्री, श्रीमत्याज्ञा, ततो राज्यमिति**' लोकप्रवाद । तथा च न कथञ्चिदनाथत्व भवतः सम्भवतीति भाव ।"

५ (क) यदि अनाथतैव भवत प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुस्तदा भवाम्यह भदन्तानां-पूज्याना नाथ । मयि नाथे मित्राणि ज्ञातयो भोगाश्च तव सुलभा एवेत्यभिप्रायेण भोगेत्याद्युक्तवान् । ...... "

(ख) '**नाथः योगक्षेमविधाता**' । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

६. आज्ञा-अस्खलितशासनात्मिका, ऐश्वर्यं च द्रव्यादिसमृद्धि, यद्वा आज्ञया ऐश्वर्यं—प्रभुत्वम्-आज्ञैश्वर्यम् । —वही, पत्र ४७४

समझ रहा था। इसलिए मुनि ने उसको कहा—तुम नहीं जानते कि पुरुष 'अनाथ' या 'सनाथ' कैसे होता है ?[1]

मुनि द्वारा अपनी अनाथता का प्रतिपादन

१७. सुणेह मे महाराय! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवई जहा मे य पवत्तियं ॥

[१७] हे महाराज! आप मुझ से अव्याक्षिप्त (एकाग्र) चित्त होकर सुनिये कि (वास्तव मे मनुष्य) अनाथ कैसे होता है? और मैने किस अभिप्राय से वह (अनाथ) शब्द प्रयुक्त किया है?

१८. कोसम्बी नाम नयरी पुराणपुरभेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झ पभूयधणसंचओ ॥

[१८] (मुनि)—प्राचीन नगरो मे असाधारण, अद्वितीय कौशाम्बी नाम की नगरी है। उसमे मेरे पिता (रहते) थे। उनके पास प्रचुर धन का सग्रह था।

१९. पढमे वए महाराय! अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो सव्वंगेसु य पत्थिवा! ॥

[१९] महाराज! प्रथम वय (युवावस्था) मे मुझे (एक बार) अतुल (असाधारण) नेत्र-पीडा उत्पन्न हुई। हे पृथ्वीपाल! उससे मेरे शरीर के सभी अगो मे बहुत (विपुल) जलन होने लगी।

२०. सत्थं जहा परमतिक्खं सरीरविवरन्तरे।
पवेसेज्ज अरी कुद्धो एवं मे अच्छिवेयणा ॥

[२०] जैसे कोई शत्रु क्रुद्ध होकर शरीर के (कान-नाक आदि के) छिद्रो मे अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को घोप दे और उससे जो वेदना हो, वैसी ही (असह्य) वेदना मेरी आखो मे होती थी।

२१. तियं मे अन्तरिच्छं च उत्तमंगं च पीडई।
इन्दासणिसमा घोरा वेयणा परमदारुणा ॥

[२१] इन्द्र के वज्र-प्रहार के समान घोर एव परम दारुण वेदना मेरे त्रिक—कटि भाग को, अन्तरेच्छ-हृदय को और उत्तमाग—मस्तिष्क को पीडित कर रही थी।

२२. उवट्ठिया मे आयरिया विज्जा-मन्ततिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला मन्त-मूलविसारया ॥

[२२] विद्या और मत्र से चिकित्सा करने वाले, मत्र तथा मूल (जडी-बूटियो) मे विशारद, अद्वितीय शास्त्रकुशल प्राणाचार्य (या आयुर्वेदाचार्य) उपस्थित हुए।

---

१ "अनाथशब्दस्यार्थं चाभिधेयम्, उत्था वा—उत्थान मूलोत्पत्ति, केनाभिप्रायेण मयोक्तमित्येवरूपाम्। अथवा—अर्थं, प्रोत्था वा—प्रकृष्टोत्थानरूपामतएव यथाऽनाथ सनाथो वा भवति तथा च न जानीषे इति सम्बन्ध।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

२३. ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२३] जैसे भी मेरा हित हो, वैसे उन्होंने मेरी चतुष्पाद (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक रूप चतुष्प्रकार) चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख (पीडा) से मुक्त न कर सके; यह मेरी अनाथता है ।

२४. पिया मे सव्वसारं पि दिज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

[२४] मेरे पिता ने मेरे निमित्त (उन चिकित्सकों को उपहारस्वरूप) (घर की) सर्वसार (—समस्त धन आदि सारभूत) वस्तुएँ दीं, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है ।

२५. माया य मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

[२५] हे महाराज ! मेरी माता पुत्रशोक के दुःख से पीडित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सकी, यह मेरी अनाथता है ।

२६. भायरो मे महाराय ! सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२६] मेरे बड़े और छोटे सभी सहोदर भाई भी दुःख से मुक्त नहीं कर सके, यह मेरी अनाथता है ।

२७. भइणीओ मे महाराय ! सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२७] महाराज ! मेरी छोटी और बड़ी सगी भगिनियाँ (बहनें) भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं यह मेरी अनाथता है ।

२८. भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं उरं मे परिसिंचई ॥

[२८] महाराज ! मेरी पत्नी, जो मुझ में अनुरक्त और अनुव्रता (पतिव्रता) थी, अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरे उरःस्थल (छाती) को सींचती रहती थी ।

२९. अन्नं पाणं च ण्हाणं च गन्ध-मल्ल-विलेवणं ।
मए नायमनायं वा सा बाला नोवभुंजई ॥

[२९] वह बाला (नवयौवना पत्नी) मेरे जानते या अनजानते (प्रत्यक्ष या परोक्ष में) कदापि अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नहीं करती थी ।

३०. खणं पि मे महाराय! पासाओ वि न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया॥

[३०] वह एक क्षणभर भी मुझ से दूर नही हटती थी, फिर भी वह मुझे दु ख से विमुक्त न कर सकी, महाराज ! यह मेरी अनाथता है ।

विवेचन—अनाथता के कतिपय कारण : मुनि के मुख से—(१) विविध चिकित्सको ने विविध प्रकार से चिकित्सा की, किन्तु दु खमुक्त न कर सके, (२) मेरे पिता ने चिकित्सा मे पानी की तरह सर्वस्व बहाया, किन्तु वे भी दु खमुक्त न कर सके, (३) पुत्रदु खपीडित माता भी दु खमुक्त न कर सकी, (४) छोटे-बडे भाई भी दु खमुक्त न कर सके, (५) छोटी-बडी बहने भी दु:खमुक्त न कर सकी, (६) अनुरक्ता एवं पतिव्रता पत्नी भी दु खमुक्त न कर सकी । अपनी अनाथता के ये कतिपय कारण मुनिवर ने प्रस्तुत किये है ।[1]

पुराणपुरभेयणी—अपने गुणो से असाधारण होने के कारण पुरातन नगरो से भिन्नता स्थापित करने वाली अर्थात्—प्रमुख नगरी या श्रेष्ठ नगरी (कौशाम्बी नगरी) थी ।[2]

घोरा परमदारुणा—घोरा—भयकर, जो दूसरो को भी प्रत्यक्ष दिखाई दे, ऐसी भयोत्पादिनी । परमदारुणा—अतीव दु:खोत्पादिका ।[3]

उवट्ठिया—(वेदना का प्रतीकार करने के लिए) उद्यत हुए ।

आयरिया : आचार्या—प्राणाचार्य, वैद्य ।[4]

सत्थकुसला—(१) शस्त्रकुशल (शल्यचिकित्सा या शस्त्रक्रिया मे निपुण चिकित्सक) और (२) शास्त्रकुशल (आयुर्वेदविशारद) ।

मंतमूलविसारया—मन्त्रो और मूलो—औषधियो—जडीबूटियो के विशेषज्ञ ।

चाउप्पायं-चतुष्पदा—चतुर्भागात्मक चिकित्सा—(१) भिषक्, भेषज, रुग्ण और परिचारक रूप चार चरणो वाली, (२) वमन, विरेचन, मर्दन एव स्वेदन रूप चतुर्भागात्मक, अथवा (३) अंजन, बन्धन, लेपन और, मर्दन रूप चिकित्सा । स्थानागसूत्र मे वैद्यादि चारो चिकित्सा के अग कहे गए हैं । अपने-अपने शास्त्रो तथा गुरुपरम्परा के अनुसार विविध चिकित्सको ने चिकित्सा की, किन्तु पीडा न मिटा सके ।[5]

---

१ उत्तराध्ययन, अ २०, मूलपाठ तथा बृहद्वृत्ति का साराश

२ "पुराणपुराणि भिनत्ति—स्वगुणैरसाधारणत्वाद् भेदेन व्यवस्थापयति—पुराणपुरभेदिनी।"—बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

३. घोरा—परेषामपि दृश्यमाना, भयोत्पादनी, परमदारुणा—अतीवदु खोत्पादिका ।

४. (क) उपस्थिता —वेदनाप्रतीकार प्रत्युद्यता । —वही, पत्र ४७५

(ख) आचार्या —प्राणाचार्या , वैद्या इति यावत् । —वही, पत्र ४७५

५ (क) "शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशला शस्त्रकुशला शास्त्रकुशला वा ।"

(ख) "चतुष्पदा—भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भागा ।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

(ग) "चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता, तं०—विज्जो, ओसधाइं, आउरे, परिचारते ।"

—स्थानाग. ४, स्था ४।३४३

(घ) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ५९१

अणुव्वया-अनुव्रता : कुलानुरूप व्रत—आचार वाली, अर्थात्—पतिव्रता अथवा 'अनुवया:' रूपान्तर होने से अर्थ होगा—वय के अनुरूप (वह सभी कार्य स्फूर्ति से करती) थी।[1]

पासाओवि न फिट्टइ—मेरे पास से कभी दूर नही होती थी, हटती न थी। अर्थात्—उसका मेरे प्रति इतना अधिक अनुराग या वात्सल्य था।[2]

अनाथता से सनाथता-प्राप्ति की कथा

३१. तओ हं एवमाहंसु दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे संसारम्मि अणन्तए॥

[३१] तब मैंने (मन ही मन) इस प्रकार कहा (-सोचा—) कि 'प्राणी को इस अनन्त ससार मे अवश्य ही बार-बार दु सह वेदना का अनुभव करना होता है।'

३२. सइं च जइ मुच्चेज्जा वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वए अणगारियं॥

[३२] यदि इस विपुल वेदना से एक बार मुक्त हो जाऊँ तो मैं क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारता (भावभिक्षुता) मे प्रव्रजित हो जाऊँगा।

३३. एव च चिन्तइत्ताण पसुत्तो मि नराहिवा!।
परियट्टन्तीए राईए वेयणा मे खयं गया॥

[३३] हे नरेश! इस प्रकार (मन मे) विचार करके मैं सो गया। परिवर्त्तमान (व्यतीत होती हुई) रात्रि के साथ-साथ मेरी (नेत्र-) वेदना भी नष्ट हो गई।

३४. तओ कल्ले पभायम्मि आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइओऽणगारियं॥

[३४] तदनन्तर प्रभातकाल मे नीरोग होते ही मैं बन्धुजनो से अनुमति लेकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारधर्म मे प्रव्रजित हो गया।

३५. ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य॥

[३५] तब (प्रव्रज्या अगीकार करने के बाद) मैं अपना और दूसरो का, त्रस और स्थावर सभी प्राणियो का 'नाथ' हो गया।

३६. अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥

[३६] अपनी आत्मा स्वय ही वैतरणी नदी है, अपनी आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामदुघा धेनु है और अपनी आत्मा ही नन्दनवन है।

---

१. "कुलानुरूप व्रत—आचारोऽस्या अनुव्रता, पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६

२ "मत्पार्श्वाच्च नापयाति सदा सन्निहितैवास्ते, अनेन तस्या अतिवत्सलत्वमाह।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६

३७. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय—सुपट्ठिओ ॥

[३७] आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और विकर्त्ता (विनाशक) है। सुप्रस्थित(—सत् प्रवृत्ति मे स्थित) आत्मा ही अपना मित्र है और दु प्रस्थित (-दुष्प्रवृत्ति मे स्थित) आत्मा ही अपना शत्रु है।

विवेचन—अनाथता दूर करने का उपाय—प्रस्तुत पाच गाथाओ (३१ से ३५ तक) मे मुनि ने प्रकारान्तर से अनाथता दूर करने का नुस्खा बता दिया है। वह क्रम सक्षेप मे इस प्रकार है—(१) अनाथता के मूल कारण का चिन्तन—संसार मे प्राणी को बार-बार जन्म-मरणादि का दु सह दुःखानुभव, (२) अनाथता के मूल कारणभूत दु ख को दूर करने के लिए अनगारधर्म अगीकार करने का दृढ सकल्प, (३) वेदना के मूलकारणभूत जन्ममरणादि दु ख (वेदना रूप) का नाश, (४) सनाथ बनने के लिए प्रव्रज्या-स्वीकार और (५) इसके पश्चात्—स्व-पर का 'नाथ' बनना।[1]

दुक्खमा : अर्थ—'दु.क्षमा' का अर्थ है—दु सहा। यह वेदना का विशेषण है।[2]

पव्वइए अणगारियं—(१) प्रव्रजन करू गा अर्थात्—घर से प्रव्रज्या के लिए निष्क्रमण करू गा, फिर अनगारता अर्थात्—भावभिक्षुता को अगीकार करू गा, अथवा (२) अनगारिता का प्रव्रजन स्वीकार करू गा, जिससे कि ससार का उच्छेदन होने से मूल से ही वेदना उत्पन्न नही होगी।[3]

कल्ले पभायम्मि : दो अर्थ—(१) कल्य अर्थात् नीरोग होकर प्रभात—प्रात काल मे। अथवा (२) कल्ये—आगामी कल, चिन्तनादि की अपेक्षा से दूसरे दिन प्रात.काल मे।

स्व-पर एवं त्रस-स्थावरो का नाथ : कैसे ?—(१) इन्द्रिय और मन को वश मे कर लेने के कारण 'स्व' का नाथ हो जाता है। आत्मा इनकी तथा सासारिक पदार्थों की गुलामी छोड देता है, तब अपना नाथ बन जाता है। (२) दूसरे व्यक्तियो का नाथ साधु बन जाने पर होता है, क्योकि वास्तविक सुख जिन्हे अप्राप्त है, उन्हे प्राप्त कराता है तथा जिन्हे प्राप्त है, उन्हे रक्षणोपाय बताता है। इस कारण मुनि 'नाथ' बनता है। इसी प्रकार (३) त्रस-स्थावर जीवो का नाथ यानी शरण-दाता, त्राता, धर्ममूर्ति सयमी साधु है ही।

अपना 'नाथ' या 'अनाथ' कैसे ?—निश्चयदृष्टि से सत्प्रवृत्त आत्मा ही अपना नाथ है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही 'अनाथ' है। 'धम्मपद' मे इस सम्बन्ध मे एक गाथा है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना ही सुदन्तेन 'नाथं' लभति दुल्लभं ॥४॥[5]

---

१ उत्तरा मूलपाठ, अ २० गा ३१ से ३५ तक का साराश।

२ बृहद्वृत्ति, पत्र १७६

३. प्रव्रजेय—गृहान्निष्क्रामयेयम्, ततश्च अनगारता—भावभिक्षुतामगीकुर्यामिति। यद्वा—प्रव्रजेय—प्रतिपद्येयमनगारिता, येन ससारोच्छित्तितो मूलत एव न वेदनासम्भव.। —वही, पत्र ४७६

४. "कल्यो—नीरोग सन् प्रभाते—प्रात , यद्वा कल्ल इति चिन्तनादिनाऽपेक्षया द्वितीयदिने प्रकर्षेण व्रजितो गत ।" —वही, पत्र ४७६

५ (क) धम्मपद, १२ वाँ अत्तवग्गो, गा ४

अर्थात्—आत्मा ही आत्मा का नाथ है या हो सकता है। इसका दूसरा कौन नाथ (स्वामी) हो सकता है?

भलीभाति दमन किया गया आत्मा स्वय ही दुर्लभ 'नाथ' (स्वामित्व) पद प्राप्त कर लेता है।

आत्मा ही मित्र और शत्रु आदि—आत्मा उपकारी होने से मित्र है और अपकारी होने से शत्रु। दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा शत्रु है और सत्प्रवृत्ति मे स्थित मित्र है। दुष्प्रस्थित आत्मा ही समस्त दुःखहेतु होने से वैतरणी आदि रूप है और सुप्रस्थित आत्मा सकल सुखहेतु होने से कामधेनु, नन्दनवन आदि रूप है।[1]

निष्कर्ष—प्रस्तुत दो गाथाओ (३६-३७) मे यह आशय गर्भित है कि प्रव्रज्यावस्था मे सुप्रस्थित होने से योगक्षेम करने मे समर्थ होने से साधु स्व-पर का नाथ हो जाता है।[2]

अन्य प्रकार की अनाथता

३८. इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा! तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा॥

[३८] हे नृप! यह एक और भी अनाथता है, शान्त और एकाग्रचित्त हो कर उसे सुनो। जैसे—कई अत्यन्त कायर नर होते हैं, जो निर्ग्रन्थधर्म को पा कर भी दुःखानुभव करते है। (—उसका आचरण करने मे शिथिल हो जाते हैं।)

३९. जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं सम्मं नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से॥

[३९] जो प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रमादवश महाव्रतो का सम्यक् पालन नही करता, अपनी आत्मा का निग्रह नही करता, रसो मे आसक्त रहता है, वह मूल से (रागद्वेषरूप) बन्धन का उच्छेद नही कर पाता।

४०. आउत्तया जस्स न अत्थि काइ इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए न वीरजायं अणुजाइ मग्गं॥

[४०] जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप मे तथा उच्चार-प्रस्रवणादि-परिष्ठापन (जुगुप्सना) मे कोई भी आयुक्तता (—सावधानी) नही है, वह वीरयात—वीर पुरुषो द्वारा सेवित मार्ग का अनुगमन नही कर सकता।

४१. चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता अथिरव्वए तव-नियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता न पारए होइ हु संपराए॥

[४१] जो अहिंसादि व्रतो मे अस्थिर है, तप और नियमो से भ्रष्ट है, वह चिरकाल तक

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४६७ का तात्पर्य

२ वही, पत्र ४७७

मुण्डरुचि रह कर और चिरकाल तक आत्मा को (लोच आदि से) क्लेश दे कर भी ससार का पारगामी नही हो पाता ।

४२. पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ य जाणएसु ।।

[४२] जैसे पोली (खाली) मुट्ठी निस्सार होती है, उसी तरह वह (द्रव्यसाधु रत्नत्रयशून्य होने से) साररहित होता है । अथवा वह खोटे सिक्के (कार्षापण) की तरह अयन्त्रित (अनादरणीय अथवा अप्रमाणित) होता है, क्योंकि वैडूर्यमणि की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि—काचमणि के समान वह जानकार परीक्षको की दृष्टि मे मूल्यवान् नही होता ।

४३. कुसीललिंग इह धारइत्ता इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता ।
असंजए संजयलप्पमाणे विणिघायमागच्छइ से चिरंपि ।।

[४३] जो (साध्वाचारहीन) व्यक्ति कुशीलो (पार्श्वस्थादि आचारहीनो) का वेष (लिंग) तथा ऋषिध्वज (रजोहरणादि मुनिचिह्न) धारण करके अपनी जीविका चलाता (बढाता) है और असयमी होते हुए भी अपने आपको सयमी कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात (विनाश) को प्राप्त होता है ।

४४. विसं तु पीयं जह कालकूड हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसे व धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ।।

[४४] जैसे—पिया हुआ कालकूट विष तथा विपरीतरूप से पकडा हुआ शस्त्र, स्वय का घातक होता है और अनियत्रित वैताल भी विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयविकारो से युक्त यह धर्म भी विनाश कर देता है ।

४५. जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे निमित्त—कोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी न गच्छई सरण तम्मि काले ।।

[४५] जो लक्षणशास्त्र और स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, जो निमित्तशास्त्र और कौतुक-कार्य मे अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाली कुहेटक विद्याओ (जादूगरो के तमाशो) से आश्रवद्वार (कर्मबन्धन हेतु) रूप जीविका करता है, वह उस कर्मफलभोग के समय किसी की शरण नही पा सकता ।

४६. तमंतमेणेव उ से असीले सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे ।।

[४६] शीलविहीन वह द्रव्यसाधु अपने घोर अज्ञानतमस् के कारण सदा दु खी हो कर विपरीत दृष्टि को प्राप्त होता है । फलत असाधुरूप वह साधु मुनिधर्म की विराधना करके नरक और तिर्यञ्चयोनि मे सतत आवागमन करता रहता है ।

४७. उद्देसियं कीयगडं नियागं न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ।।

[४७] जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग (नित्यपिण्ड) आदि के रूप मे थोडा-सा भी

अनेषणीय आहार नही छोडता; वह भिक्षु अग्नि के समान सर्वभक्षी होकर पाप कर्म करके यहाँ से मर कर दुर्गति मे जाता है।

४८. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

[४८] उस (पापात्मा साधु) की अपनी दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह (वैसा अनर्थ) गला काटने वाला शत्रु भी नही करता। उक्त तथ्य को वह निर्दय (-सयमहीन) मनुष्य मृत्यु के मुख मे पहुँचने के समय पश्चात्ताप के साथ जान पाएगा।

४९. निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥

[४९] जो (द्रव्यसाधु) उत्तमार्थ (अन्तिम समय की आराधना) के विषय मे विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य मे रुचि व्यर्थ है। उसके लिए न तो यह लोक है और न ही परलोक। दोनो लोको के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह दोनो लोको से भ्रष्ट भिक्षु (चिन्ता से) क्षीण हो जाता है।

५०. एमेवऽहाछन्द—कुसीलरूवे मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा निरट्ठसोया परियावमेइ ॥

[५०] इसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशीलरूप साधु जिनोत्तमो (—जिनेश्वरो) के मार्ग की विराधना करके वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोगरसो मे गृद्ध होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।

विवेचन—साधकों की अनाथता के प्रकार—प्रस्तुत ३८ वी से ५० वी गाथा तक मे अनाथी मुनि द्वारा साधुजीवन अगीकार करने पर भी सनाथ के बदले 'अनाथ' बनने वाले साधको का लक्षण दिया गया है—(१) निर्ग्रन्थधर्म को पाकर उसके पालन करने से कतराने वाले, (२) प्रव्रजित होकर प्रमादवश महाव्रतो का सम्यक् पालन न करने वाले, (३) आत्मनिग्रह न करने वाले, (४) रसो मे आसक्त, (५) पच समितियो के पालन मे सावधानी न रखने वाले, (६) अहिसादि महाव्रतो मे अस्थिर, (७) तप और नियमो से भ्रष्ट, केवल मुण्डनरुचि, (८) रत्नत्रयशून्य होने से विज्ञो की दृष्टि मे मूल्यहीन, (९) कुशीलवेष तथा ऋषिध्वज धारण करके उनसे अपनी जीविका चलाने वाले, (वेष-चिह्नजीवी, (१०) असयमी होते हुए भी स्वय को सयमी कहने वाले, (११) विषयविकारो के साथ मुनिधर्म के आराधक, (१२) लक्षणशास्त्र का प्रयोग करने वाले, (१३) निमित्तशास्त्र एव कौतुक-कार्य मे अत्यासक्त, (१४) जादू के खेल दिखा कर जीविका चलाने वाले, (१५) शीलविहीन, विपरीत-दृष्टि, मुनिधर्मविराधक असाधुरूप साधु, (१६) औद्देशिक आदि अनेषणीय आहार-ग्रहणकर्ता, अग्निवत् सर्वभक्षी साधु, (१७) दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा एव सयमहीन साधक, (१८) अन्तिम समय की आराधना के विषय मे विपरीतदृष्टि एव उभयलोक-प्रयोजनभ्रष्ट साधु और (१९) यथाछन्द एव कुशील तथा जिनमार्गविराधक साधु।[1]

---

१ उत्तरा मूलपाठ अ. २०, गा ३८ से ५० तक

सीयंति—निर्ग्रन्थधर्म के पालन मे शिथिल हो जाते है, कतराते है। जो स्वय निर्ग्रन्थधर्म के पालन मे दु खानुभव करते हैं, वे स्व-पर की रक्षा करने मे कैसे समर्थ हो सकते है ? अतएव उनकी अनाथता स्पष्ट है।

आउत्तया—सावधानी।

दुगुंछणाए : जुगुप्सनायां—उच्चार-प्रस्रवण आदि सयम के प्रति उपयोगशून्य होने से तथा परिष्ठापना जुगुप्सनीय होने से उसे **"जुगुप्सना"** कहा गया है।

वीरजायं मग्गं—वीरो के द्वारा यात अर्थात्—जिस मार्ग पर वीर पुरुष चलते हैं, वह मार्ग।

मुंडरुचि—चिरकाल से सिर मुडाने—अर्थात्—केशलोच करने मे जिसकी रुचि रही है, जो साधुजीवन के शेष आचार से विमुख रहता है, वह न तो तप करता है और न किसी नियम के पालन मे रुचि रखता है।

चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता—चिरकाल तक लोच आदि से अपने आप को क्लेशित करके—कष्ट देकर।[1]

अयंतिए कूडकहावणे वा—इसका सामान्य अर्थ होता है—अयत्रित—अनियमित कूटकार्षापणवत्। कार्षापण एक सिक्के का नाम है, जो चाँदी का होता था। यहाँ साध्वाचारशून्य नि सार (थोथे) साधु की खोटे सिक्के से उपमा दी गई है। खोटे सिक्के को कोई भी नही अपनाता और न उससे व्यवहार चलता है, वह सर्वथा उपेक्षणीय होता है, इसी तरह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरहित साधु भी गुरु, सघ आदि द्वारा उपेक्षणीय होता है।[2]

इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता—(१) ऋषिध्वज अर्थात् मुनिचिह्न—रजोहरण आदि, उन्ही को जीविका के लिए लोगो के समक्ष प्रधान रूप से प्रतिपादित करके, अर्थात्—साधु के रजोहरणादि चिह्न होने चाहिए, और बातो मे क्या रखा है ? इस प्रकार वेष और चिह्न से जीने वाला। अथवा (२) ऋषिध्वज से असयमी जीवन का पोषण करके, या (३) निर्वाहोपायरूप जीविका का पोषण करके।[3]

एसे व धम्मो विसओववन्नो—कालकूट विष आदि की तरह शब्दादि विषयो से युक्त सुविधावादी धर्म—श्रमणधर्म भी विनाशकारी अर्थात्—दुर्गतिपतन का हेतु होता है।

वेयाल इवाविवन्नो—मन्त्र आदि से वश मे नही किया हुआ अनियन्त्रित वेताल भी अपने साधक का ध्वस कर देता है, तद्वत्।[4]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७८

२ अयन्त्रित —अनियमित कूटकार्षापणवत्। वा शब्दस्येहोपमार्थत्वात्। यथाऽसौ न केनचित् कूटतया नियन्त्र्यते, तथैषोऽपि गुरूणामप्यविनीततयोपेक्षणीयत्वात्। —वही, पत्र ४७८

३. 'ऋषिध्वज—मुनिचिह्न रजोहरणादि, जीवियत्ति—जीविकार्थं, बृहयित्वा—इदमेव प्रधानमिति ख्यापनेनोपबृह्य, यद्वा 'इसिज्झयमि'—ऋषिध्वजेन जीवित—असयमजीवित, जीविका वा—निर्वहणोपायरूपा बृहयित्वेति—पोषयित्वा···· ···। —वही, पत्र ४७८

४ वही, पत्र ४७८-४७९

कुहेडविज्जासवदारजीवी—कुहेटक विद्या—मिथ्या, आश्चर्य मे डालने वाली मंत्र-तंत्र ज्ञानात्मिका विद्या, जो कि कर्मबन्धन का हेतु होने से आश्रवद्वार रूप है, ऐसी जादूगरी विद्या से जीविका चलाने वाला ।[1]

निमित्त-कोऊहलसंपगाढे—निमित्त कहते है—भौम, अन्तरिक्ष आदि, कौतूहल—कौतुक—संतानादि के लिए स्नानादि प्रयोग बताना । इन दोनो मे अत्यासक्त ।[2]

तमंतमेणेव उ से० —अत्यन्त मिथ्यात्व से आहत होने के कारण घोर अज्ञानान्धकार के कारण वह शीलविहीन द्रव्यसाधु सदा विराधनाजनित दु ख से दु खी होकर तत्त्वादि के विषय मे विपरीत दृष्टि अपनाता है ।[3]

अग्गीव सव्वभक्खी—जैसे अग्नि गीली-सूखी सभी लकडियो को अपना भक्ष्य बना लेती (जला डालती) है, वैसे ही हर परिस्थिति मे अनेषणीय ग्रहणशील कुसाधु अप्रासुक आदि सभी पदार्थ खा जाता है ।[4]

से नाहिई पच्छाणुतावेण—वह सयम-सत्यादिविहीन द्रव्यसाधु मृत्यु के समय 'हाय ! मैने बहुत बुरा किया, पापकर्म किया,' इस रूप मे पश्चात्ताप के साथ उक्त तथ्य को जान लेता है । कहावत है—मृत्यु के समय अत्यन्त मदधर्मी मानव को भी धर्मविषयक रुचि उत्पन्न होती है, किन्तु उस समय सिवाय पश्चात्ताप के वह कुछ कर नही सकता । इस वाक्य मे यह उपदेश गर्भित है कि पहले से ही मूढता छोड कर दुराचार प्रवृत्ति छोड देनी चाहिए ।

दुहओवि से झिज्झइ—जिस साधु के लिए इहलोक और परलोक कुछ भी नही है, वह शरीरक्लेश के कारणभूत केशलोच आदि करके केवल कष्ट उठाता है । इसलिए वह इहलोक भी सार्थक नहीं करता और न परलोक ही सार्थक कर पाता है । क्योकि यह जीवन साधुधर्म के वास्तविक आचरण से दूर रहा, इसलिए परलोक मे कुगति मे जाने के कारण उसे शारीरिक एव मानसिक दुःख भोगना पडेगा । इसलिए वह उभयलोकभ्रष्ट होकर इहलौकिक एव पारलौकिक सम्पत्तिशाली जनो को देख कर मुझ पापभाजन (दुर्भाग्यग्रस्त) को धिक्कार है जो उभयलोकभ्रष्ट है, इस चिन्ता से क्षीण होता जाता है ।[5]

कुररीव निरट्ठसोया—जैसे मासलोलुप गीध पक्षिणी माँस का टुकडा मु ह मे लेकर चलती है, तब दूसरे पक्षी उस पर झपटते है, इस विपत्ति का प्रतीकार करने मे असमर्थ वह पक्षिणी पश्चात्ताप रूप शोक करती है, वैसे ही भोगो के आस्वाद मे गृद्ध साधु इहलौकिक पारलौकिक अनर्थ प्राप्त होने पर न तो स्वय की रक्षा कर सकता है, न दूसरो की । इसलिए वह अनाथ बन कर व्यर्थ

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७९
२ वही, पत्र ४७९
३. 'तमस्तमसैव—अतिमिथ्यात्वोपहततया प्रकृष्टाज्ञानेनैव ......।' —वही, पत्र ४७९
४. वही, पत्र ४७९
५ वही, पत्र ४७९

शोक करता है ।[1]

महानिर्ग्रन्थपथ पर चलने का निर्देश और उसका महाफल

५१. सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियंठाण वए पहेण ।।

[५१] (मुनि)—मेधावी (बुद्धिमान्) साधक इस (पूर्वोक्त) सुभाषित को एव ज्ञानगुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को श्रवण कर कुशील लोगो के सर्व मार्गों को त्याग कर महानिर्ग्रन्थो के पथ पर चले ।

५२. चरित्तमायारगुणन्निए तओ अणुत्तर सजम पालियाण ।
निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाण विउलुत्तम धुव ।।

[५२] तदनन्तर चारित्राचार और ज्ञान, शील आदि गुणो से युक्त निर्ग्रन्थ अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) सुसयम का पालन कर, निराश्रव (रागद्वेषादि बन्धहेतुओ से मुक्त) होकर कर्मों का क्षय कर विपुल, उत्तम एव ध्रुव स्थान—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

५३. एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे महामुणी महापइन्ने महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुय से काहए महया वित्थरेण ।।

[५३] इस प्रकार (कर्मशत्रुओ के प्रति) उग्र एव दान्त (इन्द्रिय एव मन को वश मे करने वाले), महातपोधन, महाप्रतिज्ञ, महायशस्वी महामुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को (राजा श्रेणिक के अनुरोध से) बडे विस्तार से कहा ।

विवेचन—मेहावि—'मेधावी' शब्द साधक का विशेषण है । (२) श्रेणिक राजा के लिए 'मेधाविन् ! (हे बुद्धिमान् राजन् !), शब्द से सम्बोधन है ।[2]

संजम—सयम का अर्थ यहाँ यथाख्यातचारित्रात्मक सयम है ।

चरित्तमायारगुणन्निए—चारित्र का आचाररूप यानी आसेवनरूप गुण, अथवा गुण का अर्थ यहाँ प्रसगवश ज्ञान है । चारित्राचार एव (ज्ञानादि) गुणो से जो अन्वित हो वह 'चारित्राचार-गुणान्वित' है ।

महानियंठिज्जं—महानिर्ग्रन्थीयम्— महानिर्ग्रन्थो के लिए हितरूप महानिर्ग्रन्थीय ।[3]

---

१. '...... यथा चैषा आमिषगृद्धा पक्ष्यन्तरेभ्यो विपत्प्राप्तौ शोचते, न च तत कश्चित् विपत्प्रतीकार इति, एवमसावपि भोगरसगृद्ध ऐहिकामुष्मिकाऽनर्थप्राप्तौ, ततोऽस्य स्वपरपरित्राणाऽसमर्थत्वेनाऽनाथत्वमिति भाव ।" —वही, पत्र ४८०

२. (क) उत्तरा (अनुवाद विवेचन मुनि नथमलजी) भा १, पृ २७०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८०

३ महानिर्ग्रन्थेभ्यो हितम्—महानिर्ग्रन्थीयम् । —वही, पत्र ४८०

संतुष्ट एवं प्रभावित श्रेणिक राजा द्वारा महिमागानादि

५४ तुट्ठो य सेणिओ राया इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदंसियं ॥

[५४] (मुनि से सनाथ—अनाथ का रहस्य जान कर) राजा श्रेणिक सन्तुष्ट हुआ । हाथ जोड़ कर उसने इस प्रकार कहा—भगवन् ! अनाथता का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे सम्यक् प्रकार से समझाया ।

५५. तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

[५५] (राजा श्रेणिक)—हे महर्षि ! आपका मनुष्यजन्म सुलब्ध (-सफल) है, आपकी उपलब्धियाँ सफल है । आप सच्चे सनाथ और सबान्धव है, क्योंकि आप जिनेश्वरो के मार्ग मे स्थित है ।

५६. तं सि नाहो अणाहाणं सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥

[५६] हे सयत ! आप अनाथो के नाथ है, आप सभी जीवो के नाथ हैं । हे महाभाग ! मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ । मै आप से अनुशासित होने की (शिक्षाप्राप्ति की) इच्छा रखता हूँ ।

५७. पुच्छिऊण मए तुब्भं झाणविग्घो उ जो कओ ।
निमन्तिओ य भोगेहिं तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

[५७] मैंने आप से प्रश्न पूछ कर जो (आपके) ध्यान मे विघ्न डाला और भोगो के लिए आपको आमन्त्रित किया, उस सबके लिए मुझे क्षमा करे (सहन करे) ।

५८. एवं थुणित्ताण स रायसीहो अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो य सपरियणो य धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

[५८] इस प्रकार वह राज-सिह (श्रेणिक राजा) परमभक्ति के साथ अनगार-सिह की स्तुति करके अपने अन्त पुर (रानियो) तथा परिजनो सहित निर्मल चित्त होकर धर्म मे अनुरक्त हो गया ।

५९. ऊससिय—रोमकूवो काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा अइयाओ नराहिवो ॥

[५९] राजा (नराधिप) के रोमकूप (हर्ष से) उच्छ्वसित (-उल्लसित) हो गए । वह मुनि की प्रदक्षिणा करके और नतमस्तक होकर वन्दना करके लौट गया ।

विवेचन—लाभा सुलद्धा—सुन्दर वर्ण, रूप आदि की प्राप्तिरूप लाभ, अथवा धर्मविशेष की उपलब्धियो का अच्छा लाभ कमाया, क्योंकि ये उत्तरोत्तर गुणवृद्धि के कारण हैं ।

अणुसासिउं—मैं आपसे शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ ।

रायसीहो, अणगारसीहं—राजाओ मे अतिपराक्रमी होने से श्रेणिक को शास्त्रकार ने राज-

सिंह कहा है तथा कर्मविदारण करने मे अतीव पराक्रमी (शूरवीर) होने से मुनि को अनगार-सिंह कहा है ।[1]

उपसंहार

६०. इयरो वि गुणसमिद्धो तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥
—त्ति बेमि ॥

[६०] और वह मुनि भी (मुनि के २७) गुणो से समृद्ध, तीन गुप्तियो से गुप्त, तीन दण्डो से विरत पक्षी की तरह प्रतिबन्धमुक्त तथा मोहरहित हो कर भूमण्डल पर विचरण करने लगे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ महानिर्ग्रन्थीय : बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

1. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८०-४८१

इक्कीसवाँ अध्ययन : समुद्रपालीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत इक्कीसवे अध्ययन का नाम समुद्रपालीय (समुद्दपालीय) है । इसमे समुद्रपाल के जन्म से लेकर मुक्तिपर्यन्त की जीवनघटनाओ से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'समुद्रपालीय' रखा गया है ।

* भगवान् महावीर का एक विद्वान् तत्त्वज्ञ श्रावक शिष्य था—पालित । वह अगदेश की राजधानी चम्पापुरी का निवासी था । समुद्र मे चलने वाले बड़े-बडे जलपोतो के द्वारा वह अपना माल दूर-सुदूर देशो मे ले जाता और वहाँ उत्पन्न होने वाला माल लाता था । इस तरह उसका आयात-निर्यात व्यापार काफी अच्छा चलता था । एक बार जलमार्ग से वह पिहुण्ड नगर गया । वहाँ उसे व्यापार के निमित्त अधिक समय तक रुकना पडा । पालित की न्यायनीति, प्रामाणिकता, व्यवहारकुशलता आदि गुणो से आकृष्ट होकर वहाँ के एक स्थानीय श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया ।

* पालित अपनी पत्नी को साथ लेकर समुद्रमार्ग से चम्पा लौट रहा था । मार्ग मे जलपोत मे ही पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया । समुद्र मे जन्म होने के कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया । सुन्दर, सुशील समुद्रपाल यथासमय ७२ कलाओ में प्रवीण हो गया । उसके पिता ने 'रूपिणी' नामक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया । वह उसके साथ देवतुल्य कामभोगो का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहने लगा ।

* एक दिन अपने महल के गवाक्ष मे बैठा हुआ वह नगर की शोभा का निरीक्षण कर रहा था । तभी उसने राजमार्ग पर मृत्युदण्ड प्राप्त एक व्यक्ति को देखा, जिसे राजपुरुष वध्यभूमि की ओर ले जा रहे थे । उसे लाल कपडे पहनाए हुए थे, उसके गले मे लाल कनेर की मालाएँ पडी थी । उसके दुष्कर्म की घोषणा की जा रही थी । समुद्रपाल को समझते देर न लगी कि यह घोर अपराधी है । इसने जो दुष्कर्म किया है, उसका फल यह भोग रहा है । उसका चिन्तन आगे बढा—'जो जैसे भी अच्छे या बुरे कर्म करता है, उनका फल उसे देर-सबेर भोगना ही पडता है ।' इस प्रकार कर्म और कर्मफल पर गहराई से चिन्तन करते-करते उसका मन बन्धनो को काटने के लिए तिलमिला उठा और उसे यह स्पष्ट प्रतिभासित हो गया कि विषयभोगो और कषायो के कीचड मे पड कर तो मैं अधिकाधिक कर्मबन्धन से जकड़ जाऊंगा । अत. इन भोगो और कषायो के दलदल से निकलने का एकमात्र मार्ग है—निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म का पालन । उसका मन ससार के प्रति सवेग और वैराग्य से भर गया । उसने माता-पिता से अनुमति पाकर अनगारधर्म की दीक्षा ली । (गा १ से १० तक)

* इस अध्ययन के उत्तरार्द्ध मे (गा ११ से २३ तक) अनगारधर्म के मौलिक नियमो और साध्वाचार की महत्त्वपूर्ण चर्चा है। यथा—महाक्लेशकारी सग का परित्याग करे, व्रत, नियम, शील एवं साधुधर्म के पालन तथा परीषह-सहन मे अभिरुचि रखे. अहिंसादि पचमहाव्रतो का तथा जिनोक्त श्रुत-चारित्रधर्म का आचरण करे, सर्वभूतदया, सर्वेन्द्रियनिग्रह, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म तथा सावद्ययोगत्याग का सम्यक् आचरण एव शीतोष्णादि परीषहो को समभावपूर्वक सहन करे, राग-द्वेष-मोह का त्याग करके आत्मरक्षक बने। सर्वभूतत्राता मुनि पूजा-प्रतिष्ठा होने पर हृष्ट तथा गर्हा होने पर रुष्ट न हो, अरति-रति को सहन करे, आत्म-हितैषी साधक शोक, ममत्व, गृहस्थससर्ग आदि से रहित हो, अकिचन साधु समभाव एव सरलभाव रखे, सम्यग्दर्शनादि परमार्थ साधनो मे स्थिर रहे, साधु प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार की परिस्थितियो को समभाव से सहे, जो भी अच्छी वस्तु देखे या सुने उसकी चाह न करे, साधु समयानुसार अपने बलाबल को परख कर विभिन्न देशो मे विचरण करे, भयोत्पादक शब्द सुनकर भी घबराए नही, न असभ्य वचन सुनकर बदले मे असभ्य वचन कहे, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत भीषण उपसर्गों को सहन करे, संसार मे मनुष्यो के विविध अभिप्राय जानकर उन पर स्वय अनुशासन करे, निर्दोष, बीजादिरहित, ऋषियो द्वारा स्वीकृत विविक्त एकान्त आवास-स्थान का सेवन करे, अनुत्तर धर्म का आचरण करे, सम्यग्ज्ञान उपार्जन करे तथा पुण्य और पाप दोनो प्रकार के कर्मों का क्षय करने के लिए सयम मे निश्चल रहे और समस्त प्रतिबन्धो से मुक्त होकर ससार-समुद्र को पार करे।

* प्रस्तुत अध्ययन मे उस युग के व्यवहार (क्रय-विक्रय), वध्यव्यक्ति को दण्ड देने की प्रथा, वैवाहिक सम्बन्ध एव मुनिचर्या मे सावधानी आदि तथ्यो का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

* समुद्रपाल मुनि बनकर प्रस्तुत अध्ययन मे वर्णित साध्वाचारपद्धति के अनुसार विशुद्ध सयम का पालन करके, सर्वकर्मक्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस ध्येय से उसने मुनिधर्म ग्रहण किया था, उसको सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया।

□□

एगविंसइमं अज्झयणं : इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्दपालीयं : समुद्रपालीय

पालित श्रावक और पिहुण्ड नगर में व्यापारनिमित्त निवास

१. चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए ।
महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥

[१] चम्पानगरी मे 'पालित' नामक एक वणिक् श्रावक था। वह महान् आत्मा (विराट् पुरुष) भगवान् महावीर का (गृहस्थ-) शिष्य था।

२. निग्गन्थे पावयणे सावए से विकोविए ।
पोएण ववहरन्ते पिहुण्डं नगरमागए ॥

[२] वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन का विशिष्ट ज्ञाता था। (एक बार वह) पोत (जलयान) से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर मे आया।

विवेचन—सावए : श्रावक—श्रावक का सामान्य अर्थ तो श्रोता होता है, किन्तु यहाँ श्रावक शब्द विशेष अर्थ—श्रमणोपासक अर्थ मे प्रयुक्त है। भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्मसघ मे साधु और साध्वी—दो त्यागीवर्ग मे तथा श्रावक और श्राविका—दो गृहस्थवर्ग मे आते हैं। श्रावक देशविरति चरित्र का पालन करता है। श्रावकधर्म पालन के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, यो बारह व्रतो का विधान है।[1]

निग्गंथे पावयणे विकोविए—निर्ग्रन्थ सम्बन्धी प्रवचन का अर्थ निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर आदि से सम्बन्धित प्रवचन—सिद्धान्त या तत्त्वज्ञान का विशिष्ट ज्ञाता। बृहद्वृत्तिकार ने कोविद का प्रासगिक अर्थ किया है—जीवादि पदार्थों का ज्ञाता।[2]

पोएण ववहरंते—इससे प्रतीत होता है कि पालित श्रावक जलमार्ग से बडी-बडी नौकाओ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल का आयात-निर्यात करता था। उसी दौरान एक बार वह जलमार्ग से व्यापार करता हुआ उस समय व्यापार के लिए प्रसिद्ध पिहुण्ड नगर मे पहुँचा। वही उसने अपना व्यापार जमा लिया, यह आगे की गाथा से स्पष्ट है।[3]

---

१. (क) श्रावक का लक्षण एक प्राचीन श्लोक के अनुसार—

श्रद्धालुतां श्राति, शृणोति शासनं, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम् ।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८२ (ग) स्थानागसूत्र, स्थान ४।४।३६३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८२ विशेषेण कोविदः—विकोविद पण्डितः, कोऽर्थः ? विदितजीवादिपदार्थः।

३. वही, पत्र ४८२

पिहुण्ड नगर में विवाह, समुद्रपाल का जन्म

३. पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयरं ।
तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ।।

[३] पिहुण्ड नगर मे व्यवसाय करते समय उसे (पालित श्रावक को) किसी वणिक् ने अपनी पुत्री प्रदान की । कुछ समय के पश्चात् अपनी सगर्भा पत्नी को लेकर उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया ।

४. अह पालियस्स घरणी समुद्दंमि पसवई ।
अह दारए तहिं जाए 'समुद्दपालि' त्ति नामए ।।

[४] पालित श्रावक की पत्नी ने समुद्र मे ही पुत्र को जन्म दिया । वह बालक वही (समुद्र मे) जन्मा, इस कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया ।

विवेचन—वाणिओ देइ धूयरं—पिहुण्ड नगर मे न्यायनीतिपूर्वक व्यापार करते हुए पालित श्रावक के गुणो से आकृष्ट होकर वही के निवासी वणिक् ने उसे अपनी कन्या दे दी । अर्थात्—वणिक् ने अपनी कन्या का विवाह पालित के साथ कर दिया ।[1]

समुद्रपाल का संवर्द्धन, शिक्षण एवं पाणिग्रहण

५. खेमेण आगए चम्पं सावए वाणिए घरं ।
संवड्ढई घरे तस्स दारए से सुहोइए ।।

[५] वह वणिक् श्रावक क्षेमकुशलपूर्वक चम्पापुरी मे अपने घर आ गया । वह सुखोचित (सुखभोग के योग्य—सुकुमार) बालक उसके घर मे भलीभाति बढने लगा ।

६. बावत्तरिं कलाओ य सिक्खए नीइकोविए ।
जोव्वणेण य सपन्ने सुरूवे पियदंसणे ।।

[६] वह बहत्तर कलाओ मे शिक्षित तथा नीति मे निपुण हो गया । यौवन से सम्पन्न (होकर) वह 'सुरूप' और देखने मे प्रिय लगने लगा ।

७. तस्स रूववइं भज्जं पिया आणेइ रूविणीं ।
पासाए कीलए रम्मे देवो दोगुन्दओ जहा ।।

[७] उसके पिता ने उसके लिए 'रूपिणी' नाम की रूपवती पत्नी ला दी । वह (अपनी पत्नी के साथ) दोगुन्दक देव की भाति रमणीय प्रासाद मे क्रीडा करने लगा ।

विवेचन—समुद्रपाल का संवर्द्धन—प्रस्तुत गाथा ५-६ मे समुद्रपाल का सवर्द्धनक्रम का उल्लेख है । घर मे ही उसका लालन-पालन होता है, कुछ बड़ा होने पर वह कलाग्रहण के योग्य हुआ तो पिता ने उसे ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिलाया । कलाओ मे प्रशिक्षित होने के साथ ही नीति

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

(शास्त्र) मे पण्डित हो गया। युवावस्था आते ही पिता ने एक सुन्दर सुशील कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। पिता का एक मात्र लाडला पुत्र समुद्रपाल अपने महल में दिव्य क्रीडा करने लगा। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि पालित श्रावक ने समुद्रपाल को अभी तक व्यवसाय कार्य मे नही लगाया था।[1]

बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण—प्राचीन काल मे प्रत्येक सम्भ्रान्त नागरिक अपने पुत्र को ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिलाता था, जिससे वह प्रत्येक कार्य मे दक्ष और स्वावलम्बी बन सके। शास्त्रो मे यत्र-तत्र ७२ कलाओ का उल्लेख मिलता है।[2]

सुरूवे पियदंसणे—सुरूप का अर्थ है—आकृति और डीलडौल से सुन्दर तथा प्रियदर्शन का अर्थ है—सभी को आनन्द देने वाला।[3]

समुद्रपाल की विरक्ति और दीक्षा

८. अह अन्नया कयाई पासायालोयणे ठिओ।
वज्झमण्डणसोभागं वज्झं पासइ वज्झगं॥

[८] तत्पश्चात् एक दिन वह प्रासाद के आलोकन (अर्थात् झरोखे) मे बैठा था, (तभी) उसने वध्य के मण्डनो से शोभित एक वध्य (चोर) को नगर से बाहर (वधस्थल की ओर) ले जाते हुए देखा।

९. तं पासिऊण संविग्गो समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुभाण कम्माणं निज्जाणं पावगं इमं॥

[९] उसे देख कर संवेग को प्राप्त समुद्रपाल ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—अहो! (खेद है कि) अशुभकर्मों का यह पापरूप (—अशुभ—दुःखद) निर्याण-परिणाम है।

१०. संबुद्धो सो तहिं भगवं परं संवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो पव्वए अणगारियं॥

[१०] इस प्रकार वहाँ (गवाक्ष मे) बैठे हुए वह भगवान् (—माहात्म्यवान्) परम संवेग को प्राप्त हुआ और सम्बुद्ध हो गया। (फिर) उसने माता-पिता से पूछ कर, उनकी अनुमति लेकर अनगारिता (—मुनिदीक्षा) अंगीकार की।

विवेचन—वज्झमंडणसोभागं—वध्य—वध के योग्य व्यक्ति के मण्डनो—रक्तचन्दन, करवीर आदि से—शोभित। प्राचीन काल मे मृत्युदण्ड-योग्य व्यक्ति को लाल कपडे पहनाए जाते थे, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता, उसके गले मे लाल कनेर की माला पहनाई जाती थी

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३
२. बहत्तर कलाओ के लिये देखिये, 'समवायांग', समवाय ७२
३ बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

और उसे सारे नगर मे घुमाया जाता तथा उसको मृत्युदण्ड दिये जाने की घोषणा की जाती थी। इस प्रकार उसे वधस्थल की ओर ले जाया जाता था।[1]

बज्झगं—(१) **बाह्यगं**—नगर के बहिर्वर्त्ती वध्यप्रदेश की ओर ले जाते हुए, अथवा (२) **बध्यगम्**—वध्यभूमि की ओर ले जाते हुए।

संविग्गो—सवेग अर्थात् मुक्ति की अभिलाषा को प्राप्त—सविग्न।[2]

भगवं : तात्पर्य—'भगवान्' विशेषण समुद्रपाल के लिए यहाँ प्रयुक्त है, उसका यहाँ प्रासगिक अर्थ है—माहात्म्यवान्। भगवान् शब्द माहात्म्य अर्थ मे भी प्रयुक्त देखा गया है।[3]

महर्षि समुद्रपाल द्वारा आत्मा को स्वयं स्फुरित मुनिधर्मशिक्षा

११ जहित्तु संगं च महाकिलेसं महन्तमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा वयाणि सीलाणि परीसहे य॥

[११] दीक्षित होने पर मुनि महाक्लेशकारी महामोह और पूर्ण भयजनक सग (आसक्ति) का त्याग करके पर्यायधर्म (—चारित्रधर्म) मे, व्रत मे, शील मे और परीषहो मे (परीषहो को समभावपूर्वक सहने मे) निरत रहे।

१२. अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

[१२] तत्त्वज्ञ मुनि अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पच महाव्रतो को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. सव्वेहि भूएहि दयाणुकम्पी खन्तिक्खमे संजय बम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए॥

[१३] इन्द्रियो को सम्यक् रूप से वश करने वाला भिक्षु—(साधु) समस्त प्राणियो के प्रति दया से अनुकम्पाशील रहे, क्षमा से दुर्वचनादि सहन करने वाला हो, सयत (सयमशील) एव ब्रह्मचर्यधारी हो। वह सावद्ययोग (—पापयुक्त प्रवृत्तियो) का परित्याग करता हुआ विचरण करे।

१४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु॥

[१४] साधु यथायोग्य कालानुसार अपने बलाबल (शक्ति-अशक्ति) को जानकर राष्ट्रो मे

---

१ (क) वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तै शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकरस्त वध्यम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

(ख) "चोरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमान।" —सूत्रकृतांग, शीलाक. वृत्ति १।६ पत्र १५०

२. "बाह्यं नगरबहिर्वर्तिप्रदेश गच्छतीति बाह्यगस्तम्, कोऽर्थ ? बहिर्निष्क्रामन्त, यद्वा बध्यगम्—इह वध्यशब्देनोपचारात् वध्यभूमिरुक्ता।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

३. वही, पत्र ४८३

विहार करे । सिंह की भांति, भयोत्पादक शब्द सुन कर संत्रस्त न हो । अशुभ (या असभ्य) वचनयोग सुन कर बदले में असभ्य वचन न कहे ।

१५. उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा न यावि पूयं गरहं च संजए ॥

[१५] संयमी साधक प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे । वह प्रिय और अप्रिय (अर्थात्—अनुकूल और प्रतिकूल) सब (परीषहों) को सहन करे । सर्वत्र सबकी अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा दोनों पर भी ध्यान न दे ।

१६. अणेगछन्दा इह माणवेहिं जे भावओ संपगरेइ भिक्खू ।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥

[१६] इस ससार मे मनुष्यो के अनेक प्रकार के छन्द (अभिप्राय) होते है । (कर्मवशगत) भिक्षु भी जिन्हे (अभिप्रायो को) भाव (मन) से करता है । अत. उसमे (साधुजीवन मे) भयोत्पादक होने से भयानक तथा अतिरौद्र (भीम) देवसम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी और तिर्यञ्चसम्बन्धी उपसर्गों को सहन करे ।

१७. परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा ।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू संगामसीसे इव नागराया ॥

[१७] अनेक दुर्विषह (दु ख से सहे जा सके, ऐसे) परीषह प्राप्त होने पर बहुत से कायर मनुष्य खिन्न हो जाते हैं । किन्तु भिक्षु परीषह प्राप्त होने पर सग्राम मे आगे रहने वाले नागराज (हाथी) की तरह व्यथित (क्षुब्ध) न हो ।

१८. सीओसिणा दंसमसा य फासा आयंका विविहा फुसन्ति देहं ।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं ॥

[१८] शीत, उष्ण, दश-मशक तथा तृणस्पर्श और अन्य विविध प्रकार के आतक जब साधु के शरीर को स्पर्श करे, तब वह कुत्सित शब्द न करते हुए समभाव से उन्हे सहन करे और पूर्वकृत कर्मों (रजो) का क्षय करे ।

१९. पहाय रागं च तहेव दोसं मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो ।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥

[१९] विचक्षण साधु राग और द्वेष को तथा मोह को निरन्तर छोड़ कर वायु से अकम्पित रहने वाले मेरुपर्वत के समान आत्मगुप्त बन कर परीषहो को सहन करे ।

२०. अणुन्नए नावणए महेसी न यावि पूयं गरहं च संजए ।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥

[२०] पूजा-प्रतिष्ठा मे (गर्व से) उत्तुग और गर्हा में अधोमुख न होने वाला सयमी महर्षि पूजा और गर्हा मे आसक्त न हो । वह समभावी विरत सयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाणमार्ग के निकट पहुँच जाता है ।

**२१. अरइरइसहे पहीणसंथवे विरए आयहिए पहाणवं ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥**

[२१] जो अरति और रति को सहन करता है, ससारी जनो के परिचय (ससर्ग) से दूर रहता है, विरत है, आत्महित का साधक है, प्रधान (सयम) वान् है, शोकरहित है, ममत्व-रहित है, अकिंचन है, वह परमार्थ पदो (-सम्यग्दर्शन आदि साधनो) मे स्थित होता है ।

**२२. विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई निरोवलेवाइ असंथडाइं ।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥**

[२२] त्राता (प्राणियो का रक्षक) साधु महान यशस्वी ऋषियो द्वारा आसेवित, लेपादि कर्म से रहित, असंसृत (-बीज आदि से रहित), विविक्त (एकान्त) लयनो (स्थानो) का सेवन करे और शरीर से परीषहो को सहन करे ।

**२३. सन्नाणनाणोवगए महेसी अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं ।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी ओभासई सूरिए वऽन्तलिक्खे ॥**

[२३] अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) धर्मसचय का आचरण करके सद्ज्ञान (श्रुतज्ञान) से तत्त्व को उपलब्ध करने वाला अनुत्तर ज्ञानधारी यशस्वी महर्षि मुनिवर अन्तरिक्ष मे सूर्य के समान धर्मसघ मे प्रकाशमान होता है ।

विवेचन—शास्त्रकार द्वारा उपदेश अथवा आत्मानुशासन ?—गाथा ११ से २३ तक प्रस्तुत १३ गाथाओ मे शास्त्रकार ने जो महर्षि समुद्रपाल के सन्दर्भ मे मुनिधर्म का निरूपण किया है, वह क्या है ? इसके लिए बृहद्वृत्तिकार सूचित करते है कि शास्त्रीय सम्पादन के न्याय से ये गाथाएँ साधुधर्म को बताने के लिए उपदेश रूप है, अथवा महर्षि समुद्रपाल द्वारा स्वयमेव अपनी आत्मा को लक्ष्य करके शिक्षा (अनुशासन) दी गई है । यथा—हे आत्मन् ! पूर्ण भयावह सग का परित्याग कर प्रव्रज्या धर्म मे अभिरुचि कर, इत्यादि ।[1]

जहित्तु संगं०—सग अर्थात्—स्वजनादि प्रतिबन्ध, जो कि महाक्लेशकर है तथा महामोह, जो कि कृष्णलेश्या के परिणाम का हेतु होने से कृष्णरूप एव भयानक है; इन दोनो को छोड़ कर · ·· ।[2]

परियायधम्मं—'पर्याय' का अर्थ यहाँ प्रसगवश 'प्रव्रज्यापर्याय' किया गया है । उसमे जो धर्म है, अर्थात्—मुनिदीक्षावस्था मे जो धर्म पालनीय है, उसमे अभिरुचि कर । यहाँ 'व्रत' से मूल-गुणरूप पच महाव्रत और 'शील' से उत्तरगुणरूप पिण्डविशुद्धि एव परीषहसहन आदि साधुजीवन मे पालनीय श्रुतचारित्ररूप धर्म का ग्रहण किया गया है ।[3]

---

१ "उपदेशरूपतां च तन्त्रन्यायेन ख्यापयितुमित्थ प्रयोग , यद्वाऽऽत्मानमेवायमनुशास्ति—यथा—हे आत्मन् ! सग त्यक्त्वा प्रव्रज्याधर्ममभिरोचयेद् भवान् । एवमुत्तरक्रियास्वपि यथासम्भव भावनीयम् ।"

—बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५

२. वही, पत्र ४८५

३. "परियाय त्ति प्रक्रमात् प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्मं पर्यायधर्मं ।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५

दयाणुकंपी : अर्थ—हितोपदेशादि दानात्मिका अथवा प्राणि-रक्षणरूपा दया से अनुकम्पनशील।

खंतिखमे : क्षान्तिक्षम—अशक्ति से नही, किन्तु क्षमा से जो विरोधियो या प्रतिकूल व्यक्तियो आदि द्वारा कहे गए दुर्वचनो—अपशब्दो आदि को सहता है।[1]

अभिप्राय—गाथा १२ वी द्वारा मूलगुणो के आचरण का तथा गाथा १३ वी से २३ वी तक विविध पहलुओ से मूलगुण रक्षणोपाय का प्रतिपादन किया गया है।[2]

रट्ठे : राष्ट्रे—प्रस्तुत प्रसग मे 'राष्ट्र' का अर्थ 'मण्डल' किया गया है। अर्थात्—कुछ गावो का समूह, जिसे वर्तमान मे 'तहसील' या 'जिला' कहते हैं।[3]

बलाबलं जाणिय अप्पणो य—अपने बलाबल अर्थात् सहिष्णुता-असहिष्णुता को जान कर, जिससे अपने सयमयोग की हानि न हो।[4]

वयजोग सुच्चा—असभ्य अथवा दु.खोत्पादक वचनप्रयोग सुन कर।[5]

न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा : दो व्याख्या—बृहद्वृत्ति के अनुसार—(१) जो कुछ भी देखे, उसकी अभिलाषा न करे, अथवा (२) एक अवसर पर पुष्टालम्बनत (विशेष कारणवश अपवादरूप मे) जिसका सेवन किया, उसका सर्वत्र सेवन करने की इच्छा न करे।[6]

न याऽविपूय गरहं च संजए : दो व्याख्या—(१) पूजा और गर्हा मे भी अभिरुचि न रखे। यहाँ पूजा का अर्थ अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार आदि है तथा गर्हा का अर्थ—परनिन्दा से है। कई लोग गर्हा का अर्थ—आत्मगर्हा या हीनभावना करके उससे कर्मक्षय मानते है, उनके मत का खण्डन करने हेतु यहाँ गर्हा परनिन्दा रूप अर्थ मे ही लेना चाहिए। (२) १५ वी गाथा की तरह २० वी गाथा मे भी यही पक्ति अकित है, वहाँ दूसरी तरह से बृहद्वृत्तिकार ने अर्थ किया है—अपनी पूजा के प्रति उन्नत और अपनी गर्हा के प्रति अवनत न होने वाला मुनि पूजा और गर्हा मे लिप्त (आसक्त) न हो। बृहद्वृत्ति मे इन दोनो पक्तियो के अभिप्राय मे अन्तर बताया गया है कि पहले अभिरुचि का निषेध बताया गया था, यहाँ सग (आसक्ति) का।[7]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५ "सर्वेषु अशेषेषु प्राणिषु दयया—हितोपदेशादिदानात्मिकया रक्षणरूपया वाऽनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी। " "'क्षान्त्या, न त्वशक्तया क्षमते प्रत्यनीकाद्युदीरितदुर्वचनादिक सहते इति क्षान्तिक्षम।"

२ वही, पत्र ४८५-४८६

३. 'राष्ट्रे—मण्डले।' —वही, पत्र ४८६

४ वही, पत्र ४८६

५. वाग्योगम्—अर्थाद्—दु खोत्पादकम्, सोच्चा—श्रुत्वा। —वही, पत्र ४८६

६ न सर्व वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत, न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भाव। यदि वा यदेकत्र पुष्टा-लम्बनत सेवित, न तत् सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान्।

७ ' " "'पूर्वत्राभिरुचिनिषेध उक्त, इह तु सगस्येति पूर्वस्माद् विशेष।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६-४८७

पहीणसंथवे—संस्तव अर्थात् गृहस्थो के साथ अति-परिचय, दो प्रकार का है—(१) पूर्व-पश्चात्-सस्तवरूप अथवा (२) वचन-सवासरूप । जो सस्तव से रहित है, वह प्रहीणसस्तव है ।[1]

पहाणवं : प्रधानवान्—प्रधान का अर्थ यहाँ सयम है, क्योकि वह मुक्ति का हेतु है । इसलिए प्रधानवान् का अर्थ संयमी—सयमशील होता है ।[2]

परमट्ठपएहिं—परमार्थपदैं —परमार्थ का अर्थ प्रधान पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है, वह जिन पदो—साधनो या मार्गों से प्राप्त किया जाता है, वे परमार्थपद है—सम्यग्दर्शनादि । उनमे जो स्थित है ।[3]

छिन्नसोए—(१) **छिन्नशोक**—शोकरहित, (२) **छिन्नस्रोत**—मिथ्यादर्शनादि कर्मबन्धन-स्रोत जिसके छिन्न हो गए है, वह ।[4]

निरोवलेवाइं— 'निरुपलेपानि' विशेषण 'लयनानि' शब्द का है । बृहद्वृत्तिकार ने इसके दो दृष्टियो से अर्थ किए है—द्रव्यत लेपादि कर्म से रहित और भावत आसक्तिरूप उपलेप से रहित ।[5]

सन्नाणनाणोवगए—सद्ज्ञानज्ञानोपगत : दो अर्थ—(१) सद्ज्ञान यहाँ श्रुतज्ञान अर्थ मे है । अर्थ हुआ—श्रुतज्ञान से यथार्थ क्रियाकलाप के ज्ञान से उपगत—युक्त । (२) अथवा सन्नानाज्ञानोपगत—सगत्याग, पर्यायधर्म, अभीष्ट तत्त्वावबोध, इत्यादि अनेक प्रकार (अनेकरूप) शुभ ज्ञानो से उपगत—युक्त ।[6]

अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा—शीतोष्णादि परीषह आएँ, उस समय किसी प्रकार का विलाप या प्रलाप किये विना, कर्कश शब्द कहे विना अथवा निमित्त को कोसे विना या किसी को गाली या अपशब्द कहे विना सहन करे ।[7]

आयगुत्ते—आत्मगुप्त—कछुए की तरह अपने समस्त अगो को सिकोड कर परीषह सहन करे । प्रस्तुत गाथा (१६) मे परीषहसहन करने का उपाय बताया गया है ।[8]

१ '' 'सस्तवश्च पूर्वपश्चात्सस्तवरूपो वचनसवासरूपो वा गृहिभि सह । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७

२. '''' ''प्रधान स च सयमो मुक्तिहेतुत्वात्, स यस्यास्त्यसौ प्रधानवान् । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७

३ परमः प्रधानोऽर्थ पुरुषार्थो—परमार्थो—मोक्षः, स पद्यते—गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि—सम्यग्दर्शनादीनि, तेषु तिष्ठति—अविराधकतयाऽऽस्ते । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७

४ ''छिन्नसोय त्ति छिन्नशोक , छिन्नानि वा स्रोतासीव स्रोतासि—मिथ्यादर्शनादीनि येनाऽसौ छिन्नस्रोता ।'' —वही, पत्र ४८७

५ निरोवलेवाइ ति—निरुपलेपानि—अभिष्वगरूपोपलेपवर्जितानि भावतो, द्रव्यतस्तु तदर्थं नोपलिप्तानि । —वही, पत्र ४८७

६ सद्ज्ञानमिह श्रुतज्ञान, तेन ज्ञान—अवगम , प्रक्रमात् यथावत् क्रियाकलापस्य तेनोपगतो—युक्तो, सद्ज्ञानज्ञानोपगत , सन्ति शोभनानि नानेत्यनेकरूपाणि ज्ञानानि—सगत्याग-पर्यायधर्माभिरुचितत्त्वावबोधात्मकानि तैरुपगत —सन्नानाज्ञानोपगत । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६,

८. 'आत्मना गुप्त आत्मगुप्त —कूर्मवत् सकुचितसर्वांग ।' —वही, पत्र ४८६

उपसंहार

२४. दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥
—त्ति बेमि ॥

[२४] समुद्रपाल मुनि पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) दोनो ही प्रकार के कर्मों का क्षय करके, (संयम में) निरगन (—निश्चल) और सब प्रकार से विमुक्त होकर समुद्र के समान विशाल संसार-प्रवाह (महाभवौघ) को तैर कर अपुनरागमस्थान (—मोक्ष) में गए ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—दुविहं—दो भेद वाला—घाती कर्म और अघाती कर्म, इस प्रकार द्विविध, अथवा पुण्य-पाप—शुभाशुभ रूप द्विविध कर्म ।

निरंगणे—(१) निरंगन—संयम के प्रति निश्चल—शैलेशीअवस्था प्राप्त । अथवा (२) निरञ्जन—कर्मसंगरहित ।

समुद्दं व महाभवोहं—समुद्र के समान अतिदुस्तर, महान्, भवौघ देवादिभवसमूह को तैर कर ।[1]

॥ समुद्रपालीय : इक्कीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७-४८८

बाईसवाँ अध्ययन : रथनेमीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम रथनेमीय (रहनेमिज्ज) है। इस अध्ययन मे रथनेमि से सम्बन्धित वर्णन मुख्य होने से इसका नाम 'रथनेमीय' रखा गया है।

* वैसे इस अध्ययन के पूर्वार्द्ध मे राजा समुद्रविजय के ज्येष्ठ पुत्र अरिष्टनेमि तथा उनके गुणो, लक्षणो, उनकी राजीमती से हुई सगाई, बरात का प्रस्थान, बाडे पिंजरे मे बंद पशुपक्षियो को देख कर करुणा, अविवाहित ही लौट कर आर्हती दीक्षा का ग्रहण, राजीमती की शोकमग्नता तथा नेमिनाथ के पथ का अनुसरण करके साध्वीदीक्षाग्रहण आदि का वर्णन है, जो कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि और महासती राजीमती से सम्बन्धित होने के कारण प्रासंगिक है।

* अरिष्टनेमि की पूर्वकथा इस प्रकार है—व्रजमण्डल के सोरियपुर (शौर्यपुर) के राजा समुद्रविजय थे। उनकी रानी का नाम शिवादेवी था। उनके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि। वसुदेव समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई थे। उनकी दो रानियाँ थी—रोहिणी और देवकी। रोहिणी का पुत्र 'बलराम' और देवकी का पुत्र था—केशव।

उस समय मथुरा नगरी मे वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने जरासन्ध की पुत्री जीवयशा के पति 'कस' को मार दिया था। इससे क्रुद्ध होकर जरासन्ध यदुवंशियो को नष्ट करने पर उतारू हो रहा था। जरासन्ध के आक्रमण के कारण सभी यादववंशीय व्रजमण्डल छोडकर पश्चिम समुद्र के तट पर आए। वहाँ द्वारकानगरी का निर्माण कर विशाल साम्राज्य की नींव डाली। इस राज्य के नेता श्रीकृष्ण वासुदेव हुए। श्री कृष्ण ने समस्त यादवो की सहायता से प्रतिवासुदेव जरासन्ध को मार कर भरतक्षेत्र के तीनो खण्डो पर अपना आधिपत्य कर लिया।

अरिष्टनेमि प्रतिभासम्पन्न, बलिष्ठ एव तेजस्वी युवक थे, किन्तु सासारिक भोगवासना से विरक्त थे। एक बार समुद्रविजय ने श्रीकृष्ण से कहा—'वत्स! ऐसा कोई उपाय करो, जिससे अरिष्टनेमि विवाह कर ले।' श्रीकृष्ण ने वसन्तमहोत्सव के अवसर पर सत्यभामा, रुक्मणी आदि को इस विषय मे प्रयत्न करने के लिए कहा। श्रीकृष्ण ने भी उनसे अनुरोध किया तो भी वे मौन रहे। 'मौन सम्मतिलक्षणम्', इस न्याय के अनुसार विवाह की स्वीकृति मानकर श्रीकृष्ण ने भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ कर विवाह की बातचीत की। उग्रसेन ने इसे अनुग्रह मान कर स्वीकार कर लिया। दोनो ओर विवाह की तैयारियाँ होने लगी। अरिष्टनेमि को दूल्हा बना कर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित किया गया। श्रीकृष्ण बहुत बडी बरात के साथ श्रीअरिष्टनेमि को लेकर राजा उग्रसेन की राजधानी मे विवाहमण्डप के निकट पहुँचे। इसी समय अरिष्टनेमि ने बाडो और पिजरो मे अवरुद्ध पशुपक्षियो का आर्त्तनाद सुना। सारथि से पूछा तो उसने कहा—'आपके विवाह के उपलक्ष्य मे भोज दिया जाएगा, उसी के लिए ये पशुपक्षी यहाँ बद किए गए हैं।'

अरिष्टनेमि ने करुणार्द्र होकर सारथि को संकेत किया, सभी पशुपक्षी बन्धनमुक्त कर दिये गए। अरिष्टनेमि वापस लौट गए।

बरातियो मे कोलाहल मच गया। सभी प्रमुख यादव अरिष्टनेमि को समझाने लगे। अरिष्टनेमि ने सबको समझाया और वे अपने निर्णय पर अटल रहे। नेमिनाथ को वापस लौटते देख कर राजीमती मूर्च्छित और शोकमग्न हो गई। वह विलाप करने और नेमिनाथ को उपालम्भ देने लगी। सखियो ने दूसरे यादवकुमारो के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। स्वय रथनेमि ने राजीमती के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा, परन्तु राजीमती ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। रथनेमि साधु बन गए। अन्त मे राजीमती पतिव्रता नारी की तरह अरिष्टनेमि के महान् संयमपथ का अनुसरण करने को तैयार हो गई। अरिष्टनेमि को केवलज्ञान होते ही राजीमती अनेक राजकन्याओ के साथ दीक्षित हुई।

* भगवान् अरिष्टनेमि एक बार रैवतक पर्वत पर विराजमान थे। राजीमती आदि साध्वियाँ उनके दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थी, किन्तु मार्ग मे ही आँधी और वर्षा के कारण सभी साध्वियाँ तितर-बितर हो गईं। राजीमती अकेली एक[1] गुफा मे पहुँची। सुरक्षित स्थान देख उसने शरीर पर से गीले कपडे उतारे और सूखने के लिए फैलाए। वही रथनेमि ध्यानलीन थे, उन्होने राजीमती को निर्वस्त्र देखा तो मन चचल हो उठा। राजीमती के समीप आये, त्यो ही उसने अपनी बाहुओ से अपने वक्षस्थल आदि का संगोपन कर लिया। रथनेमि ने सती के समक्ष सासारिक भोग भोगने का और ढलती उम्र मे पुनः सयम लेने का प्रस्ताव रखा, किन्तु राजीमती ने कुल और शील की मर्यादाओ का उल्लेख करते हुए अपनी जोशीली वाणी से रथनेमि को समझाया और सयमपथ पर स्थिर किया। राजीमती के ओजस्वी बोधवचनो से रथनेमि उसी प्रकार नियन्त्रित हो गए, जिस प्रकार अंकुश से हाथी नियन्त्रित हो जाता है। अन्ततोगत्वा रथनेमि प्रभु अरिष्टनेमि से प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध हुए। राजीमती और रथनेमि दोनो विशुद्ध सयम पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

* प्रस्तुत अध्ययन के उत्तरार्द्ध मे रथनेमि को राजीमती द्वारा दिया गया बोधवचन संकलित है, जिसका उल्लेख "दशवैकालिकसूत्र" के द्वितीय अध्ययन मे[2] भी है। यह बोधवचन इतना प्रभावशाली एव प्रेरणादायक है कि सयमपथ से भ्रष्ट होते हुए साधक को जागृत एव सावधान कर देता है, भोगवासना को सहसा नियन्त्रित कर देता है, पवित्र कुल का स्मरण करा कर साधक को वह भटकने से बचाता है। प्रत्येक साधक के लिए यह प्रकाशस्तम्भ है, जो उसकी जीवन-नौका को भोगवासना की चट्टानो से टकराने से बचाता है। यह बोधवचन शाश्वत सत्य है, अजर-अमर है। □□

---

१. 'वह गुफा आज भी 'राजीमतीगुफा' के नाम से प्रसिद्ध है।' —विविधतीर्थकल्प, पृ ६

२. दशवैकालिक अ २, गा. ६ से ११ तक

बाइसमं अज्झयणं : बाईसवाँ अध्ययन

रहनेमिज्जं : रथनेमीय

तीर्थंकर अरिष्टनेमि का परिचय

१. सोरियपुरंमि नयरे आसि राया महिड्ढिए ।
वसुदेवे त्ति नामेणं राय—लक्खण—संजुए ।।

[१] सोरियपुर नगर मे महान् ऋद्धि से सम्पन्न तथा राजा के लक्षणो (चिह्नो तथा गुणो) से युक्त वसुदेव नाम का राजा था ।

२. तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा ।
तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता इट्ठा य राम-केसवा ।।

[२] उसकी दो पत्नियाँ (भार्याएँ) थीं—रोहिणी और देवकी । उन दोनो के भी क्रमश दो वल्लभ पुत्र थे—राम (बलदेव) और केशव (कृष्ण) ।

३. सोरियपुरंमि नयरे आसी राया महिड्ढिए ।
समुद्दविजए नामं राय—लक्खण—संजुए ।।

[३] (उसी) सोरियपुर नगर में महान् ऋद्धि से सम्पन्न राज-लक्षणो से युक्त समुद्रविजय नाम का राजा था ।

४. तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो ।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ।।

[४] उसकी शिवा नाम की पत्नी थी, जिसके पुत्र महायशस्वी, जितेन्द्रियो मे श्रेष्ठ, लोकनाथ भगवान् अरिष्टनेमि थे ।

५. सोऽरिट्ठनेमि-नामो उ लक्खणस्सर-संजुओ ।
अट्ठ सहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ।।

[५] वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों से सम्पन्न थे । एक हजार आठ शुभ लक्षणो के भी धारक थे । उनका गोत्र गौतम था और वह वर्ण से श्याम थे ।

विवेचन—सोरियपुरंमि नयरे : तीन रूप (१) सोरियपुर, (२) शौर्यपुर अथवा (३) सौरीपुर । वर्तमान में आगरा से लगभग ४२ मील दूर बटेश्वर तीर्थ है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है । बटेश्वर के निकट ही भगवान् अरिष्टनेमि का जन्मस्थान (वर्तमान में) सौरीपुर है । प्रस्तुत गाथा १ और ३

दोनों में जो सोरियपुर का उल्लेख है, वह समुद्रविजय और वसुदेव दोनो का एक ही जगह निवास था, यह बताने के लिए है ।[1]

वसुदेव आदि का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में क्यों ? यहाँ रथनेमि के सम्बन्धित वक्तव्यता मे वह किसके तीर्थ मे हुआ ? इस प्रसग से भगवान् अरिष्टनेमि का तथा उनके विवाह आदि में उपयोगी एव उपकारी केशव (श्रीकृष्ण) आदि का उनके पूर्व उत्पन्न होने से पहले उल्लेख किया गया है ।[2]

रायलक्खण संजुए : तीन अर्थ—प्रस्तुत दो गाथाओ मे 'राजलक्षणो से युक्त' शब्द प्रथम 'वसुदेव' का विशेषण है और द्वितीय समुद्रविजय का । प्रथम राजलक्षणसम्पन्न के दो अर्थ हैं—(१) सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार राजा के हाथ और चरणतल मे चक्र, स्वस्तिक, अकुश आदि लक्षण (चिह्न) होते हैं तथा (२) गुणो की दृष्टि से राजा के लक्षण हैं—धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, त्याग, सत्य, शौर्य आदि । वसुदेव इन दोनो प्रकार के राजलक्षणो से युक्त थे । द्वितीय राजलक्षणसम्पन्न के प्रथम दो अर्थों के अतिरिक्त एक अर्थ और भी है—छत्र, चामर, सिंहासन आदि राजचिह्नो से सुशोभित ।[3]

दमीसरे—दमन अर्थात् उपशमन करने वालो के ईश्वर अर्थात् नायक—अग्रणी । अरिष्टनेमि कुमार कौमार्यावस्था से ही अत्यन्त उपशान्त तथा जितेन्द्रिय थे । कुमारावस्था मे ही उन्होंने कामवासना का दमन कर लिया था ।[4]

लक्खणस्सरसंजुओ—(१) स्वर के सुस्वरत्व, गाम्भीर्य, सौन्दर्य आदि लक्षणों से युक्त, (२) अथवा (मध्यमपदलोपी समास से) उक्त लक्षणोपलक्षित स्वर से सयुक्त ।[5]

अट्ठसहस्सलक्खणधरो—वृषभ, सिंह, श्रीवत्स, शख, चक्र, गज, समुद्र आदि एक हजार आठ शुभसूचक चक्रादि लक्षणो का धारक । तीर्थंकर और चक्रवर्ती के १००८ लक्षण होते है ।[6]

राजीमती के साथ वाग्दान, बरात के साथ प्रस्थान

६. वज्जरिसहसंघयणो समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमइं कन्नं भज्जं जायइ केसवो ॥

[६] वह वज्र-ऋषभ-नाराचसहनन और समचतुरस्रसस्थान वाले थे । मछली के उदर जैसा उनका (कोमल) उदर था । राजीमती कन्या को उसकी भार्या बनाने के लिए वासुदेव (केशव) ने (राजा उग्रसेन से) उसकी याचना की ।

---

१ (क) जैनतीर्थों का इतिहास (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

३. (क) राजेव राजा तस्य लक्षणानि चक्रस्वस्तिकांकुशादीनि, त्यागसत्यशौर्यादीनि वा तैः सयुतो—युक्त ।
(ख) इह च राजलक्षणसयुत इत्यत्र राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

४. दमिन.—उपशमिनस्तेषामीश्वर —अत्यन्तोपशमवत्तया नायको दमीश्वरः । कौमार एव क्षतमारवीर्यत्वात्तस्य ।
—वही, पत्र ४८९

५. वही, पत्र ४८९

६. वही, पत्र ४८९

७. अह सा रायवर-कन्ना सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा ॥

[७] वह (उग्रसेन) राजा की श्रेष्ठ कन्या सुशीला, चारुप्रेक्षिणी (सुन्दर दृष्टि वाली) तथा समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न थी, उसके शरीर की प्रभा (-कान्ति) चमकती हुई विद्युत् की प्रभा के समान थी ।

८. अहाह जणओ तीसे वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छउ कुमारो जा से कन्नं दलामऽहं ॥

[८] (याचना करने के पश्चात्) उस (राजीमती) के पिता ने महान् ऋद्धिशाली वासुदेव से कहा—'(नेमि) कुमार यहाँ आएँ तो मैं अपनी कन्या उन्हें प्रदान करूँगा ।'

९. सव्वोसहीहि ण्हविओ कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ आभरणेहिं विभूसिओ ॥

[९] (इसके पश्चात्) अरिष्टनेमि को समस्त औषधियों के जल से स्नान कराया गया, (यथाविधि) कौतुक और मंगल किये गए; दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और अलंकारों से विभूषित किया गया ।

१०. मत्तं च गन्धहत्थिं वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं सिरे चूडामणी जहा ॥

[१०] वे दूल्हा के रूप में वासुदेव के सबसे बड़े मत्त गन्धहस्ती पर जब आरूढ हुए (चढे) तो मस्तक पर चूडामणि के समान अत्यधिक सुशोभित हुए ।

११. अह ऊसिएण छत्तेण चामराहि य सोहिए ।
दसारचक्केण य सो सव्वओ परिवारिओ ॥

[११] तत्पश्चात् वे अरिष्टनेमि मस्तक पर धारण किये हुए ऊँचे छत्र से तथा (ढुलाते हुए) चामरों से सुशोभित थे और दशार्हचक्र (यदुवंश के प्रसिद्ध क्षत्रियों के समूह) से चारों ओर से परिवृत (घिरे हुए) थे ।

१२. चउरंगिणीए सेनाए रइयाए जहक्कमं ।
तुरियाण सन्निनाएण दिव्वेण गगणं फुसे ॥

[१२] चतुरंगिणी सेना यथाक्रम से नियोजित की गई थी, वाद्यों का गगनस्पर्शी दिव्य निनाद होने लगा ।

१३. एयारिसीए इड्ढीए जुईए उत्तिमाइ य ।
नियगाओ भवणाओ निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥

[१३] ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति सहित वह वृष्णिपुंगव (अरिष्टनेमि) अपने भवन से निकले ।

विवेचन—वज्रऋषभनाराचसंहनन—सहनन जैनसिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—अस्थिबन्धन। समस्त जीवों का सहनन ६ कोटि का होता है—(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलक और (६) असप्राप्तसृपाटिका। सर्वोत्तम सहनन वज्रऋषभनाराच है, जो उत्तम पुरुषो का होता है। वज्रऋषभनाराच सहनन वज्र-सा सुदृढ अस्थिबन्धन होता है, जिसमे शरीर के सधि अगो की दोनो हड्डियाँ परस्पर आटी लगाए हुए हो, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन—लपेट हो और चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद रही हो। यहाँ कीलक के आकार वाली हड्डी का नाम वज्र है, पट्टाकार हड्डी का नाम ऋषभ है और उभयत: मर्कटबन्ध का नाम नाराच है, इनसे शरीर की जो रचना होती है, वह वज्रऋषभनाराच है।

समचतुरस्रसंस्थान—सस्थान का अर्थ है—शरीर का आकार (ढाचा)। सस्थान भी ६ प्रकार के होते है—(१) समचतुरस्र, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल, (३) सादि, (४) वामन, (५) कुब्जक और (६) हुण्डक।

पालथी मार कर बैठने पर चारो कोण सम हो तो वह **समचतुरस्र** नामक सर्वश्रेष्ठ सस्थान है।[1]

अरिष्टनेमि के लिए केशव द्वारा राजीमती की याचना की पृष्ठभूमि—कथा इस प्रकार है—एक बार अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण की आयुधशाला मे जा पहुँचे। उन्होने धनुष और गदा को अनायास ही उठा लिया और जब पाञ्चजन्य शख फूका तब तो चारो ओर तहलका मच गया। श्रीकृष्ण भी क्षुब्ध हो उठे और जब उन्होने यह सुना कि यह शख अरिष्टनेमि ने बजाया है, तब आशकित हो उठे कि कही नेमिकुमार हमारा राज्य न ले ले। बलभद्र ने इस शका का निवारण भी किया, फिर भी कृष्ण शकाशील बने रहे। उन्होने एक दिन नेमिकुमार से शौर्यपरीक्षण के लिए युद्ध करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु नेमिकुमार ने कहा—बलपरीक्षण तो बाहुयुद्ध से भी हो सकता है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की भुजा को उन्होने अनायास ही नमा दिया, किन्तु श्रीकृष्ण नेमिकुमार के भुजदण्ड को नही नमा सके। इसके पश्चात एक दिन श्रीसमुद्रविजय ने श्रीकृष्ण से नेमिकुमार को विवाह के लिए सहमत करने को कहा। उन्होने अपनी पटरानियो से वसन्तोत्सव के दिन विवाह के लिए मनाने को कहा। आठो ही पटरानियो ने क्रमश नेमिकुमार को विभिन्न युक्तियो से विवाह करने के लिए अनुरोध किया, मगर वे मौन रहे। फिर बलदेव और श्रीकृष्ण ने भी विवाह कर लेने का आग्रह किया। अरिष्टनेमि के मदहास्य को सबने विवाह की स्वीकृति का लक्षण माना।

श्रीसमुद्रविजय भी यह शुभ सवाद सुन कर आनन्दित हो उठे। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं उग्रसेन के पास गए और राजीमती का अरिष्टनेमि के साथ विवाह कर देने की प्रार्थना की। श्री उग्रसेन को यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होने श्रीकृष्ण की याचना इस शर्त पर स्वीकार कर ली कि यदि अरिष्टनेमि कुमार मेरे यहाँ पधारे तो मैं अपनी कन्या का उनके साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना स्वीकार करता हूँ। उग्रसेन की स्वीकृति पाते ही श्रीकृष्ण ने क्रोष्ठिकी नैमित्तिक से विवाह का मुहूर्त्त निकलवाया। विवाहमुहूर्त्त निश्चित होते ही श्रीकृष्ण ने सारी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं, जिसका वर्णन मूलपाठ मे है।[2]

---

१ (क) प्रज्ञापना पद २३।२, सूत्र २९३ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भाग ३, पृ ७३७

२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ ७३९ से ७५६ तक का सारांश (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

दिव्वजुयलपरिहिओ—प्राचीनकाल मे दो ही वस्त्र पहने जाते थे—एक अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और एक उत्तरीय—ऊपर ओढने के लिए चादर। इसे ही यहाँ **'दिव्ययुगल'** कहा गया है।[1]

गंधहत्थी : परिचय और स्वरूप—गन्धहस्ती, सब हाथियों से अधिक शक्तिशाली, बुद्धिमान् और निर्भय होता है। इसकी गन्ध से दूसरे हाथियो का मद झरने लगता है और वे डर के मारे भाग जाते हैं। वासुदेव (कृष्ण) का यह ज्येष्ठ पट्टहस्ती था।

कयकोउयमंगलो : तात्पर्य—विवाह से पूर्व वर के ललाट से मूसलस्पर्श कराना इत्यादि कौतुक और दधि, अक्षत, दूब, चन्दन आदि द्रव्यो का उपयोग करना मगल कहलाता था।[2]

सव्वोसहीहिं०—बृहद्वृत्ति के अनुसार—जया, विजया, ऋद्धि, वृद्धि आदि समस्त ओषधियो से अरिष्टनेमि को नहलाया गया।[3]

दसारचक्केण—समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव; ये दस भाई, जो यादव जाति के थे, इन का समूह दशार (दशार्ह-चक्र) कहलाता था। यदुप्रमुख ये दश अर्ह अर्थात् पूज्य थे, बड़े थे, इसलिए इन्हें 'दशार्ह' कहा गया।[4]

वण्हिपुंगवो—वृष्णिकुल में प्रधान श्री अरिष्टनेमि थे। अरिष्टनेमि का कुल 'अन्धकवृष्णि' नाम से प्रसिद्ध था, क्योकि अन्धक और वृष्णि, ये दो भाई थे। वृष्णि अरिष्टनेमि के पितामह थे। परन्तु पुराणो के अनुसार अन्धकवृष्णि (या अन्धकवृष्टि) एक ही व्यक्ति का नाम है, जो समुद्रविजय के पिता थे। दशवैकालिक सूत्र मे तथा इसी अध्ययन की ५३ वी गाथा मे नेमिनाथ के कुल को अन्धकवृष्णि कुल बताया गया है।[5]

अवरुद्ध आर्त्त पशुपक्षियों को देख कर करुणामग्न अरिष्टनेमि

१४. अह सो तत्थ निज्जन्तो दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धे सुदुक्खिए॥

[१४] तदनन्तर उन्होने (अरिष्टनेमि ने) वहाँ (मण्डप के समीप) जाते हुए बाड़ो और पिजरो मे बन्द किये गए, भयत्रस्त और अतिदु.खित प्राणियो को देखा।

---

१ (क) उत्तरा अनुवाद टिप्पण (साध्वी चन्दना), पृ ४४०
(ख) दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलं। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

२, (क) वासुदेवस्य सम्बन्धिनमिति गम्यते। ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं वा गुणै पट्टहस्तिन-मित्यर्थ.।
(ख) कृतकौतुकमगल इत्यत्र कौतुकानि ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि, मगलानि च दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

३. सर्वाश्च ता ओषधयश्च—जयाविजयर्द्धिवृद्ध्यादय· सर्वौषधयस्ताभि स्नपित अभिषिक्त। —वही, पत्र ४९०

४. (क) 'दसारचक्केणं ति दशार्हचक्रेण—यदुसमूहेन।' – बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०
(ख) 'दश च तेऽर्हाश्च-पूज्या इति दशार्हा.।' —अन्तकृद्दशाग. १।१ वृत्ति

५. (क) वृष्णिपुंगव यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०
(ख) दशवैकालिक २।८ (ग) उत्तराध्ययन अ २२, गा. ४३ (घ) उत्तरपुराण ७०।९२-९४

१५. जीवियन्तं तु संपत्ते मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने सारहिं इणमब्बवी ॥

[१५] वे जीवन की अन्तिम स्थिति में पहुँचे हुए थे, और मासभोजन के लिए खाये जाने वाले थे। उन्हे देख कर उन महाप्रज्ञावान् अरिष्टनेमि ने सारथि (या पीलवान) से इस प्रकार कहा—

१६. कस्स अट्ठा इमे पाणा एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धा य अच्छहिं ?

[१६] (अरिष्टनेमि—) ये सब सुखार्थी प्राणी किस प्रयोजन के लिए बाडो और पिंजरो मे बन्द किये गए हैं ?

१७. अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि भोयावेउं बहुं जणं ॥

[१७] तब सारथि (इस प्रकार) बोला—ये भद्र प्राणी आपके विवाहकार्य मे बहुत-से लोगो को मासभोजन कराने के लिए (यहाँ रोके गए) हैं।

१८. सोऊण तस्स वयणं बहुपाणि—विणासणं।
चिन्तेइ से महापन्ने साणुक्कोसे जिएहि उ ॥

[१८] अनेक प्राणियो के विनाश से सम्बन्धित उसका (सारथि का) वचन सुन कर जीवो के प्रति करुणायुक्त होकर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि (यो) चिन्तन करने लगे—

१९. जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई ॥

[१९] 'यदि मेरे कारण से इन बहुत-से प्राणियो का वध होगा तो यह परलोक मे मेरे लिए नि श्रेयस्कर (कल्याणकारी) नही होगा।'

२०. सो कुण्डलाण जुयलं सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामए ॥

[२०] उन महान् यशस्वी (अरिष्टनेमि) ने कुण्डलयुगल, करधनी (सूत्रक) और समस्त अलकार उतार कर सारथि को दे दिए। (और बिना विवाह किये ही रथ को वहाँ से लौटाने का आदेश दिया।)

विवेचन—जीवयत तु सपत्ते—(१) जीवन के अन्त को प्राप्त—मरणासन्न।[1]

मंसट्ठा—(१) मास अतिगृद्धि का कारण होने से मासाहार के लिए अथवा (२) 'मास से ही मास बढता है' इस कहावत के अनुमार अविवेकी जनो द्वारा शरीर की मासवृद्धि के लिए।[2]

१ 'जीवितस्यान्तो मरणमित्यर्थस्त सम्प्राप्तानिव सम्प्राप्तान् अतिप्रत्यासन्नत्वात्तस्य, यद्वा जीवितस्यान्त पर्यन्तवर्ती भागस्तमुक्तहेनो सम्प्राप्तान्।' —बृहद्वृत्ति, ४९०

२ मासार्थं—मासनिमित्त च भक्षयितव्यान् मासस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तं, यदि वा 'मासेनैव मासमुपचीयते' इति प्रवादतो मासमुपचित स्यादिति हेतो—मांसार्थं भक्षयितव्यानविवेकिभि।
—वही, पत्र ४९१

महापन्ने—जिसकी प्रज्ञा महान् हो, वह महाप्रज्ञ है, आशय यह है कि भगवान् नेमिनाथ मे मति, श्रुत और अवधि ज्ञान होने से वे महाप्रज्ञ थे।[1]

करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा—सर्वप्रथम भयभीत एव अत्यन्त दु.खित प्राणियों को देखते ही उनका करुणाशील हृदय पसीज उठा। फिर उन्होंने सारथि से पूछा और जब यह जाना कि मेरे विवाह के समय आने वाले अतिथियो को मांसभोज देने के लिए इन पशु-पक्षियो को बन्द किया गया है, तब तो और भी करुणार्द्र हो उठे। अपने लिए इसे अकल्याणकर समझ कर उन्होने विवाह न करना ही उचित समझा। फलत उन्हे वहीं ससार से विरक्ति हो गई और वही से रथ को लौटा देने तथा बाडो और पिंजरो को खोल कर उन पशु-पक्षियो को मुक्त कर देने का सकेत किया। यह कार्य सम्पन्न करते ही पारितोषिक के रूप मे समस्त आभूषण सारथि को दे दिये।[2]

एक शंका : समाधान—प्रस्तुत अध्ययन की १० वी गाथा मे विवाह के लिए प्रस्थान करते समय गन्धहस्ती पर आरूढ होने का उल्लेख है और आगे १५ वी गाथा मे सारथि से पूछने और उसके द्वारा आदेशानुकूल कार्य सम्पन्न करने पर पारितोषिक देने के प्रसग मे सारथि का उल्लेख है। इससे अरिष्टनेमि का रथारोहण अनुमित होता है। ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों ? बृहद्वृत्तिकार ने इसका समाधान करते हुए लिखा है—वरयात्रा मे चलते समय वे रथारूढ हो गए हो, ऐसा अनुमान होता है, इस दृष्टि से 'सारथि' शब्द सार्थक है।[3]

अरिष्टनेमि के द्वारा प्रव्रज्याग्रहण

२१ मणपरिणामे य कए देवा य जहोइयं समोइण्णा।
सव्विड्ढीए सपरिसा निक्खमणं तस्स काउं जे॥

[२१] (अरिष्टनेमि के द्वारा) मन मे (दीक्षा-ग्रहण के) परिणाम (भाव) होते ही उनके यथोचित अभिनिष्क्रमण के लिए देव अपनी समस्त ऋद्धि और परिषद् के साथ आकर उपस्थित हो गए।

२२. देव-मणुस्सपरिवुडो सीयारयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ रेवययंमि ट्ठिओ भगवं॥

[२२] तदनन्तर देवो और मानवो से परिवृत भगवान् (अरिष्टनेमि) शिविकारत्न (—श्रेष्ठ पालखी) पर आरूढ हुए। द्वारका से निष्क्रमण (चल) कर वे रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुए।

---

१. महती प्रज्ञा—प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्याऽसौ महाप्रज्ञ। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९१

२ वही, पत्र ४९१ : न तु नि.श्रेयसं कल्याण परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भाव·। ···एव च विदिताकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु पारितोषितोऽसौ।

३ 'सारथि—प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद् गन्धहस्तिनो हस्तिपकमिति यावत्। यद्वाऽत्र एव तत्र रथारोहणमनुमीयते इति रथप्रवर्त्तयितारम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२

२३. उज्जाणं संपत्तो ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ ।
साहस्सीए परिवुडो अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥

[२३] उद्यान (सहस्राम्रवन) मे पहुँच कर वे उत्तम शिविका से उतरे। (फिर) एक हजार व्यक्तियो के साथ भगवान् ने चित्रा नक्षत्र में अभिनिष्क्रमण किया।

२४. अह से सुगन्धिगन्धिए तुरियं मउयकुंचिए ।
सयमेव लुंचई केसे पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥

[२४] तदनन्तर समाहित (समाधिसम्पन्न) अरिष्टनेमि ने तुरन्त सुगन्ध से सुवासित अपने कोमल और घुंघराले बालो का स्वय अपने हाथो से पचमुष्टि लोच किया।

२५. वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं ।
इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसु तं दमीसरा ! ॥

[२५] वासुदेव कृष्ण ने लुचितकेश एव जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—'हे दमीश्वर ! आप अपने अभीष्ट मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।'

२६. नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तहेव य ।
खन्तीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य ॥

[२६] 'आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति (क्षमा) और मुक्ति (निर्लोभता) के द्वारा आगे बढ़ो।'

२७. एवं ते रामकेसवा दसारा य बहू जणा ।
अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता अइगया बारगापुरिं ॥

[२७] इस प्रकार बलराम, केशव, दशार्ह यादव और अन्य बहुत-से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी को लौट आए।

विवेचन—सपरिसा—यह 'देवो' का विशेषण है। सपरिषद् अर्थात् बाह्य, मध्यम और आभ्यन्तर, इन तीनो परिषदो से सहित।

निक्खमणं काउं—निष्क्रमणमहिमा या निष्क्रमणमहोत्सव करने के लिए।

सीयारयणं—शिविकारत्न—यह देवनिर्मित 'उत्तरकुरु' नाम की श्रेष्ठ शिविका थी।

अहि निक्खमई—श्रमणदीक्षा ग्रहण की या श्रमणधर्म मे प्रव्रजित हुए।

समाहिओ—समाहित (समाधिसम्पन्न) शब्द अरिष्टनेमि का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि 'मुझे यावज्जीवन तक समस्त सावद्य व्यापार नही करना है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा से युक्त हुए।[1]

रथ लौटाने से लेकर द्वारका में आगमन तक—पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त करवा कर ज्यो ही रथ वापिस लौटाया, त्यो ही मन में अभिनिष्क्रमण का विचार आते ही सारस्वतादि नौ प्रकार

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२

के लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान् को प्रबोधित किया—'भगवन्! दीक्षा लेकर तीर्थप्रवर्तन कीजिए।' इसी समय शिवा रानी और समुद्रविजय राजा आँखो से अश्रु बहाते हुए समझाने लगे—'वत्स! यो विवाह का त्याग करने से हमे तथा कृष्ण आदि यादवो को कितना खेद होगा? तेरे लिए उग्रसेन राजा से श्री कृष्ण ने स्वय जा कर उनकी पुत्री की याचना की थी। वह अब कैसे अपना मुख दिखायेगा? राजीमती की क्या दिशा होगी? पतिव्रता स्त्री एक बार मन से भी जिसको पतिरूप मे वरण कर लेती है, फिर जीवन भर दूसरा पति नही करती। अत हमारे अनुरोध को स्वीकार कर तू विवाह कर ले।' भगवान् ने कहा—'हे पूज्यो! आप यह आग्रह छोड दे। प्रियजनो को सदैव हितकार्य मे ही प्रेरणा देनी चाहिए। स्त्रीसग मुमुक्षु के लिए योग्य नही है। प्रारम्भ मे सुन्दर और परिणाम मे दारुण कार्य के लिए कोई भी बुद्धिमान् मुमुक्षु प्रयत्न नही करता।' इसके पश्चात् समागत लोकान्तिक देवो ने भी समुद्रविजय आदि दशार्हों से कहा—'आप सब भाग्यशाली हैं कि आपके कुल मे ऐसे महापुरुष पैदा हुए हैं। ये भगवान् दीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञान पाकर चिरकाल तक तीर्थप्रवर्तन करके जगत् को आनन्द देने वाले हैं। अत आप खेद छोड कर हर्ष मनाइए।' इस प्रकार देवो के वचन सुनकर सभी हर्षित हुए।

भगवान् सहित सभी यादवगण द्वारका आए। भगवान् स्व-भवन मे पहुँचे। उसी दिन से दीक्षा का सकल्प कर लिया। सावत्सरिक दान देने लगे और तत्पश्चात् रैवतक (उज्जयत) गिरि पर स्थित सहस्राम्रवन मे जा कर दीक्षा ग्रहण की। स्वय पचमुष्टि लोच किया, आजीवन सामायिकव्रत अगीकार किया। कृष्ण आदि सभी यादव आशीर्वचन कह कर वहाँ से वापस लौटे।[1]

इसके पश्चात् भगवान् ने केवलज्ञान होने पर तीर्थस्थापना की, आदि वर्णन समझ लेना चाहिए।

प्रथम शोकमग्न और तत्पश्चात् प्रव्रजित राजीमती

२८. सोऊण रायकन्ना पव्वज्ज सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणन्दा सोगेण उ समुच्छिया॥

[२८] (अरिष्टनेमि) जिनेश्वर की प्रव्रज्या को सुन कर राजकन्या (राजीमती) हास्य-रहित और आनन्दविहीन हो गई। वह शोक से मूर्च्छित हो गई।

२९. राईमई विचिन्तेइ धिरत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेण परिच्चत्ता सेय पव्वइउं मम॥

[२९] राजीमती ने विचार किया—'धिक्कार है मेरे जीवन को कि मैं उनके (अरिष्टनेमि के) द्वारा परित्यक्त की गई। (अत) मेरा (अब) प्रव्रजित होना ही श्रेयस्कर है।'

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती अनुवाद, जै. ध. प्र सभा, भावनगर से प्रकाशित), पत्र १५१
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ३, पृ ७७०-७७१
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२ 'इह तु वन्दिकाचार्यं सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोधन, भवनगमन-महादानानन्तर निष्क्रमणाय पुरीनिर्गममुपवर्णयाम्बभूवेति सूत्रसप्तकार्थं।'

३०. अह सा भमरसन्निभे कुच्च—फणग—पसाहिए।
सयमेव लुंचई केसे धिइमन्ता ववस्सिया ॥

[३०] इसके पश्चात् धैर्यवती एव कृतनिश्चया उस राजीमती ने कूर्च और कंघी से प्रसाधित भ्रमर जैसे काले केशो का अपने हाथो से लुञ्चन किया।

३१. वासुदेवो य ण भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं।
ससारसागरं घोरं तर कन्ने ! लहुं लहुं ॥

[३१] वासुदेव ने केशो का लुञ्चन की हुई एव जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—'कन्ये ! तू इस घोर ससारसागर को अतिशीघ्र पार कर।'

३२. सा पव्वइया सन्ती पव्वावेसी तहिं बहु।
सयणं परियणं चेव सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

[३२] प्रव्रजित होने के पश्चात् उस शीलवती राजीमती ने बहुश्रुत हो कर उस द्वारका नगरी मे (अपने साथ) बहुत-सी स्वजनो और परिजनो की स्त्रियो को प्रव्रजित किया।

विवेचन—तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विरक्त एवं प्रव्रजित होने पर राजीमती की दशा—पहले तो राजीमती अरिष्टनेमि कुमार को दूल्हे के रूप मे आते देख अतीव प्रसन्न हुई और सखियो के समक्ष हर्षावेश मे आकर उनके गुणगान करने लगी। किन्तु ज्यो ही उसकी दायी आँख फडकी, वह अत्यन्त उदास और अधीर होकर बोली—मैं इस अपशकुन से जानती हूँ कि मेरे नाथ यहाँ तक पधारे हैं, फिर भी वे वापस लौट जाएँगे, मेरा पाणिग्रहण नही करेगे।

ज्यो ही नेमि कुमार वापस लौटे, राजीमती अत्यन्त शोकातुर एव मूर्च्छित होकर गिर पडी। सचेतन होते ही वह दु खभरे उद्गार प्रकट करती हुई विलाप करने और मन ही मन नेमि कुमार को उपालम्भ देने लगी। उसकी सखियो ने बहुत समझाया और अन्य सुन्दर राजकुमारो का वरण करने का आग्रह किया, परन्तु राजीमती ने कहा—मैं स्वप्न मे भी दूसरे व्यक्ति का वरण नही कर सकती।

कुछ ही देर मे वह स्वस्थ होकर कहने लगी—'सखियो ! वापस लौट कर वे मुझे सकेत कर गए है कि पतिव्रता स्त्री का कर्त्तव्य पति के मार्ग का अनुसरण करना है। आज मुझे एक स्वप्न आया था कि कोई पुरुष ऐरावत हाथी पर चढकर मेरे घर आया और तत्काल मेरुपर्वत पर चढ गया। जाते समय उसने लोगो को चार फल दिये, मुझे भी फल दिया।' सखियो ने स्वप्न को शुभ-फलदायक बताया। तत्पश्चात् राजीमती भी नेमिनाथप्रभु का ध्यान करती हुई घर मे रही और उग्र तप करने तथा नेमिनाथ भगवान् द्वारा दीक्षा लेने तथा तीर्थस्थापना करने की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती पर आसक्त था। रथनेमि ने राजीमती को स्वय को पतिरूप मे अगीकार करने को कहा, परन्तु राजीमती ने स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं उनके द्वारा वमन की हुई हूँ। तुम वमन की हुई वस्तु का उपभोग करोगे तो श्वानतुल्य होगे। मैं तुम्हे नही चाहती।' इस पर रथनेमि निराश होकर चला गया।

इधर नेमिनाथ भगवान् दीक्षित होने के बाद ५४ दिन तक छद्मस्थ अवस्था मे अनेक ग्रामो मे विचरण करते रहे और फिर रैवताचल पर्वत पर आए। वहाँ प्रभु तेले का तप करके शुक्ल-ध्यान मे मग्न हो गए। उस समय उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। सभी इन्द्र अपने-अपने देवगणों सहित वहाँ आए। मनोहर समवसरण की रचना की। प्रभु ने धर्मदेशना दी। प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जान कर बलभद्र, श्रीकृष्ण, राजीमती, दशार्ह आदि यादवगण तथा अन्य साधारण जन रैवतक पर्वत पर पहुँचे। वन्दन करके यथायोग्य स्थान पर बैठकर धर्मदेशना सुनी। अनेक राजाओ, साधारण जनो तथा महिलाओ ने प्रतिबुद्ध होकर प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। अनेको ने श्रावक व्रत अगीकार किये। तत्पश्चात् रथनेमि ने भी विरक्त होकर प्रभु से दीक्षा ली तथा राजीमती ने भी अनेक कन्याओ सहित दीक्षा ग्रहण की।[1]

नीहासा निराणंदा सोगेण उ समुत्थया—राजीमती की हँसी (प्रसन्नता), खुशी एवं आनन्द समाप्त हो गया, वह शोक से स्तब्ध हो गई।[2]

सेयं पव्वइउं मम—राजीमती का आशय यह है कि अब तो मेरे लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है, जिससे कि मैं फिर अन्य जन्म मे भी इस तरह दुःखी न होऊँ। तत्पश्चात् विरक्त राजीमती तब तक घर मे ही तप करती रही, जब तक भगवान् अन्यत्र विहार करके पुन. वहाँ (रैवतकगिरि पर) नही आ गए। भगवान् को केवलज्ञान होते ही उनकी देशना सुनकर अधिक वैराग्यवती होकर वह प्रव्रजित हो गई।[3]

कुच्च-फणग-पसाहिए—कूर्च का अर्थ है—गूढ़ और उलझे हुए केशो को अलग-अलग करने वाला बास से निर्मित विशेष कंघा और फणक का अर्थ भी एक प्रकार का कघा है, इनसे राजीमती के बाल सवारे हुए थे।[4]

ववस्सिया—श्रमणधर्म की आराधना करने के लिए कृतसकल्प (—कटिबद्ध)।[5]

राजीमती द्वारा भग्नचित्त रथनेमि का संयम में स्थिरीकरण

३३. गिरिं रेवययं जन्ती वासेणुल्ला उ अन्तरा।
वासन्ते अंधयारंमि अन्तो लयणस्स सा ठिया॥

[३३] वह (साध्वी राजीमती प्रभु के दर्शन-वंदनार्थ एक बार) रैवतकगिरि पर जा रही

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती अनुवाद, जै ध.प्र सभा, भावनगर से प्रकाशित) पृ १४९, १५१ से १५५ तक का साराश

(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ७७३ से ७७८ तथा ७८७ से ७९२ तक का साराश

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२-४९३

२ वही, पत्र ४९३

३ श्रेय. अतिशयप्रशस्य 'प्रव्रजितु'—प्रव्रज्या प्रतिपत्तु मम, येनाऽन्यजन्मन्यपि नैव दु खभागिनी भवेयम् इति भाव। इत्थ चासौ तावदवस्थिता, यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम। तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशना विशेषत उत्पन्नवैराग्या……… ………। —बृहद्वृत्ति, प ४९३

४, 'कूर्चो—गूढकेशोन्मोचको वशमय, फणक —कंकतक'।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९३

५ व्यवसिता—अध्यवसिता सती धर्मं विधातुमिति शेष:। —वही, पत्र ४९३

थी कि बीच मे ही वर्षा से भीग गई। घनघोर वर्षा हो रही थी, (इस कारण चारो ओर) अन्धकार हो गया था। (इस स्थिति मे) वह (एक) गुफा (लयन) के अन्दर (जा कर) ठहरी।

३४. चीवराइं विसारन्ती जहा जाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥

[३४] सुखाने के लिए अपने चीवरो (वस्त्रो) को फैलाती हुई राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप मे देख कर रथनेमि का चित्त विचलित हो गया। फिर राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५. भीया य सा तहिं दट्ठुं एगन्ते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं संगोफं वेवमाणी निसीयई ॥

[३५] वहाँ (उस गुफा मे) एकान्त मे उस सयत को देख कर वह भयभीत हो गई। भय से कापती हुई राजीमती अपनी दोनो बाहो से वक्षस्थल को आवृत कर बैठ गई।

३६. अह सो वि रायपुत्तो समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं इमं वक्कं उदाहरे ॥

[३६] तब समुद्रविजय के अगजात (पुत्र) उस राजपुत्र (रथनेमि) ने भी राजीमती को भयभीत और कापती हुई देख कर इस प्रकार वचन कहा—

३७. रहनेमी अहं भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणि ! ।
ममं भयाहि सुयणू ! न ते पीला भविस्सई ॥

[३७] (रथनेमि)—'हे भद्रे ! हे सुन्दरि ! मैं रथनेमि हूँ। हे मधुरभाषिणी ! तू मुझे (पति रूप मे) स्वीकार कर। हे सुतनु ! (ऐसा करने से) तुझे कोई पीडा नही होगी।'

३८. एहि ता भुंजिमो भोए माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा तओ पच्छा जिणमग्गं चरिस्समो ॥

[३८] 'निश्चित ही मनुष्यजन्म अतिदुर्लभ है। आओ, हम भोगो को भोगे। भुक्तभोगी होकर उसके पश्चात् हम जिनमार्ग (सर्वविरतिचारित्र) का आचरण करेंगे।'

३९. दट्ठूण रहनेमिं तं भग्गुज्जोयपराइयं।
राईमई असम्भन्ता अप्पाणं संवरे तहिं ॥

[३९] सयम के प्रति भग्नोद्योग (निरुत्साह) एव (भोगवासना या स्त्रीपरीषह से) पराजित रथनेमि को देख कर राजीमती सम्भ्रान्त न हुई (घबराई नही)। उसने वही (गुफा में ही) अपने शरीर को (वस्त्रो से) ढँक लिया।

४०. अह सा रायवरकन्ना सुट्ठिया नियम-व्वए।
जाई कुलं च सीलं च रक्खमाणी तयं वए ॥

[४०] तत्पश्चात् अपने नियमो और व्रतो मे सुस्थित (अविचल) उस श्रेष्ठ राजकन्या (राजीमती) ने जाति, कुल और शील का रक्षण करते हुए रथनेमि से कहा—

४१. जइ सि रूवेण वेसमणो ललिएण नलकूबरो ।
तहा वि ते न इच्छामि जइ सि सक्खं पुरन्दरो ॥

[४१] 'हे रथनेमि ! यदि तुम रूप मे वैश्रमण (कुबेर)-से होओ, लीला-विलास मे नल-कूबर देव जैसे होओ, और तो क्या, तुम साक्षात् इन्द्र भी होओ, तो भी मैं तुम्हे नही चाहती ।'

४२. पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥

[४२] 'अगन्धन कुल मे उत्पन्न हुए सर्प धूम की ध्वजा वाली, जाज्वल्यमान, भयकर दुष्प्रवेश (या दु सह) अग्निज्वाला मे प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु वमन किये (उगले) हुए अपने विष को (पुन) पीना नही चाहते ।'

४३. धिरत्थु तेऽजसोकामी ! जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे ॥

[४३] '(किन्तु) हे अपयश के कामी ! धिक्कार है तुम्हे कि तुम (भोगी) जीवन के लिए वान्त—त्यागे हुए भोगो का पुन· आस्वादन करना चाहते हो ! इससे तो तुम्हारा मर जाना श्रेयस्कर है ।'

४४. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥

[४४] 'मैं भोजराज की (पौत्री) हूँ और तुम अन्धकवृष्णि के (पौत्र) हो । अत अपने कुल मे हम गन्धनजाति के सर्पतुल्य न बने । तुम निभृत (स्थिर) होकर सयम का आचरण करो ।'

४५. जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

[४५] 'यदि तुम जिस किसी स्त्री को देख कर ऐसे ही रागभाव करते रहोगे, तो वायु से प्रकम्पित हड नामक निर्मूल वनस्पति की तरह अस्थिर चित्त वाले हो जाओगे ।'

४६. गोवालो भण्डवालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि ॥

[४६] 'जैसे गोपालक (दूसरे की गाये चराने वाला) अथवा भाण्डपाल (वेतन लेकर किसी के किराने का रक्षक) उस द्रव्य (गायो या किराने) का स्वामी नही होता, इसी प्रकार (सयमरहित, केवल वेषधारी होने पर) तुम भी श्रामण्य के स्वामी नही होगे ।'

४७. कोहं माणं निगिण्हित्ता मायं लोभं च सव्वसो ।
इन्दियाइं वसे काउं अप्पाणं उवसंहरे ॥

[४७] 'तुम क्रोध, मान, माया और लोभ का पूर्ण रूप से निग्रह करके, इन्द्रियो को वश मे करके अपने आपको उपसहरण (अनाचार से विरत) करो ।'

४८. तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ ॥

[४८] उस सयती (साध्वी राजीमती) के सुभाषित वचनो को सुन कर रथनेमि (श्रमण-) धर्म मे वैसे ही सुस्थिर हो गया, जैसे अकुश से हाथी वश मे हो जाता है।

विवेचन—वासेपुल्ला—वृष्टि से भीग गई अर्थात उसके सारे वस्त्र गीले हो गए थे।

चीवराइं—सघाटी (चादर) आदि वस्त्र।

भग्गचित्तो—सयम के प्रति जिसका परिणाम विचलित हो गया हो।

पच्छा दिट्ठो०—शास्त्रकार का आशय यह है कि गुफा मे अन्धेरा रहता है और अन्धकार-प्रदेश मे बाहर से प्रवेश करने वाले को सर्वप्रथम सहसा कुछ भी दिखाई नही देता। यदि दिखाई देता तो वर्षा की हडबडी मे शेष साध्वियों के अन्यान्य आश्रयस्थानों मे चले जाने के कारण राजीमती अकेली वहाँ प्रवेश नही करती। इससे स्पष्ट है कि गुफा मे रथनेमि है, यह राजीमती को पहले नही दिखाई दिया। बाद मे उसने उसे वहाँ देखा।[1]

भयभीत और कम्पित होने का कारण—राजीमती वहाँ गुफा मे अकेली थी और वस्त्र गीले होने से सुखा दिये थे, इसलिए निर्वस्त्रावस्था मे थी, फिर जब उसने वहाँ रथनेमि को देखा, तब वह भयभीत हो गई कि कदाचित् यह बलात् शील भग न कर बैठे, इसीलिए बलात् आलिगनादि न करने देने हेतु झटपट अपने अगो को सिकोडकर वक्षस्थल पर अपनी दोनो भुजाओ से परस्पर गुम्फन करके यानी मर्कटबन्ध करके वह बैठ गई थी। फिर भी शीलभग के भय से वह काप रही थी।[2]

ममं भयाहि—(१) **मां भजस्व**—तू मुझे स्वीकार कर, (२) **ममा भैषी**—तू बिलकुल डर मत।[3]

सुतनु—सुतनु का अर्थ होता है—सुन्दर शरीर वाली। किन्तु विष्णुपुराण मे उग्रसेन की एक पुत्री का नाम 'सुतनु' बताया गया है। सभव है, राजीमती का दूसरा नाम 'सुतनु' हो।[4]

भुत्तभोगा तओ पच्छा०—रथनेमि के द्वारा इन उद्गारो के कहने का तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यजन्म अतीव दुर्लभ है। जब मनुष्यजन्म मिला ही है तो इसके द्वारा विषयसुखरूप फल का उपभोग कर ले। फिर भुक्तभोगी होने के बाद बुढ़ापे मे जिनमार्ग—जिनोक्त मुक्तिपथ का सेवन कर लेगे।'[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९३

२ 'भीता च मा कदाचिदसौ मम शीलभग विधास्यतीति कृत्वा सा बाहाहिं—बाहुभ्या, कृत्वा सगोप, परस्पर-बाहुगुम्फन स्तनोपरिमर्कटबन्धमिति यावत्। तदाश्लेषादिपरिहारार्थम्, वेपमाना।' —वही, पत्र ४९४

३ वही, पत्र ४९४

४ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४, सुतनु ! शब्द से राजीमती को सम्बोधित किया गया है।
(ख) कसा-कसवती-सुतनु-राष्ट्रपालिकाह्वाश्चोग्रसेनस्य तनुजा कन्या। —विष्णुपुराण ४।१४।२१

५ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४

असंभंता—राजीमती मन मे आश्वस्त हो गई कि यह कुलीन है, इसलिए बलात् अकार्य मे प्रवृत्त नही होगा, इस अभिप्राय से वह घबराई नही।[१]

धिरत्थु तेऽ जसोकामी—(१) हे अपयश के कामी ! दुराचार की वाच्छा होने के कारण तुम्हारे पौरुष को धिक्कार है या (२) हे कामिन् भोगाभिलाषी ! महाकुल मे जन्म होने से प्राप्त यश को धिक्कार है।[२]

जीवियकारणा—असयमी जीवन जीने के निमित्त से अथवा भोगवासनामय जीवन जीने के हेतु।[३]

वंतं इच्छसि आवेउं—तुम दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् भी त्यागे हुए भोगों को पुन. भोगने को आतुर हो रहे हो।

दोनों के कुल का निर्देश—राजीमती ने अपने आपको भोजराजकुल की और रथनेमि को अन्धकवृष्णिकुल का बताया है, इस प्रकार कुल का स्मरण करा कर अकार्य मे प्रवृत्त होने से रोका है।[४]

मा कुले गंधणा होमो—सर्प की दो जातियाँ होती हैं—गन्धन और अगन्धन। गन्धनकुल का सर्प किसी को डस लेने के बाद यदि मत्रबल से बुलाया जाता है, तो वह आता है और अपने उगले हुए विष को पुन चूस कर पी लेता है, किन्तु अगन्धनकुल का सर्प मत्रबल से आता जरूर है, किन्तु वह मरना स्वीकार कर लेता है, मगर उगले हुए विष को पुन चूस कर नही पीता।

विवेचन – सुभासियं—सुभाषित—ऐसा सुभाषित जो सवेगजनक था।[५]

अंकुसेण जहा नागो—जैसे अंकुश से हाथी पुन यथास्थिति मे आ जाता है। इस विषय मे प्राचीन आचार्यो ने नूपुरपण्डित का आख्यान प्रस्तुत किया है—किसी राजा ने नूपुरपण्डित का आख्यान पढा। उसे पढते ही रुष्ट होकर उसने रानी, महावत और हाथी को मारने का विचार कर लिया। राजा ने इन तीनो को एक टूटे हुए पर्वतशिखर पर चढा दिया और महावत को आदेश दिया कि इस हाथी को यहाँ से नीचे धकेल दो। निरुपाय महावत ने ज्यो ही हाथी को प्रेरणा दी कि हाथी क्रमश अपने तीनो पैर आकाश की ओर उठा कर सिर्फ एक पैर से खडा हो गया, फिर भी राजा का रोष नही मिटा। नागरिको को जब राजा के इस अकृत्य का पता चला तो उन्होने राजा से प्रार्थना की—महाराज! चिन्तामणि के समान इस दुर्लभ हाथी को क्यो मरवा रहे हैं ? बेचारे इस पशु का क्या अपराध है ? इस पर राजा ने महावत से पूछा—क्य' हाथी को वापस

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४

२ (क) धिगस्तु ते—तव पौरुषमिति गम्यते, अयश कामिन्निव अयश ` । मन् ! दुराचारवाञ्छतया, यद्वा ते—तव यशो—महाकुलसम्भवोद्भूत धिगस्त्विति सम्बन्ध । कामिन्—भोगाभिलाषिन् !—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

४ ··· अहम् ····· 'भोजराजस्य उग्रसेनस्य, त्व चासि अन्धकवृष्णे' कुले जात इत्युभयत्र शेषः। ····

—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

५. बृहद्वृत्ति पत्र, ४९६

लौटा सकते हो? महावत ने कहा—अगर आप रानी को तथा मुझे अभयदान दें तो मैं वैसा कर सकता हूँ। राजा ने 'तथाऽस्तु' कहा। तब महावत ने अपने अकुश से हाथी को धीरे-धीरे लौटा लिया। इसी तरह राजीमती ने भी सयम से पतित होने की भावना वाले रथनेमि को अहितकर पथ से धीरे-धीरे वचन रूपी अकुश से लौटा कर चारित्रधर्म मे स्थापित किया।[1]

रथनेमि पुनः संयम में दृढ़

४९. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे जावज्जीवं दढव्वओ॥

[४९] वह (रथनेमि) मन-वचन-काया से गुप्त, जितेन्द्रिय एव महाव्रतो मे दृढ हो गया तथा जीवनपर्यन्त निश्चलभाव से श्रामण्य का पालन करता रहा।

उपसंहार—

५०. उग्गं तवं चरित्ताण जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

[५०] उग्र तप का आचरण करके दोनो ही केवलज्ञानी हो गए तथा समस्त कर्मों का क्षय करके उन्होने अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

५१. एवं करेन्ति संबुद्धा पण्डिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु जहा सो पुरिसोत्तमो॥
—त्ति बेमि।

[५१] सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते है। पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह वे भोगो से निवृत्त हो जाते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दोण्णि वि सिद्धिं पत्ता—रथनेमि और राजीमती दोनो केवली हुए और समस्त भवोपग्राही कर्मों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त की।[2]

रथनेमि का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त—सोरियपुर के राजा समुद्रविजय और रानी शिवादेवी के चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि। अरिष्टनेमि २२ वे तीर्थंकर अर्हन्त हुए, रथनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए। भगवान् रथनेमि ४०० वर्ष तक गृहस्थपर्याय मे, १ वर्ष छद्मावस्था मे और ५०० वर्ष तक केवलीपर्याय मे रहे। इनकी कुल आयु ९०१ वर्ष की थी। इतनी ही आयु तथा कालमान राजीमती का था।[3]

॥ रथनेमीय : बाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) वही, पत्र ४९६ (ख) उत्त प्रिय टीका भा. ३, पृ. ८१२-८१३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९६

३ निर्युक्ति गाथा, ४४३ से ४४७, बृहद्वृत्ति, पत्र ४९६

तेईसवाँ अध्ययन : केशी-गौतमीय

अध्ययन—सार

* प्रस्तुत तेईसवे अध्ययन का नाम केशी-गौतमीय (केसि-गोयमिज्ज) है। इसमे पार्श्वापत्य केशी कुमारश्रमण और भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर गौतम (इन्द्रभूति) का जो सवाद श्रावस्ती नगरी मे हुआ, उसका रोचक वर्णन है।

* जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पुरुषादानीय भ पार्श्वनाथ थे। उनका धर्मशासनकाल श्रमण भगवान् महावीर (२४ वें तीर्थंकर) से ढाई सौ वर्ष पूर्व का था।[1] भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष प्राप्त कर चुके थे, किन्तु उनके शासन के कई श्रमण और श्रमणोपासक विद्यमान थे। वे यदा-कदा श्रमण भगवान् महावीर से तथा उनके श्रमणो से मिलते रहते थे। भगवतीसूत्र आदि मे ऐसे कई पार्श्वापत्य स्थविरो (कालास्यवैशिक, श्रमण गागेय आदि) के उल्लेख आते है। वे विभिन्न विषयो के सम्बन्ध मे तत्त्वचर्चा करके उनके समाधान से सन्तुष्ट होकर अपनी पूर्वपरम्परा को त्याग कर भ महावीर द्वारा प्ररूपित पचमहाव्रतधर्म को स्वीकार करते हैं।[2] प्रस्तुत अध्ययन मे भी वर्णन है कि केशी और गौतम की विभिन्न विषयो पर तत्त्वचर्चा हुई और अन्त मे केशी श्रमण अपने शिष्यवृन्द सहित भ महावीर के पचमहाव्रतरूप धर्मतीर्थ मे सम्मिलित हो जाते हैं।

* भ पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त, द्वितीय पट्टधर आचार्य हरिदत्त तथा तृतीय पट्टधर आचार्य समुद्रसूरि थे, इनके समय मे 'विदेशी' नामक धर्मप्रचारक आचार्य उज्जयिनी नगरी मे पधारे और उनके उपदेश से तत्कालीन महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनगसुन्दरी और राजकुमार केशी कुमार प्रतिबुद्ध हुए। तीनो ने दीक्षा ली। कहा जाता है कि इन्ही केशी श्रमण ने श्वेताम्बिका नगरी के नास्तिक राजा प्रदेशी को समझाकर आस्तिक एव दृढ़धर्मी बनाया था।[3]

* एक बार केशी श्रमण अपनी शिष्यमण्डली सहित विचरण करते हुए श्रावस्ती पधारे। वे तिन्दुक उद्यान मे ठहरे। सयोगवश उन्हीं दिनो गणधर गौतम भी अपने शिष्यवर्गसहित विचरण करते हुए श्रावस्ती पधारे और कोष्ठक उद्यान मे ठहरे। जब दोनो के शिष्य भिक्षाचरी, आदि को नगरी मे जाते तो दोनो को दोनो परम्पराओ के क्रियाकलाप मे प्राय. समानता और वेष मे असमानता देखकर आश्चर्य तथा जिज्ञासा उत्पन्न हुई। दोनो के शिष्यो ने अपने-अपने गुरुजनो से कहा। अत दोनो पक्ष के गुरुओ ने निश्चय किया कि हमारे पारस्पारिक मतभेदो तथा

---

१. 'पासजिणाओ य होइ वीर जिणो। अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं चरिमो समुप्पन्नो ॥'

—आवश्यकनियुंक्ति मलय वृत्ति, पत्र २४१

२. भगवतीसूत्र १।९, ५।९ ९।३२, सूत्रकृताग २।७ अ.

३ नाभिनन्दनोद्धारप्रबन्ध—१३६

आचारभेदों के विषय में एक जगह बैठकर चर्चा कर ली जाए। केशी कुमारश्रमण पार्श्व-परम्परा के आचार्य होने के नाते गौतम से ज्येष्ठ थे, इसलिए गौतम ने विनयमर्यादा की दृष्टि से इस विषय मे पहल की। वे अपने शिष्यसमूहसहित तिन्दुक उद्यान मे पधारे, जहाँ केशी श्रमण विराजमान थे। गौतम को आए देख, केशी श्रमण ने उन्हे पूरा आदरसत्कार दिया, उनके बैठने के लिए पलाल आदि प्रस्तुत किया और फिर क्रमश बारह प्रश्नोत्तरो मे उनकी धर्मचर्चा चली।

* सबसे मुख्य प्रश्न थे दोनो के परम्परागत महाव्रतधर्म, आचार और वेष में जो अन्तर था, उसके सम्बन्ध मे। जो अचेलक-सचेलक तथा चातुर्याम-पचमहाव्रतधर्म तथा वेष के अन्तर से सम्बन्धित थे। गौतम ने आचार-विचार अथवा धर्म एव वेष के अन्तर का मूल कारण बताया—साधकों की प्रज्ञा। प्रथम तीर्थंकर के शासन के श्रमण ऋजुजड प्रज्ञावाले, द्वितीय से २३ व तीर्थंकर (मध्यवर्ती) तक के श्रमण ऋजुप्राज्ञ बुद्धिवाले तथा अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड प्रज्ञावाले होते है। इसी दृष्टि से भगवान् पार्श्वनाथ और भ. महावीर के मूल उद्देश्य—मोक्ष तथा उसके साधन—मे (निश्चयदृष्टि से) सम्यग्दर्शनादि मे समानता होते हुए भी व्यवहार-नय की दृष्टि से त्याग, तप, सयम आदि के आचरण मे विभिन्नता है। देश, काल, पात्र के अनुसार यह भेद होना स्वाभाविक है। बाह्य आचार और वेष का प्रयोजन तो सिर्फ लोक-प्रत्यय है। बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार भ महावीर ने देशकालानुसार धर्मसाधना का व्यावहारिक विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया है। वे आज के फैले हुए घोर अज्ञानान्धकार मे दिव्य-प्रकाश करने वाले जिनेन्द्रसूर्य है।[1]

* इसके पश्चात् केशी कुमार द्वारा शत्रुओ, बन्धनो, लता, अग्नि, दुष्ट अश्व, मार्ग-कुमार्ग, महाद्वीप, नौका आदि रूपको को लेकर आध्यात्मिक विषयो के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर गौतमस्वामी ने उन सब का समुचित उत्तर दिया।

* अन्त मे—लोक मे दिव्यप्रकाशक तथा ध्रुव एवं निराबाधस्थान (निर्वाण) के विषय मे केशी कुमार ने प्रश्न किये, जिनका गौतम स्वामी ने युक्तिसगत उत्तर दिया।[2]

* गौतमस्वामी द्वारा दिये गए समाधान से केशी कुमारश्रमण सन्तुष्ट और प्रभावित हुए। उन्होने गौतमस्वामी को सशयातीत एव सर्वश्रुतमहोदधि कह कर उनकी प्रज्ञा की भूरि-भूरि प्रशसा की है तथा कृतज्ञताप्रकाशनपूर्वक मस्तक झुका कर उन्हे वन्दन-नमन किया। इतना ही नही, केशी कुमार ने अपने शिष्यो सहित हार्दिक श्रद्धापूर्वक भ महावीर के पचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार किया है। वास्तव मे इस महत्त्वपूर्ण परिसवाद से युग-युग के सघन सशयो और उलझे हुए प्रश्नो का यथार्थ समाधान प्रस्तुत हुआ है।

* अन्त मे—इस सवाद की फलश्रुति दी गई है कि इस प्रकार के पक्षपातमुक्त, समत्वलक्षी

---

१ उत्तराध्ययन मूलपाठ अ. २३, गा. १ से १० तक

२ उत्तरा मूलपाठ अ २३, गा ११ से ८४ तक

परिसवाद से श्रुत और शील का उत्कर्ष हुआ, महान् प्रयोजनभूत तत्त्वो का निर्णय हुआ। इस धर्मचर्चा से सारी सभा सन्तुष्ट हुई।

* अन्तिम गाथा मे जो प्रशस्ति दी गई है, वह अध्ययन के रचनाकार की दृष्टि से दी गई प्रतीत होती है।

* वस्तुत समदर्शी तत्त्वद्रष्टाओ का मिलन, निष्पक्ष चिन्तन एव परिसवाद बहुत ही लाभप्रद होता है। वह जनचिन्तन को सही मोड़ देता है, युग के बदलते हुए परिवेष में धर्म और उसके आचार-विचार एव नियमोपनियमो को यथार्थ दिशा प्रदान करता है, जिससे साधको का आध्यात्मिक विकास निराबाधरूप से होता रहे। सघ एव धार्मिक साधकवर्ग की व्यवस्था सुदृढ बनी रहे।[1] □□

---

१ उत्तरा मूलपाठ अध्याय २३, गाथा ८५ से ८९ तक

तेविंसइमं अज्झयणं : तेईसवाँ अध्ययन

केसि-गोयमिज्जं : केशि-गौतमीय

पार्श्व जिन और उनके शिष्य केशी श्रमण : संक्षिप्त परिचय

१. जिणे पासे त्ति नामेण अरहा लोगपूइओ ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू धम्मतित्थयरे जिणे ॥

[१] पार्श्व (नाथ) नामक जिन, अर्हन्, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक और रागद्वेषविजेता (वीतराग) थे ।

२. तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे ।
केसी कुमार—समणे विज्जा-चरण—पारगे ॥

[२] उन लोकप्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ के विद्या (—ज्ञान) और चरण (—चारित्र) मे मे पारगामी एव महायशस्वी शिष्य 'केशी कुमारश्रमण' थे ।

३. ओहिनाण-सुए बुद्धे सीससंघ—समाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते सावत्थिं नगरिमागए ॥

[३] वे अवधिज्ञान और श्रुतसम्पदा (श्रुत ज्ञान) से प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) थे । वे अपने शिष्यसघ से समायुक्त हो कर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।

४. तिन्दुयं नाम उज्जाणं तम्मी नगरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥

[४] उस नगर के निकट तिन्दुक नामक उद्यान मे, जहाँ प्रासुक (-जीवरहित) और एषणीय शय्या (आवासस्थान) और सस्तारक (पीठ, फलक—पट्टा, पटिया, आदि आसन) सुलभ थे, वहाँ निवास किया ।

विवेचन—अरहा—अर्हन्—अर्थ—पूजा के योग्य तीर्थंकर ।

लोकपूजित तीनो लोको के द्वारा पूजित—सेवित ।[1]

संबुद्धप्पा सव्वण्णू—सबुद्धात्मा—जिसकी आत्मा सम्यक् प्रकार से तत्त्वज्ञ हो चुकी थी, ऐसा तत्त्वज्ञ छद्मस्थ भी हो सकता है, इसीलिए दूसरा विशेषण दिया है—सव्वण्णू, अर्थात्—सर्वज्ञ, समस्त लोकालोकस्वरूप के ज्ञाता ।[2]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

२ 'सबुद्धप्पा—तत्त्वावबोधयुक्तात्मा, एवविधश्छद्मस्थोऽपि स्यादत आह—सव्वण्णू—सर्वज्ञ—सकललोकालोकस्वरूपज्ञानसम्पन्न ।' —उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ. ८२०

लोगपईवस्स : अर्थ—लोकान्तर्गत समस्त वस्तुओ के प्रकाशक होने से प्रदीप के समान ।[1]

केसी कुमारसमणे—(१) कुमारावस्था अर्थात् अपरिणीत अवस्था मे चारित्र ग्रहण करके बने हुए श्रमण । (२) अथवा केशी कुमार नामक श्रमण—तपस्वी ।[2]

नयरमंडलो : नगरमण्डले—(१) नगर के निकट या नगर के परिसर मे ।

सी संघसमाउलो—शिष्यो के समूह से परिवृत-समायुक्त ।[3]

'जिणे' के द्वितीय बार प्रयोग का प्रयोजन—प्रस्तुत प्रथम गाथा मे 'जिन' शब्द का दो बार प्रयोग विशेष प्रयोजन से हुआ है । द्वितीय बार प्रयोग भगवान् पार्श्वनाथ का मुक्तिगमन सूचित करने के लिए हुआ है, इसलिए यहाँ जिन का अर्थ है—जिन्होने समस्त कर्मशत्रुओ को जीत लिया था, वह । अर्थात्— उस समय भगवान् महावीरस्वामी चौवीसवे तीर्थंकर के रूप मे साक्षात् विचरण करते थे, भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष पहुँच चुके थे ।[4]

भगवान् महावीर और उनके शिष्य गौतम : संक्षिप्त-परिचय

५. अह तेणेव कालेणं धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥

[५] उसी समय धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक, जिन (रागद्वेषविजेता) भगवान् वर्धमान (महावीर) विद्यमान थे, जो समग्र लोक मे प्रख्यात थे ।

६. तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे ।
भयवं गोयमे नामं विज्जा—चरणपारगे ॥

[६] उन लोक-प्रदीप (भगवान्) वर्धमान स्वामी के विद्या (ज्ञान) और चारित्र के पारगामी, महायशस्वी भगवान् गौतम (इन्द्रभूति) नामक शिष्य थे ।

७. बारसंगविऊ बुद्धे सीस-सघ-समाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते से वि सावत्थिमागए ॥

[७] वे बारह अगो (श्रुत-द्वादशागी) के ज्ञाता और प्रबुद्ध गौतम भी शिष्यवर्ग सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे आए ।

८. कोट्ठगं नाम उज्जाणं तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥

---

१ 'लोके तद्गतसमस्तवस्तु प्रकाशकतया प्रदीप इव लोकप्रदीपस्तस्य ।'—, उत्तरा प्रिय दर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ८८८

२ (क) कुमारो हि अपरिणीततया कुमारत्वेन एव श्रमण सगृहीतचारित्र कुमारश्रमण ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

(ख) कुमारोऽपरिणीततया, श्रमणश्च तपस्वितया, बालब्रह्मचारी अत्युग्रतपस्वी चेत्यर्थ ।
—उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ८८९

३ शिष्यसघसमाकुल —शिष्यवर्गसहित । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

[८] (उन्होंने भी) उस नगर के परिसर (बाह्यप्रदेश) में कोष्ठक नामक उद्यान मे जहाँ प्रासुक शय्या (आवासस्थान) और सस्तारक सुलभ थे, वहाँ निवास किया (ठहर गए)।

विवेचन—गोयमे—भगवान् महावीरस्वामी के पट्टशिष्य प्रथम गणधर इन्द्रभूति थे। ये गौतमगोत्रीय थे। आगमों मे यत्र-तत्र 'गौतम' नाम से ही इनका उल्लेख हुआ है, जैनजगत् मे ये 'गौतमस्वामी' नाम से विख्यात हैं।[1]

कोट्ठगं : कुट्ठगं—बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'क्रोष्टुक' रूप है और अन्य टीकाओ मे 'कोष्ठक' रूप मिलता है। केशी कुमारश्रमण और गौतम गणधर दोनो अपने-अपने शिष्यसमुदाय सहित श्रावस्ती नगरी के निकटस्थ बाह्यप्रदेश में ठहरे थे। आवास अलग-अलग उद्यानो मे था। केशी कुमारश्रमण का आवास था—तिन्दुक उद्यान मे और गौतमस्वामी का था—कोष्ठक उद्यान मे। सम्भव है, दोनो उद्यान पास-पास ही हो।[2]

दोनों के शिष्यसंघों में धर्मविषयक अन्तर-संबंधी शंकाएँ

९. केसी कुमार—समणे गोयमे य महायसे।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु अल्लीणा सुसमाहिया॥

[९] केशी कुमारश्रमण और महायशस्वी गौतम, दोनो ही वहाँ (श्रावस्ती मे) विचरते थे। दोना ही आलीन (-आत्मलीन) और सुसमाहित (सम्यक् समाधि से युक्त) थे।

१०. उभओ सीससंघाणं संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना गुणवन्ताण ताइणं॥

[१०] उस श्रावस्ती मे सयमी, तपस्वी, गुणवान् (ज्ञान-दर्शन-चारित्रगुणसम्पन्न) और षट्काय के सरक्षक (त्रायी) उन दोनो (केशी कुमारश्रमण तथा गौतम) के शिष्य सघो मे यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—

११. केरिसो वा इमो धम्मो ? इमो धम्मो व केरिसो ?।
आयारधम्मपणिही इमा वा सा व केरिसी ?॥

[११] (हमारे द्वारा पाला जाने वाला) यह (महाव्रतरूप) धर्म कैसा है ? (और इनके द्वारा पालित) यह (महाव्रतरूप) धर्म कैसा है ? आचारधर्म की प्रणिधि (व्यवस्था) यह (हमारी) कैसी है ? और (उनकी) कैसी है ?

१२. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥

[१२] यह चातुर्यामधर्म है, जो महामुनि पार्श्व द्वारा प्रतिपादित है और यह पच-शिक्षात्मक धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है।

---

१ उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

२. (क) क्रोष्टुक नाम उद्यानम्,
(ख) कोष्ठक नाम उद्यान। —उत्तरा (विवेचन मुनि नथमल) भा १, पृ ३०३, बृ वृत्ति, पत्र ४९९

१३. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्ज—पवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ? ।।

[१३] (वर्द्धमान-महावीर द्वारा प्रतिपादित) यह जो अचेलकधर्म है और यह जो (भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्ररूपित) सान्तरोत्तर धर्म है, एक ही कार्य (मुक्तिरूप कार्य) मे प्रवृत्त हुए इन दोनो मे विशेष भेद का क्या कारण है ?

विवेचन—अल्लीणा—(१) आलीन—आत्मा मे लीन, (२) अलीन—मन-वचन-कायगुप्तियो से युक्त या गुप्त ।[1]

दोनों के शिष्यसंघों में चिन्तन क्यों और कब उठा ?—दोनो के शिष्यवृन्द जब भिक्षाचर्या आदि के लिए गमनागमन करते थे, तब एक दूसरे के वेष, क्रियाकलाप और आचार-विचार को देख कर उनके मन मे विचार उठे, शकाएँ उत्पन्न हुईं कि हम दोनो के धर्म-प्रवर्त्तको (तीर्थंकरो) का उद्देश्य तो एक ही है मुक्ति प्राप्त करना । फिर क्या कारण है कि हम दोनो के द्वारा गृहीत महाव्रतो मे अन्तर है ? अर्थात्—हमारे तीर्थंकर (भ वर्धमान) ने पाच महाव्रत बताए हैं और इनके तीर्थंकर (भ पार्श्वनाथ) ने चातुर्याम (चार महाव्रत) ही बताए हैं ? और फिर इनके वेष और हमारे वेष मे भी अन्तर क्यो है ?[2]

आयारधम्मपणिही : विशेषार्थ—आचार का अर्थ है—आचरण अर्थात्—वेषधारण आदि बाह्यक्रियाकलाप, वही धर्म है, क्योकि वह भी आत्मशुद्धि या ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विकास का साधन बनता है, अथवा सुगति मे आत्मा को पहुँचाता है, इसलिए धर्म है। प्रणिधि का अर्थ है—व्यवस्थापन । समग्र पक्ति का अर्थ हुआ—बाह्यक्रियाकलापरूप धर्म की व्यवस्था ।[3]

चाउज्जामो य जो धम्मो—चातुर्यामरूप (चार महाव्रतवाला) साधुधर्म जिसे महामुनि पार्श्वनाथ ने बताया है । चातुर्याम धर्म इस प्रकार है—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) चौर्यत्याग और (४) बहिद्धादानत्याग। भगवान् पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्यमहाव्रत को परिग्रह (बाह्य वस्तुओ के आदान—ग्रहण) के त्याग (विरमण) मे इसलिए समाविष्ट कर दिया था कि उन्होने 'मैथुन' को परिग्रह के अन्तर्गत माना था । स्त्री को परिगृहीत किये बिना मैथुन कैसे होगा ? इसीलिए शब्दकोष मे 'पत्नी' को 'परिग्रह' भी कहा गया है । इस दृष्टि से पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने साधु के लिए ब्रह्मचर्य को अलग से महाव्रत न मानकर अपरिग्रहमहाव्रत मे ही समाविष्ट कर दिया था ।

---

१ (क) उत्तरा (अनुवाद, विवेचन, मुनि नथमलजी) भा १, पृ ३०४
(ख) 'अलीनौ मन-वचन-कायगुप्तिष्वाश्रितौ' । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

२ '' 'भिक्षाचर्यादौ गमनागमन कुर्वता शिष्यसघानां परस्परावलोकनात् विचार समुत्पन्न ।'
—उत्तरा प्रियदर्शिनी भा ३, पृ ८९४

३. आचारो वेषधारणादिको बाह्य क्रियाकलाप, स एव धर्म, तस्य व्यवस्थापनम्-आचारधर्मप्रणिधि ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

पंचसिक्खिओ : पंचमहाव्रत स्थापना का रहस्य—(१) पचशिक्षित, (महावीर ने)—पंचमहाव्रतो के द्वारा शिक्षित—प्रकाशित किया, अथवा (२) पचशिक्षिक—पांच शिक्षाओ में होने वाला—पचशिक्षिक अर्थात् पचमहाव्रतात्मक । पाच महाव्रत ये हैं—(१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह । मालूम होता है, पार्श्वनाथ भगवान् के मोक्षगमन के पश्चात् युग-परिवर्तन के साथ कुछ कुतर्क उठे होगे कि स्त्री को विधिवत् परिगृहीत किये बिना भी उसकी प्रार्थना पर उसकी रजामदी से यदि समागम किया जाए तो क्या हानि है ? अपरिगृहीता से समागम का तो निषेध है ही नही ? सूत्रकृतागसूत्र मे भी तीन गाथाएँ ऐसी मिलती हैं, जिनमे ऐसी ही कुयुक्तियो सहित एक मिथ्या मान्यता प्रस्तुत की गई है । सूत्रकृताग मे इन्हे पार्श्वस्थ और वृत्तिकार शीलाकाचार्य ने इन्हे 'स्वयूथिक' भी बताया है । इन सब कुतर्कों, कुयुक्तियो और मिथ्या मान्यताओ का निराकरण करने हेतु भ. महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' को पृथक् चतुर्थ महाव्रत के रूप मे स्थान दिया ।[1]

अचेलगो य जो धम्मो—(१) अचेलक—वह धर्म-साधना, जिसमे बिलकुल ही वस्त्र न रखा जाता हो अथवा (२) अचेलक—जिसमे अल्प मूल्य वाले, जीर्णप्राय एव साधारण—प्रमाणोपेत श्वेत-वस्त्र रखे जाते हो । 'अ' का अर्थ अभाव भी है और अल्प भी । जैसे—'अनुदरा कन्या' का अर्थ—बिना पेट वाली कन्या नही, अपितु अल्प-कृश उदर वाली कन्या होता है ।

आचाराग, उत्तराध्ययन आदि आगमो मे साधना के इन दोनो रूपो का उल्लेख है । विष्णुपुराण मे भी जैन मुनियो के निर्वस्त्र और सवस्त्र, इन दोनो रूपो का उल्लेख मिलता है । प्रस्तुत में भी 'अचेलक' शब्द के द्वारा इन दोनो अर्थों को ध्वनित किया गया है । यह अचेलकधर्म भ. महावीर द्वारा प्ररूपित है ।[2]

जो इमो संतरुत्तरो : तीन अर्थ—यह सान्तरोत्तर धर्म भ पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित है । इसमे 'सान्तर' और 'उत्तर' ये दो शब्द हैं । जिनके तीन अर्थ विभिन्न आगम वृत्तियो मे मिलते हैं—(१) बृहद्वृत्तिकार के अनुसार—सान्तर का अर्थ—विशिष्ट अन्तर यानी प्रधान सहित है और उत्तर का अर्थ है—नाना वर्ण के बहुमूल्य और प्रलम्ब वस्त्र से सहित, (२) आचारागसूत्र की वृत्ति के अनुसार—सान्तर का अर्थ है—विभिन्न अवसरो पर तथा उत्तर का अर्थ है—प्रावरणीय । तात्पर्य यह है कि मुनि अपनी आत्मशक्ति को तोलने के लिए कभी वस्त्र का उपयोग करता है और कभी शीतादि की आशका से केवल पास मे रखता है । (३) ओघनिर्युक्तिवृत्ति, कल्पसूत्रचूर्णि आदि मे वर्षा आदि प्रसगो मे सूती वस्त्र को भीतर और ऊपर मे ऊनी वस्त्र ओढ कर भिक्षा आदि के लिए जाने वाला ।

---

१ (क) '**बहिद्धाणाओ वेरमण**—बहिस्ताद् आदानविरमण ।' (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

(ग) नो अपरिग्गहियाए इत्थीए, जेण होई परिभोगो ।
ता तव्विरई इच्चय अबभविरइ त्ति पन्नाण ॥ —कल्पसमर्थनम् गा १५

(घ) सूत्रकृताग १, ३, ४ । १०-११-१२

२ (क) अचेल मानोपेत धवल जीर्णप्राय, अल्पमूल्य वस्त्र धारणीयमिति वर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तम्, असत् इव चेल यत्र स अचेल , अचेल एव अचेलक , यत् वस्त्र सदपि असदिव तद् धार्यमित्यर्थ ।

(ख) '**दिग्वाससामयं धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम् ।**' —विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय १८, श्लोक १०

सान्तरोत्तर का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ—अन्तर—अन्तरीय (अधोवस्त्र) और उत्तर—उत्तरीय ऊपर का वस्त्र भी किया जा सकता है ।[1]

दोनों की तुलना में इस गाथा का आशय—भगवान् महावीर ने अचेल या अल्प चेल (केवल श्वेत प्रमाणोपेत जीर्णप्राय अल्पमूल्य वस्त्र) वाले धर्म का प्रतिपादन किया है, जब कि भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेल (प्रमाण और वर्ण की विशेषता से विशिष्ट तथा बहुमूल्य वस्त्र वाले) धर्म का प्रतिपादन किया है ।[2]

दोनों का परस्पर मिलन : क्यों और कैसे ?

१४. अह ते तत्थ सीसाणं विन्नाय पवितक्कियं ।
समागमे कयमई उभओ केसि-गोयमा ॥

[१४] (अपने-अपने शिष्यों को पूर्वोक्त शका उत्पन्न होने पर) केशी और गौतम दोनो ने शिष्यो के वितर्क-(शका से) युक्त (विचारविमर्श) जान कर परस्पर वही (श्रावस्ती मे ही) मिलने का विचार किया ।

१५. गोयमे पडिरूवन्नू सीससंघ—समाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो तिन्दुयं वणमागओ ॥

[१५] यथोचित् विनयमर्यादा के ज्ञाता (प्रतिरूपज्ञ) गौतम, केशी श्रमण के कुल को ज्येष्ठ जान कर अपने शिष्यसघ के साथ तिन्दुक वन (उद्यान) मे आए ।

१६. केसी कुमार—समणे गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं सम्मं संपडिवज्जई ॥

[१६] गौतम को आते हुए देख कर केशी कुमारश्रमण ने सम्यक् प्रकार से (प्रतिरूप प्रतिपत्ति) उनके अनुरूप (योग्य) आदरसत्कार किया ।

---

१. (क) सह अन्तरेण उत्तरेण प्रधान-बहुमूल्येन नानावर्णेन प्रलम्बेन वस्त्रेण य वर्त्तते, स सान्तरोत्तर ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

(ख) 'सान्तरमुत्तर प्रावरणीय यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति, क्वचित् पार्श्ववर्त्ति बिभर्त्ति शीताशकया नाऽद्यापि परित्यजति । आत्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् ।
—आचारांग १।८।४।५१ वृत्ति, पत्र २५२

(ग) ओघनिर्युक्ति गा. ७२६ वृत्ति, कल्पसूत्रचूर्णि, पत्र २५६
उत्तराध्ययन (अनुवाद टिप्पण साध्वी चन्दना) पृ. ४४२

२ 'अचेलकश्च' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलक कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो' त्ति पूर्ववद् यश्चाय सान्तराणि—वर्धमानस्वामिसत्क-यतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित् कदाचिन्मान-वर्ण-विशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

१७. पलालं फासुयं तत्थ पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए खिप्पं संपणामए ॥

[१७] गौतम को बैठने के लिए उन्होंने तत्काल प्रासुक पयाल (चार प्रकार के अनाजों के पराल—घास) तथा पाचवाँ कुश-तृण समर्पित किया (प्रदान किया) ।

१८. केसी कुमार—समणे गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति चन्द-सूर-समप्पभा ॥

[१८] कुमारश्रमण केशी और महायशस्वी गौतम दोनो (वहाँ) बैठे हुए चन्द्र और सूर्य के समान (प्रभासम्पन्न) सुशोभित हो रहे थे ।

१९. समागया बहू तत्थ पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाणं अणेगाओ साहस्सीओ समागया ॥

[१९] वहाँ कौतूहल की दृष्टि से अनेक अबोधजन, अन्य धर्म-सम्प्रदायो के बहुत-से पाषण्ड-परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी आ पहुँचे थे ।

२०. देव-दाणव-गन्धव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं आसी तत्थ समागमो ॥

[२०] देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतो का वहाँ अद्भुत समागम (मेला-सा) हो गया ।

विवेचन—पडिरूवन्नू : प्रतिरूपज्ञ—जो यथोचित विनयव्यवहार को जानता है, वह ।[1]

जेट्ठं कुलमविक्खंतो—पार्श्वनाथ भगवान् का कुल (अर्थात्—सन्तान) पहले होने से ज्येष्ठ—वृद्ध है, इसका विचार करके गौतमस्वामी ने अपनी ओर से केशी कुमारश्रमण से मिलने की पहल की और तिन्दुक वन मे जहाँ केशी श्रमण विराजमान थे, वहाँ आ गए ।[2]

पलालं फासुयं०—साधुओ के बिछाने योग्य प्रासुक (अचित्त और एषणीय) पलाल (अनाज को कूट कर उसके दाने निकाल लेने के बाद बचा हुआ घास—तृण) प्रवचनसारोद्धार के अनुसार पाच प्रकार के है—(१) शाली (कलमशाली आदि विशिष्ट चावलो) का पलाल, (२) व्रीहिक (साठी चावल आदि) का पलाल, (३) कोद्रव (कोदो धान्य) का पलाल, (४) रालक (कगू या कागणी) का पलाल और (५) अरण्यतृण (-श्यामाक-सावा चावल आदि) का पलाल । उत्तराध्ययन मे पाचवाँ कुश का तृण (घास) माना गया है ।[3]

---

१. 'प्रतिरूपो यथोचितविनय , त जानातीति प्रतिरूपज्ञ. ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

२ ...... ज्येष्ठ कुलमपेक्ष्यमाण , ज्येष्ठ-वृद्ध प्रथमभवनात् पार्श्वनाथस्य, कुल-सन्तान विचारयत इत्यर्थ ।
—वही, पत्र ५००

३ तणपणग पन्नत्त जिणेहिं कम्मट्ठगठिमहणेहिं ।
साली वीही कोद्दव, रालया रण्णे तणाइ च ॥
इति वचनात् चत्वारि पलालानि साधुप्रस्तरणयोग्यानि । पचम तु दर्भादि प्रासुक तृण ।
—प्रवचनसारोद्धार गा ६७५, बृहद्वृत्ति, पत्र ५०१

पासंडा—'पाषण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ घृणावाचक पाखण्डी (ढोंगी, धर्मध्वजी) नहीं, किन्तु अन्यमतीय परिव्राजक या श्रमण अथवा व्रतधारी (स्वसम्प्रदाय प्रचलित आचार-विचारधारी) होता है। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'पाषण्ड' का अर्थ अन्यदर्शनी परिव्राजकादि है।[1]

अविस्साणं च भूयाणं—अदृश्य भूतों से यहाँ आशय है ऐसे व्यन्तर देवों से जो क्रीडापरायण होते हैं।[2]

प्रथम प्रश्नोत्तर : चातुर्यामधर्म और पंचमहाव्रतधर्म में अन्तर का कारण

२१. पुच्छामि ते महाभाग! केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी॥

[२१] केशी ने गौतम से कहा—'हे महाभाग! मैं आप से (कुछ) पूछना चाहता हूँ।' केशी के ऐसा कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

२२ पुच्छ भन्ते! जहिच्छं ते केसिं गोयममब्बवी।
तओ केसी अणुन्नाए गोयमं इणमब्बवी॥

[२२] 'भंते! जैसी भी इच्छा हो, पूछिए।' अनुज्ञा पा कर तब केशी ने गौतम से इस प्रकार कहा—

२३. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥

[२३] "जो यह चातुर्याम धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है, और यह जो पचशिक्षात्मक धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।'

२४. एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं?।
धम्मे दुविहे मेहावि! कहं विप्पच्चओ न ते?॥

[२४] 'मेधाविन्! दोनों जब एक ही उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, तब इस विभेद (अन्तर) का क्या कारण है? इन दो प्रकार के धर्मों को देखकर तुम्हे विप्रत्यय (—सन्देह) क्यो नहीं होता?'

२५. तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं॥

[२५] केशी के इस प्रकार कहने पर गौतम ने यह कहा—तत्त्वों (जीवादि तत्त्वों) का जिसमें विशेष निश्चय होता है, ऐसे धर्मतत्त्व की समीक्षा प्रज्ञा करती है।

---

१. (क) पाषण्डं-व्रतं, तद्योगात् पाषण्डा, शेषव्रतिन। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५०१
(ख) अशोक सम्राट् का १२ वाँ शिलालेख।
(ग) 'अन्यदर्शिन' परिव्राजकादय।' —उत्तरा. वृत्ति, अभिधानराजेन्द्र को भा ३, पृ ९६१

२. अदृश्यानां भूतानां केलीकिलव्यन्तराणाम्। —उत्तरा. वृत्ति, अभि रा को भा ३, पृ ९६१

२६. पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुहा कए॥

[२६] प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु (सरल) और जड (मन्दमति) होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड होते हैं, (जबकि) बीच के २२ तीर्थंकरो के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इसीलिए धर्म के दो प्रकार किये गए हैं।

२७ पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ॥

[२७] प्रथम तीर्थंकर के साधुओ द्वारा कल्प—साध्वाचार दुर्विशोध्य (अत्यन्त कठिनता से निर्मल किया जाता) था, अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ द्वारा साध्वाचार (कल्प) का पालन करना कठिन है, किन्तु बीच के २२ तीर्थंकरो के साधको द्वारा कल्प (साध्वाचार) का पालन करना सुकर (सरल) है।

विवेचन—धर्म का निर्णय प्रज्ञा पर निर्भर—केशी कुमारश्रमण ने जब गौतम से दोनो तीर्थकरो के धर्म मे अन्तर का कारण पूछा तो उन्होने कारण का मूलसूत्र बता दिया कि 'धर्मतत्त्व का निश्चय प्रज्ञा करती है।' तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय के साधुओ और भगवान् महावीर के साधुओ की प्रज्ञा (सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि) मे महान् अन्तर है। अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ की बुद्धि वक्रजड है, बुद्धि वक्र होने के कारण प्रतिबोध के समय तर्क-वितर्क और विकल्पो का बाहुल्य उसमे होता है, जिससे साधुओ के आचार (महाव्रतादि) को वह जान-समझ लेती है, किन्तु उसका पालन करने मे कदाग्रही होने से उनकी बुद्धि कुतर्क-कुविकल्पजाल मे फस कर जड (वही ठप्प) हो जाती है। इसीलिए उनके लिए पचमहाव्रत रूप धर्म बताया गया है। जबकि दूसरे तीर्थंकर से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक (मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो) के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे आसानी से साधुधर्म के तत्त्व को ग्रहण भी कर लेते है और बुद्धिमत्ता से उसका पालन भी कर लेते है। यही कारण है कि भ पार्श्वनाथ ने उन्हे चातुर्यामरूप धर्म बताया। फिर भी वे परिग्रहत्याग के अन्तर्गत स्त्री के प्रति आसक्ति एव वासना को या कामवासना को आभ्यन्तर परिग्रह समझ कर उसका त्याग करते थे। प्रथम तीर्थंकर के साधु सरल, किन्तु जड होते थे, वे साधुधर्म के तत्त्व को या शिक्षा को कदाचित् सरलता से ग्रहण कर लेते, किन्तु जडबुद्धि होने के कारण उसी धर्मतत्त्व के दूसरे पहलू मे गडबडा जाते। इसलिए उनके द्वारा साधुधर्माचार को शुद्ध रख पाना कठिन होता था।

तात्पर्य यह है कि धर्मतत्त्व का निश्चय केवल श्रवणमात्र से नही होता, अपितु प्रज्ञा से होता है। जिसकी जैसी प्रज्ञा होती है, वह तदनुसार धर्मतत्त्व का निश्चय करता है। भगवान् महावीर के युग मे अधिकाश साधको की बुद्धि प्राय वक्रजड होने से ही उन्होने पचमहाव्रतरूप धर्म बताया है। जबकि भ. पार्श्वनाथ के साधुओ की बुद्धि ऋजुप्राज्ञ होने से चार महाव्रत कहने से ही काम चल गया।[1]

---

१. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५०२
(ख) अभिधानराजेन्द्रकोश भा ३ 'गोतमकेसिज्ज' शब्द, पृ ९६१

द्वितीय प्रश्नोत्तर : अचेलक और विशिष्टचेलक धर्म के अन्तर का कारण

२८. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[२८] (कुमारश्रमण केशी)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह सशय मिटा दिया, किन्तु गौतम ! मुझे एक और सन्देह है, उसके विषय मे भी मुझे कहिए।

२९. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥

[२९] यह जो अचेलक धर्म है, वह वर्द्धमान ने बताया है और यह जो सान्तरोत्तर (जो वर्णादि से विशिष्ट एव बहुमूल्य वस्त्र वाला) धर्म है, वह महायशस्वी पार्श्वनाथ ने बताया है।

३०. एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावि ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥

[३०] हे मेधाविन् ! एक ही (मुक्तिरूप) कार्य (—उद्देश्य) से प्रवृत्त इन दोनो (धर्मों) मे भेद का कारण क्या है ? दो प्रकार के वेष (लिग) को देख कर आपको सशय क्यो नही होता ?

३१. केसिमेवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं ॥

[३१] (गौतम गणधर)—केशी के इस प्रकार कहने पर गौतम ने यह कहा—(सर्वज्ञो ने) विज्ञान (—केवलज्ञान) से भलीभांति यथोचितरूप से धर्म के साधनो (वेष, चिह्न आदि उपकरणो) को जान कर ही उनकी अनुमति दी है।

३२. पच्चयत्थं च लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप्पओयणं ॥

[३२] नाना प्रकार के उपकरणो का विकल्पन (विधान) लोगो (जनता) की प्रतीति के लिए है, सयमयात्रा के निर्वाह के लिए है और 'मैं साधु हूँ'; यथाप्रसग इस प्रकार के बोध रहने के लिए ही लोक मे लिग (वेष) का प्रयोजन है।

३३. अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥

[३३] निश्चयदृष्टि से तो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष के वास्तविक (सद्भूत) साधन हैं। इस प्रकार का एक-सा सिद्धान्त (प्रतिज्ञा) दोनो तीर्थंकरो का है।

विवेचन—विसेसे किं नु कारणं : तात्पर्य—यह कि मोक्ष रूप साध्य समान होने पर भी दोनो तीर्थंकरो ने अपने-अपने तीर्थ के साधुओ को यह वेषभेद क्यो उपदिष्ट किया ? दोनो तीर्थंकरों की धर्माचरणव्यवस्था मे ऐसे भेद का क्या कारण है ? जब कार्य मे अन्तर होता है तो कारण मे भी अन्तर

हो जाता है, किन्तु यहाँ मुक्तिरूप कार्य मे किसी तीर्थंकर को भेद अभीष्ट नही है, फिर कारण मे भेद क्यो ?[1]

समाधान—जिस तीर्थंकर के काल मे जो उचित था, उन्होंने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में भलीभांति जान कर उस-उस धर्मसाधन (साधुवेष तथा चिह्न सम्बन्धी वस्त्र तथा अन्य उपकरणों) को रखने की अनुमति दी। आशय यह है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य ऋजुजड़ और वक्रजड़ होते हैं, यदि उनके लिए रंगीन वस्त्र धारण करने की आज्ञा दे दी जाती तो वे ऋजुजड़ एव वक्रजड़ होने के कारण वस्त्रो को रगने लग जाते, इसीलिए प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों ने वस्त्र रंगने या रगीन वस्त्र पहनने का निषेध करके केवल श्वेत और वह भी परिमित वस्त्र पहनने की आज्ञा दी है। मध्यवर्ती तीर्थंकरो के शिष्य ऋजुप्राज्ञ होते है, इसलिए उन्होने रंगीन वस्त्र धारण करने की आज्ञा पदान की है।[2]

व्यवहार और निश्चय से मोक्ष-साधन—निश्चयनय की दृष्टि से तो मोक्ष के वास्तविक साधन सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं। इस विषय में दोनो तीर्थंकर एकमत हैं, किन्तु निश्चय से सम्यग्दर्शनादि किसमे हैं, किसमे नही हैं, इसकी प्रतीति साधारणजन को नही होती। इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लेना आवश्यक है। साधु का वेष तथा प्रतीकचिह्न रजोहरण-पात्रादि तथा साध्वाचारसम्बन्धी बाह्य क्रियाकाण्ड आदि ये सब व्यवहार हैं। इसलिए कहा गया है—'लोक मे लिग (वेष, चिह्न आदि) का प्रयोजन है।' आशय यह है कि तीर्थंकरो ने अपने-अपने युग मे देश-काल, पात्र आदि देख कर नाना प्रकार के उपकरणो का विधान किया है, अथवा वर्षाकल्प आदि का विधान किया है। व्यवहारनय से मोक्ष के साधनरूप मे वेष आवश्यक है, निश्चयनय मे नही।[3]

साधुवेष के तीन मुख्य प्रयोजन—शास्त्रकार ने साधुवेष के तीन मुख्य प्रयोजन यहाँ बताए है—(१) लोक (गृहस्थवर्ग) की प्रतीति के लिए, क्योंकि साधुवेष तथा उसके केशलोच आदि आचार को देख कर लोगो को प्रतीति हो जाती हैं कि ये साधु हैं, ये नही, अन्यथा पाखण्डी लोग भी अपनी पूजा आदि के लिए हम भी साधु हैं, महाव्रती हैं, यो कहने लगेगे। ऐसा होने पर सच्चे साधुओ—महाव्रतियो के प्रति अप्रतीति हो जाएगी। इसलिए नाना-प्रकार के उपकरणो का विधान है। (२) यात्रा—संयमनिर्वाह के लिए भी साधुवेष आवश्यक है। (३) ग्रहणार्थ—अर्थात् कदाचित् चित्त मे विप्लव उत्पन्न होने पर या परीषह उत्पन्न होने से सयम में अरति होने पर 'मैं साधु हूँ, मैंने साधु का वेष पहना है, मैं ऐसा अकृत्य कैसे कर सकता हूँ' इस प्रकार के ज्ञान (ग्रहण) के लिए साधुवेष का प्रयोजन है। कहा भी है—'धम्मं रक्खइ वेसो' वेष (साधुवेष) साधुधर्म की रक्षा करता है।[4]

तृतीय प्रश्नोत्तर : शत्रुओं पर विजय के सम्बन्ध में

३४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभिधान रा को. भा. ३, पृ. ९६२ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ. ९१२

२. (क) बृहद्वृत्ति, अभि रा को भा. ३, पृ ९६२ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९१२

३. (क) अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ९६२ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ. ९१६-९१७

४. (क) वही, पृ. ९१५ (ख) अभि रा. को. भा. ३, पृ. ९६२

[३४] हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह सशय दूर कर दिया । मेरा एक और भी सशय है । गौतम ! उस सम्बन्ध मे भी मुझे कहिए ।

३५. अणेगाणं सहस्साणं मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥

[३५] गौतम ! अनेक सहस्र शत्रुओ के बीच मे आप खडे हो । वे आपको जीतने के लिए (आपकी ओर) दौडते हैं । (फिर भी) आपने उन शत्रुओ को कैसे जीत लिया ?

३६. एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं ॥

[३६] (गणधर गौतम)—एक को जीतने से पाच जीत लिए गए और पाच को जीतने पर दस जीत लिए गए । दसो को जीत कर मैंने सब शत्रुओ को जीत लिया ।

३७. सत्तू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[३७] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपने (१-५-१०) शत्रु किन्हे कहा है ?—इस प्रकार केशी ने गौतम से पूछा । केशी के यह पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

३८. एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी ! ॥

[३८] (गणधर गौतम)—हे मुनिवर ! एक न जीता हुआ अपना आत्मा (मन या जीव) ही शत्रु है । कषाय (चार) और इन्द्रियाँ (पाच, नही जीतने पर) शत्रु है । उन्हे (दसो को) जीत कर मैं (शास्त्रोक्त) नीति के अनुसार (इन शत्रुओ के बीच मे रहता हुआ भी) (अप्रतिबद्ध) विहार करता हूँ ।

विवेचन—हजारो शत्रु और उनके बीच में खड़े गौतमस्वामी—जब तक केवलज्ञान नही उत्पन्न हो जाता, तब तक आन्तरिक शत्रु परास्त नही होते । इसीलिए केशीश्रमण गौतमस्वामी से पूछ रहे है कि ऐसी स्थिति मे आप पर चारो ओर से हजारो शत्रु हमला करने के लिए दौड रहे है, फिर भी आपके चेहरे पर उन पर विजय के प्रशमादि चिह्न दिखाई दे रहे है, इससे मालूम होता है, आपने उन शत्रुओ पर विजय पा ली है । अत प्रश्न है कि आपने उन शत्रुओ को कैसे जीता ।[1]

दसो को जीतने से सर्वशत्रुओ पर विजय कैसे ?—जैसा कि गौतमस्वामी ने कहा था—एक आत्मा (मन या जीव) को जीत लेने से उसके अधीन जो क्रोधादि ४ कषाय है, वे जीते गए और मन सहित इन पाचो को जीतने पर जो पाच इन्द्रियाँ मन के अधीन है, वे जीत ली जाती है । ये सभी मिल कर दस होते है, इन दस को जीत लेने पर इनका समस्त परिवार, जो हजारो की सख्या मे है, जीत लिया जाता है । यही गौतम के कथन का आशय है ।[2]

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९१९
२ वही, पृ ९२०

हजारो शत्रु : कौन ?—(१) मूल मे क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। सामान्य जीव और चौवीस दण्डकवर्ती जीव, इन २५ के साथ क्रोधादि प्रत्येक को गुणा करने पर प्रत्येक कषाय के १००, और चारो कषाओ के प्रत्येक चार-चार भेद मिलकर ४०० भेद होते हैं। क्रोधादि प्रत्येक कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन के भेद से ४-४ प्रकार के हैं। यो १६ कषायो को २५ से गुणा करने पर ४०० भेद होते है। (२) अन्य प्रकार से भी क्रोधादि प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद होते है—(१) आभोगनिर्वर्तित, (२) अनाभोगनिर्वर्तित, (३) उपशान्त (अनुदयावस्थ) और (४) अनुपशान्त (उदयावलिकाप्रविष्ट), इन ४×४=१६ का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने से ४०० भेद क्रोधादि चारो कषाओ के होते है। (३) तीसरे प्रकार से भी क्रोधादि कषायो के प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। यथा—(१) आत्मप्रतिष्ठित (स्वनिमित्तक), (२) परप्रतिष्ठित (परनिमित्तक), (३) तदुभयप्रतिष्ठित (स्वपरनिमित्तक) और (४) अप्रतिष्ठित (निराश्रित), इस प्रकार इन ४×४=१६ कषायो का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने पर ४०० भेद हो जाते हैं। (४) चौथा प्रकार—क्रोधादि प्रत्येक कषाय का क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि, इन चारो के साथ गुणा करने से ४×४=१६ भेद चारो कषायो के हुए। इन १६ का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने पर कुल ४०० भेद होते है। (५) कारण का कार्य मे उपचार करने से कषाओ के प्रत्येक के ६-६ भेद और होते है। यथा—(१) चय, (२) उपचय, (३) बन्धन, (४) वेदना, (५) उदीरणा और (६) निर्जरा। इन ६ भेदो को भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल (तीन काल) के साथ गुणा करने पर १८ भेद हो जाते है। इन १८ ही भेदो को एक जीव तथा अनेक जीवो की अपेक्षा, दो के साथ गुणा करने से ३६ भेद होते है। इनको क्रोधादि चारो कषायो के साथ गुणा करने पर १४४ भेद होते है। इनको पूर्वोक्त २५ से गुणित करने पर कुल ३६०० भेद कषायो के हुए। इन ३६०० मे पहले के १६०० भेदो को और मिलाने पर चारो कषायो के कुल ५२०० भेद हो जाते है।

पाच इन्द्रियो के २३ विषय और २४० विकार होते है। इस प्रकार इन्द्रियरूप शत्रुओ के ५+२३+२४०=२६८ भेद हुए तथा ५२०० कषायो के भेदो के साथ २६८ इन्द्रियो के एव एक सर्वप्रधान शत्रु मन के भेद को मिलाने पर कुल शत्रुओ की सख्या ५४६६ हुई तथा हास्यादि ६ के प्रत्येक के ४-४ भेद होने से कुल २४ भेद हुए। इनमे स्त्री-पुरुष-नपु सकवेद मिलाने से नोकषायो के कुल २७ भेद होते है। पिछले ५४६६ मे २७ को मिलाने से ५४९६ भेद शत्रुओ के हुए तथा शत्रु शब्द से मिथ्यात्व, अव्रत आदि तथा ज्ञानावरणीयादि कर्म एव रागद्वेषादि भी लिये जा सकते है। इसीलिए मूलसूत्र मे 'अनेकसहस्र शत्रु' बताए गए है।[1]

चतुर्थ प्रश्नोत्तर : पाशबन्धनों को तोड़ने के सम्बन्ध में

३९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[३९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा समीचीन है, (क्योकि) आपने मेरा यह सशय मिटा दिया, (किन्तु) मेरा एक और भी सन्देह है। गौतम ! उस विषय मे मुझे कहे।

---

१ वही, पृ ९२१ से ९२८ तक

४०. दीसन्ति बहवे लोए पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ कहं तं विहरसी मुणी ! ॥

[४०] इस लोक में बहुत-से शरीरधारी—जीव पाशो (बन्धनो) से बद्ध दिखाई देते हैं । मुने ! आप बन्धन (पाश) से मुक्त और लघुभूत (वायु की तरह अप्रतिबद्ध एव हल्के) होकर कैसे विचरण करते हैं ?'

४१. ते पासे सव्वसो छित्ता निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ विहरामि अहं मुणी ! ॥

[४१] (गणधर गौतम)—मुने ! मैं उन पाशो (बन्धनो) को सब प्रकार से काट कर तथा उपाय से विनष्ट कर बन्धन-मुक्त एव लघुभूत (हल्का) होकर विचरण करता हूँ ।

४२. पासा य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[४२] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! पाश (बन्धन) किन्हे कहा गया है ?—(इस प्रकार) केशी ने गौतम से पूछा । केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

४३. रागद्दोसादओ तिव्वा नेहपासा भयंकरा ।
ते छिन्दित्तु जहानायं विहरामि जहक्कमं ॥

[४३] (गणधर गौतम) —तीव्र राग-द्वेष आदि और (पुत्र-कलत्रादिसम्बन्धी) स्नेह भयकर पाश (बन्धन) हैं । उन्हे (शास्त्रोक्त) धर्मनीति के अनुसार काट कर, (साध्वाचार के) क्रमानुसार मैं विचरण करता हूँ ।

विवेचन—सव्वसो छित्ता—ससार को अपने चगुल मे फसाने वाले उन सब बन्धनो—रागद्वेषादि पाशों को पूरी तरह काट कर ।

उवायओ निहंतूण—उपाय से अर्थात्—सत्यभावना के या नि सगता आदि के अभ्यास रूप उपाय से निर्मूल—पुन उनका बन्ध न हो, इस रूप से उन्हें विनष्ट करके ।[1]

पंचम प्रश्नोत्तर—तृष्णारूपी लता को उखाड़ने के सम्बन्ध में—

४४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[४४] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा सुन्दर है । आपने मेरा यह संशय मिटा दिया । परन्तु गौतम । मेरा एक और सन्देह है, उसके विषय मे भी मुझे कहिए ।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभि. रा कोष भा. ३, पृ ९६३
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा २, पत्र १८१
(ग) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९३२

४५. अन्तोहियय—संभूया लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणि सा उ उद्धरिया कह ? ॥

[४५] हे गौतम ! हृदय के अन्दर उत्पन्न एक लता रही हुई है, जो भक्षण करने पर विषतुल्य फल देती है। आपने उस (विषबेल) को कैसे उखाडा ?

४६. तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं मुक्को मि विसभक्खणं ॥

[४६] (गणधर गौतम)—उस लता को सर्वथा काट कर एव जड से (समूल) उखाड कर मै (सर्वज्ञोक्त) नीति के अनुसार विचरण करता हूं। अत मै उसके विषफल खाने से मुक्त हूँ।

४७. लया य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंत तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[४७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा 'वह लता आप किसे कहते है ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

४८. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु जहानायं विहरामि महामुणी ! ॥

[४८] (गणधर गौतम)—भवतृष्णा (सासारिक तृष्णा—लालसा) को ही भयकर लता कहा गया है। उसमे भयकर विपाक वाले फल लगते है। हे महामुन ! मैं उसे मूल से उखाड कर (शास्त्रोक्त) नीति के अनुसार विचरण करता हूँ।

विवेचन—अतोहिययसभूया :—वास्तव मे तृष्णारूपी लता मनुष्य के हृदय के भीतर पैदा होती है और जब वह फल देती है तो वे फल विपाक्त होते है, क्योकि तीव्र तृष्णा परिवार मे या समाज मे विषम परिणाम लाती है, इसलिए तृष्णापरायण मनुष्य को उसके विषैले फल भोगने पडते है।

भवतण्हा :—ससारविषयक तृष्णा—लोभ प्रकृति ही लता है।[1]

छठा प्रश्नोत्तर : कषायाग्नि बुझाने के सम्बन्ध में

४९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[४९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरे इस सशय को मिटाया है। एक दूसरा सशय भी मेरे मन मे है, गौतम ! उस विषय मे भी आप मुझे बताओ।

५० संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
जे डहन्ति सरीरत्था कहं विज्झाविया तुमे ? ॥

---

१ बृहद्वृत्ति, अभिधान रा कोष भा ३, पृ ९६२

[५०] गौतम ! चारो ओर घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीरधारी जीवो को जलाती रहती है, आपने उन्हे कैसे बुझाया ?

५१. महामेहप्पसूयाओ गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं देह सित्ता नो व डहन्ति मे ।।

[५१] (गणधर गौतम)—महामेघ से उत्पन्न सब जलो मे उत्तम जल लेकर मैं उनका निरन्तर सिंचन करता हूँ । इसी कारण सिंचन—शान्त की गई अग्नियाँ मुझे नही जलाती ।

५२. अग्गी य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।।

[५२] (केशी कुमारश्रमण—) "वे अग्नियाँ कौन-सी है ?—केशी ने गौतम से पूछा । केशी के यह पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५३. कसाया अग्गिणो वुत्ता सुय-सील-तवो जलं ।।
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति मे ।।

[५३] (गणधर गौतम)—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ही अग्नियाँ कही गई है । श्रुत, शील और तप जल है । श्रुत—(शील-तप) रूप जलधारा से शान्त और नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नही जलाती ।

विवेचन—महामेहप्पसूयाओ—महामेघ से प्रसूत, अर्थात् महामेघ के समान जिनप्रवचन से उत्पन्न श्रुत, शील और तपरूप जल से मै कषायाग्नि को सीचकर शान्त करता हूं ।[1]

सातवाँ प्रश्नोत्तर : मनोनिग्रह के सम्बन्ध में

५४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ।।

[५४] (केशी श्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा प्रशस्त है । आपने मेरा यह संशय मिटा दिया, किन्तु मेरा एक और सन्देह है, उसके सम्बन्ध मे भी मुझे कहे ।

५५. अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो कहं तेण न हीरसि ? ।।

[५५] यह साहसिक, भयकर, दुष्ट घोडा इधर-उधर चारो ओर दौड रहा है । गौतम ! आप उस पर आरूढ है, (फिर भी) वह आपको उन्मार्ग पर क्यो नही ले जाता ?

५६. पधावन्तं निगिण्हामि सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई ।।

[५६] (गणधर गौतम)—दौडते हुए उस घोडे का मैं श्रुत-रश्मि (शास्त्रज्ञानरूपी लगाम) से निग्रह करता हूं, जिससे वह मुझे उन्मार्ग पर नही ले जाता, अपितु सन्मार्ग पर ही चलता है ।

१ (क) बृहद्वृत्ति, अ रा कोष भा ३, पृ ९६४
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९४१

५७. अस्से य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।।

[५७] (केशी कुमारश्रमण)—यह अश्व क्या है—अश्व किसे कहा गया है ?—इस प्रकार केशी ने गौतम से पूछा। केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५८. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं निगिण्हामि धम्मसिक्खाए कन्थगं ।।

[५८] (गणधर गौतम—) मन ही वह साहसी, भयकर और दुष्ट अश्व है, जो चारो ओर दौडता है। उसे मैं सम्यक् प्रकार से वश मे करता हूँ। धर्मशिक्षा से वह कन्थक (—उत्तम जाति के अश्व) के समान हो गया है।

विवेचन—हीरसि—उन्मार्ग मे कैसे नही ले जाता ?

सुयरस्सीसमाहियं—श्रुत अर्थात्-सिद्धान्त रूपी रश्मि—लगाम से समाहित—नियन्त्रित।

साहसिओ—(१) सहसा बिना विचारे काम करने वाला, (२) साहस (हिम्मत) करने वाला।

धम्मसिक्खाए निगिण्हामि—धर्म के अभ्यास (शिक्षा) से मैं मनरूपी दुष्ट अश्व को वश मे करता हूँ।[1]

आठवाँ प्रश्नोत्तर : कुपथ-सत्पथ के विषय में—

५९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ।।

[५९] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह सशय दूर कर दिया, (किन्तु) मेरा एक सशय और भी है, गौतम ! उसके सम्बन्ध मे मुझे बताइए।

६०. कुप्पहा बहवो लोए जेहिं नासन्ति जंतवो ।
अद्धाणे कह वट्टन्ते तं न नस्ससि ? गोयमा ! ।।

[६०] गौतम ! ससार मे अनेक कुपथ है, जिन (पर चलने) से प्राणी भटक जाते हैं। सन्मार्ग पर चलते हुए आप कैसे नही भटके—भ्रष्ट हुए ?

६१. जे य मग्गेण गच्छन्ति जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे विइया मज्झं तो न नस्सामहं मुणी ! ।।

[६१] (गौतम गणधर)—मुनिवर ! जो सन्मार्ग पर चलते हैं और जो लोग उन्मार्ग पर चलते है, वे सब मेरे जाने हुए है। इसलिए मैं भ्रष्ट नही होता हूँ।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभिधान रा कोष भा ३, पृ ९६४
(ख) सहसा असमीक्ष्य प्रवर्त्तते इति साहसिक। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५०७

६२. मग्गे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंत तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[६२] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पुन पूछा—'मार्ग किसे कहा गया है ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

६३. कुप्पवयण—पासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्ग तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे ॥

[६३] (गणधर गौतम)—कुप्रवचनो (मिथ्यादर्शनो) को मानने वाले सभी पाषण्डी—(व्रतधारी लोग) उन्मार्गगामी है, सन्मार्ग तो जिनेन्द्र—वीतराग द्वारा कथित है और यही मार्ग उत्तम है ।

विवेचन—जेहि नासलि जतवो—यहाँ कुपथ का अर्थ धर्म-सम्प्रदाय विषयक कुमार्ग है । जिन कुमार्गों पर चलकर बहुत-से लोग दुर्गतिरूपी अटवी मे जा कर भटक जाते है, अर्थात्—मार्ग-भ्रष्ट हो जाते है । गौतम ! आप उन कुमार्गों से कैसे बच जाते हो ?[१]

सव्वे ते वेइया मज्झ—इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि "मैने सन्मार्ग और कुमार्ग पर चलने वालो को भलीभाति जान लिया है । सन्मार्ग और कुमार्ग का ज्ञान मुझे हो गया है । इसी कारण मै कुमार्ग से बचकर, सन्मार्ग पर चलता हूँ । मै मार्गभ्रष्ट नही होता ।"

कुप्पवयण पासंडी—कुत्सित प्रवचन अर्थात् दर्शन कुप्रवचन है, क्योकि उनमे एकान्तकथन तथा हिसादि का उपदेश है । उन कुप्रवचनो के अनुगामी पाषण्डी (पाखण्डी) अर्थात्—व्रती अथवा एकान्तवादी जन ।[२]

सम्मग्ग तु जिणक्खाय—वीतराग द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सन्मार्ग है, क्योकि इस का मूल दया और विनय है, इसलिए यह सर्वोत्तम है ।[३]

नौवाँ प्रश्नोत्तर : धर्मरूपी महाद्वीप के सम्बन्ध मे

६४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[६४] (केशी कुमारश्रमण)—'हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा प्रशस्त है । आपने मेरा यह सन्देह मिटा दिया, किन्तु मेरे मन मे एक और सन्देह है, उसके विषय मे भी मुझे कहिए ।'

६५. महाउदग—वेगेणं बुज्झमाणाण पाणिण ।
सरणं गई पइट्ठा य दीवं कं मन्नसी मुणी ?

[६५] मुनिवर ! महान् जलप्रवाह के वेग से बहते (-डूबते) हुए प्राणियो के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप आप किसे मानते हो ?

---

१ बृहद्वृत्ति, अ रा कोष भा ३, पृ ९६४

२. वही, पृ ९६४ कुत्सितानि प्रवचनानि कुप्रवचनानि-कुदर्शनानि, तेषु पाखण्डिन —कुप्रवचनपाखण्डिन एकान्तवादिन ।

३ वही, पृ ९६४ जिनोक्त, सर्वमार्गेषु उत्तम —दयाविनयमूलत्वादित्यर्थ ।

६६. अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई॥

[६६] (गणधर गौतम)—जल के मध्य मे एक विशाल (लम्बा-चौड़ा महाकाय) महाद्वीप है। वहाँ महान् जलप्रवाह के वेग की गति (प्रवेश) नही है।

६७. दीवे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंत तु गोयमो इणमब्बवी॥

[६७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से (फिर) पूछा—वह (महा) द्वीप आप किसे कहते हैं? केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने यो कहा—

६८. जरा—मरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं॥

[६८] (गणधर गौतम)—जरा और मरण (आदि) के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है तथा उत्तम शरण है।

विवेचन—शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप-सम्बन्धी प्रश्न का आशय—ससार मे जन्म, जरा, मरण आदि रूप जो जलप्रवाह तीव्र गति से प्राणियो को बहाये ले जा रहा है, प्राणी उसमे डूब जाते है, तो उन प्राणियो को डूबने से बचाने, बहने से सुरक्षा करने के लिए कौन शरण आदि है? यह केशी श्रमण के प्रश्न का आशय है। शरण का अर्थ यहाँ त्राण देने—रक्षण करने मे समर्थ है, गति का अर्थ है—आधारभूमि, प्रतिष्ठा का अर्थ है—स्थिरतापूर्वक टिकाने वाला और द्वीप का अर्थ है—जलमध्यवर्ती उन्नत निवासस्थान। यद्यपि इनके अर्थ पृथक्-पृथक् है, तथापि इन चारो मे परस्पर कार्य-कारणभावसम्बन्ध है। इन सबका केन्द्रबिन्दु 'द्वीप' है। इसीलिए दूसरी बार केशी कुमार ने केवल 'द्वीप' के सम्बन्ध मे ही प्रश्न किया है।[1]

धम्मो दीवो०—जब केशी श्रमण ने द्वीप आदि के विषय मे पूछा तो गौतम ने धर्म (विशाल जिनोक्त रत्नत्रयरूप या श्रुतचारित्ररूप शुद्ध धर्म) को ही महाद्वीप बताया है। वस्तुत धर्म इतना विशाल एव व्यापक द्वीप है कि वह ससारसमुद्र मे डूबते या उसके जन्म-मरणादि विशाल तीव्रप्रवाह मे बहते हुए प्राणी को स्थान, शरण, आधार या स्थिरता देने मे सक्षम है। ससार के समस्त प्राणियो को वह स्थान शरणादि दे सकता है, वह इतना व्यापक है।[2]

महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जइ—महान् जलप्रवाह के वेग की गति वहाँ नही है, जहाँ धर्म है। क्योकि जो प्राणी शुद्ध धर्म की शरण ले लेता है, धर्मरूपी द्वीप मे आकर बस जाता है, टिक जाता है, वह जन्म, जरा, मृत्यु आदि के हेतुभूत कर्मों का क्षय कर देता है, ऐसी स्थिति मे जहाँ धर्म होता है, वहाँ जन्म, जरा, मरणादिरूप तीव्र जलप्रवाह पहुँच ही नही सकता। धर्मरूपी महाद्वीप मे

१ (क) शरण-रक्षणक्षमम्, गति-आधारभूमि, प्रतिष्ठां-स्थिरावस्थानहेतुम्, द्वीप-निवासस्थान जलमध्यवर्ती।
—उत्तरा. वृत्ति, अ. रा को भा. ३, पृ ९६४-९६५

(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ ९४९

२. उत्तरा. वृत्ति, अ रा. को. भा. ३, पृ. ९६५

जन्ममरणादि जलप्रवाह का प्रवेश ही नही है। धर्म ही जन्ममरणादि दु ख से बचा कर मुक्तिसुख का कारण बनता है।[1]

दसवां प्रश्नोत्तर : महासमुद्र को नौका से पार करने के सम्बन्ध में

६९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[६९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बहुत सुशोभन है, आपने मेरा सशय-निवारण कर दिया। परन्तु मेरा एक और सशय है। गौतम ! उसके सम्बन्ध मे भी मुझे बताइए।

७०. अण्णवंसि महोहंसि नावा विपरिधावई।
जंसि गोयममारूढो कहं पारं गमिस्ससि ? ॥

[७०] गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र मे नौका डगमगा रही (इधर-उधर भागती) है, (ऐसी स्थिति मे) आप उस पर आरूढ होकर कैसे (समुद्र) पार जा सकोगे ?

७१. जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी ॥

[७१] (गणधर गौतम)—जो नौका छिद्रयुक्त (फूटी हुई) है, वह (समुद्र के) पार तक नही जा सकती, किन्तु जो नौका छिद्ररहित है, वह (समुद्र) पार जा सकती है।

७२. नावा य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[७२] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा—आप नौका किसे कहते है ? केशी के यो पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

७३. सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो ॥

[७३] (गणधर गौतम)—शरीर को नौका कहा गया है और जीव (आत्मा) को इसका नाविक (खेवैया) कहा जाता है तथा (जन्ममरणरूप चातुर्गतिक) ससार को समुद्र कहा गया है, जिसे महर्षि पार कर जाते हैं।

विवेचन—अस्साविणी नावा—आस्राविणी नौका का अर्थ है—जिसमे छिद्र होने से पानी अन्दर आता हो, भर जाता हो, जिसमे से पानी रिसता हो, निकलता हो।

निरस्साविणी नावा—निःस्राविणी नौका वह है, जिसमे पानी अन्दर न आ सके, भर न सके।[2]

---

१ उत्तरा वृत्ति, अ. रा को. भा ३, पृ ९६५

२ उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९५३

गौतम का आशय—गौतमस्वामी के कहने का आशय यह है कि जो नौका सच्छिद्र होती है, वह बीच में ही डूब जाती है, क्योंकि उसमे पानी भर जाता है, वह समुद्रपार नहीं जा सकती। किन्तु जो नौका निश्छिद्र होती है, उसमें पानी नही भर सकता, वह बीच में नहीं डूबती तथा वह निर्विघ्नरूप से व्यक्ति को सागर से पार कर देती है। मैं जिस नौका पर चढ़ा हुआ हूँ, वह सच्छिद्र नौका नही है, किन्तु निश्छिद्र है, अत. वह न तो डगमगा सकती है, न मझधार में डूब सकती है। अतः मैं उस नौका के द्वारा समुद्र को निर्विघ्नतया पार कर लेता हूँ।[1]

शरीरमाहु नाव त्ति—शरीर को नौका, जोव को नाविक और ससार को समुद्र कह कर सकेत किया है कि जो साधक निश्छिद्र नौका की तरह समस्त कर्माश्रव-छिद्रो को बन्द कर देता है, वह ससारसागर को पार कर लेता है।

आशय यह है कि यह शरीर जब कर्मागमन के कारणरूप आश्रवद्वार से रहित हो जाता है, तब रत्नत्रय की आराधना का साधनभूत बनता हुआ इस जीवरूपी मल्लाह को ससार-समुद्र से पार करने मे सहायक बन जाता है, इसीलिए ऐसे शरीर को नौका को उपमा दी गई है। रत्नत्रयाराधक साधक ही शरीररूपी नौका द्वारा इस ससारसमुद्र को पार करता है, इसलिए इसे नाविक कहा गया है। जीवो द्वारा पार करने योग्य यह जन्ममरणादि रूप संसार है।[2]

ग्यारहवाँ प्रश्नोत्तर : अन्धकाराच्छन्न लोक में प्रकाश करने वाले के सम्बन्ध में

७४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[७४] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरे इस सशय को मिटा दिया, (किन्तु) मेरा एक और सशय है। उसके विषय मे भी आप मुझे बताइए।

७५. अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं ? ॥

[७५] घोर एव गाढ अन्धकार मे (ससार के) बहुत-से प्राणी रह रहे है। (ऐसी स्थिति मे) सम्पूर्ण लोक मे प्राणियो के लिए कौन उद्योत (प्रकाश) करेगा ?

७६. उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगमि पाणिणं ॥

[७६] (गणधर गौतम)—समग्र लोक मे प्रकाश करने वाला निर्मल सूर्य उदित हो चुका है, वही समस्त लोक मे प्राणियो के लिए प्रकाश प्रदान करेगा ?

७७. भाणू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[७७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा—'आप सूर्य किसे कहते हैं ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९५३

२ वही, पृ ९५४

७८. उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयंमि पाणिणं ।।

[७८] (गणधर गौतम)—जिसका ससार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, ऐसा जिन-भास्कर उदित हो चुका है । वही सारे लोक मे प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा ।

विवेचन—अन्धयारे तमे घोरे—यहाँ अन्धकार का सकेत अज्ञानरूप अन्धकार से है तथा प्रकाश का अर्थ—ज्ञान । ससार के अधिकाश प्राणी अज्ञानरूप गाढ अन्धकार से घिरे हुए है, उन्हे सद्ज्ञान का जाज्वल्यमान प्रकाश देने वाले सूर्य जिनेन्द्र है ।

यद्यपि 'अन्धकार' और 'तम' शब्द एकार्थक हैं, तथापि यहाँ 'तम' अन्धकार का विशेषण होने से 'तम' का अर्थ यहाँ गाढ होता है ।[1]

विमलो भाणू—निर्मल भानु का तात्पर्य यहाँ बाह्यरूप मे बादलो से रहित सूर्य है, किन्तु आन्तरिक रूप मे कर्मरूप मेघ से अनाच्छादित विशुद्ध केवलज्ञानयुक्त सर्वज्ञ परम आत्मा । आत्मा जब पूर्ण विशुद्ध होता है, तब सर्वज्ञ, केवली, राग द्वेष-मोह-विजेता, अष्टविध कर्मो से सर्वथा रहित हो जाता है । ऐसे परम विशुद्ध आत्मा जिनेश्वर ही है, वही सम्पूर्ण लोक मे प्रकाश—सम्यग्ज्ञान प्रदान करते हैं ।[2]

बारहवाँ प्रश्नोत्तर : क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान के विषय में

७९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ।।

[७९] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा निर्मल है । तुमने मेरा यह सशय तो दूर कर दिया । अब मेरा एक सशय रह जाता है, गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कहिए ।

८०. सारीर-माणसे दुक्खे बज्झमाणाण पाणिण ।
खेमं सिवमणाबाह ठाण किं मन्नसी मुणी ? ।।

[८०] मुनिवर ! शारीरिक और मानसिक दु खो से पीडित प्राणियो के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध—बाधारहित स्थान कौन-सा मानते हो ?

८१. अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गंमि दुरारुह ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू वाहिणो वेयणा तहा ।।

[८१] (गणधर गौतम)—लोक के अग्रभाग मे एक ऐसा ध्रुव (अचल) स्थान है, जहाँ जरा (बुढापा), मृत्यु, व्याधियाँ तथा वेदनाएँ नही है, परन्तु वहाँ पहुँचना दुरारुह (बहुत कठिन) है ।

८२. ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।।

---

१ उत्तरा वृत्ति, अभि. रा, कोष भा ३, पृ. ९६५

२ वही, पृ. ९६५

[८२] (केशी कुमारश्रमण)—वह स्थान ...न-सा कहा गया है ? केशी ने गौतम से पूछा । केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

८३. निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोगग्गमेव
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरन्ति महेसिणो ।।

८४. तं ठाणं सासयं वासं लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयन्ति भवोहन्तकरा मुणी ।।

[८३-८४] (गणधर गौतम)—जिस स्थान को महामुनि जन ही प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध (इत्यादि नामों से प्रसिद्ध) है । भव-प्रवाह का अन्त करने वाले महामुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, वह स्थान लोक के अग्रभाग मे है, शाश्वतरूप से (मुक्त जीव का) वहाँ वास हो जाता है, जहाँ पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है ।

विवेचन—खेमं सिव अणाबाहं : क्षेम—व्याधि आदि से रहित, शिव—जरा, उपद्रव से रहित, अनाबाध—शत्रुजन का अभाव होने से स्वाभाविक रूप से पीडारहित ।

दुरारुहं—जो स्थान दुष्प्राप्य हो, जहाँ पर आरूढ होना कठिन हो ।

वाहिणो—वात, पित्त, कफ आदि से उत्पन्न रोग ।

सासयं : शाश्वत—स्थायी निवास वाला स्थान ।

निव्वाणं : निर्वाण—जहाँ सताप के अभाव के कारण जीव शान्तिमय हो जाता है ।

अबाहं : अबाध—जहाँ किसी प्रकार की भय आदि बाधा न हो ।

सिद्धी : जहाँ ससार-परिभ्रमण का अन्त हो जाने से समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं ।[1]

जं चरति महेसिणो—जिस भूमि को महर्षि-महामुनि सुख से प्राप्त करते हैं । अर्थात्—वीतराग मुनिराज चक्रवर्ती से अधिक सुखभागी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।[2]

१ (क) क्षेम—व्याध्यादिरहितम्, शिव—जरोपद्रवरहित, अनाबाध—शत्रुजनाभावात् स्वभावेन पीडारहितम् ।
(ख) दु खेन आरुह्यते यस्मिन् तत् दुरारोह, दुष्प्राप्यमित्यर्थ ।
(ग) वाहिणो—व्याधय वातपित्तकफश्लेष्मादय ।
(घ) शाश्वत—सदातन, वास—स्थानम् ।
(ग) निर्वान्ति सतापस्याभावात् शीतीभवन्ति जीवा अस्मिन्निति निर्वाणम् ।
(घ) न विद्यते बाधा यस्मिन् तदबाधम्—निर्भयम् ।
(ङ) सिध्यन्ति समस्तकार्याणि भ्रमणाभावात् यस्यां सा सिद्धि । —उत्तरा वृत्ति, अ रा. को भा ३, पृ ९६

२. महर्षयोऽनाबाध यथा स्यात्तथा, चरन्ति व्रजन्ति सुखेन मुनय प्राप्नुवन्ति । मुनयो हि चक्रवर्त्यधिकसुखभाज सन्तो मोक्ष लभन्ते, इति भाव । —वही, पृ ९६६,

केशी कुमार द्वारा गौतम को अभिवन्दन एवं पंचमहाव्रतधर्म स्वीकार

८५. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयाईय ! सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

[८५] हे गौतम ! श्रेष्ठ है आपकी प्रज्ञा ! आपने मेरा यह संशय भी दूर किया । हे संशयातीत ! हे सर्वश्रुत-महोदधि ! आपको मेरा नमस्कार है ।

८६. एव तु संसए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवन्दित्ता सिरसा गोयमं तु महायसं ॥

[८६] इस प्रकार संशय निवारण हो जाने पर घोरपराक्रमी केशी कुमारश्रमण ने महायशस्वी गौतम को मस्तक से अभिवन्दना करके—

८७. पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी मग्गे तत्थ सुहावहे ॥

[८७] पूर्व जिनेश्वर द्वारा अभिमत (—प्रवर्तित तीर्थ से) उस सुखावह अन्तिम (पश्चिम) तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित मार्ग (तीर्थ) मे पंचमहाव्रतरूप धर्म को भाव से अगीकार किया ।

विवेचन—केशी कुमारश्रमण गौतम से प्रभावित—केशी श्रमण गौतम स्वामी के द्वारा अपनी शकाओ का समाधान होने से बहुत ही सन्तुष्ट एव प्रभावित हुए । इसी कारण उन्होने गौतम को सशयातीत, सर्वसिद्धान्तसमुद्र शब्द से सम्बोधित किया तथा मस्तक झुकाकर वन्दन-नमन किया । साथ ही उन्होने पहले जो चातुर्यामधर्म ग्रहण किया हुआ था, उसका विलीनीकरण अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के पंचमहाव्रतरूपधर्म मे कर दिया, अर्थात् पचमहाव्रतधर्म को अगीकार किया ।[1]

पुरिमस्स पच्छिमंमी मग्गे०—(१) पुरिम अर्थात्—पूर्व (आदि) तीर्थंकर के द्वारा अभिमत (प्रवर्तित) उस सुखावह अन्तिम (पश्चिम) तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित मार्ग (तीर्थ) मे, अथवा (२) पूर्व (गृहीत चातुर्यामधर्म के) मार्ग से (उस समय गौतम के वचनो से) सुखावह पश्चिममार्ग (भ महावीर द्वारा प्रवर्तित तीर्थ) मे ।[2]

उपसंहार : दो महामुनियों के समागम की फलश्रुति

८८. केसीगोयमओ निच्चं तम्मि आसि समागमे ।
सुय—सीलसमुक्करिसो महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

[८८] उस तिन्दुक उद्यान मे केशी और गौतम, दोनो का जो समागम हुआ, उससे श्रुत तथा शील का उत्कर्ष हुआ और महान् प्रयोजनभूत अर्थों का विनिश्चय हुआ ।

---

१ उत्तरा० बृत्ति, अभिधान रा कोश भा ३, पृ ९६६

२. (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा २, पत्र १८८
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९६७ (ग) अभि रा कोश भा ३, पृ ९६६

८९ तोसिया परिसा सव्वा सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु भयवं केसिगोयमे ॥
—त्ति बेमि

[८९] (इस प्रकार) वह सारी सभा (देव, असुर और मनुष्यों से परिपूर्ण परिषद्) धर्मचर्चा से सन्तुष्ट तथा सन्मार्ग—मुक्तिमार्ग मे समुपस्थित (समुद्यत) हुई। उसने भगवान् केशी और गौतम की स्तुति की कि वे दोनो (हम पर) प्रसन्न रहे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—महत्थऽत्थविणिच्छओ—महार्थ अर्थात् मोक्ष के साधनभूत शिक्षाव्रत एवं तत्त्वादि का निर्णय हुआ।[१]

॥ केशि-गौतमीय : तेईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९६८

चौवीसवाँ अध्ययन : प्रवचनमाता

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रवचनमाता' (पवयणमाया) अथवा 'प्रवचनमात' है। समवायाग के अनुसार इसका नाम 'समिईओ' (समितियाँ) नाम है, मूल मे इन आठो (पाच समितियो और तीन गुप्तियों) को समिति शब्द से कहा गया है, इसीलिए सम्भव है, समवायाग आदि मे यह नाम रखना अभीष्ट लगा हो।[1]

* शास्त्रो मे यत्र-तत्र पाँच समितियो (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग) और तीन गुप्तियो (मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति और कायगुप्ति) को 'अष्टप्रवचनमाता' कहा गया है।

* जिस तरह माता अपने पुत्र की सदैव देखभाल रखती है, उसे सदा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, उन्मार्ग पर जाने से रोकती है, बालक के रक्षण और चारित्र-निर्माण का सतत ध्यान रखती है, उसी प्रकार से आठो प्रवचनमाताएँ भी प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधक की देखभाल करती हैं, सतत उपयोगपूर्वक सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, असत्प्रवत्ति मे जाने से रोकती हैं, साधक की आत्मा का दुष्प्रवृत्तियो से रक्षण तथा उसके चारित्र (अशुभ से निवृत्ति एव शुभ मे प्रवृत्ति) के विकास का ध्यान रखती है। इसलिए ये आठो प्रवचन (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) की, अथवा प्रवचन के आधारभूत सघ (श्रमणसघ) की मातृ-स्थानीय हैं।[2]

* इन आठो मे समस्त द्वादशागरूप प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हे 'प्रवचनमात' भी कहा गया है।[3]

* 'समिति' का अर्थ है—सम्यक्प्रवृत्ति, अर्थात् साधक की गति सम्यक् (विवेकपूर्वक) हो, भाषा सम्यक् (विवेक एव सयम से युक्त) हो, सम्यक् एषणा (आहारादि का ग्रहण एव उपयोग) हो, सम्यक् आदान-निक्षेप (लेना-रखना सावधानी से) हो और मलमूत्रादि का परिष्ठापन सम्यक् (उचित स्थान मे विसर्जन) हो।

* गुप्ति का अर्थ है—असत् से या अशुभ से निवृत्ति, अर्थात् मन से अशुभ-असत् चिन्तन न करना, वचन से अशुभ या असत् भाषा न बोलना तथा काया से अशुभ या असत् व्यवहार एव आचरण न करना।

* समिति और गुप्ति दोनो मे सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिसा है।

---

१. समवायाग, समवाय ३६

२. प्रवचनस्य तदाधारस्य वा सघस्य मातर इव प्रवचनमातर। —समवायागवृत्ति, सम ८

३ उत्तरा मूल अ २४, गा ३

* ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का विचार करे, स्वाध्याय एव इन्द्रियविषयो को छोडकर एकमात्र गमनक्रिया मे ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख मानकर चले। भाषासमिति की शुद्धि के लिए क्रोधादि आठ स्थानो को छोडकर हित, मित, सत्य, निरवद्य भाषा बोले, एषणासमिति के विशोधन के लिए गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा के दोषों का वर्जन करके आहार, उपधि और शय्या का उपयोग करे। आदाननिक्षेपसमिति के शोधन के लिए समस्त उपकरणो को नेत्रो से प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके ले और रखे। परिष्ठापनासमिति के शोधन के लिए अनापात-असलोक आदि १० विशेषताओ से युक्त स्थण्डिलभूमि देखकर मलमूत्रादि का विसर्जन करे। मन-वचन-कायगुप्ति के परिशोधन के लिए सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होते हुए मन, वचन और काय को रोके।[१]

* यह अध्ययन साध्वाचार का अनिवार्य अग है। प्रवचनमाताओ का पालन साधु के लिए नितान्त आवश्यक है। पाच समितियो एव तीन गुप्तियो के पालन से पचमहाव्रत सुरक्षित रह सकते है और साधक अपने परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।[२] □□

१ उत्तरा अ २४, गा. ४ से २४ तक

२. उत्तरा. अ. २४, गा २७

चउवीसइमं अज्झयणं : चौवीसवाँ अध्ययन

पवयणमाया : प्रवचनमाता

अष्ट प्रवचनमाताएँ

१. अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया ॥

[१] समिति और गुप्ति-रूप अष्ट प्रवचन-माताएँ है। समितियाँ पाच और गुप्तियाँ तीन कही गई है।

२. इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥

[२] ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति (ये पाच समितियाँ है) तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, (ये तीन गुप्तियाँ है)।

३. एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं ॥

[३] ये आठ समितियाँ सक्षेप मे कही गई है, जिनमे जिनेन्द्र-कथित द्वादशागरूप समग्र प्रवचन अन्तर्भूत है।

विवेचन—पांच समितियो का स्वरूप—सर्वज्ञवचनानुसार आत्मा की सम्यक् (विवेकपूर्वक) प्रवृत्ति। समितियाँ पाच है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—**ईर्यासमिति**—किसी भी प्राणी को क्लेश न हो, इस प्रकार से सावधानीपूर्वक चलना, चर्या करना, उठना, बैठना, सोना, जागना आदि सभी चर्याएँ ईर्यासमिति के अन्तर्गत है। **भाषासमिति**—हित, मित, सत्य और सन्देहरहित बोलना, सावधानीपूर्वक भाषण-सम्भाषण करना। **एषणासमिति**—सयमयात्रा मे आवश्यक निर्दोष भोजन, पानी, वस्त्रादि साधनो का ग्रहण एव परिभोग करने मे सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना। **आदान-निक्षेपसमिति**—वस्तुमात्र को भलीभाति देखकर एव प्रमार्जित करके उठाना (लेना) या रखना। **उत्सर्गसमिति**—जीवरहित (अचित्त) प्रदेश मे देख-भाल कर एव प्रमार्जित करके अनुपयोगी वस्तुओ का विसर्जन करना।[1]

तीन गुप्तियों का स्वरूप—योगो (कायिक, वाचिक एव मानसिक क्रियाओ-प्रवृत्तियो) का प्रशस्त (सम्यक् प्रकार से) निग्रह करना **गुप्ति** है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है—सोच-समझकर श्रद्धापूर्वक स्वीकृत निग्रह। इसका हृय फलितार्थ है बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन-वचन-काम को उन्मार्ग से रोकना। गुप्ति तीन प्रकार की है। **मनोगुप्ति**—दुष्ट विचार, चिन्तन या सकल्प का एव अच्छे-बुरे मिश्रित सकल्प

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी) पृ २०८ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ ९७३

का त्याग करना और **वचनगुप्ति**—बोलने के प्रत्येक प्रसग पर या तो वचन पर नियन्त्रण रखना या मौन धारण करना। **कायगुप्ति**—किसी भी वस्तु के लेने, रखने या उठने-बैठने या चलने-फिरने आदि मे कर्त्तव्य का विवेक हो, इस प्रकार शारीरिक व्यापार का नियमन करना।[1]

समिति और गुप्ति मे अन्तर—समिति मे सत्क्रिया की मुख्यता है, जबकि गुप्ति मे असत् क्रिया के निषेध की मुख्यता है। समिति मे नियमत गुप्ति होती है, क्योकि उसमे शुभ मे प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्तिरूप अश है, वह नियमत गुप्ति का अश है। गुप्ति मे प्रवृत्तिप्रधान समिति की भजना है।

आठों को 'समिति' क्यों कहा गया है ?—गा. ३ मे इन आठो को (एयाओ अट्ठसमिईओ) समिति कहा गया है। इसका कारण बृहद्वृत्ति मे बताया गया है कि गुप्तियाँ प्रवीचार और अप्रवीचार दोनो रूप होती है। अर्थात् गुप्तियाँ एकान्त निवृत्तिरूप ही नही, प्रवृत्तिरूप भी होती हैं। अत. प्रवृत्तिरूप अंश की अपेक्षा से उन्हे भी समिति कह दिया है।[2]

द्वादशांगरूप जिनोक्त प्रवचन इनके अन्तर्गत—इन आठ समितियो मे द्वादशागरूप प्रवचन समाविष्ट हो जाता है, ऐसा कहने का कारण यह है कि समिति और गुप्ति दोनो चारित्ररूप है तथा चारित्र ज्ञान-दर्शन से अविनाभावी है। वास्तव मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थत द्वादशाग नही है। इसी दृष्टि है यहाँ चारित्ररूप समिति-गुप्तियो मे प्रवचनरूप द्वादशाग अन्तर्भूत कहा गया है।[3]

अट्ठपवयणमायाओ—पाच समिति और तीन गुप्ति, ये आठो प्रवचन-माताएँ इसलिए कही गई है कि इन से द्वादशागरूप प्रवचन का प्रसव होता है। इसलिए ये द्वादशागरूप प्रवचन की माताएँ हैं, साथ ही ये प्रवचन के आधारभूत सघ (चतुर्विध सघ) की भी माताएँ है।

इस दृष्टि से 'मात' और 'माता' ये दो विशेषण यहाँ समिति गुप्तियो के लिए प्रयुक्त हैं। और इन का आशय ऊपर दे दिया गया है।[4]

चार कारणों से परिशुद्ध : ईर्यासमिति

४. आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए॥

---

१ 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति।' —तत्त्वार्थ अ ९ सू ४, (प सुखलालजी) पृ २०७

२ (क) उत्तरा (साध्वी चन्दना) टिप्पणी, पृ ४४३

(ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५१४ ·

'समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणमि भइयव्वो।'

३. (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९७४ (ख) **'दुवालसग जिणक्खाय माय जत्थ उ पवयण।'** —उत्तरा-मूल अ २४, गा-३

४. (क) **'प्रवचनस्य द्वादशागस्य तदाधारस्य वा सघस्य मातर इव प्रवचनमातरः।'** —समवायांगवृत्ति, समवाय ८

(ख) **'एया प्रवयणमाया दुवालसंगं पसुयातो।'** —बृहद्वृत्ति, पत्र ५१४

[४] सयमी साधक आलम्बन, काल, मार्ग और यतना, इन चार कारणो से परिशुद्ध ईर्या (गति) से विचरण करे।

५. तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए ॥

[५] (इन चारो मे) ईर्यासमिति का आलम्बन—ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र है, काल से—दिवस ही विहित है और मार्ग—उत्पथ का वर्जन है।

६. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण ॥

[६] द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। उसे मै कह रहा हूँ, सुनो।

७. दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ ॥

[७] द्रव्य (की अपेक्षा) से—नेत्रो से (गन्तव्य मार्ग को) देखे, क्षेत्र से—युगप्रमाण भूमि को देखे, काल से—जब तक चलता रहे, तब तक देखे और भाव से—उपयोगपूर्वक गमन करे।

८. इन्दियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए ॥

[८] (गमन करते समय) इन्द्रिय-विषयो और पाच प्रकार के स्वाध्याय को छोड कर, केवल गमन-क्रिया मे ही तन्मय होकर, उसी को 'प्रमुख (आगे)' करके (महत्त्व देकर) उपयोगपूर्वक गति (ईर्या) करे।

विवेचन—चार प्रकार की परिशुद्धि क्यो ?—ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए जो चार प्रकार बताए है, उनका आशय यह है कि मुनि निरुद्देश्य गमनादि प्रवृत्ति न करे। वह किसलिए गमन करे ? कब गमन करे ? किस क्षेत्र के गमन करे ? और किस विधि से करे ? ये चारो भाव ईर्या के साथ लगाये। तभी परिशुद्धि हो सकती है। वह ज्ञान, दर्शन अथवा चारित्र के उद्देश्य से गमन करे। दिन मे ही गमन करे, रात्रि मे ईर्याशुद्धि नही हो सकती। रात्रि मे बडी नीति, लघुनीति परिष्ठापन के लिए गमन करना पडे तो प्रमार्जन करके चले। मार्ग से—उन्मार्ग को छोडकर गमन करे, क्योकि उन्मार्ग पर जाने से आत्मविराधना आदि दोष सभव है। यतना चार प्रकार की है—द्रव्य से नेत्रो से देख भाल कर गमन करे। क्षेत्र से युगमात्र भूमि देख कर चले। काल से जहाँ तक चले, देख कर चले तथा भाव से उपयोगसहित चले।[१]

जुगमित्तं तु खेत्तओ—युगमात्र का विलोकन—युग का अर्थ है—गाडी का जुआ। गाडी

---

१. (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९०
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९७६

का जुआ पीछे से विस्तृत और प्रारम्भ मे सकडा होता है, वैसी ही साधु की दृष्टि हो। युग लगभग ३।। हाथ प्रमाण लम्बा होता है, इसलिए मुनि ३।। हाथ प्रमाण भूमि देख कर चले।[1]

दस बोलों का वर्जन—इन्द्रियो के शब्दादि पाच विषयो को तथा वाचना आदि पाच प्रकार के स्वाध्याय को—यानी इन दस बोलो को छोड कर गमन करे।[2]

गमन के समय स्वाध्याय भी वर्ज्य कहा गया है। क्योकि स्वाध्याय मे उपयोग लगाने से मार्ग सबधी उपयोग नही रह सकता। दो उपयोग एक साथ होते नही है।

भाषासमिति

९. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव य॥

[९] क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथाओ के प्रति सतत उपयोगयुक्त होकर रहे।

१०. एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु सजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं॥

[१०] प्रज्ञावान् सयमी साधु इन आठ (पूर्वोक्त) स्थानो को त्यागकर उपयुक्त समय पर निरवद्य (दोषरहित) और परिमित भाषा बोले।

विवेचन—असावज्जं—असावद्य अर्थात्—पाप (-दोष) रहित निरवद्य।

क्रोधाविवश बोलने का निषेध—जब क्रोधादि के वश या क्रोध आदि के आवेश मे बोला जाता है, तब प्राय शुभ भाषा नही बोली जाती, अतएव बोलते समय क्रोधादि के आवेश का त्याग करना चाहिए।[3]

एषणाशुद्धि के लिए एषणा समिति

११. गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥

[११] गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से आहार, उपधि और शय्या, इन तीनो का परिशोधन करे।

१२. उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

[१२] यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला सयत, प्रथम एषणा (आहारादि की गवेषणा)

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९७५-९७६
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र १९०

२. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३ पृ ९७६

३. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र १९१

मे उद्गम और उत्पादना सबधी दोषो का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) मे आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषो का शोधन करे तथा परिभोगैषणा मे दोषचतुष्टय का शोधन करे।

विवेचन—गवेसणा—गाय की तरह एषणा अर्थात् शुद्ध आहार की खोज (तलाश) करना।

ग्रहणैषणा—ग्रहणा का अर्थ है विशुद्ध आहार लेना, अथवा आहार ग्रहण के सम्बन्ध मे एषणा अर्थात् विचार ग्रहणैषणा कहलाती है।

परिभोगैषणा—परिभोग का अर्थ है—भोजन के मण्डल मे बैठकर भोजन का उपभोग (सेवन) करते समय की जाने वाली एषणा।

तीनो एषणाएँ : तीन विषय मे—पूर्वोक्त तीनो एषणाएं केवल आहार के विषय मे ही शोधन नही करनी है, अपितु आहार, उपधि (वस्त्र-पात्रादि) और शय्या (उपाश्रय, सस्तारक आदि), इन तीनो के विषय मे शोधन करनी है।

किस एषणा मे किन दोषो का शोधन आवश्यक ?—गवेषणा (प्रथम एषणा) मे आधाकर्म आदि १६ उद्गम के और धात्री आदि १६ उत्पादना के दोषो का शोधन करना है। ग्रहणषणा मे शकित आदि १० एषणा के दोषो का तथा परिभोगैषणा मे सयोजना, प्रमाण, अगार-धूम और कारण, इन चार दोषो का शोधन करना है। अगर अगार और धूम इन दो दोषो को अलग-अलग माने तो परिभोगैषणा के ५ दोष होने से कुल १६+१६+१०+५=४७ दोष होते है। यहाँ अगार और धूम दोनो दोष मोहनीयकर्म के अन्तर्गत होने से दोनो को मिला कर एक दोष कहा गया है।[1]

परिभोगैषणा मे चतुष्कविशोधन—परिभोगैषणा मे चार वस्तुओ का विशोधन करने का विधान दशवैकालिकसूत्र के अनुसार इस प्रकार है—**'पिण्डं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य।'** अर्थात्—पिण्ड, शय्या, वस्त्र और चौथा पात्र, इन चार का उद्गमादि दोषो के परिहार पूर्वक सेवन करे।[2]

आदान-निक्षेपसमिति : विधि

१३. ओहोवहोवग्गहियं भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य पउजेज्ज इमं विहिं॥

[१३] मुनि ओघ-उपधि और औपग्रहिक-उपधि, इन दोनो प्रकार के भाण्डक (अर्थात् उपकरणो) को लेने और रखने मे इस (आगे कही गई) विधि का प्रयोग करे।

१४. चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया॥

[१४] समितिवान् (उपयोगयुक्त) एव यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला मुनि पूर्वोक्त दोनो

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भाग २, पत्र १९२

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९८१

प्रकार के उपकरणो को सदा आँखो से पहले प्रतिलेखन (देख-भाल) करके और फिर प्रमार्जन करके ग्रहण करे या रखे।

विवेचन—ओघौपधि और औपग्रहिकौपधि—उपधि अर्थात् उपकरण, रजोहरण आदि नित्य-ग्राह्य रूप सामान्य उपकरण को औघिक उपधि और कारणवश ग्राह्य दण्ड आदि विशेष उपकरण को औपग्रहिक उपधि कहते है।[1]

पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज—जिस उपकरण को उठाना या रखना हो, उसे पहले आँखो से भलीभांति देख-भाल (प्रतिलेखन कर) ले, ताकि उस पर कोई जीव-जन्तु न हो, फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर ले, ताकि कोई जीव-जन्तु हो तो वह धीरे से एक ओर कर दिया जाए, उसकी विराधना न हो।[2]

परिष्ठापनासमिति : प्रकार और विधि

१५. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अन्नं वावि तहाविहं॥

[१५] उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, सिंघानक, जल्ल, आहार, उपधि, शरीर तथा अन्य इस प्रकार की परिष्ठापन-योग्य वस्तु का विवेकपूर्वक स्थण्डिलभूमि मे उत्सर्ग करे।

१६. अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए॥

[१६] स्थण्डिलभूमि चार प्रकार की होती है—(१) अनापात-असलोक, (२) अनापात-सलोक, (३) आपात-असलोक और (४) आपात-सलोक।

१७. अणावायमसंलोए परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयंमि य॥
१८. वित्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाण-बीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे॥

[१७-१८] जो भूमि (१) अनापात-असलोक हो, (२) उपघात (दूसरे के और प्रवचन के उपघात) से रहित हो, (३) सम हो, (४) अशुषिर (पोली नही) हो तथा (५) कुछ समय पहले ही (दाहादि से) निर्जीव हुई हो, (६) जो विस्तृत हो, (७) गाँव (बस्ती), बगीचे आदि से दूर हो, (८) बहुत नीचे (चार अगुल तक) अचित्त हो, (९) बिल से रहित हो तथा (१०) त्रस प्राणी और बीजो से रहित हो, ऐसी (१० विशेषताओ वाली) भूमि में उच्चार (मल) आदि का विसर्जन करे।

---

१. (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ ९८२
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र १९२
२ (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र १९२
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९८३

विवेचन—उच्चार आदि पदों के विशेषार्थ—उच्चार—मल, **प्रस्रवण**—मूत्र, **खेल**—श्लेष्म-कफ, **सिंघाण**—नाक का मैल (लीट), **जल्ल**—शरीर का मैल, पसीना, आहार (परिष्ठापन योग्य), उपकरण (उपधि) और शरीर (मृत शव) तथा **अन्य**—भुक्त शेष अन्न-जल (ऐंठवाड) या टूटे पात्र, फटे हुए वस्त्र आदि का विवेक पूर्वक स्थण्डिलभूमि मे व्युत्सर्ग करे।[1]

अनापात-असंलोक आदि चतुर्विध स्थण्डिलभूमि—(१) **अनापात-असंलोक**—जहाँ लोगो का आवागमन न हो तथा दूर से भी वे न दीखते हो, (२) **अनापात-संलोक**—जहाँ लोगो का आवागमन न हो, किन्तु लोग दूर से दीखते हो, (३) **आपात-असंलोक**—लोगो का जहाँ आवागमन हो, किन्तु वे दीखते न हो और (४) **आपात-संलोक**—जहाँ लोगो का आवागमन भी हो, और वे दिखाई भी देते हो। इन चारो प्रकार की स्थण्डिलभूमियो मे से प्रथम प्रकार की अनापात-असंलोक भूमि ही विसर्जन योग्य होती है।[2]

अचिरकालकयंमि—इसका अर्थ है कि स्वल्पकाल पूर्व दग्ध स्थानो मे मलादि विसर्जन करे। बृहद्वृत्तिकार इसका आशय बताते हैं कि स्वल्पकाल पूर्व जो स्थान दग्ध होता है, वह सर्वथा अचित्त (निर्जीव) होता है, जो चिरकालदग्ध होते है, वहाँ पृथ्वीकायादि के जीव पुन उत्पन्न हो जाते है।[3]

समिति का उपसंहार और गुप्तियों का प्रारम्भ

१९. एयाओ पंच समिईओ समासेण वियाहिया।
एत्तो य तओ गुत्तीओ वोच्छामि अणुपुव्वसो॥

[१९] ये पाच समितियाँ संक्षेप मे कही गई हैं, अब यहाँ से तीन गुप्तियो के विषय मे क्रमश कहूँगा।

मनोगुप्ति : प्रकार और विधि

२०. सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा मणगुत्ती चउव्विहा॥

[२०] मनोगुप्ति चार प्रकार की है—(१) सत्या (सच), (२) मृषा (झूठ) तथा (३) सत्यामृषा (सच और झूठ मिश्रित) और चौथी (४) असत्यामृषा (जो न सच है, न झूठ है केवल लोकव्यवहार है)।

२१. संरम्भ—समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

[२१] यतनावान् यति (मुनि) संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होते हुए मन का निवर्त्तन करे।

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र १९२
२ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र १९३
(ख) उत्तरा (साध्वी चन्दना), पृ २५४
३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५१८
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र १९३

विवेचन—चतुर्विध मनोगुप्तियों का स्वरूप—(१) **सत्य मनोगुप्ति**—मन में सत् (सत्य) पदार्थ के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। जैसे—जगत् मे जीव तत्त्व है, यों सत्य पदार्थ का चिन्तन। (२) **असत्य मनोगुप्ति**—असत्पदार्थ के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। यथा—जगत् मे जीवतत्त्व नहीं है। (३) **सत्यामृषा मनोगुप्ति**—सत् और असत् दोनों के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। यथा—आम्र आदि विविध वृक्षो का वन देख कर, यह आम्र का वन है, ऐसा चिन्तन करना। (४) **असत्यामृषा मनोगुप्ति**—जो चिन्तन सत्य भी न हो, असत्य भी न हो। यथा—देवदत्त! घडा ले आए, इत्यादि आदेश-निर्देशात्मक वचन का मन मे चिन्तन करना।[1]

मनोगुप्ति के लिए मन को तीन के चिन्तन से हटाना—प्रस्तुत गाथा २१ मे शास्त्रकार ने कहा है, यदि मनोगुप्ति करना चाहते हो तो मन को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, इन तीनो में प्रवृत्त हाने से रोको, किसी शुभ या शुद्ध सकल्प मे मन को प्रवृत्त करो। (१) **संरम्भ**—अशुभ सकल्प करना। जैसे—'मैं ऐसा ध्यान करूं, जिससे वह मर जाएगा, या मरे।' (२) **समारम्भ**—परपीडाकारक उच्चाटनादि से सम्बन्धित ध्यान को उद्यत होना। जैसे—मैं अमुक को उच्चाटन आदि करके पीडा पहुँचाऊँगा या पहुँचाऊँ, जिससे उसका उच्चाटन हो जाए। (३) **आरम्भ**—दूसरो के प्राणो को कष्ट कर सकने वाले अशुभ परिणाम करना। ऐसे अशुभ मे प्रवर्त्तमान मन को अशुभ से हटा कर आगमोक्त विधि अनुसार शुभ मे प्रवृत्त करे।[2]

वचनगुप्ति : प्रकार और विधि

२२. सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा वइगुत्ती चउव्विहा॥

[२२] वचनगुप्ति के चार प्रकार हैं—(१) सत्या, (२) मृषा, तथा (३) सत्यामृषा और (४) असत्यामृषा।

२३ संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

[२३] यतनावान् यति (मुनि) सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवर्त्तमान वचन का निवर्त्तन करे (रोके और शुभ मे प्रवृत्त करे)।

विवेचन—सत्या आदि चारों वचनगुप्तियों का स्वरूप—मनोगुप्ति की तरह ही समझना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि मनोगुप्ति मे मन मे चिन्तन है, जब कि वचनगुप्ति मे वचन से बोलना है।[3]

वचनगुप्ति के लिए तीन से वचन को हटाना— संरम्भ—दूसरे का विनाश करने मे समर्थ मत्रादि गिनने के सकल्प के सूचक शब्द बोलना। **समारम्भ**—परपीडाकारक मत्रादि जपने को उद्यत

---

१ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र १९६

२ वही भा. २, पत्र १९४

३. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९९० (ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा. २. पत्र १९४

होना और आरम्भ—दूसरे को विनष्ट करने के कारणरूप मन्त्रादि का जाप करना। इन तीनो प्रकार के वचनो से अपनी जिह्वा को रोके और तत्काल शुभवचन मे प्रवृत्त करे।[1]

कायगुप्ति : प्रकार और विधि

२४. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघण-पल्लंघणे इन्दियाण य जुंजणे॥

[२४] खडे होने मे, बैठने मे, त्वग्वर्त्तन—(करवट बदलने या लेटने) मे तथा उल्लघन (खड्डा, खाई वगैरह लाघने) मे, प्रलघन (सीधा चलने-फिरने) मे और इन्द्रियो के (शब्दादि विषयो के) प्रयोग मे (प्रवर्त्तमान मुनि कायगुप्ति करे। वह इस प्रकार—)।

२५. संरम्भ-समारम्भे आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाण तु नियत्तेज्ज जय जई॥

[२५] यतनावान् यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होती हुई काया का निवर्त्तन करे।

विवेचन—कायगुप्ति के लिए सरम्भादि से काया को रोकना आवश्यक—सरम्भ का अर्थ यद्यपि सकल्प होता है, तथापि यहाँ उपचार से अर्थ होता है—मारने के लिए मुक्का तानना, लाठी उठाना, अर्थात् किसी को मारने के लिए उद्यत होना। **समारम्भ**—लात, मुक्का आदि से मारना, चोट पहुँचाना तथा **आरम्भ**—प्राणियो के वध के लिए लाठी, तलवार आदि का उपयोग करना। काया जब सरम्भादि मे से किसी मे प्रवृत्त हो रही हो, तभी उसे रोकना कायगुप्ति है।[2]

समिति और गुप्ति मे अन्तर

२६. एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो॥

[२६] ये पाच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ समस्त अशुभ विषयो (अर्थों) से निवृत्ति के लिए कही गई हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—समितिया प्रवृत्तिरूप हैं, जब कि गुप्तियाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप है।[3]

---

१ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भाग २, पत्र १९४
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ. ९९१

२ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ ९९३

३ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ३, पृ ९९४

प्रवचनमाताओं के आचरण का सुफल

२७. एया पवयणमाया जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—त्ति बेमि

[२७] जो पण्डित मुनि इन प्रवचनमाताओ का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही समग्र ससार (जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक ससार) से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ प्रवचनमाता : चौबीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

पच्चीसवाँ अध्ययन : यज्ञीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत पच्चीसवे अध्ययन का नाम 'यज्ञीय' (जन्नइज्ज) है। इसका मुख्य प्रतिपादित विषय यज्ञ से सम्बन्धित है।

* भगवान् महावीर के युग मे बाह्य हिसाप्रधान एव लौकिककामनामूलक अथवा स्वर्गादि कामनाओ से प्रेरित यज्ञो की धूम थी। यज्ञ का प्रधान सचालक यायाजी (याज्ञिक) वेदों का पाठक ब्राह्मण हुआ करता था। ये यज्ञ ब्राह्मणसस्कृति-परम्परागत होते थे।

* श्रमणसस्कृति तप, सयम, समत्व आदि मे यतना करने को, त्यागप्रधान नियमो को यज्ञ कहती थी। ऐसे यज्ञ को भावयज्ञ कहा जाता था। ब्राह्मणसस्कृति के प्रतिनिधि को ब्राह्मण और श्रमणसस्कृति के प्रतिनिधि को श्रमण कहते थे। ब्राह्मणसस्कृति उस समय कर्मकाण्ड पर जोर देती थी, जब कि श्रमणसस्कृति सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, त्याग, सयम आदि पर। श्रमणो के ज्ञान-दर्शन-चारित्र के कारण श्रमणसस्कृति का प्रभाव साधारण जनता पर सीधा पडता था।

* वाराणसी मे जयघोष और विजयघोष दो भाई थे, जो काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे वेदो के ज्ञाता थे। एक दिन जयघोष गगातट पर स्नानार्थ गया, वहाँ उसने देखा कि एक सर्प मेढक को निगल रहा है और कुरर पक्षी सर्प को। इस दृश्य का जयघोष के मन पर गहरा प्रभाव पडा। उसे ससार से विरक्ति हो गई, फलत उसने एक जैन श्रमण से दीक्षा ले ली।

* एक बार श्रमण जयघोष विहार करता हुआ वाराणसी आ पहुँचा। भिक्षाटन करते-करते वह अनायास ही विजयघोष के यज्ञमण्डल मे पहुँच गया, जहाँ विजयघोष यज्ञ कर रहा था। विजयघोष ने जयघोष श्रमण को नही पहचाना। उसने तिरस्कारपूर्वक भिक्षा देने से मना कर दिया। समभावी जयघोष को इससे कोई दु ख न हुआ। उसने विजयघोष को बोध देने की दृष्टि से कहा—तुम जो यज्ञ कर रहे हो, वह सच्चा नही है। अन्तत विजयघोष जयघोष की युक्तियो के आगे निरुत्तर हो गया। फिर जिज्ञासावश विजयघोष के पूछने पर जयघोष ने वेद, ब्राह्मण, यज्ञ आदि के लक्षण बताए, जो यहाँ कई गाथाओ मे वर्णित हैं। इस समाधान से विजयघोष अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। उसे सासारिक कामभोगो से विरक्ति हो गई और वह श्रमण-धर्म मे प्रव्रजित हो गया। श्रमणधर्म की सम्यक् साधना करके जयघोष और विजयघोष दोनो ही अन्त मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। □□

पंचविंसइमं अज्झयणं : पच्चीसवाँ अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीय

जयघोष : ब्राह्मण से यमयायाजी महामुनि

१. माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो ।
जायाई जमजन्नंमि जयघोसे त्ति नामओ ।।

[१] ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न महायशस्वी जयघोष नाम का ब्राह्मण था जो यमरूप यज्ञ मे (अनुरक्त) यायाजी था ।

२ इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगामं रीयन्ते पत्तो वाणारसिं पुरिं ।।

[२] वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला, मार्गगामी महामुनि हो गया था । एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ वह वाराणसी पहुँच गया ।

३. वाणारसीए बहिया उज्जाणंमि मणोरमे ।
फासुए सेज्जसथारे तत्थ वासमुवागए ।।

[३] उसने वाराणसी के बाहर मनोरम नामक उद्यान मे प्रासुक शय्या (वसति) और सस्तारक (—पीठ, फलक आदि आसन) लेकर निवास किया ।

विवेचन—ब्राह्मण से यमयायाजी—वाराणसीनिवासी जयघोष और विजयघोष दोनो सगे भाई काश्यपगोत्रीय विप्र थे । एक दिन जयघोष ने गगा तट पर एक मेढक को निगलते साप को देखा, जिसे एक कुररपक्षी अपनी चोच से पछाड कर खा रहा था । ससार की ऐसी दु खदायी स्थिति देख कर जयघोष को विरक्ति हो गई । धर्म का ही आश्रय लेने का विचार हुआ । गगा के दूसरे तट पर उत्तम मुनियो को देखा, उनका धर्मोपदेश सुना और निर्ग्रन्थमुनिदीक्षा ग्रहण करके वह पचमहाव्रत (यम) रूप यज्ञ का यायाजी बना ।[२]

जायाई जमजण्णसि—यम का अर्थ यहा पचमहाव्रत है । यमयज्ञ का अर्थ है—पचमहाव्रत-रूप यज्ञ, उसका यायाजी (बार-बार यज्ञ करने वाला) ।[१]

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर), पत्र १९६

२ 'यमा —अहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्म-निर्लोभा पच, त एव यज्ञो—यमयज्ञस्तस्मिन् यमयज्ञे, अतिशयेन पुनः पुन यज्ञकरणशील —यायाजी । अर्थात्—पचमहाव्रतरूपे यज्ञे याज्ञिको —मुनि जात ।'

—अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४१९

मग्गगामी—मार्ग अर्थात्—सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मे गमन करने-कराने वाला ।

गामाणुगामं रीअंते—एक ग्राम से दूसरे ग्राम पैदल विहार करता हुआ ।[1]

जयघोष मुनि : विजयघोष के यज्ञ में

४. अह तेणेव कालेणं पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसे त्ति नामेण जन्नं जयइ वेयवी ॥

[४] उसी समय उस नगरी मे वेदो का ज्ञाता विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था ।

५. अह से तत्थ अणगारे मासक्खमणपारणे ।
विजयघोसस्स जन्नंमि भिक्खस्सऽट्ठा उवट्ठिए ॥

[५] एक मास की तपश्चर्या (मासखमण) के पारणा के समय जयघोष मुनि विजयघोष के यज्ञ में उपस्थित हुए ।

विवेचन—जन्न जयई— प्राचीनकाल मे कर्मकाण्डी मीमासक 'यज्ञ' को ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठतम कर्म मानते थे । बड़े-बड़े यज्ञसमारोहो मे 'पशुबलि' दी जाती थी । श्रमणसंस्कृति के उन्नायको नें ऐसे यज्ञ का विरोध किया और पचमहाव्रतरूप भावयज्ञ का प्रतिपादन किया । जिसमे अज्ञान, पापकर्म आदि की आहुति दी जाती है । प्रस्तुत में विजयघोष, जोकि जयघोष मुनि का गृहस्थपक्षीय सहोदर था, ऐसे ही किसी हिसक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था । उसके भाई जयघोष अनगार जो पचमहाव्रतरूप अहिंसक यज्ञ के याज्ञिक बने हुये थे, विजयघोष के द्वारा आयोजित यज्ञ (मण्डप) मे भिक्षा के लिए पहुँचे ।[2]

यज्ञकर्ता द्वारा भिक्षादान का निषेध एवं मुनि की प्रतिक्रिया

६. समुवट्ठियं तहिं सन्तं जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं भिक्खू ! जायाहि अन्नओ ॥

[६] यज्ञकर्ता ब्राह्मण भिक्षा के लिए वहाँ उपस्थित मुनि को मना करता है—'भिक्षु ! मैं तुम्हे भिक्षा नही दूगा । अन्यत्र याचना करो ।'

७. जे य वेयविऊ विप्पा जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसंगविऊ जे य जे य धम्माण पारगा ॥

[७] जो वेदो के ज्ञाता विप्र (ब्राह्मण) हैं, जो यज्ञ के ही प्रयोजन वाले द्विज (सस्कार से द्विजन्मा) हैं, जो ज्योतिषशास्त्र के अगो के वेत्ता हैं तथा जो धर्मों (-धर्मशास्त्रो) के पारगामी हैं ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२ मार्गं मोक्ष गच्छति स्वय, अन्यान् गमयतीति मार्गगामी ।

२ (क) 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म ।' —शतपथब्राह्मण १।७।४।५

(ख) अग्निष्टोमीय पशुमालभेत ।— वेद

(ग) देखिये, उत्तरा अ १२ गा. ४२, ४४ में अहिंसक यज्ञ का स्वरूप

(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ५

८. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं भो भिक्खू ! सव्वकामियं ॥

[८] जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ है, उन्ही को हे भिक्षु ! यह सर्व-कामिक (समस्त इष्ट वस्तुओ से युक्त) अन्न देने योग्य है ।

९. सो एवं तत्थ पडिसिद्धो जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो उत्तमट्ठ—गवेसओ ॥

[९] वहाँ (यज्ञपाटक मे) इस प्रकार याजक (विजयघोष) के द्वारा इन्कार किये जाने पर वह महामुनि (जयघोष) न तो रुष्ट हुए और न तुष्ट (प्रसन्न) हुए । (क्योंकि वह) उत्तम अर्थ (मोक्ष) के गवेषक (-अभिलाषी) थे ।

विवेचन—विप्र और द्विज में अन्तर—यद्यपि 'विप्र' और 'द्विज' दोनो सामान्यतया ब्राह्मण अर्थ मे प्रयुक्त होते है, परन्तु बृहद्वृत्तिकार ने इन दोनो के अन्तर को स्पष्ट किया है—ब्राह्मण जाति मे उत्पन्न होने वाले 'विप्र' कहलाते हैं और जो व्यक्ति योग्य वय प्राप्त होने पर यज्ञोपवीत आदि से सस्कारित होते है, उन्हे सस्कार की अपेक्षा से 'द्विज' (दूसरा जन्म ग्रहण करने वाले) कहा जाता है ।

प्राचीन काल मे जो वेदपाठी होते थे, वे विप्र तथा जो वेदज्ञाता होने के साथ-साथ यज्ञ करते-कराते थे, वे द्विज कहलाते थे ।[1]

जोइसंगविऊ—यद्यपि ज्योतिषशास्त्र वेद का एक अग है, वह 'वेदवित्' शब्द के प्रयोग से गृहीत हो जाता है, तथापि यहाँ ज्योतिषशास्त्र को पृथक् अकित किया गया है, वह इसकी प्रधानता को बताने के लिए है । अर्थात् वेदवेत्ता होते हुए भी जो ज्योतिष रूप अग का विशेष रूप से ज्ञाता हो । चूकि ज्योतिष कालविधायक शास्त्र है, वह वेद का नेत्र है तथा वेद के मुख्य विहित यज्ञो से ज्योतिष का विशिष्ट सम्बन्ध है, फलत ज्योतिष का ज्ञाता ही यज्ञ का ज्ञाता है, इस महत्त्व के कारण 'ज्योतिषागवित्' शब्द का पृथक् प्रयोग किया गया है ।[2]

सव्वकामियं—(१) जिसमे कामिक अर्थात् अभिलषणीय सर्व वस्तुएँ है, (२) सर्व (षड्) रस-सिद्ध अथवा (३) सबको अभीष्ट ।

समुद्धत्तुं—समुद्धार करने—तारने मे ।[3]

निर्ग्रन्थ मुनि का समत्वयुक्त आचार—उत्तराध्ययन के १९ वे अध्ययन की गाथा ९० के अनुसार लाभालाभ आदि मे ही नही, सुख-दु ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा, मानापमान मे भी समभाव

---

१ (क) विप्रा जातित , ये द्विजा -सस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मान । (ख) 'सस्काराद् द्विज उच्यते ।'
(ग) 'वेदपाठी भवेद् विप्र ।' (घ) **'जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।'** —उत्तरा अ २५, गा ७

२ (क) **'शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दसां गति.।**
ज्योतिषश्च षडंगानि ·· ·· ·· ···· ··· ॥'
(ख) 'यद्यपि ज्योति शास्त्र वेदस्यागमेवास्ति 'वेदविद्' इत्युक्ते आगतम्, तथापि अत्र ज्योति शास्त्रस्य पृथगुपादान प्राधान्यख्यापनार्थम् ।' —उत्तरा. वृत्ति, अ रा कोष भा ४, पृ. १४१९

३ सर्वकामिक, षड्रससिद्ध , सर्वाभिलषितम् । —उत्तरा. वृत्ति, अ. रा कोष भा. ४, पृ. १४१९
—उत्तरा. (गु भाषान्तर), पत्र १९७

रखना निर्ग्रन्थ मुनि का प्रमुख आचार है। उसी का जयघोष मुनि ने यहाँ परिचय दिया है। वे भिक्षा के लिए याज्ञिक द्वारा इन्कार करने पर भी न रुष्ट हुए, न प्रसन्न।[1]

जयघोष मुनि द्वारा विमोक्षणार्थ उत्तर

१०. नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए इमं वयणमब्बवी॥

[१०] न अन्न के लिए, न जल के लिए और न जीवननिर्वाह के लिए, किन्तु उस विप्र के विमोक्षण (मिथ्याज्ञान-दर्शन से मुक्त करने) हेतु मुनि ने यह वचन कहा—

११. न वि जाणासि वेयमुहं न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च जं च धम्माण वा मुहं॥

[११] (जयघोष मुनि—) तुम वेद के मुख को नही जानते और न यज्ञो का जो मुख है, नक्षत्रो का जो मुख है और धर्मों का जो मुख है, उसे ही जानते हो।

१२. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि अह जाणासि तो भण॥

[१२] अपने और दूसरो के उद्धार करने मे जो समर्थ है, उन्हे भी तुम नही जानते। यदि जानते हो तो बताओ।

विवेचन—धर्मोपदेश किसलिए?—प्रस्तुत दसवी गाथा मे साधु को धर्मोपदेश या प्रबोध देने की नीति का रहस्योद्घाटन किया गया है। आचारागसूत्र मे बताया गया है कि साधु को इस दृष्टि से धर्मोपदेश नही देना चाहिए कि मेरे उपदेश से प्रसन्न होकर ये मुझे अन्न-पानी दगे। न वस्त्र-पात्रादि के लिए वह धर्म-कथन करता है। किन्तु ससार से निस्तार के लिए अथवा कर्मनिर्जरा के लिए धर्मोपदेश देना चाहिए।[2]

विमोक्खणट्ठाए—(१) कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कराने हेतु अथवा (२) अज्ञान और मिथ्यात्व से मुक्त करने हेतु।[3]

'मुख' शब्द के विभिन्न अर्थ—प्रस्तुत ११वी गाथा मे मुख (मुह) शब्द का चार स्थानो पर प्रयोग हुआ है। इसमे से प्रथम और तृतीय चरण मे प्रयुक्त 'मुख' शब्द का अर्थ—**'प्रधान'**, एव द्वितीय और चतुर्थ चरण मे प्रयुक्त 'मुख' शब्द का अर्थ—**'उपाय'** है।[4]

---

१ (क) उत्तरा अ १९, गा ९ (ख) दशवै अ ५।२, गा. २७-२८

२ (क) एव ज्ञात्वा नाऽब्रवील्-येनाऽह एभ्य उपदेश ददामि, एते प्रसन्ना मह्य सम्यक् अन्नपान ददति—इति बुद्धया। अपि च वस्त्रपात्रादिकाना निर्वाह एभ्यो मम भविष्यति तेन हेतुना नाऽब्रवीदिति भाव।
(ख) से भिक्खू धम्म किट्टमाणे" '।

३ (क) विमोक्षणार्थं—कर्मबन्धनात् मुक्तिकरणार्थं। —उत्तरा वृत्ति, अभि रा को भा ४, पृ १४१९
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र १९८

४ बृहद्वृत्ति, पत्र ५२४

विजयघोष ब्राह्मण द्वारा जयघोष मुनि से प्रतिप्रश्न

१३. तस्सऽक्खेवपमोक्खं च अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं पुच्छई तं महामुणिं ॥

[१३] उसके आक्षेपो (आक्षेपात्मक प्रश्नो) का प्रमोक्ष (उत्तर देने) में असमर्थ ब्राह्मण (विजयघोष) ने अपनी समग्र परिषद्-सहित हाथ जोड कर उन महामुनि से पूछा—

१४. वेयाणं च मुहं बूहि बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि बूहि धम्माण वा मुहं ॥

[१४] (विजयघोष ब्राह्मण—) तुम्ही कहो—वेदो का मुख क्या है ? यज्ञो का जो मुख है, उसे बतलाइए, नक्षत्रो का मुख बताइए और धर्मो का मुख भी कहिए।

१५. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं साहू ! कहसु पुच्छिओ ॥

[१५] और—जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ हैं, उन्हे भी बताइए। 'हे साधु ! मुझे यह सब सशय है', (इसीलिए) मैने आपसे पूछा है। आप कहिए।

विवेचन—तस्सऽक्खेवपमोक्खं च अचयंतो—साधु (जयघोष) के आक्षेपो अर्थात् प्रश्नो का प्रमोक्ष अर्थात् उत्तर देने मे अशक्त—असमर्थ।[1]

जयघोष मुनि द्वारा समाधान

१६. अग्गिहोत्तमुहा वेया जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो धम्माणं कासवो मुहं ॥

[१६] वेदो का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञो का मुख 'यज्ञार्थी' है, नक्षत्रो का मुख चन्द्रमा है, और धर्मो के मुख हैं—काश्यप (ऋषभदेव)।

१७. जहा चंदं गहाईया चिट्ठन्ती पंजलीउडा।
वन्दमाणा नमंसन्ता उत्तमं मणहारिणो ॥

[१७] जैसे उत्तम एव मनोहारी ग्रह आदि (देव) हाथ जोडे हुए चन्द्रमा को वन्दन-नमस्कार करते हुए रहते हैं, वैसे ही भगवान ऋषभदेव हैं—(उनके समक्ष भी देवेन्द्र आदि सभी विनयावनत एव करबद्ध हैं)।

१८. अजाणगा जन्नवाई विज्जा माहणसंपया।
गूढा सज्झायतवसा भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥

[१८] विद्या ब्राह्मण (माहन) की सम्पदा है, यज्ञवादी उससे अनभिज्ञ हैं। वे बाह्य स्वाध्याय और तप से वैसे ही आच्छादित हैं, जैसे राख से आच्छादित (ढकी हुई) अग्नि।

---

१. उत्तरा वृत्ति, अभि. रा. कोष भा ४, पृ १४२०

विवेचन—चार प्रश्नों के उत्तर—विजयघोष द्वारा पूछे गए चार प्रश्नो के उत्तर १६वी गाथा मे, जयघोष मुनि द्वारा इस प्रकार दिये गये है—

(१) प्रथम प्रश्न का उत्तर—वेदो का मुख अर्थात् प्रधानतत्त्व यहाँ अग्निहोत्र बताया गया है। अग्निहोत्र का ब्राह्मण-परम्परा मे प्रचलित अर्थ विजयघोष को ज्ञात था, किन्तु जयघोष ने श्रमण-परम्परा की दृष्टि से अग्निहोत्र को वेद का मुख बताया है। अग्निहोत्र का अर्थ है—अग्निकारिका, जो कि अध्यात्मभाव है। दीक्षित साधक को कर्मरूपी इन्धन लेकर धर्मध्यानरूपी अग्नि मे उत्तम भावना-रूपी घृताहुति देना अग्निहोत्र है। जैसे दही का सारभूत तत्त्व नवनीत है, वैसे ही वेदों का सारभूत तत्त्व आरण्यक है। उसमे सत्य, तप, सन्तोष, क्षमा, चारित्र, आर्जव, श्रद्धा, धृति, अहिसा और सवर, यह दस प्रकार का धर्म कहा गया है। अत. तदनुसार उपर्युक्त अग्निहोत्र यथार्थ रूप से हो सकता है। इसी अग्निहोत्र मे मन के विकार स्वाहा होते हैं।

(२) दूसरे प्रश्न का उत्तर—यज्ञ का मुख अर्थात्—उपाय (प्रवृत्ति-हेतु) यज्ञार्थी बताया है। विजयघोष यज्ञ का उपाय ब्राह्मणपरम्परानुसार जानता ही था, जयघोष मुनि ने आत्मयज्ञ के सन्दर्भ मे अपने बहिर्मुख इन्द्रिय एवं मन को असयम से हटाकर, सयम मे केन्द्रित करने वाले सयमरूप भाव-यज्ञकर्ता आत्मसाधक को सच्चा यज्ञार्थी (याजक) बताया है। आत्मयज्ञ मे ऐसे ही यज्ञार्थी की प्रधानता है।

(३) तीसरा प्रश्नोत्तर—कालज्ञान से सम्बन्धित है। स्वाध्याय आदि समयोचित कर्त्तव्य के लिए काल का ज्ञान श्रमण और ब्राह्मण दोनो ही परम्पराओ के लिए अनिवार्य था। वह ज्ञान स्पष्टत होता था—नक्षत्रों से। चन्द्र की हानि-वृद्धि से तिथियो का बोध भलीभाति हो जाता था। अत मुनि ने यथार्थ उत्तर दिया है, चन्द्र नक्षत्रो मे मुख्य है। इस उत्तर की तुलना गीता के इस वाक्य से की जा सकती है—**'नक्षत्राणामहं शशी'** (मैं नक्षत्रो मे चन्द्रमा हूँ)।

(४) चतुर्थ प्रश्नोत्तर—धर्मों का मुख अर्थात् श्रुत-चारित्रधर्मों का आदि कारण क्या है—कौन है? धर्म का प्रथम प्रकाश किससे प्राप्त हुआ? जयघोष मुनि का उत्तर है—धर्मों का मुख (आदिकारण) काश्यप है। वर्तमानकालचक्र मे आदि काश्यप ऋषभदेव ही धर्म के आदि-प्ररूपक-आदि-उपदेष्टा तीर्थंकर हैं। भगवान् ऋषभदेव ने वार्षिक तप का पारणा काश्य अर्थात्—इक्षुरस से किया था, अत वे काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चल कर यही उनका गोत्र हो गया। स्थानाग-सूत्र मे बताया गया है कि मुनिसुव्रत और नेमिनाथ दो तीर्थकरो को छोड कर शेष सभी तीर्थकर काश्यपगोत्री थे। सूत्रकृताग से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी तीर्थंकर काश्यप (ऋषभदेव) के द्वारा प्ररूपित धर्म का ही अनुसरण करते रहे हैं। इस सन्दर्भ मे बृहद्वृत्तिकार ने आरण्यक का एक वाक्य भी उद्धृत किया है—**'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा** ।'[1]

---

१ (क) अग्निहोत्र हि अग्निकारिका, सा चेयम्—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः।

धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाऽग्निकारिका॥

(ख) यज्ञो दशप्रकार धर्म —

सत्य तपश्च सन्तोष, क्षमा चारित्रमार्जवम्। (क्रमश)

विज्जामाहणसंपया—सामान्यतया इसका अर्थ होता है—विद्या ब्राह्मणो की सम्पदा है। आरण्यक एव ब्रह्माण्डपुराण मे अकित अध्यात्मविद्या ही विद्या है। वही ब्राह्मणो की सम्पदा है। क्योकि तत्त्वज्ञ ब्राह्मण अकिंचन (अपरिग्रही) होने के कारण विद्या ही उनकी सम्पदा होती है। वे आरण्यक मे उक्त १० प्रकार के अहिंसादि धर्मों की विद्या जानते हुए ऐसे हिंसक यज्ञ क्यो करेगे ?[1]

सज्झायतवसा गूढा—शका हो सकती है कि विजयघोष आदि ब्राह्मण तो आरण्यक आदि के ज्ञाता थे, फिर उन्हे उनसे अनभिज्ञ क्यो कहा गया ? इसी का रहस्य इस १८ वी गाथा मे प्रकट किया गया है। तथाकथित हिंसापरक याज्ञिक ब्राह्मणो का स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और तप गूढ है, अर्थात् राख से ढंकी अग्नि की तरह आच्छादित है। आशय यह है कि जैसे अग्नि बाहर राख से ढकी होने से ठडी दिखाई देती है, किन्तु अन्दर उष्ण होती है। वैसे ही ये ब्राह्मण बाहर से तो वेदाध्ययन तथा उपवासादि तप कर्म आदि के कारण उपशान्त दिखाई देते हैं, मगर अन्दर से वे प्राय कषायाग्नि से जाज्वल्यमान है। इस कारण जयघोष मुनि के कहने का आशय है कि इस प्रकार के ब्राह्मण स्व-पर का उद्धार करने मे समर्थ कैसे हो सकते है ?[2]

वेयसां-वेवसां—यज्ञो का।

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण

१९. जे लोए बम्भणो वुत्तो अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं त वय बूम माहणं॥

[१९] जिसे लोक मे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२०. जो न सज्जइ आगन्तु पव्वयन्तो न सोयई।
रमए अज्जवयणंमि तं वय बूम माहणं॥

श्रद्धा धृतिरहिंसा च, सवरश्च तथा पर। —'आरण्यक ग्रन्थ'
स चात्र भावयज्ञस्तमर्थयति—अभिलषतीति यज्ञार्थी, सयमीत्यर्थ। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५२५

(ग) नक्षत्राणामष्टाविंशतीना मुख—प्रधान चन्द्रो वर्तते।
'नक्षत्राणामह शशी।' —गीता-१०।२१

(घ) धर्माणा श्रुतचारित्रधर्माणा काश्यप: आदीश्वरो मुख वर्तते। धर्मा सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५२६

(ड) काशे भव काश्य —रसस्त पीतवानिति काश्यपस्तदपत्यानि—काश्यपा। मुनिसुव्रत-नेमिवर्जा जिना।
—स्थानाग, ७।५५१

(च) 'कासवस्स अणुधम्मचारिणो०' —सूत्रकृताग १।२।३।२०

(छ) बृहद्वृत्ति मे उद्धृत आरण्यकपाठ, पत्र ५२५

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५२६
२. वही, पत्र ५२५

[२०] जो (प्रिय स्वजनादि के) आने पर आसक्त नही होता और (उनके) जाने पर शोक नही करता, जो आर्यवचन (अर्हद्वाणी) मे रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२१. जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
राग-द्दोस-भयाईयं तं वयं बूम माहणं॥

[२१] (कसौटी पर) कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल (तपा कर शुद्ध) किये हुए जातरूप (स्वर्ण) की तरह जो विशुद्ध है, जो राग, द्वेष और भय से रहित (अतीत) है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२२. तवस्सियं किसं दन्तं अवचियमंस-सोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं बूम माहणं॥

[२२] जो तपस्वी है (और तीव्र तप के कारण) कृश है, दान्त है, जिसका मास और रक्त अपचित (कम) हो गया है, जो सुव्रत है और शान्त (निर्वाणप्राप्त) है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२३. तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं॥

[२३] जो त्रस और स्थावर जीवो को सम्यक् प्रकार से जान कर उनकी मन, वचन और काय से हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२४. कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं॥

[२२] जो क्रोध से अथवा हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य भाषण नही करता, उसे, हम ब्राह्मण कहते है।

२५. चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गेण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं॥

[२५] जो सचित्त या अचित्त, थोडी या बहुत अदत्त (वस्तु को) नही ग्रहण करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२६. दिव्व-माणुस-तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा काय-वक्केणं तं वयं बूम माहणं॥

[२६] जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन से, वचन से और काया से सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥

[२७] जिस प्रकार जल मे उत्पन्न होकर भी पद्म जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार जो (कामभोगो के वातावरण मे उत्पन्न हुआ मनुष्य) कामभोगो से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२८. अलोलुयं मुहाजीवी अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥

[२८] जो (रसादि मे) लुब्ध नही है, जो मुधाजीवी (निर्दोष भिक्षा से जीवन निर्वाह करता) है, जो गृहत्यागी (अनगार) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थो से असंसक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२९. जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ एएहिं तं वयं बूम माहणं ॥

[२९] जो पूर्वसंयोगो को, ज्ञातिजनो की आसक्ति को एवं बान्धवो को त्याग कर फिर आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

विवेचन—यमयायाजी ब्राह्मण के लक्षण—१६ वी गाथा मे यज्ञों का मुख यज्ञार्थी कहा गया है, उस आत्मयज्ञार्थी को ही जयघोष मुनि ने ब्राह्मण कहा है । उसके लक्षण मुख्यतया ये बताए हैं—(१) जो लोक मे अग्निवत् पूज्य हो, (२) जो स्वजनादि के आगमन एव गमन पर हर्ष या शोक से ग्रस्त नही होता, (३) अर्हत्-वचनो मे रमण करता हो, (४) स्वर्णसम विशुद्ध हो, (५) राग, द्वेष एव भय से मुक्त हो, (६) तपस्वी, कृश, दान्त, सुव्रत एव शान्त हो, (७) तप से जिसका रक्त-मास कम हो गया हो, (८) जो मन-वचन-काया से किसी जीव की हिंसा नही करता, (९) जो क्रोधादि वश असत्य नही बोलता, (१०) जो किसी प्रकार की चोरी नही करता, (११) जो मन-वचन-काया से किसी प्रकार का मैथुन सेवन नही करता, (१२) जो कामभोगो से अलिप्त रहता है (१३) जो-अनगार, अकिंचन, गृहस्थो मे अनासक्त, मुधाजीवी एव रसो मे अलोलुप है और (१४) जो पूर्व संयोगो, ज्ञातिजनो और बान्धवो का त्याग करके फिर उनमे आसक्त नही होता ।[1]

मीमांसकमान्य वेद और यज्ञ आत्मरक्षक नहीं

३०. पसुबन्धा सव्ववेया जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायन्ति दुस्सीलं कम्माणि बलवन्ति हि ॥

[३०] सभी वेद पशुबन्ध (यज्ञ में वध के लिए पशुओ को बाधने) के हेतुरूप हैं और यज्ञ भी पाप (के हेतुभूत पशुवधादि अशुभ) कर्म से होते है । अत वे (पापकर्म से कृत यज्ञ) ऐसे (दु:शील) अनाचारी का त्राण-रक्षण नही कर सकते, क्योकि कर्म बलवान् हैं ।

विवेचन—कम्माणि बलवंति—पूर्वोक्त प्रकार से हिंसक यज्ञो मे किये हुए पशुवधादि दुष्टकर्म के कर्ता को बलात् नरक आदि दुर्गतियो मे ले जाते हैं । क्योकि वेद और यज्ञ मे पशुवधादि होने से दुष्कर्म अत्यन्त बलवान् होते है । अत. ऐसे यज्ञ करने से कोई ब्राह्मण नही हो जाता ।[2]

श्रमण-ब्राह्मणादि किन गुणों से होते हैं, किनसे नहीं ?

३१. न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २०० से २०२ तक

२. उत्तराध्ययनवृत्ति, अभि रा. कोष भा ४, पृ. १४२१

[३१] केवल मस्तक मुडा लेने से कोई श्रमण नही होता और न ओकार का जाप करने मात्र से ब्राह्मण होता है, अरण्य मे निवास करने से ही कोई मुनि नही हो जाता और न कुशनिर्मित चीवर के पहनने मात्र से कोई तापस होता है।

३२. समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥

[३२] समभाव (धारण करने) से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य (पालन) से ब्राह्मण होता है, ज्ञान (प्राप्त करने) से मुनि होता है और तपश्चरण करने से तापस होता है।

३३. कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

[३३] कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

३४. एए पाउकरे बुद्धे जेहिं होई सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं तं वयं बूम माहणं॥

[३४] प्रबुद्ध (अर्हत्) ने इन (तत्त्वो) को प्रकट किया है। इसके द्वारा जो स्नातक (परिपूर्ण) होता है तथा सर्वकर्मो से विमुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

३५. एवं गुणसमाउत्ता जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य॥

[३५] इस प्रकार जो गुणसम्पन्न (पच महाव्रती) द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ होते है।

विवेचन—ब्राह्मण-श्रमणादि के वास्तविक लक्षण—प्रस्तुत गाथाओ मे मुनिवर जयघोष ने एक-एक असाधारण गुण द्वारा यह स्पष्ट पहचान बता दी है कि श्रमण, ब्राह्मण, मुनि, तपस्वी तथा ब्राह्मणादि चारो वर्ण किन-किन गुणो से अपने वास्तविक स्वरूप मे समझे जाते हैं।[1]

ब्राह्मणादि चारों वर्ण जन्म से नहीं, कर्म (क्रिया) से—इस गाथा का आशय यह है कि ब्राह्मण केवल वेद पढने एव यज्ञ करने या जपादि करने मात्र से नही होता। उसके लिए उस वर्ण के असाधारण गुणो से उसकी पहचान होती है। जैसे कि ब्राह्मण का लक्षण किया गया है—

क्षमा दान दमो ध्यानं, सत्य शौच धृतिर्घृणा।
ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

क्षमा, दान, दम, ध्यान, सत्य, शौच, धैर्य और दया, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य, ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। इन गुणो से जो युक्त हो, वही ब्राह्मण है। इसी प्रकार शरणगतरक्षण रूप गुण से क्षत्रिय

---

१ उत्तरा (गुजराती अनुवाद भावनगर) भा २, पत्र २०३-२०४ का सारांश

होता है, क्षत्रिय कुल मे जन्म लेने मात्र से या शस्त्र बांधने से ही कोई 'क्षत्रिय' नही कहला सकता। वैश्य भी कृषि-पशुपालन, वाणिज्य आदि क्रिया से कहलाता है, न कि जन्म से।[1]

विजयघोष द्वारा कृतज्ञताप्रकाशन एवं गुणगान

३६. एवं तु संसए छिन्ने विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तयं तं तु जयघोसं महामुणि॥

[३६] इस प्रकार सशय मिट जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने महामुनि जयघोष की वाणी को सम्यक् रूप से स्वीकार किया।

३७. तुट्ठे य विजयघोसे इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदंसियं॥

[३७] सन्तुष्ट हुए विजयघोष ने हाथ जोड कर इस प्रकार कहा—आपने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा उपदर्शन कराया।

३८. तुब्भे जइया जन्नाणं तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे तुब्भे धम्माण पारगा॥

[३८] आप ही यज्ञो के (सच्चे) याज्ञिक (यष्टा) हैं, आप वेदो के ज्ञाता विद्वान् हैं, आप ज्योतिषागों के वेत्ता है, और आप ही धर्मों (धर्मशास्त्रो) के पारगामी हैं।

३९. तुब्भे समत्था उद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहऽम्हं भिक्खेण भिक्खु उत्तमा॥

[३९] आप अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ हैं। अत उत्तम भिक्षुवर! भिक्षा स्वीकार कर हम पर अनुग्रह कीजिए।

विवेचन—जहाभूयं—जैसा स्वरूप है, वैसा यथार्थ स्वरूप।

धम्माण पारगा—धर्माचरण मे पारगत।

भिक्खेण—भिक्षा ग्रहण करके।[2]

जयघोष मुनि द्वारा वैराग्यपूर्ण उपदेश

४०. न कज्जं मज्झ भिक्खेण खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे घोरे संसारसागरे॥

[४०] (जयघोष मुनि—) मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन (कार्य) नही है। हे द्विज! (मैं

१. उत्तराध्ययन संस्कृतटीका, अभि रा. कोष भा ४, पृ १४२१
२. उत्तरा वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४२२

चाहता हूँ कि) तुम शीघ्र ही अभिनिष्क्रमण करो (अर्थात्—गृहवास छोड कर श्रमणत्व अंगीकार करो), जिससे तुम्हे भय के आवर्तों वाले ससार-सागर मे भ्रमण न करना पडे ।

४१. उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई ॥

[४१] भोगो के कारण (कर्म का) उपलेप (बन्ध) होता है, अभोगी कर्मों से लिप्त नही होता । भोगी ससार मे भ्रमण करता है, (जबकि) अभोगी (उससे) विमुक्त हो जाता है ।

४२. उल्लो सुक्को य दो छूढा गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ॥

[४२] एक गीला और एक सूखा, ऐसे दो मिट्टी के गोले फेके गए । वे दोनो दीवार पर लगे । उनमे से जो गीला था, वह वही चिपक गया । (सूखा गोला नही चिपका ।)

४३. एवं लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा सुक्को उ गोलओ ॥

[४३] इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और कामलालसा मे आसक्त है, वे विषयो मे चिपक जाते हैं । विरक्त साधक सूखे गोले की भाति नही चिपकते ।

विवेचन—उपलेप—उपलेप—कर्मोपचयरूप बन्ध । **अभोगी**—भोगो का जो उपभोक्ता नही है ।

मा भमिहिसि भयावट्टे—हे विजयघोष ! तू मिथ्यात्व के कारण घोर ससारसमुद्र मे भ्रमण कर रहा है । अत मिथ्यात्व छोड और शीघ्र ही भागवती मुनिदीक्षा ग्रहण कर, अन्यथा सप्तभय-रूपी आवर्तों के कारण भयावह ससार-समुद्र मे डूब जाएगा ।

कामलालसा—कामभोगो मे लम्पट ।[१]

विरक्ति, दीक्षा और सिद्धि

४४. एवं से विजयघोसे जयघोसस्स अन्तिए ।
अणगारस्स निक्खन्तो धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥

[४४] इस प्रकार वह विजयघोष (ससार से विरक्त होकर) जयघोष अनगार के पास अनुत्तर धर्म को सुनकर दीक्षित हो गया ।

४५. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
जयघोस-विजयघोसा सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥
—त्ति बेमि

[४५] (फिर) जयघोष और विजयघोष दोनो मुनियो ने तप और संयम के द्वारा पूर्व सचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१ उत्तरा वृत्ति, अभि रा कोष भाग, ४ पृ १४२२

विवेचन—विशिष्ट शब्दों के विशेषार्थ—निक्खंतो—भागवती दीक्षा ग्रहण की। **अनुत्तरं सिद्धि पत्ता**—अनुत्तर—सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-मुक्तिगति प्राप्त की।[1]

।। यज्ञीय : पच्चीसवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा कोष भा. ४, पृ १४२२

छव्वीसवाँ अध्ययन : सामाचारी

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत छब्बीसवें अध्ययन का नाम 'सामाचारी' (सामायारी) है।

* इसमें साधुजीवन की उस व्यवस्था एव चर्या का वर्णन है, जिससे साधु परस्पर सम्यक् व्यवहार, आचरण और कर्त्तव्य का यथार्थ पालन करके समस्त शारीरिक-मानसिक दुःखो से मुक्त एव सिद्ध, बुद्ध हो सके।

* आचार के दो अग हैं—व्रतात्मक और व्यवहारात्मक। संघीयजीवन को सुव्यवस्थित ढंग से यापन करने के लिए न तो दूसरो के प्रति उदासीनता, रूक्षता एव अनुत्तरदायिता होनी चाहिए और न अपने या दूसरो के जीवन (शरीर-इन्द्रिय, मन आदि) के प्रति लापरवाही, उपेक्षा या आसक्ति होनी चाहिए। इसलिए स्थविरकल्पी साधु के जीवन मे व्रतात्मक आचार की तरह व्यवहारात्मक आचार भी आवश्यक है। जिस धर्मतीर्थ (सघ) मे व्यवहारात्मक आचार का सम्यक् पालन होता है, उसकी एकता अखण्ड रहती है, वह दीर्घजीवी होता है और ऐसा धर्मतीर्थ साधु-साध्वियो को तथा श्रावक-श्राविकाओ को ससारसागर से तारने मे समर्थ होता है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे व्यवहारात्मक शिष्टजनाचरित १० प्रकार को सामाचारी का वर्णन है। सामाचारी के दो रूप आगमो मे पाए जाते हैं—ओघसामाचारी और पदविभागसामाचारी। प्रस्तुत अध्ययन मे ओघसामाचारी के १० प्रकार ये हैं—(१) आवश्यकी, (२) नैषेधिकी, (३) आपृच्छना, (४) प्रतिपृच्छना, (५) छन्दना, (६) इच्छाकार, (७) मिथ्याकार, (८) तथाकार, (९) अभ्युत्थान और (१०) उपसम्पदा।

* साधु का कर्त्तव्य है कि वह कार्यवश उपाश्रय से बाहर जाते और वापस लौटने पर आने की सूचना गुरुजनो को करे अपने कार्य के लिए गुरुजनों से पूछकर अनुमति ले, दूसरो के कार्य के लिए भी पूछे। कोई भी वस्तु लाए तो पहले गुरु आदि को आमन्त्रित करे, दूसरो का कार्य आभ्यन्तरिक अभिरुचिपूर्वक करे तथा दूसरो से कार्य लेने के लिए उनको इच्छानुकूल निवेदन करे, दबाव न डाले। दोषो की निवृत्ति के लिए मिथ्याकार (आत्मनिन्दा) करे। गुरुजनो के उपदेश-आदेश या वचन को 'तथाऽस्तु' कह कर स्वीकार करे। गुरुजनो को सत्कार देने के लिए आसन से उठकर खडा हो और किसी विशिष्ट प्रयोजनवश अन्य आचार्यों के पास रहना हो तो उपसम्पदा धारण करे। यह दस प्रकार की सामाचारी है।

* उसके पश्चात् औत्सर्गिक दिनचर्या के चार भाग करे। (१) भाण्डोपकरण-प्रतिलेखन, (२) स्वाध्याय या वैयावृत्य की अनुज्ञा ले और गुरुजन जिस कार्य मे नियुक्त करे, उसे मनोयोगपूर्वक करे। दिन के ४ भाग करके प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे ध्यान, तृतीय प्रहर मे भिक्षाचर्या और चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय करे।

* तत्पश्चात् १३ से १६ तक ४ गाथाओं मे पौरुषी का ज्ञान बताया है।
* फिर रात्रि की औत्सर्गिक चर्या का वर्णन है। पूर्ववत् रात्रि के ४ भाग करके—प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ मे पुन: स्वाध्याय।
* तत्पश्चात् प्रतिलेखना की विधि एव उसके दोषों से रक्षा का प्रतिपादन करते हुए मुखवस्त्रिका रजोहरण, वस्त्र आदि के प्रतिलेखन का विधान है।
* तदनन्तर साधु के लिए तृतीय प्रहर में भिक्षाटन और आहार सेवन का विशेष विधान है। उस सन्दर्भ मे छह कारणो से आहार ग्रहण करने और छह कारणो से आहार छोडने का उल्लेख है।
* फिर चतुर्थ पौरुषी मे वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन करके बांधकर व्यवस्थित रखने और तदनन्तर सान्ध्य प्रतिक्रमण करने का विधान है।
* पुन: रात्रिक कृत्य एव पूर्ववत् स्वाध्याय, ध्यान एव प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि का विधिवत् विधान है।
* कुल मिला कर यह साधु-सामाचारी शारीरिक मानसिक शान्ति, व्यवस्था एव स्वस्थता के लिए अत्यन्त लाभदायक है।
* **विशेष लाभ**—(१-२) आवश्यकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियन्त्रण का अभ्यास होता है, (३-४) आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील और दूसरो के लिए उपयोगी बनने की भावना पनपती है, (५) इच्छाकार से दूसरो के अनुग्रह का सहर्ष स्वीकार तथा स्वच्छन्दता मे प्रतिरोध आता है, (६) मिथ्याकार से पापो के प्रति जागृति बढ़ती है, (७) तथाकार से हठाग्रहवृत्ति छूटती है और गम्भीरता एव विचारशीलता पनपती है, (८) छन्दना से अतिथिसत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है, (९) अभ्युत्थान से गुरुजनभक्ति एव गुरुता बढ़ती है एव (१०) उपसम्पदा से परस्पर ज्ञानादि के आदान-प्रदान से उनकी वृद्धि होती है।

□□

छव्वीसइमं अज्झयणं : छव्वीसवाँ अध्ययन

सामायारी : सामाचारी

सामाचारी और उसके दश प्रकार

१. सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ताण निग्गन्था तिण्णा संसारसागरं ।।

[१] जो समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाली है और जिसका आचरण करके निर्ग्रन्थ संसार-सागर को पार कर गए हैं, उस सामाचारी का मैं प्रतिपादन करूंगा ।

२. पढमा आवस्सिया नाम बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया चउत्थी पडिपुच्छणा ।।

[२] पहली सामाचारी आवश्यकी है और दूसरी नैषेधिकी है, तीसरी आपृच्छना है और चौथी प्रतिपृच्छना है ।

३. पचमा छन्दणा नाम इच्छाकारो य छट्ठओ ।
सत्तमो मिच्छकारो य तहक्कारो य अट्ठमो ।।

[३] पांचवीं का नाम छन्दना है और छठी इच्छाकार है तथा सातवीं मिथ्याकार और आठवीं तथाकार है ।

४. अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपदा ।
एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया ।।

[४] नौवीं अभ्युत्थान है और दसवीं सामाचारी उपसम्पदा है । इस प्रकार यह दस अंगों वाली साधुओं की सामाचारी बताई गई है ।

विवेचन—सामाचारी : विशेषार्थ—(१) सम्यक् आचरण समाचार कहलाता है, अर्थात्—शिष्टाचारित क्रियाकलाप, उसका भाव है—सामाचारी, (२) साधुवर्ग की इतिकर्त्तव्यता अर्थात् कर्त्तव्यों की सीमा, (३) समयाचारी अर्थात् आगमोक्त-अहोरात्र-क्रियाकलापसूचिका, अथवा (४) साधुजीवन के आचार-व्यवहार की सम्यक् व्यवस्था ।[1]

सव्वदुक्खविमोक्खणिं—समस्त शारीरिक, मानसिक दुःखों से विमुक्ति की हेतु ।[2]

---

१ (क) 'समाचरणं समाचारः—शिष्टाचरितः क्रियाकलापस्तस्य भावः ।' —ओघनिर्युक्तिटीका

(ख) 'साधुजनेतिकर्त्तव्यतारूपाम् सामाचारी' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४

(ग) आगमोक्त अहोरात्रक्रियाकलापे । —ग १ अधि, (घ) 'सव्यवहारे' —स्था १०, स्था उ ३

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, अभि रा कोष —भा. ७, पृ ७७१

तिण्णा संसारसागरं—ससार-सागर को तैर गए हैं, अर्थात् मुक्ति पाए हैं, उपलक्षण से ससार-सागर तरेंगे और वर्तमान मे तरते हैं।[1]

दशविध सामाचारी का प्रयोजनात्मक स्वरूप

५. गमणे आवस्सियं कुज्जा ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयंकरणे परकरणे पडिपुच्छणा॥

[५] (१) गमन करते (अपने आवासस्थान से बाहर निकलते) समय ('आवस्सिय' के उच्चारणपूर्वक) **'आवश्यकी'** (सामाचारी) करे, (२) (अपने) स्थान मे (प्रवेश करते समय) ('निसीहिय' के उच्चारणपूर्वक) **नैषेधिकी** (सामाचारी) करे, (३) अपना कार्य करने मे (गुरु से अनुमति लेना) **'आपृच्छना'** (सामाचारी) है और (४) दूसरो के कार्य करने मे (गुरु से अनुमति लेना) **'प्रतिपृच्छना'** (सामाचारी) है।

६. छन्दणा दव्वजाएणं इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए तहक्कारो य पडिस्सुए॥

[६] (५) (पूर्वगृहीत) द्रव्यो के लिए (गुरु आदि को) आमन्त्रित करना **'छन्दना'** (सामाचारी) है, (६) सारणा (स्वेच्छा से दूसरो का कार्य करने तथा दूसरो से उनकी इच्छानुसार कार्य कराने मे विनम्र प्रेरणा करने) मे **'इच्छाकार'** (सामाचारी) है, (७) (दोषनिवृत्ति के लिए आत्म-) निन्दा करने मे **'मिथ्याकार'** (सामाचारी) है और (८) गुरुजनो के उपदेश को प्रतिश्रवण (स्वीकार) करने के लिए **'तथाकार'** (सामाचारी) है।

७. अब्भुट्ठाणं गुरुपूया अच्छणे उवसंपदा।
एवं दु-पंच—संजुत्ता सामायारी पवेइया॥

[७] (९) गुरुजनो की पूजा (सत्कार) के लिए (आसन से उठ कर खडा होना) 'अभ्युत्थान' (सामाचारी) है, (१०) (किसी विशिष्ट प्रयोजन से) दूसरे (गण के) आचार्य के पास रहना, **'उपसम्पदा'** (सामाचारी) है। इस प्रकार दश-अगो से युक्त (इस) सामाचारी का निरूपण किया गया है।

विवेचन—दशविध सामाचारी का विशेषार्थ—(१) आवश्यकी—समस्त आवश्यक कार्यवश उपाश्रय (धर्मस्थान) से बाहर जाते समय साधु को 'आवस्सिया' कहना चाहिए। अर्थात्—'मै आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ।' इसके पश्चात् साधु कोई भी अनावश्यक कार्य न करे। **(२) नैषेधिकी**—कार्य से निवृत्त होकर जब वह उपाश्रय मे प्रवेश करे, तब 'निसीहिया' (नैषेधिकी) का उच्चारण करे, अर्थात् मै आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूँ। इसका यह भी आशय है कि प्रवृत्ति के समय कोई पापानुष्ठान हुआ हो तो उसका भी निषेध करता (निवृत्त होता) हूँ। ये दोनो मुख्यतया गमन और आगमन की सामाचारी है, जो गमन-आगमन काल मे लक्ष्य के प्रति जागृति के लिए हैं। **(३) आपृच्छना**—किसी भी कार्य मे (प्रथम या द्वितीय बार) प्रवृत्ति के लिए पहले गुरुदेव

---

१. निर्ग्रन्था यतयस्तीर्णा ससारसागर, मुक्ति प्राप्ता इति भाव। उपलक्षणत्वात् तरन्ति तरिष्यन्ति चेति सूत्रार्थ।
—उत्तरा. वृत्ति, अ रा. को. भा. ७, पृ. ७७२

से पूछना कि 'मैं यह कार्य करूँ या नही ?' (४) **प्रतिपृच्छना**—गुरु द्वारा पूर्वनिषिद्ध कार्य को पुनः करना आवश्यक हो तो पुन गुरुदेव से पूछना चाहिए कि आपने पहले इस कार्य का निषेध कर दिया था, परन्तु यह कार्य अतीव आवश्यक है, अतः आप आज्ञा दे तो यह कार्य कर लू । इस प्रकार पुन. पूछना प्रतिपृच्छना है । प्रस्तुत मे स्वयकरण के लिए आपृच्छा (प्रथम बार पूछने) तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा (पुन पूछने) का विधान है । (५) **छन्दना**—स्वय को भिक्षा मे प्राप्त हुए आहार के लिए अन्य साधुओं को निमत्रण करना कि यह आहार लाया हूँ, यदि आप भी इसमे से कुछ ग्रहण करें तो मैं धन्य होऊँगा । इसी के साथ ही **'निमत्रणा'** भी भगवती आदि सूत्रो मे प्रतिपादित है, जिसका अर्थ है—आहार लाने के लिए जाते समय अन्य साधुओ से भी पूछना कि 'क्या आप के लिए भी आहार लेता आऊँ ?' निमत्रण के बदले प्रस्तुत मे 'अभ्युत्थान' शब्द प्रयुक्त है। जिसका अर्थ और है। (६) **इच्छाकार**—'यदि आपकी इच्छा हो अथवा आप चाहे तो मै अमुक कार्य करू ?' इस प्रकार पूछना इच्छाकार है, अथवा बडा या छोटा साधु कोई कार्य अपने से बडे या छोटे साधु से कराना चाहे तो उत्सर्गमार्ग मे यहाँ बलप्रयोग सर्वथा वर्जित है। अत उसे इच्छाकार (प्रार्थना) का प्रयोग करना चाहिए कि अगर आपकी इच्छा हो तो (मेरा) काम आप करे। (७) **मिथ्याकार**—सयम का पालन करते हुए साधु से कोई विपरीत आचरण हो जाए तो फौरन उस दुष्कृत्य के लिए पश्चात्तापपूर्वक वह **'मिच्छामि दुक्कडं'** कहे, यह **'मिथ्याकार'** है। (८) **तथाकार**—गुरु आदि जब शास्त्र-वाचना दे, सामाचारी आदि का उपदेश दे अथवा सूत्र या अर्थ बताएँ अथवा कोई भी बात कहे, तब आप जैसा कहते हैं, वैसा ही अवितथ (-सत्य) है, इस प्रकार उनकी बात को स्वीकार करना **'तथाकार'** है। (९) **अभ्युत्थान**—आचार्य, गुरु या स्थविर आदि विशिष्ट गौरवार्ह साधुओ को आते देख कर अपने आसन से उठना, सामने जा कर उनका सत्कार करना, 'आओ—पधारो' कहना अभ्युत्थान सामाचारी है। निर्युक्तिकार ने अभ्युत्थान के बदले 'निमत्रणा' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्य अर्थ मे 'अभ्युत्थान' शब्द हो तो उसका अर्थ होगा—'आचार्य, ग्लान, रुग्ण, बालक साधु आदि के लिए यथोचित आहार-औषध आदि ला देने का प्रयत्न करना।'[1]

(१०) **उपसम्पदा**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सेवा आदि कारणो से आपवादिक रूप मे एक गण (या गच्छ) के साधु का दूसरे गण (गच्छ) के आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत, स्थविर, गीतार्थ आदि

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

(ख) 'आणा बलाभिओगो निग्गथाण न कप्पए काउ । इच्छा पउंजियव्वा सेहे रायणिए य तहा ॥६७७॥'
अपवादतस्तु आज्ञा-बलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन सहोत्सर्गत सवास एव न कल्पते, बहुत्वजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्येऽय विधि—प्रथममिच्छाकारेण युज्यते, अकुर्वन्नाज्ञया पुनर्बलाभियोगेनेति । —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ६७७ वृत्ति, पत्र ३४४

(ग) वायणपडिसुणयाए उवएसे सुत्त-अत्थ कहणाए । अवितहमेअंति तहा, पडिसुणणाए य तहकारो ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति गा ६८९

(घ) अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्—उद्यमन अभ्युत्थानम् । तच्च गुरुपूयत्ति सूत्रत्वाद् गुरुपूजायाम् ।
सा च गौरवार्हाणाम्—आचार्य-ग्लानबालादीना यथोचिताहारभैषजादि सम्पादनम् । इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थान निमत्रणारूपमेव परिगृह्यते । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

के समीप अमुक अवधि तक रहने के लिए जाना उपसम्पदा है। 'इतने काल तक मैं आपके पास (अमुक विशिष्ट प्रयोजनवश) रहूँगा', इस प्रकार से उपसम्पदा धारण की जाती है। उपसम्पदा तीन प्रयोजनों से ग्रहण की जाती है—(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए और (३) चारित्र के लिए। **ज्ञानार्थ उपसम्पदा** वह है, जो ज्ञान की वर्तना (पुनरावृत्ति), सधान (त्रुटित ज्ञान को पूरा करने) और ग्रहण—नया ज्ञान सम्पादन करने के लिए की जाती है। **दर्शनार्थ उपसम्पदा** वह है, जो दर्शन की वर्तना (पुन पुन चिन्तन), सधान (स्थिरीकरण) और ग्रहण (शास्त्रो मे उक्त दर्शन विषयक चिन्तन का अध्ययन) करने के लिए स्वीकार की जाती है। **चारित्रार्थ उपसम्पदा** वह है, जो वैयावृत्य की, तपश्चर्या की या किसी विशिष्ट साधना की आराधना के लिए अगीकार की जाती है।'[1]

दिन के चार भागों में उत्तरगुणात्मक दिनचर्या

८. पुव्विल्लंमि चउब्भाए आइच्चंमि समुट्ठिए।
भण्डयं पडिलेहित्ता वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥

[८] सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में भाण्ड—उपकरणो का प्रतिलेखन करके तदनन्तर गुरु को वन्दना करके—

९. पुच्छेज्जा पंजलिउडो किं कायव्वं मए इहं ?।
इच्छं निओइउं भन्ते ! वेयावच्चे व सज्झाए ॥

[९] हाथ जोडकर पूछे—इस समय मुझे क्या करना चाहिए? 'भते! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्य (सेवा) मे नियुक्त करे, अथवा स्वाध्याय मे (नियुक्त करे।)'

१०. वेयावच्चे निउत्तेणं कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

[१०] वैयावृत्य मे नियुक्त किया गया साधक ग्लानिरहित होकर वैयावृत्य (सेवा) करे, अथवा समस्त दु:खो से विमुक्त करने वाले स्वाध्याय मे नियुक्त किया गया साधक (ग्लानिरहित होकर स्वाध्याय करे।)

११. दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि ॥

[११] विचक्षण भिक्षु दिवस के चार विभाग करे। फिर दिन के उन चार भागो मे (स्वाध्याय आदि) उत्तरगुणो की आराधना करे।

---

१ (क) अच्छणे त्ति आसने, प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप-सामीप्येन, सम्पादन-गमन ···उपसम्पद्-इयन्त काल भवदन्तिके मयाऽसितव्यमित्येवरूपा, सा च ज्ञानार्थतादिभेदेन त्रिधा।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

(ख) 'उवसंपया य तिविहा नाणे तह दसणे चरित्ते अ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्त अट्ठाए ॥६९८॥
वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाइ अ ॥६९९॥ —आवश्यकनिर्युक्ति

१२. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥

[१२] (अर्थात्-दिन के) प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करे, दूसरे मे ध्यान करे, तीसरे मे भिक्षाचर्या करे और चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय करे ।

विवेचन—पुव्विल्लंमि चउब्भाए : दो व्याख्याएं—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—पूर्वदिशा मे, आकाश मे चतुर्थभाग में कुछ कम सूर्य के चढने पर अर्थात्—पादोन पोरसी आ जाए तब । अथवा (२) वर्तमान मे प्रचलित परम्परा के अनुसार—दिन के प्रथम प्रहर का चतुर्थ भाग । साधारणतया ३ घटा १२ मिनिट का यदि प्रहर हो तो उसका चतुर्थ भाग ४८ मिनट का होता है, किन्तु दिन का प्रहर ३½ घटे का हो, तब उसका चतुर्थ भाग ५२½ मिनट का होता है । आशय यह है, सूर्योदय होने पर प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग यानी ४८ या ५२½ मिनिट की अवधि तक मे वस्त्र-पात्रादि उपकरणो की प्रतिलेखना क्रिया पूर्ण कर लेनी चाहिए ।[1]

दैनिक कृत्य—१२ वी गाथा मे ४ प्रहरो मे विभाजित दिन के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करने का निर्देश किया है । इससे पूर्व ८ वी गाथा मे प्रथम प्रहर के चौथे भाग मे प्रतिलेखन-प्रमार्जन कार्य से निवृत्त होने का विधान है । इससे फलित होता है कि प्रथम प्रहार के चौथे भाग मे प्रतिलेखना से निवृत्त होकर वाचनादि स्वाध्याय करने बैठ जाए, यदि गुरु की आज्ञा स्वाध्याय की हो । यदि उनकी आज्ञा ग्लानादि की वैयावृत्य (सेवा) करने की हो तो वैयावृत्य मे सलग्न हो जाए । यदि गुरु-आज्ञा स्वाध्याय की हो तो प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय के पश्चात् दूसरे प्रहर मे ध्यान करे । द्वितीय पौरुषी को अर्धपौरुषी कहते हैं, इसलिए मूलपाठ के अर्थ के विषय मे चिन्तन (ध्यान) करना अभीष्ट है, ऐसा वृत्तिकार का कथन है । तीसरे प्रहर मे भिक्षाचर्या करे । इसे गोचरकाल कहा गया है, इसलिए भिक्षाचर्या, आहार के अतिरिक्त उपलक्षण से (स्थण्डिलभूमि मे मलोत्सर्ग आदि के लिए) बहिर्भूमि जाने आदि का कार्य करे । इसके पश्चात् चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय का विधान है, वहाँ भी उपलक्षण से प्रतिलेखन आदि क्रिया समझ लेनी चाहिए । दिन की यह चतुर्विभागीय चर्या औत्सर्गिक है । अपवादमार्ग मे इसमे कुछ परिवर्तन भी हो सकता है, अथवा गुरु की आज्ञा वैयावृत्य की हो तो मुख्यता उसी की रहेगी । उससे समय बचेगा तो स्वाध्यायादि भी होगा ।[2]

अगिलायओ : विशेषार्थ—यह शब्द वैयावृत्य के साथ जुडता है, तब अर्थ होता है—शरीर-

---

१ (क) पुव्विल्लमि त्ति-पूर्वस्मिश्चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते-समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पट पट एवोच्यते, एव किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्त । ततोऽयमर्थ —बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते । तत्र पूर्वदिक्सम्बद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्य समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्त भवति ।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

(ख) पूर्वस्मिश्चतुर्भागे प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य । —वही, पत्र ५४०

२ (क) 'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ'—समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्याय कर्त्तव्य सूत्रपौरुषीत्यर्थ । पादोनप्रहर यावत् । —ओघनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र ११५

(ख) आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

श्रम की चिन्ता न करके एव स्वाध्याय के साथ जुडता है, तब अर्थ होता है—स्वाध्याय को समस्त तप.कर्मों मे प्रधान मानकर विना थके या विना मुर्झाए उत्साहपूर्वक करे।[1]

पौरुषी का काल-परिज्ञान

१३. आसाढे मासे दुपया पोसे मासे चउप्पया।
चित्तासोएसु मासेसु तिपया हवइ पोरिसी॥

[१३] आषाढ मास मे द्विपदा (दो पैर की) पौरुषी होती है, पौष-मास मे चतुष्पदा (चार पैर की) तथा चैत्र और आश्विन मास मे त्रिपदा (तीन पैर की) पौरुषी होती है।

१४. अंगुलं सत्तरत्तेणं पक्खेण य दुअंगुलं।
वड्ढए हायए वावी मासेणं चउरंगुलं॥

[१४] सात रात मे एक अगुल, पक्ष मे दो अगुल और एक मास मे चार अगुल की वृद्धि और हानि होती है। (अर्थात्—श्रावण से पौष तक वृद्धि होती है तथा माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।)

१५. आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुण—वइसाहेसु य नायव्वा ओमरत्ताओ॥

[१५] आषाढ मास के कृष्णपक्ष मे तथा भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के भी कृष्णपक्ष मे न्यून (कम) रात्रियाँ होती हैं। (अर्थात्—इन महीनो के कृष्णपक्ष मे एक अहोरात्रि तिथि का क्षय होता है, यानी १४ दिन का पक्ष होता है।)

१६. जेट्ठामूले आसाढ-सावणे छहिं अगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीय-तियंमी तइए दस अट्ठहिं चउत्थे॥

[१६] ज्येष्ठ (ज्येष्ठमासीय मूलनक्षत्र), आषाढ और श्रावण—इस प्रथमत्रिक मे छह अगुल, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक—इस द्वितीयत्रिक मे आठ अगुल तथा मृगशिर, पौष और माघ—इस तृतीयत्रिक मे दस अगुल और फाल्गुन, चैत्र एव वैशाख—इस चतुर्थत्रिक मे आठ अगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखन का पौरुषीकाल होता है।

औत्सर्गिक रात्रिचर्या

१७. रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि॥

[१७] विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागो मे भी उत्तरगुणो की आराधना करे।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

१८. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥

[१८] प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय और द्वितीय प्रहर मे ध्यान करे तथा तृतीय प्रहर मे निद्रा ले और चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय करे।

१९. जं नेइ जया रत्तिं नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए।
संपत्ते विरमेज्जा सज्झायं पओसकालम्मि ॥

[१९] जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता है, वह (नक्षत्र) जब आकाश के प्रथम चतुर्थ भाग मे आ जाता है (अर्थात्—रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त होता है); तब वह प्रदोषकाल होता है, उस काल मे स्वाध्याय मे निवृत्त (विरत) हो जाना चाहिए।

विवेचन—पौरुषी शब्द का विश्लेषण और कालमान—'पौरुषी' शब्द पुरुष शब्द से निष्पन्न है। पुरुष शब्द के दो अर्थ होते है—पुरुषशरीर और शकु। फलितार्थ यह हुआ कि पुरुषशरीर या शकु से जिस काल का माप होता हो, वह पौरुषी है।[1]

पुरुषशरीर मे पैर से जानु (घुटने) तक का और शकु का प्रमाण २४-२४ अगुल होता है। जिस दिन किसी भी वस्तु की छाया वस्तु के प्रमाण के अनुसार होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है। युग के प्रथम वर्ष (सूर्य-वर्ष) मे श्रावण कृष्णा १ को शकु और जानु की छाया अपने ही प्रमाण के अनुसार २४ अगुल पडती है। १२ अगुल की छाया को एक पाद (पैर) माना गया है। अत शकु और जानु की २४ अगुल की छाया को दो पाद माना गया है। फलितार्थ यह हुआ कि पुरुष अपने दाहिने कान के सम्मुख सूर्यमण्डल को रख कर खडा रहे, फिर आषाढी पूर्णिमा को अपने घुटने तक की छाया दो पाद प्रमाण हो, तब एक प्रहर होता है। यो सर्वत्र समझ लेना चाहिए।[2]

वर्ष मे दो अयन होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास से प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास से। दक्षिणायन मे छाया बढती है और उत्तरायण मे कम होती है। यन्त्र इस प्रकार है—

	पौरुषी-छाया का प्रमाण				पादोन (पौन) पौरुषी का छाया प्रमाण				
	मास	पाद	अगुल		कुल		वृद्धि		अगुल
१	आषाढ पूर्णिमा	२–	०	=	२–०	+	६	=	२–६
२	श्रावण पूर्णिमा	२–	४	=	२–४	+	६	=	२–१०

१ शकु पुरुषशब्देन, स्याद्देह पुरुषस्य वा। निष्पन्ना पुरुषात् तस्मात्पौरुषीत्यपि सिद्धयति।
—काललोकप्रकाश २८।९९२

२ चतुर्विशत्यगुलस्य शकोश्छाया यथोदिता। चतुर्विशत्यगुलस्य जानोरपि तथा भवेत् ॥
स्वप्रमाण भवेच्छाया, यदा सर्वस्य वस्तुन। तदा स्यात् पौरुषी, याम्या-मानस्य प्रथमे दिने ॥
—काललोकप्रकाश २८।१०१, ९९३

३.	भाद्रपद पूर्णिमा	२–	८	=	२–८	+	८	=	३–४
४	आश्विन पूर्णिमा	३–	०	=	३–०	+	८	=	३–८
५	कार्तिक पूर्णिमा	३–	४	=	३–४	+	८	=	४–०
६	मृगसिर पूर्णिमा	३–	८	=	३–८	+	१०	=	४–६
७.	पौष पूर्णिमा	४–	०	=	४–०	+	१०	=	४–१०
८	माघ पूर्णिमा	३–	८	=	३–८	+	१०	=	४–६
९	फाल्गुन पूर्णिमा	३–	४	=	३–४	+	८	=	४–०
१०.	चैत्र पूर्णिमा	३–	०	=	३–०	+	८	=	३–८
११	वैशाख पूर्णिमा	२–	८	=	२–८	+	८	=	३–४
१२	ज्येष्ठ पूर्णिमा	२–	४	=	२–४	+	६	=	२–१०

२०. तम्मेव य नक्खत्ते गयणचउब्भागसावसेसंमि ।
वेरत्तियं पि कालं पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥

[२०] वही नक्षत्र जब आकाश के अन्तिम चतुर्थ भाग मे आ जाता है (अर्थात् रात्रि का अन्तिम चौथा प्रहर आ जाता है, तब उसे वैरात्रिक काल समझ कर मुनि स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जाए ।

विवेचन—रात्रि के चार भाग—(१) प्रादोषिक (रात्रि का मुख भाग), (२) अर्धरात्रिक, (३) वैरात्रिक और (४) प्राभातिक । प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरो मे स्वाध्याय किया जाता है । अर्धरात्रि मे ध्यान और वैरात्रिक मे शयनक्रिया (निद्रा-ग्रहण) । प्रस्तुत दो गाथाओ (१८-१९) मे मुनि की रात्रि की दिनचर्या की विधि बताई गई है । दशवैकालिकसूत्र मे निर्दिष्ट—**'काले कालं समायरे'**—'सब कार्य ठीक समय पर करे' मुनि को चर्या का प्रमुख प्रेरणासूत्र है ।[1]

'नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए संपत्ते'—जो नक्षत्र चन्द्रमा को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, वह जब आकाश के चतुर्थ भाग मे आता है, उस समय प्रथम पोरुषी का कालमान होता है । इसी प्रकार वह नक्षत्र जब समग्र क्षेत्र का अवगाहन कर लेता है, तब रात्रि के चारो प्रहर बीत जाते है ।

जो नक्षत्र पूर्णिमा को उदित होता है और चन्द्र को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, उसी नक्षत्र के नाम पर महीने के नाम रखे गए है । श्रावण और ज्येष्ठ मास इसके अपवाद है ।[2]

विशेष दिनचर्या

२१. पुव्विल्लंमि चउब्भाए पडिलेहित्ताण भण्डयं ।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥

[२१] दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग मे पात्र आदि भाण्डोपकरणो का प्रतिलेखन करके (फिर) गुरु को वन्दन कर दुःख से विमुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

---

१ (क) ओघनिर्युक्ति गा ६५८ वृत्ति, पत्र २०५, गा ६६२-६६३ (ख) दशवैकालिक ५।२।४

२. (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार ७, सू १६२ (ख) उत्तरा (गुजराती भावनगर' . २, पत्र २१०

२२. पोरिसीए चउब्भाए वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स भायणं पडिलेहए ।।

[२२] पौरुषी के चतुर्थ भाग मे (अर्थात् पौन पौरुषी व्यतीत हो जाने पर) गुरु को वन्दना करके, काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किये बिना ही भाजन का प्रतिलेखन करे ।

विवेचन—विशेष दिनकृत्य का संकेत—सूर्योदय के समय पौरुषी का प्रथम चतुर्थभाग शेष रहते भाण्डक का प्रतिलेखन करे । भाण्डक का अर्थ किया है—प्रावृट्वर्षाकल्पादि उपधि । अर्थात् जो उपधि चातुर्मासिक वर्षाकाल के योग्य हो ।[1]

अपडिक्कमित्ता कालस्स—२२ वी गाथा मे यह बताया गया है कि पौरुषी का चतुर्थभाग शेष रहते अर्थात् पादोन पौरुषी मे कायोत्सर्ग किये बिना ही भाजन (पात्र)-प्रतिलेखना करे । तात्पर्य यह है—सामान्यतया प्रत्येक कार्य की परिसमाप्ति पर कायोत्सर्ग करने का विधान है । इसलिए यहाँ भी आशका प्रकट की गई है कि स्वाध्याय से उपरत होने पर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करके दूसरा कार्य प्रारम्भ करना चाहिए, उसका प्रतिवाद करते हुए प्रस्तुत मे कहा गया है—काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किये बिना ही पात्र प्रतिलेखना करे । इसका आशय यह है कि चतुर्थ पौरुषी मे फिर स्वाध्याय करना है ।[2]

प्रतिलेखना का विधि-निषेध

२३. मुहपोत्तिय पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।
गोच्छगलइयगुलिओ वत्थाइ पडिलेहए ।।

[२३] मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर गोच्छग (प्रमार्जनी-पूजणी) का प्रतिलेखन करे । अगुलियो से गोच्छग को पकड कर वस्त्रो का प्रतिलेखन करे ।

२४. उड्ढं थिरं अतुरियं पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ।।

[२४] (सर्वप्रथम) ऊर्ध्व (उकडू) आसन से बैठे तथा वस्त्र को ऊँचा (अर्थात्—तिरछा) और स्थिर रखे और शीघ्रता किये बिना उसका प्रतिलेखन (नेत्र से अवलोकन) करे । दूसरे मे वस्त्र को धीरे से झटकारे और तीसरे मे फिर वस्त्र का प्रमार्जन करे ।

२५. अणच्चावियं अवलियं अणाणुबन्धिं अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणविसोहणं ।।

[२५] प्रतिलेखना विधि—(प्रतिलेखन के समय वस्त्र या शरीर को) (१) न नचाए, (२) न मोड़े, (३) वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, (४) वस्त्र का दीवार आदि से स्पर्श न होने दे, (५) वस्त्र के ६ पूर्व और ९ खोटक करे, (६) कोई प्राणी हो, उसका विशोधन करे ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०

२. अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधायैव, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात् ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०

२६. आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठा॥

२७. पसिढिल-पलम्ब-लोला एगामोसा अणेगरूवधुणा।
कुणइ पमाणि पमायं संकिए गणणोवगं कुज्जा॥

[२६-२७] (प्रतिलेखन के ६ दोष इस प्रकार हैं—) (१) आरभटा (२) सम्मर्दा (३) मोसली (४) प्रस्फोटना (५) विक्षिप्ता (६) वेदिका (७) प्रशिथिल (८) प्रलम्ब (९) लोल (१०) एकामर्शा (११) अनेक रूप धूनना (१२) प्रमाणप्रमाद (१३) गणनोपगणना दोष।

२८. अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाइं॥

[२८] (प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त तथा अविपरीत प्रतिलेखना ही शुद्ध होती है। उक्त तीन विकल्पो के ८ विकल्प होते है। उनमे प्रथम विकल्प (—भेद) ही शुद्ध (प्रशस्त) है, शेष अशुद्ध (अप्रशस्त) हैं।

२९. पडिलेहणं कुणन्तो मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा॥

[२९] प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद की कथा करता है, अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरो को वाचना देता (पढाता) है या स्वय अध्ययन करता (पढता) है—

३०. पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाण।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं पि विराहओ होइ॥

[३०] वह प्रतिलेखना मे प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन षट्कायिक जीवो का विराधक होता है।

३१. पुढवी-आउक्काए तेऊ-वाऊ—वणस्सइ-तसाण।
पडिलेहणआउत्तो छण्हं आराहओ होइ॥

[३१] प्रतिलेखना मे उपयोग-युक्त (अप्रमत्त) मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन षट्कायिक जीवो का आराधक (रक्षक) होता है।

विवेचन—प्रतिलेखन : स्वरूप, विधि, दोष एवं परिणाम—प्रतिलेखन जैन मुनि की चर्या का महत्त्वपूर्ण अग है। इसका दायरा बहुत व्यापक है। साधु को केवल वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि भण्डोपकरणो की ही नही, अपने निश्रित जो भी मकान, पट्टे, चौकी, पुस्तके, शरीर आदि हो, उनका भी प्रतिलेखन करना आवश्यक है। साथ ही क्षेत्रप्रतिलेखन अर्थात्—परिष्ठापनस्थान (स्थण्डिल), आवासस्थान—उपाश्रय, धर्मस्थान आदि स्वाध्याय (विचार) भूमि, विहारभूमि आदि का भी प्रतिलेखन आवश्यक है। कालप्रतिलेखन (स्वाध्यायकाल, भिक्षाचरीकाल, प्रतिलेखनकाल, निद्राकाल, ध्यानकाल आदि का भलीभाति विचार करके प्रत्येक कार्य यथासमय करना) भी अनिवार्य है और

भावप्रतिलेखन (अपने मन मे उठने वाले शुभाशुभ भावो का सम्प्रेक्षण करना) भी शास्त्रविहित है। प्रतिलेखन के साथ प्रमार्जन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्ययन की पूर्व गाथाओ मे क्षेत्रप्रतिलेखन और कालप्रतिलेखन के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जा चुका है। द्रव्यप्रतिलेखन के सन्दर्भ मे पात्र आदि उपकरणों के प्रतिलेखन के विषय मे भी कहा जा चुका है।[1] अब यहाँ गाथा २३ से ३१ तक मुख्यतया वस्त्रप्रतिलेखन से सम्बन्धित विधि—निषेध का निरूपण किया गया है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार विचार करने पर गा २३ पात्रप्रतिलेखन से सम्बन्धित प्रतीत होती है। प्रस्तुत गाथा मे पात्र से सम्बन्धित तीन उपकरणो (मुखवस्त्रिका, गोच्छग और वस्त्र (पटल-पल्ला आदि) का उल्लेख है, जबकि ओघनिर्युक्ति मे पात्र से सम्बन्धित सात उपकरणो (पात्रनिर्योग—पात्रपरिकर) का निर्देश है—(१) पात्र, (२) पात्रबन्ध (पात्र को बाधने का वस्त्र), (३) पात्रस्थापन (पात्र को रज आदि से बचाने का उपकरण), (४) पात्रकेसरिका (पात्र की मुखवस्त्रिका), (५) पटल (पात्र को ढाकने का पल्ला), (६) रजस्त्राण (चूहो, जीवजन्तुओ, रज या वर्षा के जल कण से बचाव के लिए उपकरण) और (७) गोच्छग (पटलो का प्रमार्जन करने की ऊन की प्रमार्जनिका)। पात्र सम्बन्धी इन मुख्य तीन उपकरणो के प्रतिलेखन का क्रम इस प्रकार बताया गया है—(१) प्रथम मुखवस्त्रिका (पात्र-केसरिका) का, (२) तत्पश्चात् गोच्छग का और (३) फिर अगुलियो से गोच्छग पकड कर पटल आदि पात्र सम्बन्धी वस्त्रो का प्रतिलेखन करना।[2]

वस्त्रप्रतिलेखनाविधि—**(१) उड्ढ**—उकडू आसन से बैठकर वस्त्रो को भूमि से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखन करना, **(२) थिर**—वस्त्र को दृढता से स्थिर (पकडे) रखना, **(३) अतुरिय**—उपयोग-शून्य होकर जल्दी-जल्दी प्रतिलेखना न करना, **(४) पडिलेहे**—वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनो ओर से अच्छी तरह देखना, **(५) पप्फोडे**—देखने के बाद उसे यतना से धीरे-धीरे झडकाना चाहिए और (६) **पमज्जिज्जा**—झडकाने के बाद वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ मे लेना और एकान्त मे यतना से परठना चाहिए। प्रस्तुत गाथा मे इन ६ को मुख्य तीन अगो मे विभक्त कर दिया है—(१) प्रतिलेखना—वस्त्रो का आँखो से निरीक्षण करना, (२) प्रस्फोटना—(झडकाना) और (३) प्रमार्जना (गोच्छग से पूंजना)।[3]

अप्रमाद-प्रतिलेखना—२५ वी गाथा मे वस्त्रप्रतिलेखना मे सावधानी रखने के अनर्तित आदि ६ प्रकार बतलाए गए है, उन्हे स्थानागसूत्र मे अप्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार बताए गए है। उन ६ का लक्षण इस प्रकार है—**(१) अनर्तित**—प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को इधर-उधर नचाए नही, **(२) अवलित**—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र कही से मुडा हुआ न हो, प्रतिलेखना करने वाले को भी अपने शरीर को बिना मोडे सीधे बैठना चाहिए। अथवा प्रतिलेखन करते समय वस्त्र

१ (क) **'काल पडिलेहित्ता '**—अ २६, गा, २० (ख) **'भायण पडिलेहए'**—अ २६, गा २२
(ग) **'वत्थाइ पडिलेहए'**—अ २६ गा २३ (घ) 'सपिक्खए अप्पगमप्पएण'—दशवै , अ १०

२ (क) उत्तरा मूलपाठ अ २६, गा २३
(ख) पत्त पत्ताबधो, पायट्ठवण च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण च, गोच्छओ पायनिज्जोगो॥ —ओघनिर्युक्ति, गा ६७४

३ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०-५४२
(ख) स्थानाग , स्थान ६।५०३

या शरीर को चचल नही रखना चाहिए। (३) **अननुबन्धी**—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित (ओझल) न करे या वस्त्र को अयतना से न झटकाए। (४) **अमोसली**—धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे और तिरछे लगने वाले मूसल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार आदि से नही लगाना चाहिए। (५) **षट्पुरिम**—नवस्फोट का (६ पुरिमा, ६ खोडा)—प्रतिलेखना मे ६ पुरिम और ६ खोड करने चाहिए। षट्पुरिम का रूढ अर्थ है—वस्त्र के दोनो ओर के तीन-तीन हिस्से करके उन्हे (दोनो हिस्सो को) तीन-तीन बार खखेरना झड़काना और नव खोड का अर्थ है—स्फोटक अर्थात् प्रमार्जन। वस्त्र के प्रत्येक भाग के ६ खोटक करके दोनो भागो (१८ खोटको) को तीन-तीन बार पूजना। फिर उनका तीन बार शोधन करना और (६) **पाणि-प्राण-विशोधन**—वस्त्र आदि पर कोई जीव दिखाई दे तो उसका यतनापूर्वक अपने हाथ से शोधन करना चाहिए।[१] यहाँ १ दृष्टिप्रतिलेखन, ६ पूर्व (झटकाना) और १८ बार खोटक (प्रमार्जन) करना, यो प्रतिलेखना के कुल १+६+१८=२५ प्रकार होते हैं।

प्रमाद-प्रतिलेखना—२६ वी गाथा मे आरभटा आदि प्रतिलेखना के ६ दोष बताए है, जो स्थानागसूत्र के अनुसार प्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार हैं—(१) **आरभटा**—निर्दिष्ट विधि से विपरीत रीति से या शीघ्रता से प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोडकर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना मे लग जाना, (२) **सम्मर्दा**—जिस प्रतिलेखना मे वस्त्र के कोने मुडे ही रहे, उनमे सलवटे पडी हो अथवा प्रतिलेख्यमान वस्त्रादि पर बैठकर प्रतिलेखना करना, (३) **मोसली**—जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी प्रकार वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार या अन्य पदार्थ से लगाना। (४) **प्रस्फोटना**—धूलिधूसरित वस्त्र की तरह प्रतिलेख्यमान वस्त्र का जोर से झडकाना। (५) **विक्षिप्ता**—प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रो को बिना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रो मे मिला देना, अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को इधर-उधर फैकते रहना या वस्त्र को इतना अधिक ऊँचा उठा लेना कि भलीभाति प्रतिलेखना न हो सके। (६) **वेदिका**—प्रतिलेखना करते समय दोनो घुटनो के ऊपर, नीचे, बीच मे या पार्श्व मे या दोनो घुटनो को दोनो हाथो के बीच मे या एक जानु को दोनो हाथो के बीच मे रखना वेदिका-प्रतिलेखना है। इसी दृष्टि से वेदिका-प्रतिलेखना के ५ प्रकार बताए गए है—(१) ऊर्ध्व-वेदिका, (२) अधोवेदिका, (३) तिर्यक्वेदिका, (४) उभयवेदिका और (५) एकवेदिका।[२]

सात प्रतिलेखना-अविधि—२४वी गाथा मे उक्त प्रतिलेखनाविधि को लेकर यहाँ सात प्रकार की प्रतिलेखना-अविधि बताई है—(१) **प्रशिथिल**—वस्त्र को ढीला पकडना, (२) **प्रलम्ब**—वस्त्र को इस तरह पकडना कि उसके कोने नीचे लटकते रहे, (३) **लोल**—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का भूमि से या हाथ से सघर्षण करना, (४) **एकामर्शा**—वस्त्र को बीच मे से पकड कर एक दृष्टि मे ही समूचे वस्त्र को देख जाना, (५) **अनेक रूप धूनना**—वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना, अथवा अनेक वस्त्रो को एक साथ एक ही बार मे झटकना, (६) **प्रमाणप्रमाद**—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (६-६ बार) बताया है, उसमे प्रमाद करना और (७) **गणनोपगणना**—

१. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२
(ख) स्थानाग, स्थान ६।५०३

२ (क) वही, स्थान ६।५०३ (ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२
(ग) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भाग २, पत्र २१२

प्रस्फोटन और प्रमार्जन के शास्त्रोक्त प्रमाण मे शका के कारण हाथ की अगुलियो की पर्वरेखाओ से गिनती करना ।[1]

प्रतिलेखना : शुद्ध-अशुद्ध—अट्ठाईसवी गाथा के अनुसार प्रशस्त (शुद्ध) या अप्रशस्त (अशुद्ध) प्रतिलेखना के ८ विकल्प होते हैं—(१) जो प्रतिलेखना (प्रस्फोटन-प्रमार्जन के) प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त (न कम, न अधिक) और अविपरीत हो, (२) अन्यून, अनतिरिक्त हो, पर विपरीत हो, (३) जो अन्यून हो, किन्तु अतिरिक्त हो, अविपरीत हो, (४) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो और विपरीत हो, (५) जो न्यून हो, अनतिरिक्त हो, अविपरीत हो, (६) जो न्यून हो, अनतिरिक्त हो, किन्तु विपरीत हो, (७) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो, किन्तु अविपरीत हो, (८) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो, और विपरीत भी हो । इसमे प्रथम विकल्प शुद्ध (प्रशस्त) है और शेष ७ विकल्प अशुद्ध (अप्रशस्त) हैं ।[2]

प्रतिलेखना मे प्रमत्त और अप्रमत्त : परिणाम—गा. २९-३० मे प्रतिलेखना-प्रमत्त के लक्षण और उसे षट्काय-विराधक तथा ३१ वी गाथा मे प्रतिलेखना-अप्रमत्त के लक्षण एवं उसे षट्काय का आराधक कहा है ।[3]

तृतीय पौरुषी का कार्यक्रम : भिक्षाचर्या

३२. तइयाए पोरिसीए भत्तं पाणं गवेसए ।
छण्हं अन्नयरागम्मि कारणंमि समुट्ठिए ॥

[३२] छह कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर तृतीय पौरुषी (तीसरे पहर) मे भक्त-पान की गवेषणा करे ।

३३. वेयण—वेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥

[३३] (क्षुधा-) वेदना (की शान्ति) के लिए, वैयावृत्य के लिए, ईर्या (समिति के पालन) के लिए, सयम के लिए तथा प्राण-धारण (रक्षण) करने के लिए और छठे धर्मचिन्तन (-रूप कारण) के लिए भक्त-पान की गवेषणा करे ।

३४. निग्गन्थो धिइमन्तो निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव ।
ठाणेहिं उ इमेहिं अणइक्कमणा य से होइ ॥

[३४] धृतिमान् (धैर्यसम्पन्न) निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी (साध्वी) इन छह कारणो से भक्त-पान की गवेषणा न करे जिससे संयम का अतिक्रमण न हो ।

३५. आयंके उवसग्गे तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं सरीर—वोच्छेयणट्ठाए ॥

[३५] आतक (रोग) होने पर, उपसर्ग आने पर, तितिक्षा के लिए, ब्रह्मचर्य की गुप्तियों की

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२ (ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र २१३
२ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र २१३
३ उत्तरा (गु भाषान्तर,) भा. २, पत्र २१३

रक्षा के लिए प्राणियो की दया के लिए, तप के लिए तथा शरीर-विच्छेद (व्युत्सर्ग) के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।

३६. अवसेसं भण्डगं गिज्झा चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ विहारं विहरए मुणी ॥

[३६] समस्त उपकरणों का आँखो से प्रतिलेखन करे और उनको लेकर (आवश्यक हो तो) मुनि उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) आधे योजन (दो कोस) क्षेत्र (विहार) तक विचरण करे (अर्थात् भक्त-पान की गवेषणा के लिए पर्यटन करे)।

विवेचन—भक्तपान की गवेषणा के कारण—स्थानागसूत्र और मूलाचार मे भी छह कारणो से आहार करने का विधान है, जो कि भक्त-पान-गवेषणा का फलितार्थ है। मूलाचार मे 'इरियट्ठाए' के बदले 'किरियट्ठाए' पाठ है। वहाँ उसका अर्थ किया गया है—षड् आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करने के लिए। छह कारणो की मीमासा करते हुए ओघनिर्युक्ति मे कहा गया कि प्रथम कारण इसलिए बताया है कि क्षुधा के समान कोई शरीरवेदना नही है, क्योकि क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति वैयावृत्य नहीं कर सकता, क्षुधापीडित व्यक्ति आँखो के आगे अधेरा आ जाने के कारण ईर्या का शोधन नही कर सकता है, आहारादि ग्रहण किये बिना कच्छ और महाकच्छ आदि की तरह वह प्रेक्षा आदि सयमो का पालन नही कर सकता। आहार किये विना उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे वह गुणन (चिन्तन) और अनुप्रेक्षण करने मे अशक्त हो जाता है। प्राणवृत्ति अर्थात् प्राणरक्षण (जीवनधारण) के लिए आहार-ग्रहण करना आवश्यक है। प्राण का त्याग तभी किया जाना युक्त है, जब आयुष्य पूर्ण होने का कोई कारण उपस्थित हो, अन्यथा आत्महत्या का दोष लगता है। इसलिए जीवनधारण के लिए आहार करना आवश्यक है। छठा कारण धर्मचिन्ता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षुधादि से दुर्बल हुए व्यक्ति को दुर्ध्यान होना सम्भव है, उससे धर्मध्यान नहीं हो सकता।[१]

भक्तपान-गवेषणा-निषेध के ६ कारण—(१) **आतंक**—ज्वर आदि रोग होने पर, (२) उपसर्ग आने पर अर्थात्-देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आया हो तब अथवा व्रतभग करने के लिए स्वजनादि के द्वारा किये गए उपसर्ग के समय, (३) ब्रह्मचर्य की गुप्तियो की रक्षा के लिए, अर्थात् आहार करने से मन मे विकार उत्पन्न होता हो तो आहार का त्याग किये विना ब्रह्मचर्य-पालन नही हो सकता है, (४) प्राणियो की दया के लिए अर्थात् वर्षा आदि ऋतुओ मे अप्काय

---

१ (क) स्थानाग वृत्ति ६।५०० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४३

(ग) वेयणवेयावच्चे किरियाठाणे य सजमट्ठाए।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एवेहिं आहार ॥ —मूलाचार ६।६० वृत्ति

(घ) नत्थि छुहाए सरिसया, वेयण भु जेज्ज तप्प-समणट्ठा।
छाओ वेयावच्च, न तरइ काउ अओ भु जे ॥
इरिय नवि सोहेइ पेहाईय च सजम काउ।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥ —ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २९०-२९१

(ङ) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २१५

आदि के जीवो की रक्षा के लिए आहारत्याग करना आवश्यक है, (५) उपवास आदि तपस्या के समय आहारत्याग आवश्यक है, (६) शरीर का व्युत्सर्ग करने हेतु—आयुष्य की समाप्ति पर शरीर का त्याग करने हेतु उचित समय पर अनशन करते समय। इन ६ कारणो से आहार नही करना चाहिए। अर्थात् ६ कारणो से भक्त-पान की गवेषणा नही करनी चाहिए।[1]

विहारं विहरए—व्यवहारभाष्य की वृत्ति मे 'विहारभूमि' का अर्थ किया गया है—'भिक्षा-भूमि।' इसीलिए प्रस्तुत प्रसग मे 'विहार विहरए' का अर्थ किया गया है—भिक्षा के निमित्त पर्यटन करे। बृहद्वृत्ति मे विहार का अर्थ—प्रदेश (क्षेत्र) किया है, क्योकि उसका सम्बन्ध अर्द्धयोजन (दो कोस) तक आहार-पानी की गवेषणा के लिए पर्यटन के साथ जोडा गया है।[2]

भिक्षाभूमि में जाते समय सोपकरण जाए या निरुपकरण?—ओघनिर्युक्ति मे इस सम्बन्ध मे यह मत व्यक्त किया गया है कि मुनि सभी उपकरणो को साथ मे लेकर भिक्षा-गवेषणा करे, यह उत्सर्गविधि है। यदि वह सभी उपकरणो को साथ ले जाने मे असमर्थ हो तो आचारभण्डक को साथ लेकर जाए, यह अपवादविधि है। आचारभण्डक मे निम्नोक्त ६ उपकरण आते है—(१) पात्र, (२) पटल (पल्ला), (३) रजोहरण, (४) दण्डक, (५) कल्पद्वय अर्थात् एक ऊनी और एक सूती चादर और (६) मात्रक (पेशाब आदि के लिए भाजन)। शान्त्याचार्य ने 'अवशेष' का अर्थ समस्त पात्रनिर्योग (पात्र से सम्बन्धित समस्त उपकरण) किया है। विकल्प रूप मे समस्त भाण्डक—उपकरण अर्थ किया है।[3]

चतुर्थ पौरुषी का कार्यक्रम

३७. चउत्थीए पोरिसीए निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झायं तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं॥

[३७] चतुर्थ पौरुषी (प्रहर) मे प्रतिलेखना करके सभी पात्रो को (बाध कर) रख दे। तदनन्तर (जीवादि) समस्त भावो का प्रकाशक (अभिव्यक्त करने वाला) स्वाध्याय करे।

३८. पोरिसीए चउब्भाए वन्दित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स सेज्जं तु पडिलेहए॥

[३८] पौरुषी के चतुर्थ भाग मे गुरु को वन्दना करके फिर काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) कर शय्या का प्रतिलेखन करे।

---

१ (क) स्थानाग स्थान ६।५०० वृत्ति
(ख) ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २९३-२९४
(ग) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा २, पत्र २१५

२ (क) यत्र च महती विहारभूमिर्भिक्षानिमित्त परिभ्रमणभूमि ' —व्यवहारभाष्य ४।४० वृत्ति
(ख) विहरत्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४

२ (क) ओघनिर्युक्तिभाष्य गाथा २२७, वृत्तिसहित
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४

३९. पासवणुच्चारभूमिं च पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

[३९] यतना मे प्रयत्नशील मुनि फिर प्रस्रवण (भूमि) और उच्चारभूमि का प्रतिलेख करे, उसके बाद सर्वदु:खो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

विवेचन—चतुर्थ प्रहर की चर्या का क्रम—प्रस्तुत तीन गाथाओ (३७ से ३९ तक) मे चतु प्रहर की चर्या का क्रम इस प्रकार बताया गया है—(१) प्रतिलेखना, (२) पात्र बाधकर रखन (३) स्वाध्याय, (४) गुरुवन्दन-काल का कायोत्सर्ग करके शय्याप्रतिलेखन, (५) उच्चार-प्रस्रव भूमि-प्रतिलेखन और अन्त मे (६) कायोत्सर्ग।[1]

दैवसिक प्रतिक्रमण

४०. देसियं च अईयारं चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणे य दंसणे चेव चरित्तम्मि तहेव य ॥

[४०] ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित दिवस सम्बन्धी अतिचारो का अनुक्रम चिन्तन करे।

४१. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरु।
देसियं तु अईयार आलोएज्ज जहक्कमं ॥

[४१] कायोत्सर्ग को पूर्ण (पारित) करके गुरु को वन्दना करे। तदनन्तर क्रमश: दिव सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे।

४२. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो वन्दित्ताण तओ गुरु।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

[४२] (इस प्रकार) प्रतिक्रमण करके नि शल्य होकर गुरु को वन्दना करे। तत्पश्च सर्वदु खो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४३ पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरु।
थुइमंगल च काऊण कालं संपडिलेहए ॥

[४३] कायोत्सर्ग पूरा (पारित) करके गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मगल (सिद्धस्त करके काल का सम्यक् प्रतिलेखन करे।

विवेचन—दैवसिक प्रतिक्रमण का क्रम—३९ वी गाथा के अन्त मे दूसरी पक्ति मे कायोत्सर्ग का विधान किया गया था, वह इसी प्रतिक्रमण से सम्बन्धित है, जो ४० वी गाथा प्रारम्भ होता है। अर्थात्—प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वदु खनाशक कायोत्सर्ग करे, उर (४० वी गाथा के अनुसार) ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित दिन भर मे जो भी अतिचार हो, उनका क्रमश: चिन्तन करे।

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २१६

ज्ञान के १४ अतिचार—व्याविद्ध, व्यत्याम्रेडित, हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, विनयहीन, योगहीन, घोषहीन, सुष्ठुदत्त, दुष्ठुप्रतीच्छित, अकाल मे स्वाध्याय किया, काल मे स्वाध्याय न किया, ये १४ ज्ञान मे लगने वाले अतिचार (दोष) हैं।

दर्शन के ५ अतिचार—शका, काक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्डिप्रशसा और परपाषण्डिसस्तव, ये दर्शन (सम्यग्दर्शन) के ५ अतिचार हैं।

चारित्र के अतिचार—५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति तथा अन्यविहित कर्त्तव्यो मे जो भी अतिचार है, वे चारित्रिक अतिचार हैं। इसमे शयनसम्बन्धी, भिक्षाचरीसम्बन्धी, प्रतिलेखनसम्बन्धी तथा स्वाध्यायसम्बन्धी एव गमनागमनसम्बन्धी (ऐर्यापथिक) प्रतिक्रमण भी आ जाता है।

यो अतिचारो का चिन्तन, फिर कायोत्सर्ग करके गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन, तदनन्तर दिवस-सम्बन्धी चिन्तित अतिचारो की गुरु के समक्ष आलोचना करे—इसमे गुरु के समक्ष दोषो का प्रकटीकरण, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, क्षमापना, प्रायश्चित्त इत्यादि प्रतिक्रमण के सब अगो का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण करके नि शल्य, शुद्ध होकर गुरुवन्दना करके फिर कायोत्सर्ग करे, तत्पश्चात् पुनः गुरुवन्दन करके सिद्धस्तव (चतुर्विशतिस्तव) रूप स्तुतिमगल करके 'नमोत्थु णं' बोल कर प्रादोषिक काल की प्रतिलेखना करे। यह हुआ समग्र दैवसिक प्रतिक्रमण का सागोपाग क्रम।[1]

रात्रिक चर्या और प्रतिक्रमण

४४. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु सज्झायं तु चउत्थिए॥

[४४] (रात्रि के) प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे नीद और चौथे मे पुन स्वाध्याय करे।

४५. पोरिसीए चउत्थीए कालं तु पडिलेहिया।
सज्झायं तओ कुज्जा अबोहेन्तो असंजए॥

[४५] चौथे प्रहर मे काल का प्रतिलेखन कर असयत व्यक्तियो को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

४६. पोरिसीए चउब्भाए वन्दिऊण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स कालं तु पडिलेहए॥

[४६] चतुर्थ पौरुषी के चौथे भाग मे गुरु को वन्दना कर काल का प्रतिक्रमण करके काल का प्रतिलेखन करे।

४७. आगए कायवोस्सग्गे सव्वदुक्खविमोक्खणे।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

---

१ उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २१७-२१८

[४७] फिर सब दुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग का समय होने पर सर्वदुःख-विमुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४८. राइयं च अईयारं चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणंमि दंसणंमी चरित्तंमि तवंमि य॥

[४८] (इसके पश्चात्) ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप में लगे हुए रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४९. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
राइयं तु अईयारं आलोएज्ज जहक्कमं॥

[४९] कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु को वन्दना करे, फिर अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी (कायोत्सर्ग में चिन्तित) अतिचारों की (गुरु के समक्ष) आलोचना करे।

५०. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

[५०] तत्पश्चात् प्रतिक्रमण कर निःशल्य होकर गुरुवन्दना करे, फिर सब दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५१. किं तवं पडिवज्जामि एवं तत्थ विचिन्तए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता वन्दई य तओ गुरुं॥

[५१] कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे कि मैं (आज) किस तप को स्वीकार करूं? कायोत्सर्ग को समाप्त (पारित) कर गुरु को वन्दना करे।

५२. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता करेज्ज सिद्धाण संथवं॥

[५२] कायोत्सर्ग पूर्ण होते ही गुरुवन्दन करके यथोचित तप को स्वीकार करके सिद्धों की स्तुति करे।

विवेचन—कायोत्सर्ग, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण—रात्रि के चार प्रहर में नियत कार्यक्रम का पुनः ४४ वी गाथा द्वारा उल्लेख करके चतुर्थ प्रहर के वैरात्रिक काल का प्रतिलेखन कर स्वाध्याय-काल को भलीभांति समझ कर असयमी (गृहस्थो) को नही जगाता हुआ मौनपूर्वक स्वाध्याय करे। फिर चतुर्थ प्रहर का चौथा भाग शेष रहने पर गुरुवन्दन करके वैरात्रिक काल (के कार्यक्रम) का प्रतिक्रमण करे और प्राभातिक काल का प्रतिलेखन करे (अर्थात् काल ग्रहण करे)।

यहाँ मध्यम क्रम की अपेक्षा से तीन काल ग्रहण किये हैं, अन्यथा उत्सर्गमार्ग में जघन्य तीन और उत्कृष्ट चार कालों के ग्रहण का विधान है, अपवादमार्ग में जघन्य एक और उत्कृष्ट दो कालो के ग्रहण का विधान है।

तदनन्तर पुनः (प्राभातिक) कायोत्सर्ग का काल प्राप्त होने पर सर्वदुःख-विमोचक कायोत्सर्ग करे। प्रस्तुत में तीन कायोत्सर्ग (रात्रिप्रतिक्रमण सम्बन्धी) विहित हैं। प्रथम कायोत्सर्ग में रत्नत्रय

मे लगे अतिचारो का चिन्तन, फिर उनकी आलोचना तथा तीसरे कायोत्सर्ग में तपश्चरण का विचार करे।

कायोत्सर्ग के **'सव्वदुक्खविमोक्खणं'** विशेषण का अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग महान् निर्जरा का (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप एव वीर्य की और परम्परा से आत्मा की शुद्धि का) कारण है। इसलिए इसे पुन. पुन. करने का विधान है। शुद्ध चिन्तन के लिए एकाग्रता जरूरी है और कायोत्सर्ग मे एकाग्रता आ जाती है, शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों का व्युत्सर्ग करने के बाद एकमात्र आत्मा ही साधक के समक्ष रहती है, इसलिए आत्मलक्षी चिन्तन इससे हो जाता है।

कायोत्सर्ग के पश्चात्—प्रत्याख्यान आवश्यक आता है। इस दृष्टि से यहाँ **तप को स्वीकार** करने के चिन्तन का उल्लेख है। चिन्तन मे अधिक से अधिक ६ मास से लेकर नीचे उतरते-उतरते अन्त मे नौकारसी तप तक को स्वीकार करने का कायोत्सर्ग मे चिन्तन करे और जो भी सकल्प हुआ हो, तदनुसार गुरुदेव से उस तप को ग्रहण करे।[1]

उपसंहार

५३. एसा सामायारी समासेण वियाहिया।
ज चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसारसागर ॥
—त्ति बेमि।

[५३] संक्षेप में, यह (साधु-) सामाचारी कही है, जिसका आचरण करके बहुत-से जीव ससारसमुद्र को पार कर गए है। —ऐसा मै कहता हूँ।

॥ सामाचारी : छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २१७-२१८

सत्ताईसवाँ अध्ययन : खलुंकीय

अध्ययन-सार

प्रस्तुत सत्ताईसवें अध्ययन का नाम है—खलुकीय (खलुकिज्ज)।

खलुक का अर्थ है—दुष्ट बैल। उसकी उद्दण्ड एव अविनीत शिष्य से उपमा दी गई और ऐसे शिष्य की दुर्विनीतता का चित्रण किया गया है।

अनुशासन और विनय ये दो रत्नत्रय की ग्रहणशिक्षा और आसेवनाशिक्षा के महत्त्वपूर्ण अग है। इनके बिना साधक ज्ञानादि मे खोखला रह जाता है, उसके चारित्र की नीव सुदृढ नही होती। आगे चल कर अनुशासनविहीन एव दुर्विनीत शिष्य या तो उच्छृखल एवं स्वच्छन्द हो जाता है, अथवा वह सयम से ही भ्रष्ट हो जाता है।

अनुशासनहीन दुर्विनीत शिष्य भी खलुक (दुष्ट बैल) की तरह सघ रूपी शकट और उसके स्वामी सघाचार्य की हानि करता है। थोडी-सी प्रतिकूलता या प्ररणा का ताप आते ही सन्त्रस्त हो जाता है। जुए और चाबुक की तरह वह महाव्रत-भार और अकुश को भग कर डालता है और विपथगामी हो जाता है।

अविनीत शिष्य खलुक-सा दुष्ट, दशमशक के समान कष्टदायक, जौक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कटको से बीधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरुकथन न मानने वाला होता है।

वह गुरु का प्रत्यनीक, चारित्र मे दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलह-कारी होता है।

वह चुगलखोर, दूसरों को सताने वाला, मर्म प्रकट करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमणधर्म के पालन मे खिन्न और मायावी होता है।

गार्ग्याचार्य स्थविर, गणधर और शास्त्रविशारद तथा गुणो से सम्पन्न थे। वे समाधिस्थ रहना चाहते थे। किन्तु उनके सभी शिष्य उद्दण्ड, उच्छृखल, अविनीत एव आलसी हो गए। लम्बे समय तक तो उन्होंने सहन किया। किन्तु अन्त मे उनको सुधारने का कोई उपाय न देख कर एक दिन वे आत्मभाव से प्रेरित हो कर शिष्यवर्ग को छोड अकेले ही चल दिए। आत्मार्थी मुनि के लिए यही कर्त्तव्य है कि समाधि और साधना समूह से भंग होती हो या कोई निपुण या गुण में अधिक या सम सहायक न मिले तो अपने सयम की रक्षा करता हुआ एकाकी रह कर साधना करे। अपने जीवन में पापवासना, विषमता, आसक्ति आदि न आने दे। □□

सत्तावीसइमं अज्झयणं : सत्ताईसवाँ अध्ययन

खलुंकिज्जं : खलुंकीय

गार्ग्य मुनि का परिचय

१. थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसि विसारए।
आइण्णे गणिभावम्मि समाहिं पडिसंधए॥

[१] गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य मुनि स्थविर, गणधर और (सर्वशास्त्र) विशारद थे, (आचार्य के) गुणो से व्याप्त (युक्त) थे, गणिभाव मे स्थित थे, (तथा) समाधि में (स्वय को) जोडने (प्रतिसन्धान करने) वाले थे।

विवेचन—स्थविर आदि शब्दों के विशेषार्थ—स्थविर—धर्म मे स्थिर करने वाला, वृद्ध। **गणधर**—गण अर्थात् गच्छ को धारण करने वाला गणी। **मुनि**—जो सर्वसावद्यविरमण का मनन (सकल्प या प्रतिज्ञा) करता है। **विशारद**—सर्वशास्त्र-निपुण। **आइण्णे**—आकीर्ण-व्याप्त या युक्त। **गणिभावम्मि**—गणिभाव मे—आचार्यपद मे **आसि**—स्थित थे।[1]

समाहिं पडिसंधए—(१) वह (गार्ग्याचार्य) समाधि का प्रतिसधान करते थे। अर्थात् कुशिष्यो के द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप भाव-समाधि या चित्त-समाधि को तोडने या भग करने पर भी वे पुनः जोड लेते थे अर्थात् अपने चित्त को समाधि मे लगा लेते थे। (२) अथवा बृहद्वृत्तिकार के अनुसार कर्मोदय से नष्ट हुई अविनीत शिष्यो की समाधि का पुनः प्रतिसंधान कर लेते (जोड लेते) थे।[2]

विनीत वृषभवत् विनीत शिष्यों से गुरु को समाधि

२. वहणे वहमाणस्स कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई॥

[२] (गाडी आदि) वाहन मे जोडे हुए विनीत वृषभ आदि को हाकते हुए पुरुष का अरण्य (जैसे) सुखपूर्वक पार हो जाता है, उसी तरह योग (—संयमव्यापार) मे (जोडे हुए सुशिष्यो को) प्रवृत्त करते हुए (आचार्यादि का) ससार भी सुखपूर्वक पार हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा की दो व्याख्याएँ—(१) एक व्याख्या ऊपर दी गई है, (२) दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—शकटादि वाहन को ठीक तरह से वहन करने वाला बैल जैसे कान्तार-जगल

---

१. (क) उत्तरा वृत्ति, अभि रा कोष भा. ३, पृ ७२५ (ख) उत्तरा. (गुज. भाषान्तर) भा २, पत्र २१९

२ (क) उत्तरा वृत्ति, अभिधान रा. को भा. ३, पृ. ७२५. कुशिष्यै त्रोटित ज्ञानदर्शनचारित्राणां समाधि प्रतिसन्धत्ते।

(ख) कर्मोदयात् त्रुटितमपि (समाधि) सघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५५०

को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग (संयम) मे सलग्न मुनि ससार को पार कर जाता है। आशय यह है शिष्यो के विनीतभाव को देख कर गुरु स्वयं समाधिमान् हो जाता है। शिष्य भी विनीतभाव से स्वय ससार को पार कर जाते है। इस प्रकार विनीत शिष्य एव सदाचार्य का योग-सम्बन्ध ससार का उच्छेदकर होता है।[1]

अविनीत शिष्यों को दुष्ट वृषभों के विविधरूपों से उपमित

३. खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई॥

[३] जो खलुक (दुष्ट-अविनीत) बैलो को वाहन मे जोतता है, वह (व्यक्ति) उन्हे मारता हुआ क्लेश पाता (थक जाता) है, असमाधि का अनुभव करता है और (अन्त मे) उस (हाकने वाले व्यक्ति) का चाबुक भी टूट जाता है।

४. एगं डसइ पुच्छंमि एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ॥

[४] (वह क्षुब्ध वाहक) किसी (एक) की पूछ काट देता है, तो किसी (एक) को बार-बार बीधता है और उन बैलो मे से कोई एक जुए की कील (समिला) को तोड देता है, तो दूसरा उन्मार्ग पर चल पडता है।

५. एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे बालगवी वए॥

[५] कोई (दुष्ट बैल) मार्ग के एक ओर (दाये या बाएँ पार्श्व मे) गिर पडता है, कोई बैठ जाता है, कोई लम्बा लेट जाता है, कोई कूदता है, कोई उछलता (या छलाग मारता) है, कोई शठ (धूर्त बैल) तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

६. माई मुद्धेण पडई कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई वेगेण य पहावई॥

[६] कोई कपटी (मायी) बैल सिर को निढाल बना कर (भूमि पर) गिर पड़ता है, कोई क्रोधित हो कर प्रतिपथ (—उत्पथ या उलटे मार्ग) पर चल पडता है, कोई मृतकवत् हो कर पड़ा रहता है, तो कोई वेग से दौडने लगता है।

---

१ (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २१९
(ख) उत्तरा (अनुवाद टिप्पण) साध्वी चन्दना पृ २८२
(ग) "...... ... ...योगे सयमव्यापारे (विनीत) शिष्यान् वाहयत आचार्यस्य ससार· अतिवर्तते, शिष्याणा विनीतत्त्वं दृष्ट्वा स्वय समाधिमान् जायते। शिष्यास्तु विनीतत्वेन स्वय ससारमुल्लघ्यन्ते एव, एवमुभयोर्विनीतशिष्यसदाचार्ययोर्योग·—सम्बन्ध ससारच्छेदकर इति भाव।"
—उत्तरा. वृत्ति अ. भा रा. को. ३, पृ ७२५

शान्त वातावरण एवं समय नहीं मिलता, अतः इन्हे छोड देना श्रेयस्कर है, यह सोच कर वे एकाकी होकर आत्मसाधना मे सलग्न हो गए ।[1]

मिउ-मद्दवसंपन्ने—मृदु—बाह्यवृत्ति से कोमल—विनम्र तथा मन से भी मृदुता से युक्त ।[2]

।। खलुंकीय : सत्ताईसवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१ उत्तरा. वृत्ति अभिधान रा कोष भा ३, पृ. ७२७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र २२२

अट्ठाईसवाँ अध्ययन : मोक्षमार्गगति

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्गगति' (मोक्खमग्गगई) है।

* मोक्ष साधुजीवन का अन्तिम लक्ष्य है और मार्ग उसको पाने का उपाय। गति साधक का अपना यथार्थ पुरुषार्थ है। साध्य हो, किन्तु साधन न मिले तो साध्य प्राप्त नही किया जा सकता। इसी प्रकार साध्य भी हो, साध्यप्राप्ति का उपाय भी हो, किन्तु उसकी ओर चरण न बढे तो वह प्राप्त नही हो सकता।

* प्रस्तुत अध्ययन मे मोक्षप्राप्ति के चार उपाय (साधन) बताए हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताया गया है और यहाँ तप को अधिक बताया है, किन्तु यह विवक्षाभेद के कारण ही है। चारित्र मे ही तप का समावेश हो जाता है। इस चतुरग मोक्षमार्ग मे गति करने वाले साधक ही उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करते है।

* प्रस्तुन अध्ययन की १ से १४ वी गाथा तक ज्ञान और ज्ञेय (प्रमेय) का निरूपण है। १५ से ३१ वी गाथा तक दर्शन का विविध पहलुओ से वर्णन है। ३२ से ३४ वी गाथा तक चारित्र का प्रतिपादन है और ३५ वी गाथा मे तप का निरूपण है।

* मोक्षप्राप्ति का प्रथम साधन सम्यग्ज्ञान है। बिना ज्ञान के कोरी क्रिया अधी है और क्रिया के बिना ज्ञान पगु है। अत सर्वप्रथम ज्ञान के निरूपण के सन्दर्भ मे ५ ज्ञान और उसके ज्ञेय द्रव्य-गुण-पर्याय तथा षट्द्रव्य का प्रतिपादन है।

* दूसरा साधन दर्शन है, जिसका विषय है—नौ तत्त्वो की उपलब्धि—वास्तविक श्रद्धा। वे तत्त्व यहाँ स्वरूपसहित बताए है। फिर दर्शन को निसर्गरुचि आदि १० प्रकारो से समझाया गया है।

* मोक्षप्राप्ति का तृतीय मार्ग है—चारित्र। उसके सामायिक आदि ५ भेद है, जिनका प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

* अन्त मे मोक्ष के चतुर्थ साधन तप के दो रूप—बाह्य और आभ्यन्तर बता कर प्रत्येक के ६-६ भेदो का सागोपांग निरूपण किया है।

* कुछ अनिवार्यताएँ बताई हैं—दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नही होता, सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र असम्यक् है और चारित्र नही होगा, तब तक मोक्ष नही होता। मोक्ष के बिना आत्मसमाधि, समग्र आत्मगुणो का परिपूर्ण विकास या निर्वाण प्राप्त नही होता। ☐☐

(अथवा अपलाप करते हैं), यो वे इधर-उधर चारो ओर भटकते रहते है। किन्तु गुरु की आज्ञा का राजा के द्वारा ली जाने वाली वेठ (बेगार) की तरह मान कर मुख पर भृकुटि चढा लेते हैं।

१४. वाइया संगहिया चेव भत्तपाणे य पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा पक्कमन्ति दिसोदिसिं॥

[१४] जैसे पख आने पर हस विभिन्न दिशाओ मे उड जाते हैं, वैसे ही शिक्षित एव दीक्षित किये हुए, पास मे रखे हुए तथा भक्त-पान से पोषित किये हुए कुशिष्य भी (गुरु को छोडकर) अन्यत्र (विभिन्न दिशाओ मे) चले जाते है।

१५. अह सारही विचिन्तेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई॥

[१५] ऐसे अविनीत शिष्यो से युक्त धर्मयान के सारथी आचार्य खिन्न होकर सोचते है—मुझे इन दुष्ट शिष्यो से क्या लाभ ? (इनसे तो) मेरी आत्मा अवसन्न ही होती (दु.ख ही पाती) है।

विवेचन—इड्ढिगारविए : ऋद्धिगौरविक : आशय—मेरे श्रावक धनाढ्य है, अमुक धनिक श्रावक मेरा भक्त है, मेरे पास उत्तम वस्त्र-पात्रादि हैं, इस प्रकार कोई अपनी ऋद्धि-अहकार से युक्त है।

रसगारविए—किसी शिष्य को यह गर्व है कि मैं सरस स्वादिष्ट आहार पाता हूँ या सेवन करता हूँ। इस कारण वह न तो रुग्ण या वृद्ध साधुओ के लिए आहार लाता है और न तपस्या करता है।

सायागारविए—किसी को सुखसुविधाओ से सम्पन्न होने का अहकार है, इस कारण वह एक ही स्थान पर जमा हुआ है, अन्यत्र विहार नही करता, न परीषह सहन कर सकता है।

थद्धे—कोई स्तब्ध यानी अभिमानी है, हठाग्रही है, उसे कदाग्रह छोडने के लिए मनाया या नम्र किया नही जा सकता।

ओमाणभीरुए—अपमानभीरु होने के कारण अपमान के डर मे किसी के यहाँ भिक्षा के लिए नही जाता।

साहू अन्नोऽत्थवच्चउ—दूसरा कोई चला जाए (अर्थात् कोई कहता है—क्या मैं अकेला ही आपका शिष्य हूँ, जिससे हर काम मुझे ही बताते हैं ? दूसरे बहुत-से शिष्य है, उन्हे भेजिए न!)[1]

पलिउंचन्ति : दो अर्थ—(१) किसी कार्य के लिए भेजने पर बिना कार्य किये ही वापस लौट आते हैं, अथवा (२) किसी कार्य के भेजने पर वे अपलाप करते हैं, अर्थात्—व्यर्थ के प्रश्नोत्तर करते हैं, जैसे—गुरु के ऐसा पूछने पर कि वह कार्य क्यो नही किया ?, वे झूठा उत्तर दे देते हैं कि "उस कार्य के लिए आपने कब कहा था ?" अथवा "हम तो गए थे, लेकिन उक्त व्यक्ति वहाँ मिला ही नही।"[2]

---

१. उत्तराध्ययनवृत्ति, अभि रा कोष भा. ३, पृ ७२६

२ (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ २८४ (ख) उत्तरा. वृत्ति, अभि रा. को भा. ३, पृ ७२६

परियंति समंतओ—वे कुशिष्य वैसे तो चारो ओर भटकते या घूमते रहते हैं, किन्तु हमारे पास यह सोचकर नही रहते कि इनके पास रहेंगे तो इनका काम करना पड़ेगा, यो सोचकर वे हम से दूर-दूर रहते हैं।[1]

वाइया संगहिया चेव—इन्हें सूत्रवाचना दी, शास्त्र पढ़ाकर विद्वान् बनाया, इन्हे अपने पास रक्खा तथा स्वयं ने इन्हे दीक्षा दी।[2]

किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं—ऐसे दुष्ट—अविनीत शिष्यो से मुझे क्या लाभ ? अर्थात्—मेरा कौन सा इहलौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है ? उलटे, इन्हे प्रेरणा देने से मेरे काय (आत्म-कर्त्तव्य) मे हानि होती है और कोई फल नही। फलितार्थ यह निकलता है कि इन कुशिष्यो का त्याग करके मुझे स्वयं उद्यतविहारी होना चाहिए। यही गार्ग्याचार्य के चिन्तन का निष्कर्ष है।[3]

कुशिष्यों का त्याग करके तपःसाधना में संलग्न गार्ग्याचार्य

१६. जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं दढं परिगिण्हइ तवं॥

[१६] जैसे गलिगर्दभ (आलसी और निकम्मे गधे) होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं। (ऐसा सोचकर गार्ग्याचार्य ने) गलिगर्दभरूप शिष्यो को छोड़ कर दृढ तपश्चरण (उग्र बाह्याभ्यन्तर तपोमार्ग) स्वीकार किया।

१७. मिउ—मद्दवसंपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए।
विहरइ महिं महप्पा सीलभूएण अप्पणा॥
—त्ति बेमि।

[१७] (उसके पश्चात्) मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर, सुसमाहित एव शीलभूत (चारित्रमय) आत्मा से युक्त होकर वे महात्मा गार्ग्याचार्य (अविनीत शिष्यो को छोडकर) पृथ्वी पर (एकाकी) विचरण करने लगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गलिगर्दभ से उपमित कुशिष्य—गार्ग्याचार्य के द्वारा 'गलिगर्दभ' शब्द का प्रयोग उक्त शिष्यो की दुष्टता एव नीचता बताने के लिए किया गया है। प्रायः गधो का यह स्वभाव होता है कि मदबुद्धि होने के कारण बार-बार अत्यन्त प्रेरणा करने पर ही वे चलते हैं या नही चलते, इसी प्रकार गार्ग्याचार्य के शिष्य भी बार-बार प्रेरणा देने पर भी सन्मार्ग पर नही चलते थे, ढीठ होकर उलटा-सीधा प्रतिवाद करते थे, वे साधना मे आलसी और निरुत्साह हो गए थे, इसलिए उन्होने सोचा कि 'मेरा सारा समय तो इन्ही कुशिष्यो को प्रेरणा देने मे चला जाता है, अन्य साधना के लिए

१ उत्तरा बृत्ति, अभि रा. को भा ३, पृ. ७२६
२. वही, भा. ३, पृ ७२६
३ वही, भा ३, पृ ७२६

७. छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं दुद्दन्तो भंजए जुगं ।
से वि य सुस्सुयाइत्ता उज्जहित्ता पलायए ॥

[७] कोई छिनाल (दुष्ट जाति का) बैल रास को तोड डालता है, कोई दुर्दान्त हो कर जुए को तोड़ देता है और वही उद्धत बैल सू-सू आवाज करके (वाहन और स्वामी को) छोड़ कर भाग जाता है।

८. खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥

[८] अयोग्य बैल वाहन मे जोतने पर जैसे वाहन को तोड़ने वाले होते हैं, वैसे ही धैर्य मे दुर्बल शिष्यो को धर्मयान मे जोतने पर वे भी उसे तोड देते हैं।

विवेचन—खलुंक : अनेक अर्थों में—(१) खलु क का सस्कृतरूप अनुमानत 'खलोक्ष' हो तो उसका अर्थ दुष्ट बैल, (२) निर्युक्तिकार के अनुसार जुए को तोड़कर उत्पथ पर भागने वाला बैल, अथवा (३) वक्र या कुटिल, जिसे कि झुकाया-सुधारा नही जा सकता, (४) खलु क शब्द मनुष्य या पशु का विशेषण हो, तब उसका अर्थ है—दुष्ट या अविनीत मनुष्य अथवा पशु ।[1]

एगं डसइ पुच्छंमि : दो व्याख्याएं—(१) इसका सम्बन्ध क्रुद्ध शकटवाहक (सारथि) से हो तो वही अर्थ है जो ऊपर दिया गया है, किन्तु (२) प्रकरणसगत अर्थ दुष्ट बैल से सम्बन्धित प्रतीत होता है ।[2]

सढे बालगवी वए : दो व्याख्याएँ—कोई शठ हो जाता है, अर्थात् धूर्तता अपना लेता है और कोई दुष्ट बैल जवान गाय के पीछे दौडता है, (२) कोई शठ (धूर्त) व्यालगव—दुष्ट बैल भाग जाता है ।[3]

'उज्जूहित्ता' या 'उज्जाहित्ता' पलायए—(१) वाहन और स्वामी को उन्मार्ग मे छोड कर

---

१ (क) 'खलु कान्-गलिवृषभान् ।'—सुखबोधा, पत्र ३१६

(ख) अवदाली उत्तसम्रो, जुत्तजुग भज, तोत्तभंजो य ।
उप्पह-विप्पहगामी एए खलु का भवे गोणा ॥ २४ ॥
' '' त दव्वेसु खलु क वक्ककुडिल चेट्ठमाइद्ध ॥ २५ ॥
जे किर गुरुपडिणीया, सबला असमाहिकारगा पावा ।
कलहकरणस्सभावा जिणवयणे ते किर खलु का ॥ २८ ॥
पिसुणा परोवयावी भिन्नरहस्सा पर परिभवति ।
निव्वेयणिज्जा सढा, जिणवयणे से किर खलु का ॥ २९ ॥ —उत्तरा. निर्युक्ति

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१ (ख) The Sacred Books of The East Vol. XLV Uttara P. 150
—डॉ हर्मन जैकोबी

३ (क) बालगवी वएत्ति-बालगवी-अवृद्धा गाम्, (ख) यदि वा मार्षत्वात्'''व्यालगवो-दुष्टबलीवर्दः ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१

भाग जाता है। (२) अपने स्वामी और शकट को उन्मार्ग में लाकर किसी विषमप्रदेश में गाड़ी को तोड़ कर स्वयं भाग जाता है।[1]

धम्मजाणंमि—मुक्तिनगर में पहुँचने वाले धर्मयान (सयम-रथ) में जोते हुए (प्रेरित) वे धृतिदुर्बल (सयम मे दुःस्थिर) कुशिष्य उसे ही तोड़ देते हैं, अर्थात्—संयमक्रियानुष्ठान से स्खलित हो जाते हैं।[2]

आचार्य गार्ग्य का चिन्तन

९. इड्ढीगारविए एगे एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे एगे सुचिरकोहणे॥

[९] (गार्ग्याचार्य—) (मेरा) कोई (शिष्य) ऋद्धि (ऐश्वर्य) का गौरव (अहकार) करता है, इनमे से कोई रस का गौरव करता है, कोई साता (-सुख) का गौरव करता है, तो कोई शिष्य चिरकाल तक क्रोधयुक्त रहता है।

१०. भिक्खालसिए एगे एगे ओमाणभीरुए थद्धे।
एगं च अणुसासम्मी हेऊहिं कारणेहि य॥

[१०] कोई भिक्षाचरी करने मे आलसी है, तो कोई अपमान से डरता है तथा कोई शिष्य स्तब्ध (अहकारी) है, किसी को मैं हेतुओ और कारणो से अनुशासित करता (शिक्षा देता) हूँ, (फिर भी वह समझता नही।)

११. सो वि अन्तरभासिल्लो दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं पडिकूलेइ अभिक्खणं॥

[११] इतने पर भी वह बीच मे बोलने लगता है, (गुरु के वचन में) दोष निकालने लगता है, आचार्यों के उस (शिक्षाप्रद) वचन के प्रतिकूल बार-बार आचरण करता है।

१२. न सा ममं वियाणाइ न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ॥

[१२] (किसी के यहाँ से भिक्षा लाने के लिए कहता हूँ, तो कोई शिष्य उत्तर देता है—) वह (श्राविका) मुझे नही जानती (पहचानती), अत वह मुझे देगी भी नही। (अथवा कहता है—) मैं समझता हूँ, वह घर से बाहर चली गई होगी। अथवा—इसके लिए कोई दूसरा साधु जाए।

१३. पेसिया पलिउंचन्ति ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं व मन्नन्ता करेन्ति भिउडिं मुहे॥

[१३] (किसी प्रयोजनविशेष से) भेजने पर, (बिना कार्य किये) वापस लौट आते हैं,

१. (क) उत्प्राबल्येन (जूहित्ता इति) स्वस्वामिन शकट उन्मार्गे लात्वा कुत्रचिद् विषमप्रदेशे भङ्क्त्वा स्वय पलायते।

(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२०

२. उत्तरा. वृत्ति, अभिधान रा कोष भा. ३, पृ ७२६

अट्ठावीसइमं अज्झयणं : अट्ठाईसवाँ अध्ययन

मोक्खमग्गगई : मोक्षमार्गगति

मोक्षमार्गगति : माहात्म्य और स्वरूप

१. मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं नाण-दंसणलक्खणं ।।

[१] (ज्ञानादि) चार कारणो से युक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप, जिनभाषित, सत्य (-सम्यक्) मोक्षमार्ग की गति को सुनो ।

२. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहि ।।

[२] वरदर्शी (-सत्य के सम्यक् द्रष्टा) जिनवरो ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप, इस (चतुष्टय) को मोक्ष का मार्ग प्ररूपित किया है ।

३. नाणं च दसणं चेव चरित्त च तवो तहा ।
एय मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइ ।।

[३] ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप, इस (मोक्ष-) मार्ग पर आरूढ जीव सद्गति को प्राप्त करते हैं ।

विवेचन -मोक्ष-मार्ग-गति : विश्लेषण— मोक्ष का लक्षण है—अष्टविध कर्मों का सर्वथा उच्छेद । उसका मार्ग, तीर्थंकरप्रतिपादित ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप है । उक्त मोक्षमार्ग मे वास्तविक गति करना 'मोक्षमार्गगति' है ।[1]

नाणदंसणलक्खणं : तात्पर्य—जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार से युक्त मोक्षमार्ग है, तब उसे ज्ञान-दर्शन-लक्षण वाला ही क्यो कहा गया ? इसका समाधान बृहद्वृत्तिकार ने किया है कि जिसमे सम्यक् ज्ञान-दर्शन का अस्तित्व होगा, उसकी मुक्ति अवश्यम्भावी है । शास्त्रकार ने इन दोनों को मुक्ति के मूल कारण बताने के लिए यहाँ अंकित किया है । अथवा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष के मार्ग मे शुद्ध गति अर्थात् प्राप्ति—मोक्षमार्गगति है । वह ज्ञान-दर्शनरूप है, अर्थात्—विशेष-सामान्योपयोगरूप है ।[2]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभि रा कोष भा ६, पृ ४४८
(ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २

२ बृहद्वृत्ति पत्र ५५६

मोक्षमार्ग- प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो को मोक्षमार्ग बताया गया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीन को ही मोक्षमार्ग बताया है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तप चारित्र का ही एक अग है, तथापि कर्मक्षय करने का विशिष्ट साधन होने के कारण तप को यहाँ पृथक् स्थान दिया गया है। अतः यह केवल अपेक्षाभेद है। विभिन्न दर्शनों और धर्मों ने अन्यान्य प्रकार से मोक्षमार्ग बताया है, उनके निषेध के लिए यहाँ तथ्य और जिनभाषित दो विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं।[1]

मोक्ष का फलितार्थ—बन्ध और बन्ध के कारणो के अभाव से तथा पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय से होने वाला परिपूर्ण आत्मिक विकास मोक्ष है, अर्थात्—ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

सम्यग्ज्ञानादि का स्वरूप—नय और प्रमाण से होने वाला जीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व (सत्य) की प्रतीति हो, जिसमे हेय, ज्ञेय और उपादेय के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव यानी राग-द्वेष और योग की निवृत्ति से होने वाला स्वरूपरमण सम्यक्चारित्र है।[2]

ज्ञान और उसके प्रकार

४. तत्थ पचविहं नाणं सुय आभिनिबोहिय।
ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवल॥

[४] उक्त चारो मे से ज्ञान पाच प्रकार का है—श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिक (मतिज्ञान), तीसरा अवधिज्ञान एव मनोज्ञान (मन पर्यायज्ञान) और केवलज्ञान।

५. एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं॥

[५] ज्ञानी पुरुषो ने बताया है कि यह पाच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्यो, गुणो और पर्यायो का अवबोधक—जानने वाला है।

विवेचन—पांच ज्ञानों के क्रम मे अन्तर—नन्दीसूत्र आदि मे मतिज्ञान को प्रथम और श्रुतज्ञान को दूसरा कहा गया है, किन्तु यहाँ श्रुतज्ञान को प्रथम और मतिज्ञान को बाद मे कहा है। उसका कारण वृत्तिकार ने यह बताया है कि शेष सभी ज्ञानो के स्वरूप का ज्ञान प्राय. श्रुतज्ञान से ही हो सकता है, इसलिए श्रुतज्ञान की मुख्यता बताने के लिए इसे प्रथम कहा है। मति और श्रुत दोनो ज्ञान अन्योन्याश्रित है। अथवा मति और श्रुत लब्धि की अपेक्षा साथ ही उत्पन्न होते है, इसलिए इन मे पहले पीछे का प्रश्न ही नही उठता।[3]

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द—अनुयोगद्वार मे 'आभिनिबोधिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु नन्दीसूत्र मे ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, सज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा को इसका

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५६ इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव कर्मक्षपण प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुम्। तथा च वक्ष्यति—तवसा "विसुज्झइ।"
(ख) तत्त्वार्थसूत्र १।१

२ तत्त्वार्थसूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। —तत्त्वार्थ. १०।२, १।१ प सुखलालजीकृत विवेचन —पृ. १-२

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७

पर्यायवाची माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे भी मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एकार्थक बताया गया है। वस्तुत ईहा आदि मतिज्ञान मे ही गर्भित हैं।[1]

ज्ञान का अर्थ यहाँ सम्यग्ज्ञान—प्रस्तुत मे ज्ञान शब्द से सम्यग्ज्ञान ही गृहीत होता है, मिथ्याज्ञान नही, क्योकि सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। मिथ्याज्ञान मोक्ष का हेतु नही है।[2]

विशिष्ट शब्दों के विशेषार्थ—**नाणीहिं**—ज्ञानियों ने—तीर्थकरो ने, **दव्वाण**—जीवादि द्रव्यो का, **गुणाण**—रूप आदि गुणो का, **पज्जवाणं**—नूतनत्व, पुरातनत्व आदि अनुक्रम से होने वाले पर्यायो (परिवर्तनो) का, **नाणं**—ज्ञायक है—जानने वाला है।[3]

पंचविध ज्ञान : द्रव्य-गुण-पर्यायज्ञाता कैसे ?—यहाँ केवलज्ञान की अपेक्षा से पचविध ज्ञान को सर्वद्रव्य-गुण-पर्यायज्ञाता कहा है, केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो नियमित पर्यायो को ही जान सकते है।[4]

द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण

६. गुणाणमासओ दव्व एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे॥

[६] (जो) गुणो का आश्रय (आधार) है, (वह) द्रव्य है। (जो) केवल द्रव्य के आश्रित रहते है, वे गुण कहलाते है और जो दोनो अर्थात् द्रव्य और गुणो के आश्रित हो उन्हे पर्याय (पर्यव) कहते है।

७. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

[७] वरदर्शी जिनवरो ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह (षड्द्रव्यात्मक) लोक कहा है।

८. धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो॥

[८] धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनो द्रव्य (सख्या मे) एक-एक कहे गए है। काल, पुद्गल और जीव, ये तीनो द्रव्य अनन्त-अनन्त है।

९. गइलक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाण नहं ओगाहलक्खणं॥

[९] गति (गतिहेतुता) धर्म (धर्मास्तिकाय) का लक्षण है। स्थिति (होने मे हेतु होना)

१ (क) ईहापोहवीमसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना सव्व आभिणिबोहियं॥ —नन्दीसूत्र गा. ७७
(ख) मति स्मृतिः सज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।१३
२ तत्त्वार्थसूत्र १।१ भाष्य
३ उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२४
४. वही, भा. २, पत्र २२४

अधर्म (अधर्मास्तिकाय) का लक्षण है। सभी द्रव्यो का भाजन (आधार) आकाश है। वह अवगाह लक्षण वाला है।

१०. वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

[१०] वर्त्तना (परिवर्तन) काल का लक्षण है। उपयोग (चेतना-व्यापार) जीव का लक्षण है, जो ज्ञान (विशेषबोध), दर्शन (सामान्यबोध) और सुख तथा दु ख से पहचाना जाता है।

११. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

[११] ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं।

१२. सद्दऽन्धयार-उज्जोओ पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

[१२] शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पुद्‌गल के लक्षण हैं।

१३. एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य पज्जवाण तु लक्खणं॥

[१३] एकत्व, पृथक्त्व (भिन्नत्व), सख्या, संस्थान (आकार), सयोग और विभाग—ये पर्यायो के लक्षण है।

विवेचन—द्रव्य का लक्षण—विभिन्न दर्शनो ने द्रव्य का लक्षण अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न मान्य किया है। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जो गुणो (रूप आदि) का आश्रय (अनन्त गुणो का पिण्ड) है। उत्तरवर्ती जैनदार्शनिको ने गुण और पर्याय मे भेदविवक्षा करके द्रव्य का लक्षण किया—"जो गुणपर्यायवान् है, वह द्रव्य है।" इसके अतिरिक्त जैनदर्शन के ग्रन्थो मे द्रव्यशब्द का प्रयोग विभिन्न शब्दो मे हुआ है यथा—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो, वह सत् है, जो सत् है, वह 'द्रव्य' है। विशेषावश्यकभाष्य मे कहा गया गया है--जिसमे पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर-पर्याय का उत्पाद हो, वह द्रव्य है।[1]

गुण का लक्षण—गुण का लक्षण भी विभिन्न दार्शनिको ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। जैनदर्शन का आगमकालीन लक्षण प्रस्तुत गाथा (६) मे दिया है—"जो किसी द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते है।"[1] उत्तरवर्ती जैनदार्शनिको ने लक्षण किया—'जो द्रव्य के आश्रय मे रहते

१ (क) गुणाणमासओ दव्वं। —उत्तरा. अ २८, गा ६
(ख) 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' —तत्त्वार्थ ५।३७
(ग) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, सद्‌द्रव्यलक्षणम्। —तत्त्वार्थ. ५।२९
(घ) विशेषावश्यकभाष्य, गा. २८

हो तथा स्वय निर्गुण हो, वे गुण हैं।' अर्थात्—द्रव्य के आश्रय मे रहने वाला वही गुण 'गुण'[1] है, जिसमे दूसरे गुणो का सद्भाव न हो, अथवा जो निर्गुण हो। वास्तव मे गुण द्रव्य मे ही रहते हैं।

पर्याय का लक्षण—जो द्रव्य और गुण, दोनो के आश्रित रहता है, वह पर्याय है। नयप्रदीप एवं न्यायालोक मे पर्याय का लक्षण कहा गया है—जो उत्पन्न, विनष्ट होता है तथा समग्र द्रव्य को व्याप्त करता है, वह पर्याय है। बृहद्वृत्तिकार कहते हैं—जो समस्त द्रव्यो और समस्त गुणो मे व्याप्त होते हैं, वे पर्यव या पर्याय कहलाते है।[2]

समीक्षा—प्राचीन युग मे द्रव्य और पर्याय, ये दो शब्द ही प्रचलित थे। 'गुण' शब्द दार्शनिक युग मे 'पर्याय' से कुछ भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुआ जान पडता है। कई आगम ग्रन्थो मे 'गुण' को पर्याय का ही एक भेद माना गया है, इसीलिए कतिपय उत्तरवर्ती दार्शनिक विद्वानो ने गुण और पर्याय की अभिन्नता का समर्थन किया है। जो भी हो, उत्तराध्ययन मे गुण का लक्षण पर्याय से पृथक् किया है। द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—गुण और पर्याय। इसी दृष्टि से दोनो का अर्थ किया गया—**सहभावी गुणः, क्रमभावी पर्यायः**। अर्थात्—द्रव्य का जो सहभावी अर्थात् नित्य रूप से रहने वाला धर्म है, वह गुण है, और जो क्रमभावी धर्म है, वह पर्याय है।[3] निष्कर्ष यह है कि 'गुण' द्रव्य का व्यवच्छेदक धर्म बन कर उसकी अन्य द्रव्यो से पृथक् सत्ता सिद्ध करता है। गुण द्रव्य मे कथचित् तादात्म्यसम्बन्ध से रहते हैं, जब कि पर्याय द्रव्य और गुण, दोनो मे रहते हैं। यथा आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है, मनुष्यत्व आदि आत्मद्रव्य के पर्याय हैं और मतिज्ञानादि ज्ञानगुण के पर्याय है।

गुण दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशेष। प्रत्येक द्रव्य मे **सामान्य गुण** है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व और अगुरुलघुत्व आदि।

विशेष गुण हैं—(१) गतिहेतुत्व, (२) स्थितिहेतुत्व, (३) अवगाहहेतुत्व, (४) वर्त्तनाहेतुत्व, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गन्ध, (८) वर्ण, (९) ज्ञान, (१०) दर्शन, (११) सुख, (१२) वीर्य, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्त्तत्व और (१६) अमूर्त्तत्व आदि।

द्रव्य ६ हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इन छहो द्रव्यो मे द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व आदि **सामान्यधर्म** (गुण) समानरूप से पाए जाते हैं।

---

१ (क) **एगदव्वस्सिया गुणा**। —उत्तरा अ २८, गा ६
(ख) 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा। —तत्त्वार्थ ५।४०

२ (क) लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे। —उत्तरा २८।६
(ख) पर्येति उत्पत्ति—विपत्ति चाप्नोति पर्यवति वा व्याप्नोति समस्तमपि द्रव्यमिति पर्याय पर्यवो वा।
—न्यायालोक तत्त्वप्रभावृत्ति, पत्र २०३
(ग) पर्येति उत्पादमुत्पत्ति विपत्ति च प्राप्नोतीति पर्याय। —नयप्रदीप पत्र ९९
(घ) परि सर्वत —द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यावा:।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७

३ (क) प्रमाणनयतत्त्वालोक रत्नाकरावतारिका, ५।७-८
(ख) पचास्तिकाय ता वृत्ति १६।३५।१२ (ग) श्लोकवार्तिक ४।१।३३।६०

असाधारणधर्म—इन छह द्रव्यों में से प्रत्येक का एक-एक विशेष (व्यवच्छेदक) धर्म भी है जो उसी मे ही पाया जाता है। जैसे--धर्मास्तिकाय का गतिसहायकत्व, अधर्मास्तिकाय का स्थिति-सहायकत्व, आकाशास्तिकाय का अवकाश (अवगाह)-दायकत्व, आदि।[1]

पर्याय का विशिष्ट अर्थ और विविध प्रकार—पर्याय का विशिष्ट अर्थ परिवर्तन भी होता है जो जीव मे भी होता है और अजीव मे भी। इस प्रकार पर्याय के दो रूप हैं—जीवपर्याय और अजीवपर्याय। फिर परिवर्तन स्वाभाविक भी होते हैं, वैभाविक (नैमित्तिक) भी। इस आधार पर दो रूप बनते है—स्वाभाविक और वैभाविक। अगुरुलघुत्व आदि पर्याय स्वाभाविक हैं और मनुष्यत्व देवत्व, नारकत्व आदि वैभाविक पर्याय हैं। फिर परिवर्तन स्थूल भी होता है, सूक्ष्म भी। इस अपेक्षा से पर्याय के दो रूप और बनते हैं—व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय। व्यञ्जनपर्याय कहते हैं—स्थूल और कालान्तरस्थायी पर्याय को तथा अर्थपर्याय कहते हैं—सूक्ष्म और वर्तमानकालवर्ती पर्याय को।

इन और ऐसे ही अन्य परिवर्तनो के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन की १३ वी गाथा मे एकत्व पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, सयोग, विभाग आदि को पर्याय का लक्षण बताया गया है।[2]

लोक षड्द्रव्यात्मक क्यों और कैसे?—'लोक' क्या है? इसका समाधान जैनागमो मे चार प्रकार से किया गया है। भगवतीसूत्र में एक जगह 'धर्मास्तिकाय' को लोक कहा गया, दूसरी जगह लोक को पचास्तिकायमय कहा गया है तथा उत्तराध्ययन के ३६ वे अध्ययन मे तथा स्थानांगसूत्र मे जीव और अजीव को लोक कहा गया है। प्रस्तुत गा ७ मे लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है अत अपेक्षाभेद से यह सब कथन समझना चाहिए, इनमे परस्पर कोई विरोध नही है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक है। पुद्गल और जीव सख्या मे अनन्त-अनन्त है।[3]

---

१ (क) अत्थित्त वत्थुत्त दव्वत्त पमेयत्त अगुरुलहुत्त।
देसत्त चेदणितर मुत्तममुत्त वियाणेह॥
एक्केक्का अट्ठट्ठा सामण्णा हुति सव्वदव्वाण॥ —बृहद्नयचक्र गा॰ ११ से १२, १५

(ख) सव्वेसि सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा॥ ११॥
णाण दसण सुहसत्ति रूपरसगधफास-गमण-ठिदी॥
वट्टण-गाहणहेउ मुत्तममुत्त खलु चेदणिदर च॥ १३॥
छवि जीवपोग्गलाण इयराण वि सेस तितिभेदा॥ १५॥ —बृहद्नयचक्र, गा ११, १३, १५

(ग) "अवगाहनाहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्त्तनायतनत्व, रूपादिमत्ता, चेतनत्वमित्यादय विशेषगुणा।" —प्रवचनसार ता वृत्ति, ९५

२ (क) परि-समन्तात् आय—पर्याय। —राजवार्तिक १।३३।१।९५

(ख) स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय। —आलापपद्धति ६

(ग) तद्भाव परिणाम—उसका होना—प्रति समय बदलते रहना पर्याय है।

(घ) अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति। —पचास्तिकाय ता. वृ १६।३५।१

(ङ) 'सब्भाव खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठ॥' —बृहद्नयचक्र १७-१८

(च) धवला ९।४,१,४८

३. (क) भगवती २।१०, तथा १३।४

(ख) उत्तरा, अ ३६।२ तथा स्थानांग २।४।१३०

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का उपकार—भगवतीसूत्र मे गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जब इन दोनो के उपकार के विषय मे पूछा तो उन्होने कहा—गौतम ! जीवो के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मन, वचन और काय के योगो की प्रवृत्ति तथा इसी प्रकार के अन्य चलभाव धर्मास्तिकाय से ही होते हैं। इसी प्रकार जीवो की स्थिति, निषीदन, शयन, मन का एकत्वभाव तथा ऐसे ही अन्य स्थिरभाव अधर्मास्तिकाय से होते है। धर्म और अधर्म ये दोनो लोक मे ही हैं, अलोक मे नही।

आकाशास्तिकाय का उपकार—सभी द्रव्यों को अवकाश देना है।[1]

काल का लक्षण और उपकार—काल का लक्षण है—वर्त्तना। आशय यह है कि नये को पुराना और पुराने को नया बनाना काल का लक्षण है। काल के उपकार या लिग पाच हैं—वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व। श्वेताम्बरपरम्परा के अनुसार काल जीव-अजीव की पर्याय तथा व्यवहारदृष्टि से द्रव्य माना जाता है। काल को मानने का कारण उसकी उपयोगिता है, वह परिणाम का हेतु है, यही उसका उपकार है। व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रप्रमाण और औपचारिक द्रव्य है। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार काल लोकव्यापी एव अणुरूप है और कालाणुओ की सख्या लोकाकाश के तुल्य है।

काल के विभाग—काल के चार प्रकार है—(१) **प्रमाणकाल**—पदार्थ मापने का काल, (२-३) **यथायुर्निर्वृत्तिकाल** तथा **मरणकाल**—जीवन की स्थिति को यथायुर्निर्वृत्तिकाल एव उसके 'अन्त' को मरणकाल कहते है। (४) **अद्धाकाल**—सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित काल। अनुयोगद्वारसूत्र मे काल के अन्य विभागो का भी उल्लेख है।[2]

जीव का लक्षण और उपकार—एक शब्द मे जीव का लक्षण 'उपयोग' है। उपयोग का अर्थ है—चेतना का व्यापार। चेतना के दो भेद है—ज्ञान और दर्शन, अर्थात्—उपयोग के दो रूप है—साकार और अनाकार। उपयोग ही जीव को अजीव से भिन्न (पृथक्) करने वाला गुण है। जिसमे उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन है, वह जीव है, जिसमे यह नही है, वह 'अजीव' है। आगे ११ वी गाथा मे जीव का विस्तृत लक्षण दिया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण है। इन सबको हम दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं— वीर्य और उपयोग। उपयोग मे ज्ञान

---

१ (क) भगवतीसूत्र १३।४
(ख) उत्तरा. अ २८।९
(ग) गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार, आकाशस्यावगाह। —तत्त्वार्थ अ ५।१७-१८

२ (क) 'वत्तणालक्खणो कालो।' —उत्तरा २८।९
(ख) वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य —तत्त्वार्थ-५।२२
(ग) 'समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा अजीवाति वा पवुच्चति।' —स्थानाग २।४।९५
(घ) लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का।
रयणाण रासीइव, ते कालाणू असखदव्वाणि ॥ —द्रव्यसग्रह २२
(ङ) अनुयोगद्वारसूत्र १३४-१४०

और दर्शन का तथा वीर्य मे चारित्र और तप का समावेश हो जाता है। जीवो का उपकार है—परस्पर मे एक दूसरे का उपग्रह करना।[1]

पुद्गल का लक्षण और उपकार—प्रस्तुत १२ वी एव १३ वी गाथा मे पुद्गल के १० लक्षण बताए हैं। इनमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये चार पुद्गल के गुण हैं और शेष ६ पुद्गलो के परिणाम या कार्य हैं। जैसे—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया एव आतप, ये ६ पुद्गल के परिणाम या कार्य हैं। लक्षण मे दोनो ही आते हैं। गुण सदा साथ ही रहते हैं, परिणाम या कार्य निमित्त मिलने पर प्रकट होते है।[2]

शब्द : व्याख्या—शब्द को जैनदर्शन ने पौद्गलिक, मूर्त्त और अनित्य माना है। स्थानागसूत्र मे—पुद्गलो के सघात और विघात तथा जीव के प्रयत्न से होने वाले पुद्गलो के ध्वनिपरिणाम को शब्द कहा गया है। पुद्गलो के सघात-विघात से होने वाली शब्दोत्पत्ति को वैस्रासिक और जीव के प्रयत्न से होने वाली को प्रायोगिक कहा जाता है। पहले काययोग द्वारा शब्द के योग्य अर्थात् भाषावर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण होता है और फिर वे पुद्गल शब्दरूप मे परिणत होते हैं। तत्पश्चात् जब वे वक्ता के मुँह से वचनयोग—वाक्प्रयत्न द्वारा बोले जाते हैं, तभी उन्हे 'शब्दसज्ञा' प्राप्त होती है। अर्थात् वचनयोग द्वारा जब तक उनका विसर्जन नही हो जाता, तब तक उन्हे शब्द नही कहा जाता। शब्द जीव के द्वारा भी होता है, अजीव के द्वारा भी। जीवशब्द साक्षर और निरक्षर दोनो प्रकार का होता है, अजीवशब्द अनक्षरात्मक होता है। तीसरा मिश्रशब्द जीव-अजीव दोनो के सयोग से उत्पन्न होता है।

वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के भाषापुद्गल बिखरकर फैलने लगते हैं। वे भिन्न होकर इतने सूक्ष्म हो जाते है कि अपने समकक्ष अन्यान्य अनन्त परमाणु-स्कन्धो को भाषा के रूप मे परिणत करके लोकान्त तक फैल जाते है। वक्ता का प्रयत्न मन्द होता है तो शब्द के पुद्गल अभिन्न होकर फैलने है, लेकिन वे असख्य योजन तक पहुँच कर नष्ट हो जाते है।[3]

अन्धकार और उद्योत—अन्धकार को जैनदर्शन ने प्रकाश का अभावरूप न मानकर प्रकाश (उद्योत) की तरह पुद्गल का सद्रूप पर्याय माना है। वास्तव मे अन्धकार पुद्गलद्रव्य है, क्योकि

१. (क) जीवो उवओगलक्खणो। —उत्तरा २८।१०
(ख) परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ. ५।२१

२ (क) उत्तरा २८।१२
(ख) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्त —पुद्गला।
शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-सस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च। —तत्त्वार्थ ५।२३-२४

३ (क) भगवती १३।७ रूवी भते ! भासा, अरूवी भासा ? गोयमा ! रूवी भासा, नो अरूपी भासा।
(ख) 'शब्दान्धकारोद्योतप्रभाच्छायातपवर्णगन्धरसस्पर्शा एते पुद्गलपरिणामा पुद्गललक्षण वा।' —नवतत्त्वप्रकरण
(ग) स्थानांग स्था २।३८१
(घ) भगवती १३।७—'भासिज्जमाणी भासा।'
(ङ) प्रज्ञापना. पद ११

उसमे गुण है। जो-जो गुणवान् होता है, वह-वह द्रव्य होता है, जैसे—प्रकाश। जैसे प्रकाश का भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, वैसे ही अन्धकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श अनुभवसिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि अन्धकार (अशुभ) पुद्गल का कार्य—लक्षण है, इसलिए वह पौद्गलिक है। पुद्गल का एक पर्याय है।[1]

छाया : स्वरूप और प्रकार—छाया भी पौद्गलिक है—पुद्गल का एक पर्याय है। प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय-उपचय धर्म वाला है। पुद्गलरूप पदार्थ का चय-उपचय होने के साथ-साथ उसमे से तदाकार किरणे निकलती रहती है। वे ही किरणे योग्य निमित्त मिलने पर प्रतिबिम्बित होती हैं, उसे ही 'छाया' कहा जाता है। वह दो प्रकार की है—तद्वर्णादिविकार छाया (दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों मे ज्यो की त्यो दिखाई देने वाली आकृति) और प्रतिबिम्ब छाया (अन्य पदार्थों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पडना)। अतएव छाया भावरूप है, अभावरूप नही।[2]

नौ तत्त्व और सम्यक्त्व का लक्षण

१४. जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव॥

[१४] जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है।

१५. तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥

[१५] इन तथ्यस्वरूप भावो के सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण मे जो भावपूर्वक श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

विवेचन—तत्त्व का स्वरूप—यथावस्थित वस्तुस्वरूप अथवा यथार्थरूप। इसे वर्तमान भाषा मे तथ्य या सत्य कह सकते हैं। इन सत्यो (या तत्त्वो) के नौ प्रकार है, आत्मा के हित के लिए जिनमे से कुछ का जानना, कुछ का छोडना तथा कुछ का ग्रहण करना आवश्यक है। यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ अनादि-अनन्त और स्वतत्र भाव नही है, किन्तु मोक्षप्राप्ति मे उपयोगी होने वाला ज्ञेयभाव है।[3]

तत्त्वों की उपयोगिता—प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्गगति' है, अत इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष होने से मुमुक्षुओ के लिए जिन वस्तुओ का जानना आवश्यक है, उनका यहाँ तत्त्वरूप मे वर्णन है। मोक्ष तो मुख्य साध्य है ही, इसलिए उसको तथा उसके कारणो को जाने बिना मोक्षमार्ग मे मुमुक्षु की प्रवृत्ति नही हो सकती। इसी प्रकार यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी

---

१. (क) न्यायकुमुदचन्द्र पृ ६६९ (ख) द्रव्यसग्रह, गा १६

२ प्रकाशावरण शरीरादि यस्या निमित्त भवति सा छाया ॥१६॥
सा छाया द्वेधा व्यवतिष्ठते, तद्वर्णादिविकारात् प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च। आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता उपलभ्यते, इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव। —राजवार्तिक ५।२४।१६-१७

३. (क) स्याद्वादमजरी (ख) स्थानांग. स्था. ९ वृत्ति (ग) तत्त्वार्थसूत्र (प. सुखलालजी) पृ ६,

(बन्ध और आश्रव) तत्त्वो का और उनके कारणो का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ (मोक्षपथ) मे अस्खलित प्रवृत्ति नही कर सकता। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? इस प्रकार के ज्ञान की पूर्ति के लिए ९ तत्त्वो का कथन है। जीव तत्त्व के कथन का अर्थ है—मोक्ष का अधिकारी बतलाना। अजीव तत्त्व से यह सूचित किया गया है कि जगत् मे एक ऐसा भी तत्त्व है, जो जड होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नही है। बन्धतत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव (ससारमार्ग) का और आश्रव तथा पाप तत्त्व से उक्त विरोधी भाव (ससार) के कारण का निर्देश किया गया है। सवर और निर्जरा तत्त्व से मोक्ष के कारणो को सूचित किया गया है। पुण्य कथञ्चित् हेय एव कथचित् उपादेय तत्त्व है, जो निर्जरा मे परम्परा से सहायक बनता है।[१]

नौ तत्त्वों का सक्षिप्त लक्षण—जीव का लक्षण सुख, दुःख, ज्ञान और उपयोग है। अजीव इससे विपरीत धर्मास्तिकायादि है। पुण्य शुभप्रकृतिरूप सातादि कर्म है, पाप अशुभप्रकृतिरूप मिथ्यात्वादि कर्म है। आश्रव का लक्षण है—जिससे शुभाशुभ कर्म ग्रहण (आश्रवण) किये जाते है। अर्थात् कर्मबन्धन के हेतु—हिसादि आश्रव हैं। सवर है—महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि द्वारा आश्रवो का निरोध करना। बन्ध है—आश्रवो के द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ सयोग। कर्मों को भोग लेने से अथवा बारह प्रकार के तप करने से बधे हुए कर्मों का देशत क्षय करना निर्जरा है तथा बन्ध और आश्रवो द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा से पूर्णतया वियोग मोक्ष है, अथवा समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय होने मे आत्मा का अपने शुद्ध रूप मे प्रकट हो जाना मोक्ष है।[२]

जीव और अजीव, दो मे ही समावेश क्यो नहीं ? वस्तुत नौ तत्त्वो मे दो ही तत्त्व मौलिक है -जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व। शेष तत्त्वो का इन्ही दो मे समावेश हो सकता है। जैसे कि पुण्य और पाप, दोनो कर्म हैं। बन्ध भी कर्मात्मक है और कर्म पुद्गल-परिणाम है। पुद्गल अजीव है। आश्रव मिथ्या दर्शनादिरूप परिणाम है और वह जीव का है। अत आश्रव आत्मा (जीव) और पुद्गलो से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नही है। सवर आश्रवनिरोधरूप है, वह देशसवर और सर्वसवर के भेद से आत्मा का निवृत्तिरूप परिणाम है। निर्जरा कर्म का एकादेश से क्षय (परिशाटन) रूप है। जीव अपनी शक्ति से आत्मा से कर्मों का पार्थक्य-सपादन करता है। मोक्ष भी समस्त कर्मरहित-रूप आत्मा (जीव) है। निष्कर्ष यह है कि अजीव और जीव इन दोनो मे शेष तत्त्वो का समावेश हो जाता है, फिर नौ तत्त्वो का कथन क्यो किया गया ? इसका समाधान यह है कि सामान्यतया जीव और अजीव, ये दो ही तत्त्व है किन्तु विशेषतया, तथा मोक्षमार्ग मे मुमुक्षु को प्रवृत्त करने के लिए ९ तत्त्वो का कथन किया गया है।[३]

नौ तत्त्वो के भेद-प्रभेद—नौ तत्त्वो के भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं—**जीव के भेद**—जीव के मुख्य दो भेद है—सिद्ध और संसारी। ससारी जीवो के भी त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं। स्थावर (एकेन्द्रिय) के दो भेद—सूक्ष्म और बादर। उनके दो-दो भेद है—पर्याप्त और अपर्याप्त। वनस्पतिकाय के दो भेद—प्रत्येक और साधारण, फिर त्रस—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ८ भेद हुए। इस प्रकार ४+२+८=१४ भेद। फिर एकेन्द्रिय के

---

१ तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी) अ १, सू ४, पृ ६

२. स्थानागसूत्र स्थान ९, वृत्ति

३ वही, स्था ९, वृत्ति

पृथ्वीकायादि ५ भेद जोडने से तथा पचेन्द्रिय के जलचर आदि ५ भेद अथवा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव तथा इनके भी भेद-प्रभेद मिलाकर अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हैं। अजीव के धर्मास्तिकायादि ५ द्रव्यो के भेद से ५ भेद मुख्य हैं।

पुण्य के भेद—(१) अन्नपुण्य, (२) पानपुण्य, (३) लयनपुण्य, (४) शयनपुण्य, (५) वस्त्रपुण्य, (६) मनपुण्य, (७) वचनपुण्य, (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य। इन नौ कारणों से पुण्यबध होता है तथा ४२ शुभ कर्मप्रकृतियो द्वारा वह भोगा जाता है।

पाप के भेद—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य। इन १८ कारणो से पापकर्म का बन्ध होता है और ८२ प्रकार की अशुभ प्रकृतियो से भोगा जाता है।

आश्रव के भेद—(१) मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाच कर्मों के आश्रव के मुख्य कारण हैं। इनमे से प्रत्येक के अनेक-अनेक भेद-प्रभेद हैं। प्रकारान्तर से इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया, ये चार मुख्य आश्रव हैं। इनके क्रमश ५, ४, ५ और २५ भेद हैं।

संवर के भेद—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग, ये ५ मुख्य भेद है। दूसरी तरह से १२ भावना (अनुप्रेक्षा), ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, २२ परीषहजय और १० श्रमणधर्म, यो कुल मिलाकर सवर के ५७ भेद हैं।

निर्जरा के भेद—तपस्या द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है। इसके साधनो को भी निर्जरा कहा गया है। इसलिए १२ प्रकार के तप के कारण निर्जरा के भी १२ भेद होते है। अथवा उसके अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा, ये दो भेद भी हैं।

बन्ध के भेद—मिथ्यात्व, अव्रत आदि ५ कर्मबन्ध के हेतु होने से बन्ध के ५ भेद हैं। फिर शुभ और अशुभ के भेद से भी बन्ध के दो प्रकार होते है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और रसबन्ध, इन चार प्रकारो से बन्ध होता है।

मोक्षतत्त्व के भेद—वैसे तो मोक्ष एक ही है, किन्तु मोक्ष के हेतु पृथक्-पृथक् होने से मुक्तात्माओ की पूर्वपर्यायापेक्षया १५ प्रकार का माना गया है—(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकरसिद्ध, (५) स्वयबुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (७) बुद्धबोधितसिद्ध, (८) स्वलिंगसिद्ध, (९) अन्यलिंगसिद्ध, (१०) गृहिलिंगसिद्ध, (११) स्त्रीलिंगसिद्ध, (१२) पुरुषलिंगसिद्ध (१३) नपुसकलिंगसिद्ध, (१४) एकसिद्ध और (१५) अनेकसिद्ध।[1]

सम्यक्त्व स्वरूप—तत्त्वभूत इन नौ पदार्थों के अस्तित्व के निरूपण मे भावपूर्वक श्रद्धान क अथवा मोहनीयकर्म के क्षय और उपशम आदि से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणामविशेष को सम्यक्त्व कहते है।[2]

१. कर्मग्रन्थ प्रथम, गा १ से २०

२. उत्तरा वृत्ति (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २२६

दशविधरुचिरूप सम्यक्त्व के दस प्रकार

१६. निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥

[१६] (सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन के दस प्रकार है—) निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि ।

१७. भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपाव च ।
सहसम्मुइयासवसंवरो य रोएइ उ निसग्गो ॥

[१७] (दूसरे के उपदेश के विना ही) अपनी ही मति से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और सवर आदि तत्त्वो को यथार्थ रूप से ज्ञात कर श्रद्धा करना निसर्गरुचि सम्यक्त्व है ।

१८. जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नऽन्नह त्ति य निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

[१८] जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट (अथवा दृष्ट) (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन) चार प्रकारो से (अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार प्रकारो से) विशिष्ट भावो (—पदार्थों) के प्रति स्वयमेव (दूसरो के उपदेश के विना), यह ऐसा ही है, अन्यथा नही, ऐसी (स्वत स्फूर्त्त) श्रद्धा (रुचि) रखता है, उसे निसर्गरुचि वाला जानना चाहिए ।

१९. एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥

[१९] जो अन्य—छद्मस्थ अथवा जिनेन्द्र—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन्ही जीवादि भावो (पदार्थों) पर श्रद्धा रखता है, उसे उपदेशरुचि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

२०. रागो दोसो मोहो अन्नाण जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम ॥

[२०] जिस (महापुरुष—आप्तपुरुष) के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गए है, उनको आज्ञा से जो तत्त्वो पर रुचि रखता है, वह आज्ञारुचि है ।

२१ जो सुत्तमहिज्जन्तो सुएण ओगाहई उ सम्मत्त ।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥

[२१] अग (-प्रविष्ट) अथवा अंगबाह्य श्रुत मे अवगाहन करता हुआ जो सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए ।

२२. एगेण अणेगाइं पयाइ जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिन्दू सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥

[२२] जैसे जल मे तेल की बूद फैल जाती है, वैसे ही जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्वबोध) अनेक पदो में फैलता है, उसे बीजरुचि समझना चाहिए ।

२३. सो होइ अभिगमरुई सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥

[२३] जिसने ग्यारह अग, प्रकीर्णक एव दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान को अर्थसहित अधिगत (दृष्ट या उपदेशप्राप्त) किया है वह अभिगमरुचि है ।

२४. दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहि नयविहीहि य वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥

[२४] समस्त प्रमाणो और सभी नयविधियो से द्रव्यो के सभी भाव जिसे उपलब्ध (ज्ञात) हो गए है, उसे विस्ताररुचि जानना चाहिए ।

२५. दंसण-नाण-चरित्ते-तव-विणए सच्च-समिइ-गुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥

[२५] दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति आदि क्रियाओ मे जिसे भाव से रुचि है, वह क्रियारुचि है ।

२६ अणभिग्गहिय—कुदिट्ठी संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥

[२६] जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे अकुशल है तथा अन्यान्य (-मिथ्या) प्रवचनो से भी अनभिज्ञ है, किन्तु कुदृष्टि का आग्रह न होने से अल्पबोध से ही जो तत्त्वश्रद्धा वाला है, उसे सक्षेपरुचि समझना चाहिए ।

२७. जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥

[२७] जो व्यक्ति जिनेन्द्र-कथित, अस्तिकायधर्म (धर्मास्तिकायादि अस्तिकायो के गुण-स्वभावादि धर्म) मे, श्रुतधर्म मे और चारित्रधर्म मे श्रद्धा करता है, उसे धर्मरुचि वाला समझना चाहिए ।

विवेचन—सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रकार—प्रस्तुत १२ गाथाओ (१६ से २७ तक) मे दस रुचियो का जो वर्णन किया गया है, वह विभिन्न निमित्तो से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन के विभिन्न रूपो का वर्गीकरण है । यहाँ रुचि का अर्थ है—सत्यप्राप्ति के विभिन्न निमित्तो के प्रति श्रद्धा । इन दस रुचियो को तत्त्वार्थसूत्र मे **'तन्निसर्गादधिगमाद् वा'** कह कर निसर्ग और अधिगम इन दो सम्यक्त्वोत्पत्ति—निमित्तो मे समाविष्ट कर दिया है । स्थानागसूत्र मे इन्हे **'सरागसम्यग्दर्शन'** कहा है । तत्त्वार्थराजवार्तिक मे इन्हे दस प्रकार के 'दर्शन-आर्य' बताया है । राजवार्तिक मे तथा उत्तराध्ययन मे प्रतिपादित कुछ नाम समान हैं, कुछ भिन्न हैं । यथा—आज्ञारुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, सक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, इन नामो में साम्य है, किन्तु निसर्गरुचि, अभिगमरुचि, क्रियारुचि एव धर्मरुचि, इन चार के बदले क्रमशः मार्गरुचि, अर्थरुचि अवगाढरुचि और परम-अवगाढरुचि-दर्शनार्य नाम हैं । इनकी व्याख्या मे भी कुछ भिन्नता है ।[1]

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३ (ख) स्थानाग. १०।७५१ (ग) राजवार्तिक ३।३६, पृ २०१

सम्यक्त्व-श्रद्धा के स्थायित्व के तीन उपाय

२८. परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि ।
वावण्णकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

[२८] परमार्थ का गाढ परिचय, परमार्थ के सम्यक् द्रष्टा पुरुषों की सेवा और व्यापन्नदर्शन (सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट) तथा कुदर्शन (मिथ्यादृष्टि) जनो (के ससर्ग) का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है, अर्थात् ऐसा करने से सम्यग्दर्शन मे स्थिरता आती है ।

विवेचन—परमार्थसंस्तव—परम पदार्थों अर्थात्—जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों का संस्तव—अर्थात् उनके स्वरूप का बारबार चिन्तन करने से होने वाला प्रगाढ परिचय ।

सुदृष्ट-परमार्थसेवना—परम तत्त्वो को जिन्होने भलीभाँति देख (—हृदयगम कर) लिया है, ऐसे आचार्य, स्थविर या उपाध्याय आदि तत्त्वद्रष्टा पुरुषो की उपासना एव सेवा ।

व्यापन्न-कुदर्शन-वर्जना—व्यापन्न और कुदर्शन । प्रथम शब्द मे 'दर्शन' शब्द का अध्याहार करने से अर्थ होता है—जिनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, ऐसे निह्नव आदि तथा कुदर्शन अर्थात् जिनके दर्शन (मत या दृष्टि) मिथ्या हो, ऐसे अन्य दार्शनिक, मिथ्यादृष्टि जनो का वर्जन ।

ये तीन सम्यग्दर्शन को टिकाने के, सत्यश्रद्धा को निश्चल, निर्मल और गाढ रखने के उपाय है ।[1]

सम्यग्दर्शन की महत्ता

२९. नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्त-चरित्ताइ जुगवं पुव्व व सम्मत्त ॥

[२९] (सम्यक्) चारित्र सम्यग्दर्शन के विना नही होता, किन्तु सम्यक्त्व चारित्र के विना भी हो सकता है । सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ भी होते है, (किन्तु) चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना आवश्यक है ।

३०. नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

[३०] सम्यग्दर्शनरहित व्यक्ति को (सम्यग्) ज्ञान नही होता । (सम्यग्) ज्ञान के विना चारित्र-गुण नही होता । चारित्र-गुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नही हो सकता और मोक्ष के विना निर्वाण (अचल चिदानन्द) नही होता ।

विवेचन—मोक्षमार्ग के तीनो साधनों का स्वरूप और साहचर्य—जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिससे हेय, ज्ञेय एव उपादेय तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह **सम्यग्दर्शन** है । नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्त्वो का यथार्थ-बोध **सम्यग्ज्ञान** है । सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग-द्वेष और योग (मन-वचन-काय की

---

१ उतरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २२९

प्रवृत्ति) की निवृत्ति से होने वाला स्वरूपरमण **सम्यक्चारित्र** है। मोक्ष के लिए तीनों साधनों का होना आवश्यक है। इसलिए साहचर्य नियम यह है कि उक्त तीनो साधनो मे से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी होते हैं, परन्तु सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यम्भावी नही है। इसी का फलितार्थ यहाँ व्यक्त किया गया है कि सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान सम्यक् नही हो सकता और सम्यग्ज्ञान के विना भावचारित्र नही होता। उत्क्रान्ति (विकास) के नियमानुसार चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है, तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते है। दूसरी बात यह भी है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप मे हो, तभी सम्यक्चारित्र परिपूर्ण हो सकता है। एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष नही हो सकता। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप मे प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता के कारण तेरहवें गुणस्थान मे पूर्ण मोक्ष, अर्थात् विदेहमुक्ति—अशरीर-सिद्धि नही होती। वह होती है—शैलेशी-अवस्थारूप पूर्ण (यथाख्यात) चारित्र के प्राप्त होते ही १४वे गुणस्थान के अन्त मे। इसी बात को प्रस्तुत गाथा ३० मे व्यक्त किया गया है कि चारित्रगुण के विना मोक्ष नही होता और मोक्ष (सम्पूर्ण कर्मक्षय) के विना निर्वाण—विदेहमुक्ति की प्राप्ति नही होती।[1] निष्कर्ष यह कि इसमे सर्वाधिक महत्ता एव विशेषता सम्यग्दर्शन की है। वह हो तो ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है और चारित्र भी। ज्ञान सम्यक् होने पर चारित्र का सम्यक् होना अवश्यम्भावी है।

सम्यक्त्व के आठ अंग

३१. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥

[३१] नि शकता, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ (सम्यक्त्व के अग) हैं।

विवेचन—सम्यग्दर्शन प्रकार और अंग—सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं—निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। निश्चय सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतया आत्मा की अन्तरगशुद्धि या सत्य के प्रति दृढ श्रद्धा से है, जबकि व्यवहार सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतया—देव, गुरु, धर्म-सघ, तत्त्व, शास्त्र आदि के साथ है। परन्तु साधक मे दोनो प्रकार के सम्यग्दर्शनो का होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के आठ अगो का निरूपण भी इन्ही दोनो प्रकार के सम्यग्दर्शनो को लेकर किया गया है। जैसे एक-दो अक्षररहित अशुद्ध मत्र विष की वेदना को नष्ट नही कर सकता, वैसे ही अग-रहित सम्यग्दर्शन भी ससार की जन्ममरण-परम्परा का छेदन करने मे समर्थ नही है। वस्तुत ये आठो अग सम्यक्त्व को विशुद्ध करते हैं। ये आठ अग सम्यक्त्वाचार के आठ प्रकार हैं। जैनागमो मे सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार बताए हैं—शका, काक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्डप्रशसा और परपाषण्ड-सस्तव। सम्यक्त्वाचार का उल्लघन करना अथवा सम्यक्त्व को दूषित या मलिन करना 'अतिचार'

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ १, सू १, २, ६ (प सुखलालजी) पृ. २, ८
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २२९-२३०

है। प्रस्तुत गाथा मे आचारात्मक अग ८ हैं, जबकि अतिचारात्मक ५ हैं। शका, काक्षा और विचिकित्सा, ये तीन अतिचार तो तीन आचारो के उल्लघन के रूप मे हैं। शेष रहे ५ आचार, इनके उल्लघन के रूप में परपाषण्डप्रशसा और परपाषण्डसस्तव ये दो हैं ही। यथा—जो मिथ्या-दृष्टियों की प्रशसा, स्तुति या घनिष्ठ सम्पर्क करता है वह मूढदृष्टि तो है ही, वह गुणी सम्यग्दृष्टि के गुणो का उपबृंहण, प्रशंसा या स्थिरीकरण नही करता और न उसमे स्वधर्मी के प्रति वत्सलता या प्रभावना सम्भव है।[1]

१. निःशंकता—जिनोक्त तत्त्व, देव, गुरु, धर्म-सघ या शास्त्र आदि मे देशत. या सर्वत शका का न होना सम्यग्दर्शनाचार का प्रथम अग नि शंकता है। शका के दो अर्थ किये गए हैं—सदेह और भय। अर्थात् जिनोक्त तत्त्वादि के प्रति सदेह अथवा सात भयो से रहित होना निःशकित सम्यग्दर्शन है।[2]

२. निष्कांक्षा—काक्षारहित होना निष्काक्षित सम्यग्दर्शन है। काक्षा के दो अर्थ मिलते हैं—(१) एकान्तदृष्टि वाले दर्शनो को स्वीकार करने की इच्छा, अथवा (२) धर्माचरण से इहलौकिक-पारलौकिक वैभव या सुखभोग आदि पाने की इच्छा।[3]

३. निर्विचिकित्सा—विचिकित्सा रहित होना सम्यग्दर्शन का तृतीय आचार है। विचिकित्सा के भी दो अर्थ हैं—(१) धर्मफल मे सन्देह करना और (२) जुगुप्सा—घृणा। द्वितीय अर्थ का आशय है—रत्नत्रय से पवित्र साधु-साध्वियो के शरीर को मलिन देख कर घृणा करना, या सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदि की निन्दा करना भी विचिकित्सा है।[4]

---

१ (क) मूलाराधना २०१ (ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार २१ (ग) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२५
(घ) शका-काक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टि-प्रशसा-सस्तवा सम्यग्दृष्टेरतिचारा। —तत्त्वार्थ ७।१८
(ङ) तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति, ७।२३ पृ २४८

२ (क) 'शकन शकित देशसर्वशकात्मक तस्याभावो नि शकितम्।' —बृ वृत्ति, पत्र ५६७
(ख) 'सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्सका होति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा हु णिस्सका॥' —समयसार गा २२८
(ग) 'तत्र शका—यथा निर्ग्रन्थाना मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीना किं मुक्तिर्भवतीति शका, अथवा भयप्रकृति शका।' —तत्त्वार्थ वृत्ति ७।२३

३ (क) 'इहपर-लोकभोगाकाक्षण काक्षा।' —तत्त्वार्थ वृत्ति ७।२३
(ख) इहजन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित-परसमयानपि च नाकांक्षेत्॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २४
(ग) मूलाराधना विजयोदयावृत्ति १।४४

४ (क) 'विचिकित्सा—मतिविभ्रम युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फल प्रति सम्मोह। यद्वा विद्वज्जुगुप्सा—मलमलिना एते इत्यादि साधुजुगुप्सा।' —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ६४
(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार १।१३
(ग) 'यद्वा विचिकित्सा निन्दा सा च सदाचारमुनिविषया, यथा—अस्नानेन प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धिवपुष एत इति।' —योगशास्त्र २।१७ वृत्ति, पत्र ६७

४. अमूढदृष्टि—देवमूढता, गुरुमूढता, धर्ममूढता शास्त्रमूढता, लोकमूढता आदि मूढताओ—मोहमयी दृष्टियो से रहित होना अमूढदृष्टि है। **देवमूढता**—रागी-द्वेषी देवो की उपासना करना, **गुरुमूढता**—आरम्भ-परिग्रह में आसक्त, हिंसादि मे प्रवृत्त, मात्र वेषधारी साधु को गुरु मानना, **धर्ममूढता**—अहिंसादि शुद्ध धर्मतत्त्वो को धर्म न मानकर हिंसा, आरम्भ, आडम्बर, प्रपच आदि से युक्त सम्प्रदाय या मत-पथ को या स्नानादि आरम्भजन्य क्रियाकाण्डो या अमुक वेष को धर्म मानना धर्ममूढता है। **शास्त्रमूढता**—हिंसादि की प्ररूपणा करने वाले या असत्य-कल्पनाप्रधान, अथवा राग-द्वेषयुक्त अल्पज्ञो द्वारा जिनाज्ञा-विरुद्ध प्ररूपित ग्रन्थो को शास्त्र मानना। **लोकमूढता**—अमुक नदी या समुद्र मे स्नान, अथवा गिरिपतन, आदि लोकप्रचलित कुरूढियो, या कुप्रथाओ को धर्म मानना। किन्ही-किन्ही आचार्यों के अनुसार मूढता का अर्थ—एकान्तवादी, कुपथगामिया तथा षडायतनो (मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र, मिथ्याचारित्री) की प्रशसा, स्तुति, सेवा या सम्पर्क अथवा परिचय करना भी है।[1]

५. उपबृहण—इसके अर्थ हैं—(१) प्रशसा, (२) वृद्धि, (३) पुष्टि। यथा—(१) गुणीजनो की प्रशसा करके उनके गुणो को बढावा देना, (२) अपने आत्मगुणो (क्षमा, मृदुता आदि) की वृद्धि करना, (३) सम्यग्दर्शन की पुष्टि करना। कई आचार्य इसके बदले उपगूहन मानते है। जिसका अर्थ है—(१) परदोषो का निगूहन करना, अथवा अपने गुणो का गोपन करना।[2]

६. स्थिरीकरण—सम्यक्त्व अथवा चारित्र से चलायमान हो रहे व्यक्तियो को पुन उसी मार्ग मे स्थिर कर देना, या उसे अर्थादि का सहयोग देकर धर्म मे स्थिर करना स्थिरीकरण है।[3]

७. वात्सल्य—अहिंसादि धर्म अथवा साधर्मिकों के प्रति हार्दिक एव नि स्वार्थ अनुराग, वत्सल-भाव रखना तथा साधर्मिक साधुवर्ग की या श्रावकवर्ग की सेवा करना।[4]

८ प्रभावना—प्रभावना का अर्थ है—(१) रत्नत्रय से अपनी आत्मा को भावित (प्रभावित) करना, (२) धर्म एव सघ की उन्नति के लिए चिन्तन, मगलमयी भावना करना। आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते है—(१) प्रवचनी, (२) वादी, (३) धर्मकथी, (६) नैमित्तिक, (७) सिद्ध (मन्त्रसिद्धिप्राप्त आदि) और (८) कवि।[5]

---

१ (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार १।२२-२३-२४

(ख) कापथे पथि दु खाना कापथस्थेऽप्यसम्मति।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥ —रत्नकरण्डश्रावकचार १।१४

(ग) अणादयणसेवणा चेव—अनायतन षड्विध—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टय, मिथ्याज्ञान, तद्वन्त, मिथ्याचारित्र मिथ्याचारित्रवन्त इति। —मूलाराधना १।४४

२ धर्मोऽभिवर्द्धनीय, मदात्मनो मार्दवादि विभावनया,
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृहणगुणार्थम्। —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २८

३ दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि चलता धर्मवत्सलै।
प्रत्यवस्थापन प्राज्ञै स्थितीकरणमुच्यते ॥ —रत्नकरण्डश्रावकाचार १।१६

४ वत्सलभावो वात्सल्य—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिमोचितप्रतिपत्तिकरणम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७

५ (क) प्रभावना च—तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका। —वही, पत्र ५६७

(ख) योगशास्त्र २।१६ वृत्ति, पत्र ६५

चारित्र : स्वरूप और प्रकार

३२. सामाइयत्थ पढमं छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥

[३२] चारित्र के पाच प्रकार हैं—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्म-सम्पराय और—

३३. अकसायं अहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥

[३३] पाचवाँ यथाख्यातचारित्र है, जो सर्वथा कषायरहित होता है । वह छद्मस्थ और केवली—दोनो को होता है । यह पचविध चारित्र कर्म के चय (सचय) को रिक्त (खाली) करता है, इसलिए यह चारित्र कहा गया है ।

विवेचन—चारित्र के दो रूपों में विरोध नहीं—गाथा ३३ मे चारित्र का निरुक्त दिया है—**'चयरित्तकरं चारित्तं'** । इसका भावार्थ यह है कि पूर्वबद्ध कर्मों का जो सचय है, उसे १२ प्रकार के तप से रिक्त करना चारित्र है । यह निर्जरारूप चारित्र है और आगे गाथा ३५ मे **'चरित्तेण निगिण्हाइ'** कह कर चारित्र का जो स्वरूप बताया है, वह सवररूप चारित्र है, अर्थात्—नये कर्मों के आश्रव को रोकना सवररूप चारित्र है । अत: इन दोनो मे परस्पर विरोध नही है, बल्कि कर्मों से आत्मा को पृथक् करने के दोनो मार्ग हैं । ये दोनो चारित्र के रूप हैं ।[1]

चारित्र के प्रकार और स्वरूप— चारित्र के पाच प्रकार यहाँ बताए गए हैं—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र । वास्तव मे सम्यक्चारित्र तो एक ही है । उसके ये पाच प्रकार विशेष अपेक्षाओ से किये गए हैं ।

सामायिक चारित्र—जिसमे सर्वसावद्य प्रवृत्तियो का त्याग किया जाता है । विविध अपेक्षाओ से कथित छेदोपस्थापनीय आदि शेष चार चारित्र, इसी के विशेष रूप हैं । मूलाचार के अनुसार—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया था, मध्य के शेष २२ तीर्थंकरो ने सामायिक चारित्र का प्ररूपण किया । दूसरी बात यह है कि सामायिक चारित्र दो प्रकार का होता है—इत्वरिक और यावत्कथिक । इत्वरिक सामायिक का भगवान् आदिनाथ और भगवान् महावीर के (नवदीक्षित) शिष्यो के लिए विधान है, जिसकी स्थिति ७ दिन, ४ मास या ६ मास की होती है । तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय चारित्र अगीकार किया जाता है । शेष २२ तीर्थंकरो के शासन मे सामायिक चारित्र 'यावत्कथिक' (यावज्जीवन के लिए) होता है ।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६९

२ (क) सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एक व्रतम्, भेदपरतत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पचविध व्रतम् ।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक

(ख) **'बावीस तित्थयरा सामायिक सजम उवदिसंति ।**
छेओवट्ठावणिय पुण, भयवं उसहो य वीरो य ॥' —मूलाचार ७।३६

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८

छेदोपस्थापनीय चारित्र—छेदोपस्थापनीय के यहाँ दो तात्पर्य है—(१) सर्वसावद्यत्याग का छेदश —विभागशः पंचमहाव्रतो के रूप मे उपस्थापित (आरोपित) करना, (२) दोषसेवन करने वाले मुनि के दीक्षापर्याय का छेद (काट) करके महाव्रतो का पुन आरोपण करना। इसी दृष्टि से छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो प्रकार बताए गए हैं—निरतिचार और सातिचार। छेद का अर्थ जहाँ विभाग किया जाता है, वहाँ निरतिचार तथा जहाँ छेद का अर्थ—दीक्षापर्याय का छेदन (घटाना) होता है, वहाँ सातिचार समझना चाहिए।[1]

परिहारविशुद्धि चारित्र—परिहार का अर्थ है—प्राणिवध से निवृत्ति। परिहार से जिस चारित्र मे कर्मकलक की विशुद्धि (प्रक्षालन) की जाती है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। इसकी विधि इस प्रकार है—इसकी आराधना ९ साधु मिलकर करते हैं। इसकी अवधि १८ महीने की होती है। प्रथम ६ मास मे ४ साधु तपस्या (ऋतु के अनुसार उपवास से लेकर पचौला तक की तपश्चर्या) करते हैं, चार साधु उनकी सेवा करते है और एक वाचनाचार्य (गुरुस्थानीय) रहता है। दूसरे ६ महीनो मे तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने वाले तप करते है, वाचनाचार्य वही रहता है। इसके पश्चात् तीसरी छमाही मे वाचनाचार्य तप करते है, शेष साधु उनकी सेवा करते है। तप की पारणा सभी साधक आयम्बिल से करते है, उनमे से एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है। इस दृष्टि से परिहार का तात्पर्यार्थ—तप होता है, उसी से विशेष आत्म-शुद्धि की जाती है। जब साधक तप करता है तो प्राणिवध के आरम्भ-समारम्भ के दोष से सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है।[2]

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र की साधना करते-करते जब क्रोधादि तीन कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते है, केवल लोभकषाय सूक्ष्म रूप मे रह जाता है, इस स्थिति को सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहा जाता है। यह चारित्र दशम गुणस्थानवर्ती साधुओ को होता है।[3]

यथाख्यात चारित्र—जब चारो कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते है, उस समय की चारित्रिक स्थिति को यथाख्यात चारित्र कहते है। यह चारित्र गुणस्थान की अपेक्षा से दो भागो मे विभक्त है—उपशमात्मक यथाख्यात चारित्र और क्षयात्मक यथाख्यात चारित्र। प्रथम चारित्र ११ वे गुणस्थान वाले साधक को और द्वितीय चारित्र १२ वे आदि ऊपर के गुणस्थानो के अधिकारी महापुरुषो के होता है।[4]

---

१ (क) छेदैर्भेदैरूपेत्यर्थं, स्थापन स्वस्थितिक्रिया।
छेदोपस्थापन प्रोक्त सर्वसावद्यवर्जने ॥ —आचारसार ५।६-७

(ख) सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शैक्षकस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूपस्तद् युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम्।

२ (क) परिहरण परिहार —प्राणिवधान्निवृत्तिरित्यर्थ। परिहारेण विशिष्टा शुद्धि कर्मकलकप्रक्षालन यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिचारित्रमिति।

(ख) स्थानाग ५।४२८ वृत्ति, पत्र ३२४

(ग) प्रवचनसारोद्धार ६०२-६१०

३ 'सूक्ष्मः—किट्टीकरणत सपर्येति—पर्यटति अनेन ससारमिति सम्परायो—लोभाख्य कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८

४ सुह-असुहाण णिवित्ति चरण साहुस्स वीयरायस्स। —बृहद् नयचक्र गा. ३७८

सम्यक् तप : भेद-प्रभेद

३४. तवो य दुविहो वुत्तो बाहिरऽब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥

[३४] तप दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

विवेचन—मोक्ष का चतुर्थ साधन—तप अतरग एव बहिरग रूप से कर्मक्षय (निर्जरा) या आत्मविशुद्धि का कारण होने से मुक्ति का विशिष्ट साधन है। इसलिए इसे पृथक् मोक्षमार्ग के रूप मे यहाँ स्थान दिया गया है। तप की भेद-प्रभेदसहित विस्तृत व्याख्या 'तपोमार्गगति' नामक तीसवे अध्ययन मे दी गई है।

मोक्षप्राप्ति के लिए चारों की उपयोगिता

३५. नाणेण जाणई भावे दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥

[३५] (आत्मा) ज्ञान से जीवादि भावो (पदार्थों) को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से (नवीन कर्मों के आश्रव का) निरोध करता है और तप से परिशुद्ध (पूर्वसचित कर्मों का क्षय) होता है।

३६. खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥
—त्ति बेमि।

[३६] सर्वदु खो से मुक्त होने के लिए महर्षि सयम और तप से पूर्वकर्मों का क्षय करके (मुक्ति को) प्राप्त करते है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ मोक्षमार्गगति अट्ठाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

उनतीसवाँ अध्ययन : सम्यक्त्वपराक्रम

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व-पराक्रम है। इससे सम्यक्त्व मे पराक्रम करने का, अथवा सम्यक्त्व अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव तप के प्रति सम्यक्रूप मे श्रद्धा करने का दिशानिर्देश मिलता है, इसलिए यह गुणनिष्पन्न नाम है। कई आचार्य इसे 'वीतरागश्रुत' अथवा 'अप्रमादश्रुत' भी कहते है।

* इसमे अध्यात्मसाधना अथवा मोक्षप्राप्ति की साधना का सम्यक् दृष्टिकोण, महत्त्व, परिणाम और लाभ सूचित किया गया है। इसमे सम्पूर्ण उत्तराध्ययनसूत्र के सार का समावेश हो जाता है। इसमे अध्यात्मसाधना-पद्धति के प्रत्येक प्रमुख साधन पर गभीरता से चर्चा-विचारणा की गई है। छोटे-छोटे सूत्रात्मक प्रश्न है, किन्तु उनके उत्तर गम्भीर एव तलस्पर्शी हैं और अध्यात्मविज्ञान पर आधारित है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे ७३ प्रश्न और उनके उत्तर है। ७३ बोलो की फलश्रुति बहुत ही गहनता के साथ बताई गई है। प्रश्नोत्तरो का क्रम इस प्रकार है—(१) सवेग, (२) निर्वेद, (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरुसाधर्मिकशुश्रूषा, (५) आलोचना, (६) निन्दना, (७) गर्हणा, (८) सामायिक, (९) चतुर्विंशतिस्तव, (१०) वन्दना, (११) प्रतिक्रमण, (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान, (१४) स्तवस्तुतिमगल, (१५) कालप्रतिलेखना, (१६) प्रायश्चित्तकरण, (१७) क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रतिपृच्छना, (२१) परावर्त्तना (पुनरावृत्ति), (२२) अनुप्रेक्षा, (२३) धर्मकथा, (२४) श्रुत-आराधना, (२५) मन की एकाग्रता, (२६) सयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान (विशुद्धि), (२९) सुखशात, (३०) अप्रतिबद्धता, (३१) विविक्तशयनासन-सेवन, (३२) विनिवर्त्तना, (३३) सभोग-प्रत्याख्यान, (३४) उपधि-प्रत्याख्यान, (३५) आहार-प्रत्याख्यान, (३६) कषाय-प्रत्याख्यान, (३७) योग-प्रत्याख्यान, (३८) शरीर-प्रत्याख्यान, (३९) सहाय-प्रत्याख्यान, (४०) भक्त-प्रत्याख्यान, (४१) सद्भाव-प्रत्याख्यान, (४२) प्रतिरूपता, (४३) वैयावृत्त्य, (४४) सर्वगुणसम्पन्नता, (४५) वीतरागता, (४६) क्षान्ति, (४७) मुक्ति (निर्लोभता), (४८) आर्जव, (४९) मार्दव, (५०) भावसत्य, (५१) करणसत्य, (५२) योग-सत्य, (५३) मनोगुप्ति, (५४) वचनगुप्ति, (५५) कायगुप्ति, (५६) मन.समाधारणा, (५७) वच समाधारणा, (५८) कायसमाधारणा, (५९) ज्ञानसम्पन्नता, (६०) दर्शनसम्पन्नता, (६१) चारित्रसम्पन्नता, (६२) श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह, (६३) चक्षुरिन्द्रियनिग्रह, (६४) घ्राणेन्द्रियनिग्रह, (६५) जिह्वेन्द्रियनिग्रह, (६६) स्पर्शेन्द्रियनिग्रह, (६७) क्रोधविजय, (६८) मानविजय, (६९) माया-विजय, (७०) लोभविजय और (७१) प्रेय.द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय (७२) शैलेशी (७३) अकर्मता।

* अन्त मे योगनिरोध एव शैलेशी अवस्था का क्रम एव मुक्त जीवो की गति-स्थिति आदि का निरूपण किया गया है। अत· सम्यक्रूप से पूर्ण श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शन, पालन करने से, गहराई से जानने से, इसके गुणोत्कीर्त्तन से, शोधन से, आराधन से, आज्ञानुसार अनुपालन से साधक परिपूर्णता के —मुक्ति के शिखर पर पहुँच सकता है, इसमे कोई सन्देह नही है। □□

एगुणतीसइमं अज्झयणं : उनतीसवां अध्ययन

समत्तपरक्कमे : सम्यक्त्वपराक्रम

सम्यक्त्व-पराक्रम से परिनिर्वाण प्राप्ति

१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासइत्ता, पालइत्ता, तीरइत्ता, किट्टइत्ता सोहइत्ता, आराहइत्ता, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झन्ति, बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, सव्वदुक्खाणमन्तं करेन्ति ।

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, त जहा—

१ संवेगे २ निव्वेए ३ धम्मसद्धा ४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ५ आलोयणया ६ निन्दणया ७ गरहणया ८ सामाइए ९ चउव्वीसत्थए १० वन्दणए ११ पडिक्कमणे १२ काउस्सग्गे १३ पच्चक्खाणे १४ थवथुइमगले १५ कालपडिलेहणया १६ पायच्छित्तकरणे १७ खमावणया १८ सज्झाए १९ वायणया २० पडिपुच्छणया २१ परियट्टणया २२ अणुप्पेहा २३ धम्मकहा २४ सुयस्स आराहणया २५ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ सजमे २७ तवे २८ वोदाणे २९ सुहसाए ३०. अप्पडिबद्धया ३१ विवित्तसयणासणसेवणया ३२ विणियट्टणया ३३ संभोगपच्चक्खाणे ३४ उवहिपच्चखाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३६ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणें ३८ सरीरपच्चक्खाणे ३९ सहायपच्चक्खाणे ४० भत्तपच्चक्खाणे ४१ सब्भावपच्चक्खाणे ४२ पडिरूवया ४३ वेयावच्चे ४४ सव्वगुणसंपण्णया ४५ वीयरागया ४६ खन्ती ४७ मुत्ती ४८ अज्जवे ४९ मद्दवे ५० भावसच्चे ५१ करणसच्चे ५२ जोगसच्चे ५३ मणगुत्तया ५४ वयगुत्तया ५५ कायगुत्तया ५६ मणसमाधारणया ५७ वयसमाधारणया ५८ कायसमाधारणया ५९ नाणसंपन्नया ६० दंसणसंपन्नया ६१ चरित्तसंपन्नया ६२ सोइन्दियनिग्गहे ६३ चक्खिन्दियनिग्गहे ६३ घाणिन्दियनिग्गहे ६५ जिब्भिन्दियनिग्गहे ६६ फासिन्दियनिग्गहे ६७ कोहविजए ६८ माणविजए ६९ मायाविजए ७० लोहविजए ७१ पेज्जदोसमिच्छादसणविजए ७२ सेलेसी ७३ अकम्मया ।

[१] आयुष्मन् ! भगवान् ने जो कहा है, वह मैंने सुना है—इस 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नामक अध्ययन मे काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने जो प्ररूपणा की है, उस पर सम्यक् श्रद्धा से, प्रतीति से, रुचि से, स्पर्श से, पालन करने से, गहराई से जानने (या भलीभाति पार उतरने) से, कीर्त्तन (गुणानुवाद) करने से, शुद्ध करने से, आराधना करने से, आज्ञानुसार अनुपालन करने से, बहुत-से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और समस्त दु.खो का अन्त करते है ।

उसका यह अर्थ है, जो इस रूप मे कहा जाता है । जैसे कि—

(१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा, (५) आलोचना, (६) निन्दना, (७) गर्हणा, (८) सामायिक, (९) चतुर्विंशति-स्तव, (१०) वन्दना, (११) प्रतिक्रमण, (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान, (१४) स्तव-स्तुतिमंगल, (१५) कालप्रतिलेखना, (१६) प्रायश्चित्तकरण, (१७) क्षामणा-क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रति-पृच्छना, (२१) परावर्त्तना-(पुनरावृत्ति), (२२) अनुप्रेक्षा, (२३) धर्मकथा, (२४) श्रुत-आराधना, (२५) एकाग्रमनोनिवेश, (२६) संयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान (विशुद्धि), (२९) सुखसाता, (३०) अप्रतिबद्धता, (३१) विविक्तशय्यासन-सेवन (३२) विनिवर्त्तना, (३३) संभोग-प्रत्याख्यान, (३४) उपधि-प्रत्याख्यान, (३५) आहार-प्रत्याख्यान, (३६) कषाय-प्रत्याख्यान, (३७) योग-प्रत्याख्यान, (३८) शरीर-प्रत्याख्यान, (३९) सहाय-प्रत्याख्यान, (४०) भक्त-प्रत्याख्यान, (४१) सद्भाव-प्रत्याख्यान, (४२) प्रतिरूपता, (४३) वैयावृत्य, (४४) सर्वगुणसम्पन्नता, (४५) वीतरागता, (४६) क्षान्ति, (४७) मुक्ति (—निर्लोभता), (४८) आर्जव (—ऋजुता), (४९) मार्दव (—मृदुता), (५०) भावसत्य, (५१) करणसत्य, (५२) योगसत्य, (५३) मनोगुप्ति, (५४) वचनगुप्ति, (५५) कायगुप्ति, (५६) मन.समाधारणता, (५७) वचनसमाधारणता, (५८) कायसमाधारणता, (५९) ज्ञानसम्पन्नता, (६०) दर्शनसम्पन्नता, (६१) चारित्रसम्पन्नता, (६२) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह, (६३) चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह, (६४) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह, (६५) जिह्वेन्द्रिय-निग्रह (६६) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह, (६७) क्रोधविजय, (६८) मानविजय, (६९) मायाविजय, (७०) लोभविजय, (७१) प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय, (७२) शैलेशी (अवस्था) और (७३) अकर्मता (—स्थिति)।

विवेचन—सुधर्मास्वामी का जम्बूस्वामी के प्रति कथन—यद्यपि सुधर्मास्वामी (पंचम गणधर) स्वयं श्रुतकेवली थे, अत उनके द्वारा जम्बूस्वामी को कहा गया वचन प्रामाणिक ही होता, फिर भी उन्होंने स्वयं अपनी ओर से कथन न करके आयुष्मान् भगवान् महावीर का उल्लेख किया है। वह इस दृष्टि से कि लब्धप्रतिष्ठ साधक को भी गुरुमाहात्म्य प्रकट करने के लिए गुरु द्वारा उपदिष्ट सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए। अतएव स्वयं अपने मुंह से सीधे न कह कर भगवान् के श्रीमुख से उपदिष्ट का कथन किया।[1]

सम्यक्त्व-पराक्रम : अर्थ—आध्यात्मिक जगत् मे, अथवा जिनप्रवचन मे सम्यक्त्व के अथवा गुण और गुणी का अभेद मानने पर जीव के सम्यक्त्व गुणयुक्त होने पर जो पराक्रम किया जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर गुण (मूल-उत्तरगुण) प्राप्त करके कर्मरिपुओ पर विजय पाने का सामर्थ्यरूप पुरुषार्थ (पराक्रम) किया जाता है, वह सम्यक्त्व-पराक्रम कहलाता है।[2]

अध्ययन का माहात्म्य और फल—सम्यक्त्व-पराक्रम एक साधना है, समग्रतया शुद्धरूप मे होने पर जिसके द्वारा जीव मोक्षरूप फल प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्य का निरूपण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—सम्यक्त्वपराक्रम-साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचने का क्रम इस प्रकार है—**(१) सद्दहित्ता**—सम्यक् (अविपरीत) रूप से श्रद्धा करके, **(२) पत्तइत्ता**—तत्पश्चात् शब्द, अर्थ और उभयरूप से सामान्यतया प्रतीति (प्राप्ति) करके, अथवा यह कथन उक्तरूप ही है, इस प्रकार ही है, यह विशेषतया निश्चय करके, अथवा संवेगादिजनित फलानुभवरूप विश्वास से प्रतीति

---

१ उत्तरा बृ वृत्ति, अ रा कोश भा ७, पृ ५०४, २ वही, भा ७, पृ ५०४

करके, (३) **रोयइत्ता**—तदनन्तर उक्त अध्ययन मे कथित अनुष्ठानविषयक या उक्त अध्ययन-विषयक रुचि (आत्मा मे उसको अभिलाषा) उत्पन्न करके (क्योकि किसी वस्तु के गुणकारी होने पर भी कठोर या कष्टसाध्य होने से कटु-औषध की तरह अरुचि हो सकती है, इसलिए तद्विषयक रुचि होना अनिवार्य है।) (४) **फासित्ता**—फिर उस अध्ययन मे उक्त अनुष्ठान का स्पर्श करके अर्थात् आचरण मे लाकर, (५) **पालइत्ता**—तत्पश्चात् अध्ययन मे विहित कार्य का अतिचारो से रक्षा करते हुए आचरण करके, (६) **तीरित्ता**—उक्त अध्ययन मे विहित कर्त्तव्य को जीवन के अन्तिम क्षण तक पार लगा कर, (८) **कित्तइत्ता**—उसका कीर्त्तन–गुणानुवाद करके अथवा स्वाध्याय करके, (९) **सोहइत्ता** फिर अध्ययन मे कथित कर्तव्य का आचरण करके उन-उन गुण-स्थानो को प्राप्त करके उत्तरोत्तर शुद्ध करके, (११) **आराहित्ता**—फिर उत्सर्ग और अपवाद मे कुशलता प्राप्त करके आजोवन उस ताव का सेवन करके, (११) **आणाए अणुपालइत्ता**—तदनन्तर गुरु-आज्ञा से सतत अनुपालन—सेवन करके, अथवा—मन-वचन-कायरूप त्रियोग (चिन्तन, भाषण और रक्षण) से स्पर्श करके, इसी प्रकार त्रियोग से पालन करके, या आवृत्ति से रक्षा करके, गुरु के समक्ष यह निवेदन (कीर्त्तन) करके कि मैंने इसे इस प्रकार पढा है तथा गुरु की तरह अनुभाषणादि से शुद्ध करके, उत्सूत्रप्ररूपणादि दोषो के परिहारपूर्वक आराधन करके। यह प्रस्तुत अध्ययन मे पराक्रम का क्रम है।

इस क्रम से सम्यक्त्व मे पराक्रम करने पर जीव सिद्ध होते है, सिद्धि प्राप्त कर लेते है, बुद्ध होते है—घातिकर्मो के क्षय से बोध-केवल-ज्ञान पाते है, मुक्त होते है—भवोपग्राही शेष चार कर्मो के क्षय से मुक्त हो जाते है, फिर परिनिर्वृत्त (परिनिर्वाणप्राप्त) होते है, अर्थात् समग्र कर्मरूपी दावानल की शान्ति से शान्त हो जाते है और इस कारण (शारीरिक-मानसिक) समस्त दु खो का अन्त करते है अर्थात्—मुक्तिपद प्राप्त करते है।[1]

अध्ययन में वर्णित अर्थाधिकार—प्रस्तुत अध्ययन मे सवेग से लेकर अकर्मता तक ७३ बोलो के स्वरूप और अप्रमादपूर्वक की गई उक्त बोलो की साधना से होने वाले फलो की चर्चा की गई है।[2]

१. संवेग का फल

२—**सवेगेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?**

सवेगेण अणुत्तर धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए सवेग हव्वमागच्छइ। अणन्ताणु-बन्धिकोह-माण-माया-लोभे खवेइ। नव च कम्म न बन्धइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दसणाराहए भवइ। दसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहण नाइक्कमइ॥

[२ प्र] भन्ते ! सवेग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] सवेग से जीव अनुत्तर धर्मश्रद्धा को प्राप्त करता है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही

---

१ बृहद्वृत्ति, अभि रा कोष भा ७, पृ ५०७

२ वही, साराश, भा ७, पृ ५०४

सवेग आता है। (तब जीव) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लाभ का क्षय करता है और नए कर्मों का बन्ध नहीं करता। उस (अनन्तानुबन्धीकषायक्षय—) निमित्तक मिथ्यात्व-विशुद्धि करके (जीव) सम्यग्दर्शन का आराधक हो जाता है। दर्शनविशोधि के द्वारा विशुद्ध होकर कई जीव उसी भव (जन्म) से सिद्ध (मुक्त) हो जाते है। (दर्शन-) विशोधि से विशुद्ध होने पर (आयुष्य के अल्प रह जाने से जिनके कुछ कर्म बाकी रह जाते है, वे) भी तीसरे भव का अतिक्रमण नही करते (अर्थात् तीसरे भव मे अवश्य ही मोक्ष चले जाते है)।

विवेचन—संवेग के विविध रूप—(१) सम्यक् उद्वेग अर्थात् मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा सवेग, (२) मनुष्यजन्म और देवभव के सुखो के परित्यागपूर्वक मोक्षसुखाभिलाषा, (३) मोक्षाभिलाषा, (४) नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवभवरूप ससार के दु खो से नित्य डरना, (५) धर्म मे, धर्मफल मे, अथवा दर्शन मे हर्ष अथवा परम उत्साह होना, अथवा धार्मिक पुरुषो के प्रति अनुराग, पचपरमेष्ठी मे प्रीति होना सवेग है। (६) तत्त्व, धर्म, हिंसा से विरति, राग-द्वेष-मोहादि से रहित देव एव समस्त ग्रन्थो से रहित निर्ग्रन्थ गुरु मे अविचल अनुराग होना भी सवेग है।[1]

संक्षेप में संवेग-फल—(१) उत्कृष्ट धर्मश्रद्धा, (२) परमधर्मरुचि से मोक्षाभिलाषा (ससारदु खभीरुता), (३) अनन्तानुबन्धीकषायक्षय, (४) नवकर्मबन्धन-निरोध, (५) मिथ्यात्वक्षय से क्षायिक निरतिचार सम्यग्दर्शन का आराधन होना, (६) सम्यक्त्वविशुद्धि से आत्मा निर्मल हो जाने पर या तो उसी भव मे या तीसरे भव तक मे अवश्य मुक्ति की प्राप्ति।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षणो मे दूसरा लक्षण है। सम्यक्त्व के लिए इसका होना अनिवार्य है।[2]

नवं च कम्मं न बंधइ : आशय—इस पक्ति का आशय है कि यह तो नही कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टि के अशुभकर्म का बन्ध नही होता बल्कि कषायजनित अशुभकर्मबन्ध चालू रहता है। अत इस पक्ति का आशय शान्त्याचार्य के अनुसार यह है कि जिसके अनन्तानुबन्धीचतुष्टय सर्वथा क्षीण हो जाता है, जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, उसके नये सिरे से मिथ्यादर्शनजनित कर्मबन्ध नही होता।[3]

२. निर्वेद से लाभ

३—निव्वेएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेय हव्व मागच्छइ। सव्वविसएसु

---

१ (क) आचारागचूर्णि १।४३ (ख) दशवैकालिक १ अ टीका (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७

(घ) नारकतिर्यग्मनुष्यदेवभवरूपात् ससारदु खान्नित्यभीरुता सवेग। —सर्वार्थसिद्धि ६।२४

(ड) द्रव्यसग्रहटीका ३५।११२।७ (च) पचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४३१

सवेग परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्त।
सधर्मेष्वनुरागो वा, प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥

(छ) तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे राग-द्वेष-मोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, सवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुराग॥ —योगविंशिका

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७-५७८ (साराश)

३ वही, पत्र ५७८

विरज्जइ । सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भपरिच्चायं करेइ । आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ ।।

[३ प्र] भते ! निर्वेद से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी कामभोगो से शीघ्र ही विराग को प्राप्त होता है, (क्रमश·) सभी विषयो से विरक्त हो जाता है । समस्त विषयो से विरक्त होकर वह आरम्भ का त्याग कर देता है । आरम्भपरित्याग करके ससारमार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धिमार्ग को प्राप्त होता है ।

विवेचन—निर्वेद के लक्षण—(१) ससार-विषयो के त्याग की भावना, (२) ससार से वैराग्य, (३) ससार से उद्विग्नता, (४) ससार-शरीर-भोग-विरागता, (५) समस्त अभिलाषाओ का त्याग, (६) सवेग विधिरूप होता है, निर्वेद निषेधात्मक ।[१]

निर्वेद-फल—(१) सर्व कामभोगो तथा विषयो से विरक्ति, (२) विषयविरक्ति के कारण आरम्भ-परित्याग, (३) आरम्भ-परित्याग के कारण ससारपरिभ्रमणमार्ग का विच्छेद और (४) अन्त मे सिद्धिमार्ग की प्राप्ति ।[२]

३. धर्मश्रद्धा का फल

४—धम्मसद्धाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ । अगारधम्मं च णं चयइ । अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाण दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईण वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ।।

[४ प्र] भते ! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ] धर्मश्रद्धा से (जीव) साता-सुखो, अर्थात्—सातावेदनीय कर्मजनित वैषयिक सुखो की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, अगारधर्म (गृहस्थसबधी प्रवृत्ति) का त्याग करता है । अनगार हो कर जीव छेदन-भेदन आदि शारीरिक तथा सयोग आदि मानसिक दु खो का विच्छेद (विनाश) कर डालता है और अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है ।

विवेचन—धर्मश्रद्धा का अर्थ है—श्रुतचारित्ररूप धर्म का आचरण करने की अभिलाषा, तीव्र धर्मेच्छा ।[३]

रज्जमाणे विरज्जइ—पहले राग (विषयसुखो के प्रति आसक्ति) करता हुआ विरक्त हो जाता है ।[४]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति ५७८— '·····**निर्वेदेन—सामान्यतः ससारविषयेण कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण** ·· ····।
(ख) बृहत्कल्प ३ उ (ग) उत्तरा अ १८ वृत्ति
(घ) '**निर्वेद· ससार-शरीर-भोगविरागतः।**' —मोक्षप्राभृत ८२ टीका
(ङ) '**त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो** · ····' —पचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३
(च) वही, गा ४४२

२ उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८ (साराश)

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८ ४ वही, पत्र ५७८

छेयण-भेयण-संजोगाईणं—छेदन—तलवार आदि से टुकडे कर देना, काटना। भेदन का अर्थ है—भाले आदि से फाड़ना (विदारण) करना। सयोग—अनिष्टसम्बन्ध, आदि शब्द से इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि।[1]

तीव्र धर्मश्रद्धा का महाफल—व्यवहारसूत्र के अनुसार तीव्र धर्मश्रद्धा स्वभावत: असंसर्गकारिणी होती है, उससे बन्धन सर्वथा छिन्न हो जाते है, अर्थात्—धर्मश्रद्धावान् सर्वत्र ममत्वरहित हो जाता है। ऐसा साधक अकेला हो या परिषद् मे, सर्वत्र, सभी परिस्थितियो मे आत्मा की रक्षा करता है।[2]

४. गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषा का फल

५—गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गईओ निरुम्भइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्स-देवसोग्गईओ निबन्धइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ।

पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ॥

[५ प्र] गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से, भगवन्! जीव क्या (फल) प्राप्त करता है?

[उ] गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव विनय-प्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। विनय-प्रतिपन्न व्यक्ति (परिवादादिरूप) आशातनारहित स्वभाव वाला होकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध कर देता है। वर्ण, सज्वलन, भक्ति और बहुमान के कारण वह मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगति (आयु) का बन्ध करता है। श्रेष्ठ गति और सिद्धि का मार्ग प्रशस्त (शुद्ध) करता है। विनयमूलक सभी (प्रशस्त) कार्यों को साधता (सिद्धि करता) है। बहुत-से दूसरे जीवो को भी विनयी बना देता है।

विवेचन—शुश्रूषा : स्वरूप—(१) गुरु के आदेश को विनयपूर्वक सुनने की इच्छा, (२) परिचर्या, (३) न अतिदूर और न अतिनिकट, किन्तु विधिपूर्वक सेवा करना, (४) गुरु आदि की वैयावृत्य, (५) सद्‌बोध तथा धर्मशास्त्र सुनने की इच्छा।[3]

विणयपडिवत्ति—विनय का प्रारम्भ अथवा विनय का अगीकार।

विनयप्रतिपत्ति के चार अंग—प्रस्तुत सूत्र (५) मे विनयप्रतिपत्ति के चार अग बताए गए

---

१ छेदन—खड्गादिना द्विधाकरणम्, भेदन—कुन्तादिना विदारणम्, आदि शब्दस्येहापि सम्बन्धात् ताडनादयश्च गृह्य ते। सयोग—प्रस्तावादनिष्टसम्बन्ध। आदि शब्दादिष्टवियोगादिग्रह। तत छेदनभेदनादिना शारीरिकदु खाना, सयोगादिना मानसदु:खाना व्यवच्छेद। —बृहद्‌वृत्ति, पत्र ५७८

२ निस्सग्गुसग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबधणा।
एगो वा परिसाए वा अप्पाणं सोऽभिरक्खइ॥ —व्यवहारसूत्र, उ १

३. (क) सूत्रकृताग श्रु. १, अ ९ (ख) दशवैकालिक अ ९, उ १ (ग) अष्टक २५,
(घ) सद्‌बोध। धर्मशास्त्रश्रवणेच्छा —पंचाशक ६ विवरण

हैं—(१) वर्ण श्लाघा—गुणगुरु व्यक्ति की प्रशसा, (२) सज्वलन-गुणप्रकाशन, (३) भक्ति—हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर खड़ा होना, आदर देना आदि और (४) बहुमान—आन्तरिक प्रीतिविशेष या वात्सल्य-वश मन मे आदरभाव ।[1]

मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति—यो तो मनुष्यगति और देवगति, ये दोनो सुगतियाँ हैं, किन्तु जब मनुष्यगति मे म्लेच्छता दरिद्रता, अगविकलता आदि मिलती है और देवगति मे निम्नतम निकृष्ट जाति, किल्विषीपन आदि मिलते हैं, तब उन्हे दुर्गति समझना चाहिए ।[2]

५. आलोचना से उपलब्धि

६—आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाए ण माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणन्तसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जणयइ । उज्जुभावपडिवन्ने य ण जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बन्धइ । पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ।

[६ प्र.] भते ! आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] आलोचना से मोक्षमार्ग मे विघ्नकारक और अनन्त ससारवर्द्धक मायाशल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शनरूप शल्य को निकाल देता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है । ऋजुभाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है । अत: वह स्त्रीवेद और नपु सकवेद का बन्ध नही करता, यदि पूर्व-बद्ध हो तो उसकी निर्जरा करता है ।

विवेचन—आलोचना—(१) गुरु के समक्ष अपने दोषो का प्रकाशन, अथवा (२) अपने दैनिक जीवन मे लगे हुए दोषो का स्वय निरीक्षण—स्वावलोकन, आत्मसम्प्रेक्षण, (३) गुणदोषो की समीक्षा ।[3]

तीन शल्य—शल्य कहते है—तीखे काटे, तीक्ष्ण बाण या अन्तर्व्रण (अन्दर के घाव), अथवा पीडा देने वाली वस्तु को ।

जैनागमो मे शल्य के तीन प्रकार बताए गये हैं—माया, निदान और मिथ्यादर्शन । माया, निदान और मिथ्यादर्शन, इन तीन शल्यो की जिन से उत्पत्ति होती है, ऐसे कारणभूत कर्म को द्रव्य शल्य और इनके उदय से होने वाले जीव के माया, निदान एवं मिथ्यादर्शनरूप परिणाम को भावशल्य कहते हैं ।

---

१ विनयप्रतिपत्ति —प्रारम्भे अगीकारे वा ।
वर्ण श्लाघा, सज्वलन—गुणोद्भासनम्, भक्ति —अजलिप्रग्रहादिका, बहुमानम्-आन्तरप्रीतिविशेष ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९

२ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २३७

३. (क) उत्तरा (गु भाषान्तर) भा. २, पत्र २३७
(ख) सपिक्खए अप्पगमप्पएण । —दशवैकालिक अ ९, उ ३
(ग) आलोचना—गुणदोषसमीक्षा ।

माया— बाहर से साधुवेष और अन्तर मे वचकभाव या दूसरो को प्रसन्न करने की वृत्ति।

निदान—तप, धर्माचरण आदि की वैषयिक फलाकाक्षा और **मिथ्यादर्शन**—धर्म, जीव, साधु, देव और मुक्ति आदि को विपरीतरूप मे जानना-मानना। ये तीनो मोक्षपथ मे विघ्नकर्ता हैं। इन्हे आलोचनाकर्ता उखाड़ फेंकता है।[1]

६. निन्दना से लाभ

७—निन्दणयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

निन्दणयाए ण पच्छाणुताव जणयइ। पच्छाणुतावेण विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ करणगुणसेढिं पडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।

[७ प्र] भते ! निन्दना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] निन्दना से पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप से विरक्त होता हुआ व्यक्ति करणगुण-श्रेणि को प्राप्त होता है। करणगुणश्रेणि-प्रतिपन्न अनगार मोहनीय कर्म का क्षय करता है।

विवेचन—निन्दना—(१) स्वय के द्वारा स्वय के दोषो का तिरस्कार, (२) आत्मसाक्षी-पूर्वक-स्वय किये हुए दोषो को प्रकट करना, या उन-सम्बन्धी पश्चात्ताप करना, (३) स्वदोषो का पश्चात्ताप करना।[2]

करणगुणश्रेणि : व्याख्या—'करणगुणश्रेणि' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—अपूर्वकरण (पहले कदापि नही प्राप्त मन के निर्मल परिणाम) से होने वाली गुणहेतुक कर्मनिर्जरा की श्रेणि। करण आत्मा का विशुद्ध परिणाम है। करणश्रेणि का अर्थ यहाँ प्रसगवश क्षपकश्रेणि है। मोहनाश की दो प्रक्रियाएँ हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणि। जिससे मोह का क्रम से उपशम होते-होते अन्त मे सर्वथा उपशान्त हो जाता है, अन्तर्मुहूर्त के लिए उसका उदय मे आना बन्द हो जाता है, उसे उपशमश्रेणि कहते है। उपशमश्रेणि से मोह का सर्वथा उद्घात नही होता। इसलिए यहाँ क्षपकश्रेणि ही ग्राह्य है। क्षपकश्रेणि मे मोह क्षीण होते-होते अन्त मे सर्वथा क्षीण हो जाता है, मोह का एक दलिक भी शेष नही रहता। क्षपकश्रेणि आठवेगुणस्थान से प्रारम्भ होती है। आध्यात्मिक विकास की इस भूमिका का नाम अपूर्वकरणगुणस्थान है। यहाँ परिणामो की धारा इतनी विशुद्ध होती है, जो पहले कभी नही हुई थो, इसो कारण यह 'अपूर्वकरण' कहलाती है। आगामी क्षणो मे उदित होने वाले मोहनीयकर्म के अनन्तप्रदेशी दलिको को उदयकालीन प्राथमिक क्षण मे ला कर क्षय कर देना भावविशुद्धि की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। प्रथम समय से दूसरे समय मे कर्म-पुद्गलो का क्षय असंख्यातगुण अधिक होता है। दूसरे से तीसरे समय मे असख्यातगुण अधिक और तीसरे से चौथे मे असख्यातगुण अधिक। इस प्रकार कर्मनिर्जरा की यह तीव्रगति प्रत्येक समय से अगले समय मे असख्यातगुणी अधिक होती जाती है। कर्मनिर्जरा की यह धारा असख्यातसमयात्मक एक

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ७।१८।३५६ (ख) भगवती आराधना २५।८८

२. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ५८०

(ख) 'आत्मसाक्षि-दोषप्रकटन निन्दा।' —समयसार तात्पर्यवृत्ति ३०६।३८८।१२

(ग) पचाध्यायी उत्तरार्द्ध

अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है। इस प्रकार मोहनीयकर्म निर्वीर्य बन जाता है। इसे ही जैन परिभाषा मे क्षपकश्रेणी कहते हैं। क्षपकश्रेणि से ही केवलज्ञान प्राप्त होता है।[1]

७. गर्हणा से लाभ

८—गरहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ। पसत्थजोग-पडिवन्ने य णं अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

[८ प्र] भन्ते ! गर्हणा (गर्हा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] गर्हणा से जीव को अपुरस्कार प्राप्त होता है। अपुरस्कार प्राप्त जीव अप्रशस्त योग (मन-वचन-काया के व्यापारो) से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगो मे प्रवृत्त होता है। प्रशस्त-योग प्राप्त अनगार अनन्त (ज्ञान-दर्शन—) घाती पर्यायो (ज्ञानावरणीयादि कर्मों के परिणामो) का क्षय करता है।

विवेचन—गर्हणा (गर्हा) : लक्षण—(१) दूसरो के समक्ष अपने दोषो को प्रकट करना, (२) गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना, (३) प्रमादरहित होकर अपनी शक्ति के अनुसार उन कर्मों के क्षय के लिए पचपरमेष्ठी के समक्ष आत्मसाक्षी से उन रागादि भावो का त्याग करना गर्हा है।[2]

अपुरक्कार— अपुरस्कार—यह गुणवान् है, इस प्रकार का गौरव देना पुरस्कार है। इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव अर्थात् गौरव का न होना अपुरस्कार है।

अप्पसत्थेहिंतो : आशय—गौरव-भाव से रहित व्यक्ति कर्मबन्ध के हेतुभूत अप्रशस्त गुणो से निवृत्त होता है।

अणंतघाइपज्जवे : आशय—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, आत्मा के ये गुण अनन्त हैं। ज्ञान और दर्शन के आवरक परमाणुओ को क्रमश ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का विघातक मोहनीयकर्म कहलाता है और पाच लब्धियो का विघातक अन्तराय-कर्म है। ये चारो आत्मा के निजगुणो का घात करते है। अत इस पक्ति का अर्थ होगा—आत्मा के अनन्त विकास के घातक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के जो 'पर्यव' है अर्थात्—कर्मों की (विशेषत ज्ञाना-वरणादि कर्मों की) विशेष परिणतियो का क्षय कर देता है।[3]

---

१ (क) करणेन—अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणि करणगुणश्रेणि ।
(ख) प्रक्रमात् क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८० (ग) प्रक्रमात् क्षपकश्रेणि।—सर्वार्थसिद्धि

२ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८० (ख) 'गुरुसाक्षिदोषप्रकटन गर्हा।'— समयसार ता व ३०६
(ग) पचाध्यायी, उत्तरार्द्ध ४७४ **गर्हणं तत्परित्यागः पंचगुर्वात्मसाक्षिकः।**
निष्प्रमादतया नूम शक्तितः कर्महानये ॥

३. " ' " 'ज्ञानावरणीयादिकर्मण. तद्घातित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् (पर्यवान्) क्षपयति क्षय नयति।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८०,

८ से १३. सामायिकादि षडावश्यक से लाभ

९—सामाइएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥

[९ प्र] भन्ते ! सामायिक से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] सामायिक से जीव सावद्ययोगो से विरति को प्राप्त होता है।

१०—चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएण दंसणविसोहिं जणयइ ॥

[१० प्र.] भन्ते ! चतुर्विशतिस्तव से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] चतुर्विशतिस्तव से जीव दर्शन-विशोधि प्राप्त करता है।

११—वन्दणएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं निबन्धइ । सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

[११ प्र] भन्ते ! वन्दना से जीव क्या उपलब्ध करता है ?

[उ] वन्दना से जीव नीचगोत्रकर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है, उसकी आज्ञा (सर्वत्र) अबाधित होती है (अर्थात्—आज्ञा शिरोधार्य हो, ऐसा फल प्राप्त होता है) तथा दाक्षिण्यभाव (जनता के द्वारा अनुकूलभाव) को प्राप्त करता है।

१२—पडिक्कमणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेण वयछिद्दाइं पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥

[१२ प्र] भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतो के छिद्रो को बद कर देता है। व्रत-छिद्रो को बद कर देने वाला जीव आश्रवो का निरोध करता है, उसका चारित्र धब्बो (अतिचारो) से रहित (निष्कलक) होता है, वह अष्ट प्रवचनमाताओ के आराधन मे सतत उपयुक्त (सावधान) रहता है तथा (सयम-योग मे) अपृथक्त्व (एकरस तल्लीन) हो जाता है तथा सम्यक् समाधियुक्त हो कर विचरण करता है।

१३—काउस्सग्गेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीय-पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ॥

[१३ प्र] भन्ते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारों का विशोधन करता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को उतार (हटा) देने वाले भारवाहक की तरह निर्वृत्तहृदय (स्वस्थ—शान्त चित्त) हो जाता है तथा प्रशस्त ध्यान मे मग्न हो कर सुखपूर्वक विचरण करता है।

१४—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुम्भइ ।

[१४ प्र] भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] प्रत्याख्यान से वह आश्रवद्वारो (कर्मबन्ध के हेतुओ—हिंसादि) का निरोध कर देता है।

विवेचन—सामायिक आदि छह आवश्यक—(१) **सामायिक**—समस्त प्राणियो के प्रति समभाव तथा जीवन-मरण, सुख-दु ख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशसा, मानापमान, शत्रु-मित्र, सयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, मणि-पाषाण एव स्वर्ण-मृत्तिका में समभाव—रागद्वेष का अभाव सामायिक है। इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओ मे राग-द्वेष न करना, बल्कि साक्षीभाव से उनका ज्ञाता—द्रष्टा बन कर एकमात्र शुद्ध चैतन्यमात्र (समतास्वभावी आत्मा) में स्थित रहना, सर्व सावद्ययोगो से विरत रहना सामायिक है।[1] (२) **चतुर्विंशतिस्तव**—ऋषभदेव से लेकर भ महावीर तक, वर्तमानकालीन २४ तीर्थंकरो का स्तव अर्थात् —गुणोत्कीर्त्तन।[2] (३) **वन्दना**—आचार्य, गुरु आदि की वन्दना—यथोचित-प्रतिपत्तिरूप विनय-भक्ति।[3] (४) **प्रतिक्रमण**—(१) स्वकृत अशुभयोग से वापिस लौटना, (२) स्वीकृत ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे प्रमादवश जो अतिचार (दोष) लगे हो, जीव स्वस्थान से परस्थान मे गया हो. सयम से असयम मे गया हो, उससे वापिस लौटना, निराकरण करना, निवृत्त होना।[4] (५) **कायोत्सर्ग**—शरीर का आगमोक्त नीति से (अतिचारो की शुद्धि के निमित्त) उत्सर्ग, ममत्वत्याग करना।[5] (६) **प्रत्याख्यान**—(१) भविष्य मे दोष न हो, उसके लिए वर्तमान मे ही कुछ न कुछ त्याग, नियम, व्रत, तप आदि ग्रहण करना, अथवा (२) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन छहो मे शुभ मन-वचन-काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग—प्रत्याख्यान करना, (३) अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वगत एव सहेतुक, इस प्रकार के १० सार्थक प्रत्याख्यान करना।[6]

१ (क) मूलाराधना २१।५२२ से ५-६ (ख) धवला ८।३, ४१ (ग) अनुयोगद्वार
(घ) राजवार्तिक ६।२४।११ (ङ) अमितगतिश्रावकाचार ८।३१

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

३ वही, पत्र ५८१

४ (क) स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्ति प्रतिक्रमणम्। —भगवती आराधना वि, ६।३२।१९
(ख) प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्। —गोमट्टसार जीवकाण्ड ३६७

५ काय शरीर, तस्योत्सर्ग —आगमोक्तरीत्या परित्य । कायोत्सर्ग । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

६. (क) अनागतदोषापोहन प्रत्याख्यानम्। राजवार्तिक ९।२४।११
(ख) णामादीण छण्ण अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण।
पच्चक्खाण णेय अणागय चागमे काले ॥ —मूलाराधना २७
(ग) अणागदमविकत कोडीसहिद निखंडिद चेव।
सागारमणागार परिमाणगद अपरिसेस ॥ —मूलाराधना ६३७-६३९

१४. स्तव-स्तुति-मंगल से लाभ

१५—थव-थुइमंगलेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

थव-थुइमंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ । नाण-दंसण-चरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ ।।

[१५ प्र] भगवन् ! स्तव-स्तुति-मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] स्तव-स्तुति-मंगल से जीव को ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप बोधिलाभ प्राप्त होता है । ज्ञान-चारित्ररूप बोधि के लाभ से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया (मुक्ति) के योग्य, अथवा (कल्प) वैमानिक देवों में उत्पन्न होने के योग्य आराधना करता है ।

विवेचन—स्तव और स्तुति में अन्तर—यद्यपि स्तव और स्तुति, दोनों का अर्थ भक्ति-बहुमान-पूर्वक गुणोत्कीर्त्तन करना है, तथापि साहित्य की विशिष्ट परम्परानुसार स्तव का अर्थ एक, दो या तीन श्लोक वाला गुणोत्कीर्त्तन है और स्तुति का अर्थ है—तीन से अधिक अथवा सात श्लोक वाला गुणोत्कीर्त्तन, अथवा जो शक्रस्तवरूप हो, वह स्तव है और जो इससे ऊर्ध्वमुखी हो कर कथनरूप हो, वह स्तुति है ।[1]

स्तव और स्तुति दोनों द्रव्यमंगलरूप नहीं, अपितु भावमंगल रूप है ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्रबोधिलाभ का तात्पर्य—मतिश्रुतादि ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्वरूप दर्शन, विरतिरूप चारित्र, यों ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप बोधिलाभ अर्थात्—जिनप्ररूपित धर्मबोध की प्राप्ति ।[2]

१५. कालप्रतिलेखना से उपलब्धि

१६—कालपडिलेहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।।

[१६ प्र] भंते ! काल की प्रतिलेखना से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ] काल की प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीयकर्म का क्षय करता है ।

विवेचन—कालप्रतिलेखना : तात्पर्य और महत्त्व—प्रादोषिक, प्राभातिक आदि रूप काल की प्रतिलेखना अर्थात् शास्त्रोक्तविधि से स्वाध्याय, ध्यान, शयन, जागरण, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, भिक्षाचर्या, आदि धर्मक्रिया के लिए उपयुक्त समय की सावधानी या ध्यान रखना ।

साधक के लिए काल का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है । सूत्रकृतांग में बताया गया है कि अशन, पान, वस्त्र, लयन, शयन आदि के काल में अशनादि क्रियाएँ करनी चाहिए । दशवैकालिक सूत्र में सभी कार्य समय पर करने का विधान है । सामाचारी अध्ययन मुनि को स्वाध्याय आदि के

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

२. वही, पत्र ५८१

पूर्व दिन और रात्रि मे काल की प्रतिलेखना आवश्यक बताई गई है। आचारांगसूत्र मे मुनि को 'कालज्ञ' होना अनिवार्य बताया गया है।[1]

१६. प्रायश्चित्तकरण से लाभ

१७—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ। आयारं च आयारफलं च आराहेइ॥

[१७ प्र] भन्ते ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्मों की विशुद्धि करता है और उसके (व्रतादि) निरतिचार हो जाते हैं। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला साधक मार्ग और मार्गफल को निर्मल करता है। आचार और आचारफल की आराधना करता है।

विवेचन—प्रायश्चित्त : लक्षण—प्राय अर्थात् पाप की, चित्त यानी विशुद्धि को प्रायश्चित्त कहते है।[2]

मार्ग और मार्गफल के विभिन्न अर्थ—मार्ग—(१) मुक्तिमार्ग, (२) सम्यक्त्व और (३) सम्यक्त्व एव ज्ञान, **मार्गफल**—ज्ञान।

प्रस्तुत मे मार्ग का अर्थ 'सम्यक्त्व' ही उचित है, क्योकि चारित्र (आचार और आचारफल) की आराधना इसी सूत्र मे आगे बताई है। इसीलिए दर्शन मार्ग है और उसकी विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है, इसलिए वह (ज्ञान) मार्गफल है।

निष्कर्ष यह है कि प्रायश्चित्त से क्रमश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्धि होनी है।[3]

१७. क्षमापना से लाभ

१८—खमावणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१ (ख) 'अन्न अन्नकाले, पान पानकाले, वत्थ वत्थकाले, लेण लेणकाले, सयण सयणकाले।' —सूत्रकृताग २।१।१५
(ग) 'काले काल समायरे।' —५।२।४
(घ) उत्तरा अ २६, गा ४६ **पडिक्कमित्तु कालस्स, काल तु पडिलेहए।**
(ङ) **'कालण्णू'** —आचाराग १ श्रु अ ८, उ ३

२ 'प्राय पाप विजानीयात् चित्त तस्य विशोधनम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८२

३ मार्ग —इह ज्ञानप्राप्तिहेतु सम्यक्त्वम्, यद्वा मार्गं चारित्रप्राप्तिनिबन्धतया दर्शनज्ञानाख्यम्, अथवा मार्गं च मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि तत्फल च ज्ञानम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८३

[१८ प्र] भन्ते ! क्षामणा—क्षमापणा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] क्षमापणा से जीव को प्रह्लादभाव प्राप्त होता है। प्रह्लादभाव से सम्पन्न साधक सर्व प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के प्रति मैत्रीभाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भाव-विशुद्धि करके निर्भय हो जाता है।

विवेचन—क्षामणा—क्षमापना : तात्पर्य—किसी दुष्कृत या अपराध के अनन्तर गुरु या आचार्य के समक्ष—'गुरुदेव ! मेरा अपराध क्षमा कीजिए, भविष्य मे मैं यह अपराध नही करूगा, इत्यादिरूप से क्षमा मागना क्षामणा और उनके द्वारा क्षमा प्रदान करना 'क्षमापना' है।[1]

क्षमापना के तीन परिणाम—क्षमापना के उत्तरोत्तर तीन परिणाम निर्दिष्ट हैं—(१) प्रह्लाद-भाव, (२) सर्वभूतमैत्रीभाव एव (३) निर्भयता। भय के कारण हैं—राग और द्वेष, उनसे वैरविरोध की वृद्धि होती है एव आत्मा की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। अत. क्षमापना ही इन सबको टिकाए रखने के लिए सर्वोत्तम उपाय है।[2]

१८ से २४ स्वाध्याय एवं उसके अंगों से लाभ

१९—सज्झाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

[१९ प्र] भन्ते ! स्वाध्याय मे जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीयकर्म का क्षय करता है।

२०—वायणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टए सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

[२० प्र] भन्ते ! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुत (शास्त्रज्ञान) की आशातना से दूर रहता है। श्रुत की अनाशातना मे प्रवृत्त हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन लेता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक (कर्मों की) महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

२१—पडिपुच्छणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तऽत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिन्दइ ॥

[२१ प्र] भन्ते ! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय (—दोनो) को विशुद्ध कर लेता है तथा काक्षामोहनीय को विच्छिन्न कर देता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४

२ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ २९१-२९२

२२—परियट्टणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

[२२ प्र] भन्ते ! परावर्त्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] परावर्त्तना से व्यञ्जनो की उपलब्धि होती है और जीव व्यञ्जनलब्धि को प्राप्त करता है ।

२३—अणुप्पेहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबन्धणबद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ । दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ । तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ । बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ । आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ, सिय नो बन्धइ । असायावेयणिज्जं च ण कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ । अणाइय च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्त संसारकन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

[२३ प्र] भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] अनुप्रेक्षा से आयुष्यकर्म को छोड कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मो की प्रकृतियो के प्रगाढ बन्धन को शिथिल कर लेता है, दीर्घकालीन स्थिति को ह्रस्व (अल्प) कालीन कर लेता है, उनके तीव्र रसानुभाव को मन्दरसानुभाव कर लेता है, बहुकर्मप्रदेशो को अल्पप्रदेशो मे परिवर्तित करता है । आयुष्यकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नही करता । असातावेदनीयकर्म का पुन पुन उपचय नही करता । ससाररूपी अटवी, जो कि अनादि और अनवदग्र (अनन्त) है, दीर्घमार्ग से युक्त, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त हैं, उसे शीघ्र ही पार कर लेता है ।

२४. धम्मकहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ । धम्मकहाए ण पवयण पभावेइ । पवयणपभावे णं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥

[२४ प्र.] भन्ते ! धर्मकथा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] धर्मकथा से जीव कर्मो की निर्जरा करता है और प्रवचन की प्रभावना करता है । प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य मे शुभ फल देने वाले कर्मो का बन्ध करता है ।

२५. सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥

[२५ प्र.] भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और क्लेश को प्राप्त नही होता ।

विवेचन—सप्तसूत्री प्रश्नोत्तरी—सू १९ से २५ तक सात सूत्रो मे स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा एव श्रुत-आराधना से होने वाली उपलब्धियो से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरी है ।

स्वाध्याय आदि का स्वरूप—स्वाध्याय : तीन निर्वचन—(१) सुन्दर अध्ययन, (२) सुष्ठु मर्यादा सहित जिसका अध्ययन किया जाता है, (३) शोभन मर्यादा—काल वेला छोड कर पौरुषी की अपेक्षा अध्ययन करना स्वाध्याय है ।[1]

वाचना : तीन अर्थ—(१) शास्त्र की वाचना देना—अध्यापन (पाठन) करना, (२) स्वय शास्त्र बाचना-पढना, अथवा (३) गुरु या श्रुतधर से शास्त्र का अध्ययन करना । **प्रतिपृच्छना**—ली हुई शास्त्रवाचना या पूर्व-अधीत शास्त्र मे किसी विषय पर शका उत्पन्न होने पर गुरु आदि से पूछना । **परिवर्तना**—आवृत्ति करना, पूछ कर समाहित किये या परिचित विषय का विस्मरण न हो, इसलिए उस सूत्र के पाठ, अर्थ आदि का गुणन करना, बार-बार स्मरण करना । **अनुप्रेक्षा**—परिचित और स्थिर सूत्रार्थ का बार-बार चिन्तन करना, नयी-नयी स्फुरणा होना । **धर्मकथा**—स्थिरीकृत एव चिन्तत विषय पर धर्मोपदेश करना । **श्रुताराधना**—शास्त्र या सिद्धान्त की सम्यक् आसेवना ।[2]

श्रुत की अनाशातना—ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आप्तोपदेश एव आगम, ये श्रुत के पर्यायवाची है । इनकी आशातना-अवज्ञा न करना अनाशातना है ।

तीर्थधर्म का अवलम्बन :—सूत्र २० मे श्रुत की आशातना न करने वाला तीर्थधर्म का आलम्बन है । तीर्थ शब्द के अर्थ—(१) प्रवचन, (२) गणधर (३) चतुर्विधसघ, तीर्थ शब्द के इन तीनो अर्थों के आधार पर तीन तीर्थधर्म के तीन अर्थ होते है—(१) प्रवचन का धर्म (स्वाध्याय करना), (२) गणधरधर्म—शास्त्र की कर्णोपकर्णगत शास्त्रपरम्परा को अविच्छिन्न रखना, और (३) श्रमणसंघ का धर्म ।[3]

महापज्जवसाणे—महापर्यवसान—ससार का अन्त करना ।

कंखामोहणिज्ज : कांक्षामोहनीय—कांक्षामोहनीय मिथ्यात्व-मोहनीय का ही एक प्रकार है ।[4]

व्यजनलब्धि : तात्पर्य—पदानुसारिणीलब्धि या एक व्यजन के आधार पर शेष व्यजनो को उपलब्ध करने की शक्ति ।[5]

---

१ (क) अध्ययनम् अध्याय, शोभन अध्याय स्वाध्याय ।—आव ४ (ख) सुष्ठ, आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय, —स्थानाग २ स्था २ उ । (ग) सुष्ठ, आ मार्यादया-कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वा अध्याय स्वाध्याय । —धर्मसग्रह अधि ३

२ (क) वाचना—पाठनम्, (ख) पूर्वाधीतस्य सूत्रादे शकितादौ प्रश्न पृच्छना, (ग) परिवर्तना—गुणनम्, (घ) अनुप्रेक्षा—चिन्तनम्, (ङ) धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा—व्याख्या धर्मकथा ।—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८३

३ (क) तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्म —आचार, श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्म,
(ख) यदि वा तीर्थं—प्रवचन श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्म स्वाध्याय । —वही, पत्र ५८४
(ग) तित्थ पुण चाउवण्णे समणसघे, तजहा—समणा समणीओ, सावगा, सावियाओ । —भगवती. २०।८

४ मोहयतीति मोहनीय कर्म तच्च चारित्रमोहनीययमपि भवतीति विशेष्यते—कांक्षा-अन्यान्यदर्शनग्रह, उपलक्षण-त्वाच्चास्य शकादिपरिग्रह । कांक्षाया मोहनीय—कांक्षामोहनीयम्—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थ ।

५ च शब्दाद् व्यजनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धि पदानुसारितामुत्पादयति । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४

श्रुताराधना का फल—एक आचार्य ने कहा है—ज्यो-ज्यो श्रुत (शास्त्र) मे गहरा उतरता जाता है, त्यो-त्यो अतिशय प्रशम-रस मे सराबोर होकर अपूर्व आनन्द (आह्लाद) प्राप्त करता है, संवेगभाव नयी-नयी श्रद्धा से युक्त होता जाता है।[1]

२५ एकाग्र मन की उपलब्धि

२६. एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणायाए णं चित्तनिरोहं करेइ ॥

[२६ प्र] भन्ते ! मन को एकाग्रता मे स्थापित करने (सन्निवेशन) से जीव क्या उपलब्ध करता है ?

[उ] मन को एकाग्रता मे स्थापित करने से चित्त (वृत्ति) का निरोध होता है।

विवेचन—मन की एकाग्रता : आशय—(१) मन को एकाग्र—अर्थात् एक अवलम्बन मे स्थिर करना। (२) एक ही पुद्गल में दृष्टि को निविष्ट (स्थिर) करना। (३) ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता भी एकाग्रता है।[2]

चित्तनिरोध—चित्त की विकल्पशून्यता।[3]

२६ से २८ संयम, तप एवं व्यवदान के फल

२७—संजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥

[२७ प्र] भन्ते ! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] सयम से जीव अनाश्रवत्व (—आश्रवनिरोध) प्राप्त करता है।

२८—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेण वोदाण जणयइ ॥

[२८ प्र] तप से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] तप से जीव (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके) व्यवदान—विशुद्धि प्राप्त करता है।

२९—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

[२९ प्र] भन्ते ! व्यवदान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] व्यवदान से जीव अक्रिया को प्राप्त करता है। अक्रियतासम्पन्न होने के पश्चात् जीव

---

१. "जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, नव-नव संवेगसद्धस्स ॥"

२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ २७९

(ख) "एकपोग्गलनिविट्ठदिट्ठित्ति।" —अन्तकृत्. गजसुकुमालवर्णन।

३ उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण, मुनि नथमलजी) पृ २३७

सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त हो जाता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दु:खो का अन्त करता है ।

विवेचन—मोक्ष की त्रिसूत्री : संयम, तप और व्यवदान—सयम से नये कर्मों का आगमन (आश्रव) रुक जाता है, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तथा (व्यवदान) आत्मविशुद्धि हो जाती है और व्यवदान से जीव के मन, वचन और काया की क्रियाएँ रुक जाती है, आत्मा अक्रिय हो जाती है और सिद्ध बुद्ध मुक्त परिनिर्वृत्त होकर सर्व दु:खो का अन्त, कर लेता है । अत: ये तीनो क्रमशः मोक्षमार्ग के प्रमुख सोपान है ।

२९. सुखशात का परिणाम

३०—सुहसाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएण अणुस्सुयत्त जणयइ । अणुस्सुयाए ण जीवे अणुकम्पए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्तमोहणिज्ज कम्म खवेइ ।।

[३० प्र.] भगवन् ! सुखशात से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] सुखशात से विषयो के प्रति अनुत्सुकता पैदा होती है । अनुत्सुकता से जीव अनुकम्पा करने वाला, अनुद्‌भट (अनुद्धत), एव शोक रहित होकर चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय करता है ।

विवेचन—सुखशात एव उसका पचविध परिणाम—सुखशात का अर्थ है—शब्दादि वैषयिक सुखो के प्रति शात अर्थात् अनासक्ति—अगृद्धि । (१) विषयो के प्रति अनुत्सुकता, (२) अनुकम्पापरायणता, (३) उपशान्तता, (४) शोकरहितता एव अन्त मे (५) चारित्रमोहनीयक्षय, यह क्रम है ।[1]

३०. अप्रतिबद्धता से लाभ

३१—अप्पडिबद्धयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए ण निस्सगत्तं जणयइ । निस्संगत्तेण जीवे एगे, एगग्गचित्ते, दिया य राओ य असज्जमाणे, अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ।।

[३१ प्र] भगवन् ! अप्रतिबद्धता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] अप्रतिबद्धता से जीव निस्सगता को प्राप्त होता है । नि संगता से जीव एकाकी (आत्मनिष्ठ) होता है, एकाग्रचित्त होता है, दिन और रात वह सदेव सर्वत्र अनासक्त (विरक्त) और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है ।

विवेचन—प्रतिबद्धता—अप्रतिबद्धता—प्रतिबद्धता का अर्थ है—किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के पीछे आसक्तिपूर्वक बँध जाना । अप्रतिबद्धता का अर्थ इससे विपरीत है । अप्रतिबद्धता का क्रमश: प्राप्त होने वाला परिणाम इस प्रकार है—(१) नि:सगता, (२) एकाकिता-आत्मनिष्ठा, (३) एकाग्रचित्तता, (४) सदैव सर्वत्र अनासक्ति—विरक्ति एव (५) अप्रतिबद्ध विचरण ।

---

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४ पृ २८३-२८४

३१. विविक्तशयनासन से लाभ

३२—विवित्तसयणासणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ । चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते, एगन्तरए, मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ।।

[३२ प्र.] भन्ते ! विविक्त शयन और आसन से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] विविक्त (जनसम्पर्क से रहित अथवा स्त्री-पशु-नपुसक से असंसक्त एकान्त स्थान मे निवास से साधक चारित्र की रक्षा (गुप्ति) करता है। चारित्ररक्षा करने वाला जीव विविक्ताहारी (शुद्ध-सात्विक पवित्र-आहारी), दृढचारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्षभाव से सम्पन्न एवं आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि की निर्जरा (एकदेश से क्षय) करता है।

विवेचन—विविक्त निवास एवं शयनासन का महत्त्व—द्रव्य से जनसम्पर्क से दूर कोलाहल से एव स्त्री-पशु-नपुसक के ससर्ग से रहित हो एकान्त, शान्त, साधना योग्य निवास-स्थान हो, भाव से मन में भी राग-द्वेष-कषायादि से तथा वैषयिक पदार्थों की आसक्ति से शून्य एकमात्र आत्मकन्दरा मे लीन हो। शास्त्रो मे ऐसे एकान्त स्थान बताए हैं—श्मशान, शून्यगृह, वृक्षमूल आदि।"[1]

३२. विनिवर्तना से लाभ

३३—विणियट्टणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ । पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरन्तं संसारकन्तारं वीइवयइ ।

[३३ प्र] विनिवर्तना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] विनिवर्तना से जीव (नये) पाप कर्मों को न करने के लिए उद्यत रहता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से वह पापकर्मों का निवर्तन (क्षय) करता है। तत्पश्चात् चार गतिरूप ससाररूपी महारण्य (कान्तार) को पार कर जाता है।

विवेचन—विनिवर्तना : विशेषार्थ—आत्मा (मन और इन्द्रियो) का विषयो से पराङ्मुख होना। जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से—अर्थात्—आश्रवो से—बन्ध हेतुओ से साधक विनिवृत्त हो जाता है तो स्वत ही ज्ञानावरणीयादि पापकर्मों को नही बाँधने के लिए उद्यत हो जाता है तथा दूसरे शब्दो मे—वह धर्म के प्रति उत्साहित हो जाता है। तथा पापकर्म के हेतु नही रहते, तब पूर्वबद्ध कर्म स्वय क्षीण होने लगते हैं। अतः नये पापकर्म को वह विनष्ट या निवारण कर देता है। बन्ध और आश्रव दोनो अन्योन्याश्रित होते है। आश्रव के रुकते ही बन्ध टूट जाते हैं। इसलिए पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा दोनो के सहवर्ती होने से ससार-महारण्य को पार करने में क्या सन्देह रह जाता है ? यही विनिवर्तना का सुदूरगामी परिणाम है।[2]

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा २

(ख) 'सुसाणे सुन्नागारे वा रुक्खमूले व एगओ।" —उत्तरा ३५/६

२ उत्तरा बृहद्वृत्ति पत्र ५८७

३४ से ४१ प्रत्याख्यान की नवसूत्री

३४—संभोग-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोग-पच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ। निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

[३४ प्र] भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] सम्भोग के प्रत्याख्यान से आलम्बनो का क्षय (आलम्बन-मुक्त) हो जाता है। निरवलम्ब साधक के मन-वचन-काय के योग (सब प्रयत्न) आयतार्थ (मोक्षार्थ) हो जाते है। तब वह स्वय के द्वारा उपार्जित लाभ से सन्तुष्ट होता है, दूसरो के लाभ का आस्वादन (उपभोग) नही करता। (वह परलाभ की) कल्पना भी नही करता, न उसकी स्पृहा करता है, न प्रार्थना (याचना) करता है और न अभिलाषा ही करता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ साधक द्वितीय सुखशय्या को प्राप्त करके विचरता है।

३५—उवहि-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कखे, उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ।

[३५ प्र] भते ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ] उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव परिमन्थ (स्वाध्याय-ध्यान की हानि) से बच जाता है। उपधिरहित साधक आकाक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव मे क्लेश नही पाता।

३६—आहार-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ।

[३६ प्र] भन्ते ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] आहार के प्रत्याख्यान से जीव जीवन (जीने) की आशसा (कामना) के प्रयत्न को विच्छिन्न कर देता है। जीवित रहने की आशसा के प्रयत्न को छोड देने पर आहार के अभाव मे भी वह क्लेश का अनुभव नही करता।

३७—कसाय-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥

[३७ प्र.] भन्ते ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?'

[उ) कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागभाव प्राप्त होता है। वीतरागभाव को प्राप्त जीव सुख-दुःख मे समभावी हो जाता है।

३८. जोग-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[३८ प्र] भंते ! योग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] योग (मन-वचन-काया से सम्बन्धित व्यापारो) के प्रत्याख्यान से जीव अयोगत्व को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नही करता। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

३९. सरीर-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्ग-मुवगए परमसुही भवइ।

[३९ प्र] भंते ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] शरीर के प्रत्याख्यान से जीव सिद्धो के अतिशय गुणों का सम्पादन कर लेता है। सिद्धो के अतिशय गुणो से सम्पन्न जीव लोक के अग्रभाग मे पहुँच कर परमसुखी हो जाता है।

४०. सहाय-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ।

[४० प्र] भंते ! सहाय के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ] सहाय (सहायक) के प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है। एकीभाव को प्राप्त साधक एकाग्रता की भावना करता हुआ विग्रहकारी शब्द, वाक्कलह (झंझट), कलह (झगडा-टंटा), कषाय तथा तू-तू-मैं-मैं आदि से सहज ही मुक्त हो जाता है। संयम और सवर में आगे बढा हुआ वह समाधि-सम्पन्न हो जाता है।

४१. भत्त-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्त-पच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ।

[४१ प्र] भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (आहारत्याग) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] भक्त-प्रत्याख्यान से जीव अनेक सैकड़ो भवों (जन्म-मरणो) का निरोध कर लेता है।

४२. सब्भाव-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भाव-पच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

[४२ प्र] भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ] सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव को अनिवृत्ति (शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद) की प्राप्ति होती है। अनिवृत्ति से सम्पन्न अनगार केवलज्ञानी के शेष रहे हुए—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन भवोपग्राही कर्मों का क्षय कर डालता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है तथा सब दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन—सम्भोग : लक्षण—समान सामाचारी वाले साधुओं का एक मण्डली में एकत्र होकर भोजन (सहभोजन) करना तथा मुनिजनों द्वारा प्रदत्त आहारादि का ग्रहण करना संभोग है।[1]

सम्भोग-प्रत्याख्यान का आशय—श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का लक्ष्य है—आत्मनिर्भरता। यद्यपि प्रारम्भिक दशा में एक दूसरे से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, उपकरण, रुग्णावस्था में सेवा, आहार-पानी लाने का सहयोग, समवसरण, (धर्मसभा) में साथ बैठना, धर्मोपदेश साथ-साथ करना, परस्पर आदर-सत्कार-वन्दनादि के आदान-प्रदान में सहयोग लेना पड़ता है। किन्तु अधिक सम्पर्क में जहाँ गुण है, वहाँ दोष भी आ जाते हैं। परस्पर संघर्ष, कलह, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात, वैरविरोध, छिद्रान्वेषण, क्रोधादि कषाय कभी-कभी उग्ररूप धारण कर लेता है, तब असंयम बढ़ जाता है। अतः साधु को संभोग-त्याग का लक्ष्य रखना होता है, जिससे वह एकाग्रभाव में रह सके, रागद्वेषादि प्रपंचों से दूर शान्तिमय स्वस्थ संयमी जीवन यापन कर सके। ऐसा व्यक्ति स्वयंलब्ध वस्तु का उपभोग करता है, दूसरे के लाभ का न तो उपभोग करता है और न ही स्पृहा करता है, न ही मन में विषमता लाता है। ऐसा करने से दिव्य, मानुष कामभोगों से स्वतः विरक्त हो जाता है। कितना उच्च आदर्श है साधुसंस्था का! संभोगप्रत्याख्यान को आदर्श गीतार्थ होने से जिनकल्पादि अवस्था स्वीकार करने वाले साधु का है।[2]

उपधि तथा उसके त्याग का आशय—उपधि कहते हैं—वस्त्र आदि उपकरणों को, जो कि स्थविरकल्पी साधु के विकासक्रम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साधु को उपधि रखने में दो बाधाओं की संभावना व्यक्त की गई है—पलिमन्थ और क्लेश। उपधि रखने से स्वाध्याय-ध्यान आदि आवश्यक क्रियाओं में बाधा पहुँचती है, उपधि फूट-टूट जाने, चोरी हो जाने से मन में संक्लेश होता है। दूसरे के पास सुन्दर मनोज्ञ वस्तु देख कर ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं। उपधि-प्रत्याख्यान से इन दोनों दोषों तथा परिग्रह-सम्बन्धी दोषों की सम्भावना नहीं रहती। उसके प्रतिलेखन-प्रमार्जन में लगने वाला समय स्वाध्याय-ध्यान में लगाया जा सकता है। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।[3]

आहारत्याग का परिणाम—आहार-प्रत्याख्यान यहाँ व्यापक अर्थ में है। आहार-प्रत्याख्यान के दो पहलू हैं—थोड़े समय के लिए और जीवनभर के लिए। अथवा दोषयुक्त अनेषणीय,

१. 'एकमण्डल्यां स्थित्वा आहारस्य करणं सम्भोगः।' —बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष पृ. २१६

२. (क) 'दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं जहा'....... कहाए य पबधणे।' —समवायांग १२ समवाय

(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) पत्र २४८ (ग) स्थानांग स्था. ४।३।३२५

(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८: परिमन्थः स्वाध्यायादिक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थः।

अकल्पनीय आहार का त्याग करना भी इसका अर्थ है। इसके दूरगामी सुपरिणामो की चर्चा यहाँ की गई है। सबसे बडी दो उपलब्धियाँ आहार-प्रत्याख्यान से होती हैं—(१) जीने की आकाक्षा समाप्त हो जाना, (२) आहार के प्राप्त न होने से उत्पन्न होने वाला मानसिक सक्लेश न होना।[1]

कषाय-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—कष का अर्थ है ससार। उसकी आय अर्थात् लाभ का नाम कषाय है। वे चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनके चक्कर में पड़कर आत्मा सकषाय—सराग हो जाती है, जिससे आत्मा मे विषमता आती है। इष्ट-अनिष्ट, सुख-दु:ख आदि बाह्य स्थितियो मे मन कषाय (रागद्वेष) से रगा होने के कारण ससार (कर्मबन्ध) को बढाता रहता है। कषाय का त्याग होने से वीतरागता आती है और वीतरागता आते ही मन सुख-दु खादि द्वन्द्वो में सम हो जाता है।[2]

सहाय-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—सयमी जीवन मे किसी दूसरे का सहयोग न लेना सहाय-प्रत्याख्यान है। यह दो कारणो से होता है—(१) कोई साधक इतना पराक्रमी होता है कि दैनिक चर्या मे स्वावलम्बी होता है, किसी का सहारा नही लेता, (२) दूसरा इतना दुर्बलात्मा होता है कि सामुदायिक जीवन मे आने वाले उतार-चढावो या एक दूसरे को आदेश-निर्देश के आदान-प्रदान मे उसकी मानसिक समाधि भग्न हो जाती है, बार-बार की रोक-टोक से उसमे विषमता पैदा होती है। इस कारण से साधक सहाय-प्रत्याख्यान करता है। जो सघ मे रहते हुए अकेले जैसा निरपेक्ष—सहाय रहितजीवन जीता है, अथवा सामुदायिक जीवन से अलग रह कर एकाकी सयमी जीवन यापन करता है, दोनो ही कलह, क्रोध, कषाय, हम-तुम आदि समाधिभग के कारणो मे बच जाते है, फिर उनके सयम और सवर मे वृद्धि होती जाती है। मानसिक समाधि भग नही होती, कर्मबन्ध रुक जाते है।[3]

भक्त-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—आहार-प्रत्याख्यान अल्पकालिक अनशनरूप होता है, जिसमे निर्दोष उग्रतपस्या की जाती है, किन्तु भक्तप्रत्याख्यान अनातुरतापूर्वक स्वेच्छा से दृढ अध्यवसायपूर्वक अनशनरूप होता है। शरीर का आधार आहार है, जब आहार की आसक्ति ही छूट जाती है, तब स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के शरीरो का ममत्व शिथिल हो जाता है। फलत: जन्म-मरण की परम्परा एकदम अल्प हो जाती है। यही भक्तप्रत्याख्यान का सबसे बडा लाभ है।[4]

सद्भाव-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—सर्वान्तिम एव परमार्थत होने वाले प्रत्याख्यान को सद्भावप्रत्याख्यान कहते है। यह सर्वसंवररूप या शैलेशी-अवस्था रूप होता है। अर्थात्—१४ वे अयोगीकेवलीगुणस्थान मे होता है। यह पूर्ण प्रत्याख्यान हाता है। इससे पूर्व किये गए सभी प्रत्याख्यान अपूर्ण होते है, क्योकि उनके फिर प्रत्याख्यान करने को अपेक्षा शेष रहती है। जबकि १४ वे गुणस्थान की भूमिका मे आगे फिर किसी भी प्रत्याख्यान की आवश्यकता या अपेक्षा नही रहती। इसीलिए इसे सद्भाव या 'पारमार्थिक प्रत्याख्यान' कहते है। इस भूमिका मे शुक्लध्यान के

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

२ (क) कष ससार, तस्य आय लाभ. कषाय (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ३०१

३ (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ३०७ (ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर), पत्र २१०

४. 'तथाविधदृढाध्यवसायतया ससारात्पत्वापादनात्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

चतुर्थ चरण पर आरूढ साधक सिद्ध हो जाता है, इसलिए स्वाभाविक है कि फिर उसे आश्रव, बन्धन, राग-द्वेष या तज्जनित जन्ममरण की भूमिका में पुनः लौटना नही होता, सर्वथा अनिवृत्ति हो जाती है। चार अघातीकर्म भी सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।[1]

केवली कम्मंसे खवेइ : भावार्थ—केवली मे रहने वाले चार भवोपग्राही कर्मों के शेष रहे अंशों (प्रकृतियों का) भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[2]

योग-प्रत्याख्यान और शरीर-प्रत्याख्यान—योग-प्रत्याख्यान का अर्थ है—मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का त्याग और शरीर-प्रत्याख्यान अर्थात् शरीर से मुक्त हो जाना। ये दोनो क्रमभावी दशाएँ हैं। पहले अयोगिदशा आती है, फिर मुक्तदशा। अयोगिदशा प्राप्त होते ही कर्मों का आश्रव और बन्ध दोनों समाप्त हो जाते हैं, पूर्णसंवरदशा, सर्वथा कर्ममुक्तदशा आ जाती है। ऐसी स्थिति मे आत्मा शरीर से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। कर्ममुक्त एव शरीरमुक्त महान् आत्मा अजर, अमर, निराकार-निरजनरूप हो जाती है। वह लोकाग्रभाग मे जाकर अपनी शुद्ध स्वसत्ता मे स्थिर हो जाती है। उसमें ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय रहते हैं। अपने स्वाभाविक गुणो से सम्पन्न हो जाती है। यही योग-प्रत्याख्यान और शरीर-प्रत्याख्यान का रहस्य है।[3]

निष्कर्ष—प्रस्तुत ६ सूत्री प्रत्याख्यान का उद्देश्य मुक्ति की ओर बढना और मुक्तदशा प्राप्त करना है, जो कि साधक का अन्तिम लक्ष्य है।

४२ प्रतिरूपता का परिणाम

४३. पडिरूवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्ध-सम्मत्ते, सत्त-समिइसमत्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइन्दिए, विउलतव-समिइसमन्नागए यावि भवइ।

[४३ प्र.] प्रतिरूपता से, भगवन् ! जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] प्रतिरूपता से जीव लघुता (लाघव) प्राप्त करता है। लघुभूत होकर जीव अप्रमत्त, प्रकट लिंग (वेष) वाला, प्रशस्त लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व, सत्त्व (धैर्य) और समिति से परिपूर्ण, समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप एवं समितियो से सम्यक् युक्त (या व्याप्त) होता है।

---

१. (क) तत्र सद्भावेन—सर्वदा पुन करणाऽसम्भवात् परमार्थेन प्रत्याख्यान सद्भावप्रत्याख्यान, सर्वसंवररूपा शैलेशीति यावत्।

(ख) न विद्यते निवृत्ति —मुक्ति प्राप्य निवर्त्तन यस्मिस्तद् अनिवृत्ति शुक्लध्यान चतुर्थभेदरूप जनयति।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८९

२ 'केवलीकम्मंसे—कार्मग्रन्थिकपरिभाषयांऽशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि—केवलिसत्ककर्माणि-भवोपग्राहीणि क्षपयति।'

—वही, पत्र ५८९

३. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ ३०३, ३०४

विवेचन—प्रतिरूपता : स्वरूप और परिणाम—प्रतिरूप शब्द के तीन अर्थ यहाँ सगत हैं—शान्त्याचार्य के अनुसार—(१) सुविहित प्राचीन मुनियो का रूप, (२) स्थविरकल्पी मुनि के समान वेष वाला, मूलाराधना के अनुसार—(३) जिन के समान रूप (लिग) धारण करने वाला।[1]

प्रतिरूपता के दस परिणाम—(१) लाघव, (२) अप्रमत्त, (३) प्रकटलिग, (४) प्रशस्तलिंग, (५) विशुद्धसम्यक्त्व, (६) सम्पूर्ण धैर्य-समिति-युक्त, (७) विश्वसनीयरूप, (८) अल्पप्रतिलेखनावान् या अप्रतिलेखनी, (९) जितेन्द्रिय और (१०) विपुल तप और समिति से युक्त।[2]

स्थानागसूत्र मे पाच कारणो से अचेलक को प्रशस्त कहा गया है—(१) अप्रतिलेखनं, (२) प्रशस्तलाघव, (३) वैश्वासिकरूप, (४) तप-उपकरणसलीनता, (५) विपुल इन्द्रियनिग्रह। इस दृष्टि से यहाँ प्रतिरूप का जिनकल्पीसदृश वेष वाला अर्थ ही अधिक सगत लगता है। तत्त्व केवलिगम्यम्।[3]

४३ वैयावृत्त्य से लाभ

४४. वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ॥

[४४ प्र] भन्ते ! वैयावृत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] वैयावृत्य से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है।

विवेचन—वैयावृत्य का लक्षण और परिणाम—वैयावृत्य का सामान्यतया अर्थ है—नि स्वार्थ (व्यापृत) भाव से गुणिजनो की आहारादि से सेवा करना। पिछले पृष्ठो मे तप के सन्दर्भ मे वैयावृत्य के सम्बन्ध मे विस्तार से कहा जा चुका है। यहाँ वैयावृत्य से जो परम उपलब्धि होती है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। तीर्थंकर-पदप्राप्ति के २० हेतु बताए गए है, उनमे से एक प्रमुख हेतु वैयावृत्य है। वह पद आचार्यादि १० धर्ममूर्तियो की उत्कटभाव से वैयावृत्य करने पर प्राप्त होता है।[4]

४४. सर्वगुणसम्पन्नता से लाभ

४५. सव्वगुणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावित्तिं जणयइ। अपुणरावित्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।

---

१. (क) 'सुविहितप्राचीनमुनीनां रूपे।' —बृहद्वृत्ति, प १

(ख) प्रति सादृश्ये, तत प्रतीति — स्थविरकल्पिकादिसदृश रूप वेषो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता उ अ २९।४२, पत्र ५८९।५९०

(ग) मूलाराधना २।८३, ८४, ८५, ८६, ८७

२ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २४२

३. 'पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, त.—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।' —स्थानाग. ५।४५५

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९० (ख) ज्ञाताधर्मकथांग, अ ८

[४५ प्र] भगवन् सर्वगुणसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] सर्वगुणसम्पन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त जीव शारीरिक और मानसिक दु खो का भागी नही होता ।

विवेचन—सर्वगुणसम्पन्नता—आत्मा के निजी गुण, जो कि उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक हैं, तीन हैं—निरावरण ज्ञान, सम्पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) और पूर्ण (यथाख्यात) चारित्र (सर्वसवर) । ये तीन गुण परिपूर्ण रूप मे होने पर आत्मा सर्वगुणसम्पन्न होती है । इसका तात्पर्य यह है कि अकेले ज्ञान या अकेले दर्शन की पूर्णतामात्र से सर्वगुणसम्पन्नता नही होती, किन्तु जब तीनों परिपूर्ण होते है, तभी सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है । उसका तात्कालिक परिणाम अपुनरावृत्ति (मुक्ति) है और परम्परागत परिणाम है—शारीरिक, मानसिक दु खो का सर्वथा अभाव ।[1]

४५. वीतरागता का परिणाम

४६. वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिन्दइ । मणुन्नेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गन्धेसु सचित्ताचित्त-मीसएसु चेव विरज्जइ ।

[४६ प्र] भते ! वीतरागता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] वीतरागता से जीव स्नेहानुबन्धनो और तृष्णानुबन्धनो का विच्छेद करता है । मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से तथा सचित्त, अचित्त एव मिश्र द्रव्यों से विरक्त होता है ।

विवेचन—वीतरागता : अर्थ और परिणाम—वीतरागता का अर्थ है—राग-द्वेषरहितता । इसके तीन परिणाम हैं—(१) स्नेहबन्धनो का विच्छेद, (२) तृष्णाजनितबन्धनो का विच्छेद और (३) मनोज्ञ शब्दादि विषयो के प्रति विरक्ति ।[2]

स्नेहानुबन्धन और तृष्णानुबन्धन का अन्तर—पुत्र आदि मे जो मोह-ममता या प्रीति होती है और तदनुरूप बन्धन-परम्परा उत्तरोत्तर बढती है, उसे स्नेहानुबन्धन कहते हैं, जब कि धन आदि के प्रति जो आशा-लालसा होती है और तदनुरूप बन्धन-परम्परा उत्तरोत्तर बढती जाती है, उसे तृष्णानुबन्धन कहते हैं ।[3]

४६ से ४९. क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव एव मार्दव से उपलब्धि

४७. खन्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ ।

---

१ 'ज्ञानादिसर्वगुणसहितत्वे ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९०

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९० . वीतरागेन रागद्वेषाभावेन ।

३. स्नेहस्यानुकूलानि बन्धनानि पुत्रमित्रकलत्रादिषु प्रेमपाशान् तथा तृष्णाणुबन्धनानि द्रव्यादिषु आशापाशान् ।
—उ बृ. वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ६, पृ १३३६

[४७ प्र.] भंते ! क्षान्ति से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?
[उ.] क्षान्ति से जीव परीषहों पर विजय पाता है ।

४८. मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाण अपत्थणिज्जो भवइ ।

[४८ प्र.] भंते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] मुक्ति से जीव अकिंचनता प्राप्त करता है । अकिंचन जीव अर्थलोलुपी जनों द्वारा अप्रार्थनीय हो जाता है ।

४९. अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।

[४९ प्र.] भंते ! ऋजुता (सरलता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] ऋजुता से जीव काया की सरलता, भावों (मन) की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवादता को प्राप्त करता है । अविसंवाद-सम्पन्नता से जीव (शुद्ध), धर्म का आराधक होता है ।

५०. मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ । अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ।

[५० प्र.] भंते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है, अनुद्धत जीव मृदु-मार्दव भाव से सम्पन्न होकर आठ मदस्थानों को नष्ट कर देता है ।

विवेचन—क्षान्ति आदि चार : स्वरूप और उपलब्धि—क्षान्ति के दो अर्थ हैं—क्षमा और सहिष्णुता । क्षमा का लक्षण है—प्रतीकार करने की शक्ति होने पर भी प्रतीकार न करके अपकार सह लेना । सहिष्णुता का अर्थ है—तितिक्षा । दोनों प्रकार की क्षमता बढ़ जाने पर व्यक्ति परीषह-विजयी बन जाता है ।[1]

मुक्ति—अर्थात् निर्लोभ के दो परिणाम हैं—अकिंचनता अर्थात्—निष्परिग्रहत्व, एवं चोर आदि अर्थलोभी लोगों द्वारा अप्रार्थनीयता ।[2]

ऋजुता के चार परिणाम—सरलता से काया (कायचेष्टा), भाषा और भावों में सरलता तथा अविसंवादन अर्थात् दूसरों को वंचन न करना । ऐसा होने पर ही जीव सद्धर्माराधक होता है ।[3]

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९०, मुक्ति : निर्लोभता ।
३. तुलना—चउव्विहे सच्चे प. तं.—काउज्जुयया, भाउज्जुयया, भासुज्जुयया अविसंवायणाजोगे ।

मृदुता की उपलब्धियाँ तीन—(१) अनुद्धतता, (२) द्रव्य से कोमलता और भाव से नम्रता और (३) अष्ट मदस्थानो का अभाव। क्षान्ति आदि क्रोधादि पर विजय के परिणाम हैं। जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य का मद, इन ८ मद के हेतुओ को अष्ट मदस्थान कहते हैं।[1]

५० से ५२ भाव-करण-योग-सत्य का परिणाम

५१. भावसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोग-धम्मस्स आराहए हवइ।

[५१ प्र] भंते ! भावसत्य (अन्तरात्मा की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] भावसत्य से जीव भावविशुद्धि प्राप्त करता है। भावविशुद्धि मे वर्त्तमान जीव अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है। अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना मे उद्यत व्यक्ति परलोक-धर्म का आराधक होता है।

५२. करणसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

[५२ प्र] भन्ते ! करणसत्य (कार्य की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] करणसत्य से जीव करणशक्ति (प्राप्त कार्य को सम्यक्तया सम्पन्न करने की क्षमता) प्राप्त कर लेता है। करणसत्य मे वर्त्तमान जीव 'यथावादी तथाकारी' (जैसा कहता है, वैसा करने वाला) होता है।

५३ जोगसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।

[५३ प्र] भन्ते ! योगसत्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] योगसत्य से (मन, वचन और काय के प्रयत्नों को सचाई से) जीव योगो को विशुद्ध कर लेता है।

विवेचन—सत्य की त्रिपुटी—सत्य के अनेक पहलू हैं। पूर्ण सत्य को प्राप्त करना सामान्य साधक के लिए अतीव दुःशक्य है। परन्तु सत्यार्थी और मुमुक्षु साधक के लिए सत्य की पूर्णता तक पहुँचने हेतु प्रस्तुत तीन सूत्रो (५१-५२-५३) में प्रतिपादित त्रिपुटी की आराधना आवश्यक है। क्योंकि सत्य का प्रवाह तीन धाराओ से बहता है—भावों (आत्मभावों) की सत्यता से, करण-सत्यता से और योग-सत्यता से। इन तीनो का मुख्य परिणाम तीनों की विशुद्धि और क्षमता मे वृद्धि है।[2]

---

१. (क) तुलना—सूत्र ६७ से ७०, (ख) स्थानांग स्था. ४।१।२५४

२. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर का सारांश) भा २, पत्र २५४-२५५

५३ से ५५ गुप्ति की साधना का परिणाम

५४. मणगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ । एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ।

[५४ प्र.] भन्ते ! मनोगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता प्राप्त करता है । एकाग्रचित्त वाला जीव (अशुभ विकल्पों से) मन की रक्षा करता है और संयम का आराधक होता है ।

५५. वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वयगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ । निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ ।

[५५ प्र.] भन्ते ! वचनगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त होता है । निर्विकार (या निर्विचार) जीव सर्वथा वाग्गुप्त तथा अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त होता है ।

५६. कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए ण संवरं जणयइ । संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ।

[५६ प्र] कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] कायगुप्ति से जीव संवर (अशुभ आश्रव-प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है । संवर से कायगुप्त होकर (साधक) फिर से होने वाले पापाश्रव का निरोध करता है ।

विवेचन : मनोगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—अशुभ अध्यवसाय मे जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है । शास्त्र मे मनोगुप्ति के तीन रूप बताए हैं—(१) आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करना, (२) जिसमे धर्मध्यान का अनुबन्ध हो तथा जो शास्त्रानुसार परलोक का साधन हो, ऐसी माध्यस्थ्य परिणति हो और (३) शुभ एव अशुभ मनोवृत्ति के निरोध से योगनिरोधावस्था मे होने वाली आत्मस्वरूपावस्थानरूप परिणति हो । यही तथ्य योगशास्त्र में बताया है—समस्त कल्पनाओं से रहित होना और समभाव मे प्रतिष्ठित हो कर आत्मस्वरूप मे रमण करना मनोगुप्ति है । मनोगुप्ति के तीन सुपरिणाम हैं—(१) एकाग्रता, (२) अशुभ अध्यवसायो से मन की रक्षा और (३) समता—आत्मस्वरूपरमणता तथा ज्ञानादि रत्नत्रय रूप सयम की आराधना । मनोगुप्ति में अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति होती है, वही एकाग्रता है । इसमे चित्त का सर्वथा निरोध न होकर, अनेक आलम्बनो मे बिखरा मन एक आलम्बन मे स्थिर हो जाता है ।[१]

वचनगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—वचनगुप्ति के दो रूप हैं—(१) सर्वथा वचन का निरोध—मौन और (२) अशुभ (अकुशल) वचन का निरोध एव शुभ (कुशल) वचन में प्रवृत्ति । इसके परिणाम

---

१. (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २५५

(ख) विमुक्तकल्पनाजाल, समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्माराम मनस्तज्ज्ञै. मनोगुप्तिरुदाहृता ।। —योगशास्त्र

भी दो हैं—(१) निर्विचारता-विचारशून्यता, अथवा निर्विकारता-विकथा से मुक्त होना। (२) मौन से आत्मलीनता अथवा धर्मध्यान आदि अध्यात्मयोग से युक्तता।[1]

कायगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—शरीर को अशुभ चेष्टाओं—प्रवृत्तियों या कार्यों से हटा कर शुभ चेष्टाओं—प्रवृत्तियों या कार्यों में लगाना कायगुप्ति है। इसके दो परिणाम : (१) अशुभ कायिक प्रवृत्ति से समुत्पन्न आश्रव का निरोध रूप संवर तथा (२) हिंसादि आश्रवों का निरोध।[2]

५६-५८ मन-वचन-कायसमाधारणता का परिणाम

५७. मणसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ।

[५७ प्र] भन्ते! मन की समाधारणता से जीव को क्या प्राप्त होता है?

[उ] *मन की समाधारणता से जीव एकाग्रता प्राप्त करता है। एकाग्रता प्राप्त करके (वह)* ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त करता है। ज्ञानपर्यवों को प्राप्त करके सम्यक्त्व को विशुद्ध करता है और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है।

५८. वयसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

वयसमाहारणयाए णं वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ।

[५८ प्र] भन्ते! वाक्समाधारणता से जीव को क्या प्राप्त होता है?

[उ] वाक्समाधारणता से जीव वाणी के विषयभूत (साधारण वाणी से कथनयोग्य पदार्थ-विषयक) दर्शन के पर्यवों को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यवों को विशुद्ध करके सुलभता से बोधि को प्राप्त करता है, बोधि की दुर्लभता की निर्जरा करता है।

५९. कायसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारिकेवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

[५९ प्र] भन्ते! कायसमाधारणता से जीव क्या प्राप्त करता है?

[उ] कायसमाधारणता से जीव चारित्र के पर्यवों को विशुद्ध करता है। चारित्र-पर्यवों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करता है। यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करके केवली

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ३३१
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी) पृ २४६

२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ३३३
(ख) उत्तरा टिप्पण, पृ २४६

में विद्यमान (वेदनीयादि चार) कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन—समाधारणा का अर्थ है सम्यक् प्रकार से व्यवस्थापन या नियोजन।

मनःसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—आगमोक्त भावों के (श्रुत के) चिन्तन में मन को भलीभांति लगाना या व्यवस्थित करना। इसके चार परिणाम—(१) एकाग्रता, (२) ज्ञान-पर्यव-प्राप्ति, (३) सम्यक्त्वविशुद्धि और (४) मिथ्यात्वनिर्जरा। मन की एकाग्रता होने से वह साधक ज्ञान के विशेष-विशेष विविध तत्त्व श्रुतबोधरूप पर्यायों (प्रकारों) को प्राप्त करता है, जिससे सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है, मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।[1]

वचनसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—वचन को स्वाध्याय में भलीभांति संलग्न रखना वचनसमाधारणा है। इसके तीन परिणाम होते हैं—(१) वाणी के विषयभूत दर्शनपर्यायों की विशुद्धि, (२) सुलभबोधित्व एवं (३) दुर्लभबोधित्व का क्षय।

निष्कर्ष—वचन को सतत स्वाध्याय में लगाने से प्रज्ञापनीय दर्शनपर्याय विशुद्ध बनते हैं, फलतः अन्यथा निरूपण नहीं होता। दर्शनपर्याय की विशुद्धि ज्ञानपर्यायों के उदय से होती है।[2]

कायसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—काय को संयम की शुद्ध (निरवद्य) प्रवृत्तियों में भलीभांति संलग्न रखना कायसमाधारणा है। इसके परिणाम चार हैं—(१) चारित्रपर्यायों की शुद्धि, (२) यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि (प्राप्ति), (३) केवलियों में विद्यमान चार कर्मों का क्षय और अन्त में (४) सिद्धदशा की प्राप्ति।[3]

५९–६१ ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्नता का परिणाम

६०. नाणसपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसार-कन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥

नाण-विणय-तव-चरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयसंघायणिज्जे भवइ।

---

१ (क) मनस सम् इति सम्यक्, आङिति मर्यादाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या अवधारणं—व्यवस्थापनं मनः-समाधारणा, तया। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९२
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २५६

२. (क) वाक्समाधारणया स्वाध्याय एव सन्निवेशनात्मिकया।
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी), पृ. २४७

३. (क) कायसमाधारणया—संयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया।
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी), पृ. २४७

[६० प्र] भन्ते ! ज्ञानसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] ज्ञानसम्पन्नता से जीव सब भावों को जानता है। ज्ञानसम्पन्न जीव चातुर्गतिक ससाररूपी कान्तार (महारण्य) में विनष्ट नही होता।

जिस प्रकार सूत्र (धागे) सहित सुई कही गिर जाने पर भी विनष्ट नही होती (खोती नही), उसी प्रकार ससूत्र (शास्त्रज्ञान सहित) जीव ससार मे भी विनष्ट नही होता। (वह) ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगो को प्राप्त होता है, तथा स्वसमय-परसमय मे सघातनीय हो जाता है।

६१. दंसणसंपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे, सम्मं भावेमाणे विहरइ।

[६१ प्र] भते ! दर्शनसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] दर्शनसम्पन्नता से ससार के हेतु—मिथ्यात्व का छेदन करता है। उसके पश्चात् सम्यक्त्व का प्रकाश बुझता नही है। (फिर वह) अनुत्तर (श्रेष्ठ) ज्ञान-दर्शन से आत्मा को सयोजित करता हुआ तथा उनसे आत्मा को सम्यक् रूप से भावित करता हुआ विचरण करता है।

६२. चरित्तसंपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए ण सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमतं करेइ।

[६२ प्र] भन्ते ! चारित्रसम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] चारित्रसम्पन्नता से (साधक) शैलेशीभाव को प्राप्त कर लेता है। शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार चार अघाती कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दु खो का अन्त कर देता है।

विवेचन—ज्ञानसम्पन्नता : स्वरूप और परिणाम—प्रसगवश ज्ञान का अर्थ यहाँ श्रुतज्ञान किया गया है, उससे सम्पन्न—सम्यक् प्रकार से श्रुतज्ञानप्राप्ति से युक्त। **इसके चार परिणाम**—(१) सर्वपदार्थों का ज्ञान, (२) ससार मे विनाशरहितता (नही भटकता), (३) ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगो की संप्राप्ति और (४) स्वसिद्धान्त-परसिद्धान्त विषयक सशयछेदनकर्तृत्व।[1]

सव्वभावाहिगमं—नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुतज्ञानसम्पन्न साधक उपयोगयुक्त होने पर सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जान—देख सकता है।[2]

ससारे न विणस्सइ : आशय—ससार मे विनष्ट नही होना (रुलता नही), अर्थात् मोक्ष-मार्ग से अधिक दूर नही होता।[3]

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र २५८

२. **'तत्थ दव्वओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ, खित्तओ णं सु उ सव्वं खेत्तं जा. पा. कालओ ण सु उ सव्वकालं जा. पा, भावओ ण सु. उ. सव्वे भावे जा पासइ।'** —नन्दीसूत्र सू. ५७

३. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २५८

नाण-विणय" संपाउणइ—श्रुतज्ञानी अभ्यास करता-करता ज्ञान अर्थात् अवधि आदि ज्ञानों को तथा विनय, तप और चारित्र की पराकाष्ठा (योगों) को प्राप्त कर लेता है।[1]

ससमय-परसमय-संघायणिज्जे : दो तात्पर्य—(१) श्रुतज्ञानी स्वमत एव परमत के विद्वानो के संशयों को सम्यक् प्रकार से सघातनीय अर्थात् मिटाने—छिन्न करने के योग्य होता है, (२) स्वसमय-परसमय के व्यक्तियो के संशयछेदनार्थ सघातनीय-प्रामाणिक पुरुष के रूप मे मिलन के योग्य केन्द्र (केन्द्रीभूत पुरुष) होता है।[2]

दर्शनसम्पन्नता : स्वरूप और परिणाम—दशन का अर्थ यहाँ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) किया गया है। उक्त दर्शनसम्पन्नता से व्यक्ति भवभ्रमणहेतुरूप मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद करता है, अर्थात्—वह क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् उसका प्रकाश बुझता नही। इसका तात्पर्य यह है कि उत्कृष्टत उसी भव मे, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से तीसरे या चौथे भव मे केवलज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाने से वह बुझता नही, यानी उसके केवलज्ञान-केवलदर्शन का प्रकाश प्रज्वलित रहता है। फिर वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन (केवलज्ञान-केवलदर्शन) के साथ अपनी आत्मा को सयोजित करता (जोडता) हुआ तथा उनमे सम्यक् प्रकार से भावित-तन्मय करता हुआ विचरता है।[3]

चारित्रसम्पन्नता : तीन परिणाम—(१) शैलेशीभाव की प्राप्ति, (२) केवलिसत्क चार कर्मों का क्षय और (३) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त दशा की प्राप्ति।

'सेलेसी भावं जणयइ' : तीन अर्थ—(१) शैलेश—मेरुपर्वत की तरह निष्कम्प अवस्था को प्राप्त होता है, (२) शैल—चट्टान की भाति स्थिर ऋषि—शैलर्षि हो जाता है, अथवा (३) शील+ईश—शीलेश, शीलेश की अवस्था शैलेशी, इस दृष्टि से शैलेशी का अर्थ होता है—शील—चारित्र (सवर) की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ।[4]

६२-६६ पांचों इन्द्रियों के निग्रह का परिणाम

६३. सोइन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सोइन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६३ प्र] भते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दो मे होने वाले राग और द्वेष

---

१ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २५८

२ (क) उत्तरज्झयणिज्ज (टिप्पण) (मु नथमलजी) पृ. २४७

(ख) स्वपरसमययो' सघातनीय —प्रमाणपुरुषतया मीलनीय:" भवति। इह च स्वपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिन पुरुषा उच्यन्ते, तेऽवेव सशयादिव्यवच्छेदाय मीलनसभवात्।

३ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २५८

४ (क) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी) पृ २४७

(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा ३६८३-३६८५

का निग्रह करता है। (फिर वह) तत्प्रत्ययिक (-शब्दनिमित्तक) कर्म नहीं बांधता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६४. चक्खिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६४ प्र.] भंते ! चक्षुरिन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] चक्षुरिन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) रूपनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६५. घाणिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६५ प्र] भन्ते ! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) राग-द्वेषनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६६. जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६६ प्र.] भन्ते ! जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) तन्निमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६७. फासिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६७ प्र.] स्पर्शेन्द्रियनिग्रह से भगवन् ! जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) राग-द्वेषनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

विवेचन—पंचेन्द्रियनिग्रह : स्वरूप और परिणाम—पांचों इन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का स्वभाव अपने-अपने विषय की ओर दौड़ना या उनमें प्रवृत्त होना है। इन्द्रियनिग्रह का अर्थ है—अपने विषय की ओर दौड़ने वाली इन्द्रिय को उस ओर से हटाना। मनोज्ञ-अमनोज्ञ प्रतीत होने वाले विषयों के प्रति होने वाले रागद्वेष से रहित होना, मन को समत्व में स्थापित करना। प्रत्येक इन्द्रिय के निग्रह का परिणाम भी उसके विषय के प्रति रागद्वेष न करना है, ऐसा करने से उस निमित्त से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता। साथ ही पहले के बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।[1]

६७-७१ कषायविजय एवं प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय का परिणाम

६८. कोहविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६८ प्र] भन्ते ! क्रोधविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] क्रोधविजय से जीव क्षान्ति को प्राप्त होता है। क्रोधवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६९. माणविजएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६९ प्र] भन्ते ! मानविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ] मानविजय से जीव मृदुता को प्राप्त होता है। मानवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

७० मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[७० प्र.] भन्ते ! मायाविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मायाविजय से जीव ऋजुता को प्राप्त होता है। मायावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

७१. लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[७१ प्र] भन्ते ! लोभविजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] लोभविजय से जीव सन्तोषभाव को प्राप्त होता है। लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

---

१ उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ. ३४६ से ३४९ तक का सारांश

७२. पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ?

पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगण्ठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वि अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अन्तरायं—एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावगं, केवल-वरनाणदंसणं समुप्पाडेइ।

जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बन्धइ सुहफरिसं, दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं।

तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं, वेइयं, निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ।

[७२ प्र] भन्ते ! प्रेय (राग), द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ] प्रेय, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय पाने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए सर्वप्रथम यथाक्रम से मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का क्षय करता है। तदनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म की पांच, दर्शनावरणीयकर्म की नौ और अन्तरायकर्म की पाच, इन तीनो कर्मों की प्रकृतियो का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न (-सम्पूर्ण-वस्तुविषयक), प्रतिपूर्ण, निरावरण, अज्ञानतिमिर से रहित, विशुद्ध और लोकालोक-प्रकाशक श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त करता है।

जब तक वह सयोगी रहता है, तब तक ऐर्यापथिक कर्म बाधता है। वह बन्ध भी सुखस्पर्शी (सातावेदनीयरूप पुण्यकर्म) है। उसकी स्थिति दो समय की है। प्रथम समय मे बन्ध होता है, द्वितीय समय मे वेदन होता है और तृतीय समय मे निर्जरा होती है।

वह क्रमश बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय मे आता है, फिर वेदन किया (भोगा) जाता है, निर्जरा को प्राप्त (क्षय) हो जाता है। (फलत.) आगामी काल मे (अर्थात् अन्त मे) वह कर्म अकर्म हो जाता है।

विवेचन—कषायविजय : स्वरूप और परिणाम—कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधमोहनीयकर्म के उदय से होने वाला जीव का प्रज्वलनात्मक परिणामविशेष क्रोध है। क्रोध से जीव कृत्य-अकृत्य के विवेक से विहीन बन जाता है। क्योकि क्रोध उस विवेक को नष्ट कर देता है। 'इसका परिपाक बहुत दु खद होता है', इस प्रकार के निरन्तर विचार से जीव क्रोध पर विजय पा लेता है। क्रोध पर विजय पा लेने से जीव के चित्त मे क्षमाभाव आ जाता है। इस क्षमाभाव की पहचान यह है कि जीव इसके सद्भाव में दूसरे के कठोर—कटु वचनों को बिना किसी उत्तेजना के सह लेता है। इस कारण क्रोध के उदय से बधने वाले मोहनीयकर्मविशेष (क्रोधवेदनीय) का बन्ध नही होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

मान (अहंकार) एक कषायविशेष है। मान का निग्रह करने से जीव का परिणाम कोमल हो जाता है। फलतः इसके उदय से बंधने वाले मोहनीयकर्मविशेष का बन्ध नही होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

इसी तरह माया (कपट) पर विजय से सरलता को और लोभविजय से सन्तोष को प्राप्त होता है। और माया तथा लोभ के उदय से बंधने वाले मोहनीयकर्मविशेष का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।[1]

राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय का क्रमशः परिणाम—जब तक राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन रहता है, तब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना होती रहती है। इन पर विजय प्राप्त करने अर्थात् इनका निग्रह या निरोध करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए व्यक्ति उद्यत हो जाता है। ज्ञानादि रत्नत्रय की निरतिचार विशुद्ध आराधना से आठ कर्मों की जो कर्मग्रन्थि है, अर्थात् घातिकर्मचतुष्टय का समूह है, साधक उसका भेदन कर डालता है, जिससे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है। उसके पश्चात् शेष रहे चार अघाती कर्मों को भी सर्वथा क्षीण कर देता है और अन्त मे कर्मरहित हो जाता है।[2]

कर्मग्रन्थि तोड़ने का क्रम—प्रस्तुत सूत्र ७१ मे जो कर्मग्रन्थि अर्थात् घातिकर्मचतुष्टय के क्षय का क्रम बताया है, उसका विवरण इस प्रकार है—वह सर्वप्रथम मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों (१६ कषाय, ६ नोकषाय एव सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय) का क्षय करता है। बृहद्वृत्ति के अनुसार उसका क्रम यो है—सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय के बहुभाग को अन्तर्मुहूर्त्त मे क्षीण करता है, उसके अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व के पुद्गलों मे प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलो के साथ मिथ्यात्व के बहुभाग को क्षीण करता है और उसके अश को सम्यग्-मिथ्यात्व मे प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलो के साथ सम्यग्मिथ्यात्व को क्षीण करता है। तदनन्तर उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के अशसहित सम्यक्त्वमोह के पुद्गलो को क्षीण करता है। तदनन्तर सम्यक्त्वमोह के अवशिष्ट पुद्गलो सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय-चतुष्टय को क्षीण करना प्रारम्भ कर देता है। उसके क्षयकाल मे वह दो गति (नरक-तिर्यञ्च), दो आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी-तिर्यञ्चानुपूर्वी), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), आतप, उद्योत, स्थावरनाम, साधारण, अपर्याप्त, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि को क्षीण करता है। तत्पश्चात् इसके अवशिष्ट अश को नपुसकवेद मे प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है, उसके अवशिष्टाश को स्त्रीवेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशिष्टाश को हास्यादि षट्क मे प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। मोहनीयकर्म का क्षय करने वाला यदि पुरुष हो तो पुरुषवेद के दो खण्डो को, स्त्री या नपुसक हो तो अपने-अपने वेद के दो-दो खण्डो को हास्यादि षट्क के अवशिष्टाश-सहित क्षीण करता है। फिर वेद के तृतीय खण्ड सहित सज्वलन क्रोध को क्षीण करता है, इसी प्रकार पूर्वांशसहित संज्वलन मान-माया-लोभ को क्षीण करता है। तत्पश्चात् सज्वलन लोभ के सख्यात खण्ड किये जाते हैं। उनमे से प्रत्येक खण्ड को एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त मे क्षीण किया जाता है। उसके अन्तिम खण्ड के फिर असख्यात सूक्ष्म खण्ड होते हैं, उनमे से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ ३५१ से ३५३ तक

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २६०

किया जाता है। उसके भी अन्तिम खण्ड के असख्यात सूक्ष्म खण्ड बनते हैं, उनमे से प्रत्येक खण्ड एक-एक समय मे क्षीण किया जाता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। मोहनीय-कर्म के क्षीण होते ही छद्मस्थ वीतराग (यथाख्यात) चारित्र की प्राप्ति होती है। जो अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है। उसके जब अन्तिम दो खण्ड शेष रहते हैं, तब पहले समय मे निद्रा, प्रचला, देवगति, आनुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वज्रऋषभ के सिवाय शेष सहनन और समचतुरस्र के सिवाय शेष सस्थान, तीर्थंकर नामकर्म एव आहारक नाम कर्म क्षीण हो जाते हैं। चरम समय में जो क्षीण होता है, वह प्रस्तुत सूत्र (७१) मे उल्लिखित है। यथा—५ ज्ञानावरणीय, ६ दर्शनावरणीय और ५ अन्तराय, ये सब एक साथ ही क्षीण होते है। इस प्रकार घातिकर्मचतुष्टय के क्षीण होते ही केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाते है।[३]

केवलज्ञानी से मुक्त होने तक—केवली के जब तक भवोपग्राही कर्म शेष रहते है, तब तक वह ससार मे रहता है। उसकी स्थितिमर्यादा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत देशोन करोड पूर्व की है। जब तक केवली उक्त स्थितिमर्यादा मे सयोगी अवस्था मे रहता है, तब उसके अनुभागबन्ध एव स्थितिबन्ध नही होता, क्योकि कषायभाव मे ही कर्म का स्थिति-अनुभागबन्ध होता है। कषायरहित होने से केवली के मन-वचन-काया के योगो से ऐर्यापथिक कर्मबन्ध होता है, जिसकी स्थिति केवल दो समय की होती है। उसका बन्ध गाढ (निधत्त और निकाचित) नही होता। इसीलिए उसे बद्ध और स्पृष्ट कहा है। उसमे रागद्वेषजनित स्निग्धता न होने से दीवार पर लगे सूखे गोले की तरह पहले समय मे कर्म बधता है और दूसरे समय मे झड जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—पहले समय मे बद्ध स्पृष्ट होता है, दूसरे समय मे उदीरित अर्थात्—उदयप्राप्त और वेदित होता है, तीसरे समय मे वह निर्जीर्ण हो जाता है। अत चौथे समय वह सर्वथा अकर्म बन जाता है अर्थात् उस कर्म की कर्म-अवस्था नही रहती। इससे आगे की अवस्था का वर्णन अगले सूत्र मे किया गया है।[४]

केवली के योगनिरोध का क्रम

७३. अहाउयं पालइत्ता अन्तो-मुहुत्तद्धावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं, झायमाणे, तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भइ, मणजोगं निरुम्भइत्ता वइजोगं निरुम्भइ, वइजोगं निरुम्भइत्ता, आणापाणुनिरोहं करेइ, आणापाणुनिरोहं करेइत्ता ईसि पचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥

[७३] (केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात्) शेष आयु को भोगता हुआ, जब अन्तर्मुहूर्त- परिमित आयु शेष रहती है, तब अनगार योगनिरोध मे प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान को ध्याता हुआ सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करता है। फिर वचनयोग का निरोध करता है। उसके पश्चात् आनापान (अर्थात् श्वासोच्छ्वास) का निरोध करता है। श्वासोच्छ्वास का निरोध करके स्वल्प—(मध्यम गति से) पाच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण-काल

---

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ५९४ से ५९६ तक

४ (क) वही, पत्र ५९६ (ख) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण (मु नथमलजी), पृ. २४८-२४९

जितने समय में 'समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति' नामक (चतुर्थ) शुक्लध्यान मे लीन हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार कर्मों का—एक साथ क्षय करता है।

विवेचन—योगनिरोध : स्वरूप और क्रम—योगनिरोध का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का सर्वथा रुक जाना। केवली की आयु जब अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है, तब वह योगनिरोध करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—शुक्लध्यान के तीसरे पाद मे प्रवर्त्तमान साधक सर्वप्रथम प्रतिसमय मन के पुद्गलो और व्यापार का निरोध करते-करते असख्यात समयो मे उसका पूर्णतया निरोध कर लेता है। फिर वचन के पुद्गलो और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असख्यात समयो मे उसका (वचनयोग का) पूर्ण निरोध कर लेता है। तत्पश्चात् प्रतिसमय काययोग के पुद्गलो और व्यापार का निरोध करते-करते असख्यात समयो मे श्वासोच्छ्वास पूर्ण निरोध कर लेता है।[1]

शैलेशी-अवस्था-प्राप्ति : क्रम और अवधि—योगो का निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसे अयोगीकेवलीगुणस्थान (१४ वा गुणस्थान) कहते हैं। न तो विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यमगति से 'अ इ उ ऋ लृ', इन पाच लघु अक्षरो का उच्चारण करने जितना काल १४ वे अयोगीकेवलीगुणस्थान की भूमिका का होता है। इस बीच 'समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति' नामक शुक्लध्यान का चतुर्थपाद होता है। इस ध्यान के प्रभाव से चार अघाती (भवोपग्राही) कर्म सर्वथा क्षीण हो जाते है। उसी समय आत्मा औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को छोडकर देहमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है।

समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान—वह है, जिसमे मानसिक, वाचिक एव कायिक, समस्त क्रियाओ का सर्वथा अन्त हो जाता है तथा जो सर्वकर्मक्षय करने से पहले निवृत्त नही होता। यह शैलेशी अर्थात् मेरुपर्वत के समान निष्कम्प—अचल आत्मस्थिति है।[2]

मोक्ष की ओर जीव की गति एवं स्थिति का निरूपण

७४. तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते, अफुसमाणगई, उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गन्ता, सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, उवदंसिए ॥ —त्ति बेमि।

[७४] उसके बाद वह औदारिक और कार्मण शरीर को सदा के लिए सर्वथा परित्याग कर देता है। सपूर्णरूप से इन शरीरो से रहित होकर वह ऋजुश्रेणी को प्राप्त होता है और एक समय में अस्पृशद्गतिरूप ऊर्ध्वगति मे बिना मोड़ लिए (अविग्रहरूप से) सीधे वहाँ (लोकाग्र मे) ज

---

१. (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र २६२
   (ख) औपपातिक सूत्र, सू ४३

२ उत्तरा (साध्वी चन्दना) (टिप्पण), पृ ४५०

कर साकारोपयोगयुक्त (ज्ञानोपयोगी अवस्था मे) सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दु.खो का अन्त कर देता है।

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा गया है, प्रज्ञापित किया गया, (बताया गया) है, प्ररूपित किया गया है, दर्शित और उपदर्शित किया गया है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—ओरालियकम्माइं विप्पजहित्ता : तात्पर्य—प्रस्तुत सू. ७४ मे मुक्त होते समय जीव क्या छोडता है, क्या शेष रहता है ? कैसे और कितने समय मे कहाँ जाता है ? इसका निरूपण करते हुए कहा है कि वह औदारिक और कार्मण शरीर का तथा उपलक्षण से तैजस शरीर का सदा के लिए सर्वथा त्याग करता है।[1]

श्रेणि और गति—श्रेणि दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मुक्त जीव का उर्ध्वगमन ऋजुश्रेणि (आकाश प्रदेश की सरल-मोड रहित पंक्ति) से होता है, वक्र (मोड़ वाली) श्रेणि से नही। इसी प्रकार मुक्त जीव अस्पृशद्गति से जाता है, स्पृशद्गति से नही।[2]

अस्पृशद्गति : आशय—(१) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति के अनुसार स्वावगाढ आकाशप्रदेशो के स्पर्श के अतिरिक्त आकाशप्रदेशो का स्पर्श न करता हुआ जो गति करता है, वह अस्पृशद्गति है, (२) अभयदेव के अनुसार अन्तरालवर्ती आकाशप्रदेशो का स्पर्श न करते हुए गति करना अस्पृशद्गति है।[3]

साकारोपयोग युक्त का आशय—जीव साकारोपयोग मे अर्थात् ज्ञान की धारा मे ही मुक्त होता है।

॥ सम्यक्त्वपराक्रम : उनतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी भा ४

(ख) 'औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजस च।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७

२. (क) अनुश्रेणि गति। अविग्रहा जीवस्य (मुच्यमानस्य)। —तत्त्वार्थ. अ. २, २७-२८

(ख) प्रज्ञापना. पद १६

३. (क) अस्पृशद्गतिरिति-नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान् स्पृशति, अपितु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावन्त एव स्पृशति, न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७

(ख) अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गति। अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धि॥ —औपपातिक, सूत्र ४३, वृत्ति पृ. २१६

तीसवाँ अध्ययन : तपोमार्गगति

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम तपोमार्गगति है। तपस्या के मार्ग की ओर गति—पुरुषार्थ का निर्देशक यह अध्ययन है।

* तप मोक्षप्राप्ति का एक विशिष्ट साधन है। कर्मनिर्जरा और आत्मविशुद्धि का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। कोटि-कोटि साधको ने तपःसाधना को अपना कर ही अपनी आत्मशुद्धि की, आत्मा पर लगे हुए कर्मदलिको का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

* किन्तु तप को सम्यक्‌रूप से आराधना करने का उपाय न जाना जाए, तप के साथ माया, निदान, मिथ्यादर्शन, भोगाकाक्षा, लौकिक फलाकांक्षा आदि दूषणो को जोड दिया जाए तो वह तप, मोक्षप्राप्ति या कर्ममुक्ति का साधन नही होता। इसलिए तप के साथ उसका सम्यक्‌मार्ग जानना भी आवश्यक है और उस पर गति—पुरुषार्थ करना भी। अत यह सब प्रतिपादन करने वाला यह अध्ययन सार्थक है।

* प्रस्तुत अध्ययन मे तप के दो प्रकार कहे गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के ६ प्रकार हैं—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसख्यान (भिक्षाचर्या), कायक्लेश और प्रतिमलीनता। बाह्यतप के आचरण से शरीरासक्ति, स्वादलोलुपता, कष्टसहिष्णुता, खानपान की लालसा आदि छूट जाते है। साधक भूख-प्यास पर विजय पा लेता है। ये सब साधना के विघ्न हैं। परन्तु देह की रक्षा धर्मपालन के लिए आवश्यक है। देहासक्ति विलासिता और प्रमाद को जन्म देती है। यह सोच कर देहासक्ति का त्याग करना तप बताया है।

* आभ्यन्तर तप के भी ६ प्रकार बताए गए हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

  प्रायश्चित्त से साधना मे लगे दोषो का परिमार्जन एव नये सिरे से अतिचार न लगाने की जागृति पैदा होती है। विनय से अभिमानमुक्ति, अष्टविध मदत्याग एव पारस्परिक सहयोग-वृत्ति बढती है। वैयावृत्त्य से सेवाभावना, सहिष्णुता बढती है। स्वाध्याय से विकथा एव व्यर्थ का वादविवाद, गपशप आदि छूट जाते हैं। ध्यान से चित्त की एकाग्रता, मानसिक शान्ति एव नियत्रण पाने की क्षमता बढती है। व्युत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि के प्रति ममत्व का त्याग होता है।

* तप से पूर्वसचित कर्मों का क्षय, आत्मविशुद्धि, मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का निरोध, अक्रियता, सिद्धि, मुक्ति प्राप्त होती है।

* इसलिए प्रस्तुत अध्ययन तपश्चरण का विशुद्ध मार्ग निर्देशन करने वाला है। इसकी सम्यक् आराधना से जीव विशुद्धि की पूर्णता तक पहुँच जाता है। □□

तीसइमं अज्झयणं : तीसवाँ अध्ययन

तवमग्गगई : तपोमार्गगति

तप के द्वारा कर्मक्षय की पद्धति

१. जहा उ पावगं कम्मं राग-दोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥

[१] जिस पद्धति से तप के द्वारा भिक्षु राग और द्वेष से अर्जित पापकर्म का क्षय करता है, उस (पद्धति) को तुम एकाग्रमन होकर सुनो ।

२. पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥

[२] प्राणिवध, मृषावाद, अदत्त (-आदान), मैथुन और परिग्रह से विरत तथा रात्रिभोजन से निवृत्त जीव अनाश्रव (आश्रवरहित) होता है ।

३. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥

[३] पाच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, (चार) कषाय से रहित, जितेन्द्रिय, (त्रिविध) गौरव (गर्व) से रहित और निःशल्य जीव अनाश्रव होता ।

४. एएसिं तु विवच्चासे राग-द्दोससमज्जियं ।
जहा खवयइ भिक्खू तं मे एगमणो सुण ॥

[४] इनसे (पूर्वोक्त अनाश्रव-साधना से) विपरीत (आचरण) करने पर रागद्वेष से उपार्जित किये हुए कर्मों का भिक्षु जिस प्रकार क्षय करता है, उसे एकाग्रचित्त हो कर सुनो ।

५. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥

[५] जैसे किसी बडे तालाब का जल, नया जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमश सूख जाता है—

६. एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ॥

[६] उसी प्रकार (नये) पापकर्मों के आश्रव (आगमन) को रोकने पर सयमी के करोडो भवों मे सचित कर्म तपस्या से क्षीण (निर्जीर्ण) हो जाते हैं ।

विवेचन—तप : निर्वचन और पूर्वकर्मक्षय—तप का निर्वचन दो प्रकार से किया गया है। (१) जो तपाता है, अर्थात् कर्मों को जलाता है, वह तप है। (२) जिससे रसादि धातु अथवा कर्म तपाए जाते हैं, अथवा कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। प्रस्तुत दूसरी, तीसरी गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणिवधादि से विरत, पाचसमिति-त्रिगुप्ति से युक्त, चार कषाय, तीन शल्य एव तीन प्रकार के गौरव से रहित होकर साधक जब अनाश्रव हो जाता है, अर्थात् नये कर्मों के आगमन को रोक देता है, तभी वह पूर्वसचित (पहले बधे हुए) पाप कर्मों को तप के द्वारा क्षीण करने मे समर्थ होता है। यही तपोमार्ग है, पुरातन कर्मों को क्षय करने का। उदाहरणार्थ—जैसे किसी महासरोवर का जल पानी आने के मार्ग को रोकने, पहले के पानी को रेंहट आदि साधनो से उलीच कर बाहर निकालने तथा सूर्य के ताप से सूख जाता है, इसी प्रकार पाप कर्मों के आश्रव को पूर्वोक्त पद्धति से रोकने पर तथा व्रत-प्रत्याख्यान आदि से पापकर्मों को निकाल देने एव परीषहसहन आदि के ताप से उन्हे सुखा देने पर सयमी के पुराने (करोडो भवो मे) सचित पापकर्म भी तप द्वारा क्षीण हो जाते हैं।[1]

तप के भेद-प्रभेद

७. सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥

[७] वह (पूर्वोक्त कर्मक्षयकारक) तप दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

विवेचन—बाह्य तप : स्वरूप और प्रकार—जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा रखता है, सर्वसाधारण जनता मे जो तप नाम से प्रख्यात है, अथवा दूसरो को जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पडता है, जो मोक्ष का बहिरग कारण है, वह बाह्यतप कहलाता है।

भगवती आराधना मे बाह्य तप का लक्षण इस प्रकार दिया है—बाह्य तप वह है, जिससे मन दुष्कृत (पाप) के प्रति उद्यत नही होता, जिससे आभ्यन्तर तप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और पूर्वगृहीत स्वाध्याय, व्रतादि योगो की जिससे हानि न हो। बाह्यतप ६ प्रकार का है, जिसका आगे वर्णन किया किया जायेगा।

---

१ (क) तापयति—अष्टप्रकार कर्म दहतीति तप। —आव म १ अ
(ख) ताप्यन्ते रसादिधातव कर्माण्यनेनेति तप। —धर्म. अधि ३
(ग) कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप। —राजवा. ९।६।१७
(घ) उत्तरा वृत्ति, अभिधान रा कोष भा ४, पृ. २१९९
(ङ) कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तप प्रोक्तम्। —पद्मनन्दिपचविंशतिका १।९८
(च) तुलना कीजिए—'यथाऽग्नि सचित तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जित निर्दहतीति तप इति निरुच्यते।" देहेन्द्रियतापाद् वा ॥' —राजवार्तिक ९।२०-२१
(छ) "बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥" —कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०२

आभ्यन्तर तप : स्वरूप और प्रकार—जिनमे बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रहे, जो अन्त करण के व्यापार से होते हैं, जिनमे अन्तरग परिणामो की मुख्यता रहती हो, जो स्वसवेद्य हो, जिनसे मन का नियमन होता हो, जो विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा ही तप रूप मे स्वीकृत होते हैं और जो मुक्ति के अन्तरंग कारण हो, वे आभ्यन्तर तप हैं।

आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है, जिसका निरूपण आगे किया जायेगा।[1]

बाह्य और आभ्यन्तर तप का समन्वय—अनशनादि तपश्चरण से शरीर और इन्द्रियाँ उद्रिक्त नही हो सकती, अपितु कृश हो जाती हैं। दूसरे, इनके निमित्त से सम्पूर्ण अशुभकर्म अग्नि के द्वारा इन्धन की तरह भस्मसात् हो जाते हैं, तीसरे, बाह्य तप प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप की वृद्धि मे कारण है। बाह्य तपो के द्वारा शरीर कृश हो जाने से इन्द्रियो का मर्दन (दमन) हो जाता है। इन्द्रियदमन हो जाने पर मन अपना पराक्रम कैसे प्रकट कर सकता है? कितना ही बलवान् योद्धा हो, प्रतियोद्धा द्वारा अपना घोडा मारा जाने पर अवश्य ही हतोत्साह व निर्बल हो जाता है। आभ्यन्तर परिणामशुद्धि का चिह्न अनशनादि बाह्यतप है। बाह्य साधन (तप) होते ही अन्तरगतप की वृद्धि होती है। रागादि के त्याग के साथ ही चारो प्रकार के आहार के त्याग को अनशन माना है। वस्तुत बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है। अत आभ्यन्तर तप प्रधान है। वह आभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामो से युक्त होना है। इसके बिना अकेला बाह्य तप पूर्ण कर्मनिर्जरा करने मे असमर्थ है।[2]

---

१ (क) बाह्य—बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्ति—बहिरगत्वाच्च। आभ्यन्तर तद्विपरीत, यदि वा लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद् बाह्यम तदितरत्वादाभ्यन्तरम। अन्ये त्वाहु —प्रायेणान्त करणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तरम्। बाह्य त्वन्यथेति। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६००

(ख) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्। मनोनियमनार्थत्वादाभ्यन्तरत्वम्।
—सर्वार्थसिद्धि ९।१९-२०

(ग) अनशनादि हि तीर्थ्यै गृहस्थैश्च क्रियते, ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्। —राजवा ९।१९।१९

(घ) बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसवेद्यत्वत परै।
अनध्यक्षात्तप प्रायश्चित्ताद्याभ्यन्तर भवेत्॥ —अनगारधर्मामृत ३३ श्लो

(ङ) सो णाम बाहिरतवो, जेण मणो दुक्कड ण उट्ठेदि।
जेण य सड्ढा जायदि, जेण य जोगा ण हायति॥ —भगवती आराधना, गा. २३६

२ (क) देहाक्षतपनात्कर्म दहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम्॥
बाह्यैस्तपोभि कर्शनादक्षमर्दने।
छिन्नबाहो भट इव, विक्रामति कियन्मन? —अनगारधर्मामृत ७।५-८

(ख) लिंग च होदि आब्भतरस्स सोधीए बाहिरा सोधो। —भगवती आराधना १३५० गा

(ग) ण च चउव्विह-आहारपरिच्चागो चेव अणसण।
रागादिहि सह तच्चागस्स अणसणभावमब्भुवगमादो॥ —धवला १३।५

(घ) यद्धि यदर्थं तत्प्रधानमिति प्रधानताऽभ्यन्तरतपस।
तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मक, तेन विना न निर्जरार्थं बाह्यमलम्॥ —भगवती आराधना वि १३४८।१

बाह्यतप : प्रकार, अनशन के भेद-प्रभेद

८. अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥

[८] अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और (प्रति) सलीनता, यह (छह) बाह्य तप है ।

९. इत्तिरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे ।
इत्तिरिया सावकंखा निरवकंखा बिइज्जिया ॥

[९] अनशन तप के दो प्रकार है—इत्वरिक और आमरणकालभावी । इत्वरिक (अनशन) सावकाक्ष (निर्धारित उपवासादि अनशन के बाद पुनः भोजन की आकाक्षा वाला) होता है । आमरणकालभावी निरवकांक्ष (भोजन की आकाक्षा से सर्वथा रहित) होता है ।

१० जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥

११. तत्तो य वग्गवग्गो उ पचमी छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छिय—चित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

[१०-११] इत्वरिक तप सक्षेप से छह प्रकार का है—(१) श्रेणितप, (२) प्रतरतप, (३) घनतप तथा (४) वर्गतप—

पाँचवाँ वर्ग वर्गतप और छठा प्रकीर्णतप । इस प्रकार मनोवाछित नाना प्रकार का फल देने वाला इत्वरिक अनशन तप जानना चाहिए ।

१२. जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया ।
सवियार—अवियारा कायचिट्ठं पई भवे ॥

[१२] कायचेष्टा के आधार पर आमरणकालभावी जो अनशन है, वह दो प्रकार का कहा गया है—सविचार (करवट बदलने आदि चेष्टाओ से युक्त) और अविचार (उक्त चेष्टाओ से रहित) ।

१३. अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया ।
नीहारिमणीहारी आहारच्छेओ य दोसु वि ॥

[१३] अथवा आमरणाकलभावी अनशन के सपरिकर्म और अपरिकर्म, ये दो भेद है ।

अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी, ये दो भेद भी होते है । दोनो मे आहार का त्याग होता है ।

विवेचन—बाह्य तप से परम लाभ—यदि पूर्वकाल मे(बाह्य)तप नही किया हो तो मरणकाल मे समाधि चाहता हुआ भी साधक परीषहो को सहन नही कर सकता । विषयसुखो मे आसक्त हो जाता है । बाह्य तप के आचरण से मन दुष्कर्म मे प्रवृत्त नही होता, प्रायश्चित्तादि तपो मे श्रद्धा होती है । बाह्य तप से पूर्व स्वीकृत व्रतादि का रक्षण होता है । बाह्य तप से सम्पूर्ण सुखस्वभाव का त्याग होता है, शरीरसलेखना के उपाय की प्राप्ति होती है और आत्मा ससारभीरुता नामक गुण मे स्थिर होता है ।[1]

---

१ भगवती आराधना मूल ९१, १९३

बाह्यतप के सुफल—(१) इन्द्रियदमन, (२) समाधियोग-स्पर्श, (३) वीर्यशक्ति का उपयोग, (४) जीवनसम्बन्धी तृष्णा का नाश, (५) सक्लेशरहित कष्टसहिष्णुता का अभ्यास, (६) देह, रस एव सुख के प्रति अप्रतिबद्धता, (७) कषायनिग्रह, (८) भोगो के प्रति औदासीन्य, (९) समाधिमरण का स्थिर अभ्यास, (१०) अनायास आत्मदमन, (११) आहार के प्रति अनाकाक्षा का अभ्यास, (१२) अनासक्ति-वृद्धि, (१३) लाभ-अलाभ, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो में समता, (१४) ब्रह्मचर्यसिद्धि, (१५) निद्राविजय, (१६) त्यागदृढता, (१७) विशिष्ट त्याग का विकास, (१८) दर्पनाश, (१९) आत्मा कुल, गण, शासन की प्रभावना, (२०) आलस्यत्याग, (२१) कर्मविशुद्धि, (२२) मिथ्यादृष्टियो मे भी सौम्यभाव, (२३) मुक्तिमार्ग-प्रकाशन, (२४) जिनाज्ञाराधना, (२५) देहलाघव, (२६) शरीर के प्रति अनासक्ति, (२७) रागादि का उपशम, (२८) आहार परिमित होने से शरीर मे नीरोगता, (२९) सन्तोषवृद्धि, (३०) आहारादि-आसक्ति-क्षीणता ।[1]

बाह्य तप के प्रयोजन—तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीय वृत्ति मे बाह्य तप के विभिन्न प्रयोजन बताए है। जैसे कि **(१) अनशन के प्रयोजन**—रोगनाश, सयमदृढता, कर्मफल-विशोधन, सद्ध्यान-प्राप्ति और शास्त्राभ्यास मे रुचि । **(२) ऊनोदरिका के प्रयोजन**—वात-पित्त-कफादिजनित दोषोपशमन, ज्ञान-ध्यानादि की प्राप्ति, सयम मे सावधानी, **(३) वृत्तिसंक्षेप**—भोज्य वस्तुओ की इच्छा का निरोध, भोजनचिन्ता-नियन्त्रण । **(४) रसपरित्याग**—इन्द्रियनिग्रह, निद्राविजय और स्वाध्याय-ध्यानरुचि । **(५) विविक्तशय्यासन**—ब्रह्मचर्यसिद्धि, स्वाध्याय-ध्यानसिद्धि और बाधाओ से मुक्ति, **(६) कायक्लेश**—शरीरसुख-वाञ्छा से मुक्ति, कष्टसहिष्णुता का स्थिर स्वभाव, धर्मप्रभावना ।[2]

मणइच्छिय-चित्तत्थो—बृहद्वृत्ति के अनुसार - (१) मनोवाञ्छित विचित्र प्रकार का फल देने वाला, (२) विचित्र स्वर्गापवर्गादि के या तेजोलेश्यादि के प्रयोजन वाला मन को अभीष्ट तप ।[3]

अनशन : प्रकार, स्वरूप—अनशन का अर्थ है—आहारत्याग । वह मुख्यतया दो प्रकार का है—इत्वरिक और आमरणकाल (यावत्कथिक) । **इत्वरिक अनशन** तप देश, काल, परिस्थिति आदि को ध्यान मे रखते हुए शक्ति के अनुसार अमुक समय-विशेष की सीमा बाँध कर किया जाता है। भगवान् महावीर के शासन मे दो घडी से लेकर छह मास तक की सीमा है। औपपातिकसूत्र मे इसके चौदह भेद बताए गए है—

१ चतुर्थभक्त—एक उपवास
२. षष्ठभक्त—दो दिन का उपवास (बेला)
३ अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास (तेला)
४ दशमभक्त—चार दिन का उपवास (चौला)
५. द्वादशभक्त—पाच दिन का उपवास (पचौला)
६ चतुर्दशभक्त—छह दिन का उपवास
७ षोडशभक्त—सात दिन का उपवास
८ अर्धमासिकभक्त—१५ दिन का उपवास
९ मासिकभक्त—मासखमण—१ मास का उपवास
१० द्वैमासिकभक्त—दो मास का उपवास
११ त्रैमासिकभक्त—तीन मास का उपवास
१२ चातुर्मासिकभक्त—४ मास का तप
१३ पाञ्चमासिकभक्त—५ मास का उपवास
१४. षाण्मासिकतप—६ मास का उपवास

---

१ मूलाराधना ३।२३७-२४४

२ तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति ९।२०

३ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१ (ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र २६५

वीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' (महानियण्ठिज्ज) है। महानिर्ग्रन्थ की चर्या तथा मौलिक सिद्धान्तो और नियमो से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है।
* प्रस्तुत अध्ययन मे श्रेणिक नृप द्वारा मुनि से पूछे जाने पर उनके द्वारा स्वय को 'अनाथ' कहने पर चर्चा का सूत्रपात हुआ है और बाद मे मुनि द्वारा अपनी अनाथता और सनाथता का वर्णन करने पर तथा अन्त मे अनाथता के विविध रूप बताये जाने पर सनाथ-अनाथ का रहस्योद्घाटन हुआ है।
* मगधसम्राट् श्रेणिक एक बार घूमने निकले। वे राजगृह के बाहर पर्वत को तलहटी मे स्थित मण्डिकुक्ष नामक उद्यान मे पहुँच गए। वहाँ उन्होने एक तरुण मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के अनुपम सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि को देख कर विस्मित राजा ने सविनय पूछा—'मुनिवर ! यह तरुण अवस्था तो भोग के योग्य है। आपका यह सुन्दर, दीप्तिमान् एव स्वस्थ शरीर सासारिक सुख भोगने के लिए है। इस अवस्था मे आप मुनि क्यो बने ?' मुनि ने कहा—'राजन् ! मै अनाथ था, इस कारण साधु बना !' राजा को यह सुन कर और अधिक आश्चर्य हुआ।

राजा—'आपका इतना सुन्दर रूप, शरीरसौष्ठव आपकी अनाथता की साक्षी नही देता। फिर भी यदि किसी अभाव के कारण आप अनाथ थे, या कोई सरक्षक-अभिभावक नही था, तो लो मै आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे यहाँ रहे, मैं धन, धाम, वैभव तथा समस्त प्रकार की भोगसामग्री आपको देता हूँ।'

मुनि—'राजन् ! आप स्वय अनाथ हैं, फिर दूसरो के नाथ कैसे बनेगे ?'

राजा—'मैं अपार सम्पत्ति का स्वामी हूँ, मेरे आश्रित सारा राजपरिवार, नौकर-चाकर, सुभट, हाथी, घोडे, रथ आदि हैं। समस्त सुखभोग के साधन मेरे पास हैं। फिर मैं अनाथ कैसे ?'

मुनि—'राजन् ! आप सनाथ-अनाथ के रहस्य को नही समझते, केवल धन-सम्पत्ति होने मात्र से कोई सनाथ नहीं हो जाता। जब समझ लेगे, तब स्वय ज्ञात हो जाएगा कि आप अनाथ हैं या सनाथ ! मैं अपनी आपबीती सुनाता हूँ। मेरे पिता कौशाम्बी के धनाढ्य-शिरोमणि थे। मेरा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल मे हुआ। एक बार मुझे असह्य नेत्र-पीडा उत्पन्न हुई। मेरे पिताजी ने पानी की तरह पैसा बहा कर मेरी चिकित्सा के लिये वैद्य, मन्त्रवादी, तन्त्रवादी आदि बुलाए, उनके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। मेरी माता, मेरी सगी बहने, भाई सब मिलकर रोगनिवारण के प्रयत्न मे जुट गए, परन्तु वे किसी भी तरह नही मिटा सके। मेरी पत्नी रात-

उपवास करके पुन क्रमश एक-एक कम करते-करते एक उपवास पर आ जाना आदि भी इसी तप मे आ जाते है ।[1]

आमरणकालभावी अनशन—आमरणान्त अनशन सथारा कहलाता है । वह सविचार और अविचार भेद से दो प्रकार का है ।

सविचार—उसे कहते हैं, जिसमे उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलने) आदि कायचेष्टाएँ होती हैं । **भक्तप्रत्याख्यान** और **इंगिनीमरण** ये दोनो सविचार हैं । **भक्तप्रत्याख्यान** मे अनशन-कर्त्ता स्वय भी करवट आदि बदल सकता है, दूसरो से भी इस प्रकार की सेवा ले सकता है । यह अनशन दूसरे साधुओ के साथ रहते हुए भी हो सकता है । यह इच्छानुसार त्रिविधाहार या चतुर्विधाहार के प्रत्याख्यान से किया जा सकता है । इगिनीमरण मे अनशनकर्त्ता एकान्त मे एकाकी रहता है । यथाशक्ति स्वय तो करवट आदि की क्रियाएँ कर सकता है, लेकिन इसके लिए दूसरो से सेवा नही ले सकता ।

अविचार— वह है, जिसमे करवट आदि की कायचेष्टाएँ न हो । यह पादपोपगमन होता है । 'मूलाराधना' के अनुसार जिसकी मृत्यु अनागाढ (तात्कालिक होने वाली नही) है, ऐसे पराक्रमयुक्त साधक का भक्तप्रत्याख्यान **सविचार** कहलाता है और मृत्यु की आकस्मिक (आगाढ) सम्भावना होने पर जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है, वह **अविचार** कहलाता है । इसके तीन भेद है—निरुद्ध (रोगातक से पीडित होने पर),निरुद्धतर (मृत्यु का तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर) और परम-निरुद्ध (सर्पदश आदि कारणो से वाणी रुक जाने पर) । दिगम्बर परम्परा मे इसके लिए 'प्रायोपगमन' शब्द मिलता है । वृक्ष कट कर जिस अवस्था मे गिर जाता है, उसी स्थिति मे पडा रहता है, उसी प्रकार गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानो मे किया जाने वाला पादपोपगमन अनशन मे भी जिस आसन का उपयोग किया जाता है, अन्त तक उसी आसन मे स्थिर रहा जाता है । आसन, करवट आदि बदलने की कोई चेष्टा नही की जाती । पादपोपगमन अनशनकर्त्ता अपने शरीर की शुश्रूषा न तो स्वय करता है और न ही किसी दूसरे मे करवाता है ।

प्रकारान्तर से मरणकालीन अनशन के दो प्रकार हैं—सपरिकर्म (बैठना, उठना, करवट बदलना आदि परिकर्म से सहित) और अपरिकर्म । भक्तप्रत्याख्यान और इगिनीमरण **'सपरिकर्म'** होते हैं और पादपोपगमन नियमत **'अपरिकर्म'** होता है । अथवा सलेखना के परिकर्म से सहित और उससे रहित को भी **'सपरिकर्म'** और **'अपरिकर्म'** कहा जाता है । सल्लेखना का अर्थ है—विधिवत् क्रमशः अनशनादि तप करते हुए शरीर, कषायो, इच्छाओ एव विकारो को क्रमश क्षीण करना, अन्तिम मरणकालीन अनशन की पहले से ही तैयारी रखना ।

निर्हारिम-अनिर्हारिम अनशन—अन्य अपेक्षा से भी अनशन के दो प्रकार हैं—निर्हारिम और अनिर्हारिम । वस्ती से बाहर पर्वत आदि पर जाकर जो अन्तिम समाधि-मरण के लिए अनशन किया जाता है और जिसमे अन्तिम सस्कार की अपेक्षा नही रहती, वह **अनिर्हारिम** है और जो वस्ती मे

---

१. (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१ (ख) औपपातिक सू १९

ही किया जाता है, अतएव अन्तिम संस्कार की आवश्यकता होती है, वह निर्हारिम है।[1]

२. अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप : स्वरूप और प्रकार

१४. ओमोयरियं पंचहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्त-कालेणं भावेणं पज्जवेहि य॥

[१४] सक्षेप मे अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायो की अपेक्षा से पांच प्रकार का कहा गया है।

१५. जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई एवं दव्वेण ऊ भवे॥

[१५] जिसका जो (परिपूर्ण) आहार है, उसमे जो जघन्य एक सिक्थ (अन्नकण) कम करता है (या एक ग्रास आदि के रूप मे कम भोजन करता है), वह द्रव्य से 'ऊनोदरी तप' है।

१६ गामे नगरे तह रायहाणि निगमे य आगरे पल्ली।
खेटे कब्बड-दोणमुहपट्टण-मडम्ब-संबाहे॥

१७. आसमपए विहारे सन्निवेसे समाय-घोसे य।
थलि-सेणाखन्धारे सत्थे संवट्ट कोट्टे य॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३ (ख) मूलाराधना ८।२०४२,४३,६४,

(ग) वही, विजयोदयावृत्ति ८।२०६४

(घ) दुविह तु भत्तपच्चक्खाण सविचारमध अविचार।
सविचारमणागाढे, मरणे सपरिक्कमस्स हवे।
तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो।
अपरिक्कम्मस्स मुणिणो, कालम्मि असपुहुत्तम्मि॥
—मूलाराधना २।६५, ७।२०११,२०१३,२०१५,२०२१,२०२२

(ङ) औपपातिक सूत्र १९ (च) समवायाग, समवाय १७

(छ) सह परिकर्मणा—स्थान—निषदन-त्वग्वर्त्तनादि विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत् सपरिकर्म। अपरिकर्म च तद्विपरीतम्। यद्वा परिकर्म—सलेखना, सा यत्रास्तीति तत् सपरिकर्म, तद्विपरीत तु अपरिकर्म।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३

(ज) पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थान पादपोपगमनम्। —औपपातिक वृत्ति, पृ ७१

(झ) पाओवगमणमरणस्स—प्रायोपगमनमरणम्। —मूलाराधना, विजयोदया ८।२०६३

(ञ) विचरण नानागमन विचार, विचारेण वर्त्तते इति सविचारम् एतदुक्तं भवति।—मूला विजयोदया २।६५ ······अविचार अनियतविहारादिविचारणाविरहात्।
—मूला दर्पण ७।२०१५

(ट) यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्तत: शरीरस्य निर्हरणात्—निस्सारणान्निर्हारिमम्। यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमम्।—स्थानागवृत्ति, २।४।१०२

१८. वाडेसु व रत्थासु व घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

[१६-१७-१८] ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड, कर्बट, द्रोणमुख पत्तन, मण्डप, सम्बाध-आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर (छावनी), सार्थ, सवर्त्त और कोट, वाट (बाडा या पाडा), रथ्या (गली) और घर, इन क्षेत्रो मे, अथवा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रो मे (पूर्व) निर्धारित क्षेत्र-प्रमाण के अनुसार (भिक्षा के लिए जाना), इस प्रकार का कल्प, क्षेत्र से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप है ।

१९. पेडा य अद्धपेडा गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव ।
सम्बुक्कावट्टाऽऽययगन्तुं पच्चागया छट्ठा ॥

[१९] अथवा (प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध पेटा, गोमूत्रिका, पतगवीथिका, शम्बूकावर्ता और आयतगत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से ऊनोदरी तप है ।

२०. दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वो ॥

[२०] दिन के चार पहरो (पौरुषियो) मे भिक्षा का जितना नियत काल हो, उसी मे (तदनुसार) भिक्षा के लिए जाना, (भिक्षाचर्या करने) वाले मुनि के काल से अवमौदर्य (—ऊनोदरी) तप समझना चाहिए ।

२१. अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो ।
चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥

[२१] अथवा तीसरी पौरुषी (प्रहर) मे कुछ भाग न्यून अथवा चतुर्थ भाग आदि न्यून (प्रहर) मे भिक्षा की एषणा करना, इस प्रकार काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप होता है ।

२२. इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेण व वत्थेण ॥

२३. अन्नेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।
एवं चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयव्वो ॥

[२२-२३] स्त्री अथवा पुरुष, अलकृत अथवा अनलकृत; या अमुक आयु वाले अथवा अमुक वस्त्र वाले, अमुक विशिष्ट वर्ण एव भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक (भिक्षा) चर्या करने वाले भिक्षु के भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप होता है ।

२४. दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

[२४] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सब से भी अवम-चर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है ।

विवेचन—अवमौदर्य : सामान्य स्वरूप—अवमौदर्य का प्रचलित नाम **'ऊनोदरी'** है । इसलिए सामान्यतया इसका अर्थ होता है—उदर मे भूख से कम आहार डालना । किन्तु प्रस्तुत मे इसके भावार्थ को लेकर द्रव्यत —(उपकरण, वस्त्र या भक्तपान की आवश्यक मात्रा मे कमी करना), क्षेत्रतः, कालतः एव भावत. तथा पर्यायत. अवमौदर्य की अपेक्षा से इसका व्यापक एव विशिष्ट अर्थ किया है । निष्कर्ष यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एव पर्याय की दृष्टि से आहारादि सब मे कमी करना अवमौदर्य या ऊनोदरी तप है ।[1]

अवमौदर्य के प्रकार—प्रस्तुत ११ गाथाओ (गा १४ से २४ तक) मे अवमौदर्य के पाच प्रकार बताए हैं—(१) द्रव्य-अवमौदर्य, (२) क्षेत्र-अवमौदर्य, (३) काल-अवमौदर्य, (४) भाव-अवमौदर्य एव (५) पर्याय-अवमौदर्य । औपपातिकसूत्र मे इसके मुख्य दो भेद बताए हैं—द्रव्यत अवमौदर्य और (२) भावत अवमौदर्य । फिर द्रव्यत अवमौदर्य के २ भेद किये हैं—(१) उपकरण-अवमौदर्य, (२) भक्त-पान-अवमौदर्य । फिर भक्त-पान-अवमौदर्य के ५ उपभेद किये गए हैं—(१) एक कवल से आठ कवल तक खाने पर **अल्पाहार** होता है । (२) आठ से बारहग्राम तक खाने पर **अपार्द्ध अवमौदर्य** होता है, (३) तेरह से सोलह कवल तक खाने पर **अर्द्ध अवमौदर्य** है । (४) सत्रह से चौबीस कवल तक खाने पर **पौन-अवमौदर्य** तथा (५) पच्चीस से तक इकतीस कौर लेने पर **किंचित् अवमौदर्य** होता है ।

ऊनोदरी तप का कितना सुन्दर स्वरूप बताया गया है । वर्तमान युग मे इस तप की बडी आवश्यकता है । इसके फल है—निद्राविजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-सयम एव इन्द्रियविजय आदि ।

क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को घटाना भावत अवमौदर्य है ।[2]

कुछ विशिष्ट शब्दो के विशेषार्थ—ग्राम—बुद्धि या गुणो का जहाँ ग्रास (ह्रास) हो । **नगर**—जहाँ कर न लगता हो । **निगम**—व्यापार की मडी । **आकर**—सोने आदि की खान । **पल्ली**—(ढाणी) वन मे साधारण लोगो या चोरो की बस्ती । **खेट**—खेडा, धूल के परकोटे वाला ग्राम । **कर्बट**—कस्बा (छोटा नगर) । **द्रोणमुख**—बदरगाह, अथवा आवागमन के जल-स्थल उभयमार्ग वाली बस्ती । **पत्तन**—जहाँ सभी ओर से लोग आकर रहते हो । **मडंब**—जिसके निकट ढाई तक कोई ग्राम न हो । **सम्बाध**—जहाँ ब्राह्मणादि चारो वर्णों की प्रचुर सख्या मे बस्ती हो । **विहार**—मठ या देवमन्दिर । **सन्निवेश**—पडाव या मोहल्ला या यात्री-विश्रामस्थान । **समाज**—सभा या परिषद् । **स्थली**—ऊँचे टीले वाला या ऊँचा स्थान । **घोष**—ग्वालो की बस्ती । **सार्थ**—सार्थवाहो का चलता-फिरता पड़ाव । **संवर्त**—भयग्रस्त एव विचलित लोगो की बस्ती । **कोट्ट**—किला, कोट या प्राकार

---

१ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा २, पत्र २६७

२ (क) औपपातिक. सूत्र १९ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ३९२

(ग) मूलाराधना ३।२११ (अमितगति) पृ. ४२८

आदि । **बाड**—चारों ओर काटो या तारो की बाड़ लगाया हुआ स्थान, बाडा या पाड़ा (मोहल्ला) । **रथ्या**—गली ।[1]

क्षेत्र—अवमौदर्य : स्वरूप और प्रकार—भिक्षाचर्या की दृष्टि से क्षेत्र की सीमा कम कर लेना **क्षेत्र-अवमौदर्य** है । इसके लिए यहाँ गा. १६ से १८ तक मे ग्राम से लेकर गृह तक २५ प्रकार के तथा ऐसे ही क्षेत्रो की निर्धारित सीमा मे कमी करना बताया है ।

गाथा १६ मे दूसरे प्रकार से क्षेत्र-अवमौदर्य बताया है, वह भिक्षाचरी के क्षेत्र मे कमी करने के अर्थ में है । इसके ६ भेद हैं—**(१) पेटा**—जैसे—पेटी (पेटिका) चौकोर होती है, वैसे ही बीच के घरो को छोड कर चारो श्रेणियो मे भिक्षाचरी करना । **(२) अर्धपेटा**—केवल दो श्रेणियो से भिक्षा लेना, **(३) गोमूत्रिका**—चलते बैल के मूत्र की रेखा की तरह वक्र अर्थात् टेढे-मेढे भ्रमण करके भिक्षाटन करना । **(४) पतंगवीथिका**—जैसे पतग उडता हुआ बीच मे कही-कही चमकता है, वैसे ही बीच-बीच मे घरो को छोडते हुए भिक्षाचरी करना । **(५) शम्बूकावर्त्ता**—शख के आवर्त्तों की तरह गाँव के बाहरी भाग से भिक्षा लेते हुए अन्दर मे जाना, अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर जाना । इस प्रकार ये दो प्रकार हैं । **(६) आयतं गत्वा-प्रत्यागता**—गाँव की सीधी-सरल गली मे अन्तिम घर तक जाकर फिर वापिस लौटते हुए भिक्षाचर्या करना । इसके भी दो भेद हैं—(१) जाते समय गली की एक पक्ति से और आते समय दूसरी पक्ति से भिक्षा ग्रहण करना, अथवा (२) एक ही पक्ति से भिक्षा लेना, दूसरी पक्ति से नही ।[2]

इस प्रकार के सकल्पो (प्रतिमाओ) से ऊनोदरी होती है, अतएव इन्हे क्षेत्र-अवमौदर्य मे परिगणित किया गया है ।

३. भिक्षाचर्यातप

२५. अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥

[२५] आठ प्रकार के गोचराग्र, सात प्रकार की एषणाएँ तथा अन्य अनेक प्रकार के अभिग्रह—भिक्षचर्यातप है ।

विवेचन—अष्टविध गोचराग्र : स्वरूप एवं प्रकार—आठ प्रकार का अग्र—अर्थात् (अकल्प्य-पिण्ड का त्याग कर देने से) प्रधान, जो गोचर अर्थात्—(उच्च-नीच-मध्यम समस्त कुलो (घरो) मे सामान्य रूप से) गाय की तरह भ्रमण (चर्या) करना अष्टविध गोचराग्र कहलाता है । दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि प्रधान गोचरी के ८ भेद हैं । इन आठ प्रकार के गोचराग्र मे पूर्वोक्त पेटा, अर्धपेटा आदि छह प्रकार और शम्बूकावर्त्ता तथा 'आयत गत्वा प्रत्यागता' के वैकल्पिक दो भेद मिलाने से कुल आठ भेद गोचराग्र के होते है ।[3]

---

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ. ३९३

२. (क) उत्तरा (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ ४५३-४५४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५-६०६
(ग) प्रवचनसारोद्धार गा. ७४७-७४८ (घ) स्थानाग ६।५१४ वृत्ति, पत्र ३४७

३ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २७०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ (ग) प्रवचनसारोद्धार ७४८-७४९ गा ७४५

सात प्रकार की एषणाएँ—सात प्रकार की एषणाएँ सप्तविध प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) हैं। प्रत्येक प्रतिमा एक प्रकार से तप का रूप है। क्योकि उसी मे सन्तोष करना होता है। ये सात एषणाएँ इस प्रकार है—(१) **संसृष्टा**—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या बर्तन से भिक्षा लेना। (२) **असंसृष्टा**—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना। (३) **उद्धृता**—गृहस्थ द्वारा स्वप्रयोजनवश पकाने के पात्र से दूसरे पात्र मे निकाला हुआ आहार लेना। (४) **अल्पलेपा**—अल्पलेप वाली चना, चिउडा आदि रूखी वस्तु लेना। (५) **अवगृहीता**—खाने के लिए थाली मे परोसा हुआ आहार लेना। (६) **प्रगृहीता**—परोसने के लिए कडछी या चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना। (७) **उज्झितधर्मा**—अमनोज्ञ एव त्याज्य (परिष्ठापनयोग्य) भोजन लेना।

भिक्षाचर्या : वृत्तिसंक्षेप एवं वृत्तिसंख्यान—भिक्षाचर्या तप केवल साधु-साध्वियो के लिए है, गृहस्थो के लिए इसका औचित्य नही है। तत्त्वार्थसूत्र मे इसका नाम **'वृत्तिपरिसंख्यान'** मिलता है, जिसका अर्थ किया गया है—वृत्ति अर्थात् —आशा (लालसा) की निवृत्ति के लिए भोज्य वस्तुओं (द्रव्यो) की गणना करना कि मैं आज इतने द्रव्य से अधिक नही लगाऊँगा—यानो सेवन नही करूगा, या मै आज एक वस्तु का ही भोजन या अमुक पानमात्र ही करूगा, इत्यादि प्रकार के सकल्प करना वृत्तिपरिसख्यान है। वृत्तिपरिख्यान तप का अर्थ भगवती आराधना मे किया गया है—आहार-सज्ञा पर विजय प्राप्त करना। विकल्प से वृत्तिसक्षेप या वृत्तिपरिसख्यान का अर्थ—भिक्षावृत्ति की पूर्वोक्त अष्टविध प्रतिमाएं ग्रहण करना, ऐसा किया गया है। अथवा विविध प्रकार के अभिग्रहो का ग्रहण भी वृत्तिपरिसख्यान है। इस प्रकार से भिक्षावृत्ति को विविध अभिग्रहा द्वारा सक्षिप्त करना वृत्तिसक्षेप है।[2]

मूलाराधना मे ससृष्ट, फलिहा, परिखा आदि वृत्तिसक्षेप के ८ प्रकार अन्य रूप मे मिलते हैं तथा औपपातिकसूत्र मे वृत्तिसक्षेप के 'द्रव्याभिग्रहचरक' से लेकर 'सख्यादत्तिक' तक ३० प्रकार बतलाए गए है। इन सबका अर्थ भिक्षापरक है।[3]

४. रसपरित्यागतप : एक अनुचिन्तन

२६. खीर—दहि—सप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाण तु भणियं रसविवज्जणं॥

[२६] दूध, दही, घी आदि प्रणीत (स्निग्ध एव पौष्टिक) पान, भोजन तथा रसो का त्याग करना रसपरित्यागतप है।

---

१ (क) प्रवचनसारोद्धार गाथा ६४७ से ७४३ तक
(ख) स्थानाग, ७।५४५ वृत्ति, पत्र ५८६, समवायाग, समवाय ६
(ग) मूलाराधना, विजयोदयावृत्ति ३।२२०

२ (क) सर्वार्थसिद्धि ९।१९।४३८।८ (ख) भगवती आराधना वि ६।३२।१८
(ग) धवला १३।५ (घ) भगवती आराधना मूल, २१८-२२१

३ (क) मूलाराधना ३।२२० विजयोदया (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०७
(ग) मूलाराधना ३।२०१ (घ) औपपातिकवृत्ति, सूत्र १९

विवेचन—रसपरित्याग के विशिष्ट फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा से रसपरित्याग के दो अर्थ फलित होते है—(१) दूध, दही, घी आदि रसो का त्याग और (२) प्रणीत (स्निग्ध) पान-भोजन का त्याग। औपपातिकसूत्र मे रसपरित्याग के विभिन्न प्रकार बतलाए हैं—(१) निर्विकृति (विकृति-विगई का त्याग), (२) प्रणीतरसत्याग, (३) आचामाम्ल (अम्लरस मिश्रित भात आदि का आहार), (४) आयामसिक्थ भोजन (ओसामण मिले हुए अन्नकण का भोजन), (५) अरस (हीग से असस्कृत) आहार, (६) विरस (पुराने धान्य का) आहार, (७) अन्त्य (बालोर आदि तुच्छ धान्य का) आहार, (८) प्रान्त्य (शीतल) आहार एव (९) रूक्ष आहार।[1]

विकृति : स्वरूप और प्रकार—जिन वस्तुओ से जिह्वा और मन, दोनो विकृत होते हैं, ये स्वादलोलुप या विषयलोलुप बनते है, उन्हे 'विकृति' कहते है। विकृतियाँ सामान्यतया ५ मानी जाती हैं—दूध, दही, घी, तेल एव गुड (मीठा या मिठाइयाँ)। ये चार महाविकृतियाँ मानी जाती हैं—मधु, नवनीत, मास और मद्य। इनमे मद्य और मास दो तो सर्वथा त्याज्य है। पूर्वोक्त ५ मे से किसी एक का या इन सबका त्याग करना रसपरित्याग है। प आशाधरजी ने विकृति के ४ प्रकार बताए है—(१) **गोरसविकृति**—दूध, दही, घी, मक्खन आदि, (२) **इक्षुरसविकृति**—गुड, चीनी, मिठाई आदि, (३) **फलरसविकृति**—अगूर, आम आदि फलो के रस, और (४) **धान्यरसविकृति** तेल, माड, पूडे, हरा शाक, दाल आदि। रसपरित्याग करने वाला शाक, व्यजन, तली हुई चीजो, नमक आदि मसालो को इच्छानुसार वर्जित करता है।[2]

रसपरित्याग का प्रयोजन और परिणाम—इस तप का प्रयोजन स्वादविजय है। इस तप के फलस्वरूप साधक को तीन लाभ होते हैं—(१) सतोष की भावना, (२) ब्रह्मचर्य-साधना एव (३) सासारिक पदार्थों से विरक्ति।[3]

५. कायक्लेशतप

२७. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं॥

[२७] आत्मा के लिए सुखावह वीरासन आदि उग्र आसनो का जो अभ्यास किया जाता है उसे कायक्लेश तप कहा गया है।

विवेचन—कायक्लेश का लक्षण—शरीर को जानबूझ कर स्वेच्छा से विना ग्लानि के कठिन

१. (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २,
   (ख) औपपातिकवृत्ति, सूत्र १९

२ (क) सागारधर्मामृतटीका ५।३५
   (ख) मूलाराधना ३।२१३
   (ग) स्थानाग स्थान ४।१।२७४   (घ) वही, ९।६७४
   (ङ) सागारधर्मामृत ५।३५ टीका   (च) मूलाराधना ३।२१५

३. सतोषो भावित सम्यग् ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
   दर्शित स्वस्य वैराग्य, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥   — मूलाराधना (अमितगति) ३।२१७

तप की अग्नि मे झोकना एव शरीर को सुख मिले, ऐसी भावना को त्यागना कायक्लेश है । प्रस्तुत गाथा मे कायक्लेश का अर्थ किया गया है—वीरासन आदि कठोर आसनो का अभ्यास करना । स्थानागसूत्र मे कायक्लेश मे ७ बाते निर्दिष्ट हैं—(१) स्थान-कायोत्सर्ग, (२) उकडू-आसन, (३) प्रतिमा-आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) दण्डायत-आसन और (७) लगण्ड-शयनासन । औपपातिकसूत्र में स्थानागसूत्रोक्त ५ प्रकार तो ये ही हैं, शेष ५ प्रकार इस प्रकार हैं—(६) आतापना, (७) वस्त्रत्याग, (८) अकण्डूयन (अग न खुजाना), (९) अनिष्ठीवन (थूकना नही) और (१०) सर्वगात्रपरिकर्म-विभूषावर्जन । मूलाराधना और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार खड़ा रहना, एक करवट से मृत की तरह सोना, वीरासनादि से बैठना इत्यादि तथा आतापनयोग (ग्रीष्मऋतु मे धूप में, शीतऋतु मे खुले स्थान मे या नदीतट पर तथा वर्षाऋतु मे वृक्ष के नीचे सोना-बैठना), वृक्ष के मूल मे निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन इत्यादि करना कायक्लेश हैं ।[1]

कायक्लेश की सिद्धि के लिए—अनगारधर्मामृत में छह उपायो का निर्देश किया गया है—(१) अयन (सूर्य की गति के अनुसार गमन करना), **शयन** (लगड, उत्तान, अवाक्, एकपार्श्व, अभ्रावकाश आदि अनेक प्रकार से सोना), **आसन** (समपर्यंक, असमपर्यंक, गोदोह, मकरमुख, गोशय्या, वीरासन, दण्डासन आदि), **स्थान** (साधार, सविचार, ससन्निरोध, विसृष्टाग, समपाद, प्रसारितबाहू आदि अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग), **अवग्रह** (थूकना, खासना, छीक, जभाई, खाज, काटा चुभना, पत्थर लगना आदि बाधाओ को जीतना, खिन्न न होना, केशलोच करना, अस्नान, अदन्तधावन आदि अनेक प्रकार के अवग्रह) और **योग** (आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, शीतयोग आदि) ।[2]

कायक्लेश तप का प्रयोजन—यह देहदु ख को सहने के लिए, सुखविषयक आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है । शीत, वात और आतप के द्वारा, आचाम्ल, निर्विकृति, एकलस्थान, उपवास, बेला, तेला आदि के द्वारा, क्षुधा, तृषा आदि बाधाओ द्वारा और विसस्थुल आसनो द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए यह तप किया जाता है । जिसने इन बाधाओ का अभ्यास नही किया है तथा जो इन मारणान्तिक कष्टो से खिन्न हो जाता है, वह ध्यान के योग्य नही बन सकता । सम्यग्दर्शनयुक्त इस तप से अन्तरग बल की वृद्धि और कर्मों की अनन्त निर्जरा होती है । यह मोक्ष का प्रधान कारण है । मुमुक्षुओ तथा प्रशान्त तपस्वियों

---

१ (क) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भा २, पृ ४६ (ख) भगवती आराधना वि ८६।३२।१८ कायसुखाभिलाषत्यजन—कायक्लेश ।
(ग) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २ (घ) स्थानाग, स्थान ७।५५४ (ङ) औपपातिक. सू १९
(च) मूलाराधना मू ३५६ (छ) सर्वार्थसिद्धि ९।१९।४३८ ।
'आतपस्थान वृक्षमूलनिवासो, निरावरणशयन बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादि. कायक्लेश ।'

२ ऊर्ध्वार्कायनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः ।
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः ॥
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः ।
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् । —भगवती आराधना मू. २२२-२२७

विनय के परिणाम—ज्ञानप्राप्ति, आचारविशुद्धि, सम्यग् आराधना आदि। **वैयावृत्य के परिणाम**—चित्तसमाधि, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि। **स्वाध्याय के परिणाम**—प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्टसंवेगोत्पत्ति, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचारशुद्धि, संदेहनाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि। **ध्यान के परिणाम**—कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीडित न होना, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना, ध्यान के सुपरिणाम हैं। **व्युत्सर्ग के परिणाम**—निर्ममत्व, निरहंकारता, निर्भयता, जीने के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्षमार्ग में सदा तत्परता आदि।[1]

१. प्रायश्चित्त : स्वरूप और प्रकार

३१. आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं॥

[३१] आलोचनार्ह आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से वहन (पालन) करता है, उसे प्रायश्चित्ततप कहा गया है।

विवेचन—प्रायश्चित्त के लक्षण—(१) आत्मसाधना की दुर्गम यात्रा में सावधान रहते हुए भी कुछ दोष लग जाते हैं। उनका परिमार्जन करके आत्मा को पुनः निर्दोष—विशुद्ध बना लेना प्रायश्चित्त है। (२) प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्ततप है। (३) संवेग और निर्वेद से युक्त मुनि अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त तप है। (४) प्राय के चार अर्थ होते हैं—पाप (अपराध), साधुलोक, अथवा प्रचुररूप से तथा तपस्या। अतः प्रायश्चित्त के अर्थ क्रमशः इस प्रकार होते हैं—प्राय—पाप अथवा अपराध का चित्त—शोधन प्रायश्चित्त, प्रायः—साधुलोक का चित्त जिस क्रिया में हो, वह प्रायश्चित्त। प्रायः-लोक अर्थात् जिसके द्वारा साधर्मी और संघ में स्थित लोगों का मन (चित्त) अपने (अपराधी के) प्रति शुद्ध हो जाए, उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्राय अर्थात्—प्रचुर रूप से जिस अनुष्ठान से निर्विकार चित्त—बोध हो जाए, वह प्रायश्चित्त है, अथवा प्राय—तपस्या, चित्त—निश्चय। निश्चययुक्त तपस्या को प्रायश्चित्त कहते हैं।[2]

---

१ (क) उत्तरा. अ. ३० मूलपाठ गा. २८-२९
(ख) तत्त्वार्थ. श्रुतसागरीया वृत्ति, अ. ९।२२,२३,२४,२५,२६

२ (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण, पृ. ४५४
(ख) 'प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०।४३९
(ग) धवला १३।५,४।२६
कयावराहेण ससंवेय-णिव्वेएणा सगावराहणिरायरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं।
(घ) 'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।' —राजवार्तिक ९।२२।१
(ङ) प्रायस्य—साधुलोकस्य यस्मिन्कर्मणि चित्त—शुद्धिः तत्प्रायश्चित्तम्। —वही, ९।२२।१
(च) प्रायः—प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं—बोधः प्रायश्चित्तम्। —नियमसार ता. वृ. ११३
(छ) "प्रायो लोकस्तस्य चित्तं, मनस्तच्छुद्धिकृत् क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं—निश्चयस्तन्निरुच्यते॥" —अनगारधर्मामृत ७।३७

प्रायश्चित्त के दस भेद—(१) **आलोचनार्ह**—अर्ह का अर्थ है योग्य। जो प्रायश्चित्त आलोचनारूप (गुरु के समक्ष अपने दोषो को प्रकट करने के रूप) मे हो। (२) **प्रतिक्रमणार्ह**—कृत पापो से निवृत्त होने के लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' (मेरे दुष्कृत—पाप, मिथ्या—निष्फल हो) इस प्रकार हृदय से उच्चारण करना। अर्थात्—पश्चात्तापपूर्वक पापो को अस्वीकृत करना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य मे पापकर्मों से दूर रहने के लिए सावधान रहना। (३) **तदुभयार्ह**—पापनिवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनो करना। (४) **विवेकार्ह**—परस्पर मिले हुए अशुद्ध अन्न-पान आदि या उपकरणादि को अलग करना, अथवा जिस पदार्थ के अवलम्बन से अशुभ परिणाम होते हो, उसे त्यागना या उससे दूर रहना विवेकार्ह प्रायश्चित्त है। (५) **व्युत्सर्गार्ह**—चौवीस तीर्थकरो की स्तुतिपूर्वक कायोत्सर्ग करना। (६) **तपोऽर्ह**—उपवास आदि तप (दण्ड—प्रायश्चित्त रूप मे) करना। (७) **छेदार्ह**—अपराधनिवृत्ति के लिए दीक्षापर्याय का छेद करना (काटना) या कम कर देना। (८) **मूलार्ह**—फिर से महाव्रतो मे आरोपित करना, नई दीक्षा देना। (९) **अनवस्थापनार्ह**—तपस्यापूर्वक नई दीक्षा देना और (१०) **पारांचिकार्ह**—भयकर दोष लगने पर काफी समय तक भर्त्सना एव अवहेलना करने के बाद नई दीक्षा देना।

तत्त्वार्थसूत्र मे प्रायश्चित्त के ९ प्रकार ही बतलाए गए है। पाराचिकार्ह प्रायश्चित्त का विधान नही है।[1]

२. विनय-तप : स्वरूप और प्रकार

३२. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं।
गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ॥

[३२] खडा होना, हाथ जोडना, आसन देना, गुरुजनो की भक्ति करना तथा भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनयतप कहा गया है।

विवेचन—**विनय के लक्षण**—(१) पूज्य पुरुषो के प्रति आदर करना, (२) मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि के प्रति तथा उनके साधक गुरु आदि के प्रति योग्य रीति से सत्कार—आदर आदि करना तथा कषाय से निवृत्ति करना, (३) रत्नत्रयधारक पुरुषो के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (४) गुणो मे अधिक (वृद्ध) पुरुषो के प्रति नम्रवृत्ति रखना, (५) अशुभ क्रिया रूप ज्ञानादि के अतिचारो को वि+नयन करना—हटाना (६) कषायो और इन्द्रियो को नमाना, यह सब विनय के अन्तर्गत है।[2]

---

१. (क) स्थानाग १० स्थान ७३३ (ख) भगवती २५।७।८०१
(ग) औपपातिक सूत्र २० (घ) मूलाराधना ३६२
(ङ) 'आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनानि।' —तत्त्वार्थ ९।२२

२ (क) 'पूज्येष्वादरो विनय।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०
(ख) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार—आदर, कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। —राजवार्तिक ६।२४
(ग) 'रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनय।' —धवला १३।५, ४।२६
(घ) 'गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनय।' —कषायपाहुड १।१-१
(ङ) ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रिया, तासामपोहन विनय।
—भगवती आराधना वि ३००।५११

विनय के प्रकार—यद्यपि प्रस्तुत गाथा मे विनय के प्रकारो का उल्लेख नही है। तथापि तत्त्वार्थसूत्र मे चार (ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार) विनय एव औपपातिकसूत्र मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और लोकोपचार, यो ७ विनयो का उल्लेख है।[1]

३. वैयावृत्य का स्वरूप

३३. आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवण जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं॥

[३३] आचार्य आदि से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा है।

विवेचन—वैयावृत्य के लक्षण—सयमी या गुणी पुरुषो के दु ख मे आ पडने पर गुणानुराग-पूर्वक निर्दोष (कल्पनीय) विधि मे उनका दु:ख दूर करना, अथवा शरीरचेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उनकी उपासना करना, व्याधि, परीषह आदि का उपद्रव होने पर औषध, आहारपान, उपाश्रय आदि देकर उपकार करना, जो मुनि उपसर्ग-पीडित हो तथा वृद्धावस्था के कारण जिसकी काया क्षीण हो गई हो, उसका निरपेक्ष होकर उपकार करना वैयावृत्यतप है। रोगादि मे व्यापृत (व्याकुल) होने पर आपत्ति के समय उसके निवारणार्थ जो किया जाता है, अथवा शरीरपीडा अथवा दुष्परिणामो को दूर करने के लिए औषध आदि मे या अन्य प्रकार से जो उपकार किया जाता है, वह वैयावृत्य नामक तप है।[2]

वैयावृत्य का प्रयोजन एवं परिणाम—भगवती आराधना मे वैयावृत्य के १८ गुण बताए हैं—गुणग्रहण के परिणाम, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्रता की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुन: सन्धान, तप, पूजा, तीर्थ-अव्युच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा, सयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रवचन-प्रभावना। पुण्यसचय तथा कर्तव्य का निर्वाह।

सर्वार्थसिद्धि मे बताया गया है कि वैयावृत्य का प्रयोजन है—समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव तथा प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति। सम्यक्त्वी के लिए वैयावृत्य निर्जरा का निमित्त है।

इसी शास्त्र मे वैयावृत्य से तीर्थंकरत्व की प्राप्ति की सभावना बताई गई है।[3]

---

१ (क) ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारा। —तत्त्वार्थ ९।२३
(ख) औपपातिक. सू २०

२. (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार ११२,
(ख) गुणवददु:खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरण वैयावृत्त्याम् —सर्वार्थसिद्धि ६।२४,
(ग) (रोगादिना) व्यापृते, व्यापदि वा यत्क्रियते तद् वैयावृत्यम्। —धवला ८।३, ४१, १३।५, ४
(घ) 'जो उवयरदि जदीण उवसग्गजराइ खीणकायाणं।
पूयादिसु णिरवेक्ख वेज्जावच्च तवो तस्स॥' —कात्तिकेयानुप्रेक्षा, ४५९

३ (क) भगवती आराधना मूल ३०९-३१०
(ख) सर्वार्थसिद्धि ९।२४।४४२
(ग) धर्मपरीक्षा ७।९
(घ) धवला ८८।१० . 'ताए एव विहाए एक्काए वेयावच्चजोगजुत्तदाए वि।
(ङ) उत्तरा अ २९ सू ४४ : वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्मं निबधइ।

वैयावृत्य के १० प्रकार—वैयावृत्य के योग्य पात्रों के आधार पर स्थानांग में इसके १० प्रकार बताए हैं—(१) आचार्य-वैयावृत्य, (२) उपाध्याय-वैयावृत्य, (३) तपस्वी-वैयावृत्य, (४) स्थविर-वैयावृत्य, (५) ग्लान-वैयावृत्य, (६) शैक्ष (नवदीक्षित)—वैयावृत्य, (७) कुल-वैयावृत्य, (८) गण-वैयावृत्य, (९) संघ-वैयावृत्य, और (१०) सार्धर्मिक-वैयावृत्य।

मूलाराधना मे वैयावृत्य के योग्य १० पात्र ये बताए हैं—गुणाधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल साधु, गण, कुल, चतुर्विध संघ और समनोज्ञ पर आपत्ति आने पर वैयावृत्य करना कर्तव्य है।[1]

४. स्वाध्याय : स्वरूप एवं प्रकार

३४. वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे॥

[३४] वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह पाच प्रकार का स्वाध्याय-तप है।

विवेचन—स्वाध्याय के लक्षण—(१) स्व—अपनी आत्मा का हित करने वाला, अध्याय—अध्ययन करना स्वाध्याय है, अथवा (२) आलस्य त्याग कर ज्ञानाराधना करना स्वाध्याय-तप है। (३) तत्त्वज्ञान का पठन, पाठन और स्मरण करना आदि स्वाध्याय है। (४) पूजा-प्रतिष्ठादि से निरपेक्ष होकर केवल कर्ममल-शुद्धि के लिए जो मुनि जिनप्रणीत शास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी है।[2]

स्वाध्याय के प्रकार—पाच है—(१)वाचना (स्वय पढना या योग्य व्यक्ति को वाचना देना या व्याख्यान करना), (२) पृच्छना—(शास्त्रों के अर्थ को बार-बार पूछना), (३) परिवर्तना—(पढे हुए ग्रन्थ का बार-बार पाठ करना), (४) अनुपेक्षा—(परिचित या पठित शास्त्रपाठ का मर्म समझने के लिए मनन-चिन्तन-पर्यालोचन करना) और (५) धर्मकथा—(पठित या पर्यालोचित शास्त्र का धर्मोपदेश करना अथवा त्रिषष्टिशलाका पुरुषो का चरित्र पढना)।

तत्त्वार्थसूत्र मे परिवर्तना के बदले उसी अर्थ का द्योतक 'आम्नाय' शब्द है।[3]

---

१ (क) स्थानांग १०।७३३ (ख) भगवती २५।७।८०१ (ग) औपपातिक सू २०
(घ) तत्त्वार्थ ९।२४
(ङ) 'गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले।
साहुगणे कुले सघे समणुण्णे य चापदि॥' —मूलाराधना ३९०

२ (क) 'स्वस्मै हितोऽध्याय स्वाध्याय।' —चारित्रसार १५२।५
(ख) 'ज्ञानभावनाऽलस्यत्याग स्वाध्याय।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०
(ग) स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापन स्मरण च।' —चारित्रसार ४४।३
(घ) 'पूयादिसु णिरवेक्खो जिणसत्थ जो पढेइ भत्तिजुओ।
कम्ममलसोहणट्ठ सुयलाहो सुहयरो तस्स।' —कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ४६२

३ (क) उत्तरा अ ३०
(ख) वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा। —तत्त्वार्थ ९।२५

स्वाध्याय : सर्वोत्तम तप— सर्वज्ञोपदिष्ट बारह प्रकार के तप में स्वाध्यायतप के समान न तो अन्य कोई तप है और न ही होगा। सम्यग्ज्ञान से रहित जीव करोडो भवों मे जितने कर्मों का क्षय कर पाता है, ज्ञानी साधक तीन गुप्तियो से गुप्त होकर उतने कर्मों को अन्तर्मुहूर्त्त मे क्षय कर देता है। एक उपवास से लेकर पक्षोपवास या मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञानरहित जीव से भोजन करने वाला स्वाध्याय-तत्पर सम्यग्दृष्टि साधक परिणामो की अधिक विशुद्धि कर लेता है।[1]

५. ध्यान : लक्षण और प्रकार

३५. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए॥

[३५] आर्त्त और रौद्र ध्यान को त्याग कर जो सुसमाहित मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याना है, ज्ञानी जन उसे ही 'ध्यानतप' कहते हैं।

विवेचन—ध्यान के लक्षण—(१) एकाग्रचिन्तन ध्यान है, (२) जो स्थिर अध्यवसान (चेतन) है, वही ध्यान है। (३) चित्तविक्षेप का त्याग करना ध्यान है। अथवा (४) अपरिस्पन्दमान अग्निज्वाला (शिखा) की तरह अपरिस्पन्दमान ज्ञान ही ध्यान है। अथवा (५) अन्तर्मुहूर्त्त तक चित्त का एक वस्तु मे स्थित रहना छद्मस्थो का ध्यान है और वीतराग पुरुष का ध्यान योगनिरोध रूप है। अथवा (६) मन-वचन-काया की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं।[2]

ध्यान के प्रकार और हेयोपादेय ध्यान—एकाग्रचिन्तनात्मक ध्यान की दृष्टि से उसके चार प्रकार होते हैं— (१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल। आर्त्त और रौद्र, ये दोनो ध्यान अप्रशस्त हैं।

पुत्र-शिष्यादि के लिए, हाथी-घोडे आदि के लिए, आदर-पूजन के लिए, भोजन-पान के लिए, मकान या स्थान के लिए, शयन, आसन, अपनी भक्ति एवं प्राणरक्षा के लिए, मैथुन की इच्छा या कामभोगो के लिए, आज्ञानिर्देश, कीर्ति, सम्मान, वर्ण (प्रशसा) या प्रभाव या प्रसिद्धि के लिए मन का सकल्प (चिन्तन) **अप्रशस्त ध्यान** है। जीवो के पापरूप आशय के वश से तथा मोह, मिथ्यात्व, कषाय तथा तत्त्वो के अयथार्थरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ ध्यान **अप्रशस्त** एव असमीचीन है। पुण्यरूप

---

१. बारसविहम्मि य तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि, ण वि य होहिदि सज्झायसम तवोकम्म॥
ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि अतोमुहुत्तेण॥
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स॥ —भगवती आराधना १०७-१०८-१०९

२ (क) तत्त्वार्थ ९।२० (ख) 'ज थिरमज्झवसाण त झाणं।' —ध्यानशतक गा २
(ग) 'चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०।४३९
(घ) अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। —तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति, ९।२७
(ङ) ध्यानशतक, गाथा ३,
(च) लोकप्रकाश ३०।४२१-४२२

आशय से तथा शुद्ध लेश्या के आलम्बन से और वस्तु के यथार्थस्वरूप के चिन्तन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त है। प्रस्तुत गाथा मे दो प्रशस्त ध्यान ही उपादेय तथा दो अप्रशस्त ध्यान त्याज्य बताए हैं।[1]

जीव का आशय तीन प्रकार का होने से कई सक्षेपरुचि साधको ने तीन प्रकार का ध्यान माना है— (१) पुण्यरूप शुभाशय, (२) पापरूप अशुभाशय और (३) शुद्धोपयोग रूप आशयवाला।[2]

आर्त्तध्यान : लक्षण एवं प्रकार—आर्त्तध्यान के ४ लक्षण हैं— आक्रन्द, शोक, अश्रुपात और विलाप। इसके चार प्रकार हैं—(१) अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना, (२) आतकादि दु:ख आ पडने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना अथवा मनोज्ञ वस्तु या विषय का सयोग होने पर उसका वियोग न होने की चिन्ता करना। (४) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता या सकल्प करना अथवा प्रीतिकर कामभोग का सयोग होने पर उसका वियोग न होने की चिन्ता करना। इसीलिए चेतना की आर्त्त या वेदनामयी एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा गया है।[3]

रौद्रध्यान : लक्षण एवं प्रकार— रुद्र अर्थात् क्रूर-कठोर चित्त के द्वारा किया जाने वाला ध्यान रौद्रध्यान है। इसके चार लक्षण है—(१) हिंसा आदि से प्राय विरत न होना, (२) हिंसा आदि की प्रवृत्तियो मे जुटे रहना, (३) अज्ञानवश हिंसा मे प्रवृत्त होना और (४) प्राणातकारी हिंसा आदि करने पर भी पश्चात्ताप न होना।

प्रकार— हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयो के संरक्षण की वृत्ति से क्रूरता व कठोरता उत्पन्न होती है। इन्ही को लेकर जो सतत धाराप्रवाह चिंतन होता है, वह क्रमशः चार प्रकार का होता है— हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसरक्षणानुबन्धी।

ये दोनो ध्यान पापाश्रव के हेतु होने से अप्रशस्त हैं। साधना की दृष्टि से आर्त्त-रौद्र-परिणतिमयी एकाग्रता विघ्नकारक ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। ये दोनो प्रशस्त हैं और आश्रव-निरोधक है।[4]

धर्मध्यान : लक्षण, प्रकार, आलम्बन और अनुप्रेक्षाएँ— वस्तु के धर्म या सत्य अथवा आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान के चिन्तन-अन्वेषण मे परिणत चेतना की एकाग्रता को '**धर्मध्यान**' कहते हैं। इसके ४ **लक्षण** है— आज्ञारुचि—(प्रवचन के प्रति श्रद्धा), (२) निसर्गरुचि—(स्वभावतः सत्य मे श्रद्धा), (३) सूत्ररुचि—(शास्त्राध्ययन से उत्पन्न श्रद्धा) और (३) अवगाढरुचि—(विस्तृतरूप से सत्य मे अवगाहन करने की श्रद्धा)।

चार आलम्बन— वाचना, प्रतिपृच्छना, पुनरावृत्ति करना और अर्थ के सम्बन्ध मे चिन्तन—अनुप्रेक्षण।

---

१ (क) मूलाराधना ६८१-६७२ (ख) ज्ञानार्णव ३।२९-३१
(ग) चारित्रसार १६७।२

२ ज्ञानार्णव ३।२७-२८

३ तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) ९।२९, ९।३०, ९।३१-३४

४ वही (प. सुखलालजी) ९।३६

चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) एकत्व-अनुप्रेक्षा, (२) अनित्यत्वानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा (अशरणदशा का चिन्तन) और (४) ससारानुप्रेक्षा (ससार सबधी चिन्तन)।[1]

शुक्लध्यान : आत्मा के शुद्ध रूप की सहज परिणति को शुक्लध्यान कहते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं—**(१) पृथक्त्ववितर्कसविचार**—श्रुत के आधार पर किसी एक द्रव्य मे (परमाणु आदि जड़ मे या आत्मरूप चेतन मे) उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व आदि अनेक पर्यायो का द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक आदि विविध नयो द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करना। **(२) एकत्ववितर्क-अविचार**—ध्याता द्वारा अपने मे सम्भाव्य श्रुत के आधार पर एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व-(अभेद) प्रधान चिन्तन करना, एक ही योग पर अटल रहना। **(३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति**—सर्वज्ञ भगवान् जब योगनिरोध के क्रम मे सूक्ष्म काययोग का आश्रय लेकर शेष योगो को रोक लेते हैं, उस समय का ध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहलाता है। **(४) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति**—जब शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियाएँ भी बद हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं, तब वह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहलाता है।

चार लक्षण—अव्यथ (व्यथा का अभाव), असम्मोह, (सूक्ष्म पदार्थविषयक मूढता का अभाव), विवेक (शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान) और व्युत्सर्ग (शरीर और उपधि पर अनासक्ति भाव)।

चार आलम्बन—क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), मृदुता और ऋजुता।

चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) अनन्तवृत्तिता (ससारपरम्परा का चिन्तन),(२) विपरिणाम—अनुप्रेक्षा (वस्तुओ के विविध परिणामो पर चिन्तन), (३) अशुभ-अनुप्रेक्षा (पदार्थों की अशुभता का चिन्तन) और (४) अपाय-अनुप्रेक्षा (अपायो—दोषो का चिन्तन)।[2]

६. व्युत्सर्ग : स्वरूप और विश्लेषण

३६. सयणासण-ठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

[३६] शयन मे, आसन मे और खडे होने मे जो भिक्षु शरीर से हिलने-डुलने की चेष्टा नही करता, यह शरीर का व्युत्सर्ग, व्युत्सर्ग नामक छठा (आभ्यन्तर) तप कहा गया है।

विवेचन—व्युत्सर्ग-तप : लक्षण, प्रकार और विधि—बाहर मे क्षेत्र, वास्तु, शरीर, उपधि, गण, भक्त-पान आदि का और अन्तरग मे कषाय, ससार और कर्म आदि का नित्य अथवा अनियत काल के लिए त्याग करना व्युत्सर्गतप है। इसी कारण द्रव्य और भावरूप से व्युत्सर्गतप मुख्यतया दो प्रकार का आगमो मे वर्णित है। द्रव्यव्युत्सर्ग के चार प्रकार—(१) शरीरव्युत्सर्ग (शारीरिक क्रियाओ मे चपलता का त्याग), (२) गणव्युत्सर्ग—(विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग), (३) उपधिव्युत्सर्ग (वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो का त्याग) और (४) भक्त-पानव्युत्सर्ग (आहार-पानी का त्याग)।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र (प, सुखलालजी) ९।३७

२. वही (प सुखलालजी) ९।३९-४६, पृ २२०-२३०

भावव्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं—(१) कषायव्युत्सर्ग, (२) ससारव्युत्सर्ग (ससारपरिभ्रमण का त्याग) और (३) कर्मव्युत्सर्ग-(कर्मपुद्गलो का विसर्जन)।

धवला के अनुसार—शरीर एव आहार मे मन, वचन की प्रवृत्तियो को हटा कर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रतापूर्वक चित्तनिरोध करना व्युत्सर्ग है। अनगारधर्मामृत मे व्युत्सर्ग की निरुक्ति की है—बन्ध के हेतुभूत विविध प्रकार के बाह्य एव आभ्यन्तर दोषो का विशेष प्रकार से विसर्जन (त्याग) करना।'

कायोत्सर्ग के लक्षण—व्युत्सर्ग का ही एक प्रकार कायोत्सर्ग है। (१) नियमसार मे कायोत्सर्ग का लक्षण कहा गया है—'काय आदि पर द्रव्यों मे स्थिरभाव छोडकर आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है।' (२) दैवसिक निश्चित क्रियाओ मे यथोक्त कालप्रमाण-पर्यन्त उत्तम क्षमा आदि जिनेन्द्र गुणो के चिन्तन सहित देह के प्रति ममत्व छोडना कायोत्सर्ग है। (३) देह को अचेतन, नश्वर एव कर्मनिर्मित समझ कर केवल उसके पोषण आदि के लिए जो कोई कार्य नही करता, वह, कायोत्सर्ग-धारक है। जो मुनि शरीर-सस्कार के प्रति उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा न करता हो, दु सह रोग के हो जाने पर भी चिकित्सा नही करता हो, शरीर पसीने और मैल से लिप्त हो कर भी जो अपने स्वरूप के चिन्तन मे ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो और शरीर के प्रति ममत्व न करता हो, उस मुनि के कायोत्सर्ग नामक तप होता है। (४) खडे-खडे या बैठे-बैठे शरीर तथा कषायो का त्याग करना कायोत्सर्ग है। (५) यह अशुचि अनित्य, विनाशशील, दोषपूर्ण, असार एव दु खहेतु एव अनन्तससार परिभ्रमण का कारण, यह शरीर मेरा नही है और न मैं इसका स्वामी हूँ। मै भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है, इस प्रकार का भेदविज्ञान प्राप्त होते ही शरीर रहते हुए भी शरीर के प्रति आदर घट जाने की तथा ममत्व हट जाने की स्थिति का नाम कायोत्सर्ग है।[२]

कायोत्सर्ग की विधि—कायोत्सर्गकर्ता काय के प्रति नि स्पृह हो कर जीव-जन्तुरहित स्थान मे खभे की तरह निश्चल एव सीधा खडा हो। दोनो बाहु घुटनो की ओर लम्बी करे। चार अगुल के

---

१ (क) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भा ३, पृ ६२७ (ख) भगवती. २५।७।८०२
(ग) औपपातिक सू २६
(घ) 'सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारियज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो वि ओसग्गो णाम।'
—धवला ८।३,४१।८५
(ङ) बाह्याभ्यन्तरदाषा ये विविधा बन्धहेतव ।
यस्तेषामुत्तम सर्ग, स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥ — अनगारधर्मामृत ७।९४।७२१

२ (क) कायाईपरदव्वे थिरभाव परिहरित्तु अप्पाण ।
तस्स हवे तणुसग्ग जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥ —नियमसार १२१
(ख) देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिण-गुणचितणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥ —मूलाराधना २८
(ग) 'परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्ति कायोत्सर्ग ।' —चारित्रसार ५६।३
(घ) योगसार अ. ५।५२ (ङ) कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८
(च) भगवती आराधना वि. ११६।२७८।१३ (सारांश)

अन्तर सहित समपाद होकर प्रशस्त ध्यान मे निमग्न हो। हाथ आदि अगों का सचालन न करे। काय को न तो अकड कर खड़ा हो और न ही झुका कर। देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत तथा अचेतनकृत सभी उपसर्गों को कायोत्सर्ग-स्थित मुनि सहन करे। कायोत्सर्ग मे मुनि ईर्यापथ के अतिचारो का शोधन करे तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन करे। प्राय वह एकान्त, शान्त, कोलाहल एवं आवागमन से रहित अबाधित स्थान मे कायोत्सर्ग करे।[1]

कायोत्सर्ग का प्रयोजन—मुनि अपने शरीर के प्रति ममत्वत्याग के अभ्यास के लिए, ईर्यापथ के तथा अन्य अवसरो पर हुए दोषो के शोधन के लिए, दोषो के आलोचन के लिए, कर्मनाश एव दु खक्षय के लिए या मुक्ति के लिए कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन तो काय से आत्मा को पृथक् (वियुक्त) करना है। आत्मा के सान्निध्य मे रहना है तथा स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा परद्रव्यो मे 'स्व' का व्युत्सर्ग करना है। नि सगत्व, निर्भयत्व, जीविताशात्याग, दोषोच्छेद, मोक्षमार्ग-प्रभावना और तत्परत्व आदि के लिए दोनो प्रकार का व्युत्सर्ग तप आवश्यक है। प्रयोजन की दृष्टि से: कायोत्सर्ग के दो रूप होते हैं—चेष्टाकायोत्सर्ग—अतिचारशुद्धि के लिए और अभिनवकायोत्सर्ग—विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहन करने के लिए। अतिचारशुद्धि के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एव सावत्सरिक आदि अनेक विकल्प होते हैं। ये कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के समय किये जाते हैं।[2]

मानसिक वाचिक कायिक कायोत्सर्ग—मन से शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि की निवृत्ति मानस-कायोत्सर्ग है, 'मैं शरीर का त्याग करता हूँ, ऐसा वचनोच्चारण करना वचनकृत, कायोत्सर्ग है और बांहे नीचे फैला कर तथा दोनो पैरो मे सिर्फ चार अगुल का अन्तर रखकर निश्चल खडे रहना शारीरिक कायोत्सर्ग है। इस त्रिविध कायोत्सर्ग मे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण करना आवश्यक है।[3]

कायोत्सर्ग के प्रकार—हेमचन्द्राचार्य के मतानुसार कायोत्सग खडे-खडे, बैठे-बैठे और सोते-सोते तीनो अवस्थाओ मे किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे कायोत्सर्ग और स्थान दोनो एक हो जाते है। भगवती आराधना के अनुसार ऐसे कायोत्सर्ग के चार प्रकार होते है—**(१) उत्थित-उत्थित**—(काया एव ध्यान दोनो से उन्नत (खडा हुआ) धर्म-शुक्लध्यान मे लीन), **(२) उत्थित-उपविष्ट**—काया से उन्नत (खडा) किन्तु ध्यान से आर्त्त-रौद्रध्यानलीन अवनत, **(३) उपविष्ट-**

---

१ (क) मूलाराधना वि २।११६, पृ. २७८ (ख) भगवती आराधना वि ११६।२७८।२०
(ग) वही, (मूल) ५५०।७६३

२. (क) मूलाराधना ६६२-६६६, ६६३-६६५, (ख) वही, २।११६ पृ २७८
(ग) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) प्रकाश ३, पत्र २५०
(घ) राजवार्तिक ९।२६।१०।६२५
(ङ) बृहत्कल्पभाष्य इह द्विधा कायोत्सर्ग —चेष्टायामभिभवे च। गा ५९५८
(च) योगशास्त्र प्रकाश ३, पत्र २५०

३ (क) भगवती आराधना विजयोदया ५०९। ७२९। १६
(ख) योगशास्त्र प्रकाश ३, पत्र २५०

उत्थित—(काया से बैठा किन्तु ध्यान से खड़ा—यानी धर्म-शुक्लध्यानलीन) एव (४) उपविष्ट-उपविष्ट—(काया और ध्यान दोनो से बैठा हुआ, अर्थात्—काया से बैठा और ध्यान से आर्त्त-रौद्रध्यानलीन)। इन चारो विकल्पो मे प्रथम और तृतीय प्रकार उपादेय है, शेष दो त्याज्य हैं।[1]

द्विविध तप का फल

३७. एयं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वससारा विप्पमुच्चइ पण्डिए॥
—त्ति बेमि।

[३७] इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तप का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त ससार से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तपोमार्गगति : तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

इकतीसवाँ अध्ययन : चरणविधि

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम चरणविधि (चरणविही) है। चारित्र की विधि का अर्थ है—चारित्र में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति। चारित्र का प्रारम्भ सयम से होता है। अत असयम से निवृत्ति और विवेक-पूर्वक सयम मे प्रवृत्ति ही चारित्रविधि है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति मे सयम की सुरक्षा कठिन है। अत विवेकपूर्वक असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति ही चारित्र है।

* चारित्रविधि का प्रारम्भ सयम से होता है, इसलिए उसकी आराधना-साधना करते हुए जिन विषयो को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए, उन्ही का इस अध्ययन मे सकेत है। ११ उपासक प्रतिमाओ का सर्वविरति चारित्र से सम्बन्ध न होते हुए भी देशविरति चारित्र से इनका सम्बन्ध है। अत वे कथचित् उपादेय होने से उनका यहाँ उल्लेख किया गया है। इस प्रकार असयम (से निवृत्ति) के एक बोल से लेकर ३३ वे बोल तक का इसमे चारित्र के विविध पहलुओ की दृष्टि से निरूपण है।

* उदाहरणार्थ—साधु असयम से दूर रहे, राग और द्वेष, ये चारित्र मे स्खलना पैदा करते है, उनसे दूर रहे, त्रिविध दण्ड, शल्य और गौरव से निवृत्त हो, तीन प्रकार के उपसर्गों को सहन करने से चारित्र उज्ज्वल होता है। विकथा, कषाय, सज्ञा और अशुभ ध्यान, ये त्याज्य है, क्योकि ये चारित्र को दूषित करने वाले हैं। इसी प्रकार कुछ बाते त्याज्य हैं, कुछ उपादेय है, और कुछ ज्ञेय हैं।

* निष्कर्ष यह है कि साधक को दुष्प्रवृत्तियो से, असयमजनक आचरणो से दूर रहकर सत्प्रवृत्तियो और सयमजनक आचरणो मे प्रवृत्त होना चाहिए। इसका परिणाम ससारचक्र के परिभ्रमण से मुक्ति के रूप मे प्राप्त होता है।

□□

एगतीसइमं अज्झयणं : इकतीसवाँ अध्ययन

चरणविही : चरणविधि

चरण-विधि के सेवन का माहात्म्य

१. चरणविहिं पवक्खामि जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसारसागरं ।।

[१] जीव को सुख प्रदान करने वाली उस चरणविधि का कथन करूंगा, जिसका आचरण करके बहुत-से जीव ससारसमुद्र को पार कर गए हैं ।

विवेचन—चरणविधि—चरण अर्थात् चारित्र की विधि, चारित्र का अनुष्ठान करने का शास्त्रोक्त विधान, जो कि प्रवृत्ति-निवृत्यात्मक है । आशय यह है कि अचारित्र से निवृत्ति और चारित्र मे प्रवृत्ति ही वास्तविक चरणविधि है । चारित्र क्या और अचारित्र क्या है ? यह आगे की गाथाओ मे कहा गया है ।

चारित्र ही वह नाव है, जो साधक को ससारसमुद्र से पार लगा मोक्ष के तट पर पहुँचा देती है । परन्तु चारित्र केवल भावना या वाणी की वस्तु नही है, वह आचरण की वस्तु है ।[1]

चरण-विधि की संक्षिप्त झांकी

२. एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं ।।

[२] साधक को एक ओर से विरति (निवृत्ति) करनी चाहिए और एक ओर से प्रवृत्ति । (अर्थात्—) असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति (करनी चाहिए ।)

विवेचन—चरणविधि का स्वरूप—असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति, ये दोनो चरणात्मक अर्थात्—आचरणात्मक हैं । निवृत्ति मे असंयम उत्पन्न करने वाली, बढाने वाली, परिणाम में असयमकारक वस्तु का विधिवत् त्याग-प्रत्याख्यान करना तथा प्रवृत्ति मे सयमजनक, सयमवर्द्धक और परिणाम मे सयमकारक वस्तु को स्वीकार करना, दोनो ही समाविष्ट हैं । यह चरणविधि की सक्षिप्त झाँकी है । (यह एक बोल वाली है ।)

दो प्रकार के पापकर्मबन्धन से निवृत्ति

३. रागद्दोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुम्भई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ।।

[३] राग और द्वेष, ये दो पापकर्मों के प्रवर्त्तक होने से पापरूप हैं । जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह ससार (जन्म-मरणरूप मण्डल) मे नही रहता ।

---

१. (क) उत्तरा. निर्युक्ति गा. ५२ (ख) उत्तरा. वृत्ति, अभि रा. कोष भा. ३, पृ. ११२८

विवेचन—राग-द्वेषरूप बन्धन—राग और द्वेष, ये दोनो बन्धन है, पापकर्मबन्ध के कारण हैं। इसलिए इन्हे पाप तथा पापकर्म में प्रवृत्ति कराने वाला कहा है। अतः चरणविधि के लिए साधक को राग-द्वेष से निवृत्ति और वीतरागता मे प्रवृत्ति करनी चाहिए। ये राग और द्वेष दो बोल मुख्यतया निवृत्त्यात्मक हैं।[1]

तीन बोल

४. दण्डाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[४] तीन दण्डो, तीन गौरवो और तीन शल्यो का जो भिक्षु सदैव त्याग करता है, वह ससार में नही रहता।

५. दिव्वे य जे उवसग्गे तहा तेरिच्छ-माणुसे।
जे भिक्खू सहई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[५] दिव्य (देवतासबधी), मानुष (मनुष्यसम्बन्धी), और तिर्यञ्चसम्बन्धी जो उपसर्ग है, उन्हे जो भिक्षु सदा (समभाव से) सहन करता है, वह संसार मे नही रहता।

विवेचन—दण्ड और प्रकार—कोई अपराध करने पर राजा या समाज के नेता द्वारा बन्धन, वध, ताडन आदि के रूप मे दण्डित करना **द्रव्यदण्ड** है तथा जिन अपराधो या हिंसादिजनक प्रवृत्तियो से आत्मा दण्डित होती है, वह **भावदण्ड** है। प्रस्तुत मे भावदण्ड का निर्देश है। भावदण्ड तीन प्रकार के हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। दुष्प्रवृत्ति मे संलग्न मन, वचन और काय, ये तीनो दण्डरूप है। इनसे चारित्रात्मा दण्डित होता है। अत साधु को इन तीनो दण्डो का त्याग (निवृत्ति) करना और प्रशस्त मन, वचन, काया मे प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

तीन गौरव—अहकार से उत्तप्त चित्त की विकृत स्थिति का नाम **गौरव** है। यह भी ऋद्धि (ऐश्वर्य), रस (स्वादिष्ट पदार्थों) और साता (सुखो) का होने से तीन प्रकार का है। साधक को इन तीनो से निवृत्त और निरभिमानता, मृदुता, नम्रता एव सरलता मे प्रवृत्त होना चाहिए।

तीन शल्य—द्रव्यशल्य बाण, काटे की नोक को कहते हैं। वह जैसे तीव्र पीडा देता है, वैसे ही साधक को आत्मा मे प्रविष्ट हुए दोषरूप ये भावशल्य निरन्तर उत्पीडित करते रहते है, आत्मा मे चुभते रहते है। ये भावशल्य तीन प्रकार के हैं—मायाशल्य (कपटयुक्त आचरण), निदानशल्य (ऐहिक-पारलौकिक भौतिक सुखो की वाछा से तप-त्यागादिरूप धर्म का सौदा करना) और मिथ्यादर्शनशल्य—आत्मा का तत्त्व के प्रति मिथ्या—सिद्धान्तविपरीत—दृष्टिकोण। इन तीनो से

---

१ (क) बद्धयतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्। —आचार्यनमि
(ख) स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्। रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम्।
—आवश्यक हरिभद्रीय टीका

२. "दण्डयते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा ·द्रव्यभावभेदभिन्ना भावदण्डैरिहाधिकार। मन प्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्ड्यते आत्मेति।" —आचार्य हरिभद्र

निवृत्ति और निःशल्यता मे प्रवृत्ति आवश्यक है। निःशल्य होने पर ही व्यक्ति व्रती या महाव्रती बन सकता है।[1]

तीन उपसर्ग—जो शारीरिक-मानसिक कष्टो का सृजन करते हैं, वे उपसर्ग हैं। उपसर्ग मुख्यत तीन हैं—**देवसम्बन्धी उपसर्ग**—देवो द्वारा हास्यवश, द्वेषवश या परीक्षा के निमित्त दिया गया कष्ट, **तिर्यञ्चसम्बन्धी उपसर्ग**—तिर्यञ्चो द्वारा भय, प्रद्वेष, आहार, स्वसतानरक्षण या स्थानसरक्षण के लिए दिया जाने वाला कष्ट और **मनुष्यसम्बन्धी उपसर्ग**—मनुष्यो द्वारा हास्य, विद्वेष, विमर्श या कुशील-सेवन के लिए दूसरो को दिया जाने वाला कष्ट। साधु स्वय उपसर्गों को सहन करने में प्रवृत्त होता है, परन्तु उपसर्ग देने वाले को या दूसरे को स्वयं द्वारा उपसर्ग देने, दिलाने से निवृत्त होता है।[2]

चार बोल

६. विगहा-कसाय-सन्नाणं झाणाणं च दुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[६] जो भिक्षु (चार) विकथाओ का, कषायो का, सज्ञाओ का तथा आर्त्त और रौद्र, दो ध्यानो का सदा वर्जन (त्याग) करता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—विकथा : स्वरूप और प्रकार—सयमी जीवन को दूषित करने वाली, विरुद्ध एवं निरर्थक कथा (वार्ता) को विकथा कहते हैं। साधु को विकथाओ से उतना ही दूर रहना चाहिए, जितना कालसर्पिणी से दूर रहा जाता है। विकथा वही साधु करता है जिसे अध्यात्मसाधना मे ध्यान, मौन, जप, स्वाध्याय आदि मे रस न हो, व्यर्थ की गप्पे हाकने वाला और आहारादि की या राजनीति की व्यर्थ चर्चा करने वाला साधु अपने अमूल्य समय और शक्ति को नष्ट करता है। मुख्यतया विकथाएं ४ हैं—**स्त्रीविकथा**—स्त्रियो के रूप, लावण्य, वस्त्राभूषण आदि से सम्बन्धित बाते करना, **भक्तविकथा**—भोजन की विविधताओ आदि से सम्बन्धित चर्चा मे व्यस्त रहना, खाने-पीने की चर्चा वार्ता करना। **देशविकथा**—देशो की विविध वेषभूषा, शृगार, रचना, भोजनपद्धति, गृहनिर्माणकला, रीतिरिवाज आदि की निन्दा-प्रशसा करना। **राजविकथा**—शासको की सेना, रानियो, युद्धकला भोगविलास आदि की चर्चा करना। साधु को इन चारो विकथाओ से निवृत्त होना एव आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, उद्वेगिनी, सवेगिनी आदि वैराग्यरस युक्त धर्मकथाओ मे प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

कषाय : स्वरूप एवं प्रकार—कष अर्थात् ससार को जिससे आय—प्राप्ति हो। जिसमे प्राणी विविध दुःखो के कारण कष्ट पाते है, उसे कष यानी ससार कहते हैं। कषाय ही कर्मोत्पादक है और कर्मों से ही दुःख होता है। अत साधु को कषायो से निवृत्ति और अकषाय भाव मे प्रवृत्ति करनी

---

१ 'शल्यतेऽनेनेति शल्यम्।'—आचार्य हरिभद्र, 'शल्यते बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१२
निश्शल्यो व्रती —तत्त्वार्थसूत्र ७।१३

२. स्थानांग वृत्ति, स्थान ३

३. (क) विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा।—आचार्य हरिभद्र
(ख) स्थानांगसूत्र स्थान ४, वृत्ति

चाहिए। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधु को इन चारो से निवृत्त और शान्ति, नम्रता या मृदुता, सरलता और संतोष मे प्रवृत्त होना चाहिए।[1]

संज्ञा : स्वरूप और प्रकार—सज्ञा पारिभाषिक शब्द है। मोहनीय और असातावेदनीय कर्म के उदय से जब चेतनाशक्ति विकारयुक्त हो जाती है, तब 'सज्ञा'—(विकृत अभिलाषा) कहलाती है। सज्ञाएँ चार हैं—आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा। ये सज्ञाएँ क्रमश क्षुधावेदनीय, भयमोहनीय, वेदमोहोदय और लोभमोहनीय के उदय से जागृत होती हैं। साधु को इन चारो सज्ञाओ से निवृत्त और निराहारसकल्प, निर्भयता, ब्रह्मचर्य एव निष्परिग्रहता मे प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

दो ध्यान—यहाँ जिन दो ध्यानो से निवृत्त होने का संकेत है, वे है—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। निश्चल होकर एक ही विषय का चिन्तन करना ध्यान है। ध्यान चार प्रकार के हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनका विवेचन तीसवे अध्ययन मे किया जा चुका है।

पांच बोल

७. वएसु इन्दियत्थेसु समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[७] जो भिक्षु व्रतो (पाच महाव्रतो) और समितियो के पालन मे तथा इन्द्रियविषयो और (पाच) क्रियाओ के परिहार मे सदा यत्नशील रहता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—**पंचमहाव्रत**—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये जब मर्यादित रूप मे ग्रहण किये जाते है, तब अणुव्रत कहलाते है। अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है। वह हिमा आदि का सर्वथा परित्याग नही कर सकता। जबकि साधु-साध्वी वर्ग का जीवन गृहस्थी के उत्तरदायित्व से मुक्त होता है, वह पूर्ण आत्मबल के साथ पूर्ण चारित्र के पथ पर अग्रसर होता है और अहिसा आदि महाव्रतो का तीन करण और तीन योग से (यानी नव कोटि से) सदा सर्वथा पूर्ण साधना मे प्रवृत्त होता है। ये पचमहाव्रत साधु के पाच मूलगुण कहलाते हैं।[3]

समिति : स्वरूप और प्रकार—विवेकयुक्त यतना के साथ प्रवृत्ति करना—समिति है। समितियाँ पाच है—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और परिष्ठापनासमिति।

ईर्यासमिति—युगपरिमाण भूमि को एकाग्रचित्त से देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना। **भाषासमिति**—आवश्यकतावश भाषा के दोषो का परिहार करते हुए यतनापूर्वक हित, मित एव स्पष्ट वचन बोलना। **एषणासमिति**—गोचरी सबधी ४२ दोषो से रहित शुद्ध आहार-पानी तथा वस्त्र-पात्र आदि उपधि का ग्रहण एव परिभोग करना। **आदानभाण्डमात्र**

---

१ (क) कष्यते प्राणी विविधैर्दुःखैरस्मिन्निति कष ससार। तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषाया।
—आचार्य नमि

(ख) 'चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचति मूलाइ पुणब्भवस्स॥' —दशवैकालिक ८ अ.

२ स्थानागसूत्र स्थान ४, वृत्ति

३ आवश्यकसूत्र हरिभद्रीय टीका

"आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्त प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान् महाव्रतानीत्यतस्तानि॥" —ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्र

निक्षेपणासमिति—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो को उपयोगपूर्वक ग्रहण करना एव जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर रखना। **परिष्ठापनिकासमिति**—मलमूत्रादि तथा भुक्तशेष अन्नपान तथा भग्न पात्रादि परठने योग्य वस्तु को जीवरहित एकान्त स्थण्डिलभूमि मे परठना-विसर्जन करना। प्रस्तुत पाच समितियाँ सत्प्रवृत्तिरूप होते हुए भी असावधानी से, अयतना से जीवविराधना हो, ऐसी प्रवृत्ति करने से निवृत्त होना भी है। यह तथ्य साधु को ध्यान मे रखना है।[1]

क्रिया : स्वरूप और प्रकार—कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा क्रिया है। आगमो मे यो तो विस्तृत रूप से क्रिया के २५ भेद कहे है। किन्तु उन सबका सूत्रोक्त पाच क्रियाओ मे अन्तर्भाव हो जाता है। वे इस प्रकार है—**कायिकी**—शरीर द्वारा होने वाली, **आधिकरणिकी**—जिसके द्वारा आत्मा नरकादि दुर्गति का अधिकारी होता है (घातक शस्त्रादि अधिकरण कहलाते है।), **प्राद्वेषिकी**—जीव या अजीव किसी पदार्थ के प्रति द्वेषभाव (ईर्ष्या, मत्सर, घृणा आदि) से होने वाली, **पारितापनिकी**—किसी प्राणी को परितापन (ताडन आदि) मे होने वाली क्रिया और **प्राणातिपातिकी**—स्व और पर के प्राणातिपात से होने वाली क्रिया।[2]

पचेन्द्रिय-विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पाच इन्द्रियविषय है, इन पाचो मे मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न करना, अर्थात—पाचो विषयो के प्रति राग-द्वेष से निवृत्ति और तटस्थता-समभाव मे प्रवृत्ति ही साधक के लिए आवश्यक है।[3]

छह बोल

८. लेसासु छसु काएसु छक्के आहारकारणे।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥

[८] जो भिक्षु (कृष्णादि) छह लेश्याओ, पृथ्वीकाय आदि छह कायो, तथा आहार के छह कारणो मे सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—लेश्याएँ : स्वरूप और प्रकार—लेश्या का सक्षेप मे अर्थ होता है—विचारो की तरग या मनोवृत्ति। आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामो द्वारा शुभाशुभ कर्म का सश्लेष होना है, वे परिणाम लेश्या कहलाते है। ये लेश्याएँ निकृष्टतम से लेकर प्रशस्ततम तक ६ हैं, अर्थात्—ऐसे परिणामो की धाराएँ छह है, जो उत्तरोत्तर प्रशस्त होती जाती है। वे इस प्रकार है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। इनमे से साधक को प्रारभ की तीन अधर्म-लेश्याओ से निवृत्ति और तीन धर्मलेश्याओ मे प्रवृत्ति करना है।[4]

---

१ (क) सम्-एकीभावेन, इति—प्रवृत्ति समिति, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थ। —आचार्य नमि
(ख) ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमीर्यासमिति। —आचार्य हरिभद्र
(ग) भाषासमितिर्नाम हितमितासदिग्धार्थभाषणम्। —आचार्य हरिभद्र
(घ) भाण्डमात्रे आदान-निक्षेपणया समिति सुन्दरचेष्टेत्यर्थ। —आ हरिभद्र
(ङ) परित सर्वप्रकारै स्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यास, तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिकी।

२ स्थानाग, स्थान ५ वृत्ति

३ आवश्यक. वृत्ति, आचार्य हरिभद्र

४. (क) सश्लिष्यते आत्मा तैस्तै परिणामान्तरै।…… लेश्याभिरात्मनि कर्माणि सश्लिष्यन्ते।—आवश्यक चूर्णि
(ख) देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र, लेश्या-अध्ययन

षट्काय स्वरूप और कर्त्तव्य—जीवनिकाय (ससारी जीवो के समूह) छह हैं। इन्हे षट्काय भी कहते है। वे हैं—पृथ्वीकाय, (पृथ्वीरूप शरीर वाले जीव), अप्काय—(जलरूप शरीर वाले), तेजस्काय (अग्निरूप शरीर वाले), वायुकाय—(वायुरूप शरीर वाले जीव) और वनस्पतिकाय (वनस्पतिरूप शरीर वाले)। ये पाच स्थावर भी कहलाते हैं। इनके सिर्फ एक ही इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) होती है। छठा त्रसकाय है, त्रसनामकर्म के उदय से गतिशीलशरीरधारी त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव)। इन षट्कायिक जीवो की हिंसा से निवृत्ति और इनकी दया या रक्षा मे प्रवृत्ति करना-कराना साधुधर्म का अग है।[1]

आहार के विधान-निषेध के छह कारण—इसी शास्त्र मे पहले सामाचारी अध्ययन (अ. २६) मे मूलपाठ मे आहार करने के ६ और आहार न करने—आहारत्याग करने के ६ कारण बता चुके हैं। अत प्रस्तुत मे साधु को आहार करने के ६ कारणो से आहार मे प्रवृत्ति तथा आहार त्याग करने से निवृत्ति करना ही अभीष्ट है।[2]

सात बोल

९. पिण्डोग्गहपडिमासु भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[९] जो भिक्षु (सात) पिण्डावग्रहो मे, आहारग्रहण की सात प्रतिमाओ मे और सात भय-स्थानो मे सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—पिण्डावग्रह प्रतिमा : स्वरूप और प्रकार—सात पिण्डैषणाएँ—अर्थात् आहार से सम्बन्धित एषणाएँ हैं, जिनका वर्णन तपोमार्गगति अध्ययन (३० वाँ, गा २५) मे किया जा चुका है। ससृष्टा, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा, ये सात पिण्डैषणाएँ आहार से सम्बन्धित सात प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) हैं।[3]

अवग्रहप्रतिमा—अवग्रह का अर्थ स्थान है। स्थानसम्बन्धी सात प्रतिज्ञाएँ अवग्रहसम्बन्धी प्रतिमाएँ कहलाती हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान मे रहूँगा, दूसरे मे नही। (२) मैं दूसरे साधुओ के लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरे द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह प्रतिमा गच्छान्तर्गत साधुओ की होती है। (३) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना करूँगा, मगर दूसरो द्वारा याचित स्थान मे नहीं रहूँगा। यह प्रतिमा यथालन्दिक साधुओ की होती है। (४) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना नही करूँगा, किन्तु दूसरो द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा। यह जिन-कल्पावस्था का अभ्यास करने वाले साधुओ मे होती है। (५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरो के लिए नही। ऐसी प्रतिमा जिनकल्पिक साधुओ को होती है। (६) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ 'पलाल' आदि का सस्तारक प्राप्त होगा तो लूँगा, अन्यथा सारी रात उकड़ू या नैषेधिक आसन से बैठा-बैठा बिता दूंगा। ऐसी प्रतिमा अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक को

१ स्थानाग, स्थान ६ वृत्ति, आवश्यकसूत्रवृत्ति

२. देखिये—उत्तरा मूलपाठ अ. २६, गा ३३, ३४, ३५

३ देखिये—उत्तरा अ ३०, गा २५

होती है। (७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ सहजभाव से पहले से रखा हुआ शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा तो उसका उपयोग करूँगा, अन्यथा उकडू या नैषेधिक आसन से बैठे-बैठे सारी रात बिता दूँगा। यह प्रतिमा भी जिनकल्पी या अभिग्रहधारी की ही होती है।

सप्त भयस्थान—नाम और स्वरूप—साधुओं को भय से मुक्त और निर्भयतापूर्वक प्रवृत्ति करना आवश्यक है। भय के कारण या आधार (स्थान) सात हैं—**(१) इहलोकभय**—स्वजातीय प्राणी से डरना, **(२) परलोकभय**—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, **(३) आदानभय**—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना, **(४) अकस्मात्भय**—अकारण ही स्वयं रात्रि आदि में सशंक होकर डरना, **(५) आजीवभय**—दुष्काल आदि में जीवननिर्वाह के लिए भोजनादि की अप्राप्ति के या पीडा के दुर्विकल्पवश डरना, **(६) मरणभय**—मृत्यु से डरना और **(७) अपयशभय**—अपयश (बदनामी) की आशंका से डरना। भयमोहनीय-कर्मोदयवश आत्मा का उद्वेग रूप परिणामविशेष भय कहलाता है। भय से चारित्र दूषित होता है। अतः साधु को न तो स्वयं डरना चाहिए और न दूसरों को डराना चाहिए।[२]

आठवाँ, नौवाँ एवं दसवाँ बोल

१०. मयेसु बम्भगुत्तीसु भिक्खुधम्ममि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१०] जो भिक्षु (आठ) मदस्थानों में, (नौ) ब्रह्मचर्य की गुप्तियों में और दस प्रकार के भिक्षुधर्म में सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—आठ मदस्थान—मानमोहनीयकर्म के उदय में आत्मा का उत्कर्ष (अहंकार) रूप परिणाम मद है। उसके ८ भेद हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद।[३]

इन मदों से निवृत्ति और नम्रता-मृदुता में प्रवृत्ति साधु के लिए आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ—ब्रह्मचर्य की भलीभांति सुरक्षा के लिए ९ गुप्तियाँ (बाड) हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) विविक्तवसनिसेवन, (२) स्त्रीकथापरिहार, (३) निषद्यानुपवेशन, (४) स्त्री-अंगोपांगादर्शन, (५) कुड्यान्तरशब्दश्रवणादिवर्जन, (६) पूर्वभोगास्मरण, (७) प्रणीत-भोजनत्याग, (८) अतिमात्रभोजनत्याग और (९) विभूषापरिवर्जन। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है। साधु को ब्रह्मचर्यविरोधी वृत्तियों से निवृत्ति और संयमपोषक गुप्तियों में प्रवृत्ति करनी चाहिए।[४]

---

१. स्थानांग स्थान ७।५४५ वृत्ति, पत्र ३८६-३८७
२ समवायांग समवाय ७ वाँ
३. (क) 'मदो नाम मानोदयादात्मन उत्कर्षपरिणामः।' —आवश्यक चूर्णि
४. (क) उत्तरा. अ. १६ के अनुसार यह वर्णन है
(ख) समवायांग, ९वें समवाय में नौ गुप्तियों में कुछ अन्तर है

दशविध श्रमणधर्म—(१) क्षान्ति, (२) मुक्ति (निर्लोभता), (३) आर्जव (सरलता), (४) मार्दव (मृदुता-कोमलता, (५) **लाघव** (लघुता-अल्प उपकरण), (६) सत्य, (७) **सयम**(हिंसादि आश्रव त्याग), (८) तप, (९) त्याग (सर्वसगत्याग) और (१०) आकिंचन्य—निष्परिग्रहता। इन दश धर्मों मे प्रवृत्ति और इनके विपरीत दस पापो से दूर रहना आवश्यक है।[1]

ग्यारहवाँ-बारहवाँ बोल

११. उवासगाणं पडिमासु भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[११] जो भिक्षु उपासको (श्रावको) की प्रतिमाओ मे और भिक्षुओ की प्रतिमाओ मे सदा उपयोग रखता है, वह संसार मे नही रहता है।

विवेचन—ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—(१) **दर्शनप्रतिमा**—किसी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रख कर निरतिचार शुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन करना। इसकी अवधि १ मास की है। (२) **व्रतप्रतिमा**—इसमे व्रती श्रावक द्वारा ससम्यक्त्व पाच अणुव्रतादि व्रतो की प्रतिज्ञा का पालन करना होता है। इसकी अवधि दो मास की है। (३) **सामायिकप्रतिमा**—प्रात सायकाल निरतिचार सामायिक व्रत की साधना करता है। इससे दृढ समभाव उत्पन्न होता है। अवधि तीन मास। (४) **पौषधप्रतिमा**—अष्टमी आदि पर्व दिनो मे चतुर्विध आहार आदि का त्यागरूप परिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करना। अवधि—चार मास। (५) **नियमप्रतिमा**—पूर्वोक्त व्रतो का भलीभाँति पालन करने के साथ-साथ अस्नान, रात्रिभोजन त्याग, कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्यमर्यादा आदि नियम ग्रहण करना। अवधि कम से कम १-२ दिन, अधिक से अधिक पाच मास। (६) **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। अवधि—उत्कृष्ट छह मास की। (७) **सचित्तत्यागप्रतिमा**—अवधि—उत्कृष्ट ७ मास की। (८) **आरम्भत्यागप्रतिमा**—स्वय आरम्भ करने का त्याग। अवधि—उत्कृष्ट ८ मास की। (९) **प्रेष्यत्यागप्रतिमा**—दूसरो से आरम्भ कराने का त्याग। अवधि—उत्कृष्ट ९ मास। (१०) **उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा**—इसमे शिरोमुण्डन करना होता है। अवधि—उत्कृष्ट १० मास (११) **श्रमणभूतप्रतिमा**—मुनि सदृश वेष तथा बाह्य आचार का पालन। अवधि—उत्कृष्ट ११ मास। इन ग्यारह प्रतिमाओं पर श्रद्धा रखना और अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा मे दूर रहना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

बारह भिक्षुप्रतिमा—(१) प्रथम प्रतिमा—एक दत्ति आहार, एक दत्ति पानी ग्रहण करना। अवधि एक मास। (२) **द्वितीय प्रतिमा**—दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी। अवधि १ मास। (३ से ७) **वीं प्रतिमा**—क्रमश एक-एक दत्ति आहार और एक-एक दत्ति पानी बढाते जाना। अवधि—प्रत्येक की एक-एक मास की। (८) **अष्टम प्रतिमा**—एकान्तर चौविहार उपवास करके ७ दिन-रात तक रहना। ग्राम के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन से ध्यान लगाना।

---

१ (क) ये दशविध श्रमणधर्म नवतत्त्वप्रकरण के अनुसार हैं
(ख) तत्त्वार्थसूत्र मे क्रम और नाम इस प्रकार हैं—"**उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्म:।**" —अ ९।६

२ (क) दशाश्रुतस्कन्ध टीका (ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, भावविजयटीका (ग) समवायाग स. ११

उपसर्ग सहन करना। (९) **नवम प्रतिमा**—सात अहोरात्र तक चौविहार बेले-बेले पारणा करना। ग्राम के बाहर एकान्त स्थान मे दण्डासन, लगुडासन या उत्कुटुकासन से ध्यान करना। (१०) **दसवीं प्रतिमा**—सप्तरात्रि तक चौविहार तेले-तेले पारणा करना। ग्राम के बाहर गोदुहासन, आम्रकुब्जासन या वीरासन से ध्यान करना, (११) **ग्यारहवीं प्रतिमा**—एक अहोरात्र (आठ पहर) तक चौविहार बेले के द्वारा आराधना करना। नगर के बाहर खडे होकर कायोत्सर्ग करना। (१२) **बारहवीं प्रतिमा**—यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। चौविहार तेला करके आराधन करना। ग्राम से बाहर खडे होकर, मस्तक को थोडा-सा झुकाकर, एक पुद्गल पर दृष्टि रख कर निर्निमेष नेत्रो से कायोत्सर्ग करना, समभाव से उपसर्ग सहना।

इन बारह प्रतिमाओ का यथाशक्ति आचरण करना, इन पर श्रद्धा रखना तथा इनके प्रति अश्रद्धा एव अतिचार से और आचरण की शक्ति को छिपाने से दूर रहना साधु के लिए अनिवार्य है।[1]

तेरहवां, चौदहवां और पन्द्रहवां बोल—

१२. किरियासु भूयगामेसु परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१२] (तेरह) क्रियाओ मे, (चौदह प्रकार के) भूतग्रामो (जीवसमूहो) मे, तथा (पन्द्रह) परमाधार्मिक देवो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रुकता।

विवेचन—तेरह क्रियास्थान—क्रियाओ के स्थान अर्थात् कारण को क्रियास्थान कहते हैं। वे क्रियाएँ १३ है—(१) अर्थक्रिया, (२) अनर्थक्रिया, (३) हिंसाक्रिया, (४) अकस्मात्क्रिया, (५) दृष्टिविपर्यासक्रिया (६) मृषाक्रिया, (७) अदत्तादानक्रिया, (८) अध्यात्मक्रिया (मन से होने वाली शोकादिक्रिया) (९) मानक्रिया, (१०) मित्रक्रिया (प्रियजनो को कठोर दण्ड देना), (११) मायाक्रिया, (१२) लोभक्रिया, और (१३) ईर्यापथिकी क्रिया (अप्रमत्त सयमी को गमनागमन से लगने वाली क्रिया)।

सयमी साधक को इन क्रियाओ से बचना चाहिए; तथा ईर्यापथिकी क्रिया मे सहजभाव से प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

चौदह भूतग्राम—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी-पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय, इन सातो के पर्याप्त और अपर्याप्त मिला कर कुल १४ भेद जीवसमूह के होते है। साधु को इनकी विराधना या किसी प्रकार की पीडा देने से बचना और इनकी दया व रक्षा मे प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

पन्द्रह परमाधार्मिक—(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रौद्र, (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनु (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। ये १५ परमाधार्मिक असुर नारक जीवो को

---

१. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, भगवती सूत्र, हरिभद्रसूरिकृत पचाशक। समवायाग, सम. १२

२ (क) समवायांग, समवाय १३; (ख) सूत्रकृताग २।२

३ समवायाग, समवाय १४

मनोविनोद के लिए यातना देते हैं। जिन संक्लिष्ट परिणामों से परमाधार्मिक पर्याय प्राप्त होती है, उनमे प्रवृत्ति न करना, उत्कृष्ट परिणामों मे प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[1]

सोलहवां और सत्रहवां बोल—

१३. गाहासोलसएहिं तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१३] जो भिक्षु गाथा-षोडशक और (सत्रह प्रकार के) असयम मे उपयोग रखता है; वह संसार मे नही रुकता।

विवेचन—गाथाषोडशक: आशय और नाम—यहाँ सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन गाथाषोडशक शब्द से अभिप्रेत हैं। वे इस प्रकार है—(१) स्वसमय-परसमय, (२) वैतालीय (३) उपसर्गपरिज्ञा, (४) स्त्रीपरिज्ञा, (५) नरकविभक्ति, (६) वीरस्तुति, (७) कुशीलपरिभाषा, (८) वीर्य, (९) धर्म, (१०) समाधि, (११) मार्ग, (१२) समवसरण, (१३) याथातथ्य, (१४) ग्रन्थ, (१५) आदानीय और (१६) गाथा। इन सोलह अध्ययनो मे उक्त आचार-विचार का भली-भाति पालन करना तथा अनाचार और दुर्विचार से निवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

सत्रह प्रकार का असंयम—(१-९) पृथ्वीकाय से लेकर पचेन्द्रिय तक ९ प्रकार के जीवो की हिसा मे कृत-कारित-अनुमोदित रूप से प्रवृत्त होना, (१०) अजीव-असयम (असयमजनक या असयम-वृद्धिकारक वस्तुओ का ग्रहण एव उपयोग), (११) प्रेक्षा-असयम-(सजीव स्थान मे उठना-बैठना, सोना आदि) (१२) उपेक्षा-असयम-(गृहस्थ के पापकर्मों का अनुमोदन करना, (१३) अपहृत्य-असयम-(अविधि से परठना), (१४) प्रमार्जना-असयम-(वस्त्र-पात्रादि का प्रमार्जन न करना) (१५) मन असयम-(मन मे दुर्भाव रखना), (१६) वचन असयम-(दुर्वचन बोलना), (१७) काय-असयम (गमनागमनादि मे असयम रखना)।

उपर्युक्त १७ प्रकार के असयम से निवृत्त होना और १७ प्रकार के संयम मे प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[3]

अठारहवां, उन्नीसवां और बीसवां बोल—

१४. बम्भम्मि नायज्झयणेसु ठाणेसु य ऽसमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१४] (अठारह प्रकार के) ब्रह्मचर्य मे, (उन्नीस) ज्ञातासूत्र के अध्ययनो मे, तथा बीस प्रकार के असमाधिस्थानो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रुकता।

---

१ (क) समवायाग, समवाय १५, वृत्ति, पत्र २८ (ख) गच्छाचारपइन्ना, पत्र ६४-६५
(ग) 'एत्थ जेहिं परमाधम्मियत्तण भवति तेसु ठाणेसु ज वट्टित।' ''—जिनदासमहत्तर

२. (क) "गाहाए सह सोलस अज्झयणा तेसु सुत्तगडपढमसुतक्खध-अज्झयणेसु इत्यर्थ।"
—आवश्यकचूर्णि (जिनदास महत्तर)
(ख) समवायाग, समवाय १६

३. (क) आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, (ख) समवायाग समवाय १७

विवेचन—अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य—देव सम्बन्धी भोगों का मन-वचन-काया से स्वयं सेवन करना, दूसरो से कराना और करते हुए को भला जानना, ये नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्बन्धी अब्रह्मचर्य के होते हैं। इसी प्रकार नौ भेद मनुष्य—तिर्यञ्चसम्बन्धी औदारिक भोग—सेवनरूप अब्रह्मचर्य के समझ लेने चाहिए। कुल मिला कर अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से विरत होना और अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[1]

ज्ञाताधर्मकथा के १९ अध्ययन—(१) उत्क्षिप्त (—मेघकुमारजीवन), (२) सघाट, (३) अण्ड, (४) कूर्म, (५) शैलक, (६) तुम्ब, (७) रोहिणी, (८) मल्ली, (९) माकन्दी, (१०) चन्द्रमा, (११) दावदव, (१२) उदक, (१३) मण्डूक, (१४) तेतलि, (१५) नन्दीफल, (१६) अवरकका, (१७) आकीर्णक, (१८) सुसुमादारिका, (१९) पुण्डरीक। उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार सयम-साधना मे प्रवृत्त होना तथा इनसे विपरीत असयम से निवृत्त होना साधुवर्ग के लिए आवश्यक है।[2]

बीस असमाधिस्थान—(१) द्रुत-द्रुतचारित्व, (२) अप्रमृज्यचारित्व, (३) दुष्प्रमृज्यचारित्व, (४) अतिरिक्तशय्यासनिकत्व (अमर्यादित शय्या और आसन), (५) रात्निकपराभव (गुरुजनो का अपमान), (६) स्थविरोपघात (स्थविरो की अवहेलना), (७) भूतोपघात, (८) सज्वलन (क्षण-क्षण—बार-बार क्रोध करना), (९) दीर्घ कोप (लम्बे समय तक क्रोध युक्त रहना), (१०) पृष्ठमासिकत्व (निन्दा, चुगली), (११) अभीक्ष्णावभाषण (सशंक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना), (१२) नवाधिकरण-करण, (१३) उपशान्तकलहोदीरण, (१४) अकालस्वाध्याय, (१५) सरजस्क-पाणि-भिक्षाग्रहण, (१६) शब्दकरण (प्रहररात्रि बीते विकाल मे जोर-जोर से बोलना), (१७) झझाकरण (सघविघटनकारी वचन बोलना), (१८) कलहकरण (आक्रोशादि रूप कलह करना), (१९) सूर्यप्रमाणभोजित्व (सूर्यास्त होने तक दिनभर कुछ न कुछ खाते पीते रहना), और (२०) एषणा-असमितत्व (एषणासमिति का उचित ध्यान न रखना)।

जिस कार्य के करने से चित्त में अशान्ति एवं अप्रशस्त भावना उत्पन्न हो, ज्ञानादि रत्नत्रय से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि कहते हैं, और जिस सुकार्य के करने से चित्त में शान्ति, स्वस्थता और मोक्षमार्ग मे अवस्थिति रहे, उसे समाधि कहते हैं। प्रस्तुत मे असमाधि से निवृत्त होना और समाधि मे प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[3]

इक्कीसवां और बाईसवां बोल—

१५. एगवीसाए सबलेसु बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१५] इक्कीस शबल दोषो में और बाईस परीषहों में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है, वह संसार मे नहीं रहता।

---

१ समवायांग, समवाय १८

२. (क) ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अ. १ से १९ तक, (ख) समवायांग, समवाय १९

३. (क) समवायांग, समवाय २०, (ख) दशाश्रुतस्कन्ध दशा १

(ग) समाधानं समाधिः—चेतसःस्वास्थ्य, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः।—आचार्य हरिभद्र

विवेचन—इक्कीस शबल दोष—(१) हस्तकर्म, (२) मैथुन, (३) रात्रिभोजन, (४) आधाकर्म, (५) सागारिक पिण्ड (शय्यातर का आहार लेना), (६) औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया, खरीदा, या लाया हुआ आहार ग्रहण करना), (७) प्रत्याख्यानभंग, (८) गणपरिवर्तन (छह मास में गण से गणान्तर मे जाना), (९) उदकलेप (महीने मे तीन बार जघा प्रमाण जल मे प्रवेश करके नदी आदि पार करना) (१०) मायास्थान (एक मास मे ३ बार मायास्थानो का सेवन करना), (११) राजपिण्ड, (१२) जानबूझ कर हिंसा करना, (१३) इरादा पूर्वक मृषावाद करना (१४) इरादा पूर्वक अदत्तादान करना,(१५) सचित्त पृथ्वीस्पर्श (१६) सस्निग्ध तथा सचित्त रज वाली पृथ्वी, शिला, तथा सजीव लकडी आदि पर शयनासनादि, (१७) सजीव स्थानो पर शयनासनादि, (१८) जानबूझ कर कन्द मूलादि का सेवन करना, (१९) वर्ष मे दस बार उदक लेप, (२०) वर्ष मे दस बार माया स्थानसेवन, और (२१) बार-बार सचित्त जल वाले हाथ, कुडछी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना।

उपर्युक्त शबलदोषो का सर्वथा त्याग साधु के लिए अनिवार्य है। जिन कार्यों के करने से चारित्र मलिन हो जाता है, उन्हे शबलदोष कहते हैं।

बाईस परीषह- दूसरे अध्ययन मे इनके नाम तथा स्वरूप का उल्लेख किया जा चुका है। साधु को इन परीषहो को समभाव से सहन करना चाहिए।[2]

तेईसवां और चौवीसवां बोल

१६. तेवीसइ सूयगडे रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१६] सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो मे तथा रूपाधिक (सुन्दर रूप वाले) सुरो—अर्थात्-चौबीस प्रकार के देवो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन—प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनो के नाम सोलहवे बोल मे बताये गए है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन इस प्रकार है—(१) पौण्डरीक, (२) क्रियास्थान, (३) आहारपरिज्ञा, (४) प्रत्याख्यानक्रिया, (५) आचारश्रुत, (६) आर्द्रकीय और (७) नालन्दीय। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७, ये सब मिला कर २३ अध्ययन हुए। उक्त २३ अध्ययनो के भावानुसार सयमी जीवन मे प्रवृत्त होना और असयम मे निवृत्त होना साधुवर्ग के लिए आवश्यक है।[3]

---

१ (क) समवायाग समवाय २१ (ग) दशाश्रुतस्कन्ध दशा २
(ग) "शबल कर्बुर चारित्र यै क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात् साधवोऽपि।"
—समवायाग समवाय २१ टीका।

२ (क) उत्तराध्ययन अ २ मूलपाठ, (ख) परीसहिज्जते इति परीसहा अहियासिज्जतित्ति वुत्त भवति।
—जिनदास महत्तर

३. (क) सूत्रकृताग १ से २३ अध्ययन तक (ख) समवायाग, समवाय २३

चौबीस प्रकार के देव—१० प्रकार के भवनपति देव, ८ प्रकार के व्यन्तरदेव, ५ प्रकार के ज्योतिष्कदेव, और वैमानिक देव (समस्त वैमानिक देवो को सामान्यरूप से एक ही प्रकार में गिना है)। दूसरी व्याख्या के अनुसार-चौबीस तीर्थंकर देवो का ग्रहण किया गया है।[1]

मुमुक्षु को चौबीस जाति के देवो के भोग-जीवन की न तो प्रशंसा करना और न ही निन्दा, किन्तु तटस्थभाव रखना चाहिए। चौबीस तीर्थंकरो का ग्रहण करने पर इनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना, इनकी आज्ञानुसार चलना साधु के लिए आवश्यक है।

पच्चीसवाँ और छब्बीसवाँ बोल

१७. पणवीस—भावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्च से न अच्छइ मण्डले॥

[१७] पच्चीस भावनाओ, तथा दशा आदि (दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, और बृहत्कल्प) के (छब्बीस) उद्देशो मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—पांच महाव्रतो की २५ भावनाएँ—प्रथम महाव्रत की पांच भावना—(१) ईर्यासमिति, (२) आलोकित पानभोजन, (३) आदान-निक्षेपसमिति, (४) मनोगुप्ति, और (५) वचनगुप्ति। **द्वितीय महाव्रत की पांच भावना**—(१) अनुविचिन्त्य भाषण, (२) क्रोध-विवेक (त्याग), (३) लोभविवेक, (४) भयविवेक और (५) हास्यविवेक। **तृतीय महाव्रत की ५ भावना**—(१) अवग्रहानुज्ञापना, (२) अवग्रहसीमापरिज्ञानता, (३) अवग्रहानुग्रहणता (अवग्रहस्थित तृण, पट्ट आदि के लिए पुनः अवग्रहस्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना), (४) गुरुजनो तथा अन्य साधर्मिकों से भोजनानुज्ञा-प्राप्त करना, और (५) साधर्मिको से अवग्रह-अनुज्ञा प्राप्त करना, । **चतुर्थ महाव्रत की ५ भावना**—(१) स्त्रियो मे कथावर्जन (अथवा स्त्रीविषयकचर्चात्याग), (२) स्त्रियो के अंगोपागो का अवलोकन-वर्जन, (३) अतिमात्र एव प्रणीत पान-भोजनवर्जन, (४) पूर्वभुक्तभोग-स्मृति-वर्जन, और (५) स्त्री आदि से ससक्त शयनासन-वर्जन। **पचम महाव्रत की ५ भावना**—(१-५) पाचो इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव और अमनोज्ञ पर द्वेषभाव न रखना। ५ महाव्रतो की इन २५ भावनाओ द्वारा रक्षा करना तथा सयमविरोधी भावनाओ से निवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

दशाश्रुतस्कन्ध आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशक—दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देश, बृहत्कल्प के ६ उद्देश और व्यवहारसूत्र के १० उद्देश। कुल मिला कर २६ उद्देश होते है। इन तीनो सूत्रो मे साधु-जीवन सम्बन्धी आचार, आत्मशुद्धि एव शुद्ध व्यवहार की चर्चा है। साधु को इन २६ उद्देशो के अनुसार अपना आचार, व्यवहार एव आत्मशुद्धि का आचरण करना चाहिए।[3]

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६ : **भवण-वण-जोइ-वेमाणिया य, दस अट्ठ पच एगविहा।**
इति चउवीसं देवा, केई पुण बेंति अरिहंता॥

(ख) समवायांग समवाय २४

२ (क) प्रश्नव्याकरण सवरद्वार, (ख) समवायाग समवाय २५, (ग) आचाराग २।१५

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६, (ख) दशाश्रुत बृहत्कल्प एव व्यवहारसूत्र

सत्ताईस वाँ और अट्ठाईस वाँ बोल

१८. अणगारगुणेहिं च पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१८] (सत्ताईस) अनगारगुणो मे और (आचार) प्रकल्प (आचाराग के २८ अध्ययनो) में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता।

विवेचन—सत्ताईस अनगारगुण—(१-५) पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन करना, (६-१०) पाचो इन्द्रियो का निग्रह, (११-१४) क्रोध-मान-माया-लोभ-विवेक (१५) भावसत्य (अन्तःकरण शुद्ध रखना), (१६) करणसत्य (वस्त्र-पात्रादि का भलीभाति प्रतिलेखन आदि करना), (१७) योगसत्य, (१८) क्षमा, (१९) विरागता, (२०) मन समाधारणता (मन की शुभ प्रवृत्ति), (२१) वचनसमाधारणता (वचन की शुभ प्रवृत्ति), (२२) कायसमाधारणता, (२३) ज्ञानसम्पन्नता, (२४) दर्शनसम्पन्नता, (२५) चारित्रसम्पन्नता, (२६) वेदनाधिसहन और (२७) मारणान्तिकाधिसहन।

किसी आचार्य ने २७ अनगारगुणो मे चार कषायो के त्याग के बदले सिर्फ लोभत्याग माना है, तथा शेष के बदले रात्रिभोजन त्याग, छहकाय के जीवो की रक्षा, सयमयोगयुक्तता, माने हैं।[1]

अट्ठाईस आचारप्रकल्प अध्ययन—मूलसूत्र मे केवल 'प्रकल्प' शब्द मिलता है। किन्तु उससे 'आचारप्रकल्प' शब्द ही लिया जाता है। आचार का अर्थ है—आचाराग (प्रथम अंगसूत्र), और उसका प्रकल्प अर्थात्-अध्ययन-विशेष निशीथ—आचार-प्रकल्प। जिसमे मुनिजीवन के आचार का वर्णन हो वे आचाराग और निशीथसूत्र है। २८ अध्ययन इस प्रकार होते हैं—आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोकविजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) लोकसार, (६) धूताऽध्ययन, (७) महापरिज्ञा (लुप्त), (८) विमोक्ष, (९) उपधानश्रुत। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन—(१) पिण्डैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा, (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रहप्रतिमा (८-१४) सप्त सप्ततिका, (सात स्थानादि एक-एक) (१५) भावना और (१६) विमुक्ति।

इसके अतिरिक्त निशीथ [आचाराग-चूला (—चूडा) के रूप मे अभिमत] के तीन अध्ययन हैं—(१) उद्घात, (२) अनुद्घात और (३) आरोपण। इस प्रकार ९+१६+३=२८ अध्ययन कुल मिला कर होते हैं।

इन २८ अध्ययनो मे वर्णित साध्वाचार का पालन करना और अनाचार से विरत होना साधु का परम कर्त्तव्य है।[2]

---

१. (क) समवायाग, समवाय २७

(ख) वयछक्कमिंदियाण च, निग्गहो भाव-करणसच्चं च।
खमया विरागया वि य, मणमाईण णिरोहो य।
कायाण छक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणतियहियासणया एए ऽणगारगुणा ॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

उनतीस वाँ और तीस वाँ बोल

१९. पावसुयपसंगेसु मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१६] पापश्रुत-प्रसगो मे और मोह-स्थानो (महामोहनीयकर्म के कारणो) मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता ।

विवेचन—पापश्रुत-प्रसंग २९ प्रकार के हैं—(१) भौम (भूमिकम्पादि बतानेवाला शास्त्र), (२) उत्पात (रुधिरवृष्टि, दिशाओ का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभफलसूचक शास्त्र), (३) स्वप्नशास्त्र, (४) अन्तरिक्ष (विज्ञान), (५) अगशास्त्र (६) स्वर-शास्त्र (७) व्यजनशास्त्र, (८) लक्षणशास्त्र, ये आठो ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ शास्त्र हो जाते हैं। (२५) विकथानुयोग, (२६) विद्यानुयोग, (२७) मन्त्रानुयोग, (२८) योगानुयोग (वशीकरणादि योग सूचक) और (२६) अन्यतीर्थिकानुयोग (अन्यतैर्थिक हिंसाप्रधान आचारशास्त्र)।

इन २६ प्रकार के पापाश्रवजनक शास्त्रो का प्रयोग उत्सर्गमार्ग मे न करना साधु का कर्त्तव्य है।[1]

महामोहनीय (मोह) के तीस स्थान—(१) त्रसजीवो को पानी मे डुबा कर मारना, (२) त्रस जीवो को श्वास आदि रोक कर मारना, (३) त्रस जीवो को मकानादि में बद करके धुए से घोट कर मारना, (४) त्रस जीवो को मस्तक पर गीला चमडा आदि बाध कर मारना, (५) त्रस जीवो को मस्तक पर डडे आदि के घातक प्रहार से मारना, (६) पथिको को धोखा देकर लूटना, (७) गुप्त रीति से अनाचार-सेवन करना, (८) अपने द्वारा कृत महादोष का दूसरे पर आरोप (कलक) लगाना, (६) सभा मे यथार्थ (सत्य) को जानबूझ कर छिपाना, मिश्रभाषा (सत्य जैसा झूठ) बोलना। (१०) अपने अधिकारी (या राजा) को अधिकार और भोगसामग्री से वंचित करना, (११) बालब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को बालब्रह्मचारी कहना, (१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोग रचना, (१३) आश्रयदाता का धन हड़पना-चुराना, (१४) कृत उपकार को न मान कर कृतघ्नता करना, उपकारी के भोगो का विच्छेद करना, (१५) पोषण देने वाले गृहपति या सघपति अथवा सेनापति प्रशास्ता की हत्या करना, (१६) राष्ट्रनेता, निगमनेता या प्रसिद्ध श्रेष्ठी की हत्या करना, (१७) जनता एव समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना, (१८) सयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और दीक्षित साधु को सयमभ्रष्ट करना, (१६) अनन्तज्ञानी की निन्दा तथा सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा करना, (२०) आचार्य उपाध्याय को सेवा-पूजा न करना, (२१) अहिंसादि मोक्षमार्ग की निन्दा करके जनता को विमुख करना, (२२) आचार्य और उपाध्याय की निन्दा करना, (२६) बहुश्रुत न होते हुए भी स्वय को बहुश्रुत (पण्डित) कहलाना (२४) तपस्वी न होते हुए भी स्वय को तपस्वी कहना, (२५) शक्ति होते हुए भी रोगी, वृद्ध अशक्त आदि की सेवा न करना, (२६) ज्ञान-दर्शन-चारित्रविनाशक कामोत्पादक कथाओ का बार-बार प्रयोग करना, (२७) अपने मित्रादि के लिए बार-बार जादू टोने, मन्त्र वशीकरणादि का प्रयोग करना। (२८) ऐहिक पारलौकिक भोगों की निन्दा करके छिपे-छिपे उनका सेवन करना, उनमें अत्यासक्त रहना, (२६) देवो

---

१. (क) समवायांग, समवाय २९ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७

की ऋद्धि, द्युति, बल, वीर्य आदि की मजाक उडाना और (३०) देवदर्शन न होने पर भी मुझे देव-दर्शन होता है, ऐसा झूठमूठ कहना ।

महामोहनीय कर्मबन्ध दुरध्यवसाय की तीव्रता एव क्रूरता के कारण होता है, इसलिए इसके कारणो की कोई सीमा नही बाधी जा सकती । तथापि शास्त्रकारो ने तीस मुख्य कारण महामोहनीय-कर्मबन्ध के बताए हैं । साधु को इनसे सदैव अपनी आत्मा को बचाना चाहिए ।[1]

इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ और तेतीसवाँ बोल

२०. सिद्धाइगुणजोगेसु तेत्तीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[२०] सिद्धो के ३१ अतिशायी गुणो मे, (बत्तीस) योगसग्रहो मे और ३३ आशातनाओ मे जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह ससार मे नही रहता ।

विवेचन—सिद्धो के इकतीस गुण—आठ कर्मो मे से ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ६, वेदनीय के २, मोहनीय के दो (दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय), आयु के ४, नामकर्म के दो, (शुभनाम—अशुभनाम) गोत्रकर्म के दो (उच्चगोत्र, नीचगोत्र), और अन्तरायकर्म के ५ (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय) इस प्रकार आठो कर्मों के कुल भेद ५+६+२+२+४+२+२+५=३१ होते हैं । इन्ही ३१ कर्मो का सर्वथा क्षय करके सिद्ध भगवान् ३१ गुणो से युक्त बनते हैं । सिद्धो के गुणो का एक प्रकार और भी है जो आचाराग मे बताया गया है—५ सस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ३ वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म, इन ३१ दोषों के क्षय मे भी ३१ गुण होते हैं ।

'सिद्धाइगुण' का अर्थ होता है—सिद्धो के अतिगुण (उत्कृष्ट या असाधारण गुण) । साधु को सिद्ध-गुणो को प्राप्त करने की भावना करनी चाहिए ।[2]

बत्तीस योगसग्रह—(१) आलोचना (गुरुजनसमक्ष स्व-दोष निवेदन), (२) अप्रकटीकरण (किसी के दोषो की आलोचना सुन कर औरो के सामने न कहना), (३) सकट मे धर्मदृढता, (४) अनिश्रित या आसक्तिरहित तपोपधान (५) ग्रहणशिक्षा और आसेवनाशिक्षा का अभ्यास, (६) निष्प्रतिकर्मता (शरीरादि की साजसज्जा, शृंगार से रहित), (७) अज्ञातता (पूजा-प्रतिष्ठा का

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ९ (ख) समवायाग, समवाय ३०

२ (क) समवायाग, समवाय ३१

(ख) से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरसे, ण परिमंडले ।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किले ।
ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे ।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे,
ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे,
ण लुक्खे, ण काऊ, ण उण्हे । ण सगे । ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा ॥

—आचाराग १।५।६।१२६-१३४ —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७

मोह त्याग कर गुप्त तप आदि करना), (८) अलोभता, (९) तितिक्षा, (१०) आर्जव, (११) शुचि (सत्य और संयम, की पवित्रता), (१२) सम्यक्त्वशुद्धि, (१३) समाधि-(चित्तप्रसन्नता), (१४) आचारोपगत (मायारहित आचारपालन), (१५) विनय, (१६) धैर्य, (१७) संवेग (मोक्षाभिलाषा, या सासारिक भोगो से भीति), (१८) प्रणिधि (मायाशल्य से रहित होना), (१९) सुविधि (सद-नुष्ठान), (२०) सवर (पापाश्रवनिषेध), (२१) दोषशुद्धि, (२२) सर्वकामभोगविरक्ति, (२३) मूल-गुणो का शुद्ध पालन, (२४) उत्तरगुणो का शुद्ध पालन, (२५) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) करना, (२६) अप्रमाद (प्रमाद न करना), (२७) प्रतिक्षण सयमयात्रा मे सावधानी, (२८) शुभध्यान (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर धीरता, (अधीर न होना), (३०) सगपरित्याग, (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना, और (३२) अन्तिम समय सलेखना करके मारणान्तिक आराधना करना ।

आचार्य जिनदास दूसरे प्रकार से बत्तीस योगसग्रह बताते है—धर्मध्यान के १६ भेद तथा शुक्लध्यान के १६ भेद, यो दोनो मिल कर ३२ भेद होते है ।

मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते है । वह दो प्रकार का है--शुभ और अशुभ । अशुभ योगो से निवृत्ति और शुभ योगो मे प्रवृत्ति ही सयम है । यहाँ मुख्यतया शुभ (प्रशस्त) योगो का सग्रह ही विवक्षित है । फिर भी साधु को अप्रशस्त योगो मे निवृत्ति भी करना चाहिए ।

तेतीस आशातनाएँ-- शातना का अर्थ है--खण्डन । गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषो की अवहेलना—अवमानना, निन्दा आदि करने से सम्यग्दर्शनादि गुणो की शातना -खण्डना होती ही है । आशातनाएँ ३३ है -(१) अरिहन्तो की आशातना, (२) सिद्धो की आशातना, (३) आचार्यों की आशातना, (४) उपाध्यायो की आशातना (५) साधुओ की आशातना, (६) साध्वियो की आशातना, (७) श्रावको की आशातना, (८) श्राविकाओ की आशातना, (९) देवो की आशातना, (१०) देवियो की आशातना, (११) इहलोक की आशातना, (१२) परलोक की आशातना, (१३) सर्वज्ञप्रणीत धर्म की आशातना, (१४) देव-मनुष्य-असुरसहित समग्र लोक की आशातना, (१५) काल की आशातना, (१६) श्रुत की आशातना, (१७) श्रुतदेवता की आशातना, (१८) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व की आशातना, (१९) वचनाचार्य की आशातना, (२०) व्याविद्ध-(वर्णविपर्यास करना), (२१) व्यत्याम्रेडित-(उच्चार्यमाण पाठ मे दूसरे पाठो का मिश्रण करना) (२२) हीनाक्षर, (२३) अत्यक्षर, (२४) पद-हीन, (२५) विनयहीन, (२६) योगहीन, (२७) घोषहीन, (२८) सुष्ठुदत्त, (योग्यता से अधिक ज्ञान देना), (२९) दुष्ठुप्रतीक्षित (ज्ञान को सम्यक् भाव से ग्रहण न करना), (३०) अकाल मे स्वाध्याय करना, (३१) स्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय न करना, (३२) अस्वाध्याय की स्थिति मे स्वाध्याय करना और (३३) स्वाध्याय की स्थिति मे स्वाध्याय न करना ।

अथवा आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्रव्यवहार । इस दृष्टि से दैनन्दिन व्यवहार मे सभावित आशातना के भी ३३ प्रकार है--(१) बडे साधु से आगे-आगे चलना, (२) बडे साधु के बराबर (समश्रेणि) मे चलना, (३) बडे साधु से सटकर चलना, (३) बडे साधु के आगे खडा रहना, समश्रेणि मे खड़ा रहना (६) बडे साधु से सटकर खडा रहना, (७) बडे साधु के आगे बैठना, (८) समश्रेणि मे बैठना, (९) सटकर बैठना । (१०) बडे साधु से पहले (—जलपात्र एक ही हो तो) शुचि (आचमन) लेना, (११) स्थान मे आकर बडे साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना,

२ समवायाग, समवाय ३२

(१२) बडे साधु को जिसके साथ वार्तालाप करना हो, उससे पहले ही उसके साथ वार्तालाप कर लेना (१३) बडे साधु द्वारा पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?, जागते हुए भी उत्तर न देना, (१४) भिक्षा लाकर पहले छोटे साधु से उक्त भिक्षा के सम्बन्ध मे आलोचना करना, फिर बडे साधु के पास आलोचना करना, (१५) लाई हुई भिक्षा, पहले छोटे साधु को दिखाना, तत्पश्चात् बडे साधु को दिखाना, (१६) लाई हुई भिक्षा के आहार के लिए पहले छोटे साधु को निमन्त्रित करना, फिर बडे साधु को, (१७) भिक्षाप्राप्त आहार मे से बडे साधु को पूछे बिना पहले प्रचुर आहार अपने प्रिय साधुओ को दे देना, (१८) बडे साधुओ के साथ भोजन करते हुए सरस आहार करने की उतावल करना, (१९) बडे साधु द्वारा बुलाये जाने पर सुनी-अनसुनी कर देना, (२०) बडे साधु बुलाएँ, तब अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना, (२१) बडे साधु को अनादरपूर्वक 'रे तू' करके बुलाना, (२२) बडे साधु को अनादरभाव से 'क्या कह रहे हो ?' इस प्रकार कहना। (२३) बडे साधु को रूखे शब्द से आमन्त्रित करना या उनके सामने जोर-जोर से बोलना, (२४) बडे साधु को उसी का कोई शब्द पकड कर अवज्ञा करना, (२५) बडा साधु व्याख्यान कर रहा हो उस समय बीच मे बोल उठना कि 'यह ऐसे नही है, ऐसे है।" (२६) बडा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय यह कहना कि आप भूल रहे है ! (२७) बडा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय अन्यमनस्क या गुमसुम रहना (२८) बडा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच मे ही परिषद् को भग कर देना। (२९) बडा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय कथा का विच्छेद करना। (३०) बडा साधु व्याख्यान कर रहा हो, तब बीच मे ही स्वय व्याख्यान देने का प्रयत्न करना। (३१) बडे साधु के उपकरणो को पैर लगने पर विनयपूर्वक क्षमायाचना न करना, (३२) बडे साधु के बिछौने पर खडे रहना, बैठना या सोना। (३३) बडे साधु से ऊँचे या बराबर के आसन पर खडे रहना, बैठना या सोना।[1]

इन ३३ प्रकार की आशातनाओ से सदैव बचना और गुरुजनो के प्रति विनयभक्ति बहुमान करना साधु के लिए आवश्यक है।

पूर्वोक्त तेतीस स्थानो के आचरण की फलश्रुति

२१. इइ एएसु ठाणेसु जे भिक्खू जयई सया।
खिप्प से सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥
—त्ति बेमि।

[२१] इस प्रकार जो पण्डित (विवेकवान्) भिक्षु इन (तेतीस) स्थानो मे सतत उपयोग रखता है, वह शीघ्र ही समग्र ससार से विमुक्त हो जाता है। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—सव्वससारा : आशय—जन्ममरणरूप समग्र ससार से अर्थात्—चारो गतियो और ८४ लक्ष योनियो मे परिभ्रमणरूप ससार से।

॥ चरणविधि : इकतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) आवश्यकसूत्र, चतुर्थ आवश्यक (ख) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ३ (ग) समवायांग, समवाय ३३

प्रमादस्थान : बत्तीसवाँ अध्ययन

अध्ययनसार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम प्रमादस्थान (पमायट्ठाण) है। इसमे प्रमाद के स्थलो का विवरण प्रस्तुत करके उनमे दूर रहने का निर्देश है।

* मोक्ष की यात्रा मे प्रमाद सबसे बडा विघ्न है। वह एक प्रकार से साधना को समाप्त कर देने वाला है। अत प्रस्तुत अध्ययन मे प्रमाद के सहायको—राग, द्वेष, कषाय, विषयासक्ति आदि से दूर रहने का स्थान-स्थान पर सकेत किया गया है।

* प्रमाद के मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पाच प्रकार है किन्तु कुछ आगमो मे प्रमाद के ८ प्रकार भी बताए है—अज्ञान, सशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रश, धर्म के प्रति अनादर और मन-वचन-काया का दुष्प्रणिधान। प्रस्तुत अध्ययन मे ८ प्रकार के प्रमाद से सम्बन्धित विषयो का प्राय उल्लेख है।

* दु खो के मूल अज्ञान, मोह, रागद्वेष, आसक्ति आदि हैं, इनसे व्यक्ति दूर रहे तो ज्ञान का प्रकाश होकर अज्ञान, रागद्वेषमोहादि का क्षय हो जाने पर एकान्त आत्मसुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

* मोक्षप्राप्ति के उपायो मे सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होना आवश्यक है, उसके लिए तीसरी गाथा मे गुरु-वृद्धसेवा, अज्ञ-जनसम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय, एकान्तनिवास, सूत्रार्थचिन्तन, धृति आदि बतलाए है।

* तत्पश्चात् चारित्रपालन मे जागृति की दृष्टि से परिमित एषणीय आहार, निपुण तत्त्वज्ञ साधक का सहयोग, विविक्त स्थान का सेवन प्रतिपादित किया गया है।

* तत्पश्चात् एकान्तवास, अल्पभोजन, विषयो मे अनासक्ति, दृष्टिसयम, मन-वचन-काय का सयम, चिन्तन की पवित्रता आदि साधन चारित्रपालन मे जागृति के लिए बताए है।

* तत्पश्चात् राग, द्वेष, मोह, तृष्णा, लोभ आदि प्रमाद की शृ खलाओ को सुदृढ करने वाले विचारो मे दूर रहने का सकेत किया है।

* तदनन्तर गा १० से गा १०० तक पाचो इन्द्रियो तथा मन के विषयो मे राग और द्वेष रखने से उनके उत्पादन, सरक्षण और व्यापरण से क्या-क्या दोष और दु ख उत्पन्न होते हैं? इन पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

* इसके पश्चात् कामभोगो की आसक्ति से क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेदादि विविध विचारो से ग्रस्त हो जाता है। वीतरागता और समता मे ये वृत्तियाँ बाधक हैं। साधक इन विचारो से ग्रस्त होकर साधना की सम्पत्ति को चौपट कर देता है।

* अन्त में बताया है—इनसे विरक्त होकर रागद्वेषविजयी साधक वीतराग बन कर चार घातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और सर्वदुःखो से रहित हो जाता है। □□

बत्तीसइमं अज्झयणं : बत्तीसवाँ अध्ययन

पमायट्ठाण : प्रमादस्थान

सर्वदुःखमुक्ति के उपाय-कथन की प्रतिज्ञा

१. अच्चन्तकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगतहियं हियत्थं ॥

[१] मूल (कारणों) सहित समस्त अत्यन्त (-अनादि-) कालिक दुःखों से मुक्ति का जो उपाय है, उसे मैं कह रहा हूँ। एकान्त हितरूप है, कल्याण के लिए है, उसे परिपूर्ण चित्त (की एकाग्रता) से सुनो।

विवेचन—अच्चतकालस्स—जो अन्त का अतिक्रमण कर गया हो, वह अत्यन्त होता है। 'अन्त' दो होते है—आरम्भक्षण और अन्तिमक्षण। तात्पर्य यह है—अर्थात् जिस काल की आदि न हो, वैसा काल—अनादि काल। यह दुःख का विशेषण है।[1]

समूलगस्स—मूलसहित। दुःख का मूल है—कषाय, अविरति, आदि। वृत्तिकार का अभिप्राय है कि दूसरे पक्ष मे—दुःख का मूल राग और द्वेष है।[2]

पडिपुण्णचित्ता—(१) प्रतिपूर्णचित्त होकर, अर्थात्—चित्त (मन) को दूसरे विषयों मे न ले जा कर अखण्डित रख कर, अथवा (२) **प्रतिपूर्णचिन्ता**—इसी विषय मे पूर्ण चिन्तन वाले होकर।[3]

दुःखमुक्ति तथा सुखप्राप्ति का उपाय

२. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

[१] सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, (तथा) राग और द्वेष के सर्वथा क्षय से, जीव एकान्तसुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

३. तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य सुत्तऽत्थसंचिन्तणया धिई य ॥

---

१ अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुतश्च द्वावन्तौ—आरम्भक्षण समाप्तिक्षण। तत्रेह आरम्भलक्षणान्त परिगृह्यते। तथा चात्यन्त अनादि कालो यस्य सोऽत्यन्तस्तस्य। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२१

२ 'सह मूलेन-कषायविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलक। उक्त ह—"मूल ससारस्स हु हुति कसाया अविरती य" ···· अत्र च पक्षे मूल रागद्वेषौ। —वही, पत्र ६२१

३ "प्रतिपूर्णं विषयान्तरागमनेनाखण्डित चित्त चिन्ता वा येषां ते प्रतिपूर्णचित्ता, प्रतिपूर्णचिन्ता वा।" —वही, पत्र ६२१

[३] गुरुजनों और वृद्धो की सेवा करना, अज्ञानी जनो के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्त-सेवन, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना और धैर्य रखना, यह उसका (ज्ञानादि-प्राप्ति का) मार्ग (उपाय) है ।

विवेचन—ज्ञानादि की प्राप्ति—दूसरी गाथा मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति को मोक्षसुख-प्राप्ति का हेतु बताया गया है, क्योकि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से ज्ञान विशद एव निर्मल होगा। उधर मति अज्ञानादि तथा मिथ्याश्रुत श्रवण, मिथ्यादृष्टिसग के परित्याग आदि से एव अज्ञान और मोह के परिहार से सम्यग्दर्शन प्रकट होगा । तीसरी ओर रागद्वेष तथा उसके परिवार-रूप चारित्रमोहनीय का क्षय होने से सम्यक्चारित्र प्राप्त किया जाएगा, तो अवश्य ही एकान्तसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी ।[1]

ज्ञानादि की प्राप्ति : कैसे एव किनसे ?—तीसरी गाथा मे यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति का उपाय गुरुवृद्धसेवा आदि है ।

गुरु-वृद्धसेवा : विशेषार्थ—यहाँ गुरु का अर्थ है—शास्त्र के यथार्थ प्रतिपादक और वृद्ध का अर्थ है—तीनो प्रकार के स्थविर । श्रुतस्थविर, पर्याय (बीसवर्ष की दीक्षापर्याय) से स्थविर और वय स्थविर, यो तीन प्रकार के वृद्ध है । गुरुवृद्धसेवा से आशय है—गुरुकुल-सेवा । क्योकि गुरु और स्थविरो की सेवा मे रहने से साधक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ दर्शन और चारित्र मे भी स्थिर होता है ।[2]

अज्ञानीजन-सम्पर्क से दूर रहे—यह इसलिए बताया है कि अज्ञानी जनो के सम्पर्क से सम्यग्-ज्ञानादि तीनो ही विनष्ट हो जाते है, इसलिए यह महादोष का कारण है ।[3]

धृति क्यो आवश्यक ?—धैर्य के विना चारित्रपालन, सम्यग्दर्शन एव परीषहसहन आदि नही हो सकता । तथा धृति का अर्थ चित्तसमाधि भी है, उसके विना ज्ञानादि की प्राप्ति नही हो सकती ।[4]

ज्ञानादिप्राप्तिरूप समाधि के लिए कर्त्तव्य

४. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ।।

[४] समाधि की आकाक्षा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय (निर्दोष) आहार की इच्छा करे, तत्त्वार्थों को जानने मे निपुण बुद्धिवाले सहायक (साथी) को खोजे तथा (स्त्री-पशु-नपुसक से) विविक्त (रहित) एकान्त स्थान (मे रहने) की इच्छा करे ।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२२ ततश्चायमर्थ—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै एकान्तसौख्य मोक्ष समुपैति ।

२ (क) गुरवो यथावच्छास्त्राभिधायका, वृद्धाश्च श्रुतपर्यायादिवृद्धा । तेषा सेवा-पर्युपासना ।
इय च गुरुकुलवासोपलक्षण, तत्र च सुप्राप्यान्येव ज्ञानादीनि । उक्त च—**'णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दसणे चरित्ते य ।'** —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

३. 'तत्सगस्याल्पीयसोऽपि महादोषनिबन्धनत्वेनाभिहितत्वात् ।' —वही, पत्र ६२२

४. चित्तस्वास्थ्य विना ज्ञानादिलाभो न, इत्याह-धृतिश्च—चित्तस्वास्थ्य मनुद्विग्नत्वमित्यर्थ । —वही, पत्र ६२२

५. न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

[५] यदि अपने से अधिक गुणो वाला अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पापो का वर्जन करता हुआ तथा कामभोगो मे अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।

विवेचन—समाधि—समाधि द्रव्य और भाव उभयरूप है। द्रव्यसमाधि है—दूध, शक्कर आदि द्रव्यो का परस्पर एकमेक होकर रहना, भावसमाधि है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणो का अबाधित-रूप से रहना। यहाँ भावसमाधि ही ग्राह्य है। तात्पर्य है, जो ज्ञानादिप्राप्तिरूप भावसमाधि चाहता है, उसके लिए शास्त्रकार ने तीन बात रखी हैं—उसका आहार उसका सहायक एव उसका आवास-स्थान अमुक-अमुक गुणो से युक्त होना आवश्यक है। अगर उसका आहार अतिमात्रा मे हुआ या अनेषणीय हुआ तो वह ज्ञानादि मे प्रमाद करेगा, चारित्रपालन मे विघ्न उपस्थित होगा। अगर उसका साथी तत्त्वज्ञ या गीतार्थ नही हुआ तो ज्ञानादि प्राप्ति के स्रोत गुरुवृद्धसेवा आदि से उसे भ्रष्ट कर देगा। और उसका आवासस्थान स्त्री आदि से ससक्त रहा तो चित्तसमाधिभग होने से गुरुवृद्ध-सेवा आदि से दूर हो जाएगा।[1]

सहायक गुणाधिक या गुणो में सम न मिले तो?—पूर्वगाथा मे उल्लिखित तीन बातो मे से दो का पालन तो साधक के स्वाधीन है, परन्तु योग्य साथी मिलना उसके वश की बात नही है। अगर ज्ञानादि गुणो मे स्वय अधिक योग्य या ज्ञानादिगुणो मे सम साथी न मिले तो पापो से (अर्थात् सावद्यकर्मों से) दूर एव कामभोगो मे अनासक्त रह कर एकाकी विचरण करना श्रेष्ठ है। यद्यपि सामान्यतया एकाकी विहार आगम मे निषिद्ध है, किन्तु तथाविध गीतार्थ एव ज्ञानादिगुणयुक्त साधु के लिए यहाँ उसका विधान किया गया है।[2]

यहाँ तक दु खमुक्ति के हेतुभूत ज्ञानादि की प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे कहा गया है। अब दु ख की परम्परागत उत्पत्ति के विषय मे कहते है।

दुःख की परम्परागत उत्पत्ति

६. जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥

[६] जिस प्रकार बलाका (बगुली) अण्डे से उत्पन्न होती है, और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का आयतन (जन्मस्थान) तृष्णा है, तथैव तृष्णा का जन्मस्थान मोह है।

७ रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति ॥

[७] कर्म (-बन्ध) के बीज राग और द्वेष है। कर्म उत्पन्न होता है—मोह से। वह कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही (वास्तव में) दु ख हैं।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ (ख) अभिधानराजेन्द्रकोष भा ५, पृ ४८३

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ (ख) अ रा कोष भा ५, पृ. ४८३, (ग) तुलना करिये —दशवैकालिक-चूलिका २।१०

८. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

[८] (अत.) जिसके मोह नही है, उसने दुःख को नष्ट कर दिया। उसने मोह को मिटा दिया है जिसके तृष्णा नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया, जिसके लोभ नही है, उसने लोभ को समाप्त कर दिया, जिसके पास कुछ भी परिग्रह नही है, (अर्थात् जो अकिंचन है।)

विवेचन—तीनों गाथाओं का आशय—प्रस्तुत तीन गाथाओं मे निम्नोक्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है—(१) दुःख क्या है? जन्म-मरण ही, (२) जन्ममरण का मूल कारण क्या है?—कर्म। (३) कर्म की उत्पत्ति किससे होती है? कर्म की उत्पत्ति मोह से होती है, कर्मों के बीज बताते है जीव के राग और द्वेष। निष्कर्ष यह है कि जन्ममरणरूप दुःख को नष्ट करने के लिए मोह को नष्ट करना आवश्यक है। मोह उसी का नष्ट होता है, जिसके तृष्णा नही है, तथा तृष्णा भी उसी की नष्ट होती है जिसके जीवन मे लोभ नही है सन्तोष, अपरिग्रहवृत्ति, निःस्पृहता एवं अकिंचनता है। क्योंकि तृष्णा और मोह का परस्पर अंडे और बगुली की तरह कार्य-कारणभाव है।[1]

कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ—आययण—आयतन उत्पत्तिस्थान। **मोह**—जो आत्मा को मूढतामय का शिकार बना देता है। यहाँ मोह का अर्थ—मिथ्यात्व दोष से दूषित अज्ञान है।[2]

तृष्णा मोह का उत्पत्तिस्थान क्यों?—किसी मनोज्ञ पदार्थ की तृष्णा मन मे उत्पन्न होती है [illegible] पाने के लिए व्यक्ति लालायित होता है, और तब उसके वास्तविक ज्ञान पर पर्दा पड [illegible] यह पदार्थ मेरा नही मैं इसको पाने के लिए क्यों छटपटाता हूँ, चूंकि पदार्थ की तृष्णा [illegible] ममता-मूर्च्छा होती है, वह अत्यन्त दुस्त्याज्य एवं रागप्रधान होती है। जहाँ राग होता है, [illegible] अवश्यम्भावी है। अतः तृष्णा के आते ही राग-द्वेष लग जाते है, ये जब अनन्तानुबन्धी [illegible] होते है तो मिथ्यात्व का उदय सत्ता मे अवश्य हो जाता है। इस कारण उपशान्तकषाय [illegible] भी मिथ्यात्व (गुणस्थान) को प्राप्त हो जाते है। कषाय, मिथ्यात्व आदि मोहनीय के ही [illegible] है। अतः तृष्णायतन मोह या मोहायतनभूत तृष्णा दोनो ही अज्ञानरूप है।[3]

फलितार्थ—इसका फलितार्थ यह है कि इस विषचक्र को वही तोड सकता है जो अकिंचन है, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह से रहित है, वितृष्ण है, रागद्वेष-मोह से दूर है।

रागद्वेष-मोह के उन्मूलन का प्रथम उपाय : अतिभोजन त्याग

९. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥

[९] जो राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन करना चाहता है, उसे जिन-जिन उपायों को अपनाना चाहिए उन्हें मैं अनुक्रम से कहूँगा।

---

१ बृहद्वृत्ति पत्र ६२३ का तात्पर्य

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ मोहयति—मूढता नयत्यात्मानमिति मोहः—अज्ञानम्। तच्चेह मिथ्यात्वदोषदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते "मोहः आयतन-उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा मोहायतना तृष्णा।"

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

१०. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥

[१०] रसो का प्रकाम (अत्यधिक) सेवन नही करना चाहिए, क्योकि रस प्राय साधक पुरुषो के लिए दृप्तिकर (—उन्माद को बढाने वाले) होते हैं। उद्दीप्तकाम मनुष्य को काम (विषय-भोग) वैसे ही उत्पीडित करते है, जसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।

[११] जैसे प्रचुर ईन्धन वाले वन मे, प्रचण्ड वायु के साथ लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, इसी प्रकार अतिमात्रा मे भोजन करने वाले साधक की इन्द्रियाग्नि (इन्द्रियो से उत्पन्न हुई रागरूपी अग्नि) शान्त नही होती। किसी भी ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कदापि हितकर नही होता।

विवेचन—प्रकाम रससेवन एव अतिभोजन का निषेध—इन तीन गाथाओ मे राग-द्वेष-मोहवर्द्धक रसो एव भोजन की अतिमात्रा का निषेध किया गया है। इनका फलितार्थ यह है कि रागद्वेष एव मोह को जीतने मे लिए ब्रह्मचारी को दूध, दही, घी आदि रसो का तथा आहार का अतिमात्रा मे सेवन नही करना चाहिए, क्योकि रसो का अत्यधिक मात्रा मे या बारबार सेवन करने से कामोद्रेक होता है, जिससे रागादिवृद्धि स्वाभाविक है। तथा अतिमात्रा मे भोजन मे धातु उद्दीप्त हो जाते है, प्रमाद बढ जाता है, शरीर पुष्ट, मासल एव सुन्दर होने पर राग, द्वेष, मोह का बढना स्वाभाविक है। यहाँ रसो के सेवन करने का सर्वथा निषेध नही है। बृहद्वृत्तिकार कहते है कि वात आदि के प्रकोप के निवारणार्थ साधु के लिए रस-सेवन करना विहित है। एक मुनि ने कहा है — अत्याहार को मेरा शरीर सहन नही करता, अतिस्निग्ध आहार मे विषय (काम) उद्दीप्त होते है, इसलिए सयमी जीवनयात्रा चलाने के लिए उचित मात्रा मे आहार करता हूं, अतिमात्रा मे भोजन नही करना।[1]

दित्तिकरा दो अर्थ—(१) दृप्ति अर्थात् धातुओ का उद्रेक करने वाले, (२) दीप्ति—अर्थात्—मोहाग्नि—(कामाग्नि) को उद्दीप्त (उत्तेजित) करने वाला। इसी का फलितार्थ बताया गया है कि जिसकी धातुएँ या मोहाग्नि उद्दीप्त हो जाती है, उसे कामभोग धर दबाते है।[2]

निष्कर्ष—११ वी गाथा मे प्रकाम भोजन के दोष बताकर उसे ब्रह्मचर्यघातक एव ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य बताया है।[3]

---

१ (क) रसा क्षीरादिविकृतय। प्रकामग्रहण तु वाताद्दिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव निष्कारण-सेवनस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्। उक्त च—

'अच्चाहारो न सहइ, अतिनिद्धेण विसया उइज्जंति।
जायामायाहारो, तं पि पगामं ण भुंजामि ॥' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२५

२ दृप्ति धातूद्रेकस्तत्करणशीला दृप्तिकरा:, यदि वा दीप्त दीपन मोहानलज्वलनमित्यर्थ:, तत्करणशीला दीप्तिकरा। —वही, पत्र ६२५

३ वही, पत्र ६२६

अब्रह्मचर्यपोषक बातों का त्याग : द्वितीय उपाय

१२ विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाण दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥

[१२] जो विविक्त (स्त्री आदि से असंसक्त) शय्यासन से नियंत्रित (नियमबद्ध) है, जो अल्पभोजी है, जो जितेन्द्रिय है, उनके चित्त को राग (-द्वेष) रूपी शत्रु पराभूत नही कर सकते, जैसे औषधो से पराजित (दबायी हुई) व्याधि शरीर को पुन आक्रान्त नही कर सकती ।

१३. जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाण वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥

[१३] जैसे बिल्ली के निवासस्थान के पास चूहो का निवास प्रशस्त नही होता, इसी प्रकार स्त्रियो के निवासस्थान के मध्य (पास) मे ब्रह्मचारी का निवास भी उचित नही है ।

१४. न रूव-लावण्ण-विलास-हासं न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥

[१४] श्रमण तपस्वी साधु स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, आलाप, इगित (चेष्टा) और कटाक्ष वाले नयनो को मन मे निविष्ट (स्थापित) करके देखने का अध्यवसाय (उद्यम) न करे ।

१५. अदसणं चेव अपत्थणं च अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ॥

[१५] जो ब्रह्मचर्य मे सदा रत है, उनके लिए स्त्रियो के सम्मुख अवलोकन न करना, उनकी इच्छा (या प्रार्थना) न करना, चिन्तन न करना, उनके नाम का कीर्त्तन (या वर्णन) न करना हितकर है, तथा आर्य (सम्यक्धर्म) ध्यान (आदि की साधना) के लिए योग्य है ।

१६. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥

[१६] माना कि तीन गुप्तियो से गुप्त मुनियो को (वस्त्रालकारादि से) अलकृत देवियाँ (अप्सराएँ) भी विक्षुब्ध नही कर सकती है, तथापि (भगवान् ने) एकान्त हित जान कर मुनि के लिए विविक्त (स्त्रीसम्पर्करहित एकान्त) वास प्रशस्त (कहा) है ।

१७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

[१७] मोक्षाभिकाक्षी, ससारभीरु और धर्म मे स्थित मानव के लिए लोक मे इतना दुस्तर कुछ भी नही है, जितनी कि अज्ञानियो के मन को हरण करने वाली स्त्रियाँ दुस्तर है ।

१८. एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ॥

[१८] इन (उपर्युक्त स्त्री-विषयक) संगो को सम्यक् अतिक्रमण (पार) करने पर (उसके

लिए) शेष सारे ससर्गों का अतिक्रमण वैसे ही सुखोत्तर (सुख से पार करने योग्य) हो जाता है, जैसे कि महासागर को पार करने के बाद गंगा सरीखी नदी का पार करना आसान होता है।

विवेचन--ब्रह्मचारी के लिए स्त्रीसंग सर्वथा त्याज्य—प्रस्तुत सात गाथाओं (१२ से १८ तक) में रागद्वेषादि शत्रुओं को परास्त करने हेतु स्त्रीसंसर्ग से सदैव दूर रहने का संकेत किया है। अर्थात्-ब्रह्मचारी को अपना आवासस्थान, अपना आसन, और अपना सम्पर्क स्त्रियों से रहित एकान्त में रखना चाहिए। यदि विविक्त स्थान में भी स्त्रियाँ आ जाएँ तो साधु को चाहिए कि वह उनके रूप, लावण्य, हास्य, मधुर आलाप, चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को अपने चित्त में बिलकुल स्थान न दे, और न कामराग की दृष्टि से उनको ओर देखे, न चाहे, और न स्त्रीसम्बन्धी किसी प्रकार का चिन्तन या वर्णन करे। स्त्रीसंग को पार कर लिया तो समझो महासागर पार कर लिया। इसलिए विविक्तवास पर अधिक भार दिया गया है।[1]

निष्कर्ष--जिस तपस्वी साधु का आवास और आसन विविक्त है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, और जो अल्पभोजी है, उसे सहसा रागादिशत्रु परास्त नहीं कर सकते।[2]

कामभोग : दुःखों के हेतु

१९. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो॥

[१९] समग्र लोक के, यहाँ तक कि देवों के भी जो कुछ शारीरिक और मानसिक दुःख है, वे सब कामासक्ति से ही पैदा होते है। वीतराग आत्मा ही उन दुःखों का अन्त कर पाते है।

२०. जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे॥

[२०] जैसे किम्पाकफल रस और रूपरंग की दृष्टि से (देखने और) खाने में मनोरम लगते है, किन्तु परिणाम (परिपाक) में वे सोपक्रम जीवन का अन्त कर देते है, कामगुण भी विपाक (अन्तिम परिणाम) में ऐसे ही (विनाशकारी) होते है।

विवेचन—कामभोग परम्परा से दुःख के कारण—कामभोग बाहर से सुखकारक लगते हैं, तथा देवों को वे अधिक मात्रा में उपलब्ध होते है, इसलिए साधारण लोग यह समझते हैं कि देव अधिक सुखी हैं, किन्तु कामभोगों को अपनाते ही राग और द्वेष तथा मोह अवश्यम्भावी है। जहाँ ये तीनों शत्रु होते हैं, वहाँ इहलोक में शारीरिक-मानसिक दुःख होते ही है, तथा इनके कारण अशुभकर्मों का बन्ध होने से नरकादिदुर्गतियों में जन्ममरण-परम्परा का दीर्घकालीन दुःख भी भोगना पडता है। ये कामभोग सारे संसार को अपने लपेटे में लिये हुए है। इन सब दुःखों का अन्त तभी हो सकता है, जब व्यक्ति कामासक्ति से दूर रहे, वीतरागता को अपनाए। इसीलिए कहा गया है—**"तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो।"**[3]

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७ का सारांश

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७

३ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७ "कायिक दुःख—रोगादि, मानसिकं च इष्टवियोगजन्य।"

कामभोगों का स्वरूप और सेवन का कटुपरिणाम—२० वी गाथा में कामभोगो की किम्पाक-फल से तुलना करते हुए उनके घातक परिणाम बता कर साधको को उनसे बचने का परामर्श दिया है। फलितार्थ यह है कि यदि एक बार भी साधक कामभोगो के चक्कर में फस गया तो फिर दीर्घ-काल तक जन्म-मरणजन्य दु खो को भोगना पडेगा।[1]

खुड्डए . दो अर्थ—(१) क्षुद्र जीवन अथवा खुन्दति—विनाश कर देता है।[2]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में रागद्वेष से दूर रहे

२१. जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भाव निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी॥

[२१] समाधि की भावना वाला तपस्वी श्रमण, जो इन्द्रियो के (शब्दरूपादि) मनोज्ञ विषय है, उनमे कदापि राग (भाव) न करे, तथा (इन्द्रियों के) अमनोज्ञ विषयो मे मन (से) भी द्वेषभाव न करे।

२२. चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[२२] चक्षु का ग्राह्यविषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो रूप द्वष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहते है। इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपो) मे जो सम (न रागी, न द्वेषी) रहता है, वह वीतराग है।

२३. रूवस्स चक्खुं गहणं वयन्ति चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[२३] चक्षु को रूप का ग्रहण (ग्राहक) कहते है, रूप को चक्षु का ग्राह्य विषय कहते है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है, और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।

२४. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

[२४] जो (मनोज्ञ) रूपो मे तीव्र गृद्धि (आसक्ति) रखता है, वह रागातुर मनुष्य अकाल मे वैसे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतग (प्रकाश के रूप मे) रागातुर (आसक्त) होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

---

१. "…… यथा किम्पाकफलान्युपभुज्यमानानि मनोरमानि, विपाकावस्थायां तु सोपक्रमायुषा मरणहेतुतयाऽतिदारुणानि, एवं कामगुणा अपि उपभुज्यमाना मनोरमा., विपाकावस्थायां तु नरकादिदुर्गतिदु खदायितयाऽतिदारुणानि एव …।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७

२ वही, पत्र ६२७ . क्षुद्रक—क्षोदयितु विनाशयितु शक्यते इति क्षुद्र-क्षुद्रक-सोपक्रममित्यर्थ। जीवियं खुन्दति पच्चमाण—जीवित-आयु खुन्दति-क्षोदयति-विनाशयतीति यावत्।"

२५. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥

[२५] (इसी प्रकार) जो (अमनोज्ञरूप के प्रति) द्वेष करता है, वह अपने दुर्दान्त (अत्यन्त प्रचण्ड) द्वेष के कारण उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। इसमें रूप का कोई अपराध-दोष नहीं है।

२६ एगन्तरत्ते रुइरंसि रूवे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

[२६] जो रुचिर (सुन्दर) रूप में एकान्त रक्त (आसक्त) होता है और अतादृश रूप (कुरूप) के प्रति प्रद्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख के समूह को प्राप्त होता है। परन्तु वीतराग मुनि उस (रूप) में लिप्त नहीं होता।

२७. रूवाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[२७] मनोज्ञ रूप की आशा (लालसा) का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस और स्थावर) जीवों की हिंसा करता है, तथा वह मूढ नाना प्रकार (के उपायों) से उन्हें (त्रस-स्थावर जीवों को) परिताप देता है, और अपने ही प्रयोजन को महत्व देने वाला क्लिष्ट-परिणामी (राग-बाधित) वह (व्यक्ति उन जीवों को) पीडा पहुँचाता है।

२८. रूवाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[२८] (मनोज्ञ) रूप के प्रति अनुपात (—अनुराग) और परिग्रह (ममत्व) के कारण, (मनोज्ञ रूप के) उत्पादन (उपार्जन) में, संरक्षण में, सन्नियोग (स्वपरप्रयोजनवश उसका सम्यक् उपयोग करने) में, (उसके) व्यय में, तथा वियोग में सुख कहाँ ? (इतना ही नहीं,) उसके उपभोग-काल में भी तृप्ति नहीं मिलती।

२९. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[२९] रूप में अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त और उपसक्त (—अत्यन्त आसक्त) व्यक्ति सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी एवं लोभ से आविल (—कलुषित या व्याकुल) व्यक्ति दूसरे की अदत्त (नहीं दी हुई) वस्तु ग्रहण करता (चुराता) है।

३०. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
माया-मुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[३०] जो तृष्णा से अभिभूत है, रूप और परिग्रह में अतृप्त वह दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। परन्तु इतने पर भी वह दुःख से विमुक्त नहीं होता।

३१. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[३१] झूठ बोलने से पहले और उसके पश्चात् तथा (झूठ) बोलने के समय में भी मनुष्य दुःखी होता है। उसका अन्त भी दु.खरूप होता है। इस प्रकार रूप से अतृप्त होकर वह अदत्त ग्रहण (चोरी) करने वाला दु खी और आश्रयहीन हो जाता है।

३२. रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[३२] इस प्रकार रूप मे आसक्त मनुष्य को कदापि किंचित् भी सुख कैसे प्राप्त होगा ? जिसको (पाने के) लिए मनुष्य दु ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी वह क्लेश और दुःख ही उठाता है।

३३. एमेव रूवम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[३३] इसी प्रकार रूप के प्रति द्वेष को प्राप्त मनुष्य भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से (वह) जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे विपाक के समय मे दु.ख के कारण बनते है।

३४. रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

[३४] रूप मे विरक्त (उपलक्षण से द्वेषरहित) मनुष्य (राग-द्वेषरूप कारण के अभाव मे) शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी दु ख-समूह की परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नही होता, जिस प्रकार जलाशय मे रहता हुआ भी कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नही होता।

विवेचन—समाहिकामे—प्रसगवश 'समाधिकाम' शब्द का आशय है—जो श्रमण रागद्वेषादि का उन्मूलन करना चाहता है, क्योंकि समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता या स्वस्थता, वह रागद्वेषादि के रहते हो नही सकती।[1]

न मण पि कुज्जा : फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि मनोज्ञ विषयों के प्रति भाव न करे और अमनोज्ञ के प्रति मन भी न करे। इसका तात्पर्य यह है कि मनोज्ञ के प्रति रागभाव और अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव न करे। जब मन से भी विषयो के प्रति विचार करने का निषेध किया है, तब फलितार्थ यह निकलता है कि इन्द्रियो से विषयो मे प्रवृत्त होना तो दूर रहा।[2]

---

१ "समाधि चित्तैकाग्र्य, स च रागद्वेषाभाव एवेति, " ततस्तत्कामो रागद्वेषोद्धरणाभिलाषी ' ।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

२ ···· "अपेर्गम्यमानत्वात् भावमपि, प्रस्तावादिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम्। किं पुनस्तत् प्रवर्त्तनमित्यपि शब्दार्थ ।
·· ' अत्रापीन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम्। अपि शब्दार्थश्च प्राग्वत्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

गहणं—गाथा २२ और २३ मे गहण (ग्रहण) शब्द तीन बार आया है। प्रसगवश गाथा २२ मे 'ग्रहण' शब्द का अर्थ—'ग्राह्यविषय' होता है, तथा २३ वी गाथा में प्रथम 'ग्रहण' का अर्थ है—ग्राहक और द्वितीय ग्रहण का अर्थ है - ग्राह्यविषय'।[1]

रूप अपराधी नहीं—रूप को देख कर व्यक्ति हो राग या द्वेष करता है। इसमे यदि रूप का ही अपराध होता, तब तो व्यक्ति को रागद्वेषजनित कर्मबन्ध और उससे होने वाला जन्ममरणादि दु:ख प्राप्त नही होता। प्रत्येक व्यक्ति झटपट मुक्त हो जाता। अत व्यक्ति ही राग-द्वेष के प्रति उत्तरदायी है।[2]

दुक्खस्स संपील—(१) दु खजनित पीडा—बाधा को अथवा—(२) दु ख के सम्पिण्ड-सघात-समूह को।[3]

अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे—अपने ही प्रयोजन को महत्ता—प्रधानता देने वाला,एव क्लिष्ट अर्थात्—रागद्वेषादि से पीडित।[4]

रूप मे रागी-द्वेषी—रूप मे आसक्त या द्वेषग्रस्त मनुष्य रूपवान् वस्तु को प्राप्त करने और कुरूप वस्तु को दूर करने हेतु अनेक जीवो की हिंसा करता है, उन्हे विविध प्रकार से पीड़ा पहुँचाता है, झूठ बोलता है, अपहरण-चोरी करता है, ठगी करता है, स्त्री के रूप मे आसक्त होकर अब्रह्मचर्य-सेवन करता है, ममत्वपूर्वक सग्रह करता है, किन्तु फिर भी अतृप्त रहता है। उसके उपार्जन, सरक्षण, उपभोग, व्यय एव वियोग आदि मे दु खी होता है, इतना सब कुछ पाप करने पर भी वह न यहाँ सुखी होता है, न परलोक मे। रूप के प्रति रागद्वेषवश वह अनेक पापकर्मो का उपार्जन करके फलभोग के समय नाना दु ख उठाता है, जन्म-मरण की परम्परा बढाता है। यही गाथा २७ से ३३ तक का निष्कर्ष है।[5]

विरक्त ही दु:ख-शोकरहित एवं अलिप्त—जो रूप के प्रति राग या द्वेष नही करता, वह न यहाँ शोक या दु ख से ग्रस्त होता है, और न परलोक मे ही। क्योकि वह जन्म-मरणादि रूप दु ख की परम्परा को बढाता नही है।[6]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों के प्रति रागद्वेष-मुक्त रहने का निर्देश

३५. सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[३५] श्रोत्र के ग्राह्य विषय को शब्द कहते हैं, जो (शब्द) राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ

---

१ "अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्त। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

२. यदि चक्षू रागद्वेषकारण, न कश्चिद् वीतराग स्यादत आह—'**समो य जो तेसु स वीयरागो।**' —वही, पत्र ६२९

३ दु खस्य सम्पिण्ड-सघात, यद्वा—समिति भृश, पीडा-दु खकृता बाधा सम्पीडा। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२९

४. आत्मार्थगुरु -स्वप्रयोजननिष्ठः क्लिष्ट· रागबाधित। —वही, पत्र ६२९

५. उत्तरा, मूलपाठ तथा बृहद्वृत्ति, अ ३२, गा २७ से ३३ तक, पत्र ६३०-६३१

६ बृहदवृत्ति, पत्र ६३१ का साराश

कहा जाता है, और जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो) मे सम रहता है, वह वीतराग है।

३६. सद्दस्स सोयं गहणं वयन्ति सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[३६] श्रोत्र को शब्द का ग्राहक कहते है, और शब्द श्रोत्र का ग्राह्यविषय है। जो राग का कारण है, उसे समनोज्ञ कहा है, और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहा है।

३७. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं॥

[३७] जो (मनोज्ञ) शब्दो के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह रागातुर अकाल मे वैसे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे शब्द मे अतृप्त रागातुर मुग्ध हरिण—मृग मृत्यु को प्राप्त होता है।

३८. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि सद्दं अवरज्झई से॥

[३८] (इसी तरह) जो (अमनोज्ञ शब्दो के प्रति) तीव्र द्वेष करता है, वह प्राणी उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष के कारण दु ख पाता है। (इसमे) शब्द का कोई अपराध नही है।

३९. एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[३९] जो रुचिर (मनोज्ञ) शब्द मे एकान्त रक्त (—आसक्त) होता है, और अतादृश (—अमनोज्ञ) शब्द मे प्रद्वेष करता है, वह मूढ दु खसमूह को प्राप्त होता है। इस कारण विरक्त मुनि उनमे (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द मे) लिप्त नही होता।

४०. सद्दाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

[४०] मनोज्ञ शब्द की आशा (स्पृहा) का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस-स्थावर) जीवो की हिसा करता है। अपने ही प्रयोजन को मुख्यता देने वाला क्लिष्ट (रागादिबाधित) अज्ञानी नाना प्रकार से उन (चराचर) जीवो को परिताप देता और पीडा पहुँचाता है।

४१. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से? संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

[४१] शब्द मे अनुराग और परिग्रह (ममत्वबुद्धि) के कारण उसके उत्पादन मे, सरक्षण में, सन्नियोग मे तथा उसके व्यय और वियोग मे, उसको सुख कहाँ? उसे उपभोगकाल मे भी अतृप्ति ही मिलती है।

४२. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[४२] शब्द मे अतृप्त, और उसके परिग्रहण (ममत्वपूर्वक ग्रहण-सग्रहण) मे जो आसक्त और उपसक्त (गाढ आसक्त) होता है, उस व्यक्ति को सतोष प्राप्त नही होता। असतोष के दोष से दु खी एवं लोभाविष्ट मनुष्य दूसरे की शब्दवान् वस्तुएँ बिना दिये ग्रहण कर लेता है।

४३. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[४३] शब्द और उसके परिग्रहण मे अतृप्त, तथा तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति (दूसरे की) बिना दी हुई (शब्दवान्) वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका मायासहित झूठ बढता है। ऐसा (कपट प्रधान असत्य का प्रयोग) करने पर भी वह दु ख से विमुक्त नही होता।

४४ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[४४] असत्याचरण के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल अर्थात् बोलने के समय भी वह दु खी होता है। उसका अन्त भी दु खरूप होता है। इसी प्रकार शब्द मे अतृप्त व्यक्ति चोरी करता हुआ दु खित और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[४५] इस प्रकार शब्द मे अनुरक्त व्यक्ति को कदाचित् कुछ भी सुख कहाँ से होगा? अर्थात् कभी भी किञ्चित् भी सुख नही होता। जिस (मनोज्ञ शब्द) को पाने के लिए व्यक्ति दु ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दु ख ही रहता है।

४६. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[४६] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) शब्द के प्रति द्वेष करता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त मे वह जिन कर्मों का सचय करता है, वे ही पुन विपाक (फलभोग) के समय मे दु ख के कारण बनते है।

४७. सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

[४७] शब्द से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी इस दु ख-समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नही होता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नही होता।

विवेचन—शब्द के प्रति त्रयोदश सूत्री वीतरागता का निर्देश—गाथा ३५ से ४७ तक तेरह गाथाओं में रूप की तरह शब्द के प्रति रागद्वेष से मुक्त होने का निर्देश किया गया है। गाथाएँ प्रायः समान हैं। 'रूप' के स्थान मे 'शब्द' और 'चक्षु' के स्थान मे 'श्रोत्र' का प्रयोग किया गया है।

हरिणमिगे—'हरिण' और 'मृग' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, तथापि मृग शब्द अनेकार्थक होने से यहाँ उसे 'पशु' अर्थ में समझना चाहिए। मृग शब्द के अर्थ होते हैं—पशु, मृगशीर्षनक्षत्र, हाथी की एक जाति, हरिण आदि।[1]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध के प्रति राग-द्वेष मुक्त रहने का निर्देश

४८. घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[४८] घ्राण (नासिका) के ग्राह्य विषय को गन्ध कहते है, जो गन्ध राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं, और जो गन्ध द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है। जो इन दोनो मे सम (न रागी है, न द्वेषी) है उसे वीतराग कहते हैं।

४९. गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु॥

[४९] घ्राण को गन्ध का ग्राहक कहते है, और गन्ध को घ्राण का ग्राह्य-विषय कहते हैं। जो राग का कारण है, उसे समनोज्ञ कहते है, तथा जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।

५०. गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते॥

[५०] जो मनोज्ञ गन्धों मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे ओषधि की गन्ध मे आसक्त रागातुर सर्प बिल से निकल कर विनाश को प्राप्त होता है।

५१. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि गन्धं अवरज्झई से॥

[५१] जो अमनोज्ञ गन्धो के प्रति तीव्र द्वेष रखता है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष के कारण दुःख पाता है। इसमे गन्ध उसका कुछ भी अपराध नही करता।

५२. एगन्तरत्ते रुइरंसि गन्धे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[५२] जो सुरभिगन्ध मे एकान्त रक्त (आसक्त) होता है, और दुर्गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह मूढ दुःखसमूह को प्राप्त होता है। अतः वीतराग-समभावी मुनि उनमे (मनोज्ञ-अमनोज्ञ-गन्ध मे) लिप्त नही होता।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३४ मृग सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्त—मृगशीर्षे हस्तिजातौ मृग पशुकुरङ्गयो।

५३. गन्धाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[५३] गन्ध (सुगन्ध) की आशा का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस और स्थावर) जीवो की हिसा करता है । अपने प्रयोजन को ही महत्त्व देने वाला क्लिष्ट (रागदिपीडित) अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, और पीड़ा पहुँचाता है ।

५४. गन्धाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[५४] गन्ध के प्रति अनुराग और ममत्व के कारण गन्ध के उत्पादन, सरक्षण और सन्नियो मे तथा व्यय और वियोग मे सुख कहाँ ? उसके उपभोग-काल मे भी तृप्ति नही मिलती ।

५५. गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[५५] गन्ध मे अतृप्त और उसके परिग्रहण मे आसक्त तथा उपसक्त व्यक्ति सन्तुष्टि नही पाता, वह असन्तोष के दोष से दु खी लोभाविष्ट व्यक्ति दूसरे के द्वारा बिना दी हुई वस्तु ग्रहण कर लेता है ।

५६. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[५६] गन्ध और उसके परिग्रहण मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति (दूसरे की) बिना दी हुई वस्तुओ का अपहरण करता है । लोभ के दोष से उसका कपटप्रधान असत्य बढ जा- है । इतना करने (कपटप्रधान झूठ बोलने) पर भी वह दु ख से मुक्त नहीं हो पाता ।

५७. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[५७] असत्य-प्रयोग के पूर्व और पश्चात् तथा प्रयोग-काल मे वह दु खो होता है । उसका अन्त भी बुरा होता है । इस प्रकार गन्ध से अतृप्त होकर (सुगन्धित पदार्थों की) चोरी करने वाला व्यक्ति दु खित और निराश्रित हो जाता है ।

५८. गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[५८] इस प्रकार सुगन्ध मे अनुरक्त व्यक्ति को कदापि कुछ भी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह जिस (गन्ध को पाने) के लिए दु ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी उसे क्लेश और दु ख (ही) होता है ।

५९. एमेव गन्धम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[५९] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःखसमूह की परम्परा को प्राप्त होता है। वह द्वेषयुक्त चित्त से जिन (पाप-) कर्मों का संचय करता है, वे ही (कर्म) विपाक (फलभोग) के समय उसके लिए दुःखरूप बनते है।

६०. गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं॥

[६०] गन्ध से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी इस (उपर्युक्त) दुःखो की परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नही होता, जिस प्रकार (जलाशय मे) कमलिनी का पत्ता जल से (लिप्त नहीं होता)।

विवेचन—गन्ध के प्रति वीतरागता—४८ से ६० तक तेरह गाथाओ मे शास्त्रकार ने रूप की तरह मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध के प्रति राग-द्वेष से दूर रहने का निर्देश सव-दुःखमुक्ति एव परमसुख-प्राप्ति के सन्दर्भ मे किया है। गाथाएँ प्राय पूर्व गाथाओ के समान है। केवल 'रूप' एव 'चक्षु' के स्थान मे 'गन्ध' एव 'घ्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ओसहिगंधसिद्धे सप्पे—यहाँ उपमा देकर बताया गया है कि सुगन्ध मे आसक्ति पुरुष के लिए वेसी ही विनाशकारिणी है, जैसी कि ओषधि की गन्ध मे सर्प की आसक्ति। वृत्तिकार ने ओषधि शब्द से 'नागदमनी' आदि ओषधियाँ (जडियाँ) सूचित की है।[1]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस के प्रति राग-द्वेषमुक्त होने का निर्देश—

६१. जिब्भाए रस गहण वयन्ति त रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[६१] जिह्वा के ग्राह्य विषय को रस कहते है। जो रस राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो रस द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है। इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसो) मे जो मम (राग-द्वेषरहित) रहता है, वह वीतराग है।

६२. रसस्स जिब्भ गहण वयन्ति जिब्भाए रस गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु॥

[६२] जिह्वा को रस की ग्राहक कहते है, (और) रस को जिह्वा का ग्राह्य (विषय) कहते है। जो राग का हेतु है, उसे समनोज्ञ कहा है और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा है।

६३. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे॥

[६३] जो (मनोज्ञ) रसो मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मास खाने मे आसक्त रागातुर मत्स्य का शरीर काटे से बिंध जाता है।

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ६२४ · 'तथौषधयो—नागदमन्यादिका.।'

६४. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू रसं न किंचि अवरज्झई से ॥

[६४] (इसी प्रकार) जो अमनोज्ञ रस के प्रति तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दमनीय द्वेष के कारण दु खी होता है। इसमे रस का कोई अपराध नही है।

६५. एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेई बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

[६५] जो व्यक्ति रुचिकर रस (स्वाद) मे अत्यन्त आसक्त हो जाता है और अरुचिकर रस के प्रति द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु खात्मक पीडा को (अथवा दु खसघात को) प्राप्त करता है। इसी कारण (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसो से) विरक्त (वीतद्वेष) मुनि उनमे लिप्त नही होता।

६६. रसाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[६६] रसो (मनोज्ञ रसो) की इच्छा के पीछे चलने वाला अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो का घात करता है। अपने स्वार्थ को ही गुरुतर मानने वाला क्लिष्ट (रागादिपीडित) अज्ञानी उन्हे विविध प्रकार से परितप्त करता है और पीडा पहुँचाता है।

६७. रसाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[६७] रस मे अनुराग और परिग्रह (ममत्व) के कारण (उसके) उत्पादन, रक्षण और सन्नियोग मे, तथा व्यय और वियोग होने पर उसे सुख कैसे हो सकता है ? उपभोगकाल मे भी उसे तृप्ति नही मिलती।

६८. रसे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[६८] रस मे अतृप्त और उसके परिग्रह मे आसक्त-उपसक्त (रचा पचा रहने वाला) व्यक्ति सन्तोष नही पाता। वह असन्तोष के दोष से दु खी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरो के (रसवान्) पदार्थों को चुराता है।

६९. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[६९] रस और (उसके) परिग्रह मे अतृप्त तथा (रसवान् पदार्थों की) तृष्णा से अभिभूत (बाधित) व्यक्ति दूसरो के (सरस) पदार्थों का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसमें कपटयुक्त असत्य (दम्भ) बढ जाता हैं। इतने (कूट कपट करने) पर भी वह दु ख से विमुख नही होता।

७०. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[७०] असत्य-प्रयोग से पूर्व और पश्चात् तथा उसके प्रयोगकाल मे भी वह दुःखी होता है।

उसका अन्त भी बुरा होता है। इस प्रकार रस मे अतृप्त होकर चोरी करने वाला वह दु खित और आश्रयरहित हो जाता है।

७१. रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि? ।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[७१] इस प्रकार (मनोज्ञ) रस मे अनुरक्त पुरुष को कदाचित् भी, कुछ भी सुख कहाँ से हो सकता है? जिसे पाने के लिये व्यक्ति दु ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी (उसे) क्लेश और दु ख ही होता है।

७२. एमेव रसम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[७२] इसी प्रकार (अमनोज्ञ) रस के प्रति द्वेष रखने वाला व्यक्ति उत्तरोत्तर दुःखो की परम्परा को प्राप्त होता है। वह द्वेषग्रस्त चित्त से जिन (पाप-) कर्मों का सञ्चय करता है, वे ही विपाक के समय दु ख रूप बन जाते हैं।

७३. रसे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

[७३] रस से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी इस दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नही होता—जैसे कि (जलाशय मे) कमलिनी का पत्ता जल से (लिप्त नही होता)।

विवेचन—रसों के प्रति वीतरागता की त्रयोदशसूत्री—६१ से ७३ तक तेरह गाथाओ मे शास्त्रकार ने विविध पहलुओ से मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसो के प्रति रागद्वेष से मुक्त रहने का उपदेश दिया है, लक्ष्य वही सर्वथा सुखप्राप्ति एव सर्व दु खमुक्ति है। भाव एव शब्दावली प्राय समान है।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ-स्पर्शों के प्रति रागद्वेषमुक्ति का उपदेश—

७४. कायस्स फासं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

[७४] काय के ग्राह्य विषय को स्पर्श कहते है। जो स्पर्श राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है। और जो स्पर्श द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है। जो इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों) मे सम (राग-द्वेष से दूर) रहता है, वह वीतराग है।

७५. फासस्स कायं गहणं वयन्ति कायस्स फासं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

[७५] काय स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श काय का ग्राह्य विषय है। जो राग का हेतु है, उसे समनोज्ञ कहा गया है और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है।

७६. फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने ।।

[७६] जो (मनोज्ञ) स्पर्शों मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल मे ही (इसी तरह) विनाश को प्राप्त हो जाता है—जिस तरह अरण्य मे जलाशय के शीतल जल के स्पर्श मे आसक्त रागातुर भैसा ग्राह-मगरमच्छ के द्वारा पकडा जा कर विनाश को प्राप्त होता है ।

७७. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तसि क्खणं से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि फासं अवरज्झई से ।।

[७७] जो (अमनोज्ञ) स्पर्श के प्रति तीव्र द्वेष रखता है, वह जीव भी तत्क्षण अपने दुर्दम द्वेष के कारण दु ख पाता है । इसमे स्पर्श का कोई अपराध नही है ।

७८. एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।

[७८] जो मनोरम स्पर्श मे अत्यन्त आसक्त होता है, तथा अमनोरम स्पर्श के प्रति प्रद्वेष करता है, वह अज्ञानी दु.खात्मक पीडा (या दु ख के पिण्ड) को प्राप्त होता है । इसीलिए विरागी मुनि इसमे (मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श मे) लिप्त नही होता ।

७९. फासाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।।

[७९] (मनोज्ञ) स्पर्श की कामना के पीछे चलनेवाला, अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो का वध करता है, वह अपने स्वार्थ को ही महत्त्व देनेवाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे सतप्त करता है और पीडा पहुँचाता है ।

८०. फासाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ।।

[८०] स्पर्श मे अनुराग और ममत्व (परिग्रहण) के कारण उसके उत्पादन, सरक्षण एव सन्नियोग मे तथा व्यय और वियोग होने पर उसे सुख कैसे हो सकता है ? उसे तो उपभोगकाल मे भी अतृप्ति ही मिलती है ।

८१. फासे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ।।

[८१] स्पर्श मे अतृप्त एव उसके परिग्रह मे आसक्त-उपसक्त व्यक्ति सतोष नही पाता । असतोष के दोष के कारण वह दु.खी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरो के (सुखद स्पर्श जनक) पदार्थ चुराता है ।

८२. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।

[८२] स्पर्श और उसके परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत वह व्यक्ति दूसरों के (सुस्पर्श वाले) पदार्थों का अपहरण करता है। लोभ के दोष के कारण उसका मायामृषा (मायासहित असत्य) बढ जाता है। इतना कूटकपट करने पर भी वह दु:ख से मुक्त नही हो पाता।

८३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[८३] असत्य-भाषण से पहले और बाद मे तथा असत्य के प्रयोग के समय मे भी वह दु खी होता है। उसका अन्त भी बुरा होता है। इस प्रकार स्पर्श मे अतृप्त होकर चोरी करने वाला वह व्यक्ति दु खित और निराश्रय हो जाता है।

८४. फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[८४] इस प्रकार मनोज्ञ स्पर्श मे अनुरक्त पुरुष को कदापि, कुछ भी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? जिसे पाने के लिए वह दु:ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी क्लेश और दु.ख ही होता है।

८५. एमेव फासम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[८५] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) स्पर्श के प्रति द्वेष करता है, वह भी (उत्तरोत्तर) नाना दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन (पाप—) कर्मों को सचित करता है, वे ही कर्म विपाक के समय उसके लिए दु ख रूप बनते है।

८६. फासे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

[८६] (अत) स्पर्श से विरक्त पुरुष ही शोकरहित होता है। वह ससार मे रहता हुआ भी (वैसे ही) दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता, जैसे (जलाशय मे) कुमुदिनी का पत्ता जल से (लिप्त नही होता)।

विवेचन—स्पर्श के प्रति वीतरागता का पाठ—प्रस्तुत १३ गाथाओ (७४ से ८६ तक) मे मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति राग और द्वेष से मुक्त, निर्लिप्त और अनासक्त क्यो, किसलिए, और कैसे रहना चाहिए? रागद्वेष से ग्रस्त होने पर हिसादि कितने पापो का भागी और परिणाम मे पद-पद पर कितना दु ख उठाना पडता है? यह तथ्य यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों के प्रति रागद्वेषमुक्त रहने का निर्देश—

८७ मणस्स भावं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

[८७] मन के ग्राह्य (विषय) को भाव (विचार या चिन्तन) कहते है। जो भाव राग का

कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं (और) जो भाव द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। जो इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावो) मे सम (राग-द्वेष से दूर) रहता है, वह वीतराग है।

८८. भावस्स मणं गहणं वयन्ति मणस्स भावं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[८८] मन भाव का ग्राहक है, और भाव मन का ग्राह्य (विषय) है। जो राग का हेतु है, उसे 'समनोज्ञ' (भाव) कहते है और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ (भाव) कहते है।

८९. भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे करेणुमग्गावहिए व नागे॥

[८९] जो मनोज्ञ भावो मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल मे (वैसे) ही विनाश को प्राप्त होता है—जैसे हथिनी के प्रति आकृष्ट रागातुर कामगुणो मे आसक्त हाथी (विनाश को प्राप्त होता है।)

९०. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि भावं अवरज्झई से॥

[९०] (इसी तरह) जो (अमनोज्ञ भावो के प्रति) तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दमनीय द्वेष के कारण दुःखी होता है। इसमे भाव का कोई अपराध नही है।

९१. एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[९१] जो मनुष्य मनोज्ञ (प्रिय एव रुचिकर) भाव मे एकान्त आसक्त होता है, तथा इसके विपरीत अमनोज्ञ भाव के प्रति द्वेष करता है, वह अज्ञानी, दुःखजनित पीडा (अथवा दुःखपिण्ड) को प्राप्त होता है। विरागी मुनि इस कारण उन (दोनो) मे लिप्त नही होता।

९२. भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

[९२] मनोज्ञ भावो की आशा के पीछे दौडनेवाला व्यक्ति अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर जीवो का घात करता है। अपने ही स्वार्थ को महत्त्व देने वाला वह क्लिष्ट अज्ञानी जीव उन्हे अनेक प्रकार से परिताप देता है और पीडा पहुँचाता है।

९३. भावाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से? संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

[९३] प्रिय भाव मे अनुराग और ममत्व के कारण, उसके उत्पादन, सुरक्षण, सन्नियोग व्यय और वियोग मे उसे सुख कैसे हो सकता है? उसे तो उपभोग काल मे भी तृप्ति नही मिलती!

९४. भावे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं॥

[९४] भाव मे अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त-उपसक्त व्यक्ति सन्तोष नहीं पाता । वह असन्तोष के दोष से दु:खी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरों की वस्तु चुराता है ।

९५. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।

[९५] भाव और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरे के भावो (मनोज्ञ-सद्भावो) का अपहरण करता है । लोभ के दोष से उसमे कपटप्रधान असत्य बढ़ता है । फिर भी (कपटप्रधान असत्य को अपनाने पर भी) वह दु.ख से मुक्त नही हो पाता ।

९६. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।

[९६] असत्यप्रयोग के पूर्व एव पश्चात् तथा असत्यप्रयोग काल मे भी वह दु खो होता है । उसका अन्त भी दु खरूप होता है । इस प्रकार भाव में अतृप्त होकर वह चोरी करता है, दु:खी और आश्रयहीन हो जाता है ।

९७. भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।।

[९७] इस प्रकार (मनोज्ञ) भावो मे अनुरक्त मनुष्य को कभी और कुछ भी सुख कहाँ से हो सकता है ? जिस (मनोज्ञ भाव को पाने) के लिए वह दु ख उठाता है, उसके उपभोग मे भी तो क्लेश और दु ख ही होता है ।

९८. एमेव भावम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।

[९८] इसी प्रकार (जो अमनोज्ञ) भाव के प्रति द्वेष करता है, वह भी (उत्तरोत्तर) दु खो की परम्परा को पाता है । द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन (पाप-) कर्मों को सचित करता है, वे (पापकर्म) ही विपाक के समय मे दु:खरूप बनते हैं ।

९९. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।

[९९] अत (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) भाव से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है । वह ससार में रहता हुआ भी इन (पूर्वोक्त) दुखो की परम्परा से (वैसे ही) लिप्त नही होता, जसे (जलाशय में) कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नही होता ।

विवेचन—मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों के प्रति वीतरागता—प्रस्तुत १३ गाथाओं (८७ से ९९ तक) मे मन के द्वारा किसी घटना या पदार्थ के निमित्त से उठने वाले राग और द्वेष के भावो के प्रति वीतरागता का पाठ पढ़ाया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ, घटना या विचार के साथ मन मे उठने वाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ भाव को मत जोडो, अन्यथा रागद्वेष पैदा होगा, मन दु.खी, सक्लिष्ट और तनाव से परिपूर्ण हो जाएगा, भय, पीड़ा, सताप आदि अशुभ कर्म-

बन्धक भाव आ जाने से दु.खो की परम्परा बढ जाएगी। अत सर्वत्र वीतरागता को ही दुःखमुक्ति या सर्वसुखप्राप्ति के लिए अपनाना उचित है।

रागी के लिए ही ये दुःख के कारण, वीतरागी के लिए नहीं

१००. एविन्दियत्था य मणस्स अत्था दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥

[१००] इस प्रकार इन्द्रिय और मन के जो विषय रागी मनुष्य के लिए दु ख के हेतु है, वे ही (विषय) वीतराग के लिए कदापि किंचित् मात्र भी दु ख के कारण नही होते।

१०१. न कामभोगा समयं उवेन्ति न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइ उवेइ॥

[१०१] कामभोग न समता (समभाव) उत्पन्न करते हैं और न विकृति पैदा करते है। उनके प्रति जो द्वेष और ममत्व रखता है, उनमे मोह के कारण वही विकृति को प्राप्त होता है।

१०२. कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे॥

[१०२] क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद स्त्रीवेद, नपुसकवेद तथा (हर्ष, विषाद आदि) विविध भावो को—

१०३ आवज्जई एवमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

[१०३] अनेक प्रकार के विकारो को तथा उनसे उत्पन्न अन्य अनेक कुपरिणामो को वह प्राप्त होता है, जो कामगुणो मे आसक्त है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय होता है।

विवेचन—शंका : समाधान—प्रस्तुत ४ गाथाओ मे पुनरुक्ति करके भी शिष्य की इन शकाओ का समाधान किया है—(१) इन्द्रिय और मन के विषयो के विद्यमान रहते मनुष्य को वीतरागता तथा तज्जनित दु खमुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? (२) कामभोगो के रहते भी मनुष्य वीतराग, विकृतिरहित तथा दुःखमुक्त कैसे हो सकता है? समाधान यह है कि (३) रागी मनुष्य के लिए इन्द्रियो और मन के विषय दु ख के हेतु हैं, वीतरागी के लिए नही, (४) कामभोगो के प्रति भी जो राग-द्वेष, मोह करते है, उनके लिए वे विकृतिकारी-दु.खोत्पादक हैं। अर्थात्—कामासक्त मानव को ही कषाय-नोकषाय आदि विकृतियाँ घेरती है। जो कामभोगो के प्रति राग-द्वेष-मोह नही करते, उन वीतराग पुरुषो को ये विकृतियाँ नही घेरती, न ही दु ख प्राप्त होते है।[1]

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो के विषय तो बाह्य निमित्त मात्र बनते हैं। वस्तुत दुःख का मूल कारण तो आत्मा की रागद्वेषमयी मनोवृत्तियाँ ही हैं। राग-द्वेषविहीन मुनि का इन्द्रिय विषय लेश-मात्र भी बिगाड नही कर सकते।

---

१ उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर), पत्र ३०६-३०७

रागद्वेषादि विकारों के प्रवेश-स्रोतों से सावधान रहे

१०४. कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावेण तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे आवज्जई इन्दियचोरवस्से ।।

[१०४] (शरीर की सेवा-शुश्रूषारूप) सहायता की लिप्सा से कल्पयोग शिष्य की भी इच्छा न करे। (दीक्षा लेने के) पश्चात् पश्चात्ताप आदि करके तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे। इस प्रकार की इच्छाओ से इन्द्रियरूपी चोरो के वशीभूत होकर साधक अनेक प्रकार के अपरिमित विकारों (-दोषों) को प्राप्त कर लेता है।

१०५. तओ से जायन्ति पओयणाइं निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ।।

[१०५] (पूर्वोक्त कषाय-नोकषायादि) विकारो के प्राप्त होने के पश्चात् सुखाभिलाषी (इन्द्रिय-चोर-वशीभूत) उस व्यक्ति को मोहरूपी महासागर मे डुबाने के लिए (अपने माने हुए तथा-कथित कल्पित) दु:खो के विनाश के लिए (विषयसेवन, हिंसा आदि) अनेक प्रयोजन उपस्थित होते है। इस कारण वह (स्वकल्पित दु खनिवारणोपाय हेतु) उन (विषयसेवनादि) के निमित्त से रागी (और उपलक्षण से द्वेषी) होकर प्रयत्न करता है।

विवेचन—रागी व्यक्ति का विपरीत प्रयत्न—असावधान साधक राग-द्वेष से मुक्ति के लिए सयमी जीवन अगीकार करने के बाद भी किस प्रकार पुन राग-द्वेष एव कषायादि विकारो को पकड मे फँस जाता है तथा रागद्वेषमुक्त होने के बदले विषयसेवनादि कामभोगो के राग मे फँस कर दु ख पाता है? इसे ही इन दो गाथाओ मे बतलाया गया है। (१) शरीर और इन्द्रियजनित सुखो की अभिलाषा से प्रेरित होकर वह शिष्य बनाता है, (२) दीक्षित हो जाने के बाद पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने ऐसे कष्टो को क्यो अपनाया? इस दृष्टि से वह तपस्या का सौदा करके कामभोगादि की वाछा एव निदान कर लेता है। (३) इस प्रकार इन्द्रिय-चोरो के प्रवेश के साथ-साथ उसके जीवन मे कषाय एव नोकषायादि विकार मोहसमुद्र मे उसे डुबो देते हैं। (४) फिर वह अपने कल्पित दु.खो के निवारणार्थ रागी बन कर विषय-सुखो मे तथा उनकी प्राप्ति के लिए हिंसादि मे प्रवृत्त होकर दु खमुक्ति के बदले नाना दु खो को न्यौता दे देता है।

अपने ही संकल्प-विकल्प : दोषों के हेतु

१०६. विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ।।

[१०६] इन्द्रियो के जितने भी शब्दादि-विषयो के प्रकार हैं, वे सभी विरक्त व्यक्ति के मन मे मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नही करते।

१०७. एवं ससंकप्पविकप्पणासुं संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।।

[१०७] (व्यक्ति के) अपने ही सकल्प-(राग-द्वेष-मोहरूप अध्यवसाय)-विकल्प सब दोषों

के, कारण है, इन्द्रियों के विषय (अर्थ) नहीं, ऐसा जो संकल्प करता है, उस (के मन) में समता उत्पन्न होती है और उस (समता) से (उसकी) कामगुणों की तृष्णा क्षीण हो जाती है।

विवेचन—वीतरागता या समता ही रागद्वेषादि निवारण का हेतु—प्रस्तुत दो गाथाओं में निष्कर्ष बता दिया है—रागद्वेषादि के कारण इन्द्रियविषय नहीं, अपितु व्यक्ति के अपने ही मनोज्ञता-अमनोज्ञता या रागद्वेषादि के संकल्प ही कारण हैं। यदि व्यक्ति में विरक्ति या समता जागृत हो जाए तो शब्दादि विषय या कामभोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उसके तृष्णा, राग-द्वेषादि विकार क्षीण हो जाते हैं :

वीतरागी की सर्वकर्मों और दुःखों से मुक्ति का क्रम

१०८. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं॥

[१०८] वह कृतकृत्य वीतराग आत्मा क्षणभर में ज्ञानावरण (कर्म) का क्षय कर लेता है, तथैव दर्शन को आवृत्त करने वाले कर्म का भी क्षय करता है और अन्तरायकर्म को भी दूर करता है।

१०९. सव्वं तओ जाणइ पासए य अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

[१०९] तदनन्तर (ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षय के पश्चात्) वह सब भावों को जानता है और देखता है, तथा वह मोह और अन्तराय से रहित हो जाता है। वह शुद्ध और आश्रवरहित हो जाता है। फिर वह ध्यान (शुक्लध्यान)—समाधि से युक्त होता है और आयुष्यकर्म का क्षय होते ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

११०. सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को जं बाहई सययं जन्तुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चन्तसुही कयत्थो॥

[११०] वह उन समस्त दुःखों से तथा दीर्घकालीन कर्मों से मुक्त होता है, जो इस जीव को सदैव बाधा-पीड़ा देते रहते हैं। तब वह दीर्घकालिक-अनादिकाल के रोगों से विमुक्त, प्रशस्त, अत्यन्त-एकान्त सुखी एवं कृतार्थ हो जाता है।

विवेचन—सम्पूर्ण मुक्ति की स्थिति—प्रस्तुत तीन गाथाओं में बताया गया है कि जब आत्मा वीतराग हो जाता है, तब वह क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का क्षय कर डालता है, फिर वह कृतकृत्य, निराश्रव एवं शुद्ध हो जाता है, उसमें पूर्वोक्त कोई भी विकार प्रवेश नहीं कर सकते। तदनन्तर वह शुक्लध्यान का प्रयोग करके आयुष्य का क्षय होते ही शेष चार अघातिकर्मों से मुक्त हो जाता है और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है। समस्त कर्मों और दुःखों से मुक्त होकर वह निरामय, अत्यन्तसुखी, प्रशस्त और कृतार्थ हो जाता है।

उपसंहार

१११. अणाइकालप्पभवस्स एसो सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥
—त्ति बेमि।

[१११] अनादिकाल से उत्पन्न होते आए समस्त दुःखो से सर्वथा मुक्ति का यह मार्ग बताया गया है, जिसे सम्यक् प्रकार से स्वीकार (पा) कर जीव क्रमश अत्यन्त सुखी (अनन्तसुखसम्पन्न) होते है। —ऐसा मै कहता हूं।

विवेचन—निष्कर्ष—अध्ययन के प्रारम्भ मे समूल दु खो से मुक्ति का उपाय बताने की प्रतिज्ञा की गई थी, तदनुसार उपसहार मे स्मरण कराया गया है कि यही (पूर्वोक्त) अनादिकालीन सर्वदुःखो से मुक्ति का मार्ग है।

॥ अप्रमादस्थान : बत्तीसवाँ अध्ययन सम्पूर्ण ॥

तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति

अध्ययनसार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) है ।

* आत्मा के साथ राग-द्वेषादि के कारण कर्मपुद्गल क्षीर-नीर की तरह एकीभूत हो जाते हैं । वे जब तक रहते है तब तक जीव ससार मे विविध गतियो और योनियो मे विविध प्रकार के शरीर धारण करके भ्रमण करते रहते हैं, नाना दुःख उठाते है, भयकर से भयकर यातनाएँ सहते हैं । इसलिए साधक को इन कर्मों को आत्मा से पृथक् करना आवश्यक है । यह तभी हो सकता है, जब कर्मों के स्वरूप को व्यक्ति जान ले, उनके बन्ध के कारणो को तथा उन्हे दूर करने का उपाय भी समझ ले । इसी उद्देश्य से कर्मों की मूल ८ प्रकृतियो के नाम तथा उनकी उत्तर प्रकृतियो एव प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध का परिज्ञान प्रस्तुत अध्ययन मे कराया गया है ।

* सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म के पाच भेद, दर्शनावरणीय के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय कर्म के सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, और मिश्रमोहनीय आदि फिर कषाय, नोकषाय मोहनीय, मिलाकर २८ भेद, आयुष्यकर्म के चार, नामकर्म के मुख्य दो भेद–शुभ नाम-अशुभ-नाम गोत्र कर्म के दो भेद, एव अन्तरायकर्म के पाच भेद बताए हैं ।

* तत्पश्चात्-कर्मबन्ध के चार प्रकारो का वर्णन एव विश्लेषण किया गया है ।

* प्रत्येक कर्म की स्थिति भी सक्षेप मे बताई गई है ।

* कर्मों के विपाक को अनुभाग, अनुभाव, फल, या रस कहते है । विपाक तीव्र-मन्द रूप मे दो प्रकार का है । तीव्र परिणामो से बधे हुए कर्म का विपाक तीव्र और मन्द परिणामो से बधे हुए कर्मों का मन्द होता है ।

कर्मप्रायोग्य पुद्गल जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के प्रदेशो के साथ चिपक जाते है । कर्म अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध होते है, वे आत्मा के असख्य प्रदेशो के साथ एकीभूत हो जाते हैं । इस प्रकार प्रस्तुत 'अध्ययन' मे कर्मविज्ञान का सक्षेप मे निरूपण किया गया है । □□

तेत्तीसइमं अज्झयणं : तेतीसवाँ अध्ययन

कम्मपयडी : कर्मप्रकृति

कर्मबन्ध और कर्मों के नाम—

१ अट्ठ कम्माइ वोच्छामि आणुपुव्वि जहक्कम।
जेहि बद्धो अय जीवो ससारे परिवत्तए ॥

[१] मै आनुपूर्वी के क्रमानुसार आठ कर्मो का वर्णन करूगा, जिनसे बधा हुआ यह जीव ससार मे परिवर्त्तन (—परिभ्रमण) करता रहता है।

२. नाणस्सावरणिज्ज दसणावरण तहा।
वेयणिज्ज तहा मोह आउकम्म तहेव य ॥
३. नामकम्म च गोय च अन्तराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ ॥

[२-३] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय तथा आयु कर्म—
नाम कर्म, गोत्र कर्म, और अन्तराय (कर्म), इस प्रकार सक्षेप मे ये आठ कर्म है।

विवेचन—कर्म का लक्षण—जिन्हे जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगो द्वारा (बद्ध) करता है, उन्हे कर्म कहते है।

आणुपुव्वि जहक्कम : भावार्थ—पूर्वानुपूर्वी के क्रमानुसार।

बन्ध : स्वरूप और प्रकार—बन्ध का अर्थ है—जिससे जीव बँध जाए। वह दो प्रकार का है—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। द्रव्यबन्ध रस्सी आदि मे बाधना या बन्धन मे डालना है, और भाव-बन्ध है—रागद्वेषादि के द्वारा कर्मो के साथ बधना। यहाँ भावबन्ध का प्रसग है। कर्मों का बन्ध होने से ही जीव नाना गतियो और योनियो मे परिभ्रमण करता है।[1]

आठ कर्म : विशेष व्याख्या—जीव का लक्षण उपयोग है। वह ज्ञान-दर्शनरूप है। ज्ञानोपयोग को रोकने (आवृत करने) वाले कर्म का नाम ज्ञानावरणकर्म है। जिस प्रकार सूर्य को मेघ आवृत कर देता है, इसी तरह यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को ढँक देता है ॥ १ ॥ प्रतीहार (द्वारपाल) जिस प्रकार राजा के दर्शन नही होने देता, उसी प्रकार आत्मा के दर्शन-उपयोग, को जो ढँक देता है (प्रकट नही होने देता) उसका नाम दर्शनावरणकर्म है ॥ २ ॥ जिस प्रकार मधु-लिप्त तलवार के चाटने से जीभ कट जाती है, साथ ही मधु का स्वाद भी आता है, उसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा जीव को शारीरिक-मानसिक सुख और दुःख का अनुभव होता रहता है, वह

१ उत्तराध्ययन, प्रियदर्शिनीटीका भा. ४ पृ ५७६

वेदनीय कर्म है ।। ३ ।। जो इस जाव को मदिरा के नशे की तरह मूढ (हेय-उपादेय के विवेक से विकल) कर देता है, वह मोहनीय कर्म है । इससे जीव पर-भाव को स्व-भाव मानकर उसके परिणमन से अपने मे 'मैं सुखी हू, मैं दुःखी हूँ,' इस प्रकार कल्पना करता रहता है ।। ४ ।। जिस कर्म के उदय से जीव एक गति से दूसरी गति मे स्वेच्छा से न जा सके, अर्थात्—जिस प्रकार पैरो मे पड़ी हुई बेडी का बन्धन जीव को वही एक ही स्थान मे रोके रखता है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव चाहने पर भी दूसरी गति मे न जा सके, जो विवक्षित गति मे ही जीव को रोके रखे, उसका नाम आयु कर्म है ।। ५ ।। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के छोटे-बडे चित्र बनाता है, उसी प्रकार जो जीव के शरीर आदि की नाना प्रकार से रचना कर अर्थात्-शरीर को सुन्दर असुन्दर, छोटा-बडा आदि बनाए, उसका नाम नामकर्म है ।। ६ ।' जिस प्रकार कुभार मिट्टी को उच्च-नीच रूप मे परिणत करता है, उसी प्रकार जो कर्म जीव को उच्च-नीच सस्कार युक्त कुल मे उत्पन्न करता है, उसका नाम गोत्र कर्म है ।। ७ ।। जैसे राजा द्वारा भण्डारी को किसी को दान देने का आदेश दिया जाने पर भी भण्डारी उक्त व्यक्ति को दान देने मे अन्तराय (विघ्न) रूप बन जाता है, उसी प्रकार जो कर्म जीव के लिए दानादि करने मे विघ्नकारक बन जाता है, वह अन्तरायकर्म है ।। ८ ।। इस प्रकार संक्षेप मे ये ८ कर्म है, विस्तार की अपेक्षा कर्म अनन्त हैं ।[1]

कर्मों का क्रम : अथपिक्ष—समस्त जीवो को जो भव-व्यथा हो रही है, वह ज्ञान-दर्शनावरण-कर्म के उदय से जनित है । इस व्यथा को अनुभव करता हुआ भी जीव मोह से अभिभूत होने के कारण वैराग्य प्राप्त नही कर पाता । जब तक यह अविरत अवस्था मे रहता है, तब तक देव, मनुष्य तिर्यञ्च एव नरक आयु मे वर्तमान रहता है । बिना नाम के जन्म होता नही, तथा जितने भी जन्म धारण करने वाले प्राणी हैं, वे सब गोत्र से बद्ध है । ससारी जीवो को जो सुख के लेश का अनुभव होता है, वह सब अन्तराय सहित है । इसलिए ये आठो कर्म परस्पर सापेक्ष हैं ।[2]

आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियां—

४. नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाण तइयं मणनाणं च केवलं ।।

[४] ज्ञानावरण कर्म पाच प्रकार का है—श्रुत (—ज्ञानावरण), आभिनिबोधिक (—ज्ञानावरण), अवधि (—ज्ञानावरण), मनो (मन.पर्याय) ज्ञान (—आवरण) और केवल (—ज्ञानावरण) ।

५. निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा ।।
६. चक्खुमचक्खु-ओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं ।।

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ ५७८,

२ वही, भा ४, पृ ५७७

[५-६] निद्रा, प्रचला, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और पांचवी स्त्यानगृद्धि—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के ये नौ विकल्प (—भेद) समझने चाहिए।

७. वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि॥

[७] वेदनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है—सातावेदनीय और असातावेदनीय। साता-वेदनीय के अनेक भेद हैं, इसी प्रकार असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं।

८. मोहणिज्जं पि दुविहं दसणे चरणे तहा।
दंसणं तिविहं वुत्तं चरणे दुविहं भवे॥

[८] मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं।

९. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे॥

[९] सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व—ये तीन दर्शनीय-मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं।

१०. चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्ज तु नोकसायं तहेव य॥

[१०] चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है—कषायमोहनीय और नोकषाय-मोहनीय।

११. सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं॥

[११] कषायमोहनीय कर्म के सोलह भेद है। नोकषायमोहनीय कर्म के सात अथवा नौ भेद है।

१२. नेरइय-तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं॥

[१२] आयुकर्म चार प्रकार का है—नैरयिक-आयु, तिर्यग्-आयु, मनुष्यायु और चौथा देवायु-कर्म।

१३. नाम कम्म तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्स वि॥

[१३] नामकर्म दो प्रकार का कहा गया है—शुभनाम और अशुभनाम। शुभनाम के बहुत भेद हैं, इसी प्रकार अशुभ (नामकर्म) के भी।

१४. गोयं कम्मं दुविहं उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं पि आहियं ॥

[१४] गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उच्च (गोत्र) आठ प्रकार का है, इसी प्रकार नीचगोत्र भी (आठ प्रकार का) कहा गया है।

१५. दाणे लाभे य भोगे य उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमन्तरायं समासेण वियाहियं ॥

[१५] अन्तराय (कर्म) सक्षेप मे पाच प्रकार का कहा गया है—दान-अन्तराय, लाभ-अन्तराय, भोग-अन्तराय, उपभोग-अन्तराय और वीर्य-अन्तराय।

विवेचन—ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के पाच-पाच कारण है—(१) ज्ञान और ज्ञानी के तथा दर्शन और दर्शनवान् के दोष निकालना (२) ज्ञान का निह्नव करना, (३) मात्सर्य, (४) आशातना और (५) उपघात करना।[१]

साता और असाता वेदनीय के हेतु—भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसयमादि योग, क्षान्ति और शौच, ये सातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। स्व-पर को दु ख, शोक, सताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन, ये असातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु है।[२]

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय के बन्ध हेतु—केवलज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म एव देव का अवर्णवाद (निन्दा) दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध का हेतु है, जब कि कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के बन्ध का हेतु है। दर्शनविषयक मोहनीय दर्शनमोहनीय कहलाता है।[३]

सम्यक्त्वमोहनीयादि तीनों का स्वरूप—मोहनीय कर्म के पुद्गलो का जितना अश शुद्ध है, वह शुद्धदलिक कहलाता है, वही सम्यक्त्व (सम्यक्त्वमोहनीय) है। जिसके उदय मे भी तत्त्वार्थ श्रद्धान-तत्त्वाभिरुचि का विघात नही होता। मिथ्यात्व अशुद्ध दलिकरूप है, जिसके उदय से अतत्त्वो मे तत्त्वबुद्धि होती है। सम्यग्मिथ्यात्व शुद्धाशुद्धदलिकरूप है, जिसके उदय से जीव का दोनो प्रकार का मिश्रित श्रद्धान होता है। यद्यपि सम्यक्त्वादि जीव के धर्म हैं, तथापि उसके कारणरूप दलिको का भी सम्यक्त्वादि के नाम से व्यपदेश होता है।[४]

चारित्रमोहनीय : स्वरूप और प्रकार—जिसके उदय से जीव चारित्र के विषय मे मोहित हो जाए, उसे चारित्रमोहनीय कहते है। इसका उदय होने पर जीव चारित्र का फल जान कर भी

---

१. तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो। —तत्त्वार्थ ६।११

२ (क) दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।
(ख) भूतव्रत्यनुकम्पादान सरागसयमादियोग क्षान्ति शौचमिति सद्वेद्यस्य। —तत्त्वार्थ ६।१२-१३
(ग) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ५८३

३. (क) केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।
(ख) कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य।

४. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ५८४-५८५

चारित्र को अगीकार नही कर सकता। चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। क्रोधादि कषायो के रूप से जो वेदन (अनुभव) किया जाता है, वह कषायमोहनीय है और कषायो के सहचारी हास्यादि के रूप मे जो वेदन किया जाता है, वह नोकषायमोहनीय है। कषाय मूलत: चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। फिर इन चारो के प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन रूप से चार-चार भेद हैं। यो कषायमोहनीय के १६ भेद हैं। नोकषायमोहनीय के नौ भेद है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। तीनो वेदो को सामान्य रूप से एक ही गिना जाए तो इसके सात ही भेद होते हैं।[1]

आयुष्यकर्म के प्रकार और कारण—आयुष्यकर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। महारम्भ, महापरिग्रह, पचेन्द्रियवध और मासाहार, ये चार नरकायु के बन्ध-हेतु है, माया एवं गूढमाया **तिर्यञ्चायु** के बन्धहेतु है, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव मे मृदुता और ऋजुता, ये मनुष्यायु के बन्धहेतु है। और सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप, ये देवायु के बन्ध हेतु है।[2]

नामकर्म : प्रकार और स्वरूप—नामकर्म दो प्रकार का है—शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म। योगो की वक्रता और विसवाद अशुभ नामकर्म के हेतु हैं और इनसे विपरीत योगो की अवक्रता और अविसवाद शुभ नामकर्म के बन्धहेतु है। मध्यम विवक्षा से शुभ और अशुभ नामकर्म के प्रत्येक के क्रमश ३७ और ३४ भेद कहे गए है। यो उत्तर भेदो की उत्कृष्ट विवक्षा से प्रत्येक के अनन्त भेद हो सकते है। इनमे तीर्थंकर नामकर्म के २० बन्ध हेतु हैं।[3]

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४ पृ ५८६-५८७

२ (क) 'बह्वारम्भ-परिग्रहत्व च नारकस्यायुष।' (ख) 'माया तैर्यग्योनस्य।'

(ग) 'अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुषस्य।'

(घ) 'सरागसयम-सयमासयमाकामनिर्जरा-बालतपासि दैवस्य।' —तत्त्वार्थ अ ६।१६ से २० तक

३ (क) योगवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न।

(ख) तद्विपरीत शुभस्य

(ग) नि शीलव्रतत्व च सर्वेषाम्।

(घ) दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता ··· ······ ···· ···तीर्थकृत्वस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२१ से २३ तक

(ङ) शुभनाम कर्म के ३७ भेद—१-मनुष्य, २-देवगति, ३-पचेन्द्रिय जाति, ४-८-औदारिकादि पाच शरीर, ९-११-प्राथमिक तीन शरीरो के अगोपाग, १२-१५-प्रशस्त वर्णादि चार, १६-प्रथम सस्थान, १७-प्रथम सहनन, १८-मनुष्यानुपूर्वी, १९-देवानुपूर्वी, २०-अगुरुलघु, २१-पराघात, २२-आतप, २३-उद्योत, २४-उच्छ्वास, २५-प्रशस्त विहायोगति, २६-त्रस, २७-बादर, २८-पर्याप्त, २९-प्रत्येक ३०-स्थिर, ३१-शुभ, ३२-सुभग, ३३-सुस्वर, ३४-आदेय, ३५-यशोकीर्त्ति, ३६-निर्माण और ३७-तीर्थंकरनामकर्म।

अशुभनामकर्म के ३४ भेद—१-२-नरक-तिर्यञ्चगति, ३-६-एकेन्द्रियादि ४ जाति, ७-११-प्रथम को छोड कर शेष ५ सहनन, १२-१६-प्रथम को छोड कर शेष ५ सस्थान, १७-२०-अप्रशस्त वर्णादि चार, २१-२२-नरक-तिर्यंचानुपूर्वी, २३-उपघात, २४-अप्रशस्तविहायोगति, २५-३४-स्थावरदशक।

(छ) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ-५८८-५८९

गोत्रकर्म : प्रकार और स्वरूप—गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करने से उच्चगोत्र का बन्ध होता है और जातिमद आदि आठ प्रकार का मद करने से नीचगोत्र का। तत्त्वार्थसूत्र मे—परनिन्दा, आत्मप्रशसा दूसरे के सद्गुणो का आच्छादन और असद्गुणो का प्रकाशन, इन्हे नीचगोत्र कर्म के बन्ध हेतु कहा गया है, तथा इनके विपरीत परप्रशसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता, ये उच्चगोत्रकर्म के बन्ध-हेतु कहे गए हैं।[1]

अन्तरायकर्म : प्रकार और स्वरूप—अन्तरायकर्म के पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। दानादि मे विघ्न डालना, ये दानादि पाचो के कर्मबन्ध के हेतु है। पात्र तथा देय वस्तु होते हुए तथा दान का फल जानते हुए भी दान देने की इच्छा (प्रवृत्ति) न होना, **दानान्तराय** है। उदारहृदय दाता तथा याचनाकुशल याचक होते हुए भी याचक को लाभ न होना, **लाभान्तराय** है। आहारादि भोग्य वस्तु होते हुए भी भोग न सकना, **भोगान्तराय** है। वस्त्रादि उपभोग्य वस्तु होते हुए भी उपभोग न कर सकना **उपभोगान्तराय** है, शरीर नीरोग और युवा होते हुए एक तिनके को भी मोड (तोड) न सकना, **वीर्यान्तराय** है।[2]

इस प्रकार १२ गाथाओ (४ से १५ तक) मे आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियो का निरूपण किया गया है। आठ मूल प्रकृतियो का उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है।

कर्मों के प्रदेशाग्र, क्षेत्र, काल और भाव

१६. एयाओ मूलपयडीओ उत्तराओ य आहिया।
पएसग्ग खेत्तकाले य भाव चादुत्तरं सुण ॥

[१६] ये (पूर्वोक्त) कर्मों की मूल प्रकृतियाँ और उत्तर-प्रकृतियाँ, कही गई है। अब इनके प्रदेशाग्र (—द्रव्य परमाणु-परिमाण), क्षेत्र, काल और भाव को सुनो।

१७. सव्वेसिं चेव कम्माणं पएसग्गमणन्तगं।
गण्ठिय-सत्ताईयं अन्तो सिद्धाण आहियं ॥

[१७] (एक समय मे ग्राह्य-बद्ध होने वाले) समस्त कर्मों का प्रदेशाग्र (कर्म-परमाणु-पुद्गल-द्रव्य दलिक) अनन्त होता है। वह (अनन्त) परिमाण ग्रन्थिग (ग्रन्थिभेद न करने वाले-अभव्य) जीवो से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धो के अनन्तवे भाग जितना कहा गया है।

१८. सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धग ॥

[१८] सभी जीव छह दिशाओ मे रहे हुए (ज्ञानावरणीय आदि) कर्मों (कार्मणवर्गणा के

१, (क) परात्मनिन्दाप्रशसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।
(ख) तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२४-२५

२ (क) 'विघ्नकरणमन्तरायस्य।' —तत्त्वार्थ अ-६/२६
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३१३-३१४

पुद्गलों) को सम्यक् प्रकार से ग्रहण (बद्ध) करते हैं। वे सभी कर्म (—पुद्गल) (बन्ध के समय) आत्मा के समस्त प्रदेशों के साथ सर्व प्रकार से बद्ध हो जाते हैं।

१९. उदहीसरिसनामाण तीसई कोडिकोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

[१९] (ज्ञानावरण आदि कर्मों की) उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२०. आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया॥

[२०] (यह पूर्वगाथा मे कथित स्थिति) दो आवरणीय कर्मों (अर्थात्—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) की तथा वेदनीय और अन्तराय कर्म की जाननी चाहिए।

२१. उदहीसरिसनामाणं सत्तरिं कोडिकोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

[२१] मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२२. तेत्तीस सागरोवमा उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

[२२] आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२३. उदहीसरिसनामाण वीसई कोडिकोडिओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा अट्ठमुहुत्ता जहन्निया॥

[२३] नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२४. सिद्धाणऽणन्तभागो य अणुभागा हवन्ति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं सव्वजीवेसुऽइच्छियं॥

[२४] अनुभाग (अर्थात्—कर्मों के रस-विशेष) सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने है, तथा समस्त अनुभागों का प्रदेश-परिमाण, समस्त (भव्य और अभव्य) जीवों से भी अधिक है।

विवेचन—बन्ध के चार प्रकारों का निरूपण—कर्मग्रन्थ आदि मे कर्मबन्ध के चार प्रकार बताए गए हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग (रस) बन्ध। प्रकृतिबन्ध के विषय में पहले १२ गाथाओं (४ से १५ तक) मे कहा जा चुका है। गाथा १७ और १८ मे प्रदेशबन्ध से सम्बन्धित द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया गया है। शास्त्रकार का आशय यह है कि एक समय में बंधने वाले कर्मस्कन्धों का प्रदेशाग्र (अर्थात्-कर्मपरमाणुओं का परिमाण) अनन्त होता है।

आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाएँ (कर्मपुद्गल-दलिक) चिपकी रहती हैं। अनन्त का साकेतिक माप बताते हुए कहा गया है कि वह अनन्त यहाँ अभव्य जीवो से अनन्तगुण अधिक और सिद्धो के अनन्तवें भाग जितना है। गोमट्टसार कर्मकाण्ड मे इसी तथ्य को प्रकट करने वाली गाथा मिलती है। यह **द्रव्य की अपेक्षा से** कर्मपरमाणुओ का परिमाण बताया गया है।[1]

क्षेत्र की अपेक्षा से—समस्त ससारी जीव छह दिशाओ मे आगत कर्मपुद्गलो को प्रतिसमय ग्रहण करते (बाधते) है। वे कर्म, जीव के द्वारा अवगाहित आकाशप्रदेशो मे स्थित रहते है। जिन कर्मपुद्गलो को यह जीव ग्रहण (कषाय के योग से आकृष्ट) करता है, वे समस्त कर्मपुद्गल ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि समस्त कर्मों के रूप मे परिणत हो जाते है, तथा (वे समस्त कर्म) समस्त आत्मप्रदेशो के साथ एकक्षेत्रावगाढ होकर सब प्रकार से (अर्थात्-प्रकृति, स्थिति आदि प्रकार से) क्षीर-नीर की तरह एकक्षेत्रावगाढ होकर (रागादि स्निग्धता के योग से) बन्ध (चिपक) जाते है।[2]

काल की अपेक्षा से—५ गाथाओ मे (१९ से २३ तक) प्रत्येककर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बताई गई। इसमे शास्त्रकार ने 'स्थितिबन्ध' का निरूपण कर दिया है। वेदनीय कर्म से यहाँ केवल असातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति इतनी (अन्तर्मुहूर्त्त) ही समझना चाहिए। जघन्य-स्थिति नही, क्योकि प्रज्ञापनासूत्र मे सातावेदनीय की जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त्त की और असातावेदनीय की जघन्यस्थिति सागरोपम के सात भागो मे से तीन भाग प्रमाण बताई गई है।[3]

भाव की अपेक्षा से—कर्मों के रसविशेष (अनुभाग) कर्मों मे अनुभावलक्षणरूप भाव) सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण हैं। तथा समस्त अनुभागो मे प्रदेश-परिमाण समस्त भव्य-अभव्यजीवो से भी अनन्तगुणा अधिक है। यहाँ कर्मों के अनुभागबन्ध का निरूपण किया गया है।[4]

बन्धनकाल मे उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्रमन्दभाव के अनुसार प्रत्येककर्म मे तीव्रमन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। अत विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने का यह सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है। प्रत्येक अनुभावशक्ति उस-उस कर्म के स्वभावानुसार फल देती है।

उपसंहार

२५. तम्हा एएसि कम्माण अणुभागे वियाणिया।
एएसि संवरे चेव खवणे य जए बुहे॥
—त्ति बेमि॥

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा ४, पृ ५९१

(ख) ग्रन्थिरिव ग्रन्थि—घनो रागद्वेषपरिणामस्तत्र गता ग्रन्थिगा—निविडरागद्वेषपरिणामविशेषरूपस्य ग्रन्थेर्भेदनाऽक्षमतया यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्यैव पतन्ति, न तु तदुपरिष्टात् अपूर्वकरणादी गन्तु कथमपि कदाचिदपि समर्था भवन्ति ते ग्रन्थिगा इत्यर्थ।

(ग) सिद्धाणतियभाग अभव्वसिद्धादणतगुणमेव।
समयपबद्ध बधदि, जोगवसादो दु विसरित्थ॥ —गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ४,

२ उत्तरा प्रियदर्शिनी भा ४, पृ ५९३

३ वही, भा ४, पृ ५९७

४ (क) वही, भा ४, पृ ६००, (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ ८।२२-२३ (प सुखलालजी) पृ. २०२

[२५] इसलिए इन कर्मों के अनुभागों को जान कर बुद्धिमान् साधक इनका संवर और क्षय करने का प्रयत्न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अनुभागों को जान कर ही संवर या निर्जरा का पुरुषार्थ—कर्मों के अनुभागो को जानने का अर्थ है—कौन-सा कर्म कितने काषायिक तीव्र मध्यम या मन्द भावो से बाधा गया है? कौन-सा कर्म किस-किस प्रकृति (स्वभाव) का है? उदाहरणार्थ-ज्ञानावरणीयकर्म का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल देता है, वह ज्ञान को ही आवृत करता है, दर्शन आदि को नही। फिर कर्म के स्वभावानुसार विपाक का नियम भी मूलप्रकृतियो पर ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियो पर नही। क्योकि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद मे अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप मे बदल सकती है। इसलिए पहले अनुभाग (कर्म विपाक) के स्वभाव एव उसकी तीव्रता-मन्दता आदि जान लेना आवश्यक है, अन्यथा जिस कर्म का सवर या निर्जरा करना है, उसके बदले दूसरे का सवर या निर्जरा (क्षय) करने का व्यर्थ पुरुषार्थ होगा। अत ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रकृतिबन्ध आदि को कटुविपाक एवं भवहेतु वाले जान कर तत्त्वज्ञ व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इनका सवर और क्षय करे।[1]

।। तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति समाप्त ।।

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ ८।२२-२३-२४ (प सुखलालजी) पृ २०२

(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा, ४, पृ ६०१

चौतीसवाँ अध्ययन : लेश्या

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम लेश्याध्ययन (लेसज्झयण) है। लेश्या का बोध कराने वाला अध्ययन होने से इसका सार्थक नाम रखा गया है।

* व्यक्ति के जीवन का आन्तरिक एव बाह्य निर्माण, उसके परिणामो, भावो, अध्यवसायो या मनोवृत्तियो पर निर्भर है। जिस व्यक्ति के जैसे अध्यवसाय या परिणाम होते है, उसी के अनुसार उसके शरीर की कान्ति, छाया, प्रभा या आभा बनती है, उसी के अनुरूप उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श होते हैं, राग, द्वेष और कषायो की आन्तरिक परिणति भी उसके मनोभावो के अनुसार बन जाती है। उसकी शुभाशुभ विचारधारा अपने सजातीय विचाराणुओ को खीच लाती है। तदनुसार कर्मपरमाणुओ का सचय होता रहता है और अन्तिम समय मे पूर्व प्रतिबद्ध सस्कारानुसार परिणति होती है, तदनुसार अन्तर्मुहूर्त्त मे वैसी ही लेश्या वाले जीवो मे, वैसी ही गति-योनि मे वह जन्म लेता है। इसी को जैनदर्शन में लेश्या कहा गया है। आधुनिक मनोविज्ञान या भौतिकविज्ञान ने मानव-मस्तिष्क मे स्फुरित होने वाले वैसे ही कषायो (क्रोधादिभावो) या मन वचन काया के शुभाशुभ परिणामो या व्यापारो से अनुरजित होने वाले विचारो का प्रत्यक्षीकरण करने एव तदनुरूप रगो के चित्र लेने मे सफलता प्राप्त करली है।[1]

* लेश्या की मुख्यतया चार परिभाषाएँ जैनशास्त्रो मे मिलती हैं—
(१) मन आदि योगो से अनुरजित योगो की प्रवृत्ति।
(२) कषाय से अनुरजित आत्मपरिणाम।
(३) कर्मनिष्यन्द।
(४) कर्मवर्गणा से निष्पन्न कर्मद्रव्यो की विधायिका।[2]

* इन चारो परिभाषाओ के अनुसार यह तो निश्चित है कि मन, वचन और काया की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी आत्मपरिणति या मनोवृत्ति बनती है। जैसी भी शुभाशुभ परिणति होती है, वैसी ही मन-वचन-काया की प्रवृत्ति बनती जाती है। अत जैसे-जैसे कृष्णादि लेश्याओ के द्रव्य होते हैं, वैसे ही आत्मपरिणाम होते है। जैसे आत्मपरिणाम होते है, शरीर के छायारूप पुद्गल भी वैसे रग, रस, गन्ध, स्पर्श वाले बन जाते है। इसका अर्थ है—बाह्य लेश्या के पुद्गल अन्तरग (भाव) लेश्या को प्रभावित करते है। और अन्तरग लेश्या के अनुसार बाह्य-

---

१ (क) जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणरजिया होई। गोमट्ट जी गा ४९०
(ख) देखिये—'अणु और आत्मा' —ले मदर जे मी ट्रस्ट
(ग) लेशयति-श्लेषयति वात्मनि जनमनामीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

२ बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

लेश्या बनती है। भावी कर्मों की शृंखला भी इसी लेश्या-परम्परा से सम्बन्धित है। लेश्या के अनुसार कर्मबन्ध होने से इसे कर्मलेश्या (कर्मविधायिका) लेश्या कहा गया है।[1]

* परिणामों की अशुभतम, अशुभतर और अशुभ, तथा शुभ, शुभतर और शुभतम धारा के अनुसार लेश्या भी छह प्रकार की बताई गई है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, (पीत), पद्म और शुक्ल। वस्तुतः लेश्या में बाह्य और आन्तरिक दोनो जगत् एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।[2]

* प्रस्तुत अध्ययन की गाथा २१ से ३२ तक छहों लेश्याओं के लक्षण बताए हैं। ये लक्षण मुख्यतया मन के विविध अशुभ-शुभ परिणामो के आधार पर ही दिये गए हैं।[3]

* तत्पश्चात् स्थानद्वार के माध्यम से लेश्याओ की व्यापकता बताई गई है कि लेश्याओं के तारतम्य के आधार पर उनकी सूक्ष्म श्रेणियाँ कितनी हो सकती हैं?

* इसके बाद लेश्याओं की स्थिति लेश्या के अधिकारी की दृष्टि से अंकित की गई है। इसके आगे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति की अपेक्षा से लेश्याओं की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति बताई गई है।[4]

* तदनन्तर दो कोटि की लेश्याएँ (३ अधर्मलेश्याएँ और ३ धर्मलेश्याएँ) बताकर उनसे दुर्गति-सुगति की प्राप्ति बताई गई है।[5]

* अन्त मे कहा गया है - मृत्यु से अन्तर्मुहूर्त्त पूर्व दूसरे भव मे जन्म लेने की लेश्या का तथा अन्तर्मुहूर्त्त बाद भूतकालीन लेश्या का भाव रहता है।[6]

* परिणाम द्वार से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य चाहे तो कृष्णादि अशुभतम-अशुभतर और अशुभ लेश्याएँ, शुभ, शुभतर और शुभतम रूप मे परिणत हो सकती हैं, वर्णादि की दृष्टि से भी उनके पर्याय परिवर्तन हो जाते हैं।[7]

* निष्कर्ष यह है कि आत्मा के अध्यवसायों की विशुद्धि और अशुद्धि पर लेश्याओं की विशुद्धि और अशुद्धि निर्भर है। कषायो की मदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है। और अन्तःशुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि भी होती है। बाह्य दोष भी छूट जाते हैं।[8] □

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० (ख) देखिये उत्तरा. अ ३४ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शद्वार।
(ग) उत्तरा. अ. ३४ गा, १

२. देखिये—परिणामद्वार, गा. २०

३ देखिये—लक्षणद्वार गा २१ से ३२

४. देखिये—स्थानद्वार गाथा ३३ तथा स्थितिद्वार गा ३४ से ५६ तक।

५. देखिये—गतिद्वार गा. ५६ के ५७

६ देखिये—आयुष्यद्वार गा. ५८ से ६०

७. प्रज्ञापना पद १७ अ. ४०

८ (क) लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जणस्स।
अज्झवसाणविसोधी मदलेस्सायस्स णादव्वा॥ —मूलाराधना ७।१९११
(ख) अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः सम्पद्यते बहिः।
बाह्यो हि शुद्धयते दोषः, सर्वोऽन्तरदोषतः॥ —मू. आ. (आराधना) ७।१९६७

चउतीसइमं अज्झयणं : चौतीसवाँ अध्ययन

लेसज्झयणं : लेश्याध्ययन

अध्ययन का उपक्रम

१. लेसज्झयणं पवक्खामि आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्मलेसाणं अणुभावे सुणेह मे ॥

[१] 'मैं आनुपूर्वी के क्रमानुसार लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूंगा । (सर्वप्रथम) छहो कर्मस्थिति की विधायक लेश्याओ के अनुभावो (-रसविशेषो) के विषय मे मुझ से सुनो ।'

२. नामाइं वण्ण-रस-गन्ध-फास-परिणाम-लक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं लेसाणं तु सुणेह मे ॥

[२] इन लेश्याओ का (वर्णन) नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य, (इन द्वारो के माध्यम से) मुझ से सुनो ।

विवेचन—लेश्या : स्वरूप और प्रकार—लेश्या आत्मा का परिणाम—अध्यवसाय विशेष है । जिस प्रकार काले आदि रग वाले विभिन्न द्रव्यो के सयोग से स्फटिक वैसे ही रग-रूप मे परिणत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी राग-द्वेष-कषायादि विभिन्न सयोगो से अथवा मन-वचन काया के योगो से वैसे ही रूप मे परिणत हो जाता है । जिसके द्वारा कर्म के साथ आत्मा (जीव) श्लिष्ट हो जाए (चिपक जाए) उसे लेश्या कहा गया है । अर्थात्—वर्ण (रग) के सम्बन्ध के श्लेष की तरह जो कर्मबन्ध की स्थिति बनाने वाली है, वही लेश्या है ।[1] इसीलिए प्रथम गाथा मे कहा गया है—'**छण्हं पि कम्मलेसाणं**'—अर्थात् 'कर्मस्थिति विधायिका लेश्याओ के अनुभाव (विशिष्ट प्रकार के रस को) । ..'

द्वारसूत्र—द्वितीय गाथा मे लेश्याओ का विविध पहलुओ से विश्लेषण करने हेतु नाम आदि । ११ द्वारो का उल्लेख किया गया है—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्धद्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार, (७) लक्षणद्वार, (८) स्थानद्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयुष्यद्वार । आगे की गाथाओ मे इन द्वारो पर क्रमश विवेचन किया जाएगा ।[2]

---

१ (क) 'अध्यवसाये, आत्मन परिणामविशेषे, अन्त करणवृत्ती ।'

—आचारांग १ श्रु. अ. ६, ३-५ तथा अ. ८ उ ५

(ख) कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राय लेश्याशब्द प्रवर्त्तते ॥ —प्रज्ञापना १७ पदवृत्ति ।

(ग) लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या । कर्मग्रन्थ ४ कर्म

(घ) "श्लेष इव वर्णबन्धस्य, कर्मबन्धस्थितिविधात्र्य ।" स्थानांग १

१. नामद्वार

३. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ नामाइं तु जहक्कमं ॥

[३] लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत (४) तेजस (५) पद्म, (६) शुक्ल ।

२. वर्णद्वार

४. जीमूयनिद्धसंकासा गवलऽरिट्ठगसन्निभा ।
खंजणंजण-नयणनिभा किण्हलेसा उ वण्णओ ॥

[४] कृष्णलेश्या वर्ण की अपेक्षा से, स्निग्ध (-सजल काले) मेघ के समान, भैंस के सींग एव रिष्टक (अर्थात्-कौए या अरीठे) के सदृश, अथवा खंजन (गाड़ी के ओंगन), अजन (काजल या सुरमा) एव आंखो के तारे (कीकी) के समान (काली) है ।

५. नीला—ऽसोगसंकासा चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा नीललेसा उ वण्णओ ॥

[५] नीललेश्या वर्ण की अपेक्षा से नील अशोक वृक्ष के समान, चास-पक्षी की पाख जैसी, अथवा स्निग्ध वैडूर्यरत्न-सदृश (अतिनील) है ।

६. अयसीपुप्फसंकासा कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा काउलेसा उ वण्णओ ॥

[६] कापोतलेश्या वर्ण की अपेक्षा से अलसी के फूल जैसी, कोयल की पाख सरीखी तथा कबूतर की गर्दन (ग्रीवा) के सदृश (अर्थात्—कुछ काली और कुछ लाल) है ।

७. हिंगुलुयधाउसंकासा तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुण्ड-पईवनिभा तेउलेसा उ वण्णओ ॥

[७] तेजोलेश्या वर्ण की अपेक्षा से—हीगलू तथा धातु—गेरु के समान, तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के सदृश तथा तोते की चोच या (जलते हुए) दीपक के समान (लाल रग की) है ।

८. हरियालभेयसंकासा हलिद्दाभेयसंनिभा ।
सणासणकुसुमनिभा पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

[८] पद्मलेश्या वर्ण की अपेक्षा से हडताल (हरिताल) के टुकडे जैसी, हल्दी के रंग सरीखी तथा सण और असन (बीजक) के फूल के समान (पीली) है ।

९. संखंककुन्दसंकासा खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

[९] शुक्ललेश्या वर्ण की अपेक्षा से शख, अंकरत्न (स्फटिक जैसे श्वेत रत्नविशेष) एवं

कुन्द के फूल के समान है, दूध की धारा के सदृश तथा रजत (चाँदी) और हार (मोती की माला) के समान (सफेद) है।

विवेचन—छह लेश्याओं का वर्ण—एक-एक शब्द में कहें तो कृष्णलेश्या का रग काला, नील-लेश्या का नीला, कापोतलेश्या का कुछ काला कुछ लाल, तेजोलेश्या का लाल, पद्मलेश्या का पीला और शुक्ललेश्या का श्वेत बताया गया है। यह वर्णकथन मुख्यता के आधार पर है। भगवतीसूत्र के अनुसार प्रत्येक लेश्या मे एक वर्ण तो मुख्यरूप से और शेष चार वर्ण गौणरूप से पाए जाते हैं।[1]

३. रसद्वार

१०. जह कडुयतुम्बगरसो निम्बरसो कडुयरोहिणिरसो वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ किण्हाए नायव्वो॥

जैसे कडवे तुम्बे का रस, नीम का रस अथवा कडवी रोहिणी का रस (जितना) कड़वा होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कड़ुवा कृष्णलेश्या का रस जानना चाहिए।

११. जह तिगडुयस्स य रसो तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ नीलाए नायव्वो॥

[११] त्रिकटुक (सोठ, पिप्पल और काली मिर्च इन त्रिकटुक) का रस अथवा गजपीपल का रस जितना तीखा होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक तीखा नीललेश्या का रस समझना चाहिए।

१२. जह तरुणअम्बगरसो तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ काऊए नायव्वो॥

[१२] कच्चे (अपक्व) आम और कच्चे कपित्थ फल का रस जैसा कसैला होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक (कसैला) कापोतलेश्या का रस जानना चाहिए।

१३ जह परिणयम्बगरसो पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अनन्तगुणो रसो उ तेऊए नायव्वो॥

[१३] पके हुए आम अथवा पके हुए कपित्थ का रस जैसे खटमीठा होता है, उससे भी अनन्तगुणा खटमीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए।

१४. वरवारुणीए व रसो विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महु-मेरगस्स व रसो एत्तो पम्हाए परएणं॥

[१४] उत्तम मदिरा का रस (फूलो से बने हुए) विविध आसवो का रस, मधु (मद्यविशेष) तथा मैरेयक (सरके) का जैसा रस (कुछ खट्टा तथा कुछ कसैला) होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक (अम्ल-कसैला) रस पद्मलेश्या का समझना चाहिए।

१ (क) प्रज्ञापना पद १७

(ख) 'एयाओ ण भंते ! छल्लेसाओ कइसु वन्नेसु साहिज्जंति ?
गोयमा ! पचसु वण्णेसु साहिज्जति।.........' —भगवती श. ७, उ. ३, सू. २२६

१५. खज्जूर-मुद्दियरसो खीररसो खण्ड-सक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥

[१५] खजूर और द्राक्षा (किशमिश) का रस, क्षीर का रस अथवा खाड या शक्कर का रस जितना मधुर होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक मधुर शुक्ललेश्या का रस जानना चाहिए ।

विवेचन—छहों लेश्याओं का रस—कृष्णलेश्या का कड़वा, नीललेश्या का तीखा (चरपरा), कापोतलेश्या का कसैला, तेजोलेश्या का खटमीठा, पद्मलेश्या का कुछ खट्टा-कुछ कसैला, और शुक्ल-लेश्या का मधुर रस होता है ।[१]

४. गन्धद्वार

१६. जह गोमडस्स गन्धो सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणन्तगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

[१६] मरी हुई गाय, मृत कुत्ते और मरे हुए साप की जैसी दुर्गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुणी अधिक दुर्गन्ध (कृष्णलेश्या आदि) तीनो अप्रशस्त लेश्याओ की होती है ।

१७. जह सुरहिकुसुमगन्धो गन्धवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणन्तगुणो पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

[१७] सुगन्धित पुष्प और पीसे जा रहे सुवासित गन्धद्रव्यो की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुणी अधिक सुगन्ध तीनो प्रशस्त (तेजो-पद्म-शुक्ल) लेश्याओ की है ।

विवेचन—अप्रशस्त और प्रशस्त लेश्याओं की गन्ध—प्रस्तुत गाथाओ में अप्रशस्त तीन लेश्याओ (कृष्ण, नील कापोत) की गन्ध दुर्गन्धित द्रव्यो से भी अनन्तगुणी अनिष्ट बताई गई है । यहाँ कापोत, नील और कृष्ण इस व्युत्क्रम से अप्रशस्त लेश्याओं मे दुर्गन्ध का तारतम्य समझ लेना चाहिए । इसी तरह तीन प्रशस्त (तेजो-पद्म-शुक्ल) लेश्याओ की गन्ध सुगन्धित द्रव्यो से भी अनन्तगुणी अच्छी सुगन्ध बताई गई है । अत: इन तीनो प्रशस्त लेश्याओ मे सुगन्ध का तारतम्य क्रमश: उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर समझना चाहिए ।[२]

५. स्पर्शद्वार

१८. जह करगयस्स फासो गोजिब्भाए व सागपत्ताणं ।
एत्तो वि अणन्तगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

[१८] करवत (करौत), गाय की जीभ और शाक नामक वनस्पति के पत्तो का स्पर्श जैसा कर्कश होता है; उससे भी अनन्तगुणा अधिक कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओ का होता है ।

१९. जह बूरस्स व फासो नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणन्तगुणो पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

---

१. प्रज्ञापना पद १७ उ. ४ सू. २२७
२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २ पत्र ३१९

[१९] जैसे बूर (वनस्पति-विशेष), नवनीत (मक्खन) अथवा शिरीष के पुष्पों का स्पर्श कोमल होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श तीनो प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

विवेचन—अप्रशस्त-प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श—प्रस्तुत मे भी अप्रशस्त एव प्रशस्त लेश्याओ के कर्कश-कोमल स्पर्श का तारतम्य पूर्ववत् जानना चाहिए।

६. परिणामद्वार

२०. तिविहो व नवविहो वा सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा लेसाणं होइ परिणामो॥

[२०] लेश्याओ के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्कासी, अथवा दो सौ तैतालीस प्रकार के परिणाम (जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि) होते हैं।

विवेचन—परिणाम : स्वरूप, संख्या—जैसे वैडूर्यमणि एक ही होता है किन्तु सम्पर्क मे आने वाले विविध रग के द्रव्यो के कारण वह रूप मे उन्ही के रूप मे परिणत हो जाता है, इसी प्रकार कृष्ण लेश्या आदि नीललेश्या आदि द्रव्यो के योग्य सम्पर्क को पाकर नीललेश्या आदि के रूप मे परिणत हो जाती है। यही परिणाम है। इस प्रकार के परिणाम जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट आदि के रूप मे ३,९,२७,८१, या २४३ संख्या तक हो सकते है।[२]

७. लक्षणद्वार

२१. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥

[२१] जो मनुष्य पाच आश्रवो मे प्रवृत्त है, तीन गुप्तियो से अगुप्त है, षट्कायिक जीवो के प्रति *अविरत (असयमी) है, तीव्र आरम्भ (हिंसा आदि) मे परिणत (संलग्न) है, क्षुद्र एव साहसी* (अविवेकी) है—

२२. निद्धन्धसपरिणामो निस्संसो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे॥

[२२] निःशक परिणाम वाला है, नृशस (क्रूर) है, अजितेन्द्रिय है, जो इन योगो से युक्त है, वह कृष्णलेश्या मे परिणत होता है।

२३. इस्सा-अमरिस-अतवो अविज्ज-माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य॥

---

२ (क) "से नूण भते! कण्हलेसा नीललेस पप्प ताख्वत्ताए तावण्णत्ताए तागधत्ताए तारसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ? हता गोयमा!" ..." इत्यादि।

..."नवर यथा वैडूर्यमणिरेक एव तत्तदुपाधिद्रव्य सम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणमते, तथैव तान्येव कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि तत्तन्नीलादिलेश्यायोग्यद्रव्य सम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणमन्ते इति।

—प्रज्ञापना पद १७ सू २२५ वृत्ति

[२३] जो ईर्ष्यालु है, अमर्ष (असहिष्णु-कदाग्रही) है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायी है, निर्लज्ज है, विषयासक्त है, प्रद्वेषी है, शठ (धूर्त्त) है, प्रमादी है, रसलोलुप है, सुख का गवेषक है—

२४. आरम्भाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणमे ॥

[२४] जो आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, दु.साहसी है, इन योगों से युक्त मनुष्य नीललेश्या में परिणत होता है।

२५. वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

[२५] जो मनुष्य वक्र (वाणी से वक्र) है, आचार से वक्र है, कपटी (कुटिल) है, सरलता से रहित है, प्रतिकुञ्चक (स्वदोषों को छिपाने वाला) है, औपधिक (सर्वत्र छल-छद्म का प्रयोग करने वाला) है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है—

२६. उप्फालग-दुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काउलेसं तु परिणमे ॥

[२६] उत्प्रासक (जो मुह मे आया, वैसा दुर्वचन बोलने वाला) दुष्टवादी है, चोर है, मत्सरी (डाह करने वाला) है, इन योगो से युक्त जीव कापोतलेश्या मे परिणत होता है।

२७. नीयावित्ती अचवले अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते जोगवं उवहाणवं ॥

[२७] जो नम्र वृत्ति का है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने मे विनीत (निपुण) है, दान्त है, योगवान् (स्वाध्यायादि से समाधिसम्पन्न) है, उपधानवान् (शास्त्राध्ययन के समय विहित तपस्या का कर्त्ता) है—

२८. पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो तेउलेसं तु परिणमे ॥

[२८] जो प्रियधर्मी है, दृढधर्मी है, पापभीरु है, हितैषी है,—इन योगो से युक्त तेजोलेश्या में परिणत होता है।

२९. पयणुक्कोह-माणे य माया-लोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा जोगवं उवहाणवं ॥

[२९] जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ (कषाय) अत्यन्त पतले (अल्प) हैं, जो प्रशान्तचित्त है, आत्मा का दमन करता है, योगवान् तथा उपधानवान् है—

३०. तहा पयणुवाई य उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्ते पम्हलेसं तु परिणमे ॥

[३०] जो अल्पभाषी है, उपशान्त है और जितेंद्रिय है, इन योगों से युक्त जीव पद्मलेश्या में परिणत होता है।

३१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ॥

[३१] आर्त्त और रौद्र ध्यानो का त्याग करके जो धर्म और शुक्लध्यान मे लीन है, जो प्रशान्तचित्त और दान्त है, जो पाच समितियो से समित और तीन गुप्तियो से गुप्त है—

३२. सरागे वीयरागे वा उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

[३२] (ऐसा व्यक्ति) सराग हो, या वीतराग; किन्तु जो उपशान्त और जितेन्द्रिय है जो इन योगों से युक्त है, वह शुक्ललेश्या मे परिणत होता है।

विवेचन—छसु अविरओ—पृथ्वीकायादि षट्कायिक जीवो के उपमर्दन (हिंसा) आदि से विरत न हो।

तिव्वारंभपरिणओ—शरीरत या अध्यवसायतः अत्यन्त तीव्र आरम्भ-सावद्य व्यापार में जो परिणत—रचा-पचा है।

निद्धंधसपरिणामो—जिसके परिणाम इहलोक या परलोक मे मिलने वाले दुःख या दण्डादि अपाय के प्रति अत्यन्त निःशंक (बेखटके) हैं अथवा जो प्राणियो को होने वाली पीडा की परवाह नहीं करता है।

सायगवेसए—अहर्निश सुख की चिन्ता मे रहता है—मुझे कैसे सुख हो, इसी की खोज मे लगा रहता है।

एयजोगसमाउत्तो—इन पूर्वोक्त लक्षणो के योगो—मन, वचन, काया के व्यापारो से युक्त, अर्थात्—इन्हीं प्रवृत्तियो में मन, वचन, काया को लगाए रखने वाला।

काउलेसं तु परिणमे आशय—कापोतलेश्या के परिणाम वाला है। अर्थात्-उसकी मनःपरिणति कापोतलेश्या की है। इसी प्रकार अन्यत्र समझ लेना चाहिए।

विणीयविणए—अपने गुरु आदि का उचित विनय करने मे अभ्यस्त।[1]

८. स्थानद्वार—

३३. असंखिज्जाणोसप्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा लेसाणं हुन्ति ठाणाइं ॥

[३३] असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय होते हैं अथवा असंख्यात लोकों के जितने आकाशप्रदेश होते हैं; उतने ही लेश्याओं के स्थान (शुभाशुभ भावो की चढती-उतरती अवस्थाएँ) होते हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, उत्त ३४, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. ६८८-६९०

विवेचन—एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र बीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। ऐसे असंख्यात कालचक्रों के समयों को—सब से छोटे कालांशों की जितनी संख्या हो, उतने ही लेश्याओं के स्थान हैं, अर्थात् विशुद्धि और अशुद्धि की तरतमता की अवस्थाएँ हैं। अथवा एक लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं। ऐसे असंख्यात लोकाकाशों की कल्पना की जाए तो उन सब के जितने प्रदेशों की संख्या होगी, उतने ही लेश्याओं के स्थान हैं। यह काल और क्षेत्र की अपेक्षा से लेश्या-स्थानों की संख्या हुई।[1]

९. स्थितिद्वार

> ३४. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा किण्हलेसाए॥

[३४] कृष्णलेश्या की स्थिति जघन्य (कम से कम) मुहूर्त्तार्द्ध (अर्थात्—अन्तर्मुहूर्त्त) की है और उत्कृष्ट एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की जाननी चाहिए।

> ३५. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दस उदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा नीललेसाए॥

[३५] नीललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की समझनी चाहिये।

> ३६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा काउलेसाए॥

[३६] कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम प्रमाण समझनी चाहिये।

> ३७. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दो उदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा तेउलेसाए॥

[३७] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की जाननी चाहिये।

> ३८. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दस होन्ति सागरा मुहुत्तऽहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा पम्हलेसाए॥

[३८] पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम समझनी चाहिये

> ३९. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।
> उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा सुक्कलेसाए॥

[३९] शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की है।

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. ६९०

४०. एसा खलु लेसाणं ओहेण ठिई उ वण्णिया होई ।
चउसु वि गईसु एत्तो लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥

[४०] लेश्याओ की यह स्थिति औघिक (सामान्य रूप से) वर्णित की गई है । अब चारो गतियो की अपेक्षा से लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करूंगा ।

४१. दस वाससहस्साइं काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा ॥

[४१] कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक तीन सागरोपम है ।

४२. तिण्णुदही पलिय—मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई ।
दस उदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा ॥

[४२] नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक तीन सागरोपम है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दस सागरोपम है ।

४३. दस उदही पलिय—मसंखभागं जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

[४३] कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दस सागरोपम है और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है ।

४४. एसा नेरइयाणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि तिरिय-मणुस्साण देवाणं ॥

[४४] यह नैरयिक जीवो की लेश्याओ की स्थिति का वर्णन किया है । इसके आगे तिर्यञ्चो, मनुष्यो और देवो की लेश्या-स्थिति का वर्णन करूंगा ।

४५. अन्तोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं ॥

[४५] केवल शुक्ललेश्या को छोड़ कर मनुष्यो और तिर्यञ्चो की जितनी भी लेश्याएँ हैं, उन सबकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है ।

४६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि ऊणा नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

[४६] शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम एक करोड पूर्व है ।

४७. एसा तिरिय-नराणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि लेसाण ठिई उ देवाणं ॥

[४७] मनुष्यो और तिर्यञ्चो की लेश्याओं की स्थिति का यह वर्णन किया है। इससे आगे देवो की लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४८. दस वाससहस्साइं किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो उक्कोसा होइ किण्हाए॥

[४८] (देवों की) कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग है।

४९. जा किण्हाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं नीलाए पलियमसंखं तु उक्कोसा॥

[४९] कृष्णलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक, नीललेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग है।

५०. जा नीलाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काऊए पलियमसंखं च उक्कोसा॥

[५०] नीललेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग है।

५१ तेण परं वोच्छामि तेउलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइ—वाणमन्तर—जोइस—वेमाणियाणं च॥

[५१] इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की तेजोलेश्या की स्थिति का निरूपण करूंगा।

५२. पलिओवम जहन्ना उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया।
पलियमसंखेज्जेणं होई भागेण तेऊए॥

[५२] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर की है।

५३. दस वाससहस्साइं तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा॥

[५३] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यावाँ भाग अधिक दो सागर है।

५४. जा तेऊए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए दस उ मुहुत्तऽहियाइं च उक्कोसा॥

[५४] तेजोलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति है, और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागर है।

५५. जा पम्हाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ॥

[५५] जो पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर है ।

विवेचन—लेश्याओं की स्थिति—प्रस्तुत द्वार की गाथा ३४ से ३९ तक मे सामान्य रूप से प्रत्येक लेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है । फिर चारो गतियों की अपेक्षा से गाथा ४० से ५५ तक मे व्युत्क्रम से लेश्याओं की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण है ।[1]

मुहूर्त्तार्द्ध : भावार्थ—मुहूर्त्तार्द्ध का बराबर समविभागरूप 'अर्द्ध' अर्थ यहाँ विवक्षित नही है । अत. एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त्त से नीचे के सभी छोटे-बडे अश यहाँ विवक्षित हैं । इसी दृष्टि से मुहूर्त्तार्द्ध का अर्थ अन्तर्मुहूर्त्त किया गया है ।[2]

पद्मलेश्या की स्थिति—एक मुहूर्त्त अधिक दस सागर की जो स्थिति गाथा ३८ में बताई है, उसमे मुहूर्त्त से पूर्व एव उत्तर भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त विवक्षित है ।[3]

नीललेश्या आदि की स्थिति—इनके स्थितिनिरूपण मे जो पल्योपम का असख्येय भाग बताया है, उसमे भी पूर्वोत्तर भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त प्रक्षिप्त हैं । फिर भी सामान्यतया असख्येय भाग कहने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि असंख्येय के भी असख्येय भेद होते हैं ।[4]

तिर्यञ्च-मनुष्य सम्बन्धी लेश्याओं की स्थिति—गाथा ४५-४६ मे जघन्यत: और उत्कृष्टत: दोनों ही रूप से अन्तर्मुहूर्त्त बताई है, वह कथन भावलेश्या की दृष्टि से है, क्योकि छद्मस्थ व्यक्ति के भाव अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक एक स्थिति में नहीं रहते ।[5]

शुक्ललेश्या की स्थिति—गाथा ४५ में शुद्ध शुक्ललेश्या को छोड़ दिया गया है और गाथा ४६ मे शुक्ललेश्या की स्थिति का प्रतिपादन किया है, यह केवली की अपेक्षा से है, क्योकि सयोगी केवली की उत्कृष्ट केवलपर्याय ९ वर्ष कम पूर्वकोटि है और सयोगी केवली को एक-सरीखे व्यवस्थित भाव होने से उनकी शुक्ललेश्या की स्थिति भी ९ वर्ष कम पूर्वकोटि बताई गई है । अयोगी केवली में लेश्या होती ही नही है ।[6]

पाठ-व्यत्यय—गाथा ५२-५३ के मूलपाठ मे व्यत्यय मालूम होता है । ५२ के बदले ५३ वी और ५३ के बदले ५२ वी गाथा होनी चाहिए । क्योंकि ५१ वी गाथा मे शास्त्रकार के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक सभी देवो की तेजोलेश्या की स्थिति का प्रतिपादन करने की

---

१. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र ३२४ से ३२७ तक
२. बृहद्वृत्ति, अ रा कोष, भा. ६, पृ ६९१
३. वही. अ. रा. कोष, भा ६ पृ. ६९१
४. वही, अ. रा. कोष, भा, ६, पृ ६९१
५. वही, अ रा कोष, भा ६, पृ ६९२
६. ...."वर्जयित्वा शुद्धां केवलां शुक्ललेश्यामिति यावत्" .... वही, अ रा कोष, भा. ६, पृ ६९२

प्रतिज्ञा की है, किन्तु ५२ वी गाथा में सिर्फ वैमानिक देवो की तेजोलेश्या की स्थिति निरूपित की है, जबकि ५३ वी गाथा मे प्रतिपादित लेश्या की स्थिति का कथन चारों प्रकार के देवो की अपेक्षा से है। इसका सकेत टीकाकारो ने भी किया है।[1]

१०. गतिद्वार

५६. किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई बहुसो॥

[५६] कृष्ण, नील और कापोत, ये तीनो अधर्म (अप्रशस्त) लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव अनेकों बार दुर्गति मे, उत्पन्न होता है।

५७. तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो सुग्गइं उववज्जई बहुसो॥

[५७] तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनो धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव अनेको वार सुगति को प्राप्त होता है।

विवेचन—दुर्गति-सुगतिकारिणी लेश्याएँ—प्रारम्भ की कृष्णादि तीन लेश्याएँ सक्लिष्ट अध्यवसाय रूप होने से अथवा पापोपादान का हेतु होने से अप्रशस्त, अविशुद्ध एव अधर्मलेश्याएँ कही गई हैं, अतएव दुर्गतिगामिनी (नरक-तिर्यञ्च रूप दुर्गति मे ले जाने वाली) हैं। पिछली तीन (तेजो, पद्म एव शुक्ल) लेश्याएँ प्रशस्त, विशुद्ध एव असंक्लिष्ट अध्यवसाय रूप होने से, अथवा पुण्य या धर्म का हेतु होने से धर्मलेश्याएँ हैं, अतएव देव-मनुष्यरूप सुगतिगामिनी हैं।[2]

११. आयुष्यद्वार

५८. लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स॥

[५८] प्रथम समय मे परिणत सभी लेश्याओ से कोई भी जीव दूसरे भव मे उत्पन्न नही होता।

५९. लेसाहिं सव्वाहिं चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स॥

[५९] अन्तिम समय मे परिणत सभी लेश्याओ से भी कोई जीव दूसरे भव मे उत्पन्न नही होता।

---

१. "इय च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतया नेया।" —सर्वार्थसिद्धि टीका

२. (क) तओ लेसाओ अविसुद्धाओ, तओ विसुद्धाओ, तओ पसत्थाओ; तओ अपसत्थाओ, तओ संकिलिट्ठाओ, तओ असंकिलिट्ठाओ, तओ दुग्गतिगामियाओ, तओ सुगतिगामियाओ। ...... —प्रज्ञापना पद १७ उ ४ पृ. सू. २२८

(ख) बृहद्वृत्ति, अ रा. कोष भा. ६, पृ. ६८८

६०. अन्तमुहुत्तम्मि गए अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

[६०] लेश्याओं की परिणति होने पर जब अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत हो जाता है, और जब अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं ।

विवेचन—परलोक में लेश्याप्राप्ति कब और कैसे ?—प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा से छहों ही लेश्याओ के प्रथम समय मे जीव का परभव मे जन्म नही होता और न ही अन्तिम समय में । किसी भी लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर जीव परलोक मे जन्म लेते हैं । आशय यह है कि मृत्युकाल मे आगामी भव की और उत्पत्तिकाल मे अतीतभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक होना आवश्यक है । देवलोक और नरक मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यों और तिर्यञ्चो को मृत्युकाल मे अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक अग्रिम भव की लेश्या का सद्भाव होता है । मनुष्य और तिर्यञ्च गति मे उत्पन्न होने वाले देव-नारको को भी मरणानन्तर अपने पहले भव की लेश्या अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक रहती है । अतएव आगम मे देव और नारक की लेश्या का पहले और पिछले भव के लेश्यासम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्त्तों के साथ स्थितिकाल बतलाया है । प्रज्ञापनासूत्र मे भी कहा है,—जिनलेश्याओ के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव मरता है, उन्ही लेश्याओ को प्राप्त करता है ।

उपसंहार

६१. तम्हा एयाण लेसाणं अणुभागे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि ॥
—त्ति बेमि ।

[६१] अत लेश्याओ के अनुभाग (विपाक) को जान कर अप्रशस्त लेश्याओ का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओ मे अधिष्ठित होना चाहिए । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ चौतीसवाँ लेश्याध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ रा को भा ६, पृ ६९५

(ख) जल्लेसाइ दव्वाइ आयइत्ता कालं करेति, तल्लेसेसु उववज्जइ । —प्रज्ञापना पद १७३-४

पैंतीसवां अध्ययन : अनगारमार्गगति

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत पैंतीसवे अध्ययन का नाम अनगारमार्गगति (अणगारमग्गगई) है। इसमें घरबार, स्वजन-परिजन, तथा गृह-कार्य और व्यापार-धधा आदि छोडकर अनगार बने हुए भिक्षाजीवी मुनि को विशिष्ट मार्ग में गति (पुरुषार्थ) करने का सकेत किया गया है।

* यद्यपि भगवान् महावीर ने अगारधर्म और अनगारधर्म दो प्रकार के धर्म बताए हैं, और इन दोनों की आराधना के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग बताया है, किन्तु दोनों धर्मों की आराधना-साधना मे काफी अन्तर है। उसी को स्पष्ट करने एव अनगारधर्ममार्ग को विशेष रूप से प्रतिपादित करने हेतु यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

* अगारधर्मपालक अगारवासी (गृहस्थ) और अनगारधर्मपालक निर्ग्रन्थ भिक्षु मे चारित्राचार की निम्न बातो मे अन्तर है।—(१) अगारधर्मी पुत्र-कलत्रादि के सग को सर्वथा नही त्याग सकता, जबकि अनगारधर्मपालक को ऐसे सग का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है।

* सागार (गृहस्थ) हिंसादि पचाश्रवो का पूर्णतया त्याग नही कर सकता, जबकि अनगार को पाचो आश्रवो का तीन करण तीन योग से सर्वथा त्याग करना तथा महाव्रतो का ग्रहण एव पालन आवश्यक है।

* गृहस्थ अपने परिवार के स्त्री पुत्रादि तथा पशु आदि से युक्त घर मे निवास करता है, परन्तु साधु को स्त्री आदि से सर्वथा असंसक्त, एकान्त, निरवद्य, परकृत जीव-जन्तु से रहित निराबाध, श्मशान, शून्यगृह तरुतल आदि मे निवास करना उचित है।

* गृहस्थ मकान बना या बनवा सकता है उसे धुलाई पुताई या मरम्मत करा कर सुवासित एव सुदृढ करवा सकता है; वह गृहनिर्माणादि आरम्भ से सर्वथा मुक्त नही है, परन्तु साधु आरम्भ (हिंसा) का सर्वथा त्यागी होने से उसका मार्ग (धर्म) है कि वह न तो स्वय मकान बनाए, न बनवाए, न ही मकान को रगाई-पुताई करे-करावे।

* गृहस्थ रसोई बनाता-बनवाता है, वह भिक्षा करने का अधिकारी नही, जबकि साधु का मार्ग है कि वह न भोजन पकाए न पकवाए क्योकि उससे अग्नि पानी, पृथ्वी, अन्न तथा काष्ठ के आश्रित अनेक जीवो की हिंसा होती है, जो अनगार के लिए सर्वथा त्याज्य है।

* गृहस्थ अपने तथा परिवार के निर्वाह के लिए उनके विवाहादि तथा अन्य खर्च के लिए मकान, दूकान आदि बनाने के लिए व्यवसाय, नौकरी आदि करके धनसचय करता है, किन्तु अनगारका मार्ग (धर्म) यह है कि वह जीवननिर्वाह के लिए न तो सोना-चाँदी आदि के रूप मे धन ग्रहण करे, न कोई चीज खरीद-बेच कर व्यापार करे, किन्तु निर्दोष एषणीय भिक्षा के रूप मे अन्न-वस्त्रादि ग्रहण करे।

* गृहस्थ अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण न होने से स्वादिष्ट भोजन बनाता और करता है, विवाहादि में खिलाता है, परन्तु अनगार का मार्ग यह है कि वह जिह्वेन्द्रिय को वश में रखे, स्वादलोलुप होकर स्वाद के लिए न खाए, किन्तु संयमयात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे।

* गृहस्थ अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान के लिए एड़ी से लेकर चोटी तक पसीना बहाता है, चुनाव लड़ता है, प्रचुर धन खर्च करता है, परन्तु अनगार का मार्ग यह है कि वह पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान, वन्दना, ऋद्धि-सिद्धि की कामना कदापि न करे।

* गृहस्थ अकिंचन नहीं हो सकता। वह शरीर के प्रति ममत्व रखता है। उसका भली भांति पोषण-जतन करता है किन्तु अनगार का धर्म है अकिंचन, अनिदान, निःस्पृह, शरीर के प्रति निर्ममत्व एवं आत्मध्याननिष्ठ बनकर देहाध्यास से मुक्त बनना।

* प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है कि अनगार मार्ग में गति करने वाला पूर्वोक्त धर्म का आराधक ऐसा वीतराग समतायोगी मुनि केवलज्ञान एवं शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

* निष्कर्ष यह है कि अनगारमार्ग, अगारमार्ग से भिन्न है। वह एक सुदीर्घ साधना है, जिसके लिए जीवनपर्यन्त सतत सतर्क एवं जागृत रहना होता है। ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे प्रसंगों तथा जीवन के उतार-चढ़ावों में अपने को संभालना पड़ता है। बाहर से घर बार, परिवार आदि के संग को छोड़ना आसान है, मगर भीतर में असंग तभी हुआ जा सकता है, जब अनगार देह, गेह, धन-कंचन, भक्त-पान, आदि की आसक्ति से मुक्त हो जाए, यहाँ तक कि जीवन-मरण, यश-अपयश, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सम्मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से भी मुक्त हो जाए। अनगारधर्म का मार्ग आत्मनिष्ठ होकर पंचाचारों में पराक्रम करने का मार्ग है।

□□

पणतीसइमं अज्झयणं : पैंतीसवाँ अध्ययन

अणगारमग्गगई : अनगारमार्गगति

उपक्रम

१. सुणेह मेगग्गमणा मग्गं बुद्धेहि देसियं ।
जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणऽन्तकरो भवे ।।

[१] बुद्धो (—तीर्थंकरो या ज्ञानियो) द्वारा उपदिष्ट मार्ग को तुम एकाग्रचित्त हो कर मुझ से सुनो, जिसका आचरण करके भिक्षु (मुनि) दु खो का अन्त करने वाला होता है ।

विवेचन—बुद्धेहि देसियं—बुद्ध का अर्थ है—जो केवलज्ञानी है, जो यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व के ज्ञाता हैं, उन अर्हन्तो द्वारा, अथवा श्रुतकेवलियो द्वारा या गणधरो द्वारा उपदिष्ट ।[1]

दुक्खाणंतकरो—समस्त कर्मों का निर्मूलन करके शारीरिक मानसिक, सभी दु खो का अन्तकर्ता हो जाता है ।[2]

संगों को जान कर त्यागे

२. गिहवास परिच्चज्ज पवज्जं अस्सिओ मुणी ।
इमे सगे वियाणिज्जा जेहि सज्जन्ति माणवा ।।

[२] गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित हुआ मुनि, उन सगो को जाने, जिनमे मनुष्य आसक्त (प्रतिबद्ध) होते हैं ।

विवेचन—सर्वसगपरित्यागरूपा प्रव्रज्या—भागवती दीक्षा स्वीकार किया हुआ मुनि इन (सर्वप्राणियो के लिए प्रत्यक्ष) सगों—पुत्रकलत्रादिरूप प्रतिबन्धो को भवभ्रमण हेतु जाने-ज्ञपरिज्ञा से समझे और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उन्हे त्यागे, जिनमे मानव आसक्त होते है, अथवा जिन सगों से मानव ज्ञानावरणीयादि कर्म से प्रतिबद्ध हो जाते हैं ।[3]

हिंसादि आस्रवों का परित्याग

३. तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं ।
इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए ।।

[३] इसी प्रकार संयमी मुनि हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म (चर्य) सेवन, इच्छा, काम, और लोभ का सर्वथा त्याग करे ।

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. १, पृ. २७९
२. वही, अ. रा. कोष भा. १, पृ. २७९
३ वही, अ. रा कोष. भा. १, पृ. २८०

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह (इच्छाकाम और लोभ) इन पाचों आश्रवो से दूर रहने और पाच सवरो का अर्थात् पच महाव्रतो के पालन मे जागृत रहने का विधान है।

इच्छाकाम और लोभ का तात्पर्य—इच्छारूप काम का अर्थ है—अप्राप्त वस्तु की काक्षा, और लोभ का अर्थ है—लब्धवस्तुविषयक गृद्धि।[1]

अनगार का निवास और गृहकर्मसमारम्भ

४. मणोहर चित्तहर मल्लधूवेण वासियं।
सकवाड पण्डुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए॥

[४] मनोहर, चित्रो से युक्त, माल्य और धूप से सुवासित किवाडो सहित, श्वेत चदोवा से युक्त स्थान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे।

५. इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउ कामरागविवड्ढणे॥

[५] (क्योकि) कामराग को बढाने वाले, वैसे उपाश्रय मे भिक्षु के लिए इन्द्रियो का निरोध करना दुष्कर है।

६. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के परकडे वा वासं तत्थऽभिरोयए॥

[६] अत एकाकी भिक्षु श्मशान मे, शून्यगृह मे, वृक्ष के नीचे (मूल मे) परकृत (दूसरो के लिए या पर के द्वारा बनाए गए) प्रतिरिक्त (एकान्त या खाली) स्थान मे निवास करने की अभिरुचि रखे।

७. फासुयम्मि अणाबाहे इत्थीहि अणभिद्दुए।
तत्थ सकप्पए वास भिक्खू परमसंजए॥

[७] परमसयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध, स्त्रियो के उपद्रव से रहित स्थान मे रहने का सकल्प करे।

८. न सयं गिहाइ कुज्जा णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे भूयाणं दीसई वहो॥

[८] भिक्षु न स्वय घर बनाए और न दूसरो से बनवाए (क्योकि) गृहकर्म के समारम्भ मे प्राणियो का वध देखा जाता है।

९. तसाणं थावराण च सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भं संजओ परिवज्जए॥

---

१. बृहद्वृत्ति, अ रा कोष भा १, पृ २८०

[९] त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवों का वध होता है, इसलिए संयत मुनि गृहकर्म के समारम्भ का परित्याग करे ।

विवेचन—अनगार के निवास के लिए अनुपयुक्त स्थान ये हैं—(१) मनोहर तथा चित्रों से युक्त, (२) माला और धूप से सुगन्धित (३) कपाटों वाले तथा (४) श्वेत चन्दोवा से युक्त स्थान, (५) कामरागविवर्द्धक । **योग्यस्थान हैं**—(१) श्मशान, (२) शून्य गृह, (३) वृक्षतल, (४) परनिर्मित गृह आदि जो विविक्त एवं रिक्त हो, प्रासुक (जीवजन्तुरहित) हो, स्वपर के लिए निराबाध, और स्त्री-पशु-नपुंसकादि के उपद्रव से रहित हो ।[1]

विविध स्थानों में निवास से लाभ—प्रस्तुत में **कपाटयुक्त स्थान में** रहने की अभिलाषा का निषेध साधु की उत्कृष्ट साधना, अगुप्तता और अपरिग्रहवृत्ति का द्योतक है । इसका एक फलितार्थ यह भी हो सकता है कि कपाट वाले स्थान में ही रहने की इच्छा न करे किन्तु अनायास ही, स्वाभाविक रूप से कपाट वाला स्थान मिल जाए तो निवास करना वर्जित नहीं है । श्मशान में निवास वैराग्य एवं अनित्यता की भावना जागृत करने हेतु उपयुक्त है । तरुतलनिवास से पेड के पत्तों को गिरते देख तथा वृक्ष में होने वाले परिवर्तन को देखकर जीवन की अनित्यता का भाव उत्पन्न होगा ।[2]

गृहकर्मसमारम्भनिषेध--गृहकर्मसमारम्भ से अनेक त्रस-स्थावर, स्थूल-सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है । अत: साधु मकान बनाने-बनवाने लिपाने-पुतवाने आदि के चक्कर में न पडे । गृहस्थद्वारा बनाए हुए मकान में उसकी अनुज्ञा लेकर रहे ।[3]

भोजन पकाने एवं पकवाने का निषेध

१०. तहेव भत्तपाणेसु पयण-पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए न पये न पयावए ॥

[१०] इसी प्रकार भक्त-पान पकाने और पकवाने में हिंसा होती है । अत: भिक्षु प्राणों और भूतों की दया के लिए न तो स्वयं पकाए और न दूसरे से पकवाए ।

११. जल-धन्ननिस्सिया जीवा पुढवी-कट्ठनिस्सिया ।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु तम्हा भिक्खू न पायए ॥

[११] भोजन और पान के पकाने-पकवाने में जल, धान्य, पृथ्वी और काष्ठ (ईन्धन) के आश्रित जीवों का वध होता है, अत: भिक्षु न पकवाए ।

१२. विसप्पे सव्वओधारे बहुपाणविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए ॥

[१२] अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है, वह अल्प होते हुए भी चारों ओर फैल

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ. २८० (ख) मज्झिमनिकाय, २।३।७ पृ. ३०७
(ग) विसुद्धिमग्गो भा. १, पृ. ७३ से ७६ तक ।
२-३ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३३०

जाने वाला, चारो ओर तीक्ष्ण धार वाला तथा बहुत-से प्राणियो का विनाशक है। अतः साधु अग्नि न जलाए।

विवेचन—पचन-पाचनक्रिया का निषेध—साधु के लिए पचन-पाचन क्रिया का निषेध इसलिए किया गया है कि इसमे अग्निकाय के जीवों तथा जल, अनाज, (वनस्पति) लकड़ी एव पृथ्वी के आश्रित रहे हुए अनेक जीवो का वध होता है, अग्नि भी सजीव है। उसके दूर-दूर तक फैल जाने से अग्निकाय की, तथा उसके छहो दिशावर्ती अनेक त्रस-स्थावर जीवो की प्राणहानि होती है।

क्रय-विक्रय का निषेध-भिक्षा और भोजन की विधि

१३. हिरण्णं जायरूवं च मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू विरए कयविक्कए॥

[१३] सोने और मिट्टी के ढेले को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे। वह (सभी प्रकार के) क्रय-विक्रय (खरीदने-बेचने) से विरत रहे—दूर रहे।

१४. किणन्तो कइओ होइ विक्किणन्तो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टन्तो भिक्खू न भवइ तारिसो॥

[१४] वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक (खरीददार) कहलाता है और बेचने वाला वणिक् (विक्रेता) होता है। अत. जो क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त है वह भिक्षु नही है।

१५. भिक्खियव्वं न केयव्वं भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो भिक्खावत्ती सुहावहा॥

[१५] भिक्षाजीवी भिक्षु को भिक्षावृत्ति से ही भिक्षा करनी चाहिए, क्रय-विक्रय से नही। क्रय-विक्रय महान् दोष है। भिक्षावृत्ति सुखावह है।

१६. समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी॥

[१६] मुनि श्रुत (शास्त्र-विधान) के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ (अनेक घरो से थोडे-थोडे आहार) की गवेषणा करे। लाभ और अलाभ मे सन्तुष्ट रह कर पिण्डपात (-भिक्षाचर्या) करे।

१७. अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा जवणट्ठाए महामुणी॥

[१७] रसनेन्द्रियविजेता अलोलुप एव अमूर्च्छित महामुनि रस मे आसक्त न हो। वह यापनार्थ अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिए ही खाए, रस (स्वाद) के लिए नही।

विवेचन—आहार-पानी की विधि : उपयुक्त-अनुपयुक्त—भिक्षाजीवी साधु के लिए अनेक घरो से मधुकरीवृत्ति से भिक्षाचरी द्वारा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने तथा यथालाभ संतुष्ट, अलोलुप

एव अनासक्त होकर केवल जीवननिर्वाहार्थ आहार करने का विधान है। किन्तु क्रय-विक्रय करना या संग्रह करना उपयुक्त नही।

पूजा सत्कार आदि से दूर रहे

१८. अच्चणं रयणं चेव वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कार-सम्माणं मणसा वि न पत्थए ।।

[१८] मुनि अर्चना, रचना, पूजा तथा ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा (प्रार्थना) न करे।

विवेचन—साधु पूजा प्रतिष्ठादि की वाञ्छा न करे—अर्चना—पुष्पादि से पूजा, **रचना**—स्वस्तिक आदि का न्यास, अथवा सेवना (पाठान्तर)—उच्च आसन पर बिठाना, **वन्दन**—नमस्कारपूर्वक वाणी से अभिनन्दन करना, **पूजन**—विशिष्ट वस्त्रादि का प्रतिलाभ। **ऋद्धि**—श्रावको मे उपकरणादि की उपलब्धि, अथवा आमर्षौषधि आदि रूप लब्धियो की सम्पदा, **सत्कार**—अर्थ प्रदान आदि। **सम्मान**—अभ्युत्थान आदि की इच्छा न करे।[1]

शुक्लध्यानलीन, अनिदान, अकिंचन : मुनि

१९. सुक्कज्झाणं झियाएज्जा अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ ।।

[१९] मुनि शुक्ल (-विशुद्ध-आत्म-) ध्यान मे लीन रहे। निदानरहित और अकिंचन रहे। जहाँ तक काल का पर्याय है, (-जीवनपर्यन्त) शरीर का व्युत्सर्ग (कायासक्ति छोड) कर विचरण करे।

विवेचन—वोसट्ठकाए विहरेज्जा—शरीर का मानो त्याग (व्युत्सर्ग) कर दिया है, इस प्रकार से अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करे।[2]

अन्तिम आराधना से दुःखमुक्त मुनि

२०. निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोन्दिं पहू दुक्खे विमुच्चई ।।

[२०] (अन्त मे) कालधर्म उपस्थित होने पर मुनि आहार का परित्याग कर (सलेखना-संथारापूर्वक) मनुष्य शरीर को त्याग कर दुःखो से विमुक्त, प्रभु (विशिष्ट सामर्थ्यशाली) हो जाता है।

२१. निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं सासयं परिणिव्वुए ।।

---

१ बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ २८२
२. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ. २८२

[२१] निर्मम, निरहंकार, वीतराग और अनाश्रव मुनि केवलज्ञान को सम्प्राप्त कर शाश्वत परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।

विवेचन—निज्जूहिऊण आहार—संलेखनाक्रम से चतुर्विध आहार का परित्याग कर। बिना संलेखना किए सहसा: यावज्जीवन आहार त्याग करने पर धातुओं के परिक्षीण होने पर अन्तिम समय में आर्त्तध्यान होने की सम्भावना है।

पहू : विशेषार्थ—प्रभु—वीर्यान्तराय के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्यवान् होकर।[1]

॥ अनगारमार्गगति : पैंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, अ रा कोष, भा ७, पृ. २८२

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीव-विभक्ति

अध्ययनसार

* प्रस्तुत छत्तीसवें अध्ययन का नाम है—जीवाजीव-विभक्ति (जीवाजीवविभत्ती)। इसमे जीव और अजीव के विभागो (भेद-प्रभेदो) का निरूपण किया गया है।

* समग्र सृष्टि जड-चेतनमय है। यह लोक जीव (चेतन) और अजीव-(जड) का विस्तार है। जीव और अजीवद्रव्य समग्रता से आकाश के जिस भाग में है, वह आकाशखण्ड 'लोक' कहलाता है। जहाँ ये नही है, वहाँ केवल आकाश ही है, जिसे 'अलोक' कहते हैं। लोक स्वरूपतः (प्रवाह से) अनादि-अनन्त है अत न इसका कोई कर्त्ता है, न धर्त्ता है और न सहर्त्ता।[1]

* जीव और अजीव, ये दो तत्त्व ही मूल है। शेष सब तत्त्व या द्रव्य इन्ही दो के सयोग या वियोग से माने जाते है। जीव और अजीव का सयोग प्रवाहरूप से अनादि है; विशेष रूप से सादि-सान्त है। यह सयोग ही ससारी जीवन है। क्योकि जब तक जीव के साथ कर्मपुद्गलो या अन्य सासारिक पदार्थों का सयोग रहता है, तब तक उसे जन्म-मरण करना पडता है। जीव के देह, इन्द्रिय, मन, भाषा, सुख, दु ख आदि सब इसी सयोग पर आधारित हैं। प्रवाह-रूप से अनादि यह सयोग, सान्त भी हो सकता है, क्योकि राग-द्वेष ही उक्त सयोग के कारण है। कारण को मिटा देने पर रागद्वेषजनित कर्मबन्धन और उससे प्राप्त यह ससार-भ्रमणरूप कार्य स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

* जीव और अजीव की इस संयुक्ति को मिटाना और विभक्ति (पृथक्) करना अर्थात् साधक के लिए जीव और अजीव का भेदविज्ञान करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है, जिसे शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ मे ही व्यक्त किया है। जीव और अजीव का भेदविज्ञान करना—विभक्ति करना ही तत्त्वज्ञान का फल है, वही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, जिनवचन मे अनुराग है। जिन-वचनो को हृदयगम करके सयमी पुरुष उसे जीवन मे उतारता है।[2]

* इसी हेतु से सर्वप्रथम 'जीव' का निरूपण करने की अपेक्षा अजीव का निरूपण किया गया है। अजीव तत्त्व एक होते हुए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उसके विभिन्नरूपो की प्ररूपणा की गई है। रूपी अजीव द्रव्यत स्कन्ध, स्कन्धदेश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल के भेद से चार प्रकार का बता कर क्षेत्र और काल की अपेक्षा से उसकी प्ररूपणा की गई है। उसकी स्थिति और अन्तर की भी प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर रूपी अजीव के वर्ण, गन्ध,

---

१ 'जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।' —उत्तरा अ ३६, गा २

२ (क) 'ज जाणिऊण समणे, सम्मं जयइ सजमे।' —उत्तरा अ ३६, गा. १

(ख) "……सोच्चा सद्दहिऊण…… रमेज्जा सजमे मुणी।" —वही, गा. २४९, २५०

रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से पचविध परिणमन के अनेक भेद बताए गए हैं।[1]

* जीव शुद्धस्वरूप की दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के नहीं हैं, किन्तु कर्मों से आवृत होने के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, गति, योनि, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से उनके अनेक भेदो का निरूपण किया गया है।

* सर्वप्रथम जीव के दो भेद बताए हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्धों के क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि की अपेक्षा से अनेक भेद किए गए हैं।

  फिर ससारी जीवो के मुख्य दो भेद बतलाए हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर के पृथ्वीकाय आदि तीन और त्रस के तेजस्काय, वायुकाय और द्वीन्द्रियादि भेद बताए गए हैं।

* उसके पश्चात् पचेन्द्रिय के मुख्य चार भेद—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, बताकर उन सबके भेद-प्रभेदो का निरूपण किया गया है।

* जीव के प्रत्येक भेद के साथ-साथ उनके क्षेत्र और काल का निरूपण किया गया है। काल मे—प्रवाह और स्थिति, आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तर का भी निरूपण किया गया है। साथ ही भाव की अपेक्षा से प्रत्येक प्रकार के जीव के हजारो भेदो का प्रतिपादन किया गया है।

* अन्त मे जीव और अजीव के स्वरूप का श्रवण, ज्ञान, श्रद्धान करके तदनुरूप सयम मे रमण करने का विधान किया गया है।[2]

* अन्तिम समय मे सल्लेखना—सथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करने हेतु सलेखना की विधि, कन्दर्पी आदि पांच अशुभ भावनाओ से आत्मरक्षा तथा मिथ्यादर्शन, निदान, हिंसा, एव कृष्णलेश्या से बचकर सम्यग्दर्शन, अनिदान और शुक्ललेश्या, जिन-वचन मे अनुराग तथा उनका भावपूर्वक आचरण तथा योग्य सुदृढ सयमी गुरुजन के पास आलोचनादि से शुद्ध होकर परीतससारी बनने का निर्देश किया गया है।[3]

---

१. उत्तरा. मूलपाठ, अ. ३६, गा. ४ से ४७ तक

२. वही, गा. ४८ से २४९ तक

३. वही, गा. २५० से २६७ तक

छत्तीसइमं अज्झयणं : छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीवविभक्ति

अध्ययन का उपक्रम और लाभ

१. जीवाजीवविभत्तिं सुणेह मे एगमणा इओ।
जं जाणिऊण समणे सम्मं जयइ संजमे ॥

[१] अब जीव और अजीव के विभाग को तुम एकाग्रमना होकर मुझ से सुनो; जिसे जान कर श्रमण सम्यक् प्रकार से संयम में यत्नशील होता है।

२. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ॥

[२] यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है, और जहाँ अजीव का एकदेश (भाग) केवल आकाश है उसे अलोक कहा गया है।

३. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसिं भवे जीवाणमजीवाण य ॥

[३] उन जीवों और अजीवों की प्ररूपणा द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से होती है।

विवेचन—'लोक' की परिभाषा : विभिन्न दृष्टियों से—जैनागमों में विभिन्न दृष्टियों से 'लोक' की परिभाषा की गई है यथा—(१) धर्मास्तिकाय लोक है, (२) षड्द्रव्यात्मक लोक है, (३) 'लोक' पंचास्तिकायमय है, और (४) लोक जीव-अजीवमय है। प्रस्तुत में जीव और अजीव को 'लोक' कहा गया है, परन्तु पूर्वपरिभाषाओं के साथ इसका कोई विरोध नहीं है, केवल अपेक्षा-भेद है।[1]

अलोक—अलोक में धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य नहीं है, केवल आकाश है, जो कि अजीवमय है, इसलिए अलोक में अजीव का एक देश—आकाश का एक भाग ही है।[2]

विभिन्न अपेक्षाओं से प्ररूपणा—प्रस्तुत अध्ययन में जीव और अजीव की प्ररूपणा चार मुख्य अपेक्षाओं से की है—(१) द्रव्यतः, (२) क्षेत्रतः, (३) कालतः और (४) भावतः।

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३३३

२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी भा. ४, पृ. ६८७ (ख) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भाग ४, पृ. १५६२

जीव/अजीव	द्रव्य-नाम	द्रव्यत:	क्षेत्रत·	कालत	भावत
अजीव	धर्मास्तिकाय	एक	लोकव्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
,,	अधर्मास्तिकाय	एक	,,	,,	,,
,,	आकाशास्तिकाय	,,	लोक-अलोकव्यापी	,,	,,
,,	काल	अनन्त	समयक्षेत्रव्यापी	,,	,,
,,	पुद्‌गलास्तिकाय	,,	लोकव्यापी	,,	रूपी
जीव	जीवास्तिकाय	अनन्त	,,	,,	अरूपी[1]

जीव-अजीव-विज्ञान का प्रयोजन—जब तक साधु जीव और अजीव तत्त्व के भेद को नही समझ लेता, तब तक वह संयम को नही समझ सकता। जीव और अजीव को जानने पर ही व्यक्ति अनेक विध गति, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष को जान सकता है। अत जीवाजीव विभाग को समझ लेने पर ही सयम की आराधना मे साधु का प्रयत्न सफल हो सकता है।[2]

अजीवनिरूपण

४. रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा ॥

[४] अजीव दो प्रकार है—रूपी और अरूपी। अरूपी दस प्रकार का है और रूपी चार प्रकार का।

विवेचन—अजीव का लक्षण—जिसमे चेतना न हो, जो जीव से विपरीत स्वरूप वाला हो, उसे अजीव कहते हैं।[3]

रूपी, अरूपी—जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, वे रूपी या मूर्त्त कहलाते है। जिसमे रूप आदि न हो वे अरूपी-अमूर्त्त है।[4]

अरूपी-अजीव-निरूपण

५. धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए ॥

[५] (सर्वप्रथम) धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश तथा प्रदेश कहा गया है, फिर अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश कहा गया है।

---

१ उत्तरा टिप्पण (मु नथमलजी) पृ. ३१५

२ (क) दशवैकालिक सूत्र अ. ४, भा. १२-१४ (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी भा ४, पृ ६८६

३ प्रज्ञापना पद १ टीका

४ तत्र रूप स्पर्शाद्याश्रयभूत मूर्त्तं तदस्ति येषु ते रूपिण। तद्व्यतिरिक्ता अरूपिण।

—बृहद्वृत्ति, अ रा कोष. भा १, पृ २०३

६. आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे ।।

[६] आकाशास्तिकाय, उसका देश तथा प्रदेश कहा गया है । और एक अद्धासमए (काल), ये दस भेद अरूपी अजीव के हैं ।

७. धम्माधम्मे य दोऽवेए लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ।।

[७] धर्म और अधर्म, ये दोनो लोक प्रमाण कहे गए हैं । आकाश लोक और अलोक मे व्याप्त है । काल समय क्षेत्र (मनुष्य-क्षेत्र) मे ही है ।

८. धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया ।।

[८] धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनो द्रव्य अनादि, अपर्यवसित—अनन्त और सर्वकाल-स्थायी (नित्य) कहे गए हैं ।

९. समए वि सन्तइं पप्प एवमेवं वियाहिए ।
आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि य ।।

[९] काल भी प्रवाह (सन्तति) को अपेक्षा से इसी प्रकार (अनादि-अनन्त) है । आदेश मे (-प्रतिनियत व्यक्तिरूप एक-एक समय की अपेक्षा से) सादि और सान्त है ।

विवेचन—यद्यपि धर्मास्तिकाय आदि तीन अरूपी अजीव वास्तव मे अखण्ड एक-एक द्रव्य है, तथापि उनके स्कन्ध, देश और प्रदेश के रूप मे तीन-तीन भेद किये गए हैं ।

परमाणु, स्कन्ध, देश और प्रदेश : परिभाषा—पुद्गल के सबसे सूक्ष्म (छोटे) भाग को, जिसके फिर दो टुकडे न हो सके, **'परमाणु'** कहते हैं । परमाणु सूक्ष्म होता है और किसी एक वर्ण, गन्ध, रस तथा दो स्पर्शों से युक्त होता है । वे ही परमाणु जब एकत्र हो जाते हैं, तब **'स्कन्ध'** कहलाते है । दो परमाणुओ से बनने वाले स्कन्ध को द्विप्रदेशी स्कन्ध कहते हैं । इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतु प्रदेशी, दशप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं । अनेक प्रदेशो से परिकल्पित, स्कन्धगत छोटे-बडे नाना अश **'देश'** कहलाते हैं । जब तक वे स्कन्ध से सलग्न रहते है, तब तक 'देश' कहलाते हैं । अलग हो जाने के बाद वह स्वय स्वतन्त्र स्कन्ध बन जाता है । स्कन्ध के उस छोटे-से छोटे अविभागी विभाग (अर्थात्—फिर भाग होने की कल्पना से रहित सर्वाधिक सूक्ष्म अश) को प्रदेश कहते हैं । प्रदेश तब तक ही प्रदेश कहलाता है, जब तक वह स्कन्ध के साथ जुडा रहता है । अलग हो जाने के बाद वह **'परमाणु'** कहलाता है ।

धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकाय—धर्म, अधर्म आदि चार अस्तिकायो के स्कन्ध, देश तथा प्रदेश—ये तीन-तीन भेद होते हैं । केवल पुद्गलास्तिकाय के ही स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद होते हैं । धर्म, अधर्म और आकाश स्कन्धतः एक हैं । उनके देश और प्रदेश असख्य हैं । असंख्य

के असंख्य भेद होते है। लोकाकाश के असख्य और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश होने से आकाश के कुल अनन्त प्रदेश है। धर्मास्तिकाय आदि के स्वरूप की चर्चा पहले की जा चुकी है।

अद्धासमय : कालवाचक—काल शब्द वर्ण, प्रमाण, समय, मरण आदि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। अतः समयवाची काल शब्द का वर्ण-प्रमाणादि वाचक काल शब्द से पृथक् बोध कराने के लिए, उसके साथ, 'अद्धा' विशेषण जोडा गया है। अद्धाविशेषण से वह 'वर्त्तनालक्षण' काल द्रव्य का ही बोध कराता है।

काल का सूर्य की गति से सम्बन्ध रहता है। अत दिन, रात, मास, पक्ष आदि के रूप मे अद्धाकाल अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्यक्षेत्र मे ही है, अन्यत्र नही। काल मे देश-प्रदेश परिकल्पना सम्भव नही है, क्योकि निश्चय दृष्टि से वह समय रूप होने से निर्विभाग है। अत उसे स्कन्ध और अस्तिकाय भी नही माना है। अपरापरोत्पत्तिरूप प्रवाहात्मक सतति की अपेक्षा से काल आदि-अनन्त है, किन्तु दिन-रात आदि प्रतिनियत व्यक्ति स्वरूप (विभाग) की अपेक्षा से सादि-सान्त है।[1]

समयक्षेत्र का अर्थ—समयक्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्यक्षेत्र है, क्योकि मनुष्य केवल समयक्षेत्र मे ही पाए जाते है। क्षेत्र की दृष्टि से समयक्षेत्र जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्कर, इन ढाई द्वीपो तक ही सीमित है। इस कारण इन अढाई द्वीपो की सज्ञा ही समयक्षेत्र है।[2]

रूपी-अजीव निरूपण

१० खन्धा य खन्धदेसा य तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा रूविणो य चउव्विहा॥

[१०] रूपी अजीव द्रव्य चार प्रकार का है—स्कन्ध, स्कन्ध-देश, स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु।

११. एगत्तेण पुहत्तेण खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥
इत्तो कालविभाग तु तेसिं वुच्छं चउव्विह॥

[११] परमाणु एकत्वरूप होने से अर्थात् अनेक परमाणु एक रूप मे परिणत होकर स्कन्ध बन जाते हैं, और स्कन्ध पृथक् रूप होने से परमाणु बन जाते है। (यह द्रव्य की अपेक्षा से है।) क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध और परमाणु) लोक के एक देश मे तथा (एक देश से लेकर) सम्पूर्ण लोक मे भाज्य (-असख्यविकल्पात्मक) है। यहाँ से आगे उनके (स्कन्ध और परमाणु के) काल की अपेक्षा से चार प्रकार का विभाग कहूँगा।

१२. सतइ पप्प तेऽणाइ अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

१ (क) बृहद्वृत्ति, अ रा, कोष भा १, पृ २०४ (ख) उत्तरा (साध्वी चन्दना) पृ ४७६
(ग) प्रज्ञापना पद ५ वृत्ति (घ) स्थानाग स्था ४।१।२६४ वृत्ति, पत्र १९०

२. (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति, अ रा कोष भा १ पृ २०६
(ख) स्थानाग स्था ४।१।२६४ वृत्ति, पत्र १९०

[१२] सन्तति-प्रवाह की अपेक्षा से वे (स्कन्ध आदि) अनादि और अनन्त है तथा स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३. असखकालमुक्कोसं एग समय जहन्निया।
अजीवाण य रूवीण ठिई एसा वियाहिया॥

[१३] रूपी अजीवो-पुद्गल द्रव्यो की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट असख्यात काल की कही गई है।

१४. अणन्तकालमुक्कोस एग समयं जहन्नय।
अजीवाण य रूवीण अन्तरेयं वियाहियं॥

[१४] रूपी अजीवो का अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान) मे च्युत होकर उसी स्थान पर कहा गया फिर आने तक का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

१५. वण्णओ गन्धओ चेव रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा॥

[१५] उनका (स्कन्ध आदि का) परिणमन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से पाच प्रकार का है।

१६. वण्णओ परिणया जे उ पचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया हालिद्दा सुक्किला तहा॥

[१६] जो (स्कन्ध आदि रूपो अजीव) पुद्गल वर्ण से परिणत होते है, वे पाच प्रकार से परिणत होते है—कृष्ण, नील, लोहित (रक्त), हारिद्र (—पीत) अथवा शुक्ल (श्वेत)।

१७. गन्धओ परिणया जे उ दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा दुब्भिगन्धा तहेय य॥

[१७] जो पुद्गल गन्ध से परिणत होते है, वे दो प्रकार के कहे गए है—सुरभिगन्धपरिणत और दुरभिगन्धपरिणत।

१८. रसओ परिणया जे उ पचहा ते पकित्तिया।
तित्त-कडुय-कसाया अम्बिला महुरा तहा॥

[१८] जो पुद्गल रस से परिणत है, वे पाच प्रकार के कहे गए है—तिक्त (-चरपरा-तीखा), कटु, कषाय (कसैला), अम्ल (खट्टा) और मधुर रूप मे परिणत।

१९. फासओ परिणया जे उ अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव गरुया लहुया तहा॥
२०. सीया उण्हा य निद्धा य य तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए पुग्गला समुदाहिया॥

[१९-२०] जो पुद्‌गल स्पर्श से परिणत हैं, वे आठ प्रकार के कहे गए हैं—कर्कश, मृदु, गुरु और लघु (हलका), शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार ये स्पर्श से परिणत पुद्‌गल कहे गए हैं।

२१. संठाणपरिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला य वट्टा तंसा चउरंसमायया॥

[२१] जो पुद्‌गल संस्थान से परिणत हैं, वे पांच प्रकार के हैं—परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, (त्रिकोण), चतुरस्र (चौकोर) और आयत (लम्बे)।

२२. वण्णओ जे भवे किण्हे भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२२] जो पुद्‌गल वर्ण से कृष्ण है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (—अनेक विकल्पों वाला) है।

२३. वण्णओ जे भवे नीले भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२३] जो पुद्‌गल वर्ण से नील है, वह गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भाज्य है।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२४] जो पुद्‌गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२५. वण्णओ पीयए जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२५] जो पुद्‌गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२६. वण्णओ सुक्किले जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२६] जो पुद्‌गल वर्ण से शुक्ल है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२७. गन्धओ जे भवे सुब्भी भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२७] जो पुद्‌गल गन्ध से सुगन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२८. गन्धओ जे भवे दुब्भी भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२८] जो पुद्‌गल गन्ध से दुर्गन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२९. रसओ तित्तए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[२९] जो पुद्‌गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३०. रसओ कडुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य ॥

[३०] जो पुद्‌गल रस से कटु है—वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३१. रसओ कसाए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य ॥

[३१] जो पुद्‌गल रस से कसैला है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३२. रसओ अम्बिले जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३२] जो पुद्‌गल रस से खट्टा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३३. रसओ महुरए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३३] जो पुद्‌गल रस से मधुर है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य है।

३४ फासओ कक्खडे जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए सठाणओ वि य ॥

[३४] जो पुद्‌गल स्पर्श से कर्कश है, वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है।

३५. फासओ मउए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३५] जो पुद्‌गल स्पर्श से मृदु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३६. फासओ गुरुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३६] जो पुद्‌गल स्पर्श से गुरु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है।

३७. फासओ लहुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३७] जो पुद्‌गल स्पर्श से लघु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य है।

३८. फासओ सीयए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३८] जो पुद्गल स्पर्श से शीत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३९. फासओ उण्हए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[३९] जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४०. फासओ निद्धए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[४०] जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४१. फासओ लुक्खए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[४१] जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४२. परिमण्डलसंठाणे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४२] जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४३. संठाणओ भवे वट्टे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४३] जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४४. संठाणओ भवे तंसे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४४] जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४५. संठाणओ य चउरंसे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४५] जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४६. जे आययसंठाणे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४६] जो पुद्गल संस्थान से आयत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४७. एसा अजीवविभत्ती समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

[४७] यह संक्षेप से अजीवविभाग का निरूपण किया गया है। अब यहाँ से आगे जीवविभाग का क्रमशः निरूपण करूँगा।

विवेचन—पुद्गल (रूपी अजीव) का लक्षण—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक आदि के अनुसार पुद्गल में ४ लक्षण पाए जाते हैं—(१) भेद और संघात के अनुसार जो पूरण और गलन को प्राप्त हों, (२) पुरुष (-जीव) जिनको आहार, शरीर, विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदि के रूप में निगलें, अर्थात्—ग्रहण करे, (३) जो गलन-पूरण-स्वभाव सहित हैं, वे पुद्गल हैं। गुणों की अपेक्षा से—(४) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले जो हों वे पुद्गल होते हैं। पुद्गल के ये जो असाधारण धर्म (गुणात्मक लक्षण) हैं, इनमे संस्थान भी एक है।[1]

पुद्गल के भेद—पुद्गल के मूल दो भेद हैं—अणु (परमाणु) और स्कन्ध। स्कन्ध की अपेक्षा से देश और प्रदेश ये दो भेद और होते हैं। मूल पुद्गलद्रव्य परमाणु ही हैं। उसका दूसरा भाग नही होता, अत वह निरंश होता है। दो परमाणुओ से मिल कर एकत्व-परिणतिरूप द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक होते हैं। पुद्गल के अनन्त-स्कन्ध हैं। परमाणु जब स्कन्ध से जुडा रहता है, तब उसे प्रदेश कहते हैं और जब वह स्कन्ध से पृथक् (अलग) रहता है, तब परमाणु कहलाता है। यह १० वी, ११ वीं गाथा का आशय है।[2]

स्कन्धादि पुद्गल : द्रव्यादि की अपेक्षा से—स्कन्धादि **द्रव्य की अपेक्षा से** पूर्वोक्त ४ प्रकार के हैं। **क्षेत्र की अपेक्षा से**—लोक के एक देश से लेकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं, **काल की अपेक्षा से**—प्रवाह को लेकर अनादि-अनन्त और प्रतिनियत क्षेत्रावस्थान की दृष्टि से सादि-सान्त, **स्थिति (पुद्गल द्रव्य की संस्थिति)**—जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत असंख्यात काल के बाद स्कन्ध आदि रूप से रहे हुए पुद्गल की संस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। स्कन्ध बिखर जाता है, तथा परमाणु भी स्कन्ध में संलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है। **अन्तर** (पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोड कर पुनः उसी विवक्षित क्षेत्र की अवस्थिति को प्राप्त होने मे होने वाला व्यवधान (अन्तर) काल की अपेक्षा से—जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त काल का पड़ता है।

परिणाम की अपेक्षा से—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन ५ प्रकार का है।[3]

संस्थान : प्रकार और उनका स्वरूप—संस्थान आकृति को कहते हैं। उसके दो रूप हैं—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। जिसका परिमण्डल आदि कोई नियत संस्थान हो, वह इत्थंस्थ और जिसका कोई नियत संस्थान न हो, वह अनित्थंस्थ कहलाता है। इत्थंस्थ के ५ प्रकार—**(१) परिमण्डल**—

---

१. (क) भेदसंघाताभ्यां पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य: पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः।
(ख) पुमांसो जीवा, तै. शरीराऽऽहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्ते इति पुद्गला·।
—राजवार्तिक ५।१।२४-२६
(ग) गलनपूरणस्वभावसनाथ. पुद्गल·। —द्रव्यसंग्रहटीका १५।५०।१२
(घ) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला।' —तत्त्वार्थ. ५।२३

२. (क) 'अणव: स्कन्धाश्च।' तत्त्वार्थ. ५।२५ (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७६-४७७

३. (क) उत्तरा (साध्वी चन्दना) पृ ४७७ (ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) पत्र ३३५-३३६

चूडी की तरह लम्बगोल, (२) **वृत्त**—गेंद की तरह गोल, (३) **त्र्यस्र**—त्रिकोण, (४) **चतुरस्र**—चतुष्कोण और (५) **आयत**—बांस या रस्सी की तरह लम्बा।[1]

पंचविध परिणाम की दृष्टि से समग्र भंग—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान इन्द्रियग्राह्य भाव हैं। भाव का अर्थ यहाँ पर्याय है। पुद्गल द्रव्य रूपी होने से उसके इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय होते हैं, जबकि अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय (भाव) नही होते। जैन दर्शन में वर्ण पाच, गन्ध दो, रस पाच, स्पर्श आठ और सस्थान पाच प्रसिद्ध हैं। इन्ही के विभिन्न पर्यायो के कुल ४८२ भंग होते हे। वे इस प्रकार हैं—कृष्णादि वर्ण गन्ध आदि से भाज्य होते हैं, तब कृष्णादि प्रत्येक पाच वर्ण २० भेदो से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के कुल १०० भग हुए। इसी प्रकार सुगन्ध के २३ और दुर्गन्ध के २३, दोनो के मिल कर गन्ध पर्याय के ४६ भग होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रस के बीस-बीस भेद मिला कर रसपचक के संयोगी भंग १०० हुए। मृदु आदि प्रत्येक स्पर्श के १७-१७ भेद मिला कर आठ स्पर्श के १३६ भग होते हैं। प्रत्येक सस्थान के २०-२० भेद मिला कर सस्थानपचक के १०० संयोगी भग होते हैं। इस प्रकार कुल १००+४६+१००+१३६+१००=४८२ भग हुए। ये सब भग स्थूल दृष्टि से गिने गए हैं। वास्तव मे सिद्धान्तत: देखा जाए तो तारतम्य की दृष्टि से प्रत्येक के अनन्त भंग होते हैं।[2]

जीवनिरूपण

४८. संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण॥

[४८] जीव के (मूलत) दो भेद कहे गए हैं—ससारस्थ और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के हैं। (पहले) उनका वर्णन करता हूँ, उसे तुम सुनो।

विवेचन—जीव के लक्षण—(१) जो जीता है,—प्राण धारण करता है, वह जीव है, (२) जो चैतन्यवान् आत्मा है, वह जीव है, वह उपयोगलक्षित, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त्त और कर्मसयुक्त है। (३) जो दस प्राणो मे से अपनी पर्यायानुसार गृहीत यथायोग्य प्राणो द्वारा जीता है, जीया था, व जीएगा, इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को '**जीव**' कहते हैं। (४) जीव का लक्षण चेतना या उपयोग है।[3]

---

१. उत्तरा गुजराती भाषान्तर, पत्र ३३७

२ (क) उत्तरा, गुजराती भाषान्तर, पत्र ३३८ (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ ४७७

३ (क) जीवति-प्राणान् धारयतीति जीव।

(ख) जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओग-विसेसिदो पहू कत्ता। भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो।
—पचास्तिकाय गा २७

(ग) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि, जो हि जीविदो पुव्व। सो जीवो ……। —प्रवचनसार १४६

(घ) 'तत्र चेतनालक्षणो जीवः।' सर्वार्थसिद्धि १।४।१४

(ङ) 'उपयोगो लक्षणम्।' —तत्त्वार्थ. २।८

इन लक्षणों मे शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नही है। ये ससारस्थ जीव की मुख्यता से कहे गए हैं यद्यपि जीवो मे सिद्ध भगवान् (मुक्त जीव) भी सम्मिलित हैं किन्तु सिद्धो में शरीर और दस प्राण नही हैं। तथापि भूतपूर्व गति न्याय से सिद्धो मे जीवत्व कहना औपचारिक है। दूसरी तरह से—सिद्धो मे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, ये ४ भावप्राण होने से उनमे भी जीवत्व घटित होता है।[1]

संसारस्थ और मुक्त सिद्ध : स्वरूप—जो प्राणी चतुर्गतिरूप या कर्मों के कारण जन्म-मरणरूप ससार में स्थित हैं, वे संसारी या ससारस्थ कहलाते हैं। जिनमे जन्म-मरण, कर्म, कर्मबीज (रागद्वेष), कर्मफलस्वरूप चार गति, शरीर आदि नही होते, मुक्त होकर सिद्ध गति मे विराजते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।[2]

सिद्धजीव-निरूपण

४९. इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य॥

[४९] कोई स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं, कोई पुरुषलिंगसिद्ध, कोई नपुसकलिंगसिद्ध और कोई स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध तथा गृहस्थलिंगसिद्ध होते हैं।

५०. उक्कोसोगाहणाए य जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च समुद्दम्मि जलम्मि य॥

[५०] उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना मे तथा ऊर्ध्वलोक मे, अधोलोक में अथवा तिर्यक्लोक मे, एव समुद्र अथवा अन्य जलाशय मे (जीव सिद्ध होते हैं।)

५१. दस चेव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई॥

[५१] एक समय मे (अधिक से अधिक) नपुसको मे से दस, स्त्रियो मे से बीस और पुरुषो मे से एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

५२. चत्तारि य गिहिलिंगे अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई॥

[५२] एक समय मे चार गृहस्थलिंग से, दस अन्यलिंग से तथा एक सौ आठ जीव स्वलिंग से सिद्ध हो सकते हैं।

५३. उक्कोसोगाहणाए य सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए जवमज्झऽट्ठुत्तरं सयं॥

---

१. तथा सति सिद्धानामपि जीवत्व सिद्ध जीवितपूर्वत्वात्। सम्प्रति न जीवन्ति सिद्धा, भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषा-मौपचारिकं, मुख्य चेष्यते ? नैष दोष, भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् साम्प्रतिकमपि जीवत्वमस्ति।
—राजवार्तिक १।४।७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३३९

[५३] (एक समय में) उत्कृष्ट अवगाहना मे दो, जघन्य अवगाहना मे चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५४. चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे तओ जले वीसमहे तहेव ।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए समएणेगेण उ सिज्झई उ ॥

[५४] एक समय में ऊर्ध्वलोक मे चार, समुद्र में दो, जलाशय मे तीन, अधोलोक में बीस एव तिर्यक् लोक मे एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५५. कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ? ।
कहिं बोन्दिं चइत्ताणं ? कत्थ गन्तूण सिज्झई ? ॥

[५५] [प्र.] सिद्ध कहाँ रुकते हैं ? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? शरीर को कहाँ छोडकर कहाँ जा कर सिद्ध होते हैं ?

५६. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोन्दिं चइत्ताणं तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥

[५६] [उ.] सिद्ध अलोक मे रुक जाते हैं। लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्यलोक मे शरीर को त्याग कर, लोक के अग्रभाग मे जा कर सिद्ध होते हैं।

५७. बारसहिं जोयणेहिं सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ।
ईसीपब्भारनामा उ पुढवी छत्तसंठिया ॥

५८. पणयालसयसहस्सा जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं चेव वित्थिण्णा तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥

५९. अट्ठजोयणबाहल्ला सा मज्झम्मि वियाहिया ।
परिहायन्ती चरिमन्ते मच्छियपत्ता तणुयरी ॥

[५७-५८-५९] सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है, वह छत्राकार है। उसकी लम्बाई पंतालीस लाख योजन की है, चौड़ाई भी उतनी ही है। उसकी परिधि उससे तिगुनी (अर्थात् १,४२,३०,२४९ योजन) है। मध्य मे वह आठ योजन स्थूल (मोटी) है। फिर क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. अज्जुणसुवण्णगमई सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।
उत्ताणगछत्तगसंठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥

[६०] जिनवरो ने कहा है—वह पृथ्वी अर्जुन—(अर्थात्—) श्वेतस्वर्णमयी है, स्वभाव से निर्मल है और उत्तान (उलटे) छत्र के आकार की है।

६१. संखंक-कुन्दसंकासा पण्डुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो लोयन्तो उ वियाहिओ ॥

[६१] वह शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत है, निर्मल और शुभ है। इस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त कहा गया है।

६२. जोयणस्स उ जो तस्स कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भवे॥

[६२] उस योजन के ऊपर का जो कोस है; उस, कोस के छठे भाग मे सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है। (अर्थात्-३३३ धनुष्य ३२ अगुल प्रमाण सिद्धस्थान है।)

६३. तत्थ सिद्धा महाभागा लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउम्मुक्का सिद्धिं वरगइं गया॥

[६३] भवप्रपच से मुक्त, महाभाग एवं परमगति—'सिद्धि' को प्राप्त सिद्ध वहाँ—लोक के अग्रभाग (उक्त कोस के छठे भाग) मे विराजमान हैं।

६४. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे॥

[६४] अन्तिम भव मे जिसकी जितनी ऊँचाई होती है उससे त्रिभाग-न्यून सिद्धों की अवगाहना होती है। (अर्थात्-शरीर के अवयवो के अन्तराल की पूर्ति करने मे तीसरा भाग न्यून होने से $\frac{2}{3}$ भाग की अवगाहना रह जाती है।)

६५. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य॥

[६५] एक (मुक्त जीव) की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त है और बहुत-से (मुक्त जीवो) की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं।

६६. अरूविणो जीवघणा नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ॥

[६४] वे अरूपी हैं, जीवघन (सघन) हैं, ज्ञानदर्शन से सम्पन्न हैं। जिसकी कोई उपमा नही है, ऐसा अतुल सुख उन्हे प्राप्त है।

६७. लोएगदेसे ते सव्वे नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनित्थिन्ना सिद्धिं वरगइं गया॥

[६७] ज्ञान और दर्शन से युक्त, ससार के पार पहुँचे हुए, सिद्धि नामक श्रेष्ठगति को प्राप्त वे सभी सिद्ध लोक के एक देश मे स्थित हैं।

विवेचन—सिद्ध—गाथा ४९ से ६७ तक में सिद्ध जीवों के प्रकार, एक समय में सिद्धत्व-प्राप्ति योग्य जीवों की गणना, तथा वे कब और कैसे सिद्धत्व प्राप्त करते हैं? कहाँ रहते हैं? वह भूमि कैसी है? इत्यादि तथ्यो का निरूपण किया गया है।

सिद्ध जीवों की स्थिति—यद्यपि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के पश्चात् सभी जीवों की स्थिति समान हो जाती है, उनकी आत्मा में कोई स्त्री-पुरुष-नपुसकादि कृत अन्तर—उपाधिजनित भेद नही रहता, फिर भी भूतपूर्व पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से यहाँ उनके अनेक भेद किए गए हैं। उपलक्षण से यह तथ्य त्रैकालिक समझना चाहिए, अर्थात्—सिद्ध होते हैं, सिद्ध होगे और सिद्ध हुए हैं।[1]

लिंगदृष्टि से सिद्धों के प्रकार—प्रस्तुत मे लिंग की दृष्टि से ६ प्रकार बताए गए हैं—(१) स्त्रीलिंग (स्त्रीपर्याय से) सिद्ध, पुरुषलिंग (पुरुषपर्याय से) सिद्ध (३) नपुसकलिंग (नपुसकपर्याय से) सिद्ध, (४) स्वलिंग (स्वतीर्थिक अनगार के वेष से) सिद्ध, (५) अन्यलिंग (अन्यतीर्थिक साधु वेष से) सिद्ध और (६) गृहिलिंग (गृहस्थ वेष से) सिद्ध। इनमे से पहले तीन प्रकार लिंग (पर्याय) की अपेक्षा से तथा पिछले तीन प्रकार वेष की अपेक्षा से हैं।[2]

सिद्धों के अन्य प्रकार—उपर्युक्त ६ प्रकारो के अतिरिक्त तीर्थादि की अपेक्षा से सिद्धो के ९ प्रकार और होते हैं, जिन्हे गाथा (स. ४९) मे प्रयुक्त 'च' शब्द से समझ लेना चाहिए। यथा—**तीर्थ की अपेक्षा से ४ भेद**—(७) तीर्थसिद्ध, (८) अतीर्थसिद्ध—तीर्थस्थापना से पहले या तीर्थविच्छेद के पश्चात् सिद्ध, (९) तीर्थंकर सिद्ध (तीर्थंकर रूप मे सिद्ध) और (१०) अतीर्थंकर (रूप मे) सिद्ध। **बोधि की अपेक्षा से तीन भेद**—(११) स्वयबुद्धसिद्ध, (१२) प्रत्येकबुद्धसिद्ध और (१३) बुद्धबोधित सिद्ध। **संख्या की अपेक्षा सिद्ध के दो भेद**—(१४) एक सिद्ध (एक समय मे एक जीव सिद्ध होता है, वह), तथा (१५) अनेक सिद्ध—(एक समय मे अनेक जीव उत्कृष्टत. १०८ सिद्ध होते है, वे)।

सिद्धो के पूर्वोक्त ६ प्रकार और ये ९ प्रकार मिलाकर कुल १५ प्रकार के सिद्धो का उल्लेख नन्दीसूत्र, औपपातिक आदि शास्त्रो मे है।[3]

अवगाहना की अपेक्षा से सिद्ध—तीन प्रकार के हैं—(१) उत्कृष्ट (पाच सौ धनुष परिमित) अवगाहना वाले, (२) जघन्य (दो हाथ प्रमाण) अवगाहना वाले और (३) मध्यम (दो हाथ से अधिक और पाच सौ धनुष से कम) अवगाहना वाले सिद्ध। अवगाहना शरीर की ऊँचाई को कहते है।[4]

क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध—पाच प्रकार के होते हैं—(१) ऊर्ध्वदिशा (१४ रज्जुप्रमाण लोक मे से मेरु पर्वत की चूलिका आदि रूप सात रज्जु से कुछ कम यानी ९०० योजन ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक) मे होने वाले सिद्ध, (२) अधोदिशा (कुबड़ीविजय के अधोग्राम रूप अधोलोक मे, अर्थात्—७ रज्जु से कुछ अधिक यानी ९०० योजन से कुछ अधिक लम्बाई वाले अधोलोक से होने वाले सिद्ध और (३) तिर्यक्‌दिशा—अढाई द्वीप और दो समुद्ररूप तिरछे एवं १८०० योजन प्रमाण लम्बे तिर्यक्-लोक—मनुष्यक्षेत्र से होने वाले सिद्ध। (४) समुद्र मे से होने वाले सिद्ध और (५) नदी आदि मे से होने वाले सिद्ध।

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४०
   (ख) उत्तरा. (टिप्पण मुनि नथमलजी) पृ. ३१७-३१८
२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३४०
   (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ. ७४१-७९३
३. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा, २, पत्र ३४०
   (ख) नन्दीसूत्र सू २१ में सिद्धो के १५ प्रकार देखिये।
४. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४०

साधारणतया जीव तिर्यक्लोक से सिद्ध होते हैं, परन्तु कभी-कभी मेरुपर्वत की चूलिका पर से भी सिद्ध होते हैं। मेरुपर्वत की ऊँचाई १ लाख योजन परिमाण है। अत इस ऊर्ध्वलोक की सीमा से मुक्त होने वाले जीवो का सिद्धक्षेत्र ऊर्ध्वलोक ही होता है। सामान्यतया अधलोक से मुक्ति नहीं होती, परन्तु महाविदेह क्षेत्र की दो विजय, मेरु के रुचकप्रदेशो से एक हजार योजन नीचे तक चली जाती हैं, जबकि तिर्यक्लोक की कुल सीमा ९०० योजन है, अतः उससे आगे अधोलोक की सीमा आ जाती है, जिसमे १०० योजन की भूमि मे जीव मुक्त होते हैं।[१]

लिंग, अवगाहना एवं क्षेत्र की दृष्टि से सिद्धों की संख्या—गाथा ५१ से ५४ तक के अनुसार एक समय मे नपुसक दस, स्त्रियाँ २० और पुरुष १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं। एक समय मे गृहस्थ-लिंग मे ४, अन्यलिंग मे १० तथा स्वलिंग मे १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं। एक समय मे उत्कृष्ट अवगाहना मे २, मध्यम अवगाहना मे १०८ और जघन्य अवगाहना मे ४ सिद्ध हो सकते हैं। एक समय मे ऊर्ध्वलोक मे ४, अधोलोक में २०, तिर्यक्लोक मे १०८, समुद्र में २ और जलाशय में ३ जीव सिद्ध हो सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे स्पष्ट बताया गया है कि क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, सख्या और अल्पबहुत्व, इन आधारो पर सिद्धो की विशेषताओ का विचार किया जाता है।[२]

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी—औपपातिक सूत्र मे सिद्धशिला के बताए हुए १२ नामों मे से यह दूसरा नाम है।[३]

सिद्धों की अवस्थिति—मुक्त जीव समग्र लोक मे व्याप्त होते हैं, इस मत का निराकरण करने के लिए कहा गया है —**लोएगदेसे ते सव्वे**—अर्थात्—सर्व सिद्धो की आत्माएँ लोक के एक देश मे (परिमित क्षेत्र) मे अवस्थित होती हैं। पूर्वावस्था मे ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीवो की आत्मा ३३३ धनुष १ हाथ ८ अगुल परिमित क्षेत्र मे, मध्यम अवगाहना (दो हाथ से अधिक और ५०० धनुष से कम अवगाहना वाले जीवो की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभाग-हीन क्षेत्र मे अवस्थित होती है, तथा पूर्वावस्था मे जघन्य (२ हाथ की) अवगाहना वाले जीवो की आत्मा १ हाथ ८ अगुल परिमित क्षेत्र मे अवस्थित होती है। शरीर न होने पर भी सिद्धो की अवगाहना होती है, क्योकि अरूपी आत्मा भी द्रव्य होने से अपनी अमूर्त्त आकृति तो रखता ही है। द्रव्य आकृतिशून्य कदापि नही होता। सिद्धो की आत्मा आकाश के जितने प्रदेश-क्षेत्रो का अवगाहन करता है, इस अपेक्षा से सिद्धो की अवगाहना है।[३]

---

१ (क) वही, गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र ३४०
(ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६८३
(ग) उत्तरा टिप्पण (मुनि नथमलजी) पृ ३१८

२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३४१
(ख) "क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-सख्याऽल्पबहुत्वत साध्या।"
—तत्त्वार्थ. १०।७

३.. औपपातिकसूत्र, सू. ४६

४. उत्तरा. टिप्पण (मुनि नथमलजी) पृ ३१९

सिद्ध : ज्ञानदर्शन रूप—सिद्ध ज्ञान-दर्शन की ही संज्ञा वाले हैं, अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के उपयोग बिना उनका दूसरा कोई स्वरूप नही है। इस कथन से जो नैयायिक मुक्ति मे ज्ञान का नाश मानते हैं, उनके मत का खण्डन किया गया।[1]

सिद्ध : संसार-पार-निस्तीर्ण—'ससार के पार पहुँचे हुए' कहने से जो दार्शनिक 'मुक्ति मे जाकर धर्म-तीर्थ के उच्छेद के समय मुक्तों का पुनः ससार मे आगमन मानते हैं, उनके मत का निराकरण हो गया।[2]

इह बोंदि चइत्ताणं—यहाँ पृथ्वी पर शरीर को छोड़ कर वहाँ लोकाग्र मे स्थित होते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि गतिकाल का सिर्फ एक समय है। अतः पूर्वापरकाल की स्थिति असंभव होने से जिस समय भवक्षय होता है, उसी समय में लोकाग्र तक गति और मोक्ष-स्थिति हो जाती है। निश्चय दृष्टि से तो भवक्षय होते ही यही सिद्धत्व भाव प्राप्त हो जाता है।

सिद्धिं वरगइं गया—"(मुक्त) जीव सिद्ध नाम की श्रेष्ठगति में पहुँच गए।" इस कथन से यह बताया गया है कि कर्म का क्षय होने पर भी उत्पत्ति समय मे स्वाभाविक रूप से लोक के अग्रभाग तक सिद्ध जीव गमन करता है, अर्थात् वहाँ तक सिद्ध जीव गतिक्रिया सहित भी है। सिद्ध लोकाग्र मे स्थित हैं, इसका आशय यही है कि उनकी ऊर्ध्वगमनरूप गति वही तक है। आगे अलोक मे गति-हेतुक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गति नही है।[3]

संसारस्थ जीव

६८. संसारत्था उ जे जीवा दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव थावरा तिविहा तहिं॥

[६८] जो ससारस्थ (संसारी) जीव हैं, उनके दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। उनमे से स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं।

विवेचन—त्रस और स्थावर—(१) **त्रस का लक्षण**—अपनी रक्षार्थ स्वय चलने-फिरने की शक्ति वाले जीव, या त्रस्त—भयभीत होकर गति करने वाले या त्रस नामकर्म के उदय वाले जीव।[4]

स्थावर—स्थावर नामकर्म के उदय वाले या एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय को स्थावर जीव इसलिए कहा है कि वेह एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही जानता, देखता, खाता है, सेवन करता और उसका स्वामित्व करता है। स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता के कारण पृथ्वीकायिक

---

१. उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३४३-३४४
२. वही, पत्र ३४४
३ (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ ४७८
(ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४४
४. (क) जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भा २, पृ. ३९७
(ख) त्रस्यन्ति उद्विजन्ति इति त्रसाः। —राजवार्तिक २।१२।२
(ग) 'यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम।' —सर्वार्थसिद्धि ८।११।३९१
(घ) जस्स कम्मस्सुदएण जीवाण संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणाम। —धवला १३।५, ५।१०१

आदि पांचों ही स्थावर कहलाते हैं ।[1]

प्रस्तुत गाथा में वायुकाय और अग्निकाय को गतित्रस में परिगणित करने के कारण स्थावर जीवों के तीन भेद बताए हैं । स्थावरनामकर्म का उदय होने से वस्तुतः वे स्थावर हैं । उनको एक स्पर्शनेन्द्रिय ही प्राप्त है ।

स्थावर जीव और पृथ्वीकाय का निरूपण

६९. पुढवी आउजीवा य तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[६९] पृथ्वी, जल और वनस्पति, ये तीन प्रकार के स्थावर हैं । अब उनके भेदों को मुझसे सुनो ।

७०. दुविहा पुढवीजीवा उ सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ॥

[७०] पृथ्वीकाय जीव के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर । पुनः दोनो के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त ।

७१. बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं ॥

[७१] बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय भी दो प्रकार के कहे गए हैं—श्लक्षण (मृदु) और खर (कठोर) । इनमे से मृदु के सात भेद हैं, यथा—

७२. किण्हा नीला य रुहिरा य हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पण्डु-पणगमट्टिया खरा छत्तीसईविहा ॥

[७२] कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत, पाण्डु (भूरी) मिट्टी और पनक (अत्यन्त सूक्ष्म रज) । खर (कठोर) पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं—

७३. पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तम्ब-तउय—सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥

७४. हरियाले हिंगुलुए मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलऽब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ॥

---

१. (क) 'स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिन' स्थावराः । —सर्वार्थसिद्धि २।१२।१७१

(ख) जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एकेंदिओ तेण ॥ —धवला १।१,१।३३।१३५

(ग) एते पंचापि स्थावराः, स्थावरनामकर्मोदयजनितविशेषत्वात् । —वही, गा. २६५

(घ) तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावराः । —राजवार्तिक २।१२।१२७

७५. गोमेज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले भुयमोयग-इन्दनीले य ॥

७६. चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे ।
चन्दप्पह-वेरुलिए जलकन्ते सूरकन्ते य ॥

[७३ से ७६] शुद्ध पृथ्वी, शर्करा (कंकड वाली), बालू, उपल (पत्थर), शिला (चट्टान), लवण, ऊष (क्षाररूप नौनी मिट्टी), लोहा, ताम्बा, त्रपु (रांगा), शीशा, चांदी, सोना और वज्र (हीरा), हरिताल, हिंगुल (हींगलू), मैनसिल, सस्यक (या सासक धातुविशेष), अंजन, प्रवाल (मूंगा), अभ्रपटल (अभ्रक) अभ्रबालुक (अभ्रक की परतों से मिश्रित बालू और ये निम्नोक्त) विविध मणियां भी बादर पृथ्वीकाय में हैं—

गोमेदक, रुचक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक और इन्द्रनील (मणि), चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त ।

७७. एए खरपुढवीए भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥

[७७] ये कठोर (खर) पृथ्वीकाय के छत्तीस भेद हैं ।

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं । अतः वे अनाना है—भेदों से रहित है ।

७८. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥

[७८] सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और बादर पृथ्वीकाय के जीव लोक के एक देश (भाग) में है ।

अब चार प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवों के कालविभाग का कथन करूँगा ।

७९. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[७९] पृथ्वीकायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

८० बावीससहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[८०] पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति बाईस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

८१. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पुढवीणं तं कायं तु अमुंचओ ॥

[८१] पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असख्यात काल (असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल) की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। पृथ्वीकाय को न छोड़ कर लगातार पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होते रहना पृथ्वीकायिको की कायस्थिति कहलाती है।

८२. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए पुढवीजीवाण अन्तरं॥

[८२] पृथ्वीकाय को एक बार छोड कर (दूसरे-दूसरे कायो में उत्पन्न होते रहने के पश्चात्) पुन पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होने के बीच का अन्तर-(काल) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

८३. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्ससो॥

[८३] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा (—आदेश) से इन (पृथ्वीकायिको) के हजारो भेद होते है।

विवेचन—पृथ्वीकाय : स्वरूप और भेद-प्रभेद आदि—काठिन्यादिरूपा पृथ्वी ही जिसका शरीर है, उसे पृथ्वीकाय कहते है। पृथ्वी मे जीव है, इसीलिए यहाँ **'पुढवीजीवा'** कहा गया है। यह देखा गया है कि लवण, या चट्टान आदि खोद कर निकाल लेने के बाद खाली जगह को कचरा आदि से भर देने पर कालान्तर मे वहाँ लवण की परतें या चट्टाने बन जाती है। इसलिए पृथ्वी मे सजीवता अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से सिद्ध है। पृथ्वीकाय जीवो के दो भेद—सूक्ष्म और बादर। फिर दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद। बादरपर्याप्त पृथ्वीकाय के दो भेद—मृदु और कठोर। मृदु के सात और कठोर के छत्तीस भेद कहे गए है।[1]

पर्याप्त-अपर्याप्त—जिस कर्मदलिक से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति की उत्पत्ति होती है, वह कर्मदलिक पर्याप्ति कहलाता है। यह कर्मदलिक जिसके उदय मे होता है, वे पर्याप्त जीव है, अपनी योग्य पर्याप्ति से जो रहित है, वे अपर्याप्त जीव हैं।[2]

श्लक्ष्ण एव खर : विशेषार्थ—चूर्णित लोष्ट के समान जो मृदु पृथ्वी है, वह श्लक्ष्ण और पाषाण जैसी कठोर पृथ्वी खर कहलाती है। ऐसे शरीर वाले जीव भी उपचार से क्रमशः श्लक्ष्ण और खर पृथ्वीकायिक जीव कहलाते है।[3]

---

१ (क) पृथिव्येव कायो येषा ते पृथ्वीकायिन। पृथिवी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता, सैव काय. शरीर येषा ते पृथिवीकाया।' —प्रज्ञापना पद १ वृत्ति।
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका भा ४, पृ ८२४।

२. वही, प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ८२५

३. '......श्लक्ष्णा चूर्णितलोष्टकल्पा मृदु पृथिवी, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् श्लक्ष्णा उच्यन्ते।' पाषाणकल्पा कठिना पृथ्वी खरा, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् खरा उच्यन्ते।' —वही, भा ४, पृ ८२७

अप्काय-निरूपण

८४. दुविहा आउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो॥

[८४] अप्काय के जीवो के दो भेद हैं—सूक्ष्म तथा बादर। पुनः दोनों के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

८५. बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से हरतणू महिया हिमे॥

[८५] जो बादर-पर्याप्त अप्काय के जीव हैं, वे पाच प्रकार के कहे गए हैं—(१) शुद्धोदक, (२) ओस (अवश्याय) (३) हरतनु (गीली भूमि से निकला वह जल जो प्रातःकाल तृणाग्र पर बिन्दुरूप मे दिखाई देता है।), (४) महिका-(कुहासा—धुम्मस) और (५) हिम (बर्फ)।

८६. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा॥

[८६] उनमें से सूक्ष्म अप्काय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके नाना भेद नही है। सूक्ष्म अप्काय के जीव समग्र लोक मे और बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं।

८७. सन्तइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[८७] अप्कायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. सत्तेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[८८] अप्कायिक जीवो की आयु-स्थिति उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

८९. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया।
कायट्ठिई आऊणं तं कायं तु अमुंचओ॥

[८९] अप्कायिक जीवो की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यात काल (असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। अप्काय को नहीं छोड़ कर लगातार अप्काय मे ही उत्पन्न होना, कायस्थिति है।

९०. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए आऊजीवाण अन्तरं॥

[९०] अप्काय को छोड़ कर पुनः अप्काय में उत्पन्न होने का अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

९१. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[९१] इन अप्कायिकों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—अप्काय—जिनका अप् यानी जल ही काय—शरीर है, वे अप्काय या अप्कायिक कहलाते हैं। अप्काय के आश्रित छोटे-छोटे अन्य जीव सूक्ष्म दर्शकयन्त्र से देखे जा सकते हैं। किन्तु अप्-काय के जीव अनुमान आगम आदि प्रमाणो से सिद्ध हैं। अप्काय के मुख्य दो भेद—सूक्ष्म और बादर। पुन. दोनो के दो-दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर पर्याप्त अप्काय के शुद्धोदक आदि ५ भेद हैं।

भेदों में अन्तर—उत्तराध्ययन में बादर पर्याप्त अप्काय के ५ भेद बतलाए गए हैं, जबकि प्रज्ञापना मे इसी के अवश्याय से लेकर रसोदक तक १७ भेद बताए हैं। यह अन्तर सिर्फ विवक्षाभेद से हैं।[1]

वनस्पतिकाय-निरूपण

९२. दुविहा वणस्सईजीवा सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो॥

[९२] वनस्पतिकायिक जीवो के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। दोनों के पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद है।

९३. बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य पत्तेगा य तहेव य॥

[९३] जो बादर पर्याप्त वनस्पतिकाय-जीव हैं, वे दो प्रकार के बताए गए हैं—साधारण-शरीर और प्रत्येकशरीर।

९४. पत्तेगसरीरा उ णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य लया वल्ली तणा तहा॥

[९४] प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय अनेक प्रकार के कहे गए हैं (यथा-) वृक्ष, गुच्छ (बैंगन आदि), गुल्म (नवमालिका आदि), लता (चम्पकलता आदि), वल्ली (भूमि पर फैलने वाली ककडी आदि की बेल) और तृण (दूब आदि)।

९५. लयावलय पव्वगा कुहुणा जलरुहा ओसही-तिणा।
हरियकाया य बोद्धव्वा पत्तेया इति आहिया॥

[९५] लता-वलय (केला आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (भूमिस्फोट, कुक्कुरमुत्ता आदि), जलरुह (कमल आदि), ओषधि (जौ, चना, गेहूँ आदि धान्य), तृण और हरितकाय (सभी प्रकार की हरी वनस्पति), ये सभी प्रत्येकशरीरी कहे गए हैं, ऐसा जानना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति, (ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४७

९६. साहारणसरीरा उ णेगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव सिंगबेरे तहेव य ॥

[९६] साधारणशरीरी वनस्पतिकाय के जीव अनेक प्रकार के हैं—आलु, मूल (मूली आदि), शृंगबेर (अदरक)—

९७. हिरिली सिरिली सिस्सिरिली जावई केय-कन्दली ।
पलंडू-लसणकन्दे य कन्दली य कुडुंबए ॥

९८. लोहि णीहू य थिहू य कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकन्दे य कन्दे सूरणए तहा ॥

९९. अस्सकण्णी य बोद्धव्वा सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुण्ढी य हलिद्दा य ऽणेगहा एवमायओ ॥

[९७-९८-९९] हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कदलीकन्द, पलाण्डु (प्याज), लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक ।

लोही, स्निहू, कुहक, कृष्ण वज्रकन्द और सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिहकर्णी, मुसुंडी तथा हरिद्रा (हल्दी) इत्यादि—अनेक प्रकार के जमीकन्द हैं ।

१००. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ॥

[१००] सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव एक ही प्रकार के है, उनके अनेक भेद नही है । सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव समग्र लोक मे और बादर वनस्पतिकाय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं ।

१०१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१०१] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

१०२. दस चेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणप्फईण आउं तु अन्तोमुहुत्तं जहन्नगं ॥

[१०२] वनस्पतिकायिक जीवो की (एक भव की) आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त की है ।

१०३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ।
कायठिई पणगाणं तं कायं तु अमुंचओ ॥

[१०३] वनस्पतिकाय की कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है । वनस्पतिकाय को न छोड़ कर लगातार वनस्पति (पनकोपलक्षित) काय में ही पैदा होते रहना कायस्थिति है ।

१०४. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए पणगजीवाणं अन्तरं ॥

[१०४] वनस्पतिकायिक पनक जीवो का स्व-काय (वनस्पति-शरीर) को छोड कर पुन. वनस्पति-शरीर मे उत्पन्न होने मे जो अन्तर होता है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट असख्यात काल का है ।

१०५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१०५] इन वनस्पतिकायिक (-जीवो) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से हजारो भेद हैं ।

१०६. इच्चेए थावरा तिविहा समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

[१०६] इस प्रकार सक्षेप से इन तीन प्रकार के स्थावर जीवो का निरूपण किया गया है । अब यहाँ से आगे क्रमश तीन प्रकार के त्रस जीवो का निरूपण करूगा ।

विवेचन--वनस्पति में जीव है—पुरुष के अगो की तरह छेदने से उनमे म्लानता देखी जाती है, कुछ वनस्पतियो मे नारी-पदाघात आदि से विकार होता है, इसलिए भी वनस्पति मे जीव है ।*

वनस्पति ही जिसका शरीर है, ऐसा जीव, वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाता है । इसके मुख्यत दो रूप हैं—साधारणशरीर और प्रत्येकशरीर । जिन अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है, यहाँ तक कि आहार और श्वासोच्छ्वास भी समान ही होता है, वे साधारणवनस्पति जीव हैं और जिन वनस्पति जीवो का अपना अलग-अलग शरीर होता है, वे प्रत्येकवनस्पति जीव है । साधारण शरीर वाले वनस्पति जीव एक शरीर के आश्रित अनन्त रहते हैं, प्रत्येकजीव मे एक शरीर के आश्रित एक ही जीव रहता है ।[1]

गुच्छ और गुल्म मे अन्तर—गुच्छ वह होता है, जिसमे पत्तियाँ या केवल पतली टहनियाँ फैली हो, वह पौधा । जैसे—बैगन, तुलसी आदि । तथा गुल्म वह है, जो एक जड से कई तनो के रूप मे निकले, वह पौधा । जैसे—कटसरैया, कैर आदि ।

लता और वल्ली में अन्तर—लता किसी बडे पेड पर लिपट कर ऊपर को फैलती है, जबकि वल्ली भूमि पर ही फैल कर रह जाती है । जैसे—माधवी, अतिमुक्तक लता आदि, ककडी, खरबूजा आदि की बेल (वल्ली) ।[2]

ओषधितृण—अर्थात् एक फसल वाला पौधा । जैसे गेहूँ, जौ आदि ।[3]

'पनक' का अर्थ—इसका सामान्य अर्थ सेवाल, या जल पर की काई है ।

---

* स्याद्वादमजरी २९।३३०।१०

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ ८४३

२. उत्तरा (टिप्पण) (मुनि नथमल जी), पृ. ३२६

३. वही, पृ. ३३६

त्रसकाय के तीन भेद

१०७. तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे ।।

[१०७] तेजस्काय (अग्निकाय), वायुकाय और उदार (एकेन्द्रिय त्रसो की अपेक्षा स्थूल द्वीन्द्रिय आदि) त्रस—ये तीन त्रसकाय के भेद है । उनके भेदो को मुझ से सुनो ।

विवेचन तेजस्काय एवं वायुकाय : स्थावर या त्रस ?—आगमो मे कई जगह तेजस्काय और वायुकाय को पाच स्थावर रूप एकेन्द्रिय जीवो मे बताया है, जब कि यहाँ तथा तत्त्वार्थसूत्र मे इन दोनों को त्रस मे परिगणित किया है, इस अन्तर का क्या कारण है ? पचास्तिकाय मे इसका समाधान करते हुए कहा गया है—पृथ्वी, अप् और वनस्पति, ये तीन तो स्थिरयोगसम्बन्ध के कारण स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु अग्निकाय और वायुकाय उन पाच स्थावरो मे ऐसे हैं, जिनमे चलनक्रिया देख कर व्यवहार से उन्हे त्रस कह दिया जाता है । त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धित्रस और गतित्रस । त्रसनाम-कर्म के उदय वाले लब्धित्रस कहलाते हैं । किन्तु स्थावर नामकर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस कहलाते हैं । तेजस्कायिक और वायुकायिक उपचारमात्र से त्रस हैं ।[1]

अग्निकाय की सजीवता—पुरुष के अगो की तरह आहार आदि के ग्रहण करने से उसमे वृद्धि होती है, इसलिए अग्नि में जीव है ।

वायुकाय की सजीवता—वायु मे भी जीव है, क्योकि वह गाय की तरह दूसरे से प्रेरित हुए विना ही गमन करती है ।[2]

तेजस्काय-निरूपण

१०८ दुविहा तेउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ।।

[१०८] तेजस् (अग्नि) काय के जीवो के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर । पुन इन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो-दो भेद हैं ।

१०९. बायरा जे उ पज्जत्ता णेगहा ते वियाहिया ।
इंगाले मुम्मुरे अगणी अच्चि जाला तहेव य ।।

---

१ (क) पचास्तिकाय मूल, ता. वृत्ति, १११ गा

(ख) 'पृथिव्यम्बुवनस्पतय स्थावरा ' तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः । —तत्त्वार्थसूत्र २।१३-१४

(ग) तत्त्वार्थसूत्र (प. सुखलाल जी) पृ. ५५

२. (क) तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात् पुरुषांगवत् ।

(ख) 'वायुरपि सात्मकः अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद् गोवत् ।' —स्याद्वादमजरी २१।३३०।१०

[१०९] जो बादर पर्याप्त तेजस्काय हैं, वे अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे—अंगार, मुर्मुर (भस्ममिश्रित अग्निकण), अग्नि, अर्चि (—दीपशिखा आदि) ज्वाला और—

११०. उक्का विज्जू य बोद्धव्वा णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया॥

[११०] उल्का, विद्युत् इत्यादि। सूक्ष्म तेजस्काय के जीव एक ही प्रकार के हैं; उनके नाना प्रकार नहीं हैं।

१११. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

[१११] सूक्ष्म तेजस्काय के जीव समग्र लोक मे और बादर तेजस्काय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं। इससे आगे उन तेजस्कायिक जीवो के चार प्रकार से कालविभाग का कथन करूंगा।

११२. सतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[११२] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

११३. तिण्णेव अहोरत्ता उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई तेऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[११३] तेजस्काय की आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन अहोरात्र (दिनरात) की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

११४. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई तेऊणं तं कायं तु अमुंचओ॥

[११४] तेजस्काय को कायस्थिति उत्कृष्ट असख्यातकाल की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। तेजस्काय को छोड़ कर लगातार तेजस्काय में ही उत्पन्न होते रहना कायस्थिति है।

११५. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए तेउजीवाण अन्तरं॥

[११५] तेजस्काय को छोड़ कर (अन्य कायो में उत्पन्न होकर) पुनः तेजस्काय में उत्पन्न होने में जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

११६. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[११६] इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अनेक भेद हैं।

विवेचन—तेजस्काय के भेद-प्रभेद · **अंगारे**—अंगार—धूमरहित जलता हुआ कोयला । **मुम्मुरे**-मुर्मुर—राख मिले हुए अग्निकण, चिनगारियाँ । **अगणी**—शुद्ध अग्नि या लोहपिण्ड में प्रविष्ट अग्नि । **अच्ची**—अर्चि—जलते हुए काष्ठ के साथ रही हुई ज्वाला । **जाला**—ज्वाला—प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न अग्निशिखा, आग की लपटें । **उक्का**—उल्कापात, आकाशीय अग्नि । और **विज्जु**—विद्युत्-आकाशीय विद्युत्—बिजली । प्रज्ञापना मे इनके अतिरिक्त अलात, अशनि, निर्घात, संघर्ष-समुत्थित, एवं सूर्यकान्तमणि-नि:सृत को भी तेजस्काय मे गिनाया है ।[1]

वायु—निरूपण

११७. दुविहा वाउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ।।

[११७] वायुकाय जीवो के दो भेद है—सूक्ष्म और बादर । पुन उन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार दो-दो भेद हैं ।

११८. बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया ।
उक्कलिया-मण्डलिया घण-गुंजा सुद्धवाया य ।।

११९. संवट्टगवाते य ऽणेगविहा एवमायओ ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया ।।

[११८-११९] बादर पर्याप्त वायुकाय जीवो के पाच भेद है—उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गुजावात शुद्धवात और सवर्तक वात, इत्यादि और भी अनेक भेद है । सूक्ष्म वायुकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके अनेक भेद नही है ।

१२०. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभाग तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ।।

[१२०] सूक्ष्म वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक मे, और बादर वायुकाय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं । इससे आगे अब वायुकायिक जीवो के कालविभाग का कथन चार प्रकार से करूंगा ।

१२१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ।।

[१२१] वायुकाय के जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१२२. तिण्णेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउट्ठिई वाऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।

---

१. (क) उत्तरा. गुज. भाषान्तर भा २, पत्र ३५१ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ. ८५६
(ग) प्रज्ञापना पद १, पृ ४५ आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

[१२२] वायुकायिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की और जघन्य अन्त-र्मुहूर्त्त की है।

१२३. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायट्ठिई वाऊणं तं कायं तु अमुंचओ ।।

[१२३] वायुकायिक जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यातकाल की है और जघन्य अन्त-र्मुहूर्त्त की है। वायुकाय को न छोड कर लगातार वायु-शरीर में ही उत्पन्न होना कायस्थिति है।

१२४. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए वाउजीवाण अन्तरं ।।

[१२४] वायुकाय को छोड कर पुनः वायुकाय मे उत्पन्न होने मे जो अन्तर (काल का व्यवधान) है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१२५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ।।

[१२५] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से वायुकाय के हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—वायुकायिक प्रभेदों के विशेषार्थ—उत्कलिकावात—ठहर-ठहर कर चलने वाला वायु, अथवा घूमता हुआ ऊँचा जाने वाला पवन। **मण्डलिकावात**—धूल आदि के गोटे सहित गोलाकार घूमने वाला पवन, अथवा पृथ्वी मे लगता हुआ चक्कर वाला पवन। **घनवात**—घनोदधिवात—रत्नप्रभा आदि भूमियों के अधोवर्ती घनोदधियों का वायु। **गुंजावात**—गूंजता हुआ चलने वाला पवन। **संवर्तकवात**—जो वायु तृणादि को उडा कर अन्यत्र ले जाए, वह।[1]

उन्नीस प्रकार के वात—प्रज्ञापना मे १९ प्रकार के वात बताए गए हैं—चार दिशाओं के चार, चार ऊर्ध्व अधो तिर्यक् विदिक् वायु, (९) वातोद्भ्राम (अनियमित) (१०) वातोत्कलिका (तूफानीपवन) (११) वातमण्डली, (अनिर्धारित वायु) (१२) उत्कलिकावात, (१३) मण्डलिकावात, (१४) गुंजावात, (१५) झंझावात, (वर्षायुक्त पवन) (१६) संवर्तकवात, (१७) घनवात, (१८) तनुवात, (१९) शुद्धवात।[2]

उदार-त्रसकाय-निरूपण

१२६. ओराला तसा जे उ चउहा ते पकित्तिया ।
बेइन्दिय—तेइन्दिय चउरो-पंचिन्दिया चेव ।।

[१२६] उदार त्रस चार प्रकार के कहे हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

---

१. (क) मूलाराधना २१२ गा.
"वाउब्भामो उक्कलिमंडलिगुंजा महाघणु-तणु य। ते जाण वाउजीवा, जाणित्ता परिहरेदव्वा ।।"
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८६०-८६१

२. प्रज्ञापना पद १

विवेचन—उदारत्रस—उदार का अर्थ स्थूल है, जो सामान्य जनता के द्वारा मान्य और प्रत्यक्ष हो, जिनको त्रसनाम कर्म का उदय हो।

द्वीन्द्रिय त्रस

१२७. बेइन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१२७] द्वीन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदों का वर्णन मुझ से सुनो।

१२८. किमिणो सोमंगला चेव अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया संखा संखणगा तहा ॥

[१२८] कृमि, सौमगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक—

१२९. पल्लोयाणुल्लया चेव तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव चन्दणा य तहेव य ॥

[१२९] पल्लका, अणुल्लक, बराटक, जौक, जालक और चन्दनक—

१३०. इइ बेइन्दिया एए णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ॥

[१३०] इत्यादि अनेक प्रकार के ये द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं सम्पूर्ण लोक में नहीं।

१३१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१३१] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३२. वासाइं बारसे व उ उक्कोसेण वियाहिया ।
बेन्दियआउठिई 'अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१३२] द्वीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१३३. संखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइन्दियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ ॥

[१३३] द्वीन्द्रिय जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट सख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। द्वीन्द्रियकाय (द्वीन्द्रियपर्याय) को न छोड़ कर लगातार उसी में उत्पन्न होते रहना द्वीन्द्रियकाय-स्थिति है।

१३४. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइन्दियजीवाणं अन्तरेयं वियाहियं ॥

[१३४] द्वीन्द्रिय के शरीर को छोड कर पुन. द्वीन्द्रियशरीर मे उत्पन्न होने मे जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है ।

१३५. एएसि वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१३५] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से इनके हजारो भेद होते हैं ।

विवेचन—कृमि आदि शब्दों के विशेषार्थ—कृमि—गदगी मे पैदा होने वाले कीट या कीटाणु । **सौमंगल**—सौमगल नामक जीवविशेष । **अलस**—अलसिया या केचुआ । **मातृवाहक**—चूडेल जाति के द्वीन्द्रिय जीव । **वासीमुख**—वसूले की आकृति वाले द्वीन्द्रिय जीव । **शंखनक**—छोटे-छोटे शख (शखोलिया) । **पल्लोय**—काष्ठ-भक्षण करने वाले । **अणुल्लक**—छोटे पल्लुका । **वराटक**—कौडी, जलौक—जोंक । **जालक**—जालक जाति के द्वीन्द्रिय जीव । **चन्दनक**—अक्ष (चाँदनीये) ।[1]

त्रीन्द्रिय त्रस

१३६. तेइन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१३६] त्रीन्द्रिय जीवो के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । उनके भेदो को मुझ से सुनो ।

१३७. कुन्थु-पिवीलि-उड्डंसा उक्कलुद्देहिया तहा ।
तणहार-कट्ठहारा मालुगा पत्तहारगा ॥

[१३७] कुन्थु, चीटी, उद्देश (खटमल), उक्कल (मकडी). उपदेहिका (दीमक—उद्दई), तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक तथा पत्राहारक—

१३८ कप्पासऽट्ठिमिजा य तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सदावरी य गुम्मी य बोद्धव्वा इन्दकाइया ॥

[१३८] कर्पासास्थिमिजक, तिन्दुक, त्रपुषमिंजक, शतावरी (सदावरी), गुल्मी (कानखजूरा) और इन्द्रकायिक, (ये सब त्रीन्द्रिय) समझने चाहिए ।

१३९. इन्दगोवगमाईया णेगहा एवमायओ ।
लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ॥

[१३९] (तथा) इन्द्रगोपक (बीरबहूटी), इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के कहे गए हैं । वे सब लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नही ।

---

१ (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३५२
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८६६-८६७

१४०. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ।।

[१४०] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१४१. एगूणपण्णऽहोरत्ता उक्कोसेण वियाहिया ।
तेइन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।

[१४१] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्टत उनचास दिनों की और जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

१४२. सखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ।
तेइन्दियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ ।।

[१४२] उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट सख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है । त्रीन्द्रियकाय को न छोड कर लगातार त्रीन्द्रियकाय मे ही उत्पन्न होने का काल कायस्थितिकाल है ।

१४३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
तेइन्दियजीवाणं अन्तरेयं वियाहियं ।।

[१४३] त्रीन्द्रियकाय को छोडने के बाद पुन त्रीन्द्रियकाय मे उत्पन्न होने मे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर होता है ।

१४४. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ।।

[१४४] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से इन जीवो के हजारो भेद है ।

विवेचन—कर्पासास्थिमिजक : विशेषार्थ—बिनौलो (कपासियो) मे उत्पन्न होने वाले त्रीन्द्रिय जीव ।[1]

चतुरिन्द्रिय त्रस

१४५. चउरिन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ।।

[१४५] जो चतुरिन्द्रिय जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । उनके भेद मुझ से सुनो ।

१४६. अन्धिया पोत्तिया चेव मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीड-पयंगे य ढिंकुणे कुंकुणे तहा ।।

[१४६] अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मशक (मच्छर), भ्रमर, कीट (टीड-टिड्डी), पतंगा, ढिंकुण (पिस्सू) कुंकुण—

---

१ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३५३

१४७. कुक्कुडे सिंगिरीडी य नन्दावत्ते य विछिए ।
डोले भिंगारी य विरली अच्छिवेहए ।।

[१४७] कुक्कुड, शृंगिरीटी, नन्दावर्त्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक (झींगुर या भ्रमरी), विरली, अक्षिवेधक—

१४८. अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्ते चित्तपत्तए ।
ओहिंजलिया जलकारी य नीया तन्तवगाविया ।।

[१४८] अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक और तन्तवक—

१४९. इइ चउरिन्दिया एए ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे परिकित्तिया ।।

[१४९] इत्यादि चतुरिन्द्रिय के अनेक प्रकार है । वे सब लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं, किन्तु सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही हैं ।

१५०. सतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ।।

[१५०] प्रवाह की अपेक्षा से वे सब अनादि-अनन्त है, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

१५१. छच्चेव य मासा उ उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।

[१५१] चतुरिन्द्रिय जीवो की आयुस्थिति उत्कृष्ट छह महीने की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

१५२. संखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्त जहन्नयं ।
चउरिन्दियकायठिई त कायं तु अमुंचओ ।।

[१५२] उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट सख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है । चतुरिन्द्रिय पर्याय को न छोड कर लगातार चतुरिन्द्रिय-शरीर मे उत्पन्न होते रहना कायस्थिति है ।

१५३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढमि सए काए अन्तरेयं वियाहियं ।।

[१५३] चतुरिन्द्रिय-शरीर को छोडने पर पुनः चतुरिन्द्रिय-शरीर मे उत्पन्न होने मे अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का कहा गया है ।

१५४. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ।।

[१२४] इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एव सस्थान की अपेक्षा से हजारो भेद हैं।

विवेचन—यहाँ जो चतुरिन्द्रिय जीवो के नाम गिनाए गए हैं, उनमे से कई तो अप्रसिद्ध हैं, कई जीव भिन्न-भिन्न देशों मे तथा कुछ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।[1]

पंचेन्द्रियत्रस-निरूपण

१५५. पंचिन्दिया उ जे जीवा चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य मणुया देवा य आहिया॥

[१५५] जो पचेन्द्रिय जीव हैं, वे चार प्रकार के कहे गए हैं—नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

विवेचन—पंचेन्द्रियजीवों का जन्म और निवास—प्रस्तुत गाथा मे जो चार प्रकार के पचेन्द्रियजीव बताए गए हैं, उनका जन्म और निवास प्राय. इस प्रकार है—नैरयिको का जन्म एव निवास अधोलोकस्थित सात नरकभूमियो मे होता है। मनुष्यो का मध्य (तिर्यक्) लोक मे, और तिर्यञ्चो का जन्म एव निवास प्राय तिर्यक् लोक मे होता है, किन्तु देवो मे से वैमानिक देवो का ऊर्ध्वलोक मे, ज्योतिष्कदेवो का मध्यलोक के अन्त तक, और भवनपति तथा व्यन्तर देवो का जन्म एव निवास प्राय तिर्यग्लोक मे एव अधोलोक के प्रारम्भ मे होता है।

नारकजीव

१५६. नेरइया सत्तविहा पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभ—सक्कराभा वालुयाभा य आहिया॥
१५७ पंकाभा धूमाभा तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए सत्तहा परिकित्तिया॥

[१५६-१५७] नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम.प्रभा तथा तमस्तम:प्रभा, इस प्रकार इन सात पृथ्वियो मे उत्पन्न होने वाले नैरयिक सात प्रकार के कहे गए हैं।

१५८. लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

[१५८] वे सब नैरयिक लोक के एक देश में रहते हैं, (समग्र लोक में नही।) इससे आगे उनके (नैरयिकों के) चार प्रकार से कालविभाग का कथन करूंगा।

१५९. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१५९] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

---

१ उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८७५

१६०. सागरोवममेगं तु उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं दसवाससहस्सिया ॥

[१६०] पहली रत्नप्रभा पृथ्वी मे नैरयिक जीवों की आयुस्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है ।

१६१. तिण्णेव सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहन्नेण एगं तु सागरोवमं ॥

[१६१] दूसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की है ।

१६२ सत्तेव सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं तिण्णेव उ सागरोवमा ॥

[१६२] तीसरी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु स्थिति जघन्य तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट सात सागरोपम की है ।

१६३. दस सागरोवमा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेण सत्तेव उ सागरोवमा ॥

[१६३] चौथी पृथ्वी मे नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दस सागरोपम की है ।

१६४ सत्तरस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेण दस चेव उ सागरोवमा ॥

[१६४] पांचवी पृथ्वी मे नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्य दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की है ।

१६५. बावीस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमा ॥

[१६५] छठी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति जघन्य सत्तरह सागरोपम की और उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की है ।

१६६. तेत्तीस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा ॥

[१६६] सातवी पृथ्वी मे नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति जघन्य बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है ।

१६७. जा चेव उ आउठिई नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

[१६७] नैरयिक जीवो की जो आयुस्थिति, बताई गई है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति भी है।

१६८. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए नेरइयाणं तु अन्तरं॥

[१६८] नैरयिक शरीर को छोडने पर पुन. नैरयिक शरीर मे उत्पन्न होने मे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर है।

१६९. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[१६९] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारो भेद हैं।

विवेचन—सात नरकपृथ्वियों के अन्वर्थक नाम—रत्नप्रभापृथ्वी मे भवनपति देवो के रत्न-निर्मित आवास-स्थान हैं। इनकी प्रभा पृथ्वी मे व्याप्त रहती है। इस कारण इस पृथ्वी का नाम **'रत्नप्रभा'** या **'रत्नाभा'** पडा है। शर्करा कहते हैं—कंकडो को या लघुपाषाणखण्डो को। इनकी आभा के समान दूसरी भूमि की आभा है, इसलिए इसका नाम **'शर्कराभा'** या **'शर्कराप्रभा'** है। रेत के समान जिस भूमि की कान्ति है, उसका नाम **बालुकाप्रभा** है। पक अर्थात् कीचड के समान जिस भूमि की प्रभा है, उसका नाम **पंकप्रभा** है। धूम के सदृश जिस भूमि की प्रभा है, उसे **धूमप्रभा** कहते है। धूमप्रभा पृथ्वी मे धुएँ के समान पुद्गलो का परिणमन होता रहता है। अन्धकार की प्रभा के समान जिस पृथ्वी की प्रभा है, वह **तमःप्रभा** पृथ्वी है, तथा गाढ अन्धकार के समान जिस पृथ्वी की प्रभा है, वह **तमस्तमःप्रभा** पृथ्वी है।[1]

नैरयिकों की कायस्थिति—प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि जिस नैरयिक की जितनी जघन्य और उत्कृष्ट आयुस्थिति है, उसकी कायस्थिति भी उतनी ही जघन्य और उत्कृष्ट होती है, क्योकि नैरयिक मरने के अनन्तर पुन नैरयिक नही हो सकता। अत उनकी आयुस्थिति और काय-स्थिति समान है।[2]

अन्तर—गा. १६८ मे नरक से निकल कर पुन नरक मे उत्पन्न होने का व्यवधानकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का बताया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि नारक जीव नारक से निकल कर संख्यातवर्षायुष्क गर्भज तिर्यञ्च या मनुष्य मे ही जन्म लेता है। वहाँ से अतिक्लिष्ट अध्यवसाय वाला कोई जीव अन्तर्मुहूर्त्त-परिमाण जघन्य आयु भोग कर पुन. नरक मे उत्पन्न हो सकता है।[3]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च त्रस

१७०. पंचिन्दियतिरिक्खाओ दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ गब्भवक्कन्तिया तहा॥

[१७०] पचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवो के दो भेद हैं, सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च और गर्भजतिर्यञ्च।

---

१ उत्तराप्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८८० २ उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र ३५६

३. उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण, पृ. ४७९

१७१. दुविहावि ते भवे तिविहा जलयरा थलयरा तहा।
खहयरा य बोद्धव्वा तेसिं भेए सुणेह मे॥

[१७१] इन दोनों (गर्भजों और सम्मूर्च्छिमों) के पुनः जलचर, स्थलचर और खेचर, ये तीन-तीन भेद हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

जलचरत्रस

१७२. मच्छा य कच्छभा य गाहा य मगरा तहा।
सुंसुमारा य बोद्धव्वा पंचहा जलयराहिया॥

[१७२] जलचर पांच प्रकार के बताए गए हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुसुमार।

१७३. लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

[१७३] वे सब लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, समग्र लोक में नहीं। इससे आगे अब उनके कालविभाग का चार प्रकार से कथन करूंगा।

१७४. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१७४] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, और भवस्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१७५. एगा य पुव्वकोडीओ उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई जलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[१७५] जलचरों की आयुस्थिति उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१७६. पुव्वकोडीपुहत्तं तु उक्कोसेण वियाहिया।
कायट्ठिई जलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[१७६] जलचरों की कायस्थिति उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१७७. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नियं।
विजढंमि सए काए जलयराणं तु अन्तरं॥

[१७७] जलचर के शरीर को छोडने पर, पुनः जलचर के शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१७८. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१७८] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं ।

स्थलचर त्रस

१७९. चउप्पया य परिसप्पा दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा ते मे कित्तयओ सुण ॥

[१७९] स्थलचर जीवों के दो भेद हैं—चतुष्पद और परिसर्प । चतुष्पद चार प्रकार के हैं, उनका निरूपण मुझ से सुनो ।

१८०. एगखुरा दुखुरा चेव गण्डपय-सणप्पया ।
हयमाइ-गोणमाइ—गयमाइ-सीहमाइणो ॥

[१८०] एकखुर—अश्व आदि, द्विखुर—बैल आदि, गण्डीपद—हाथी आदि और सनखपद—सिंह आदि हैं ।

१८१. भुओरगपरिसप्पा य परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाइ अहिमाई य एक्केक्काऽणेगहा भवे ॥

[१८१] परिसर्प दो प्रकार के हैं—भुजपरिसर्प—गोह आदि और उर परिसर्प—सर्प आदि । इन दोनों के अनेक प्रकार हैं ।

१८२. लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

[१८२] वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं । इसके आगे अब चार प्रकार से स्थलचर जीवों के कालविभाग का कथन करूँगा ।

१८३. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१८३] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१८४. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई थलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१८४] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

१८५. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण तु साहिया ।
पुव्वकोडीपुहत्तेण अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

१८६. कायट्ठिई थलयराणं अन्तरं तेसिमं भवे ।
कालमणन्तमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ॥

[१८५] स्थलचर जीवो की कायस्थिति उत्कृष्टत पूर्वकोटि-पृथक्त्व-अधिक तीन पल्योपम की और जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त की है।

और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१८७. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१८७] वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा सस्थान की अपेक्षा से स्थलचरो के हजारो भेद है।

खेचर त्रस

१८८. चम्मे उ लोमपक्खी य तइया समुग्गपक्खिया।
विययपक्खी य बोद्धव्वा पक्खिणो य चउव्विहा ॥

[१८८] खेचर (आकाशचारी पक्षी) चार प्रकार के है--चर्मपक्षी, रोमपक्षी, तीसरे समुद्ग-पक्षी और (चौथे) विततपक्षी।

१८९. लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभाग तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

[१८९] वे लोक के एक भाग मे होते है, सम्पूर्ण लोक मे नही। इससे आगे खेचर जीवो के चार प्रकार मे कालविभाग का कथन करूँगा।

१९०. सतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१९०] प्रवाह की अपेक्षा मे वे अनादि-अनन्त है। किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१. पलिओवमस्स भागो असखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराण अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१९१] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवें भाग की है और जघन्य अन्त-र्मुहूर्त्त की है।

१९२. असखभागो पलियस्स उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहुत्तेण अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

१९३. कायठिई खहयराण अन्तर तेसिम भवे।
कालं अणन्तमुक्कोस अन्तोमुहुत्त जहन्नय ॥

[१९२-१९३] खेचर जीवो की कायस्थिति उत्कृष्टत कोटिपूर्व-पृथक्त्व अधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग की और जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त की है।

और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१९४ एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१९४] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से इनके हजारो भेद हैं।

विवेचन—सम्मूर्च्छिम और गर्भज : सम्मूर्च्छिम—माता-पिता के सयोग के बिना ही उत्पत्ति-स्थान मे स्थित औदारिक पुद्गलो को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत कर लेना समूर्च्छन-जन्म है।

गर्भज—माता-पिता के सयोग से उत्पत्तिस्थान मे स्थित शुक्र-शोणित के पुद्गलो को पहले-पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। गर्भ से जिसकी उत्पत्ति (जन्म) होती है, उसे गर्भ-व्युत्क्रान्तिक (गर्भोत्पत्तिक) या गर्भज कहते हैं।[1]

जलचर, स्थलचर, खेचर—जल मे विचरण करने और रहने वाले प्राणी (मत्स्य आदि) **जलचर** कहलाते हैं। स्थल (जमीन) पर विचरण करने वाले प्राणी **स्थलचर** या **भूचर** कहलाते हैं। इनके मुख्य दो प्रकार है—चतुष्पद (चौपाये) और परिसर्प (रेग कर चलने वाले)। तथा **खेचर** उसे कहते हैं, जो आकाश मे उड कर चलता हो, जैसे—बाज आदि पक्षी।[2]

एकखुर आदि पदों के अर्थ—एकखुर—जिनका खुर एक—अखण्ड हो, फटा हुआ न हो वे, जैसे—घोडा आदि। **द्विखुर**—जिनके खुर फटे हुए होने से दो अशो मे विभक्त हो, जैसे—गाय आदि। **गण्डीपद**—गण्डी अर्थात् कमलकर्णिका के समान जिसके पैर वृत्ताकार गोल हो, जैसे—हाथी आदि। **सनखपद**—नखसहित पैर वाले। जैसे—सिह आदि। **भुजपरिसर्प**—भुजाओ से गमन करने वाले नकुल, मूषक आदि। **उर:परिसर्प—वक्ष**—छाती से गमन करने वाले सर्प आदि। **चर्मपक्षी**—चर्म (चमडी) की पाखो वाले चमगादड आदि। **रोमपक्षी**—रोम—रोए की पखो वाले हस आदि। **समुद्गपक्षी**—समुद्ग अर्थात्—डिब्बे के समान सदैव बद पखो वाले। **विततपक्षी**—सदैव फैली हुई पखो वाले।[3]

स्थलचरों की उत्कृष्ट कायस्थिति—गाथा १८५ मे पूर्वकोटि पृथक्त्व (दो से नौ पूर्वकोटि) अधिक तीन पल्योपम की बताई गई है, उसका अभिप्राय यह है कि पल्योपम की आयु वाले तो मर कर पुन. पल्योपम की स्थिति वाले स्थलचर होते नही हैं, किन्तु वे देवलोक मे जाते है। पूर्वकोटि आयु वाले अवश्य ही इतनी स्थिति वाले के रूप मे पुनः उत्पन्न हो सकते है। वे भी ७-८ भव से अधिक नही। अतः पूर्वकोटि आयु के पृथक्त्व भव ग्रहण करके अन्त मे पल्योपम आयु पाने वाले स्थलचर जीवो की अपेक्षा से यह उत्कृष्ट कायस्थिति बताई गई है।[4]

जलचरों की उत्कृष्ट कायस्थिति—गाथा १७६ मे पूर्वकोटि पृथक्त्व की, अर्थात् ८ पूर्वकोटि की कही गई है। उसका आशय यह है कि पचेन्द्रिय तिर्यञ्च—जलचर अन्तररहित उत्कृष्टतः आठ भव करते हैं, उन आठो भवो का कुल आयुष्य मिला कर आठ पूर्वकोटि ही होता है। जलचर मर कर युगलिया नही होते, इसलिए युगलिया का भव नही आता। इस तरह उत्कृष्ट स्थिति के उक्त परिमाण मे कोई विरोध नही आता।[5]

---

१. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ ४७९-४९०
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र २।३२ (पं. सुखलाल जी) पृ ६७
२. उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा. २. पत्र
३ उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ. ४७९-४८०
४. वही, टिप्पण पृ. ४८०
५. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३५७

मनुष्य-निरूपण

१९५. मणुया दुविहभेया उ ते मे कित्तयओ सुण ।
संमुच्छिमा य मणुया गब्भवक्कन्तिया तहा ।।

[१९५] मनुष्य दो प्रकार के है—सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भोत्पन्न) मनुष्य ।

१९६. गब्भवक्कन्तिया जे उ तिविहा ते वियाहिया ।
अकम्म-कम्मभूमा य अन्तरद्दीवया तहा ।।

[१९६] जो गर्भ मे उत्पन्न मनुष्य है, वे तीन प्रकार के कहे गए है—अकर्मभूमिक, कर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपक ।

१९७. पन्नरस-तीसइ-विहा भेया अट्ठवीसइं ।
संखा उ कमसो तेसिं इइ एसा वियाहिया ।।

[१९७] कर्मभूमिक मनुष्यो के पन्द्रह, अकर्मभूमिक मनुष्यो के तीस और अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के २८ भेद हैं ।

१९८. संमुच्छिमाण एसेव भेओ होइ आहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे वि वियाहिया ।।

[१९८] सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के भेद भी इसी प्रकार हैं । वे सब भी लोक के एक भाग मे होते है, समग्र लोक मे व्याप्त नही ।

१९९ संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ।।

[१९९] (उक्त सभी प्रकार के मनुष्य) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

२००. पलिओवमाइं तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई मणुयाण अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।

[२००] मनुष्यो की आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

२०१. पलिओवमाइं तिण्ण उ उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडीपुहुत्तेणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।

२०२. कायट्ठिई मणुयाणं अन्तरं तेसिमं भवे ।
अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।।

[२०१-२०२] उत्कृष्टत पूर्वकोटिपृथक्त्व-अधिक तीन पल्योपम की और जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त्त की मनुष्यों की कायस्थिति है ।

उनका अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है ।

२०३. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ।।

[२०३] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद हैं।

विवेचन—अकर्मभूमिक, कर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपक मनुष्य : अकर्मभूमिक—अकर्मभूमि (—भोगभूमि) में उत्पन्न, अर्थात्—यौगलिक मानव। **कर्मभूमिक**—कर्मभूमि में अर्थात् भरतादि क्षेत्र में उत्पन्न। **अन्तर्द्वीपक**—छप्पन अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न।[1]

कर्मभूमिक : पन्द्रह भेद—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह, ये कुल मिला कर १५ कर्मभूमियाँ हैं, इनमें उत्पन्न होने वाले कर्मभूमिक मनुष्य भी १५ प्रकार के हैं।[2]

अकर्मभूमिक : तीस भेद—५ हैमवत, ५ हैरण्यवत, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यकवर्ष, ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु, ये कुल मिलाकर ३० भेद अकर्मभूमि के हैं। इनमें उत्पन्न होने वाले अकर्मभूमिक भी ३० प्रकार के हैं।[3]

अन्तर्द्वीपक : छप्पन भेद—वैताढ्य पर्वत के पूर्व और पश्चिम के सिरे पर जम्बूद्वीप की वेदिका के बाहर दो-दो दाढाएँ विदिशा की ओर निकली हुई है। उनमें से पूर्व की दो दाढा में से एक ईशान की ओर और दूसरी आग्नेय (अग्निकोण) की ओर लम्बी चली जाती है। पश्चिम की दो दाढों में से एक नैऋत्य की ओर और दूसरी वायव्यकोण की ओर जाती है। उन प्रत्येक दाढा पर जगती के कोट से तीन-तीन सौ योजन आगे जाने पर ३ योजन लम्बे-चौडे कुल चार अन्तर्द्वीप आते हैं। फिर वहाँ से ४००-४०० योजन आगे जाने पर ४ योजन लम्बे-चौडे दूसरे ४ अन्तर्द्वीप आते हैं। इस प्रकार सौ-सौ योजन आगे क्रमश बढते जाने पर उतने ही योजन के लम्बे और चौडे, चार-चार अन्तर्द्वीप आते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दाढा पर ७-७ अन्तर्द्वीप होने से चारों दाढाओं के कुल २८ अन्तर्द्वीप हैं। उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—**प्रथम चतुष्क में चार**—(१) एकोरुक, (२) आभाषिक, (३) वैषाणिक और (४) लांगुलिक। **द्वितीय चतुष्क में चार**—(५) हयकर्ण, (६) गजकर्ण, (७) गोकर्ण और (८) शष्कुलीकर्ण। **तृतीय चतुष्क में चार**—(९) आदर्शमुख, (१०) मेषमुख, (११) हयमुख और (१२) गजमुख। **चतुर्थ चतुष्क में चार**—(१३) अश्वमुख, (१४) हस्तिमुख, (१५) सिंहमुख और (१६) व्याघ्रमुख। **पंचम चतुष्क में चार**—(१७) अश्वकर्ण, (१८) सिंहकर्ण, (१९) गजकर्ण और (२०) कर्णप्रावरण। **छठे चतुष्क में चार**—(२१) उल्कामुख, (२२) विद्युन्मुख, (२३) जिह्वामुख, (२४) मेघमुख। सप्तम चतुष्क में चार—(२५) घनदन्त, (२६) गूढदन्त, (२७) श्रेष्ठदन्त और (२८) शुद्धदन्त। इन सब अन्तर्द्वीपों में द्वीप के सदृश नाम वाले युगलिया रहते हैं। इसी प्रकार इन्हीं नाम वाले शिखरी पर्वत के भी अन्य अट्ठाईस अन्तर्द्वीप हैं। वे सब पूर्ववर्ती अट्ठाईस नामों के सदृश नाम आदि वाले होने से अभेद की विवक्षा से पृथक् कथन नहीं किया गया है। अतः सूत्र में अट्ठाईस भेद ही कहे गए हैं। कुल मिलाकर ५६ भेद हुए।[4]

---

१. उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३६०,

२ वही, पत्र ३६०, ३ वही, पत्र ३६०

४. वही, पत्र ३६०-३६१

देव-निरूपण

२०४. देवा चउव्विहा वुत्ता ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज-वाणमन्तर-जोइस-वेमाणिया तहा ।।

[२०४] देव चार प्रकार के कहे गए हैं – भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । मैं उनके विषय मे कहता हूँ, सुनो ।

२०५. दसहा उ भवणवासी अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया दुविहा वेमाणिया तहा ।।

[२०५] भवनवासी देव दस प्रकार के हैं, वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क देव पाच प्रकार के हैं और वैमानिक देव दो प्रकार के हैं ।

२०६. असुरा नाग-सुवण्णा विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहि-दिसा वाया थणिया भवणवासिणो ।।

[२०६] असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं ।

२०७. पिसाय-भूय-जक्खा य रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा ।
महोरगा य गन्धव्वा अट्ठविहा वाणमन्तरा ।।

[२०७] पिशाच, भूत यक्ष राक्षस किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव हैं ।

२०८. चन्दा सूरा य नक्खत्ता गहा तारागणा तहा ।
दिसाविचारिणो चेव पंचहा जोइसालया ।।

[२०८] चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारागण, ये पाच प्रकार के ज्योतिष्क देव हैं । ये पाच दिशाविचारी (अर्थात्—मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने वाले) ज्योतिष्क देव हैं ।

२०९. वेमाणिया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा कप्पाईया तहेव य ।।

[२०९] वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं—कल्पोपग (कल्प-सहित—इन्द्रादि के रूप मे कल्प अर्थात् आचार-मर्यादा एव शासन-व्यवस्था वाले) और कल्पातीत (पूर्वोक्त कल्पमर्यादाओं से रहित) ।

२१०. कप्पोवगा बारसहा सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमार-माहिन्दा बम्भलोगा य लन्तगा ।।

२११. महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव इइ कप्पोवगा सुरा ।।

[२१०-२११] कल्पोपग देवो के बारह प्रकार हैं—सौधर्म, ईशानक, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक एवं लान्तक,

महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—ये कल्पोपग देव हैं।

२१२. कप्पाईया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव गेविज्जा नवविहा तहिं॥

[२१२] कल्पातीत देवो के दो भेद हैं—ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरविमानवासी। उनमे से ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के है।

२१३. हेट्ठिमा-हेट्ठिमा चेव हेट्ठिमा-मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा-उवरिमा चेव मज्झिमा-हेट्ठिमा तहा॥

२१४. मज्झिमा-मज्झिमा चेव मज्झिमा-उवरिमा तहा।
उवरिमा-हेट्ठिमा चेव उवरिमा-मज्झिमा तहा॥

२१५. उवरिमा-उवरिमा चेव इय गेविज्जया सुरा।
विजया वेजयन्ता य जयन्ता अपराजिया॥

२१६. सव्वट्ठसिद्धगा चेव पचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा णेगहा एवमायओ॥

[२१३-२१४-२१५-२१६] (१) अधस्तन-अधस्तन (२) अधस्तन-मध्यम, (३) अधस्तन-उपरितन, (४) मध्यम-अधस्तन—(५) मध्यम-मध्यम, (६) मध्यम-उपरितन, (७) उपरितन-अधस्तन, (८) उपरितन-मध्यम और (९) उपरितन-उपरितन—ये नौ ग्रैवेयक है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धक, ये पांच प्रकार के अनुत्तर देव हैं। इस प्रकार वैमानिक देव अनेक प्रकार के हैं।

२१७. लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

[२१७] ये सभी लोक के एक भाग मे स्थित रहते हैं, समग्र लोक मे नही। इससे आगे उनके कालविभाग का चार प्रकार से कथन करूगा।

२१८. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[२१८] ये प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९. साहियं सागरं एक्कं उक्कोसेणं ठिई भवे।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं दसवाससहस्सिया॥

[२१९] भवनवासीदेवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति किंचित् अधिक एक सागरोपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२०. पलिओवममेगं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
वन्तराणं जहन्नेण दसवाससहस्सिया ॥

[२२०] व्यन्तरदेवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति एक पल्योपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२१. पलिओवमं एगं तु वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो जोइसेसु जहन्निया ॥

[२२१] ज्योतिष्कदेवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की और जघन्य पल्योपम का आठवाँ भाग है।

२२२. दो चेव सागराइ उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मंमि जहन्नेणं एगं च पलिओवमं ॥

[२२२] सौधर्म-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति दो सागरोपम की और जघन्य एक पल्योपम की है।

२२३ सागरा साहिया दुन्नि उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेण साहियं पलिओवमं ॥

[२२३] ईशान-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति किञ्चित् अधिक दो सागरोपम और जघन्य किञ्चित् अधिक एक पल्योपम है।

२२४. सागराणि य सत्तेव उक्कोसेण ठिई भवे।
सणकुमारे जहन्नेण दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

[२२४] सनत्कुमार-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सात सागरोपम की और जघन्य दो सागरोपम की है।

२२५. साहिया सागरा सत्त उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिन्दम्मि जहन्नेणं साहिया दुन्नि सागरा ॥

[२२५] माहेन्द्रकुमार-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति किञ्चित् अधिक सात सागरोपम की और जघन्य किञ्चित् अधिक दो सागरोपम की है।

२२६. दस चेव सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे।
बम्भलोए जहन्नेण सत्त ऊ सागरोवमा ॥

[२२६] ब्रह्मलोक-देवों की आयुस्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम की और जघन्य सात सागरोपम की है।

२२७. चउद्दस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेणं दस ऊ सागरोवमा ॥

[२२७] लान्तक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति चौदह सागरोपम की और जघन्य दस सागरोपम की है।

२२८. सत्तरस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं चउद्दस सागरोवमा॥

[२२८] महाशुक्र-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति सत्तरह सागरोपम की और जघन्य चौदह सागरोपम की है।

२२९. अट्ठारस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमा॥

[२२९[सहस्रार-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति अठारह सागरोपम की और जघन्य सत्तरह सागरोपम की है।

२३०. सागरा अउणवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमा॥

[२३०] आनत-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति उन्नीस सागरोपम की और जघन्य अठारह सागरोपम की है।

२३१. वीसं तु सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं सागरा अउणवीसई॥

[२३१] प्राणत-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति वीस सागरोपम की और जघन्य उन्नीस सागरोपम की है।

२३२. सागरा इक्कवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं वीसई सागरोवमा॥

[२३२] आरण-देवो की' उत्कृष्ट आयुस्थिति इक्कीस सागरोपम की है और जघन्य बीस सागरोपम की है।

२३३. बावीसं सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं सागरा इक्कवीसई॥

[२३३] अच्युत-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति बाईस सागरोपम की और जघन्य इक्कीस सागरोपम की है।

२३४. तेवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा॥

[२३४] प्रथम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति तेईस सागरोपम की, जघन्य बाईस सागरोपम की है।

२३५. चउवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेणं तेवीसं सागरोवमा॥

[२३५] द्वितीय ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति चौवीस सागरोपम की, जघन्य तेईस सागरोपम की है।

२३६. पणवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेणं चउवीसं सागरोवमा॥

[२३६] तृतीय ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति पच्चीस सागरोपम की और जघन्य चौवीस सागरोपम की है।

२३७. छव्वीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं सागरा पणुवीसई॥

[२३७] चतुर्थ ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति छब्बीस सागरोपम की और जघन्य पच्चीस सागरोपम की है

२३८. सागरा सत्तवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं सागरा उ छवीसई॥

[२३८] पचम ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति सत्ताईस सागरोपम की और जघन्य छब्बीस सागरोपम की है।

२३९. सागरा अट्ठवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं सागरा सत्तवीसई॥

[२३९] छठे ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति अट्ठाईस सागरोपम की और जघन्य सत्ताईस सागरोपम की है।

२४०. सागरा अउणतीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं सागरा अट्ठवीसई॥

[२४०] सप्तम ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति उनतीस सागरोपम की और जघन्य अट्ठाईस सागरोपम की है।

२४१. तीसं तु सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं सागरा अउणतीसई॥

[२४१] अष्टम ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति तीस सागरोपम की और जघन्य उनतीस सागरोपम की है।

२४२. सागरा इक्कतीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं तीसई सागरोवमा॥

[२४२] नवम ग्रैवेयक-देवो की उत्कृष्ट आयुस्थिति इकतीस सागरोपम की और जघन्य तीस सागरोपम की है।

२४३. तेत्तीस सागरा उ उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुं पि विजयाईसुं जहन्नेणेक्कतीसई ॥

[२४३] विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य इकतीस सागरोपम की है।

२४४. अजहन्नमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाण—सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ॥

[२४४] महाविमान सर्वार्थसिद्ध के देवो की अजघन्य-अनुत्कृष्ट (न जघन्य और न उत्कृष्ट—सब की एक जैसी) आयुस्थिति तेतीस सागरोपम की है।

२४५. जा चेव उ आउठिई देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

[२४५] समस्त देवो की जो पूर्वकथित आयुस्थिति है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति है।

२४६. अणन्तकालमुक्कोस अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए देवाण हुज्ज अन्तर ॥

[२४६] देवशरीर (स्वकाय) को छोडने पर पुनः देव-शरीर मे उत्पन्न होने मे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर होता है।

२४७. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्सओ ॥

[२४७] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से इनके हजारो भेद होते है।

विवेचन—भवनवासी आदि की व्याख्या—भवनवासी देव—जो प्राय भवनों मे रहते हैं, वे भवनवासी या भवनपति देव कहलाते है। केवल असुरकुमार विशेषतया आवासो मे रहते है, इनके आवास नाना रत्नो की प्रभा वाले चदेवो से युक्त होते हैं। उनके आवास इनके शरीर की अवगाहना के अनुसार ही लम्बे, चौडे तथा ऊँचे होते हैं। शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनपति देव भवनो मे रहते हैं, आवासो मे नही। ये भवन बाहर से गोल और अन्दर से चौकोर होते हैं, इनके नीचे का भाग कमलकर्णिका के आकार-सा होता है। इन्हे कुमार इसलिए कहा गया है कि ये कुमारो (बालको) जैसे ही रूप एव आकार-प्रकार के होते है, देखने वालो को प्रिय लगते हैं, बडे ही सुकुमार होते है, मृदु, मधुर एव ललित भाषा मे बोलते हैं। कुमारो की-सी ही इनकी वेषभूषा होती है। वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर कुमारो सरीखी चेष्टा करते हैं।

वाणव्यन्तर देव—ये अधिकतर वनो मे, वृक्षो मे, प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थानो मे या गुफा आदि के अन्तराल मे रहते है, इस कारण वाणव्यन्तर कहलाते हैं। अणपन्नी, पणपन्नी आदि नाम के व्यन्तर देवो के जो अन्य आठ प्रकार कहे जाते हैं, उनका समावेश इन्ही आठो मे हो जाता है।

ज्योतिष्क—ये सभी तिर्यग्लोक को अपनी ज्योति से प्रकाशित करते हैं, इसलिए ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। ये अढाई द्वीप मे गतिशील हैं, अढाई द्वीप से बाहर स्थिर हैं। ये निरन्तर सुमेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते है। मेरुपर्वत के ११२१ योजन को छोड कर इन के विमान चारों दिशाओ से उसकी सतत प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

वैमानिकदेव—ये विमानो मे ही निवास करते है, इसलिए वैमानिक या विमानवासी देव कहलाते हैं। जिन वैमानिक देवो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि दस प्रकार के देवो का कल्प (अर्थात् मर्यादा या आचार-व्यवहार) हो, वे देव **'कल्पोपग'** या **'कल्पोपपन्न'** कहलाते हैं, इसके विपरीत जिन देवलोको मे इन्द्रादि को भेद-मर्यादा नही होती, वहाँ के देव **'कल्पातीत'** (अहमिन्द्र—स्वामी-सेवकभावरहित) कहलाते हैं। सौधर्म से लेकर अच्युत देवलोक (कल्प) तक के देव 'कल्पोपपन्न' और इनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एव पच अनुत्तर विमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं। जिस-जिस नाम के कल्प (देवलोक) मे जो देव उत्पन्न होता है, वह उसी नाम से पुकारा जाता है।

ग्रैवेयकदेव—लोक का सस्थान पुरुषाकार है, उसमे ग्रीवा (गर्दन) के स्थानापन्न नौ ग्रैवेयक देव कहलाते हैं। जिस प्रकार ग्रीवा मे आभरणविशेष होता है, उसी प्रकार लोकरूप पुरुष के ये नौ ग्रैवेय-आभरण स्वरूप है। इन विमानो मे जो देव रहते है, वे ग्रैवेयक कहलाते हैं। ग्रैवेयको मे तीन-तीन त्रिक हैं—(१) अधस्तन-अधस्तन, (२) अधस्तन-मध्यम और (३) अधस्तन-उपरितन, (१) मध्यम-अधस्तन, (२) मध्यम-मध्यम और (३) मध्यम-उपरितन और (१) उपरितन-अधस्तन, (२) उपरितन-मध्यम और (३) उपरितन-उपरितन।

अनुत्तरविमानवासी देव—ये देव सबसे उत्कृष्ट तथा सबसे ऊँचे एव अन्तिम विमानो मे रहते है, इसलिए अनुत्तरविमानवासी कहलाते है। ये विजय, वैजयन्त आदि नाम के पाच देव है।[1]

देवो की कायस्थिति—जिन देवो की जो जघन्य-उत्कृष्ट आयुस्थिति कही गई है, वही उनकी जघन्य-उत्कृष्ट कायस्थिति है। इसका अभिप्राय यह है कि देव मर कर अनन्तर (भव मे) देव नही हो सकता, इस कारण देवा की जितनी आयुस्थिति है, उतनी ही उनकी कायस्थिति है।[2]

अन्तरकाल—देवपर्याय से च्यव कर पुन: देवपर्याय मे देवरूप मे उत्पन्न होने का उत्कृष्ट-अन्तर (व्यवधान) अनन्तकाल का बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कोई देव यदि देवशरीर का परित्याग कर अन्यान्य योनियो मे जन्म लेता हुआ, फिर वहाँ से मर कर पुन देवयोनि मे जन्म ले तो अधिक से अधिक अन्तर अनन्तकाल का और कम से कम अन्तर एक अन्तर्मुहूर्त्त का पडेगा।[3]

उपसंहार

२४८. ससारत्था य सिद्धा य इइ जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा वि य॥

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा २, पृ ९११-९१२
(ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र ३६२ से ३६५ तक

२ उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३६६

३. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९३४

[२४८] इस प्रकार ससारस्थ और सिद्ध जीवो :का व्याख्यान किया गया। रूपी और अरूपी के भेद से, दो प्रकार के अजीव का व्याख्यान भी हो गया।

२४९. इइ जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाण अणुमए रमेज्जा संजमे मुणी॥

[२४९] इस प्रकार जीव और अजीव के व्याख्यान को सुन कर और उस पर श्रद्धा करके (ज्ञान एव क्रिया आदि) सभी नयों से अनुमत सयम मे मुनि रमण करे।

विवेचन—जीवाजीवविभक्ति : श्रवण, श्रद्धा एवं आचरण मे परिणति—प्रस्तुत गाथा २४९ मे बताया गया है कि जीव और अजीव के विभाग को सम्यक् प्रकार से सुने, तत्पश्चात् उस पर श्रद्धा करे कि—'भगवान् ने जैसा कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है।' इस प्रकार से उसे श्रद्धा का विषय बनाए। श्रद्धा सम्यक् होने से जीवाजीव का ज्ञान भी सम्यक् होगा। किन्तु इतने मात्र से ही साधक अपने को कृतार्थ न मान ले, इसलिए कहा गया है—**'रमेज्ज संजमे मुणी'**। इसका फलितार्थ यह है कि मुनि जीवाजीव पर सम्यक् श्रद्धा करे, सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे और तत्पश्चात् ज्ञाननय और क्रियानय के अन्तर्गत रहे हुए नैगमादि सर्वनयसम्मत सयम—अर्थात—चारित्र मे रमण करे, उक्त ज्ञान और श्रद्धा को क्रियारूप में परिणत करे।[1]

अन्तिम आराधना : सलेखना का विधि-विधान

२५०. तओ बहूणि वासाणि सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण अप्पाणं संलिहे मुणी॥

[२५०] तदनन्तर अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि इस (आगे बतलाए गए) क्रम से आत्मा की सलेखना (विकारों से क्षीणता) करे।

२५१. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे।
संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया॥

[२५१] उत्कृष्ट सलेखना बारह वर्ष की होती है, मध्यम एक वर्ष की और जघन्य (कम से कम) छह महीने की होती है।

२५२ पढमे वासचउक्कम्मि विगईनिज्जूहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि विचित्तं तु तवं चरे॥

[२५२] प्रथम चार वर्षों मे दूध आदि विकृतियो (विग्गइयों—विकृतिकारक वस्तुओ) का निर्यूहण (त्याग) करे। दूसरे चार वर्षों तक विविध प्रकार का तप करे।

२५३. एगन्तरमायामं कट्टु संवच्छरे दुवे।
तओ संवच्छरद्धं तु नाइविगिट्ठं तवं चरे॥

---

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९३६

[२५३] तत्पश्चात् दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन पारणा) करे। पारणा के दिन आयाम (अर्थात्—आचाम्ल—आयंबिल) करे। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष मे पहले छह महीनो तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चोला आदि) तप न करे।

२५४. तओ संवच्छरद्धं तु विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं तंमि संवच्छरे करे॥

[२५४] तदनन्तर छह महीने तक विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि उत्कट तप) करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायामं कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु आहारेण तवं चरे॥

[२५५] बारहवे वर्ष मे एक वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात्—निरन्तर आचाम्ल करके, फिर वह मुनि पक्ष या एक मास के आहार से तप-अनशन करे।

विवेचन—संलेखना : स्वरूप—द्रव्य मे शरीर को (तपस्या द्वारा) और भाव से कषायो को कृश (पतले) करना '**संलेखना**' है।[1]

सलेखना-धारणा कब और क्यो?—जब शरीर अत्यन्त अशक्त, दुर्बल और रुग्ण हो गया हो, धर्मपालन करना दूभर हो गया हो, या ऐसा आभास हो गया हो कि अब यह शरीर दीर्घकाल तक नही टिकेगा, तब सलेखना करना चाहिए। प्रव्रज्या ग्रहण करते ही या शरीर सशक्त एव धर्मपालन मे सक्षम होना मलेखना ग्रहण नही करना चाहिए। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने गाथा २५० मे सकेत किया है--

'**तओ बहूणि वासाणि सामण्णमणुपालिया**'। किन्तु शरीर अशक्त, अत्यन्त दुर्बल एव धर्मपालन करने मे असमर्थ होने पर भी सलेखना-ग्रहण करने के प्रति उपेक्षा या उदासीनता रखना उचित नही है। एक आचार्य ने कहा है—"मैने चिरकाल तक मुनिपर्याय का पालन किया है तथा मैं दीक्षित शिष्यों को वाचना भी दे चुका हूँ, मेरी शिष्यसम्पदा भी यथायोग्य बढ चुकी है, अत अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अन्तिम आराधना करके अपना भी श्रेय (कल्याण) करूं।" अर्थात्—साधु को पिछली अवस्था मे सघ, शिष्य-शिष्या, उपकरण आदि के प्रति मोह-ममत्व का परित्याग करके सलेखना अगीकार करना चाहिए।[2]

संलेखना की विधि—सलेखना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार की है। उत्कृष्ट सलेखना १२ वर्ष की होती है, जिसके तीन विभाग करने चाहिए। प्रत्येक विभाग मे चार-चार वर्ष आते हैं। प्रथम चार वर्षों मे दूध, दही, घी, मीठा और तेल आदि विग्गइयो (विकृतियो) का त्याग

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९३९

२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९३७

(ख) "**परिपालिओ य दीहो, परियाओ, वायणा तहा दिण्णा।**
णिप्फाइया य सीसा, सेयं मे अप्पणो काउ॥"

करे, दूसरे चार वर्षों मे उपवास, बेला, तेला आदि तप करे। पारणे के दिन सभी कल्पनीय वस्तुएँ ले सकता है। तृतीय वर्षचतुष्क मे दो वर्ष तक एकान्तर तप करे, पारणा मे आयम्बिल (आचाम्ल) करे। तत्पश्चात् यानी ११ वे वर्ष में वह ६ महीने तक तेला, चौला, पचौला आदि कठोर (उत्कट) तप न करे। फिर दूसरे ५ महीने मे वह नियम से तेला, चौला आदि उत्कट तप करे। इस ग्यारहवें वर्ष मे वह परिमित—थोड़े ही आयम्बिल (आचाम्ल) करे। बारहवे वर्ष मे तो लगातार ही आयम्बिल करे, जो कि कोटिसहित हो। तत्पश्चात् एक मास या पन्द्रह दिन पहले से ही भक्तप्रत्याख्यान (चतुर्विध आहार त्याग—संथारा) करे अर्थात् अन्त मे आरम्भादि त्याग कर सबसे क्षमायाचना कर अन्तिम आराधना करे।[1]

मरणविराधना–मरणआराधना : भावनाएँ—

२५६. कन्दप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होन्ति ॥

[२५६] कान्दर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति मे ले जाने वाली हैं। मृत्यु के समय मे ये संयम की विराधना करती हैं।

२५७. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

[२५७] जो जीव (अन्तिम समय मे) मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त, निदान से युक्त और हिंसक होकर मरते हैं, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८. सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही ॥

[२५८] (अन्तिम समय मे) जो जीव सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त, निदान से रहित और शुक्ल-लेश्या मे अवगाढ (प्रविष्ट) होकर मरते हैं, उन्हे बोधि सुलभ होती है।

२५९ मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

[२५९] जो जीव (अन्तिम समय मे) मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्ण-लेश्या मे अवगाढ (प्रविष्ट) होकर मरते हैं, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होन्ति परित्तसंसारी ॥

[२६०] जो (अन्तिम समय तक) जिनवचन में अनुरक्त हैं और जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (परिमित संसार वाले) होते हैं।

---

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ९४०–९४२

२६१. बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिन्ति ते वराया जिणवयणं जे न जाणन्ति ।।

[२६१] जो जीव जिन वचनो से अनभिज्ञ हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अनेक बार अकाममरण से मरते है—मरेंगे ।

२६२. बहूआगमविन्नाणा समाहिउप्पायगा गुणगाही ।
एएण कारणेणं अरिहा आलोयण सोउं ।।

[२६२] जो अनेक शास्त्रों के वेत्ता है, (आलोचना करने वालो को) समाधि (चित्त मे स्वस्थता) उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते है, इन गुणो के कारण वे आलोचना सुनने के योग्य होते हैं ।

विवेचन—समाधिमरण में बाधक : अशुभभावनाएँ आदि—समाधिमरण के लिए सलेखना-पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान(सथारा) किये हुए मुनि के लिए कान्दर्पी, आभियोगिकी, किल्विषिकी, मोही एव आसुरी, ये पाच अप्रशस्त भावनाएं बाधक है, क्योकि ये पाचो भावनाएँ सम्यग्दर्शन आदि की नाशक है । इसीलिए ये मरणकाल मे रत्नत्रय की विराधक है और दुर्गति मे ले जाने वाली हैं । अतएव इनका विशेषत त्याग करना आवश्यक है । मरणकाल मे इन भावनाओ का त्याग इसलिए आवश्यक कहा गया है कि व्यवहारत चारित्र की सत्ता होने पर भी जीव को ये दुर्गति मे ले जाती है ।

मृत्यु के समय साधक के लिए चार दोष समाधिमरण मे बाधक है । जिनमे ये चार दोष (मिथ्यादर्शन निदान, हिंसा और कृष्णलेश्या) है, उन्हे अगले जन्म मे बोधि भी दुर्लभ होती है । इसके अतिरिक्त जो जिनवचन के प्रति अश्रद्धालु और उनसे अपरिचित होते है एवं तदनुसार आचरण नही करते, वे भी समाधिमरण से वचित रहते है, बल्कि वे बेचारे बार-बार अकाममरण एव बालमरण से मरते है ।[1]

समाधिमरण मे साधक—पूर्वोक्त गाथाओ से एक बात फलित होती है कि मरण के पहले किसी जीव मे कदाचित् ये अशुभ भावनाएं रही हो, किन्तु मृत्युकाल मे वे नष्ट हो जाएँ और शुभ भावनाओ का सद्भाव हो जाए तो वे सद्भावनाएँ समाधिमरण एव सुगतिप्राप्ति में साधक हो सकती है । मृत्यु के समय साधक के लिए समाधिमरण मे छह बाते साधक हैं—(१) सम्यग्दर्शन मे अनुराग, (२) अनिदानता, (३) शुक्ललेश्या मे लीनता, (४) जिनवचन मे अनुरक्तता, (५) जिनवचनो को भावपूर्वक जीवन मे उतारना एव (६) आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि । इन बातो को अपनाने से समाधिपूर्वक मरण तो होता ही है, फलस्वरूप उसे आगामी जन्म मे बोधि भी सुलभ होती है । वह मिथ्यात्व आदि भाव-मल से तथा रागादि सक्लेशो से रहित होकर परीतससारी बन जाता है, अर्थात्—वह मोक्ष की ओर तीव्रता से गति करता है ।

समाधिमरण के लिए अन्तिम समय मे गुरुजनो के समक्ष अपनी आलोचना (निन्दना, गर्हणा, प्रतिक्रमणा, क्षमापणा एव प्रायश्चित्त) द्वारा आत्मशुद्धि करना आवश्यक है । अत. आलोचनादि

---

१. उत्तरा प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९४३ से ९४५

समाधिमरण के लिए साधक हैं। आलोचना से व्रतनियमो की शुद्धि हो जाती है, जिनवचनो की निरतिचार आराधना हो जाती है।

प्रस्तुत गा २६२ मे आलोचना को श्रवण के योग्य गुरु आदि कौन हो सकते हैं? इसका भी निरूपण किया गया है—(१) जो अग-उपाग आदि आगमो का विशिष्ट ज्ञाता हो, (२) देश, काल, आशय आदि के विशिष्ट ज्ञान से जो आलोचना करने वाले के चित्त मे मधुरभाषणादि द्वारा समाधि उत्पन्न करने वाला हो और जो (३) गुणग्राही हो, वही गभीराशय साधक आलोचनाश्रवण के योग्य है।[1]

मिथ्यादर्शनरक्त, सनिदान आदि शब्दों के विशेषार्थ—मिथ्यादर्शनरक्त—मोहनीयकर्म के उदय से जनित विपरीत ज्ञान तथा अतत्त्व मे तत्त्व का अभिनिवेश या तत्त्व मे अतत्त्व का अभिनिवेश मिथ्यादर्शन है, जो आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, अनाभोगिक और साशयिक के भेद से पाच प्रकार का है। ऐसे मिथ्यादर्शन मे जिनकी बुद्धि आसक्त है, वे मिथ्यादर्शनरक्त हैं। कामभोगासक्तिपूर्वक परभवसम्बन्धी भोगो की वाछा करना **निदान** है। जो निदान से युक्त है, वे सनिदान हैं। **बोधि**—जिनधर्म की प्राप्ति। **आलोचना**—शुद्धभाव से गुरु आदि योग्य जनो के समक्ष अपने दोष—अपराध या भूल प्रकट करना आलोचना है।[2]

कान्दर्पी आदि अप्रशस्त भावनाएँ

२६३. कन्दप्प-कोक्कुयाइं तह सील-सहाव-हास-विगहाहिं।
विम्हावेन्तो य परं कन्दप्पं भावणं कुणइ॥

[२६३] जो कन्दर्प (कामकथा) करता है, कौत्कुच्य (हास्योत्पादक कुचेष्टाएँ) करता है तथा शील, स्वभाव, हास्य और विकथा से दूसरो को विस्मित करता (हसाता) है, वह कान्दर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४. मन्ता-जोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजन्ति।
साय-रस-इड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ॥

[२६४] जो (वैषयिक) सुख के लिए रस (घृतादि रस) और समृद्धि के लिए मंत्र, योग (तत्र) और भूति (भस्म आदि मत्रित करके देने का) कर्म का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५. नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघ-साहूणं।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

[२६५] जो ज्ञान की, केवलज्ञानी की, धर्माचार्य की, सघ की तथा साधुओ की निन्दा (अवर्णवाद) करता है, वह मायाचारी किल्विषिकी भावना का सेवन करता है।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा ४, पृ ९४५, ९५२–९५३
२. वही, भा ४, पृ. ९४६, ९५२–९५३

२६६. अणुबद्धरोसपसरो तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवी ।
एएहि कारणेहिं आसुरियं भावणं कुणइ ॥

[२६६] जो सतत क्रोध की परम्परा को फैलाता रहता है तथा जो निमित्त-(ज्योतिष आदि) विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणो से आसुरी भावना का आचरण करता है ।

२६७. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं च जलप्पवेसो य ।
अणायार—भण्डसेवा जम्मण-मरणाणि बन्धन्ति ॥

[२६७] जो खड्ग आदि शस्त्र के प्रयोग से, विषभक्षण से तथा पानी मे डूब कर आत्म-हत्या करता है; जो साध्वाचार-विरुद्ध भाण्ड-उपकरण रखता है, वह (मोही भावना का आचरण करता हुआ) अनेक जन्ममरणो का बन्धन करता है ।

विवेचन—पांच अप्रशस्त भावनाएँ—गाथा २५६ मे कान्दर्पी आदि पाच भावनाएँ मृत्यु के समय संयम की विराधना करने वाली बतायी गई है । प्रस्तुत पाच (गा २६३ से २६७ तक) गाथाओ मे उनमे से प्रत्येक का लक्षण बताया गया है । मूलाराधना एव प्रवचनसारोद्धार मे भी इन्ही पाच भावनाओ तथा इनके प्रकारो का उल्लेख मिलता है ।[1]

कान्दर्पी भावना—कन्दर्प के बृहद्वृत्तिकार ने पाच लक्षण बतलाए हैं—(१) अट्टहासपूर्वक हँसना, (२) गुरु आदि के साथ व्यंग्य मे या निष्ठुर वक्रोक्तिपूर्वक बोलना, (३) कामकथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशसा करना । यह कन्दर्प से जनित भावना कान्दर्पी भावना है । कौत्कुच्य भावना का अर्थ है—कायकौत्कुच्य (भौह, आख, मुह आदि अगो को इस प्रकार बनाना, जिससे दूसरे हँस पडे और वाक्कौत्कुच्य—विविध जीव-जन्तुओ की बोली बोलना, सीटी बजाना, जिससे दूसरे लोगो को हँसी आ जाए ।[2]

आभियोगी भावना—अभियोग का अर्थ है—मत्र, तत्र, चूर्ण, भस्म आदि का प्रयोग करना । प्रस्तुत गा २६४ मे आभियोगी भावना के तीन हेतुओ या तीन प्रकारो का उल्लेख किया गया है—(१) मत्र, (२) योग और (३) भूतिकर्म । कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ ये ही प्रकार मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार मे बताए गए हैं । योग के बदले वहाँ 'कौतुक' बताया गया है तथा प्रश्न (दूसरो के लाभालाभ सम्बन्धी प्रश्न का समाधान करना) । प्रश्नाप्रश्न (स्वप्न मे विद्या द्वारा कथित शुभाशुभ वृत्तान्त दूसरो को बताना) तथा निमित्त—प्रयोग, इन तीनो का समावेश 'निमित्त' मे हो जाता है ।[3]

---

१ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३६८-३६९
(ख) मूलाराधना ३।१७९ (ग) प्रवचनसारोद्धार, गा ६४१

२ (क) कन्दर्प—अट्टहासहसनम्, अनिभृतालापश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपा कामकथोपदेश-प्रशसाश्च कन्दर्प । —बृहद्वृत्ति, पत्र ७०९
(ख) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १८० (ग) मूलाराधना ३९८ पृ वृत्ति ।
(घ) कौत्कुच्य द्विधा कायकौत्कुच्यवाक् कौत्कुच्य च । —बृहद्वृत्ति, पत्र ७०९

३ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३७०
(ख) **मंताभिओगकोदुग भूदियम्म पउजदे जो हु ।**
इड्ढिरससादहेदुं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ —मूलाराधना ३।१८२
(ग) **कोउय-भूइकम्मे, पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं ।**
तह य निमित्तेणं चिय पचवियप्पा भवे सा य ॥ —प्रवचनसारोद्धार गा. ६४४
(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ७१० (ङ) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १८१-१८२

किल्विषिकी भावना—किल्विष का यहाँ अर्थ है दोष केवली, सघ, श्रुत (ज्ञान), धर्माचार्य एवं सर्व साधुओ की निन्दा, चुगली या वचना या ठगी करना। अवगुण देखना और उनका ढिंढोरा पीटना आदि सभी चेष्टाएँ किल्विषिकी भावना के रूप है। इन्हे ही इस भावना के प्रकार कहा गया है।[1]

आसुरी भावना—जो असुरो (परमाधार्मिक देवों) की तरह क्रूरता, उग्र क्रोध, कठोरता एव कलह आदि से ओतप्रोत हो, उसे आसुरी भावना कहा जा सकता है। आसुरी भावना के प्रस्तुत गा २६६ मे सक्षेप करके केवल दो ही हेतु या प्रकार बताए गए हैं, जबकि मूलाराधना एव प्रवचन-सारोद्धार मे अनुबद्धरोषप्रसर एव निमित्तप्रतिसेवन, इन दो के अतिरिक्त निष्कृपता, निरनुताप तथा ससक्त तप, ये तीन कारण या प्रकार बताये हैं। **अनुबद्धरोषप्रसर** के बृहद्वृत्तिकार ने चार अर्थ बताए है—(१) निरन्तर क्रोध बढाना, (२) सदैव विरोध करते रहना, (३) कलह आदि हो जाने पर भी पश्चात्ताप न करना, दूसरे द्वारा क्षमायाचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना। अत इसी शब्द के अन्तर्गत मूलाराधना मे बताए गए निष्कृपता, निरनुताप, अनुबद्धरोष-विग्रह आदि आसुरी भावना के प्रकारो का समावेश हो जाता है।[2]

सम्मोहा भावना—मोह (मिथ्यात्वमोह) वश उन्मार्ग मे विश्वास, उपदेश, मार्ग-दोष या शरीरादि पर मोह रखना सम्मोहा (मोही) भावना है। सम्मोहा भावना के हेतुओ मे यहाँ गा २६७ मे शस्त्रग्रहणादि पाच प्रकार या कारण बताए है, जबकि प्रवचनसारोद्धार और मूलाराधना मे अन्य प्रकार बताए गए है। इन दोनो मे उन्मार्गदेशना, मार्गदूषण (मार्ग और दूषण) एव मार्गविप्रतिप्रत्ति, ये तीन प्रकार तो समान हैं। शेष दो—मोह और मोहजनन, ये दो 'मूलाराधना' मे नही है।

शस्त्रग्रहण आदि कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है, इसलिए इसे सम्मोहा भावना कहा गया है। मार्गविप्रतिपत्ति का अर्थ है—सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग नही, ऐसा मानना या इनके प्रतिकूल आचरण करना। मोह का अर्थ है—गूढतम तत्त्वो मे मूढ हो जाना या चारित्रशून्य तीर्थिको का आडम्बर एव वैभव देखकर ललचाना। मोहजनना—कपटवश अन्य लोगो मे मोह उत्पन्न करना।[3]

---

१ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३७० (ख) मूलाराधना ३।१८१
(ग) प्रवचनसारोद्धार गा ६४३

२ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, भा २, पत्र ३७०
(ख) अणुबध-रोस-विग्गहससत्ततवो णिमित्तपडिसेवी।
णिक्किव-णिरणुतावी, आसुरिअ भावण कुणदि ॥ —मूलाराधना ३।१८३
(ग) सइविग्गहसीलत्त ससत्ततवो निमित्तकहण च।
निक्किवया वि अवरा, पचमग निरणुकपत्त ॥ —प्रवचनसारोद्धार गा ६४५
(ङ) बृहद्वृत्ति पत्र ७११

३ (क) सक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात् अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या, मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता तथा चार्थतो मोहीभावनोक्ता। —बृहद्वृत्ति, पत्र ७११
(ख) उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविपडिवणी य।
मोहेण य मोहित्तो सम्मोह भावण कुणई ॥ —मूलाराधना ३।१८४
(ग) उमग्गदेसणा मग्गदूसण मग्गविपडिवत्ती य।
मोहो य मोहजणण एव सा हवइ पचविहा ॥ —प्रवचनसारोद्धार, गा ६४६, प्र. सा वृत्ति, पत्र १८३

उपसंहार

२६८. इह पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए ।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए ॥
—त्ति बेमि

[२६८] इस प्रकार भवसिद्धिक (-भव्य) जीवों को अभिप्रेत (सम्मत) छत्तीस उत्तराध्ययनों (-उत्तम अध्यायों) को प्रकट करके बुद्ध (समग्र पदार्थों के ज्ञाता) ज्ञातवंशीय भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ जीवाजीवविभक्ति : छत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

॥ उत्तराध्ययनसूत्र समाप्त ॥

उत्तराध्ययन की कतिपय सूक्तियाँ

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१।२॥

जो गुरुजनो की आज्ञाओ का यथोचित् पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क मे रहता है एव उनके हर सकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है वह विनीत कहलाता है ।

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥१।४॥

जिस प्रकार सडे कानो वाली कुतिया जहां भी जाती है, निकाल दी जाती है, उमी प्रकार दु·शील उद्दण्ड और वाचाल मनुष्य भी धक्के देकर निकाल दिया जाता है ।

कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१।५॥

जिस प्रकार चावलो का स्वादिष्ट भोजन छोडकर शूकर विष्टा खाता है, उसी प्रकार पशुवत् जीवन बिताने वाला अज्ञानी, शील-सदाचार को त्याग कर दुराचार को पसन्द करता है ।

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥१।६॥

अपना हित चाहने वाला साधक स्वय को विनय-सदाचार मे स्थिर करे ।

अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥१।८॥

अर्थयुक्त (सारभूत) बाते ही ग्रहण कीजिए, निरर्थक बाते छोड दीजिए ।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ॥१।९॥

गुरुजनों के अनुशासन से कुपित—क्षुब्ध नही होना चाहिए ।

बहुयं मा य आलवे ॥१।१०॥

बहुत नही बोलना चाहिए ।

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि॥१।११॥

साधक कभी कोई चाण्डालिक—दुष्कर्म कर ले तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे ।

कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ।।१।११।।

बिना किसी छिपाव या दुराव के किये कर्म को किया हुआ कहिए तथा नहीं किये को न किया हुआ कहिए।

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।।१।१२।।

बार-बार चाबुक की मार खाने वाले गलिताश्व की तरह कर्त्तव्य-पालन के लिए बार-बार गुरुओं के निर्देश की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।।१।१५।।

अपने आप पर नियन्त्रण रखना कठिन है। फिर भी अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य ।।१।१६।।

दूसरे वध और वन्धन आदि से दमन करे, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना दमन कर लूँ।

हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ।।१।१८।।

प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं।

काले कालं समायरे ।।१।३१।।

समयोचित कर्त्तव्य समय पर ही करना चाहिए।

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।।१।३७।।

विनीत बुद्धिमान् शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुड़सवार।

अप्पाणं पि न कोवए ।।१।४०।।

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करे।

न सिया तोत्तगवेसए ।।१।४०।।

दूसरों के छलछिद्र नहीं देखना चाहिए।

नच्चा नमइ मेहावी ।।१।४५।।

बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है।

मायन्ने असणपाणस्स ।।२।३।।

खाने-पीने की मात्रा-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए।

अदीणमणसो चरे ॥२।३॥

अदीनभाव से जीवनयापन करना चाहिए ।

न य वित्तासए परं ॥२।२०॥

किसी भी प्राणी को त्रास नही पहुँचाना चाहिए ।

संकाभीओ न गच्छेज्जा ॥२।२१॥

जीवन मे शकाओ से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो ।

नत्थि जीवस्स नासोत्ति ॥२।२७॥

आत्मा का कभी नाश नही होता ।

अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥२।३१॥

'आज नही मिला तो क्या हुआ, कल मिल जाएगा'—जो ऐसा विचार कर लेता है उसे अलाभ पीडित नही करता ।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥३।१॥

इस ससार मे प्राणियो को चार परम अग (उत्तम सयोग) अत्यन्त दुर्लभ हैं—१. मनुष्यता, २ धर्मश्रवण, ३ सम्यक् धर्मश्रद्धा, ४. सयम मे पुरुषार्थ ।

सद्धा परमदुल्लहा ॥३।९॥

धर्म मे श्रद्धा परम दुर्लभ है ।

सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ॥३।१२॥

सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा मे ही धर्म टिकता है ।

असंखयं जीविय मा पमायए ॥४।१॥

जीवन का धागा टूटने पर पुन: जुड नहीं सकता—वह असस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो ।

वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥४।२॥

जो वैर की परम्परा को लम्बे किये रहते हैं, वे नरक प्राप्त करते हैं ।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥४।३॥

कृत कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही है ।

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ॥४।३॥

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है ।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ॥४।५॥

प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं सकता, न इस लोक में न परलोक में ।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ।।४।६।।

समय भयकर है और शरीर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। अत भारड पक्षी की तरह सदा सावधान होकर विचरण करना चाहिए।

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी ।।४।७।।

प्रबुद्ध साधक सोये हुए (प्रमत्त मनुष्यो) के बीच भी सदा जागृत अप्रमत्त रहे।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।।४।८।।

कामनाओ के निरोध से मुक्ति प्राप्त होती है।

कंखे गुणे जाव सरीरभेओ ।।४।१३।।

जब तक जीवन है सद्गुणो की आराधना करते रहना चाहिए।

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ।।५।२१।।

चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ, कन्था और शिरोमुण्डन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नही कर सकते।

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ।।५।२२।।

भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती है वह देवगति प्राप्त करता है।

गिहिवासे वि सुव्वए ।।५।२४।।

धर्मशिक्षासपन्न गृहस्थ गृहवास मे भी सुव्रती है।

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ।।५।२९।।

ज्ञानी और सदाचारी आत्माएँ मरणकाल मे भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रात नही होते।

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए ।।६।१।।

जितने भी अविद्यावान्—तत्त्व-बोध-हीन पुरुष हैं वे दुःखो के पात्र होते हैं। इस अनन्त संसार मे वे मूढ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते है।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा ।।६।२।।

अपनी आत्मा के द्वारा, स्वय की प्रज्ञा से सत्य का अनुसन्धान करो।

मेत्तिं भूएसु कप्पए ।।६।२।।

समस्त प्राणियो पर मित्रता का भाव रखना चाहिए।

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ।।६।७।।

जो भय और वैर से उपरत—मुक्त हैं वे किसी प्राणी की हिंसा नही करते।

भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।

वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥६।१०॥

जो केवल बोलते हैं करते कुछ नही, वे बन्ध और मोक्ष की बातें करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आप को आश्वस्त किए रहते हैं ।

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ॥६।११॥

विविध भाषाओं का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नही बचा सकता । फिर विद्याओ का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा ?

पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥६।१४॥

पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-सम्भाल रखनी चाहिये ।

आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ॥७।१०॥

अज्ञानी जीव विवश हुए अन्धकाराच्छन्न आसुरी गति को प्राप्त होते हैं ।

बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ॥८।१५॥

जो आत्माएँ बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हे बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।

तेणावि से ण सन्तुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥८।१६॥

मानव की तृष्णा बडी दुष्पूर है । धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे सतुष्ट नही हो सकता ।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।

दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥८।१७॥

ज्यो-ज्यो लाभ होता है, त्यो-त्यो लोभ बढता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढता ही जाता है । दो मात्रा सोने की अभिलाषा करने वाला करोडो से भी सतुष्ट नही हो पाता ।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।

एग जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥९।३४॥

भयकर युद्ध मे लाखो दुर्दान्त शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही बडी विजय है ।

सव्वं अप्पे जिए जियं ॥९।३६॥

एक अपने [विकारो] को जीत लेने पर सभी को जीत लिया जाता है ।

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥९।४८॥

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त-अपार हैं ।

कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गइं ॥९।५३॥

कामभोगो की लालसा-ही-लालसा में प्राणी एक दिन उन्हें भोगे बिना ही दुर्गति में चले जाते हैं ।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ।।९।५४।।

क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है । मान से अधम गति प्राप्त करता है । माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । लोभ से इस लोक और परलोक-दोनो मे ही भय-कष्ट होता है ।

दुमपत्तए पण्डुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०।१।।

जिस प्रकार पेड-वृक्ष के पीले पत्ते समय आने पर भूमि पर गिर पडते हैं; उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है । अतएव, गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो ।

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०।२।।

जैसे कुशा [घास] की नोक पर लटकी हुई ओस की बून्द थोडे समय तक ही टिक पाती है, ठीक ऐसा ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभगुर है । अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो ।

विहुणाहि रयं पुरे कडं ।।१०।३।।

पूर्वसचित कर्म-रूपी रज को झटक दो ।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।१०।४।।

मनुष्यजन्म निश्चय ही बडा दुर्लभ है ।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०।२६।।

शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो गये हैं । शरीर का समस्त बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव, गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर ।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०।३४।।

तू महासमुद्र को पार कर चुका है, अब किनारे आकर क्यो रुक गया ? पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर । हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद उचित नहीं है ।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा ॥११।३॥

अहकार, क्रोध, प्रमाद [विषयासक्ति] रोग और आलस्य, इन पाँच कारणो से व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नही कर सकता ।

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११।१२॥

सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी परिचितो पर कुपित होता है । और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष मे उसकी भलाई की ही बात करता है ।

पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥११।१४॥

प्रियंकर और प्रियवादी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने मे सफल होता है ।

महप्पसाया इसिणो हवन्ति, न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥१२।३१॥

ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित्त रहते है, कभी किसी पर क्रोध नही करते ।

सक्खं खु दीसइ, तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई ॥१२।३७॥

तप-त्याग की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है किन्तु जाति की कोई विशेषता नजर नही आती है ।

धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥१२।४६॥

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर आत्मा कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।

सव्व सुचिण्णं सफलं नराणं ॥१३।१०॥

मनुष्य के सभी सुचरित [सत्कर्म] सफल होते हैं ।

सव्वे कामा दुहावहा ॥१३।१६॥

सभी काम-भोग अन्तत. दुखावह [दु खद] ही होते है ।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥१३।२३॥

कर्म कर्त्ता का अनुसरण करते हैं—उसका पीछा नही छोड़ते ।

वण्ण जरा हरइ नरस्स राय ! ॥१३।२६॥

राजन् ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति

दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥१३।३१॥

जैसे वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोगसाधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं।

वेया अहीया न हवन्ति ताणं ॥१४।१२॥

अध्ययन कर लेने मात्र से वेद [शास्त्र] रक्षा नहीं कर सकते।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे ॥१४।१७॥

धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है? [वहाँ तो सदाचार ही अपेक्षित है]

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा

अमुत्तभावा विय होइ निच्चं ॥१४।१९॥

आत्मा अमूर्त्त तत्त्व होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है और जो भाव अमूर्त्त होते हैं वे अविनाशी होते है।

अज्झत्थ हेउं निययस्स बन्धो ॥१४।१९॥

अन्दर के विकार ही वस्तुतः बन्धन के हेतु हैं।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ॥ १४।२३॥

जरा से घिरा हुआ यह ससार मृत्यु से पीड़ित हो रहा है।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जान्ति राइओ ॥१४।२५॥

जो रात्रियाँ बीत जाती है, वे पुन लौट कर नहीं आती, किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।

जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥१४।२७॥

मृत्यु के साथ जिसकी मित्रता हो, जो भाग कर मृत्यु से बच सकता हो अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूँगा ही नहीं, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

सद्धा खमं णो विणइत्तु रागं ॥१४।२८॥

धर्म-श्रद्धा हमे राग से-आसक्ति से मुक्त कर सकती है।

जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ॥१४।३३॥

बूढ़ा हंस प्रतिस्रोत [जलप्रवाह के सम्मुख] में तैरने से डूब जाता है। अर्थात् असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नहीं कर सकता।

सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ।।१४।३९।।

यदि सम्पूर्ण जगत् और जगत् का समस्त धन-वैभव भी तुम्हे दे दिया जाय, तब भी वह तुम्हारे लिए पर्याप्त नही होगा । मगर वह तुम्हारी रक्षा करने मे समर्थ नही होगा ।

एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।।१४।४०।।

राजन् ! एक मात्र धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवाय विश्व मे मनुष्य का कोई भी त्राता नही है ।

देव-दाणव-गधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ।।१६।१६।।

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते है, क्योकि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है ।

भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई ।।१७।३।।

जो श्रमण खा-पीकर मस्त होकर सो जाता है, धर्माराधना नही करता, वह पापश्रमण कहलाता है ।

असविभागी अचियत्ते पावसमणे त्ति वुच्चई ।।१७।११।।

जो असविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाटता नही है) और परस्पर प्रेमभाव नही रखता है वह पापश्रमण कहलाता है ।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ? १८।११।।

जीवन अनित्य है, क्षणभगुर है फिर क्यो हिसा मे आसक्त होता है ?

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।।१८।१३।।

जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चचल है ।

किरिअं च रोयए धीरो ।।१८।३३।।

धीर पुरुष सदा कर्तव्य मे ही रुचि रखते है ।

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ।।१९।१६।।

ससार मे जन्म का दु ख है, जरा, रोग और मृत्यु का दु ख है, चारो ओर दुःख ही दु.ख है; जहा प्राणी निरन्तर कष्ट ही पाते रहते है ।

भासियव्वं हियं सच्चं ।।१९।२७।।

सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए ।

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।।१६।२८।।

अचौर्य व्रत का साधक दांत साफ करने के लिए एक तिनका भी स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण नहीं करता ।

बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।।१६।३७।।

सद्गुणों की साधना का कार्य भुजाओं से सागर तैरने जैसा है ।

असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ।।१६।३८।।

तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है ।

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं ।।१६।४५।।

जो व्यक्ति संसार की पिपासा—तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है ।

ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं ।।१६।८७।।

आत्मसाधक ममत्व के बन्धन को तोड़ फेंके—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेंकता है ।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ।।१६।६१।।

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है ।

अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ? २०।१२।।

अरे तू स्वयं अनाथ है, दूसरे का नाथ कैसे बन सकता है ?

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ।।२०।३६।।

आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखप्रद है और आत्मा ही कामधेनु और नन्दन वन के समान सुखदायी भी है ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।२०।३७।

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है । सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है ।

राढामणी वेरुलियप्पगासे ।
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।।।२०।४२।।

वैडूर्य रत्न के समान चमकने वाले काँच के टुकड़े का जानकार के समक्ष कुछ भी मूल्य नहीं रहता ।

न तं अरी कठछित्ता करेई ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ॥२०।४८॥

गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नही पहुचा सकता जितनी दुराचार मे प्रवृत्त अपनी स्वयं की आत्मा पहुचा सकती है ।

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे ।
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ॥२०।१४॥

अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्त्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र मे विचरण करिए ।

सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा ॥२१।१४॥

सिह के समान निर्भीक रहिए, शब्दो से न डरिए ।

पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ॥२१।१५॥

प्रिय हो या अप्रिय, सब को समभाव से सहन करना चाहिए ।

न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा ॥२१।१५॥

हर कही, हर किसी वस्तु मे मन को न लगा बैठिए ।

अणेगछन्दा इह माणवेहि ॥२१।१६॥

इस ससार मे मनुष्यो के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है ।

अणुन्नए नावणए महेसी ।
न यावि पूयं गरिह च संजए ॥२१।२०॥

जो पूजा-प्रशसा सुनकर कभी अहकार नही करता और निन्दा सुनकर स्वय को हीन नही मानता, वही वस्तुत महर्षि है ।

नाणेणं दसणेण च, चरित्तेणं तवेण य ।
खतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२२।२६॥

ज्ञान दर्शन चारित्र तप क्षमा और निर्लोभता की दिशा मे निरन्तर वर्द्धमान—बढते रहिए ।

पन्ना समिक्खए धम्मं ॥२३।२५॥

साधक की स्वय की प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा कर सकती है ।

एगप्पा अजिए सत्तू ॥२३।३८॥

अपनी ही अविजित असयत आत्मा अपना शत्रु है ।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ॥२३।४८॥

संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है ।

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।।२३।५३।।

कषाय को अग्नि कहा गया है। उसको बुझाने के लिए ज्ञान, शील, सदाचार और तप जल है।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कन्थगं ।।२३।५८।।

यह मन बडा ही साहसिक, भयंकर एव दुष्ट घोडा है, जो बडी तेजी के साथ इधर-उधर दौडता रहता है। मैं धर्मशिक्षारूप लगाम से उस घोडे को भली भाति वश मे किए रहता हूँ।

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।२३।६८।।

जरा और मरण के महाप्रवाह मे डूबते प्राणिओ के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा-आधार है, गति है और उत्तम शरण है।

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ।।२३।७१।।

छिद्रों वाली नौका पार नही पहुच सकती, किन्तु जिस नौका मे छिद्र नही है वही पार पहुंच सकती है।

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरन्ति महेसिणो ।।२३।७३।।

यह शरीर नौका है, जीव-आत्मा उसका नाविक है और ससार समुद्र है। महर्षि इस देह रूप नौका के द्वारा ससार-सागर को तैर जाते है।

जहा पोम्मं जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एव अलित्त कामेहिं, त वयं बूम माहण ।।२५।२७।।

ब्राह्मण वही है जो ससार मे रह कर भी काम-भोगो से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल मे रहकर भी उससे लिप्त नही होता।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ।।२५।३१।।

सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नही होता, ओंकार का जाप करने से ही कोई ब्राह्मण नही बन जाता। जगल मे रहने मात्र से कोई मुनि नही होता और वल्कल वस्त्र धारण करने से कोई तापस नही होता।

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होई, तवेणं होइ तावसो ।।२५।३२।।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस पद प्राप्त होता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२५।३३॥

कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय । कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है ।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥२५।४१॥

जो भोगी है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो अभोगी-भोगासक्त नही है वह कर्मों से लिप्त नही होता । भोगासक्त ससार मे परिभ्रमण करता है । भोगो मे अनासक्त ही ससार से मुक्त होता है ।

विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२५।४३॥

मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कही भी चिपकता नही है अर्थात् आसक्त नही होता ।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ॥२८।२॥

वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले जिन भगवान् ने ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है ।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं ॥२८।२९॥

सम्यग्दर्शन के अभाव मे चारित्र सम्यक् नही हो सकता ।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥२८।३०॥

सम्यग्दर्शन के अभाव मे समीचीन ज्ञान प्राप्त नही होता, ज्ञान के अभाव मे चारित्र के गुण नही होते, गुणो के अभाव मे मोक्ष नही होता और मोक्ष के अभाव मे निर्वाण—सम्पूर्ण प्रशान्त दशा प्राप्त नही होती ।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥२८।३५॥

ज्ञान से भावो का सम्यग् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होती है ।

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥२९।८॥

सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियो का निरोध हो जाता है ।

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ ॥२९।१७॥

क्षमापणा से आत्मा मे प्रसन्नता की अनुभूति होती है ।

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥२९।१८॥

स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है।

वेयावच्चेणं तित्थयर नामगोत्त कम्मं निबन्धइ ॥२९।४३॥

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

वीयरागयाए ण नेहाणुबन्धणाणि
तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ ॥२९।४५॥

वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के बन्धन और तृष्णा के बन्धन कट जाते है।

अविसवायणसपन्नयाए ण जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥२९।४८॥

दम्भरहित, अविसवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

करणसच्चे वट्टमाणे जीवे
जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥२९।५१॥

करणसत्य—व्यवहार मे स्पष्ट तथा सच्चा रहने वाला आत्मा 'जैसी कथनी वैसी करनी' का आदर्श प्राप्त करता है।

वयगुत्तयाए ण णिव्विकारत्त जणयइ ॥२९।५४॥

वचनगुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है।

जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ ॥२९।५९॥

धागे मे पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुमती नही, उसी प्रकार सूत्र-आगमज्ञान से युक्त आत्मा ससार मे भटकता नही, विनाश का प्राप्त नही होता।

भवकोडी-सचिय कम्म. तवसा निज्जरिज्जइ ॥३०।६॥

करोडो भवा मे सचित कर्म तपश्चर्या द्वारा क्षीण हो जाते है।

असजमे नियत्ति च सजमे य पवत्तण ॥३१।२॥

असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएणं,
एगतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ३२।२॥

ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग एव द्वेष के क्षय से आत्मा एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥३२।६॥

जिस प्रकार बलाका (बगुली) अंडे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से, इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥३२।७॥

राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज है, कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुत दु.ख है ।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥३२।८॥

जिसे मोह नही होता उसका दु.ख नष्ट हो जाता है । जिसे तृष्णा नही होती उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसे लोभ नही होता उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥३२।१०॥

ब्रह्मचारी को घी दूध आदि रसो का अधिक सेवन नही करना चाहिए, क्योकि रस प्राय उद्दीपक होते हैं । उद्दीप्त पुरुष के निकट काम-भावनाएँ वैसे ही चली आती है जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले आते हैं ।

सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ॥३२।१९॥

देवताओं सहित समग्र प्राणियो को जो भी दु:ख प्राप्त हैं वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं ।

लोभाविले आययई अदत्तं ॥३२।२९॥

जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने मे प्रवृत्त होता है ।

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,

सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।

शब्द आदि विषयो मे अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त रहने वाला आत्मा कभी सतोष को प्राप्त नही होता ।

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,

जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।३२।४६।।

आत्मा प्रदुष्टचित होकर कर्मों का सचय करता है । वे कर्म विपाक मे बहुत दु खदायी होते हैं ।

न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,

जलेण वा पोक्खरिणीपलास ।।३२।४७।।

जो आत्मा विषयो के प्रति अनासक्त है, वह ससार मे रहता हुआ भी उसमे लिप्त नही होता जैसे कि पुष्करिणी के जल मे रहा हुआ पलाश-कमल ।

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,

दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो ।

ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख,

न वीयरागस्स करेंति किंचि ।।३२।१००।।

मन एव इन्द्रियो के विषय रागी जन को ही दु ख के हेतु होते हैं, वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दुःख नही पहुचा सकते ।

न कामभोगा समयं उवेंति,

न यावि भोगा विगइं उवेंति ।

जे तप्पओसी य परिग्गही य,

सो तेसि मोहा विगइं उवेइ ।।३२।१०१।।

कामभोग—शब्दादि विषय न तो स्वय मे समता के कारण होते हैं और न विकृति के ही । किन्तु जो उनमे द्वेष या राग करता है वह उनमे मोह से राग-द्वेष रूप विकार को प्राप्त होता है ।

न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।।३५।१७।।

साधु स्वाद के लिए नही, किन्तु जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए भोजन करे । □□

गाथानुक्रमणिका

* नौवें अध्ययन में इस प्रकार की गाथा बारबार दोहराई गई है।

ओ

क

ख

प

फ

ब

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहिं सझाहिं सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाणं वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलो के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४ **विद्युत्**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास मे नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्राय ऋतु स्वभाव से ही होता है । अत आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता ।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलो सहित आकाश में कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है ।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है । इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त कहलाता है । अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है । इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुध पडती है । वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है । जब तक यह धुंध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है । जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है ।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है । जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है ।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पचेन्द्रिय तिर्यच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है । वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है ।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है । विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है । स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक । बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है ।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है ।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है ।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है ।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनै: शनै. स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, साय, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रात. सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१ श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४ श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बेंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बैंताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया, मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे. दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस. रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३ श्री तिलोकचदजी सागरमलजी सचेती, मद्रास
४ श्री पूसालालजी किस्तूरचदजी सुराणा, कटगी
५ श्री आर प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी बोकडिया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मागीलालजी मिश्रीलालजी सचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४ श्री शा० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचदजी ललवाणी, चागाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागाटोला
९ श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचदजी झामड, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G F) जाडन
११ श्री थानचदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचदजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचदजी बैद, राजनादगाव
१६ श्री रावतमलजी भीकमचदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचदजी काकरिया, टगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२० श्री रघुनाथमलजी लिखमीचदजी लोढा, चागाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चागाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५ श्री रतनचदजी उत्तमचदजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचदजी भागचदजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा, डोंडीलोहारा
२८ श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९ श्री मूलचदजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भवरीलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७ श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगर
३९ श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचदजी गेलडा, मद्रास
४१ श्री जडावमलजी सुगनचदजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४ श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडतासिटी
२ श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३ श्री पूनमचदजी नाहटा, जोधपुर
४ श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, चिल्लीपुरम्
५ श्री भवरलालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७ श्री बी गजराजजी बोकड़िया, सलेम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी काठेड, पाली
९. श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९ श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१ श्री रायचदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७ श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१ श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५ श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६ श्री देवराजजी लाभचदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७ श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क) जोधपुर
४५ श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६ श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८ श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४६ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५० श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१ श्री ग्रासकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२ श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३ श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मागीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६ श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८ श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५६. श्री भवरलालजी रिखबचदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मागीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
६२ श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बेंगलोर
६३ श्री चन्दनमलजी प्रेमचदजी मोदी, भिलाई
६४ श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५ श्री तिलोकचदजी प्रेमप्रकाशजी, ग्रजमेर
६६ श्री विजयलालजी प्रेमचदजी गुलेच्छा, राजनादगाँव
६७ श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८. श्री भवरलालजी डूगरमलजी काकरिया, भिलाई
६६ श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७० श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसघ, दल्ली-राजहरा
७१ श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४ श्री बालचदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शातिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठन
८३ श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४ श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया भैरूदा
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६ श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी
९५ श्री कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७ श्री सुगनचन्दजी सचेती, राजनादगाँव

९८. श्री प्रकाशचदजी जैन, भरतपुर
९९ श्री कुशालचदजी रिखबचदजी सुराणा, बोलारम
१०० श्री लक्ष्मीचदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१ श्री गूदडमलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मागलियावास
१०३ श्री सम्पतराजजी चोरडिया, मद्रास
१०४. श्री अमरचदजी छाजेड, पादु बडी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६ श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८ श्री दुलेराजजी भवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भवरलालजी मागीलालजी बेताला, डेह
११० श्री जीवराजजी भवरलालजी, चोरडिया भैरूदा
१११. श्री माँगीलालजी शातिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२ श्री चादमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचदजी बोकड़िया, मेडता सिटी
११५ श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुवरबाई धर्मपत्नी श्री चादमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७ श्री माँगीलालजी उत्तमचदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री साचालालजी बाफणा, औरगाबाद
११९ श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकु वर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थावला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड, सिकन्दराबाद
१२५ श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६ श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगडीनगर
१२७ श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८ श्री टी पारसमलजी चोरडिया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड क , बेंगलोर
१३० श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड